

रीतिकाव्य और विद्यापति

41071

लेखक

वीरेन्द्रकुमार बड़सूवाला

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

शिवाजी कालेज

नई दिल्ली-१

891.431

Bad



एस० चन्द एण्ड कम्पनी

दिल्ली : नई दिल्ली : जालन्धर : लखनऊ

बम्बई : कलकत्ता : मद्रास

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

फव्वारा, चांदनी चौक	दिल्ली
रामनगर	नई दिल्ली
माई हीरां गेट	जालन्धर
श्रीमीना वाद पार्क	लखनऊ
१६७, लैमिग्टन रोड	बम्बई-७
३२, गणेश चन्द्र एवेन्यू	कलकत्ता-१३
३५, माऊण्ट रोड	मद्रास-२

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 46371
Date..... 6.3.1968
Call No. 871.431 / 6a1
.....

मूल्य : २०.००

प्रकाशक : एस० चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, कुतुब रोड, नई दिल्ली-१
मुद्रक : एवरेस्ट प्रेस, ४ चमेलियान रोड, दिल्ली-६ ।

प्रस्तावना

विद्यापति का साहित्यिक व्यक्तित्व अनेक रूपात्मक है। अतः उन्हें समीक्षकों ने विभिन्न रूपों में देखा और परखा है। किसी को वे शृंगारी कवि जँचे हैं, तो किसी को भक्त कवि। भक्त कवि के रूप में भी यदि किसी ने उन्हें मुख्यतः शैव माना है और गौणतः शाक्त या वैष्णव, तो किसी ने पंच देवोपासक अथवा मिथिला-प्रदेश में प्रचलित उदार भाव की भक्ति-परम्परा का ऐसा कवि, जिसकी निष्ठा शिव, शक्ति और राधाकृष्ण—सबके प्रति है। किसी ने उन्हें यदि रहस्यदर्शी के रूप में स्वीकार किया है, तो किसी ने “गीत-गोविन्द” के रचयिता जयदेव के अनुगमनकारी के रूप में—“अभिनव-जयदेव” के रूप में।

विद्यापति रससिद्ध कवि थे। अतः अपनी सहज एवं अदम्य शृंगाराभिरुचि का परिचय देते हुए भी वे अन्य रसों पर भी सफलता के साथ रचना कर सकते थे। इस दृष्टि से वे कविकुलगुरु कालिदास के निकट पहुँच जाते हैं। साथ ही, एक दरबारी कवि के भी गुण उनमें विद्यमान थे। उनके कितने ही पदों के अन्तिम चरणों में उनके आश्रयदाता शिवसिंह और उनकी पत्नी लखिमादेई के नाम आते हैं, जिन्हें वे अपने कला-कौशल से रिझा रहे थे।

विद्यापति प्रधानतः रति भाव के कवि हैं। रति भाव के मुख्य तीन रूपों—वात्सल्य रति, दाम्पत्य रति और भगवद्विषयक रति (भक्ति) में से उन्होंने दूसरे और तीसरे रूपों को ही अपनाया है। वे यौवन की उद्दाम वृत्तियों के गायक हैं। उन्होंने रस, अलङ्कार, नायिका-भेद आदि कितनी ही वस्तुओं को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा से अपनाया और इन्हें उपादान-रूप में ग्रहण कर राधा-माधव की विविध प्रेम-लीलाओं का गान खुल कर किया—मधुमयी लोक-भाषा में और चिरपरिचित लोक-जीवन का सहारा लेते हुए। विद्यापति प्रेम और सौंदर्य के कवि माने जाते हैं। शृंगारी कवि के रूप में उन्होंने जिस सौंदर्य का अङ्कन किया है, वह अधिकतर शिख-नख-वर्णन के अन्तर्गत आता है, जिसमें माधव के सौंदर्य से अधिक राधा के सौंदर्य का वर्णन हुआ है। विद्यापति में भक्ति-भावना ढूँढ़ने पर वे अधिकतर कान्त भाव के उपासक ठहरते हैं। इस भाव में आकर शृंगार और भक्ति में अविरोध स्थापित हो जाता है और यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होने लगती है कि भक्त शृंगारी नहीं हो सकता और शृंगारी भक्त नहीं हो सकता।

कान्त भाव से राधा और माधव को अपना कर विद्यापति ने दाम्पत्य-सम्बन्धी एक विशिष्ट एवं व्यापक धारणा बनाई। जिन माधव को उन्होंने केवल लौकिक

शृंगार का ही आलम्बन न बनाए रख कर—“आदि-अनादि नाथ कहाओसि” कह कर परात्पर ब्रह्म के रूप में भी अपनाया और जिनके प्रति—“तुहु जगतारन, दीन दयामय; अतए तोहर बिसवासा” कह कर अपनी पूर्ण निष्ठा भी प्रकट की, उन्हें (माधव=लक्ष्मीपति होने के कारण) राधा से पृथक् नहीं देखा। उन्होंने इन दोनों की—पुरुष और प्रकृति की—भावना साथ ही साथ की। यह दाम्पत्य-भाव इतना व्यापक है कि यह कवि की भक्ति भावना के आलम्बन माधव और राधा तथा शिव और शक्ति तक ही नहीं रह जाता, प्रत्युत उक्त भाव के आश्रय शिर्वासिह और लखिमादेई को भी तथा स्वयं कवि और उसकी पत्नी को भी समेट लेता है। यदि दम्पति रस का उद्गम है, तो इस रस की सम्यक् अनुभूति भी कोई दम्पति ही—पति-पत्नी की एक रसज्ञ जोड़ी ही—कर सकती है। यहाँ विद्यापति अपनी यह मान्यता भी प्रकट कर जाते हैं कि कवि के हृदय के भाव उसकी रचना के माध्यम से पाठक या श्रोता के हृदय में पहुँच कर ही अपना पूरा चमत्कार दिखाते हैं। कान्त भाव के उपासक होने के कारण ही विद्यापति अधिकतर राग (संभोग शृंगार और प्रवृत्तिमय जीवन) के ही कवि बने रहे; विराग (विप्रलम्भ शृंगार और निवृत्तिमय जीवन) गौण होकर ही उनकी पदावली में आ पाया। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उनके भक्ति-संबंधी पदों में भी उनका काव्य-शास्त्र का पाण्डित्य, उनका कला-प्रदर्शन और उनकी रसिकता वैसे ही मुखर है जैसे उनकी शृंगारी रचनाओं में है।

विद्यापति बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और थे बड़े समर्थ साहित्यकार। एक ओर उन्होंने यदि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की परम्परा अपनाई, तो दूसरी ओर अपने समय की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का किसी-न-किसी रूप में प्रति-निधित्व भी अवश्य किया। यही नहीं, उन्होंने परवर्ती कवियों की अगुआई भी की, उनका मार्ग-निर्देश भी किया, उन्हें प्रेरणा भी दी।

साहित्य और संगीत का संगम, अलंकारों की छटा, भावों की सरलता तथा भाषा की कोमलता और मधुरता को साथ-ही-साथ लेकर काव्य-रचना के पथ पर इतनी तन्मयता के साथ चलने वाले विद्यापति कई दृष्टियों से हिन्दी के आदि कवि ठहरते हैं। वे हिन्दी में कृष्ण-काव्य के प्रथम कवि हैं। वे हिन्दी के प्रथम गीत-कार और गीतिकाव्य-परम्परा के प्रवर्तक हैं। उन्होंने ही पहले पहल हिन्दी दृष्टकूट रचे, जिनके अनुकरण पर आगे चलकर सूरदास आदि ने प्रभूत दृष्टकूट रचना की। उन्होंने परवर्ती भक्ति-कालीन कवियों को आध्यात्मिक संकेत भी दिए। रतिभाव की व्यापकता तथा शृंगार की रसराजता सम्यक् रीति से प्रमाणित करते हुए उन्होंने ही हिन्दी में सर्वप्रथम कान्तभाव को अपनाया। शृंगार-वर्णन में चली आ रही परि-पाटी का आश्रय लेने के कारण वे ही हिन्दी के प्रथम रीति-कवि ठहरते हैं। शृंगार के अन्तर्गत नख-शिख (या शिख-नख) को एक स्वतन्त्र वर्ण्य विषय के रूप में ग्रहण करने की परम्परा भी विद्यापति ने ही चलाई। भाषा के प्रकृत रूप में संगीत की ऐसी मोहक सृष्टि करने वाले वे हिन्दी के प्रथम कवि हैं। अपनी इसी संगीतमयी सृष्टि के

कारण वे “मैथिल कोकिल” कहलाए और मिथिला के बाहर भी उन्होंने लोकप्रियता प्राप्त की ।

विद्यापति ने अपने समय से लेकर प्रगतिवादी युग तक के काव्य को किसी-न-किसी रूप में निश्चय ही प्रभावित और प्रेरित किया है । हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों को यदि उन्होंने प्रगीत मुक्तकों की—गीतिकाव्य की—शैली दी, तो रीतिकाल के कवियों को रतिभाव के आलम्बन के रूप में राधा और कृष्ण दिए । रीतिकालीन शृंगार-काव्य में भाव-सौंदर्य की अपेक्षा रूप-सौन्दर्य का वर्णन अधिक है । यह प्रवृत्ति भी उन्हें विद्यापति से ही मिली प्रतीत होती है । अनुभावों और हावों का जो सुन्दर वर्णन रीतिकाल के काव्य में मिलता है, उस पर भी विद्यापति की छाप देखी जा सकती है । उनकी कुछ नचारियों में प्रगतिवाद की भी झलक मिलती है । उदाहरणार्थ, पार्वती की माता की उक्ति—“नाहि करब वर हर निरमोहिया.....” में तत्कालीन कृषकों एवं श्रमिकों की दरिद्रता का चित्र सामने आता है ।

विद्यापति के साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र विशिष्ट वर्गों से लेकर सर्व-साधारण तक फैला हुआ है । वे अपनी कृतियों से विद्वानों एवं नागरों को भी मोहते हैं और अनपढ़ ग्रामीणों को भी । वे सबके द्वारा समान रूप से आदृत हैं । यह आदर और यह लोकप्रियता विद्यापति को विशेष करके इसलिए प्राप्त हुई है कि वे संस्कृत, अपभ्रंश (अवहट्ट) और देशी—तीनों भाषाओं पर समान अधिकार रखते हैं । वे कथाकार भी हैं और मुक्तककार भी । वे राजकवि भी हैं और लोक-कवि भी । उनके वर्ण्य विषयों एवं काव्य-शैली में भी विविधता का आकर्षण है ।

ऐसे शारदासिद्ध, हिन्दी के यशस्वी आदिकवि की रचनाओं पर गवेषणा की दृष्टि पड़नी ही चाहिए थी और समीक्षा-जगत् में उनकी चर्चा व्यापक रूप से होनी ही चाहिए थी, जो हुई है । विद्यापति पर कई समीक्षा-पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमें अन्य विषयों के अतिरिक्त, उनके काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष का अच्छा मूल्यांकन हुआ है । तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि विद्यापति विषयक अब तक प्रकाशित ग्रन्थों में हिन्दी के रीति-काव्य पर विद्यापति के प्रभाव को सम्यक् रीति से दर्साने की चेष्टा नहीं हुई है । इस महत्त्वपूर्ण विषय के गहन अध्ययन की, सम्बन्धित तत्त्वों की गवेषणा की और उनके आलोक में कवि की उपलब्धियों के मूल्यांकन की आवश्यकता बनी रही । मेरे प्रिय शिष्य डा० वीरेन्द्रकुमार बड़सूवाला, विद्यालंकार का यह शोध-प्रबंध, जो उनके ढाई-तीन वर्षों के अथक परिश्रम का सुफल है, इसी आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में एक सफल एवं अभिनन्दनीय प्रयास है ।

इस शोध-प्रबंध के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इसमें आलोच्य विषय की गहराई में उतरने वाले मनीषी लेखक ने विद्यापति के बहुचर्चित साहित्य—विशेषतः पद-साहित्य—के विषय में अनेक मौलिक तथ्य प्रस्तुत किए हैं तथा कई महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं । इनसे इस कवि से संबंधित ज्ञान एवं गवेषणा का क्षेत्र निस्संदेह बहुत आगे बढ़ा है ।

(घ)

लेखक की 'अपनी बात'—गत अनेक तथ्यों एवं स्थापनाओं के आलोक में विद्यापति-पदावली का पुनर्मूल्यांकन इस प्रबन्ध में हुआ है। विचार स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किए गए हैं। शैली में बल और प्रवाह है। ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो रहा यह शोध-प्रबंध हिन्दी-आलोचना-साहित्य की समृद्धि बढ़ाएगा, विद्यापति के अध्येताओं के लिए बड़े काम की चीज सिद्ध होगी तथा इस कारण हिन्दी-जगत् द्वारा समादृत होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

गयाप्रसाद शुक्ल

भूतपूर्व प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
डी० ए० वी० कालेज, देहरादून।

अपनी बात

सन् १९५१ ई० में मैं हिन्दी एम० ए० का विद्यार्थी था। तब आचार्य मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश,' श्री रामवृक्ष बेनीपुरी सम्पादित 'विद्यापति की पदावली' और डा० नगेन्द्र कृत 'रीति काव्य की भूमिका' आदि पाठ्य ग्रन्थों के अध्ययन का प्रसंग आया। उन्हीं दिनों 'विद्यापति और रीति काव्य' विषयक विशेष अध्ययन करने का संकल्प मन में जगा। बाद में गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय में हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्री वागीश्वर विद्यालंकर एम० ए० से इस विषय में परामर्श कर डी० ए० बी० कॉलज देहरादून के हिन्दी के विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर श्री गयाप्रसाद जी शुक्ल के श्रीचरणों में अपना अभीष्ट निवेदित किया। उनका आशीर्वाद मिला। मैं जुट गया।

अध्ययनाध्यापन क्रम में अनुसंधान का क्रम टूटने न दिया। विघ्न तो अनेक आए। निराशा के बादल भी छाए। परन्तु कभी मन्थर और कभी द्रुतगति से बढ़ता ही रहा। सौभाग्यवश महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० विमानविहारी मजुमदार, प्रो० राधाकृष्ण चौधरी, डा० जयकान्त मिश्र, डा० मुन्शीराम शर्मा आदि विद्वानों से मिला बहुमूल्य मार्गनिर्देश व विमर्श संबल बना और १९६० ई० में पूर्व-संकल्पित कार्य सम्पन्न हुआ। फलतः १२ नवम्बर १९६० ई० में आगरा विश्व-विद्यालय के वार्षिक उपाधि-वितरण-समारोह में पी०एच० डी० उपाधि से विभूषित हुआ।

हर्ष है कि मेरा यह प्रबन्ध अब मुद्रित हो प्रकाशित हो रहा है। अनेक विद्वानों, उनकी रचनाओं, पुस्तकालयों और पत्र-पत्रिकाओं से इस प्रबन्ध के लेखन में मैं लाभान्वित हुआ हूँ। उनमें से कुछ का नामोल्लेख परिशिष्ट 'अ' में है। कुछ का उल्लेख छूट भी गया हो सकता है। मैं सभी सम्बद्ध विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस ग्रन्थ में जो कुछ छपा है वह मुख्य रूप से यह है—

चौदहवीं शती के कवि के लिए भाषा-काव्य लिखना एक असम्भव व्यापार था। तीन सौ वर्ष बाद भी केशवदास ने 'भाखा' में काव्य लिखते समय जिस ग्लानि का अनुभव किया तथा तुलसीदास जैसे जन-मंगल की भावना से ओतप्रोत कवि ने 'भाखा भनिति' के लिए जितनी शालीन सफाई पेश की—वह सब सम्भव न हुआ होता यदि विद्यापति (१३६०-१४६० ई०) जैसे दरबारी कवि ने कविता को देव-वाणी की दमघोंट चारदिवारी से बाहर न निकाला होता।

लोक-भाषा में ज्ञान और अनुभव के प्रकाशन और प्रचार की परम्परा ईसा की छठी शताब्दी पूर्व ही पड़ चुकी थी जब कि गौतम बुद्ध ने अपने ज्ञान और उपदेश की

प्रणाली संस्कृत में न डाल कर उस समय प्रचलित लोक-भाषा—पालि में डाली थी। उसी परम्परा के विकास के रूप में अनेक सन्त कवियों का भाषा-आन्दोलन देखा जा सकता है। गोरखनाथ के पूर्ववर्ती और समकालीन सिद्धों और नाथों का साहित्य लोक-भाषा साहित्य है। कबीर ने इस परम्परा के अनुरूप ही, यद्यपि वह संस्कृत नहीं जानते थे, संस्कृत के स्थान पर भाषा में निहित ज्ञान की सुलभता की घोषणा की—‘संस्करित कूपजल कबीरा भाषा बहता नीर’।

भाषा साहित्य के प्रचार और प्रतिष्ठा बढ़ जाने पर भी, संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के प्रति भाषा-साहित्यकारों के मन में अत्यन्त सम्मान का भाव रहा। यह सही है कि विद्यापति ने कबीर की तरह संस्कृत को कूपजल कह कर तिरस्कृत नहीं किया। वह संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के धुरंधर विद्वान् थे। ‘पुरुष परीक्षा,’ ‘कीर्ति-लता,’ ‘कीर्तिपताका’ उनकी इन भाषा-साहित्यों के क्षेत्र में कीर्तिस्तम्भ हैं। तथापि वह इतना तो मानते ही थे कि संस्कृत अब केवल बुध-जन तक ही सीमित हो गई है—

सकय वाणी बृहन्न भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ ।
देसिल बयना सब जन मिठा, तं तैसन जम्पअँ अवहट्ठा ॥

कीर्तिलता १।१६-२२

इसलिए सब जनों को मीठी लगने वाली भाषा—‘देसिल बयना’ का ही उन्होंने प्रयोग अधिकतर किया अपनी पदावली में।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि पठान बादशाहों ने हिन्दू-भाषा-कवियों को दरबार में आश्रय नहीं दिया (देखें डा० ईश्वरी प्रसाद कृत ‘मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास’ पृष्ठ २५३)। उनके दरबार में रहने वाले कवि अधिकांश फारसी के थे। मुसलमान आक्रान्ताओं में से पठानवंशोद्भव गुलाम और खिलजी वंश के लोगों ने भारत-भूमि पर (१२००-१४१४ ई० तक) लगभग २०० वर्षों तक शासन किया। दिल्ली-साम्राज्य-विघटन के समय सैयद और और लोदी लोग तो दिल्ली के आस-पास ही रह गए थे। पूर्वी भारत में शर्की हुकूमत कायम हुई। बुलन्दशहर से दरभंगा तक इसका विस्तार था। जौनपुर राजधानी थी। मिथिला इनका करद के रूप में था। जब मुसलमानी शासन भारतवर्ष में स्थापित हो गया तो हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियाँ परस्पर स्नेह भाव के जागरण की आकांक्षा करने लगीं। यह सच है कि मुसलमान शासक अपने उद्धत स्वभाव के कारण तलवार की धार में अपने इसलाम की तेजी देखना चाहते थे और किसी भी हिन्दू को इसलाम या मृत्यु दोनों में से किसी एक को चुनने के लिए बाध्य कर सकते थे, जैसा कि शुरू के अनेक यवन आक्रान्ताओं ने किया भी, परन्तु दूसरी ओर एक शासक वर्ग ऐसा भी था जो हिन्दुओं को अपने पथ पर चलने की आज्ञा प्रदान करने में सुख का अनुभव करता था। ऐसे शासक वर्ग में जौनपुर के शर्की सम्राट् शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह, हुसेनशाह और शेरशाह (गोदाधिप गुलाम वंशज फरीद खाँ जो बाद में दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ) का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः इन शासकों के साथ ऐसे मुसलमान भी

थे जो हिन्दू धर्म के प्रति उदार ही नहीं वरन् उस पर आस्था भी रखते थे। जहाँ वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास रखते थे, वहाँ दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। हिन्दी-साहित्य के प्रेम-काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है। शर्की सम्राटों और शेरशाह आदि ने स्पष्ट ही उलमाओं की शिक्षा की अवहेलना कर हिन्दू धर्म के प्रति उदारता का भाव प्रदर्शित किया। फलतः हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य भाव ने विस्तार पाया और संगीत तथा भाषा-कविता को प्रोत्साहन मिला। भ्रमणशील और भारतीय जनता के प्रेम-कथानकों को लेकर जनभाषा में कविता करने वाले अनेक सूफी कवियों ने इन सम्राटों का आश्रय लिया और गुणगान भी किया। इस प्रकार इन राजदरबारों में भाषा-कवियों का आदर बढ़ने लगा।

मध्ययुग में जौनपुर वस्तुतः एक प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र था और इब्राहीम शाह शर्की विद्याप्रेमियों का एक उदार आश्रयदाता। अनेक साहित्यिक, दार्शनिक और धार्मिक रचनाएँ उसके राजत्व में सम्पन्न हुईं। इब्राहीम शाह सन् १४०१ ई० में जौनपुर के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। फिरीश्ता के अनुसार इब्राहीम सन् १४०५ ई० से १४१६ ई० तक दिल्ली के साथ युद्ध में लगा था। सम्भवतः १४०२ ई० से सन् १४०४ ई० के बीच किसी समय इब्राहीम ने तिरहुत आकर कीर्तिसिंह को सामन्त नृपति का पद प्रदान किया—

बान्धव जन उच्छ्राह कर तिरहुती पाइअ रूप ।

पातिसाह जसु तिलक करु कित्तिसिंह भउँ भूप ॥

—कीर्तिलता

उस समय से लेकर लगभग १४६० ई० तक तिरहुत जौनपुर का सामन्त-राज्य था। तत्कालीन राजनयिक परिस्थितियों से स्पष्ट है कि नवोदित इब्राहीमशाह शर्की (जो कि अपने उदयकाल से ही दिल्ली साम्राज्य से जुझने लगा था) का ध्यान कुछ काल के लिए मिथिला या तिरहुत की ओर जो खींच सका वह महापुरुष था महाकवि विद्यापति। वह स्वयं पैरों चल कर गणेश्वर के उत्तराधिकारी वीरसिंह और कीर्तिसिंह के साथ मिथिला के उद्धार के उद्देश्य से उदार इब्राहीम के दरबार में उपस्थित हुआ और अंततः अपने उद्देश्य में उन्हें सफलता मिली।

भारतीय साहित्य एवं कला का नया अरुणोदय उस समय हुआ जिस दिन दिल्ली के तख्त पर सम्राट् अकबर आसीन हुआ। सन् १५५६ ई० में अकबर दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर बैठा। अधिक स्पष्ट रूप में भाषा-कवियों के राज्याश्रय की परम्परा अकबर के समय से ही पड़ी दृग्गत होती है, जिसकी देखा-देखी राजपूताना तथा मध्य भारत की रियासतों (ओरछा, नागपुर आदि) में भाषा-कवियों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और आगे उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही दरबारों में प्रतिष्ठा मिली, जिसके फलस्वरूप व्यापक रीति-साहित्य की रचना हुई।

मैथिली दरबार के शृंगार विद्यापति ठाकुर के सामने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की साहित्यिक निधि उन्मुक्त थी, जिसका उन्होंने जमकर उपयोग किया। संस्कृत-

प्राकृत-अपभ्रंश का काव्य-मण्डार विद्यापति का अपना था। 'पुरुष-परीक्षा' आदि संस्कृत में ग्रन्थ-रचना के साथ अपभ्रंश (अवहट्ठ) में उन्होंने 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति-पताका' लिखीं; लेकिन मैथिली पदों के द्वारा वह हिन्दी के कवियों में शामिल हुए। लोकभाषा द्वारा शिष्ट काव्य की सृष्टि हिन्दी में सर्वप्रथम उन्होंने की।

मध्ययुग के दरबारी कवियों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का प्रायः अभाव पाया जाता है, क्योंकि हम यह मान बैठे हैं कि इस प्रकार के कवियों ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटा कर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। विद्यापति दरबारी कवि थे अवश्य पर उस चाकचिक्य और वैभवप्रधान वातावरण में उनकी आत्मा मृत नहीं हुई। उससे उनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार संवृद्ध हुआ। कीर्तिसिंह, शिवसिंह आदि के दरबारों में रहते हुए विद्यापति ने परम्पराभुक्त मध्ययुगीन प्रमुख प्रवृत्तियों (शृंगार और भक्ति) का अपने काव्य में निर्वहण किया। रीति कवियों का लोक-सम्पर्क अत्यंत सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। यथावसर दरबारी कविता में परम्पराभुक्त शृंगार और भक्ति की प्रबल व क्षीण धाराओं का अवगाहन ही उनके काव्य की इयत्ता रही।

प्रस्तुत रचना के प्रथम अध्याय में मध्यकालीन शृंगार-साधना के विकास और तत्कालीन प्रमुख प्रवृत्तियों के उल्लेखपूर्वक यह बताया गया है कि सन् १५०० ई० से लेकर सन् १८०० ई० तक के डा० सुकुमार सेन द्वारा उल्लिखित लगभग ३०० वैष्णव कवि भाव, विचारधारा और शैली में अधिकांशतः विद्यापति की पदरचना से प्रभावित हैं। विद्यापति हिन्दी के श्रेष्ठ शृंगारी-भक्त कवि हैं और निस्सन्देह सर्व-प्रथम रीति-कवि हैं।

द्वितीय अध्याय में देश की परतन्त्रता—देशभाषा की अमान्यता, राजदरबारों में भाषा-कवियों का आदर बढ़ना और रीति-कवियों के प्रादुर्भाव का उल्लेख कर दरबारी कवि विद्यापति का चित्रण है। और उसी सिलसिले में विद्यापति-पदावली के सामान्य विवेच्य के अन्तर्गत नायिका-भेद, मान, विप्रलम्भ या विरह, मिलन या संयोग-शृंगार के विषय में विचार प्रकट करते हुए लिखा गया है कि रसिक प्रवृत्ति के कारण विद्यापति ने राधा को अल्पवयसा माना है, जिससे उन्हें नायिका की केलि-भीरुता, सखियों का प्रबोध, नायिका की अनुनय-विनय और नायक की उद्विग्नता आदि रसपूर्ण विषय मिल जायें। रीति-काव्य के सारे कवियों का संयोग शृंगार-काव्य विद्यापति के सामने छोटा उतरता है। सच बात तो यह है कि विद्यापति उन भक्त कवियों में नहीं थे जो वैराग्य धारण कर भगवान् के गुणगान में ही रमे रहते हैं। वे वस्तुतः रसिक कवियों में थे और समय-समय पर भक्ति के उन्मेष में भी कुछ रचनाएँ कर दिया करते थे। वस्तुतः ये शृंगार की उसी अखण्ड परम्परा के कवि थे, जिसमें आगे चलकर बिहारीलाल, पद्माकर आदि शृंगारी कवि दिखाई देते हैं।

तृतीय अध्याय में प्रथम पदावलीगत शारीरिक सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य, हास-परिहास, प्रकृति एवं ऋतु, पौराणिक रूढ़ शब्द, विद्यापति से पूर्व राधा-कृष्ण, विद्यापति के कृष्ण और राधा, पदावली का आध्यात्मिक आकर्षण एवं भाव योग को स्पष्ट

किया गया है। तदुपरान्त क्रमशः रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों का शारीरिक सौंदर्य, भाव सौंदर्य, हास-परिहास, ऋतु, भक्ति-सौंदर्यादि का तुलनात्मक दृष्टि से उल्लेख है। विद्यापति की कविता में शुद्ध नख-शिख भी अंकित हुआ है तथापि अधिकतर नायक-नायिका के शिख-नख सौंदर्य का ही उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार रीति-कालीन कविता में भी शिख-नख प्रकार के नख-शिख सौंदर्य को ही प्रधानता मिली। हिन्दी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति है, जिनमें रीति-संकेत असंदिग्ध रूप में मिलते हैं। नख-शिख को शिख-नख प्रधान बना कर स्वतन्त्र रूप से वर्णन करने की रुढ़ि चलाने का श्रेय विद्यापति को मिलना चाहिए।

चतुर्थ अध्याय में पहले पदावली की भाषा, छन्द, अलंकार, मुक्तक गीत शैली और लोकोक्तियों आदि बिन्दुओं पर प्रकाश डाल कर यह कहा गया है कि हिन्दी मुक्तक-पदों के जन्मदाता विद्यापति हैं। उनके राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद गोविन्ददास, ज्ञानदास, बलरामदास, चण्डीदास आदि मैथिली एवं बंगाली कवियों के लिए भाव और शैली की दृष्टि से आदर्श बने। उनका प्रभाव पश्चिमी प्रान्तों पर भी पड़ा और उन्हीं की शैली पर हिन्दी रीति-काव्य के उत्कृष्ट कवि सूरदास ने 'सूरसागर' की रचना की। यहाँ रीतिकालीन कवियों के कलापक्ष के सिलसिले में यह बताया गया है कि इसमें मिलन प्रसंग में प्रेमात्तेजक परिवेश बनाने वाली वस्तुओं का सहारा लिया गया है।

पंचम अध्याय में पहले विद्यापति के समसामयिक और परवर्ती उनसे प्रभावित मैथिली कवियों की गणना है। नेपाल, बंगाल, उड़ीसा और आसाम में वे एक बड़े वैष्णव के रूप में विख्यात हुए। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि सन् १८८० ई० से पूर्व मिथिला और मध्यदेश का साहित्यिक सम्बन्ध नहीं रहा। परन्तु इस समय से पूर्व से मिथिला प्रदेश के अलंकार और रसशास्त्रियों की रचनाओं से और यहाँ के गीतकारों और रसिकभक्त-सन्तों की सरल कृतियों से मध्यदेश भी परिचित था। ध्यान देने योग्य है कि समस्त लौकिक संस्कृत-साहित्यगत और इतर तदुद्भूत शृंगारपरक साहित्य के मेरु दण्ड रूप वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' की रचना मिथिला में हुई। और मूलतः कामसूत्रों से उद्भूत तन्त्रियों से ही बंगाल से लेकर पंजाब तक समस्त उत्तर भारत (जिसमें मध्य देश है ही) में लोक-साहित्य-प्रणेता सब ही रसिक कवियों एवं भक्त-सन्तों ने अधिकांशतः तत्कालीन काव्य रीतियों का अनुसरण करते हुए अपने मधुर गीतों या पदों का ताना-बाना बुना है। स्पष्ट ही संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश से उद्भूत भारतीय हिन्दी साहित्य ने कामशास्त्री विद्यापति की पाठशाला में वात्स्यायन प्रणीत और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अधीत कामशास्त्र का अध्ययन किया। प्रवृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले साहित्य के अध्येता पावेंगे कि विद्यापति मध्य-युगीन हिन्दी-मुक्तक-शृंगार कविता की दृष्टि से चिर-अविस्मरणीय हैं। विद्यापति का सबसे अधिक महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने अपने पद-साहित्य के द्वारा संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के शृंगार साहित्य की थाती को हमें समर्पित किया।

हिन्दी के शृंगार काव्य पर संस्कृत के लौकिक और धार्मिक (स्तोत्र) साहित्य—जयदेव के गीत गोविन्द, विद्यापति की पदावली तथा सूरदास की शृंगारात्मक भक्ति

का व्यापक प्रभाव है। श्री रूपगोस्वामी ने १५वीं शती में 'उज्ज्वल नील मणि' ग्रन्थ में रस-वर्णन किया और उसमें राधा कृष्ण की लीलाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए। भक्ति और शृंगार का यह सम्मिश्रण भक्त-हृदयों के लिए तो आध्यात्मिक अनुभूति कराने में समर्थ था, किन्तु जन-साधारण के लिए वह कोरा शृंगार मात्र ही सिद्ध हुआ। इसीलिए परवर्ती दरबारी वातावरण में वह 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो' मात्र रह गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। तथापि शृंगारी कवियों को अपने काव्य के लिए अत्यन्त मनोरम विभाव (राधा-कृष्ण) उपलब्ध हो गए।

जहाँ एक ओर राधा-कृष्ण की लीलाएँ शृंगार मात्र रह गईं, वहाँ राम, शिव, दुर्गा, गंगा, पार्वती आदि देवी-देवताओं की स्तुति इन सब ने पूर्ण भक्तिपूर्वक की है। भक्ति की यह भावना पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा तथा हिन्दू-संस्कृति की देन थी। लीला-विलास का वर्णन यदि इन कवियों के साहित्यिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखता था तो यह भक्ति उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूति का उद्गार थी। हिन्दुत्व और उनकी धर्मभिरुता का प्रत्यक्ष परिचय इन लोगों की कविताओं से हो सकता है। इन कविताओं में कवि की सम्पूर्ण आत्मग्लानि तथा असहाय दशा के भी दर्शन होते हैं। प्रतीत होता है कि वह अपने सांसारिक जीवन की निस्सारता तथा तुच्छता से पूर्ण-तया अवगत हो, उस अनुभूति के क्षणों में भगवच्छरण प्राप्त कर स्वयं को कृतार्थ कर लेना चाहता है।

बाद में अन्तिम अध्याय में विद्यापति-पदावली ने परवर्ती मैथिली, बंगला, ब्रजबुली, अवधि और ब्रज आदि हिन्दी-भाषा साहित्य को जो कुछ दिया उसका उल्लेख करके 'विद्यापति-वैशिष्ट्य' के विवरण के साथ इस प्रबन्ध का प्रसंग समाप्त हो जाता है।

लगभग सात वर्ष बाद इस रचना का मुद्रण एवं प्रकाशन सम्भव हुआ। इस प्रसंग में एस० चण्ड एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली प्रकाशन संस्था के अधीश्वर श्री श्यामलाल गुप्त और उनके कर्मठ सहयोगी श्री श्रीनाथ, श्री प्रेमनाथ कपूर, श्री राजन, श्री गोयल आदि के प्रति आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने इस रचना के मुद्रण और प्रकाशन का भार सहर्ष उठाया। आशा है कि यह संस्था भविष्य में भी मुझ पर कृपालु बनी रहेगी।

मान्य प्रो० गयाप्रसाद जी शुक्ल ने अपने बहुमूल्य समय में से कुछ समय देकर जो लघु प्रस्तावना लिख भेजी उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

वीरेन्द्र कुमार बड़सूवाला

बो-३/३ राजौरी गार्डन

नई दिल्ली-२७।

११ सितम्बर, १९६७

विषय सूची

विषय प्रवेश	पृष्ठ
मिथिला प्रकाण्ड पाण्डित्य का देश	१
मिथिला-काव्यानुराग	८
मिथिला-संगीत-अनुराग	१३
मैथिली-साहित्य	१७
विद्यापति-प्राङ्-मिथिला और उत्तर भारत	२६
विद्यापतियुगीन मिथिला और उत्तर भारत	३५
हिन्दी साहित्य का आदिकाल और आदिकवि विद्यापति	४७
संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-परम्परा और विद्यापति	७७
संस्कृत कवि और विद्यापति	९२
प्राकृत कवि और विद्यापति	१०८
अपभ्रंश कवि और विद्यापति	११३
हिन्दी का पद-काव्य और विद्यापति	११६
संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का काव्य भंडार विद्यापति का अपना था	१२०

अध्याय एक

हिन्दी के कतिपय मध्ययुगीन भक्त-कवियों में शृंगार-रस

मध्यकालीन शृंगार-साधना का विकास	१२२
मध्ययुगीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ और विद्यापति	१४६
भक्तों की कविताओं में शृंगार-रस	१५६
गोविन्ददास-शृंगार-रस	१६१
ज्ञानदास-शृंगार-रस	१६६
नन्ददास-शृंगार-रस	१७२
तुलसीदास-शृंगार-रस	१८२
हितहरिवंश-शृंगार-रस	१९६

अध्याय दो

विद्यापति और रीतिकालीन कवियों के सामान्य विवेच्य

देश की परतन्त्रता—देश-भाषा की अमान्यता	२०५
राजदरबारों में भाषा-कवियों का आदर बढ़ना	२१३

	पृष्ठ
रीतिकालीन कवियों का प्रादुर्भाव	२१७
दरबारी कवि विद्यापति	२२६
विद्यापति पदावली के सामान्य विवेच्य	२४४
रीतिकालीन कवियों के सामान्य विवेच्य	२७६

अध्याय तीन

विद्यापति और रीतिकालीन कवियों का भावपक्ष

पदावली का भावपक्ष—शारीरिक-सौन्दर्य	३०२
भाव-सौन्दर्य	३१८
हास-परिहास	३३०
प्रकृति एवं ऋतु	३३१
पौराणिक रूढ़ि-शब्द	३४०
विद्यापति से पूर्व राधा-कृष्ण	३४३
विद्यापति के कृष्ण और राधा	३५२
आध्यात्मिक आकर्षण एवं भावयोग	३७०
रीतिबद्ध कवियों का शारीरिक सौन्दर्य	३७३
भाव-सौन्दर्य	३८६
हास-परिहास	३९५
ऋतु	३९६
भक्ति-सौन्दर्य	४०५
भावयोग	४०८
रीतिमुक्त कवियों का शारीरिक और भाव-सौन्दर्य	४०९

अध्याय चार

विद्यापति और रीतिकालीन कवियों का कलापक्ष

पदावली का कलापक्ष	४२०
भाव बिम्बात्मकता	४२६
अलंकार विधान	४२८
लोकोक्तियाँ	४३२
मुक्तकगीत शैली	४३६
रीतिकालीन कविता—कलापक्ष	४४२
रचनात्मक शब्द	४४५
अनुकरणात्मक शब्द	४४५
लक्षणा-प्राण शब्द	४४५
विशेषण शब्द	४४६
लोकोक्तियाँ और मुहावरे	४४८

चित्र-विधान

पृष्ठ

४५१

अध्याय पाँच

परवर्ती साहित्य पर विद्यापति की छाप

विद्यापति के सम सामयिक कवि	४६३
विद्यापति के परवर्ती कवि	४६६
विद्यापति का प्रभाव	४७३
विद्यापति-वैशिष्ट्य	४६४
परिशिष्ट 'अ'	५१२
परिशिष्ट 'आ'	५१६
वर्णानुक्रमणिका	५१७

विषय प्रवेश

मिथिला प्रकाण्ड पांडित्य का देश—मिथिला विद्यापति की जन्म-भूमि है और वह प्राचीन भारतीय जनपदों में से एक ऐसा प्रसिद्ध जनपद है जहाँ के प्राचीन इतिहास, सभ्यता और संस्कृति ने दूर-दूर तक ज्ञान-रश्मियों का प्रसार किया। मिथिला नगरी का इतिहास रण-पण्डितों के हथकण्डों की कहानी मात्र नहीं है। विद्या और साहित्यानुरागी सामन्तीय दरबारों में यह अवश्य ही केन्द्रित रहा है। इसके विशिष्ट विद्यापीठों, सभा-भवनों, गोष्ठी-सदनों में ही मानव-मनीषा और संस्कृति विषयक विशिष्ट महान् दार्शनिक वादविवाद सम्पन्न हुए—

“इट वाज इन द हाल्स ऑफ द सिटी ऑफ मिथिला, द साइट ऑफ ह्विच इज नॉट आइडेन्टीफाइड एज यट, दैट द ग्रेट एन्ड अनपैरलल्ड फिलॉसफिकल डिसकशन्स एवर एटेम्पटेड इन द हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन थाट एन्ड कल्चर, वेयर हेल्ड”^१

आइये मिथिला कहाँ, क्या और कैसे विषयक तथ्यों से जानकारी प्राप्त करें। बाबू नगेन्द्रनाथ वसु-सम्पादित हिन्दी विश्व-कोष के आधार पर हम कह सकते हैं कि मिथिला स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द है। इसकी निरुक्ति या निर्वचन इस प्रकार है—मथ्यन्ते शत्रवो यस्यां। मथ् + इलच्—मिथिलादयश्च। उर्ण १।१८। यह अति प्राचीन जनपद भेद है। इसकी राजधानी मिथिला नगरी है और यही राजर्षि जनक की नगरी थी। इसका दूसरा नाम विदेह है। अतएव मिथिला-राज-कन्या सीतादेवी का नाम मैथिली और वैदेही भी पड़ा।

रामायण महाकाव्य में इस जनपद का विशेष विवरण लिखा है। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ताड़का-निधन के लिए राम-लक्ष्मण के साथ जंगलों को पार करके मिथिला में पहुँचे थे। इसी समय राजर्षि जनक ने एक महायज्ञ किया था। यह मिथिला है कहाँ इसके सम्बन्ध में अनेक लोगों के अनेक मत हैं। रामायण, पुराण या तन्त्र आदि ग्रन्थों के आन्तरिक प्रमाणों की सहायता से हमें देखना है कि वे मिथिला की स्थिति कहाँ बताते हैं।

रामायण के वर्णन से स्पष्टतया मिथिला का कोई प्रकाशक प्रमाण नहीं मिलता फिर भी इतना अवश्य मालूम होता है कि मिथिला विशाल (विशाल देश—गंगा और गंडकी नदी के बीच के भू-भाग पर विशाल राज का शासनाधिकार था। इस देश के वायु-कोण में वेतिया, पूर्व की ओर मधुपुर, दक्षिण में भागीरथी और उत्तर में शैलम या शालमपुर था। विशाल देश के अधिवासी अधिकांशतः धार्मिक थे। इस देश में और भी तीन छोटे-छोटे देश शामिल थे। उनमें एक का नाम चम्पारन, दूसरे का नाम शालीमय, तीसरे का नाम दीर्घद्वार था। यह विशाल देश आजकल—के

बिहार प्रदेश का कुछ अंश था। आजकल के सारन, चम्पारन और मुजफ्फरपुर जिलों की सीमा के अन्तर्गत ही यह विशाल देश था। विशाल देश में दीर्घद्वार एक प्रदेश गिना जाता था। किन्तु काल-चक्र से आज यह एक विशाल ग्राम के रूप में परिणत हो गया है। दीर्घद्वार का अपभ्रंश दीघवारा है। अनेक प्राचीन ग्राम आज भी इस दीघवारा के इर्द-गिर्द पुराने नामों से वर्तमान हैं) के उत्तर-पूर्व कोण पर अवस्थित थी। विशाल के उत्तर में ही मिथिला राज्य है। चीनी यात्री युएनचवांग के समय गंगा के उत्तर में समूचा प्रदेश वृज्जि नाम से प्रसिद्ध था। यह प्रदेश तीन छोटे-छोटे भागों में बँटा हुआ था—१-वैशाली या विशाला २-तीरभुक्ति, ३-वृज्जि या मिथारि। पुराण के अनुसार निमिष के पुत्र मिथि के नाम पर ही मिथिला-राज्य की स्थापना हुई। इसलिए इसमें जरा भी संदेह नहीं कि मिथिला वर्तमान तिरहुत का कोई न कोई अंश ही होगी।^१

पुराण-प्रसंग से मालूम होता है कि वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु सूर्यवंशीय सर्वप्रथम राजा थे। उनके सौ पुत्रों में विकुक्षि, निमि और दण्ड नाम के तीन पुत्र श्रेष्ठ थे। विकुक्षि से ही रामचन्द्रादि सूर्यवंशीय राजाओं ने जन्म लिया था। निमि मिथिलाधिपति जनक के आदि पुरुष हैं। भविष्य पुराण में लिखा है—

‘निमिः पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृतः।

प्रथमं भुज्जलैर्येन तैरहूनस्य पार्श्वतः॥

निमितं स्वीयं नाम्ना च मिथिलापुरमुत्तमम्।

पुरीजननसामर्थ्यज्जनकः स च कीर्तितः॥”

निमि के पुत्र मिथि हैं। इन्हीं मिथि ने तिरहुत के प्रदेश में अपने नाम पर मिथिलापुर नगरी बसाई। पुरी निर्माण करने में सामर्थ्यशाली होने के कारण ही ये जनक नाम से विख्यात हुए। इनके तीन नाम हैं—मिथिल, वैदेह और जनक।

न्याय-दर्शन के रचयिता महर्षि गौतम इसी जनक वंश के पुरोहित थे। इसी समय से मिथिला में न्याय की चर्चा विशेष रूप से चली आती है। नवद्वीप (नदिया) के मुख को उज्ज्वल करने वाले प्रसिद्ध नैयायिक वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला से न्याय-शास्त्र का अध्ययन किया था। स्वनामधन्य रघुनाथ शिरोमणि और स्मार्त रघुनन्दन दारभंगा के सर्षप ग्रामवासी पक्षधर मिश्र के छात्र थे। भविष्य पुराण के ‘तैरहुतरथ पार्श्वतो’ वचन के प्रमाण से अनुमान किया जाता है कि यह राज्य तिरहुत नाम से भी प्रसिद्ध था। अन्य कई संस्कृत ग्रन्थों में तीरभुक्ति शब्द पाया जाता है। ‘तीरभुक्ति’ नदी के किनारे वाली भूमि को कह सकते हैं। तीरहुत शब्द के मूल शब्द तीर भूक्ति या ‘तीरभुक्ति’ शब्द का अपभ्रंश तिरहुत है^२। इससे अब जग भी संदेह नहीं रह जाता कि आजकल का तिरहुत प्रदेश प्राचीन काल का ‘तीरभुक्ति’ राज्य है। शक्तिसंगमतन्त्र में इस राज्य की सीमा इस तरह निर्धारित हुई है—

१. हिन्दी विश्व-कोष, भाग ६, पृष्ठ ५५७-६६

२. वही

गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तर्गं शिवे ।

विदेशभूः समाख्याता तैरभुक्ताभिधः स तु ॥

अर्थात् विदेह या तीरभुक्ति देश गण्डकी नदी के तीर से ले के चम्पारण्य (चम्पारन) की अन्तिम सीमा तक फैला हुआ है ।

महामहोपाध्याय श्री परमेश्वर भा ने अपने 'मिथिला तत्व-विमर्श' ग्रन्थ में लिखा है—“मिथिला अथवा तिरहुति” ई देश इक्ष्वाकुतनय निमि महाराजक पुत्र मिथिमहाराज स बसाओल गेल तें एकर नाम 'मिथिला' भेल और एहि नदी मातृक-देश में नदीक बाहुल्य अछि और ओहि नदी सभक तीर में लोक सभवसैत गेलाह तें 'तिरभुक्ति' ई नामान्तर भेल जकरा देश भाषा में तिरहुति वा तिरहुत लोक कहै छथि ।^१ मिथिला का तिरहुत नाम नवीन और अर्वाचीन है । इस सम्बन्ध में वहाँ लिखा है—“परन्तु ई जानैक चाही जे मिथिला नाम सं बहुत नवीन तीरभुक्तिनाम थीक । अतएव वाल्मीकीय रामायण आदि अतिप्राचीन ग्रन्थ सभ में तीरभुक्ति नाम कतहु नहि भेटैत अछि । 'त्रिकाण्ड शेष कोष' में “प्राग्ज्योतिषः कामरूपे तीरभुक्ति स्तु निच्छविः । विदेहाश्वाथ कश्मीर इत्यादि लेख देख छी तें प्रतीत होइ छ जे पुरुषोत्तम देवक समय स किछु पूर्वहि सं 'तीर भुक्ति' नामक प्रचार भेल छल” । त्रिकाण्ड शेष के कर्ता श्री पुरुषोत्तम देव १३वीं शता के उत्तरार्द्ध में प्रसिद्ध कोषकार हलायुध के वंश में बंगाल में उद्भूत हुए थे । श्री राजेन्द्रलाल मित्र ने 'नोटिस ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' में पुरुषोत्तमदेव का स्थिति दशम वा एकादश शती में मानी है । मराठी भाषा में कवि-चरित्र में पुरुषोत्तम देव शक १४वीं शती में हुए ऐसा लिखा है ।^२

त्रिकाण्ड शेष का कर्ता पुरुषोत्तम देव हलायुध के वंश में १२वीं शती के मध्य में हुआ । गंगा, गण्डक और कोशिकी इन तीन बड़ी नदियों के तीर पर बसे होने के कारण इस प्रदेश का नाम तीरभुक्ति पड़ा ।^३ तीरभुक्ति शब्द स्पष्टतः 'तीर' और 'भुक्ति' इन दो शब्दों से मिल कर बना है । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने गांगेय प्रदेश के रूप में इसे ठीक ही समझा है, जबकि भुक्ति शब्द का प्रयोग ११ या १२ वीं शती में 'प्रदेश' के अर्थ में होता था । हरप्रसाद शास्त्री का अभिमत है कि यहाँ भुक्ति शब्द अधिक प्राचीन नहीं, क्योंकि १२वीं शती की सेन-वंशीय मुद्राओं में प्रदेश के अर्थ में 'भुक्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है । उनके अनुसार इस नाम का सर्वप्रथम प्रयोग तब हुआ जबकि बंगाल के सेन-वंशीय राजाओं ने इस प्रदेश को विजित किया और वहाँ कुछ बंगाली ब्राह्मणों को बसा दिया ।^४ परन्तु इस बात को मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं जिनसे कि 'भुक्ति' शब्द प्रयोग की प्राचीनता सिद्ध होती है । जैसा कि विदित ही है कि 'भोगपति' एक प्रदेश के अधिपति (गवर्नर) के लिए यहाँ एक सामान्य शब्द रहा है, और 'भुक्ति' शब्द का प्रान्त या प्रदेश के अर्थ में प्रयोग

१. मिथिला तत्वविमर्श, पृष्ठ ५७-५८

२. परमेश्वर भा कृत 'मिथिला तत्व विमर्श', पृष्ठ ५६ की पाद टिप्पणी

३. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृष्ठ ८, ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग १५, पृ० २४१

४. दरभंगा डिस्ट्रिक्ट गजटियर, पृष्ठ १५७

स्पष्ट ही बंगाल के सेन-वंशीय राजाओं के उद्भव से बहुत पूर्व का है। गायकवाड़ औरियन्टल सीरीज में प्रकाशित संस्कृत के सुप्रसिद्ध अलंकार शास्त्री वामन-कृत 'लिगानुशासन' में 'तीरभुक्ति' का उल्लेख हुआ है—

“वरेन्द्राः तीरभुक्तिर्नाम देशः” (वामनकृत 'लिगानुशासन' पृष्ठ १८)। वामन षवीं शती में हुआ है अतः स्पष्ट है कि 'तीर भुक्ति' या 'तिरहुत' प्रदेश संज्ञा षवीं शती में ज्ञात थी। आधुनिक पुरातत्त्व-विद्या-विशारदों द्वारा उपलब्ध सामग्री के आधार पर तो 'तीरभुक्ति' का प्रयोग और अधिक पूर्वकालीन सिद्ध होता है, क्योंकि सन् १९०३-१९०४ ई० में हुई बसाढ़—(वैशाली, जिला मुजफ्फरपुर) की खुदाई में अनेक ऐसी मुद्राएँ मिली हैं जिनमें चतुर्थ शती गुप्त-युग की तिथियाँ अंकित हैं और 'तीर भुक्ति' नाम भी मिलता है। इनमें से कुछ मुद्राओं के अंकों से स्पष्ट है कि उनका तत्कालीन तीरभुक्ति के अधिष्ठाताओं से सम्बन्ध था।

इस देश की भौगोलिक सीमा के प्रसंग में पुराण वचनों को उद्धृत करते हुए श्री परमेश्वर भा ने लिखा है कि मिथिलाक चतुःसीमा (चौहद्दी) एहि देशक परिमाण बृहद्विष्णु पुराण में लिखित छथि—

कौशिकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै ।
योजनानि चतुर्विंशद्व्यायामः पारिकीर्तितः ॥
गंगाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम् ।
विस्तारः षोडश प्रोक्तो देशस्य कुरु नन्दन ।
मिथिला नाम नगरी तत्रास्ते लोक विश्रुता ॥

भावार्थ—पूर्व में कौशिकी संलय के पश्चिम में शालग्राम पर्यन्त, और दक्षिण गंगा प्रवाह संलयको उत्तर में हिमालयक वन पर्यन्त ६६ कोश लम्बा और ६४ कोश चौड़ा मिथिला देश अछि। मिथिला नगरी कहलें जनकपुर मात्र बुभल जायत अछि। एहिदेश में दरभंगा, मौजफ्फरपुरक सपूर्ण प्रदेश, चम्पारण्य (चम्पारन, मोतीहारी) क पूर्व भाग, भागलपुर तथा मुंगेर जिलाक उत्तरभाग और नेपाल राज्यक दक्षिण भाग सामिल अछि। मिथिलाक मुख्य स्थान जनकपुर नेपाल राज्यहिक अन्तर्गत अछि।

आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर मिथिला विदेह, तीरभुक्ति या आधुनिक तिरहुत भौगोलिक शब्दावली में २५°२८' से २६°५२' उत्तरी अक्षांश तथा २८°५६' से ८६°४६' पूर्वी देशान्तर के बीच अवस्थित एक भूमिखण्ड है।^१ इसके उत्तर में हिमालय है और पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में क्रमशः कोसी (कौशिकी), गंगा

१. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया ऐन्थ्रॉपल रिपोर्ट सन् १९०३-१९०४ ई०, पृ० ८१ से
२. मिथिला तत्व विमर्श, पृ० ५६-६०
३. दरभंगा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० १५२; इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया भाग ८, पृ० १८७

और गण्डकी नामक नदियाँ हैं। इस भू-भाग में वर्तमान चम्पारन, मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिले समग्रतः और मुँगेर, भागलपुर और पुनिया जिले अंशतः और इन जिलों व हिमालय के मध्यस्थ निम्नशृंगीय नेपाल तराई का भाग सम्मिलित होता है।^१ विभिन्न युगों में इस भूप्रदेश के आकार प्रकार में संकोच और विस्तार होता रहा है। फिर भी इसका रूप मन में बिठाने के लिये समझा जा सकता है कि उत्तर में तत्रस्थ हिमालय के पाद-शृंगों से लेकर दक्षिणस्था गंगा नदी तक यह १०० मील चौड़ा है और पूर्वस्था महानन्दा से लेकर पश्चिम में गण्डकी नदी तक यह २५० मील लम्बा है। २५,००० वर्गमील इस देश का क्षेत्रफल है। डा० उपेन्द्र ठाकुर ने भी अपने प्रबन्ध में इस भू-भाग की सीमाओं का ऐसा ही आकलन किया है—

“द ऐन्शेन्ट विदेहन किगडम दस कंप्राइज्ड द प्रैजेण्ट डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ चम्पारन, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, मुँगेर (नार्थ), भागलपुर (नार्थ), पुनिया एण्ड द तेराई लाइंग बिट्वीन दीज डिस्ट्रिक्ट्स एण्ड लोअर रेन्जज ऑफ द हिमालय।”

यह क्षेत्र उत्तर प्रदेश की पूर्वी सीमा से स्पर्श करता है और उत्तर-पश्चिम बिहार प्रान्त का भाग है। इस क्षेत्र में अवध-तिरहुत रेलवे चलती है। यह क्षेत्र मुख्य रूप से गण्डक नदी का प्रवाह-प्रदेश है।

अत्यन्त प्राचीन इस भारतीय जनपद से निमि में ५६ पीढ़ियों के बाद महाराज कृति के समय से जनक वंश की इतिश्री हुई। जनकवंश के अवसान के बाद हम संवत् १६४६ (सन् १०८६ ई०) से नान्यदेव नामक एक क्षत्रिय को तिरहुत (मिथिला) का शासन करते देखते हैं। नान्यदेव के काल से लेकर अब तक की मैथिल राजनीतिक, और सांस्कृतिक गतिविधि का विस्तार से अध्ययन करने वाले को डाक्टर उपेन्द्र ठाकुर कृत ‘हिस्ट्री ऑफ मिथिला’, प्रो० राधाकृष्ण चौधरी कृत ‘हिस्ट्री ऑफ बिहार’, श्री श्यामनारायणसिंह कृत ‘हिस्ट्री ऑफ तिरहुत’, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार और श्री पृथ्वीसिंह मेहता कृत ‘बिहार का ऐतिहासिक दिग्दर्शन’, श्री शिवपूजन सहाय कृत ‘बिहार का बिहार’, श्री परमेश्वर झा कृत ‘मिथिला तत्व विमर्श’, श्री आर० एल० दास कृत ‘मिथिलादर्पण’ ग्रन्थों का अवलोकन अपेक्षित है।

मिथिला का इतिहास वीरत्वपूर्ण शस्त्र-चातुरी पर केन्द्रित न रह कर ऐसे दरबारों के किस्से सुनाता है जो भोग-विलास के साथ-साथ साहित्य एवं विभिन्न विद्याओं के रसास्वादन में भी लीन रहते थे। ठीक है कि शूरों के पराक्रमों की प्रदर्शनी यहाँ नहीं लगती रही तथापि यह भू-प्रदेश इस दृष्टि से तो अवश्य सम्मानित किया जाना चाहिए कि यहाँ अनेक प्रकाण्ड प्रबुद्ध एवं धुरन्धर शास्त्रकारों को एक उदार संरक्षकता, शान्त वातावरण और सुरक्षा सदा सुलभ रही है। आन्तरिक और बाह्य उत्पीड़नों-उपद्रवों से असंशुब्ध इस राज्य में (जहाँ के दरबार विद्या संस्कृति के प्रति लवलीन थे, जिन दरबारों में अनेक कवि और दार्शनिक लोग ससम्मान सनाइ-वृत्ति से जीवनयापन करते थे) पहुँचने पर सबसे पहलाप्र भाव जो हम पर पड़ता

१. श्यामनारायणसिंह कृत ‘हिस्ट्री ऑफ तिरहुत’, पृ० २-३

२. हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० ११

है वह यह है कि यहाँ के जनसाधारण में एक उच्चस्तरीय मानसिक विकास दृष्टि-गोचर होता है। अवश्य ही यह सुफल यहाँ निवास करने वाली प्रबुद्ध प्रतिभाओं के ज्ञान-कोष के सान्निध्य का परिणाम कहा जावेगा।

वस्तुतः धर्म, विद्या और संस्कृति में ही बढ़े-चढ़े होने के कारण मिथिला और मिथिलावासी उज्ज्वल यश के भागी रहे हैं। तभी तो स्मृति ग्रन्थों तक में 'धर्मस्य तत्त्वं विज्ञेयं मिथिला व्यवहारतः' (याज्ञवल्क्य-स्मृति) जैसी सूक्तियाँ-कहावतें प्रचलित हो गईं। प्राचीन समय में यह ग्राम धारणा रही है कि धर्म और तत्व-ज्ञान तो मिथिला के सम्पर्क से ही सीखा जा सकता है। मिथिला के राजे-महाराजे, यहाँ तक कि उनकी महारानियाँ भी, अपने आप में अच्छे विद्वान रहे हैं और अपने दरबार की उत्कृष्ट प्रतिभाओं को सदा अपनी ओर आकृष्ट करते रहे हैं। दरभंगा राज के वर्तमान उत्तराधिकारियों ने भी पैतृक ऋण से उन्मत्त होने के हेतु विद्याध्ययन को ही प्रश्रय दिया है। मिथिला के इन दार्शनिक राजाओं के समक्ष राजा विश्व-इतिहास में भी ढूँढ़े नहीं मिल सकते। प्रसिद्ध वैदिकयुगीन जीवन-मुक्त विदेहराज महाराजा जनक को और बाद में होने वाले नव्य-न्याय के धुरन्धर विद्वान् महाराज महेश ठाकुर को कौन नहीं जानता? विद्वान् होने के नाते भी तो वे मिथिला के लोग 'अहो तीरभुक्तियाः स्वभावाद् गुणगविणः भवन्ति' (पुरुष परीक्षा, गीतविद्यकथा) जैसी गर्वोक्तियाँ कर सके होंगे। स्वभाव से ही तीरभुक्ति के लोग अपने गुणों के प्रति गर्व का भाव रखते हैं।

उपलब्ध प्राचीनतम अभिलिखित प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि मिथिला बहुत काल तक वेद और ओपनिषदिक विद्या का केन्द्र रहा। यहाँ केवल दरबारों में ही ज्ञान-ज्योति नहीं जगमगा रही थी, परन्तु समाज का निम्न वर्ग (जैसे धर्मव्याध कथा—महाभारत वनपर्व, पृ० ३४४) भी उससे पर्याप्त प्रकाशित था।

हमारे सत्यधर्म का आख्यान करनेवाले भारतीय षड्-दर्शनों की नींव भी मिथिला में ही पड़ी, लगभग १००० ई०पू० से लेकर ६०० ई०पू० तक। गौतम, जैमिनी और कपिल ने क्रमशः न्याय वैशेषिक, मीमांसा और सांख्य का सर्वप्रथम यहीं व्याख्यान किया। ६ठी शती ई०पू० से ३य शती ई०पू० तक उसकी सीमा में ही वैशाली नगरी बौद्ध विचारधारा का गढ़ बन कर खड़ी हो गई, परन्तु कुमारिल और उदयन के नेतृत्व में मिथिला ब्राह्मण-विचारधारा (वैदिक विचारधारा) की श्रेष्ठता को फिर से स्थापित करने में सफल हो गई।

बाद को जब तुर्कों ने इस प्रदेश पर आक्रमण किया तो यहाँ के प्रत्येक विद्वान ने समाज के सदाचार सम्बन्धी नियमों के निर्देशन पर बल दिया। यही कारण है कि मध्य-युग में नव्यन्याय, पूर्व मीमांसा और स्मृति निबन्धों का मिथिला इतना बड़ा केन्द्र रही। इसमें सन्देह नहीं कि अत्यन्त सशंक वातावरण में मिथिला ने अपने महत्त्वपूर्ण परम्परित शिक्षा-भाण्डार की सुरक्षा की। परम्परित ज्ञान के प्रति मिथिला के लोगों में बड़ी मात्रा में आदर और श्रद्धा का भाव दृष्टिगोचर होता है। उनके

स्थानों के नाम इस बात को याद दिलाने वाले हैं कि कभी यहाँ संस्कृत का पर्याप्त उन्नत अध्ययन होता रहा है। उनके आमोद और जीवन की क्रीड़ाओं में भी वेदान्त की पुट स्पष्ट रहती है। परम्परित विद्या या ज्ञान के प्रति इनकी असामान्यभक्ति समग्र रूप से बड़ी सफल रही है। इस असीम श्रद्धा के कारण ही यहाँ विद्या-अध्ययन और भारतीय संस्कृति की मशाल बीते हुए युगों में सुरक्षित रूप से जली रह सकी है। तथापि कहना न होगा कि यह श्रद्धा ही मिथिला में वर्तमान परिवर्तन विरोधी सनातनी विचारधारा के प्रति भी उत्तरदायित्व रखती है। मैथिल लोग अपने दैनिक जीवन में ब्राह्मण-ग्रन्थों से या अन्य परम्परित विद्या कोषों के विधि विधानों से प्रेरणा पाते रहे हैं। जो चीज उनके विपरीत स्वभाव की होती उसे वे बड़े अविश्वास और संदेह की दृष्टि से देखते।^१

जहाँ तक मैथिली साहित्य का सम्बन्ध है यह निर्विरोध कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के किसी भी साहित्य के लेखकों ने संस्कृत साहित्य का पदानुसरण इतना अधिक नजदीक से नहीं किया है जितना मैथिली लेखकों ने। न केवल कथावस्तु व विषय ही संस्कृत से लिये गये अपितु कल्पना, छन्द-रचना और विचारों का भी सम्बन्ध अभी तक आधारतः संस्कृत और प्राकृत से ही चला आता है। विषय का निर्वाह सर्वथा संस्कृत के सौन्दर्य-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र के पद-चिन्हों पर हुआ है। परन्तु साहित्य के अनेक रूप संस्कृत की भाँति ही स्थिर हैं। यथा महावैयाकरण दीनबन्धु भा कृत व्याकरण ग्रन्थ विस्तृत धातु-पाठ के साथ सूत्र शैली में पाणिनि के तरीके से ही लिखा गया है। संस्कृत-नाटककारों के बाद मैथिली में नियमित रूप से चले आते हुए रूपक में तीन भाषाएँ मिलती हैं—संस्कृत, प्राकृत और मैथिली। महाकाव्य, खण्डकाव्य और चम्पू जैसी विधाएँ मैथिली में आज भी सामान्य हैं, जिनके लिये उसके लेखक गर्व का अनुभव करते हैं। लोक कथाएँ विशेषकर वृत्तकथाएँ पुराणों और महाकाव्यों से प्रेरणा लेती रहती हैं।

भारतीय इतिहास और परम्पराएँ इस बात के पोषक हैं कि मिथिला में बड़े-बड़े योगी, साधु, महात्मा हुए हैं, परन्तु सबके सब गृहस्थ ही थे। जनक, याज्ञवल्क्य ने यही शिक्षा यहाँ के वासियों को दी है कि गृहस्थ धर्म का पालन करने से ही सब सुख प्राप्त होते हैं। गृहस्थ धर्म ही मिथिला का धर्म है। इसलिये भी यहाँ और किसी धर्म का प्रवेश नहीं हुआ।

इतिहासज्ञों को आश्चर्य होगा कि मिथिला के राजा सब समय में एक ही सिद्धान्त और विचार के रहे हैं। जैसे राजा जनक अपने समय में विद्या, ज्ञान तथा धर्म के रक्षक थे, उसी प्रकार इस नवीन युग में, बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक, तीन मुख्य राजवंशों का आधिपत्य मिथिला में रहा अर्थात् बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक नान्यदेव वंशीय छः कर्नाट राजाओं के समय में, सोलहवीं शताब्दी तक कामेश्वर वंशीय अनेक राजा-रानियों के समय में, जिनमें राजा शिवसिंह और राजा राधवसिंह विशेष प्रख्यात हुए हैं, तदनन्तर राजा महेश ठाकुर के अठारह

राजपुरुषों के राजवंश के समय में, जो अद्यावधि वर्तमान हैं—आठ सौ वर्षों में भी सब राजे स्वयं विद्वान् तथा विद्या-पोषक हुए हैं। इन लोगों के राज्य काल में बड़े-बड़े पोखरे खुदवाए गये, अनेक मन्दिर बने, बहुविध धार्मिक तथा शास्त्रीय पुस्तकों की रचना हुई, ज्योतिरीश्वर तथा विद्यापति-सदृश जनभाषा-लेखक कवि को प्रचुर उत्साह दिया गया। तिरहुती अक्षरों में ही राज्य कार्य भी संचालित होता था। लोग कर्मठ बने रहें, वंश-परम्परा व्यवस्थित रहे, इस दृष्टि से यहाँ के राजा हरिसिंह देव ने पंजी-प्रथा चलाई। जिस मुसलमानी राज-काल में धर्मकृत्य ठिकाने से नहीं हो पाता था, उस समय में भी इन राजाओं के प्रताप से मिथिला में बिना कष्ट के विद्वान् लोग धार्मिक पुस्तकें लिखते रहे और तदनुसार कृत्यों का सम्पादन करते रहे। कवि विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता नामक पुस्तक में जौनपुर (यवनपुर) के वंश में लिखा है कि वहाँ अत्याचारी मुसलमान ब्राह्मणों के भाल पर लगे चन्दन को जीभ से चाट लेते थे, उनके यज्ञोपवीत को तोड़ देते थे, उनके ऊपर थूकते थे। उसी समय स्वयं विद्यापति अपने देश मिथिला में नाना प्रकार के यज्ञ करते थे और अन्न-सत्र चलाते थे। मिथिला के इन राजाओं के पहिले भी बंगाल के राजा बल्लालसेन और उनके पुत्र लक्ष्मणसेन का भी राज्य मिथिला पर था। उन दोनों राजाओं के समय में भी मिथिला की वही स्थिति थी अर्थात् मिथिला के विद्वान् स्वतन्त्रतापूर्वक विद्याध्ययन में रत थे तथा यज्ञादि कृत्य का संपादन करते थे। यह बात उनके समय के विद्वानों के द्वारा लिखी हुई पुस्तकों से प्रमाणित होती है। इसलिये मिथिला के इतिहास का अर्थ है, उन विद्वानों का इतिहास, जिनकी कृतियों से भारतवर्ष उन्नत है।

मिथिला का इतिहास उन ऋषि-मुनियों का इतिहास है, जिन्होंने इस पावन देश में निवास कर शास्त्र-प्रवर्तन किया। इसी देश में अपने चरित्र से भारतवर्ष के मुख को उज्ज्वल करने वाली पतिव्रताओं में अग्रगणी सीतादेवी ने जन्म ग्रहण किया। ऐसे साधु, संत, महात्मा, विद्वान्, ऋषि-मुनि और पतिव्रता का चरित्र-वर्णन मिथिला देश का इतिहास है। इस इतिहास के जानने के साधन मुद्रित तथा अनेक अमुद्रित पुस्तकों का परिशीलन, प्राचीन शिलालेख तथा अद्यावधि प्राप्त भग्नावशेष आदि हैं।

मिथिला-काव्यानुराग—इन पक्तियों के लेखक के साथ हुए पत्र-व्यवहार में गंगेशदत्त कालेज बेगूसराय, जिला मुंगेर के इतिहास विभाग के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता प्रोफेसर श्री राधाकृष्ण चौधरी महोदय ने विद्यापति की जन्मभूमि के सम्बन्ध में यों लिखा कि मिथिला स्मृति-अतीत-युग से ही बड़े अध्येताओं की भूमि रही और विद्यापति इस मिथिला के निवासी थे—“मिथिला हैड बीन द लैण्ड ऑफ़ ग्रेट स्कॉलर्स सिन्स टाइम इम्मैमोरियल—विद्यापति वाज ए नेटिव ऑफ़ मिथिला”। वहीं उन्होंने विद्यापति से पूर्वकालीन संस्कृत-विद्वानों की संक्षिप्त सूची देते हुए लिखा कि “प्री-विद्यापति संस्कृत स्कॉलर्स वेयर भानुदत्त और भानुमिश्र, चण्डेश्वर ठाकुर, उमापति, गोवर्धनाचार्य, ग्रहेश्वर मिश्र, हरिनाथ उपाध्याय, ज्योतिरीश्वर ठाकुर, रामदत्त ठाकुर, गंगेश, वर्धमान और सिंहभूपाल”। मिथिला के संस्कृत नाटककारों

के परिचय प्रो० राधाकृष्ण कृत 'संस्कृत ड्रामा इन मिथिला' इस लेख में मिल सकते हैं (जर्नल ऑफ़ द बिहार रिसर्च सोसाइटी, ग्रन्थ ४३, भाग १-२)।

अतिप्राचीन काल से सम्पन्न यहाँ की साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधि का समग्रतः परिचय दे सकना यहाँ सम्भव नहीं तथापि विद्यापति से पूर्व हुई मिथिला की साहित्यिक गतिविधि (जो कि पूर्णतः संस्कृतमय थी) का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं।

उत्तर वैदिक काल में आर्यावर्त में सांस्कृतिक विकास के जिस आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, उसका नेतृत्व विदेहों की राजधानी मिथिला के हाथ में रहा। मिथिला की जनप्रियता इतनी बड़ी कि सारे जनपद को उसी नाम से पुकारा जाने लगा। ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं के ऋषि गौतम रूहण जनक 'मिथि' के पुरोहित थे। उनके नेतृत्व में हुए यज्ञों के कारण ही सदानोरा (गडकी) से पूर्व का क्षेत्र आर्यों के निवास के योग्य बनाया जा सका था। इसी गौतम रूहण के वंशधर गौतम अश्वपाद को न्यायदर्शन का प्रणेता माना गया है। गौतम ऋषि के पुत्र गौतम शतानन्द भी बहुत बड़े नैयायिक हुए। सीताराम—विवाहोत्सव में उन्होंने ही पुरोहित का कार्य किया था। शुक्ल यजुर्वेद संहिता के सकलनकर्ता और शतपथ-ब्राह्मण के रचयिता तथा सुप्रसिद्ध स्मृतिकार याज्ञवल्क्य का निवास 'मिथिला-नगरी' के निकटवर्ती जगवन में था। सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि का आश्रम विदेह-राज्य में उस स्थान पर था, जहाँ आज ककरोड़ (मधुवनी के निकट) गाँव बसा है। वैशेषिक-दर्शन के प्रणेता कणाद भी मिथिला के ही निवासी थे। सुप्रसिद्ध काम-सूत्र और वात्स्यायन-भाष्य के रचयिता वात्स्यायन का जन्म स्थान मिथिला ही था। ब्रह्मवादी जनकों की राजधानी मिथिला तत्त्ववेत्ताओं का निवासस्थान होने के कारण प्राचीनकाल में पूर्ण प्रसिद्ध रही। यहाँ की राजसभा में ही उद्दालक आरुणि, विदुषी गार्गी और महान् तत्त्ववेत्ता विदग्ध शाक्य को पराजित कर स्वर्ण-जटित सींग वाली सहज्र गोएँ प्राप्त कर याज्ञवल्क्य ने अघ्यात्मवाद के इतिहास में अपना नाम अमर किया था। व्यास-पुत्र शुक्रदेव की ज्ञान-पिपासा भी विदेहजनक की सभा में ही शान्त हुई थी। सुप्रसिद्ध तपस्वी कौशिक मुनि की ज्ञान-पिपासा की शांति तब तक नहीं हुई जब तक मिथिला के सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता धर्म-व्याध से उन्हें उपदेश प्राप्त नहीं हो सके। ऋषियों के अतिरिक्त मैत्रेयी, गार्गी आदि तत्त्व-चिन्तन में निरत महिलाओं ने भी प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में मिथिला को महत्वपूर्ण स्थान दिया। मिथिला का इतिहास बीरोवित कहानियों का संग्रह नहीं, वह आत्मचिन्तन में निरत ब्राह्मणों और राजाओं का संस्मरण-मात्र है। न्यायदर्शन के जन्मस्थान होने के कारण मिथिला सदा से नैयायिकों की क्रीड़ा-स्थली रही है। यहाँ के ब्राह्मणों ने आलौकिक ब्रह्मज्ञान के कारण बौद्धधर्म का प्रभाव कभी भी इस भूखण्ड पर नहीं स्थापित होने दिया। हाँ बौद्ध नैयायिकों में अग्रगण्य अश्वपाद, वात्स्यायन और उद्योतकर की जन्मभूमि भी मिथिला ही थी। बौद्ध नास्तिकों को शास्त्रार्थ में पराजित कर वेदों की महत्ता स्थापित करने वालों में श्लोकवातिक के रचयिता भीमासक-शिरोमणि कुमारिल भट्ट का नाम सबसे पहले आता है। वे यहीं के निवासी थे। जगद्विजयी शंकराचार्य से

सफल शास्त्रार्थ करने वाले दार्शनिक मण्डन मिश्र अपने काल के सर्वश्रेष्ठ भारतीय विद्वान थे। उनके रचित 'विधिविवेक' और 'भावनाविवेक' मीमांसा-विषयक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माने जाते हैं। इन दोनों ग्रन्थ रत्नों के सिवाय 'मण्डन-त्रिशतक', 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' और 'वेदान्तवार्तिक' की गणना भी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों में होती है। शंकर-मण्डन-शास्त्रार्थ की मध्यस्थता करनेवाली विदुषी उभय-भारती मण्डनमिश्र की ही सहर्षमिस्री थीं। शास्त्रार्थ में उन्होंने शंकराचार्य को भी परास्त किया था। षट्दर्शनाचार्य महामहोपाध्याय वाचस्पति मिश्र ने विभिन्न दर्शन ग्रन्थों पर भाष्य की रचना कर अमरत्व प्राप्त किया। उनके रचित ग्रन्थों में 'सांख्यतत्त्व कौमुदी', 'तत्त्व विन्दुवैशारदी', 'तत्त्व समीक्षा', 'न्यायकणिका', 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका', 'वाचस्पत्य-भाष्य-भामती', 'द्वैतनिर्णय' आदि पूर्ण प्रसिद्ध हैं। उनका निवास दरभंगा जिले के अंधराठढ़ी ग्राम में था। वाचस्पति मिश्र नामक एक और विद्वान हुए हैं जिनका दरभंगा जिला में सरिसव गाँव था। वे भी नैयायिक और धर्मशास्त्री थे। उनके रचित ग्रन्थों में 'द्वैतचिन्तामणि', 'आह्निक चिन्तामणि', 'नीतिचिन्तामणि', 'श्रद्धाचिन्ता', 'व्यवहारविन्तामणि', 'शुद्धचिन्तामणि', 'शूद्राकारचिन्तामणि', 'विवादनिर्णय', 'शुद्धि-निर्णय', 'तिथिनिर्णय', 'महादाननिर्णय', 'दत्तविधि', 'प्रायश्चित्तविन्तामणि', 'कृत्यमहर्णव', 'भित्तु-भक्ति-तरंगिणी', 'गयाश्राद्धपद्धति', 'गयाप्रयोग', 'गयायात्रा', 'चन्दन-चेतु-प्रमाण', 'अनुमानखण्ड-टीका', 'शब्दनिर्णय', 'खण्डनोद्धार', तथा 'न्याय सूत्रोद्धार' आदि ग्रन्थ भी मिथिला के कोने-कोने में प्रचलित हैं। बौद्ध मत के खंडन करने वालों में महामहोपाध्याय गंगेशोपाध्याय भी अग्रगण्य रहे हैं। ये मधुवनी (दरभंगा) के निकट मंगरीनी गाँव के निवासी थे। करियन (दरभंगा) के निकट गंगारही गाँव में इनके द्वारा स्थापित विद्यालय का भग्नावशेष आज भी विद्यमान है। इनके रचित 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ की गणना प्रमाण-कोटि में होती है। बंगाल आदि सुदूर प्रान्तों के छात्र भी इनसे न्यायशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त आया करते थे। 'आर्यामत्तशती' के रचयिता कविवर गोबर्द्धनाचार्य का निवास रोसड़ा (दरभंगा) थाने के करियन गाँव में था। बौद्धधर्म का मूलोच्छेद करनेवाले सुप्रसिद्ध दार्शनिक-उदयनाचार्य भी इसी गाँव के निवासी और उपर्युक्त कविवर के प्रधान शिष्य थे। उनके रचित ग्रन्थों में 'कुसुमांजलि', 'किरणावली', 'आत्म-तत्त्व विवेक', 'लक्षणावली', और 'तात्पर्य परिशुद्धि' पूर्ण प्रसिद्ध हैं। उनकी निम्नलिखित गर्वोक्ति का स्मरण कर किसी भी भारतीय का मस्तक गर्वोन्त हो उठता है—

वयमिह पद विद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पंथाः ।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान सैव पूर्वा,
नहि तरणिरुदिते दिक्पराधीनवृत्तिः ॥

'संवत-सन्' के प्रवर्तक शंकारि विक्रमादित्य के नव रत्नों में एक, और 'लिंग वृत्ति' नामक सुप्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ के रचयिता वररुचि मंथिल ब्राह्मणों के सोदरपुर वंश के आदि पुरुष सुरेस्वर मिश्र के पूर्वज थे। इनके वंश में न्यासदत्त पातंजल-वेत्ता,

जयादित्य भीमांसक, श्रीपति सांख्यशास्त्री, गणेश्वर काव्य कोविद, रसमंजरी आदि रीति ग्रन्थों के रचयिता भानुमिश्र प्रसिद्ध कवि, हलायुध विख्यात विद्वान्, श्रीदत्त धर्मशास्त्री, भवदत्त वेदान्ती, काव्यालंकारकार दामोदर और व्याकरण दर्शनकार पद्मनाभ अपने समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हुए हैं। वेदशास्त्रार्थनत्ववित्, हलायुध का नाम कोषकार के रूप में प्रसिद्ध है। इनकी वेदाशास्त्रज्ञता का परिचय इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ब्राह्मण सर्वस्व से प्राप्त होता है। आठवीं-नवीं शताब्दी के भीतर मिथिला में संस्कृत कवियों में महामहोपाध्याय मुरारी मिश्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनके रचित अनर्घराघव नाटक ग्रन्थ का संस्कृत साहित्य में सम्मानपूर्ण स्थान रहा है। महामहोपाध्याय पार्थसारथि मिश्र पूर्व भीमांसा के आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने 'शास्त्र दीपिका', 'न्यायरत्नकणिका', 'न्यायरत्नमाला', 'तन्त्ररस', 'श्लोकवार्तिक' और 'न्यायरत्नाकर' आदि सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। इनके समकालीन शालिकनाथ मिश्र ने 'प्रकरणमंजिका', 'न्यायरत्न', और 'शबर-भाष्य टीका' की रचना की।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लगातार १३२४ ई० पर्यन्त सुप्रसिद्ध नान्यवंश के राजाओं ने मिथिला पर शासन किया। इनके शासन-काल में हुए विद्वानों में 'व्याख्यानामृत' नाम से अमरकोष की टीका करने वाले महामहोपाध्याय श्रीकर आचार्य, 'सरस्वती कण्ठाभरण' (रत्नदर्पण) नामक काव्य ग्रन्थ पर भाष्य की रचना करने वाले रत्नेश्वर मिश्र और 'मृच्छकटिक नाटक' के सुप्रसिद्ध भाष्यकार पृथ्वीधर आचार्य को हम नहीं भूल सकते। सप्तरत्नाकर—'कृत्य-रत्नाकर', 'दान-रत्नाकर', 'व्यवहार रत्नाकर', 'शुद्धि रत्नाकर', 'पूजारत्नाकर', 'विवादरत्नाकर', और 'गृहस्थ रत्नाकर' आदि ग्रन्थों के रचयिता और कवि कोकिल विद्यापति के पूर्वज चण्डेश्वर नान्यवंशी राजा शक्तिसिंह देव के प्रधान मंत्री थे। श्रीदत्त उपाध्याय, हरिनाथ उपाध्याय, भवशर्मा, इन्द्रपति और लक्ष्मीपति जैसे विद्वान् भी इनके समकालीन ही थे। नान्यवंश के शासनकाल में ही ज्योतिरीश्वर ने पंचसायक, रंगशेखर, और मैथिली भाषा के आदि महान् ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकर' की रचना की। उपर्युक्त महामहत्तक चण्डेश्वर के अनुज रामदत्त ठाकुर ने, विवाह पद्धति की रचना की और सुप्रसिद्ध कर्मकाण्डी घनपति उपाध्याय ने 'श्राद्धदर्पण' नामक ग्रन्थ का संकलन किया जो आज भी प्रामाणिक माना जाता है। ब्राह्मणों और पण्डितों के आश्रयदाता होने के कारण इस वंश के अन्तिम राजा हरिसिंह देव आज तक मिथिला में प्रसिद्ध हैं। मैथिल ब्राह्मणों और मैथिल कर्ण कायस्थों का पंजी-प्रबन्ध इन्हीं के आदेशानुसार पण्डित रघुदेव झा द्वारा संगृहीत हुआ था। पंजीप्रबन्ध विशाल ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न वंशों की वंशावलियाँ और वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख है। नान्यवंश का शासन नेपाल में भी था। राजा हरिसिंह देव के विरक्त हो कर हिमालय की शरण लेने के उपरान्त दिल्लीश्वर गयासुद्दीन तुगलक ने सन् १३२४ ई० में मिथिला विजय की और राजमंत्री कामेश्वर ठाकुर को यहाँ का शासक नियुक्त किया। कामेश्वर ठाकुर ओइनवार-वंश के मैथिल ब्राह्मण थे। इनके वंशधरों ने संस्कृत साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। मैथिल ब्राह्मणों के सुप्रसिद्ध अलई वंश की उसरोली तथा बैगनी शाखाओं के आदि पुरुष महामहोपाध्याय गदाधर झा

की विद्वत्ता पर मुग़ब होकर सम्राट गयासुद्दीन तुग़लक ने उसरीली (पटना) और फर्रुखाबाद (दरभंगा) की जागीर दी। मैथिल कोकिल, महामहोपाध्याय कवि विद्यापति ठाकुर ओइनवार वंशी राजा शिवसिंह के मंत्री तथा प्रधान राजपण्डित थे। राजा ने उन्हें बिस्फी गाँव पुरस्कार-स्वरूप प्रदान किया था। इनकी कोमल-कान्त पदावली का प्रचार मिथिला के घर-घर में है। अवहट्ठ-भाषा में इनकी रचित कीर्तिलता भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी है। वर्षकृत्य, भूपरिक्रमा, पुष्प परीक्षा दुर्गाभक्ति-तरंगिणी, दानवाक्यावली, गंगावाक्यावली, विभागसार, लिखनावली, आदि संस्कृत ग्रन्थों के भी रचयिता ये ही हैं।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक और कवि पक्षधर मिश्र कवि कोकिल विद्यापति के सह-पाठी थे। पक्षधर मिश्र का असल नाम जयदेव था। प्रसन्नराघव नाटक ग्रन्थ की रचना उन्होंने इसी नाम से की है। गंगेशोपाध्याय-रचित तत्त्वचिन्तामणि पर इनका रचित आलोक नामक भाष्य ग्रन्थ नव्यन्याय-पद्धति का मूलग्रन्थ माना जाता है। नवद्वीप बंगाल के सुप्रसिद्ध नैयायिक वासुदेव सार्वभौम उनके सहपाठी और रघुनाथ शिरोमणि उनके प्रधान शिष्य थे। इन्हीं रघुनाथ शिरोमणि द्वारा नव्यन्याय बंगाल पहुँचा और वहाँ से सारे भारत में उसका प्रचार हुआ। महामहोपाध्याय पक्षधर के चाचा और गुरु हरिमिश्र उस युग के सर्वश्रेष्ठ न्यायाचार्य माने जाते हैं। दुर्भाग्य का विषय है कि इनके रचित कोई भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। लगभग इसी समय मिथिला में वररुचि के सुप्रसिद्ध सोदरपुरिये वंश में दरभंगा जिले के सरिसव गाँव में महामहोपाध्याय शंकर मिश्र का जन्म हुआ। इनके पिता महामहोपाध्याय भवनाथ मिश्र बड़े सन्तोषी विद्वान् थे। उन्होंने आजीवन किसी से याचना नहीं की। अतः आज भी हम उन्हें अयाची मिश्र के नाम से ही जानते हैं। शंकर मिश्र रचित ग्रन्थों में वैशेषिक सूत्रोपस्कार, अनुदानचिन्तामणि-पीयूष, गौरी-दिगम्बर-प्रहसन, भेदरत्न, कंटकोद्धार, रसार्णव, वादविनोद, तथा छन्दोगान्हिक प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है—

शंकर-वाचस्पत्योः शंकर वाचस्पती सहसौ।

पक्षधर-प्रतिपक्षी लक्ष्मीभूतो न च क्वापि॥

मिथिलेश शिवसिंह के कलाप्रेम की कहानियाँ आज भी मिथिला के घर-घर में प्रचलित हैं—“पोखरिरजोखरि और सब पोखरा। राजा शिवसिंह, और सब छोकरा”। कवियों के आश्रयदाता होने के साथ ही वे स्वयं भी कलाकार थे। सिंह-भूपति और सिंह भूपाल के ग्रन्थ से उनके रचित ग्रन्थों में संगीत-रत्नाकर, व्याख्या संगीत, और रसाणंदमुद्राकर आज भी उपलब्ध हैं। इनके वंशधर महाराज भैरवसिंह के किसी यज्ञ के उपलक्ष में आमंत्रित एक सहस्र मैथिल नैयायिकों के जुटाव का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है। श्री चित्रधरोपाध्याय ने (जो इन्हीं महाराज भैरवसिंह के द्वार-पण्डित थे) मुरारि मिश्र-रचित अनघराघव की टीका की। सप्त-पादार्थिक के रचयिता श्री दत्तोपाध्याय चौदहवीं शताब्दी में और आचार्यदर्श तथा धर्मपितृभक्ति के रचयिता श्रीदत्त मिश्र पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए। दरभंगा जिला के देवकुली गाँव में बड़मानेश्वर शिव की स्थापना करने वाले बड़मानोपाध्याय-रचित स्मृति-परिभाषा किरणावली-प्रकाश तथा गयापद्धति धर्मशास्त्र के निबन्ध-ग्रन्थों

में सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। कवि-कोकिल विद्यापति के पूर्वज महामहत्तक गणेश्वर ने चौदहवीं शताब्दी में दानरत्नाकर, विवाहरत्नाकर, श्राद्धरत्नाकर, व्यवहार रत्नाकर आदि ग्रन्थों की रचना की। दरभंगा जिला के भट्टसीमरि ग्राम-निवासी महामहोपाध्याय गोविन्द ठाकुर ने काव्य-प्रकाशकार मम्मट भट्ट की माता के आग्रह से काव्य-प्रकाश पर सुप्रसिद्ध भाष्य-ग्रन्थ 'प्रदीप' की रचना की। कवि विद्यापति को लुब्धनगर याचक की उपाधि से संबोधित करने वाले ओइनवारवंश के दोहित्र महा-महोपाध्याय केशवमिश्र-रचित द्वैतपरिशिष्ट, संख्यापरिमाण और तारभाष्य आदि ग्रन्थ धर्मशास्त्र में प्रमाणकोटि में लिये जाते हैं। महामहोपाध्याय कल्याणधररचित सुश्लिष्ट-परिशिष्ट, द्वैत-परिशिष्ट का ही भाष्य है। कल्याणधर के शिष्य अपर मुरारि मिश्र-रचित शुभकर्म-निर्णय आज भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। शूलपाणि-उपाध्याय-रचित आचार विवेक, प्रायश्चित्त-विवेक, और प्रायश्चित्त शूलपाणि आदि ग्रन्थ बड़े महत्व के हैं। देवनाथ ठाकुर रचित आलोकपरिशिष्ट और तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ भी कम महत्व के नहीं हैं। इसी काल में हुए महामहोपाध्याय रुचिपति उपाध्याय (मंगरौनी, दरभंगा निवासी) ने अनर्घराघव की टीका की। पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए महामहोपाध्याय इन्द्रमणि ठाकुर को आज भी हम धर्मशास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भीमा-सारस-पल्लव के रचयिता के रूप में याद करते हैं। श्री लक्ष्मीपति उपाध्याय रचित श्राद्धरत्न ग्रन्थ का मिथिला में आज भी सम्मान है। ज्योतिषाचार्य मधुसूदन (प्राचीन) रचित 'ज्योतिष-प्रदीपांकुर' ज्योतिष विषयक श्रेष्ठ ग्रन्थों में है। मधुसूदन ठाकुर-रचित कंटकोद्धार, 'समय प्रदीप-जीर्णोद्धार', 'तत्त्वचिन्तामण्यालोक' और 'दैतनिर्णयजीर्णोद्धार' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

ओइनवार-वंश के अन्तिम प्रसिद्ध राजा लक्ष्मीनारायण उपनाम रिपुकंस नारायण भी संस्कृत के पण्डितों और कवियों के आश्रयदाता होने कारण प्रसिद्ध रहे हैं। मैथिली के सुप्रसिद्ध कवि गोविन्ददास झा इन्हीं की सभा के रत्न थे। विदुषी रानी लखिमा ठाकुराइन की विद्वत्ता और धर्मशास्त्र विषयक निर्णयों की चर्चा आज भी सुनी जाती है। उपर्युक्त महाराज भैरवसिंह के भाई राजा चन्द्रसिंह की पटरानी रचित पदार्थचन्द्र और विचारचन्द्र दो न्याय-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

सुप्रसिद्ध छन्दोग्रंथ वाणी-भूषण के रचयिता महामहोपाध्याय दामोदर मिश्र राजा कीर्तिसिंह के और काव्य-प्रकाश पर सुप्रसिद्ध भाष्य काव्यदर्पण के रचयिता रत्नपाणि ठाकुर राजा शिवसिंह के आश्रित थे। उनके पुत्र रविठाकुर ने भी उपर्युक्त ग्रन्थ पर मधुमती नामक भाष्य की रचना की।

मिथिला-संगीत-अनुराग—व्याकरण, दर्शन, आचार-संहिता और काव्यग्रंथों की संस्कृत रचना के साथ मिथिला में कहीं अधिक सरस संगीत और नृत्यकला का भी सुष्ठु विकास हुआ। सचमुच संगीत और नृत्य कला से प्रेम तो मिथिला के जीवन के प्रमुख लक्षणों में रहे हैं। दुर्भाग्य से मैथिल संगीतकला सम्बन्धी इतिहास ग्रन्थ अभी तक कोई नहीं निकला। संगीत को पुरातन काल से बहुत महत्त्व दिया जाता रहा है परन्तु बहुत देर तक एतद्विषयक कोई रचना मिथिला में नहीं मिलती।

स्थानीय राग और रागिनियों का सर्वप्रथम संकेत चर्यापदों में मिलता है। तथापि महाराज नान्यदेव (१०६७-११३३ ई०) की संरक्षकता में प्रसिद्ध राग सही तरीके से विकसित हुए। 'सगरस्वतीहृदयालंकारहार' उनकी रचना मिथिला पर सिंहासनासीन होने के बाद की है। उसके बाद गीतगोविन्दकार जयदेव (११२० ई०) ने मिथिला के संगीत कला के स्कूल की उत्पत्ति को सर्वाधिक प्रभावित किया। जयदेव का संगीत बुरा हो (जैसा कि १४वीं शती के कुम्भ ने उस पर अभियोग लगाया है—कृष्णमाचारीकृत हिस्ट्री ऑफ क्ला० सं० लिट० पृष्ठ ८४६) या भला, इतना निश्चित है कि उसकी सुरीली तानों ने मिथिला-वासियों में और अन्यत्र भी संगीतात्मक कविता की एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया। उसकी लयों के असंख्य व्याख्याता और अनुकर्ता हुए। उनमें सबसे पुराने और बड़े अनुकर्ता थे विद्यापति।

महाराज हरिसिंह देव (१२६६-१३२३-२४ ई०) के जमाने में संगीत विषयक गतिविधि खूब दृष्टिगोचर होती है। वह स्वयं संगीतविद्या के एक बड़े विशारद थे—(पुरुष परीक्षा तृतीय अध्याय गीत विद्य कथा, में एक मैथिल संगीतज्ञ कहता है कि केवल हर या हरसिंह देव ही उस का (संगीत का) मूल्यांकन कर सकता है। हरो वा हरि हरसिंहो वा गीति विद्या विशारदो। हरि हर मिहे गते स्वर्गो गीतिवित् वेवलं हरः)। ज्योतिरीश्वर जैसे प्रसिद्ध संगीत-विशारद इन्हीं के दरबार में थे। ज्योतिरीश्वर ने मिथिला की चौदहवीं शती की सांगीतिक गतिविधियों का (अथ भाटवर्णना, अथ विद्यावन्त वर्णना, अथ नृत्य वर्णना, अथ पात्र नृत्य वर्णना, अथ प्रेरणा नृत्य वर्णना, अथ वीना वर्णना) इन शीर्षकों के अन्तर्गत (वर्ण रत्नाकर पृ० ४४-५२) बड़ा सजीव वर्णन किया है।

१३२५ ई० में हरिसिंह देव के नेपाल में पलायन कर जाने के बाद संगीत की गतिविधियाँ भी स्थानान्तरित हो गयीं। अगली शताब्दियों में मैथिल लोगों ने नेपाल में ही संगीत में उन्नति की। वहाँ संगीत उन्नायकों में सर्वप्रथम नाम सिंह भूपाल का है।^१ यह वह भूगलसिंह समझा जा सकता है जो नेपाल के एक शिलालेख में मैथिल शासक के रूप में शक्तिसिंह और हरिसिंह के बाद वर्णित है।^२

मिथिला की स्त्रियाँ संगीत की बहुत शौकीन रही हैं। मध्य-युग में हमें महादेवी लखिमा और चन्द्रकला (विद्यापति की पुत्रवधू) के वर्णन मिलते हैं। आज भी खड़कावसत, शशिपुर, पिलखवाड़, सौराठ, मुगौना, तरौनी, पोखरौनी, ककरोडा और चकोती जैसे स्थानों पर स्त्रियों का गायन मिथिला के लिये गौरव की वस्तु है।

सन् १६२७ ई० में बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी पटना की ओर से यह निश्चय किया गया कि मिथिला में प्राप्त ५००-३५० बी०सी० (ईसा पूर्व) से लेकर २०वीं शती आरम्भ तक के पाण्डुलेखों का विभिन्न जिल्लों में निम्न शीर्षकों से पर्यवेक्षण एवं प्रकाशन प्रस्तुत किया जाय—

१. श्यामनार यणसिंह कृत हिस्ट्री ऑफ़ तिरहुत, पृष्ठ १६७

२. डा० काशीप्रसाद जायसवाल सम्पादित राजनीति रत्नाकर, पृ० २४

जिल्द एक	स्मृति	पाण्डुलेख
जिल्द दो	वेद	"
जिल्द तीन	व्याकरण	"
जिल्द चार	काव्य	"
जिल्द पाँच	दर्शन	"
जिल्द छः	तन्त्र	"
जिल्द सात	ज्योतिष	"
जिल्द आठ	पुराण	"
जिल्द नौ	इतिहास व भूगोल	"
जिल्द दस	बौद्ध और जैन	"
जिल्द ग्यारह	विविध	"

कार्य आरम्भ हो गया और 'ए डेस्क्रीप्टिव कैटेलोग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन मिथिला' की प्रथम जिल्द का १९२७ ई० में प्रकाशन भी हो गया। इस जिल्द की भूमिका में स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा कि १५वीं शताब्दी में श्रोत्रिय ब्राह्मणों के प्रभुत्व में मिथिला पूर्वी भारत में संस्कृत-विद्या-केन्द्र बन गया। यद्यपि इस राज्य की राजधानी सिमराओं तुगलक शासकों द्वारा नष्ट कर दी गई थी तथापि कर्णाट वंशीय नान्यदेव के उत्तराधिकारी श्रोत्रियों के जमाने में (जबकि दिल्ली-साम्राज्य और जौनपुर की शक्तियों के बीच खिचाव चल रहा था) इसने फिर से पहले जैसी अपनी दशा बना ली। इस समय के पक्षधर और वाचस्पति मिश्र (जिनका चिन्तामणि ग्रन्थ आज भी आदर्श है) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१६वीं शती में सरयू नदी के उत्तर से लेकर समस्त भाग में धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार की गतिविधियों की दृष्टि से मिथिला शीर्षस्थानीय हो गया। श्रोत्रिय शासकों ने संस्कृत—विद्याध्ययन को प्रोत्साहन दिया और भारत के विभिन्न प्रदेशों से संस्कृतज्ञों को उन्होंने आकृष्ट किया। उनके पूर्वज कर्णाट शासक ऐसा ही सुकर्म कर गये थे। मिथिलेश-चरित के प्रणेता रत्नपाणि ने उनकी साहित्यिक गतिविधियों का विवरण दिया है। निजाम की शासन भूमि माहिष्मती से रमापति यहाँ पाया था—(श्रीमद्राज निजामशाहविषये माहिष्मती या पुरी सा पूर्वजवासभूः)। इसी प्रकार से अन्य प्रदेशों से भी संस्कृत विद्वान् उठ-उठ कर यहाँ आ गये और पूर्वी भारत में मिथिला संस्कृत—विद्याध्ययन का केन्द्र बन गया।^१

बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी पटना की तरफ से सन् १९३३ ई० में इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। इसमें मिथिला में प्राप्त संस्कृत-छन्द, अलंकार और साहित्य-विषयक पाण्डुलिपियों का विवरण है। यह जिल्द छन्द, अलंकार और साहित्य इन तीन विभागों में विभाजित है।

१. काशीप्रसाद जायसवाल कृत 'ए डेस्क्रीप्टिव कैटेलोग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन मिथिला', प्रथम जिल्द, पटना, पृ० ८

अलंकार विषयक पाण्डुलेख धार के महाराज भोजदेव कृत 'सरस्वती कण्ठा-भरण' का प्राचीनतम रूप मिथिला में प्राप्त है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल कृत अनुसंधान के अनुसार मिथिला में संस्कृत का प्रसिद्ध अलंकार शास्त्र 'काव्य-प्रकाश' सर्वाधिक प्रसिद्ध रहा है। पण्डित राज कृत टीका भी मिली है इसकी, जिसकी शैली बड़ी सुन्दर है। परन्तु पाण्डुलेख की तिथि से लगता है कि यह मुगलदरबारी कवि पण्डितराज जगन्नाथ की रचना नहीं है। इस पाण्डुलेख की तिथि लक्ष्मण संवत् ५२२ और शक संवत् १५५६ है और यह ग्रन्थ दरभंगा-राज के प्रतिष्ठाता महेशठाकुर के उत्तराधिकारी भागीरथ ठाकुर के आदेश से तैयार किया गया था। काव्यप्रकाशादि की अधिकांश टीकाएँ मैथिल लेखकों द्वारा की गईं जो अवश्य ही संस्कृत अलंकारशास्त्र के अध्ययन में सामान्यतः सहायक हो सकती हैं।

इसके बाद अप्रप्य दीक्षित कृत कुवलयानन्द, जयदेव कृत चन्द्रालोक के महत्वपूर्ण पाण्डुलेख हैं। मैथिल वेणीदत्त-कृत अलंकार मंजरी उसके रसकौस्तुभ से अधिक प्रसिद्ध है। रसमंजरी (मैथिल भानुदत्त कृत बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ) के अनेक पाण्डुलेख मिलते हैं। भानुदत्त मैथिल था—'देशो यस्य विदेह भूः'। ऐसा पता लगता है कि वह अपने पुत्र को शिक्षित करने के लिये एक वेदान्ती की रचना है। इसका लेखक १४वीं शताब्दी में हुआ। रसतरंगिणी नामक एक उसका रस विषयक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। वह हिन्दू रियासत मिथिला के अन्तिम लेखकों में से है।

प्रसिद्ध नैयायिक केशवमिश्र के अलंकार शेखर में पारिभाषिक तत्त्व के साथ-साथ स्त्रियों के गीतों के विषय में भी लिखा है। मिथिला में दण्डिन कृत 'काव्यादर्श', वामन कृत 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति', रूप्यक कृत अलंकार सर्वस्व, विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' विशेष लोकप्रिय नहीं थे। शंखधरकृत 'कवि कर्पटिका' तिरहुत (मिथिला) में काव्य रचना—पथप्रदर्शक के रूप में पर्याप्त विख्यात थी।^१

स्पष्ट है कि मिथिला में संस्कृत अलंकार और रसशास्त्र विषयक अपना ही विद्यापीठ स्थापित हो गया था। और १४वीं शती से वहाँ के लेखकों की भाषा में एक विशेष मिठास और लय आने लगी थी। परुषाक्षरों का प्रयोग घटने लगा था। यह स्पष्ट ही भाषा-साहित्य का तत्कालीन मैथिल लेखकों पर प्रभाव कहा जावेगा। संस्कृत के शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय, नैषधचरित, कुमारसम्भव और मेघदूत, रघुवंश इन छः-सात काव्यों का इन पाण्डुलेखों में विशेष स्थान है। अनेक नाटक, चम्पू एवं अन्य गद्य-ग्रन्थों के साथ-साथ अमरकृत 'अमरशतक', गोवर्धनकृत 'आर्या सप्तशती', जयदेवकृत 'गीतगोविन्द', घटकरपर कृत 'घटकरपर', कालिदास कृत 'ऋतुसंहार', बालि बाहन हालकृत 'गाथासप्तशती' की अनेक पाण्डुलिपियाँ और भानुदत्त कृत 'गीतगौरीपति', हीर कवि कृत 'गीतशंकर', भगदत्त कृत 'गूढ़पदविवृत्ति', नरपति कृत 'गोपीवल्लभ', चौर कवि कृत 'चौर पंचाशिका' आदि काव्यशास्त्रीय एकाधिक पाण्डुलेख

१. डा० के० पी० जायसवाल सम्पादित 'एड्डेड कैटे० मेन्यु० इन मिथिला', भाग २,

पृ० ५२

२. वही, भाग २, पृ० ५

प्रतियाँ मिथिला से उपलब्ध हुई। उनका विशेष विवरण ऊपर उल्लिखित पान्डुलेख संग्रह में द्रष्टव्य है।

मैथिली साहित्य का परिचय संक्षेप में डा० जयकान्त मिश्र की गवेषणाओं के आधार पर देते हैं।

काल विभाजन—सुविधा की दृष्टि से डा० जयकान्त मिश्र ने सम्पूर्ण ऐतिहासिक सामग्री को तीन विभागों में बाँटा है—

१. प्रारम्भिक मैथिली साहित्य—(१३००-१६०० ई०) इसमें मैथिली भाषा का प्रारम्भिक रूप, प्राचीन मैथिली और आरम्भिक गीति शामिल हैं। १४०० ई० से आगे के साहित्य पर विद्यापति का प्रभुत्व है। उनके अनुसार इस काल में अपभ्रंश के पतन के बाद सम्पूर्ण पूर्वी भारत में मैथिली ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का एकमात्र प्रतिष्ठित माध्यम रही।

२. मध्य मैथिली साहित्य—(१६००-१८६० ई०) इस काल में साहित्यिक विधा रूपक (ड्रामा) का प्राधान्य रहा परन्तु गतिविधि मिथिला से हट कर नेपाल में केन्द्रित हो गई। वंशमणि भा, जगत् प्रकाश मल्ल और उमापति उमाध्याय इस युग के प्रतिनिधि लेखक माने जा सकते हैं। शंकर देव के 'अंकिका-नाट' और ऐसी दूसरी रचनाएँ भी इसी काल से सम्बन्ध रखती हैं।

३. नवीन मैथिली साहित्य—(१८६० ई० से अब तक) इस काल के साहित्य को आरम्भ में निरन्तर क्षय का सामना करना पड़ता है। तथापि महाराज लक्ष्मी-श्वरसिंह (१८८०-१८९८ ई०) के समय में नवयुग का अग्रमुदय हुआ। बीसवीं शती के आरम्भ में ही इस युग की साहित्यिक विधा (गद्य) पहिचानी जा सकी है। इसके विकास में मुख्य बाधा मैथिली की प्रान्तीय शिक्षण-प्रणाली में माध्यम के रूप में अनान्यता रही है। वास्तव में अब अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ साहित्य की सभी विधाएँ नाटक, कविता, गद्य आदि उन्नतिशील हैं।

मैथिली साहित्य की विधाएँ-कविता—भारतीय परम्परित कविता की लगभग सम्पूर्ण विधाएँ मैथिली में मिलती हैं। संस्कृत की भाँति यहाँ 'अंकविलास', 'छन्दोल-कारमंजूषा' और 'अलंकृति-बोध' जैसी अलंकारशास्त्र (लक्षणग्रन्थ) सम्बन्धी, 'बूटी प्रकाश' (वैद्यक विषयक) आदि ग्रन्थ हैं जो सामान्यतया छन्दों में न लिख कर गद्य में लिखे गये। काव्यात्मक दृष्टि से देखने पर यहाँ सर्वप्रथम कुछ महाकाव्य मिलते हैं जो किसी भी भाषा के महाकाव्यों से टक्कर ले सकते हैं। मैथिली महाकाव्यों की तीन श्रेणियाँ हैं। प्रथम, संस्कृत महाकाव्यों से सीधे अनूदित जैसे अच्युतानन्द कृत 'महा-भारत' और 'रघुवंश'। द्वितीय, संस्कृत महाकाव्यों की रूढ़ियों के अनुसार स्वतन्त्र रूप से रचित महाकाव्य, जैसे बद्रीनाथ भा कृत 'एकावली परिणय', रघुनन्दनदास कृत 'सुभद्राहरण' और तारानाथ भा कृत 'कीचकवध'। गौरीशंकर भा कृत माईकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनादवध' का छायानुवाद भी इसी श्रेणी के महाकाव्यों में गिना जा सकता है। तृतीय श्रेणी के प्रतिनिधि मनबोध कृत 'कृष्णजन्म' और चन्दा भा कृत 'रामायण' हैं। इन दोनों रचनाओं में महाकाव्यों के लक्षणों का कठोरता से पालन नहीं हुआ है तथापि इनमें महाकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। वे सर्गबद्ध हैं, स्तुति

से प्रारम्भ होते हैं, कथावस्तु की प्रथम घोषणा करके कहानी कहना शुरू करते हैं, ऐतिहासिक या पौराणिक प्रसिद्ध महापुरुष उनके जीवनचरित उनकी कथाओं के आधार हैं और अन्त में वे हमें समग्र जीवन का वर्णनात्मक चित्र देने में अनुरक्त हैं।

महाकाव्य की अपेक्षा मैथिली में खण्डकाव्य अधिक मिलता है। खण्डकाव्य से महाकाव्य में विभेदक तत्व यही है कि महाकाव्य में सर्ग-निबद्धता, बड़े-बड़े वर्णन, कथाएँ-उपकथाएँ और सर्ग पाये जाते हैं। मैथिली में खण्डकाव्य के छः प्रकार हैं। प्रथम श्रेणी में मेवदूत, ऋतुसंहार, भर्तृहरि-निर्वेदकाव्य और विरहिनी-व्रजांगना जैसे खण्डकाव्यों का भावानुवाद आता है। द्वितीय में लालदास कृत 'गंगालहरी' और 'गणेशखण्ड', गुणवन्तलालदास कृत 'गजग्रहोद्धार' अन्य बड़ी कविताएँ, रघुनन्दन दास कृत 'वीरबाला', ऋद्धिनाथ झा कृत 'सतीविभूति', अनुरामिश्र कृत 'नारदविवाह', आदि ग्रन्थ आते हैं। ये सब पौराणिक या कल्पित नायक चरित्रों के लम्बे वर्णन हैं। तृतीय श्रेणी का नाम 'वाताह्वान काव्य' है। मैथिली में यह संस्कृत का विशिष्ट प्रकार का काव्य है—अत्यन्त ग्रीष्मऋतु में वायुदेव को प्रसन्न करने के लिए। चन्दा झा और भाना झा ने इस प्रकार की रचना मैथिली में की है। चौथी श्रेणी में विरुदावलियाँ आती हैं जैसे लालदास की और ऋद्धिनाथ झा की। पाँचवीं में समय-समय पर कही जाने वाली विभिन्न विषयों की मिश्रित कवितायें आती हैं जैसे काशी-कान्त मिश्र कृत 'कोबर गीत' विषय-तत्व की दृष्टि से बाद की तीन श्रेणियाँ प्रथम दो की अपेक्षा घटिया हैं। सम्मर (संस्कृत स्वयंवर) खण्डकाव्यों की एक प्रमुख श्रेणी है जिसमें राम, जगन्नाथ, कृष्ण जैसे महापुरुषों के विवाह प्रसंगादि का कथन रहता है। १६वीं शती के लगभग ऐसी कविता करनेवाले अनेक गौण कवि हुए हैं।

मैथिली-लोक साहित्य में विशेषकर आकर्षक बड़ी-बड़ी रोमैण्टिक कथाएँ छन्दोबद्ध होती हैं जिन्हें गीत कथा कहा जा सकता है। 'बिहुला गीत', 'दीना-भद्रीक-गीत' और 'सुत्थी कुमारीक गीत' इस शैली के अच्छे निदर्शन हैं।

तथापि मैथिली कविता के क्षेत्र में 'गीतिकाव्य' लीरिक पोइट्री की धारा खूब प्रसृत होती जा रही है। ये गीत वस्तुतः गायन के लिये ही रचे गये। यही कारण है कि मैथिली में इसके भेदों को तब तक ठीक से नहीं पहिचाना जा सकता जब तक कि इन्हें गाया न जाय। गीतिकाव्य के यहाँ अनेक भेद पल्लवित हुए और आज भी मैथिली का कवि वस्तुतः कवि नहीं समझा जाता जब तक कि वह विविध प्रकार की रूढ़ि से चले आते हुए जैसे गीत नहीं रचता। गीति के प्राचीनतम नमूने चर्यागीतियों में मिलते हैं परन्तु संस्कृत कवि जयदेव की अमर कृति 'गीतगोविन्द' के देशी भावानुवादों से गीतिकाव्य सर्वप्रथम लब्धप्रतिष्ठ हुआ।

मैथिली गीतों के सब प्रकारों का प्रयोग करनेवाले सर्वप्रथम महाकवि विद्यापति थे।

मैथिली गीति की विशेषताएँ—यह असाधारण रूप से संगीतात्मक है; इसका सीधापन और स्वच्छन्दता निर्दोष हैं; इसकी छोटी-बड़ी कवि की विशिष्ट सशक्त आवप्रकाशन सम्बन्धी मनोदशा पर निर्भर रहती है; इसका क्षेत्र विस्तृत और

असीमित है; इसका मुख्य प्रेरणा-उत्स दैनिक जीवन के अनुभव और वहीं घटित होने वाली घटनाएँ हैं; संस्कृत की कथाएँ और किस्से-कहानियाँ संस्कृत-अलंकारशास्त्र और शृंगारिक काव्य-रूढ़ियाँ सदा इसकी कल्पना और चटक के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करती हैं। भण्डिता का प्रयोग मैथिली-गीति में अत्यन्त साधारण है। भण्डिता के विषय में डा० सुकुमार सेन कहते हैं—“ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन और मध्ययुग में सम्पूर्ण उत्तर भारत (लम्बाई—चौड़ाई) में कविता के बीच में नाम (कवि का अपना नाम या जो वह पसन्द करता है या कोई उपनाम या गुरु का नाम) ब्रिठाने की परिपाटी का प्रचलन रहा है। लगता है कि यह संस्कृत कवियों के उस परम्परागत अभ्यास का विकास है जो वे पद-रचना करते समय छन्द के नाम के रूप में कोई द्वयर्थक शब्द रख देते थे (छन्द का नाम भी और लेखक का नाम भी उसी शब्द में आ जाता)।”

इनमें से कुछ भनिताओं में ऐसे संरक्षक राजाओं का सपत्नीक उल्लेख है, जिनमें कवि अपने मित्र या उपकारक के रूप में कृतार्थ करना चाहता है।

मैथिली कविता के साहित्यिक रूप के साथ जन-साहित्य के रूप (फोक फार्म) को मिला देने की प्रवृत्ति के कारण मैथिली गीतिकाव्य के रूपों के वर्गीकरण का कार्य बड़ा कठिन हो जाता है। प्रायः यह बता सना असम्भव हो जाता है कि कविता का कोई विशिष्ट रूप तत्कालीन जन-साहित्य के रूप के प्रति उत्तरदायी है अथवा नहीं।

गीतिकाव्य के प्रकार—गीति-काव्य के भेद मुख्यतया रागों के आधार पर पहिचाने जाते हैं। कुछ ऐसी गीतियाँ ‘छन्द परक’ भी होती हैं; जिनका उच्चैः पठन या सुपठन तो हो सकता है, पर वे गाई नहीं जा सकती। वास्तव में, गीतियों में विषय-तत्त्व के कारण भी भेद आ जाता है।

सर्व-साधारण और सर्वप्रमुख भेद ‘तिरहुति’ या ‘तिरहुत’ नाम से है। इसे यह नाम लगता है इस कारण से मिला कि यह प्रदेश का सफल सगीतात्मक भावप्रकाशन का माध्यम रहा है। मैथिली गीतों में तिरहुति सबसे समृद्ध श्रेणी है। इसमें मुख्यतः प्रेमगीत—वियोग और संयोग दोनों के गीत आते हैं। इनमें नायिका के सुन्दर वर्णन, उसकी क्रीड़ाएँ, उसका अपने प्रेमी से मिलन और बिछोह है; कहना चाहिए कि सामान्यतया उसके हृदय का सम्पूर्णतः उद्घाटन इनमें हुआ है। ना, हो, रे या सजनी ये जैसे शब्द इन गीतों में प्रायः टेक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

तिरहुति श्रेणी के उपविभाग ‘बटगमनी’ गीतों में ‘सजनी रे’ टेक प्रायः मिलती है। इन ‘बटगमनियों’ का मुख्य उद्देश्य नायिका का उस समय का चित्र उपस्थित करना होता है जबकि वह अपने प्रेमी से मिलने के लिए जाती है (अभिसार करती है)। सामान्य तिरहुति गीतों में बटगमनियों की सही पहिचान उनके विशिष्ट स्वर (लय) में गाये जाने पर ही की जा सकती है।

इस प्रकार के पद गीत लिखनेवालों में विद्यापति सर्वाधिक सफल हुए।

तिरहुति की दूसरी मुख्य श्रेणी ‘गीअलरी’ है। इनका निर्धारित विषय गोपियों के सहवास में युवक कृष्ण की क्रीड़ाएँ हैं। इस प्रकार के गीतों को लिखने वालों में नन्दीपति एक हैं।

कृष्ण की गोपियों के संग की गई लीलाओं का एक प्रकार 'रास' है । कृष्ण की रासलीला इसका मुख्य विषय है । इसके लेखक ब्रजभाषा कविता से प्रभावित हुए हैं । साहेबराम 'रास' के खूब सफल लेखकों में से हैं ।

'मान' कविताओं की वह श्रेणी है जिसमें प्रेमिका के मान (स्त्रीमान) और प्रेमी के मनुहार (खुशामद) और इसके विपरीत (पुरुषमान) के भी प्रदर्शित करनेवाले नाटकीय-गीत ड्रामेटिक लीरिक होते हैं । इनका सबसे बड़ा व्याख्याता उमापति है ।

'समदाउनि' (सं० सम्वादवाणी) में उस समय के विदाई गीत होते हैं; जबकि किसी घर की लड़की विदा होकर अपने पतिगृह को जाती है । नवरात्र के दिनों में श्री दुर्गा की मूर्ति को विदा करते समय जो गीत गाये जाते हैं वे इसके अच्छे उदाहरण हैं । इन गीतों के शोक सम्बन्धी सुर से मैथिली पाठक खूब आनन्द लाभ करते हैं । गणनाथ झा और विन्ध्यनाथ झा ने इस प्रकार के अच्छे गीत लिखे हैं ।

'लगनि' के दो भेद हैं—एक में एक चार या पाँच बड़े सुन्दर और 'रे की' की टेकवाले पद रहते हैं । दूसरे में अधिक लोक-प्रकार (फोक टाइप) के पद रहते हैं—सामान्यतया इन गीतों में कोई कथा छन्दोबद्ध रहती है; जिसे वहाँ की स्त्रियाँ प्रातः चक्की पीसते समय गाया करती हैं । प्रथम प्रकार के गीतों को 'निधि' और गणनाथ झा ने उत्तमकविता के माध्यम रूप से अपनाया ।

'चैत' या 'चैतावर' वे गीत हैं जो चैत्र (मार्च-अप्रैल) मास में प्रेम-भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गाये जाते हैं । हो राम, हे रामा, या रामा प्रायः इनकी टेक रहती है । इस श्रेणी के अधिकांश गीत जन-काव्य (फोक पोइट्री) में आते हैं ।

'मलार' दूसरे प्रकार के ऋतु सम्बन्धी गीत हैं । ये दो प्रकार के होते हैं : 'प्रवास मलार' (वर्षा ऋतु में गेय) और 'घुरिया मलार' (अन्य शुष्क ऋतु में गेय) । राग मलार सबसे विभिन्न है और सर्वसाधारण है ।

'जोग' और 'उचिती' मैथिली गीतों की विशेष श्रेणियाँ हैं । 'जोग' वधू या प्रेमी के प्रति उन्हें (प्रेमी—प्रेमिका) परस्पर मंत्रबल से प्रेम में आबद्ध करने के लिए गाये जाते हैं ।

इस श्रेणी के सबसे प्राचीन गीत विद्यापति के समय के हैं ।

'उचिती' गीतों से यह समझा जाता है कि वे अतिथि सत्कार करने वाले (मेज़बान) की तरफ से विशिष्ट अतिथि के प्रति कहे गये शिष्टाचार के वचन होते हैं । इन दोनों श्रेणियों में साहित्यिक गीत भी होते हैं और जनगीत भी ।

'सोहर' (जन्म-गीत, विशेषकर कृष्ण और राम के) 'बारहमासा' (बारहों महीनों में प्रेमियों के बिछोह का वर्णन करने वाले गीत) या 'छथोमासा' (केवल ६ मासों के उनके बिछोह को बताने वाले गीत—ज्येष्ठ से कार्तिक तक) या 'चउमासा' (केवल चातुर्मास्य-वर्षाऋतु के ऐसे ही गीत) आदि दूसरे देशी भाषा काव्य के सुपरिचित गीत हैं ।

ये भी शिष्ट और लोक प्रकार के होते हैं ।

भक्तिगीतों में 'नचारी', 'महेशवानी', गोसाउनिक-गीत और 'विष्णुगद' आते हैं । नचारियाँ शिवपरक-प्रार्थनाएँ होने से इनसे पृथक् समय में आ जाती हैं ।

नचारी शब्द का मूल लगता है शिव के परमानन्ददायक नृत्य से सम्बन्धित है और सम्भवतः ईश प्रार्थना के समय उस नृत्य जैसी ही भक्ति की तल्लीनता अपेक्षित रहती है। 'नचारी' शब्द अब प्रायः 'महेशवानी' के सामान्य सम्भाषण के साथ मिलाकर गड़बड़ा दिया जाता है, परन्तु वास्तव में इन दोनों में भेद है। नचारी एकदम भक्ति से सम्बद्ध है; जबकि महेशवानी शिव के सम्बन्ध में एक गीत-सात्र है।

“द नचारी इज डाइरेक्टली विजनल द महेशवानी इज मीयली ए सौंग एबाउट शिव। द महेशवाणी हैज पैरेडोक्सिकली नाट द वाणी (स्पीच) ऑफ महेश (शिव) बट द वाणी (स्पीच ऑर सौंग) इन आनर ऑफ महेश। महेशवाणी इज फ्रीवेंटली एड्रेस्ड टु मेनका (काल्ड इन मैथिली मनाइनी) द मदर ऑफ गौरी एण्ड रिप्रेजेंट्स सौंग्स ऑफ द मैरिएज ऑफ शिव ऑर दोज ऑफ हिज फैमिली लाइफ।”

‘महेशवाणी’ में तत्त्वतः महेश की वाणी नहीं होती अपितु शिव के समादर में कुछ वचन होते हैं। महेशवानी अवसर गौरी की माता मेनका (मैथिली में मनाइनी) को सम्बोधित की जाती है। महेशवानियों में शिव-विवाह या शिव का पारिवारिक जीवन चित्रित होता है। शिव सम्बन्धी इन दोनों प्रकार के गीतों के सुन्दर उदाहरण विद्यापति के दिनों से ही उलब्ध हैं। विद्यापति, लाल कवि, कान्हारामदास और चन्दा भा मुख्य नचारी कवि रहे हैं।

गोसाउनिक गीत (या देवी पद या भगवती के गीत) ‘शक्ति’ के विविध रूपों के प्रशंसात्मक भक्ति के गीत हैं। विद्यापति, नेपाल के मल्ल-बन्धु, रत्नपाणि और गरुनाथ भा ने इस प्रकार की रचना में विशेष योग दिया है; यद्यपि प्रत्येक मैथिली कवि इस प्रकार के गीत लिखता रहा है।

अंग्रेजी शिक्षा के सम्पर्क के फलस्वरूप कुछ अंग्रेजी गीतिकाव्य के रूप भी मैथिली में आये। उनमें सामान्य गीत ‘सानेट’ (चौदह पंक्तियों का गीत), ‘ओड’ (छोटी कविता) और साहित्यिक बेलड (सादे गीत) मुख्य हैं।

इसके बाद मैथिली में मुक्तक काव्य आता है। मुक्तक काव्य का अर्थ है कि ऐसा पद जिसका अन्य पदों से कोई सम्बन्ध न रहता हो। इसमें समस्यापूर्ति, प्रहेलिका या अहियारी या कूट और अपह्नुतियाँ (या मुकरियाँ) आती हैं। इनमें अन्तिम एक काव्यात्मक क्रीड़ाओं वाली आश्चर्यजनक श्रेणी है। इसमें प्रतिपादित विषय की मुख्य बात से इन्कार कर दिया जाता है। और उसका कारण प्रेमी या प्रेमिका को बताया जाता है। सीताराम भा, उपेन्द्रनाथ ठाकुर ‘मोहन’ और जीवनाथ भा मुक्तक काव्य के प्रसिद्ध लेखक हैं।

विद्यापति को डा० जयकान्त मिश्र ने मुक्तककारों में नहीं गिनाया जबकि प्रहेलिका के अनेक पद इनके मिलते हैं।

मैथिली की छन्द रचना

स्वर्गीय सर गंगानाथ भा “विन्ध्यनाथ भा पदावली” (समर्पण पृष्ठ १) में कहते हैं—“पन्द्रहम वर्ष में पद्यरचनाक रुचि (विन्ध्यनाथ बाबू के) भैलेन्ह ओ अनेक

रचना कैलेन्ह । परन्तु ई सून पिता कहलथिन्ह जे “गीत-कवित्त बनबैतछी भने परन्तु सुनलथिक जे भाषाकाव्य अगण भेने अशुभ होइत छैक ते छन्दःशास्त्र पढ़ि लिअतखन बनाएव-तावत जनु बनाबी ।” इससे प्रतीत होता है कि मैथिल कवि आवश्यक रूप से छन्दःशास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते थे । मिथिला में बहुत पुराने समय से ही छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ खूब प्रचलित रहे हैं । प्राकृत पैगल की विभिन्न टीकाएँ लिखी गई हैं जैसे उच्चैठ के मैथिल कालिदास (१६४४ ई० से पूर्व) द्वारा, रमापति (१७०४ ई०) द्वारा । दुर्गादत्त, दामोदर मिश्र, भीष्म मिश्र, जानकी नन्दन, और तरौनी के राघव झा ने भी इसकी टीकाएँ की हैं । डा० काशीप्रसाद जायमवाल के अनुसार—१६वीं से १८वीं शती तक प्राकृत छन्दःशास्त्र मैथिली जनता में अध्ययन का प्रिय विषय था । यह बात ‘प्राकृत पैगल’ के नाम कृत अनेक पाण्डुलेखों और उस पर अनेक टीकाओं से प्रमाणित होती है । मैथिली कविता और अन्य उत्तर भारतीय देशी भाषा सम्बन्धी कविताओं को इसने अत्यधिक प्रभावित किया है । इसमें दोहा, तोटक, छप्पय, कुण्डलियाँ, मालिनी और अन्य छन्द व्यवहृत हुए हैं । देशी-भाषा के अनेक छन्द ऐसे भी हैं जो अब प्रयुक्त नहीं होते । मैथिल पण्डित देशी-भाषा के कुण्डनिया आदि छन्द, संस्कृत पद रचना करते समय एकावली आदि (गोकुलनाथ उपाध्याय) व्यवहृत करते थे । ‘श्रुतबोध’ छन्दोमञ्जरी और वृत्तरत्नाकर छन्दःशास्त्र सम्बन्धी अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ थे । १७वीं शती से देशीभाषा का छन्दःशास्त्र अधिक ध्यान आकृष्ट करता है; यद्यपि विद्यापति और उमापति जैसे लेखक इससे भी दो शताब्दि पूर्व देशी भाषा में पर्याप्त रचना कर चुके थे ।^१

ठीक उसी प्रकार अलंकार और काव्यशास्त्र सम्बन्धी मैथिल लेखकों के ग्रन्थ १३वीं और १४वीं शताब्दि से १६वीं शताब्दि तक एक उच्चस्तरीय ग्रन्थ बन गये (भारत के अन्य प्रान्तों से सम्बन्धित पाठ्य पुस्तकों को छोड़कर) । इस प्रकार काव्य-शास्त्र के अध्ययन विषयक मिथिला की एक विशेष शाखा (स्कूल) है । देशी भाषा की रचनाओं का इस पर स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है, १४वीं शती से लेकर १७वीं शती तक । इस सबसे मिथिला-काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि का पता चलता है ।

प्रारम्भिक और मध्ययुगीन मैथिली कविता में पद्य रचना (छन्दःशास्त्र) के सिद्धान्त प्राकृत और अपभ्रंश छन्दों पर आधारित हैं; यहाँ मात्रा पर विशेष बल दिया जाता है । जबकि संस्कृत छन्दों में इसके विपरीत वर्ण (अक्षर) का महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रयोग में आनेवाले छन्दों में गीत-छन्द सर्वाधिक मुख्य है; जहाँ कवि राग और रागिनियों का अनुसरण कर कृतार्थ होते हैं, प्रत्येक गीत-छन्द ताल और स्वर पर कसा जाता है । यह बात अस्पष्ट रह जाती यदि डा० एच० डी० वेल्कर इन छन्दों को ‘मात्रा-वृत्त’ और ‘ताल-वृत्त’ की संज्ञा देकर विषय स्पष्ट न करते । केवल लोचन ही एक ऐसा मैथिली कवि है जिसने इन गीत-छन्दों के विषय में विस्तार से लिखा है अपनी रागतरंगिणी में । उसका मन्तव्य है कि ये गीत ताल, मान, रस, छन्द, गमक,

१. मिथिला मैन्युस्क्रिप्ट्स सूची २ की भूमिका—प्रकाशक बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना ।

नाद और पद के नियमों से नियमित किये जाते हैं। ऐसे गीत अपने से भिन्नो (अनि-बद्ध गीतों) के मुकाबले निबद्ध कहलाते हैं (रागतरंगिणी पृ० ३६-३७)। ये निबद्ध-गीत मार्ग-क्लासिकल या देशी (पापुलर और लोकल) शैली के राग-रागिनियों में हो सकते हैं। लोचन की दृष्टि में विद्यापति आदि द्वारा रचित देशी भाषा के मैथिली गीत उस समय मिथिला में प्रचलित देशी (पापुलर और लोकल) शैली के राग रागिनियों के गीत हैं। इस प्रकार छन्द यहाँ 'देशी' गीतों के पहिचानने के लिए मुख्य आधार बनता है (राग तरंगिणी पृ० ३६)।

लोचन पहले 'लघु' और 'दीर्घ' मात्राओं को गिनने के नियमों का विज्ञापन करता है। वे सामान्यतः प्राकृत और अपभ्रंश के छन्द-शास्त्र के समान ही हैं। 'लघु' अक्षर सामान्यतः एक मात्रा को बताता है; जबकि 'दीर्घ' दो को (ठीक जैसे संस्कृत में होता है); परन्तु कुछ अक्षर जैसे 'ए' और 'ओ' भी यहाँ एक ही मात्रा को बताते हैं। अक्षरवृत्त पर आधारित संस्कृत के छन्दशास्त्र और मात्रावृत्त पर आधारित देशी भाषा के छन्दशास्त्र में मुख्य भेद यही किया गया है। मात्रावृत्तों में वर्णवृत्तों के मुकाबले कुछ अधिक स्वतन्त्रता दी गई है, और वे संगीत के लिये भी अधिक उपयुक्त होते हैं। डा० एच० डी० वेलंकर का 'अपभ्रंश-छन्द' विषयक लेख में कथन है, "संगीत में समय का ध्यान रखना (ताल) बहुत महत्त्वपूर्ण है और समय (आरोह-अवरोहादि) का सही ध्यान मात्राओं की परवाह करके ही रखा जा सकता है; अक्षरों से नहीं, क्योंकि एक अक्षर सम-इकाई (यूनिफार्म यूनिट) का प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

लोचन के यहाँ द्विकल, 'चतुष्कल', या षट्कल ही गए हैं। वैसे वह संस्कृत के आठों गणों को भी मानता है, परन्तु उनका प्रयोग यदा-कदा ही करता है।

आ, ई, ऊ, ऐ, ओ, ये दीर्घ स्वर अकेले या संयुक्तावस्था में, अनुस्वारयुक्त अक्षर, विसर्गयुक्त अक्षर, और संयुक्ताक्षर से पूर्व का अक्षर ये 'दीर्घ मात्रा' वाले कहलाते हैं। ए और ओ अकेले या संयुक्तावस्था में, र या ह की पूर्व सर्वसंयुक्तावस्था का अक्षर, कभी-कभी छन्द की पंक्ति का अंतिम अक्षर लघु मात्रा वाले होते हैं।

लोचन ने इन गीतों के एक विशिष्ट अंग ध्रुव का भी वर्णन किया है जिसमें गीत के विषय-तत्त्व से परिचय करा दिया जाता है। एक गीत में यह कभी-कभी एक से अधिक भी होते हैं। सामान्यतः यह गीत के प्रारम्भ में होते हैं और एक पद के बाद गाये जाते हैं। पदों की संख्या के विषय में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता वे अक्सर चार, छः या आठ तक पाये जाते हैं, एक गीत में।

भैरवी, बराड़ी, कौशिक, देशाख, रामकरी, ललिता, केदार, कामोद, श्रीराग, वसंत, मालव, असावरी, मालारी, भूपाली, गुर्जरी (असंकीर्ण राग); विभासी, अहिरानी या भीमगलासी, गोविन्दलभ, शारंगी, सूरव या सूरभो, कोडार, घनाश्री या घनछी, गोड़मालव, राजविजय, नाट (संकीर्ण) इन २५ प्रमुख राग-रागिनियों में वर्गीकृत प्रमुख ६६ गीत छन्दों की सूची इस प्रकार है—भैरवी छन्द, राघवीय-बराड़ी छन्द, पर्वतीय बराड़ी छन्द, देशीय बराड़ी छन्द, माधवीय बराड़ी छन्द, भटियाल बराड़ी छन्द, नेपाल बराड़ी छन्द, कौशिक छन्द, जयदेव देशाख छन्द, देश देशाख छन्द, जयदेवी-रामकरी छन्द, शुद्ध रामकरी छन्द, देशरामकरी छन्द, सुप्रिया छन्द, ललित छन्द,

शुद्ध केदार छन्द, केदाराकेदार छन्द, विहाग केदार छन्द, मलारीय केदार छन्द, पर्वतीय केदार छन्द, कामोद-केदार छन्द, केदार-मालव छन्द, कामोद मगल छन्द, दब-कामोद छन्द, श्रीराग छन्द, वसंत छन्द, विरत-मालव छन्द, देश-मालव छन्द, श्रीमालव छन्द, घनाश्री मालव छन्द, वियोगी मालव छन्द, बृहत् वियोगी मालव छन्द, पर्वतीय मालव छन्द, विजयपुर मालव छन्द, जोगिया मालव छन्द, श्रीरंगी मालव छन्द, करुणा मालव छन्द, वितता असावरी छन्द, देशी असावरी छन्द, सिंहली असावरी छन्द, जोगिया असावरी छन्द, सिधुला-असावरी छन्द, भोगिनी असावरी छन्द, सम्भोगिनी असावरी छन्द, दण्डक असावरी छन्द, सरस असावरी छन्द, द्राविड़ असावरी छन्द, अभिरामा असावरी छन्द, मनोहरा असावरी छन्द, शुद्ध मलारी छन्द, पर्वतीय मलारी छन्द, भूपाली छन्द, गुर्जरी छन्द, विभासी छन्द, अहिरानी या भीमपलाशी छन्द, रम्या भीमपलाशी छन्द, धन्या भीमपलाशी छन्द, वितता भीमपलाशी छन्द, गोपीवल्लभ छन्द, शुद्ध शारंगी छन्द, देशी शारंगी छन्द, अभिरामा शारंगी छन्द, शोभना शारंगी छन्द, अनूपा शारंगी छन्द, देश-सुहव छन्द, शुद्ध सुहव छन्द, काम सुहव छन्द, करुणा सुहव छन्द, सुन्दर सुहव छन्द, स्मरसन्दीपन कोडार छन्द, वियोग कोडार छन्द, मोरंगिया कोडार छन्द, दण्डक कोडार छन्द, शुद्ध कोडार छन्द, वितता कोडार छन्द, मंगली घनछी छन्द, पर्वतीय घनछी छन्द, पंचम सुरा घनछी छन्द, श्रीविमिश्र घनछी छन्द, जोगिया घनछी छन्द, शाम्भवी घनछी छन्द, शोभना घनछी छन्द, गौड़ी-गौड़मालव छन्द, मैथिल गौड़मालव छन्द, देवराज छन्द, अलानराज छन्द, देशराज छन्द, कानरराज छन्द, मंगलराज छन्द, मनमोदराज छन्द, भटियाल राज छन्द, शुद्ध नाट छन्द, मलारी नाट छन्द, शंकुनाट छन्द, कामोद नाट छन्द, उत्तमनाट छन्द ।^१

छन्द का राग और रागिनियों से गठबन्धन नान्यदव कृत सरस्वती हृदयालंकारहार में भी मिलता है । यह बात चर्यापदों और जयदेव कृत गीतगोविन्द में भी दिखाई देती है । चर्याओं के विषय में डा० एस० के० चटर्जी कहते हैं—चर्या—कविताओं के छन्द मात्रा वृत्त हैं जिनमें अधिकांश पदाकुलक या चौपाई हैं जिनका उद्गम बाद के मध्य भारतीय आर्ययुग में हुआ । विशेष कर एक बँगला या पूर्वी मागधी छन्द जैसे १४ अक्षरों वाला पयार नहीं मिलता ।^१

जयदेव के छन्द लोचन के गीतछन्दों की भाँति ही निश्चित रागों व निश्चित तालों से व्यवस्थित रहते हैं । विद्यापति [देखें—रामभद्रपुर पाण्डुलेख : मालव, सहव, गुर्जरी, वसंत, अहिर-अहिरानी, श्रीराग, घनछी, बराली, कौलाव, सामरी, कानर, ललित, विभास, आभोग्य, मलारी, मलार, तरित, सारंगी । नेपाल पाण्डुलेख : मालव घनछी, असावरी, मलारी सामरी, असावरी, मालवी, अहिरानी, केदारा, कोडार, सारंगी; गुजरी, बरली, ललित, ललिता, नाट, विभास और वसंत । रसानाथ झा पाण्डुलेख : भूपाली, कानरा, कोलार, मालव, सहव और रामकरी । डा० सुभद्र झा

१. डा० जयकान्त मिश्र कृत हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, भाग १, पृ० ३८-११८

२. ओरिजिन एन्ड डेवलपमेण्ट ऑफ द बंगाली लैंग्वेज, पृ० ११७

ने सीकर अप्रैल १९४२ पृष्ठ २९ में इनमें से कुछ (वरली, गुंजरी और सारंगी) को नहीं पहचाना शायद इनका वर्णविन्यास शुद्ध न था] और उसके अनुयायी लोचन द्वारा गिनाये गये छन्दों का प्रयोग करते हैं। लोचन ने अपनी रागतरंगिनी में विद्यापति और उसके अनुयायियों को खूब उद्धृत किया है।

आधुनिक मैथिली अलंकार शास्त्री छन्दों के दो विभाग करते हैं—‘मातृक छन्द’ और वर्णवृत्तक छन्द।

मातृक छन्द—चौपाई, दोहा, सोरठा, बरबा, रोला, उल्लाल, छप्पय या जयकरी, कुण्डलिया, गीतिका, हरिगीतिका, विजया, तोमर, पद्धरी या वसंत, सबइया अनेकविध, त्रिभंगी, घनाक्षरी, सुमेरु, रूपमाला, लावनी, सरसी, सर, आल्हा आदि। वर्णनात्मक कविता में सामान्यतः चौपाई सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस विषय के सर्वोत्तम मैथिली कवि मनबोध में चौपाई के उपयोग को बताते हुए ग्रियर्सन महोदय कहते हैं—‘कृष्ण-जन्म’ की कविता में छन्द सर्वत्र एक-सा है। यह चौपाई का एक प्रकार है जिसमें प्रत्येक आधी पंक्ति में पन्द्रह मात्राएँ हैं और प्रत्येक छठी के बाद विराम। प्रत्येकाद्व भाग की अन्तिम तीन मात्राएँ परस्पर अनुप्रास बनाती हैं और प्रायः एक बड़ी मात्रा और एक छोटी मात्रा का रूप ले लेती हैं। कभी-कभी वे तीन लघु अक्षरों का रूप ले लेती हैं परन्तु अन्तिम सदा लघु अक्षर के रूप में ही होता है। सामान्यतया, हमेशा नहीं, ग्यारहवीं और बारहवीं मात्राएँ भी दो लघु अक्षरों से बनी होती हैं।^१ दोहा और छप्पय के साथ इस छन्द का कुछ कीर्तनिया नाटककारों ने खूब प्रयोग किया है।

वर्णवृत्तक छन्द—शिखरिणी, मालिनी, वसंततिलका, भुजंगप्रयात, द्रुतविलम्बित, शार्दूल विक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, तोटक, वंशस्थ आदि उत्तर भारत में प्रयुक्त होने वाले देशी भाषा के छन्दों में ये सुपरिचित हैं। पयार जैसे छन्द हालही में अन्य भारतीय भाषाओं से आ मिले हैं। ‘मुक्त छन्द’, ‘रिक्त छन्द’ आदि अंग्रेजी के छन्दों ने भी मैथिली छन्द शास्त्र को समृद्ध करने में योग दिया है।

मिथिला के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक जीवन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि—

१. मिथिला का मस्तिष्क उच्च-साहित्य और कला को जन्म देने के उपयुक्त रहा।
२. विद्याध्ययन की यहाँ पुरातन परम्परा विद्यमान रही।
३. इसके धार्मिक विश्वास गहरे और स्थिर बने रहे।
४. इसके सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं से स्पष्ट है कि इसके पास उच्च कोटि के नाटक व काव्य-रचना के उत्सु सुलभ रहे।
५. भूतकाल में यहाँ संगीतकला अत्यधिक उन्नत थी तभी तो वहाँ सुरीली तानों और लयों (गीतों) का निर्माण हो सका।^२

१. हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, भाग १, पृष्ठ ९४, पादटिप्पणी ९

२. जर्नेल ऑफ रायल एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, १८८२ ई०, पृ० १३०

३. डा० जयकान्त मिश्र कृत ‘हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर’, पृ० ३८

इस सबसे मिथिला की प्राचीन साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधि के ऊपर से अज्ञान का परदा फट जाता है और मानना पड़ता है इस बात को कि मिथिला वस्तुतः प्रकाण्ड पाण्डित्य सम्बन्धी साहित्यिक परम्पराओं से युक्त प्रदेश रहा है। विदेशी शत्रुओं के थपेड़ों से यहाँ के साहित्यकार अन्य प्रदेशीय साहित्यकारों के मुकाबिले काफी सुरक्षित रहे। वहाँ प्राप्त पाण्डुलेखों से यह भी स्पष्ट है कि मिथिला में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों की ही काव्य-परम्परा जीवित रही।

राजनीतिक पृष्ठभूमि (मिथिला)

विद्यापति-प्राङ्-मिथिला और उत्तर भारत (१०६७-१३५० ई०)—विदेह साम्राज्य और फिर बाद में बज्जी संघ के भंग होने के बाद मिथिला निरन्तर युद्धों और कभी-कभी दासता जैसी परिस्थितियों में रही। लगभग चौदह सौ वर्षों की कड़ी परीक्षा के अनन्तर मिथिला कर्णाट वंशीय नान्यदेव के सबल, सुबुद्ध नेतृत्व में फिर से जाग उठी। जिसने स्वभुजबल से मिथिला में सन १०६७-१०६८ ई० में कर्णाट नामक क्षत्रिय राजवंश की स्थापना की और कर्णाट या सिमरांव राजवंश के प्रतिष्ठित होने से मिथिला में पुनः नवीन युग का श्रीगणेश हुआ। और इसके उत्तराधिकारी ओइनवार या ठाकुर-ब्राह्मण वंश या सुगौना राजवंश (१३५३ ई०-१६वीं शती तक) के राजत्वं में मिथिला का सांस्कृतिक गौरव फिर से उज्ज्वल हुआ। कला, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों में इस काल की मिथिला ने अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया। इस दृष्टि से इस समय की मिथिला जनक और याज्ञवल्क्य की मिथिला से मिलती-जुलती है। कर्णाट-ओइनवार और जनक-याज्ञवल्क्य के युगों के मध्य यद्यपि लगभग चार हजार वर्षों का अन्तर है तथापि इन दोनों युगों ने सामान्यतया मानव-व्यक्ति और विशेषतया भारतीय संस्कृति के विकास में एक-सा योगदान दिया है—

“इन दिस रेस्पैक्ट द मिथिला ऑफ द कर्णाट्म एन्ड द ओइनवार्स रिजैम्बल्ड दैट ऑफ द जनक्स एन्ड याज्ञवल्क्य। दू दू पीर्यंडस् दो स्टैण्डेड अपार्ट बाइ अबाउट फोर थाउजैंड ईयर्स हैव समह्लाट देयर सिमिलर कौण्ट्रीव्यूशन्स टू द ग्रोथ ऑफ ह्यूमन माइण्ड इन जनरल एण्ड इण्डियन कल्चर इन पर्टिकुलर।”^१

१३वीं शती के प्रारम्भ में महमूद गज़नवी के बाद से क्षीण पड़ती हुई भारत में इसलाम की प्रभुसत्ता बंगाल की मुसलिम विजय से पुनर्जीवित हो उठी।^२

राजनीति के क्षेत्र में ऐसे लड़ाका लोग भारत की सौभाग्य-श्री से देर तक झुझते रहे। और इस प्रकार के युद्धप्रिय विदेशियों की धारा यहाँ तब तक निरन्तर प्रवाहित होती रही जब तक कि मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने बहादुरी के साथ पूर्वी भारत में आगे बढ़कर दक्षिण बिहार में और फिर शीघ्र ही भागीरथी और करतोया नदी के किनारों पर इसलाम का ध्वज न फहरा दिया।^३ मुसलमानों के निरन्तर

१. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत ‘हिस्ट्री ऑफ मिथिला’, पृ० ३४३

२. यदुनाथ सरकार सम्पादित ‘हिस्ट्री ऑफ बंगाल’ भाग दो, पृ० १

३. वही

भारत अभियानों का फल यह हुआ कि १३वीं शती में उत्तर भारत में मुसलमानी उपनिवेश स्थापित हो गये। उस समय समस्त उत्तरी बिहार भी इनके अन्तर्गत रहा यह विवाद का विषय है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि उन दिनों मुसलिम प्रभाव के पूर्वी भारत के विस्तार में मिथिला के शक्तिसम्पन्न कर्णाटवंशीय हिन्दू साम्राज्य ने बाधा पहुँचाई। इसलिए मुहम्मद बख्तियार खिलजी के नेतृत्व में मुसलिम प्रभुसत्तात्मक गतिविधियाँ दक्षिणी बिहार में फूलती-फूलती रहीं।^१ कुछ विचारक इस प्रकार विचारते हैं कि मुहम्मदन-प्रभु-सत्ता ने गंगा के सुदूर उत्तर में विजय-लाभ तब तक नहीं किया जब तक कि सन् १२११ ई०—१२२६ ई० के मध्य बंगाल-विजेता गियासुद्दीन उवज ने जो कि किसी मुसलमान आक्रान्ता से दवा नहीं था ऐसे तिरहुत राज्य में इसलाम की ध्वजा को न फहराया और उसे कर देने के लिए बाध्य न किया।^२ श्री के० आर० कानूनगो के अनुसार मुहम्मद बख्तियार ने लक्ष्मणसेन के समय बंगाल पर आक्रमण करके नवद्वीप को विजित किया था। बख्तियार के इस अभियान का उद्देश्य कम-से-कम रक्तपात और जोखिम के मध्य अधिक से अधिक लूट-खसोट था। एक या दो साल तक वह बंगाल के हिन्दू-प्रदेश को जी भर कर लूटता रहा और तब भागलपुर डिबीजन के विक्रमशिला और अन्य बिहार के दुर्गों की ओर झपटा। यहाँ के दुर्ग को हस्तगत करने के बाद बिहारस्थ खूब धन और ग्रन्थों के अधिपति सिरघुटे अधिकांश साधु-महन्तों को ११६६ ई० में तलवार के घाट उतार दिया गया। क्योंकि यह बिहार अथवा मदरसा था इसलिए मुसलमानों ने इस समस्त प्रदेश को 'बिहार' संज्ञा दे डाली। दुर्गयुक्त मठ या बिहार का नाम 'औदण्ड बिहार' या 'औदण्डपुर' अथवा 'औदण्डपुर बिहार' था।^३ सन् १२०० ई० में वह पुनः बिहार की ओर ससैन्य बढ़ा और प्रान्त भर में अपनी सत्ता को स्थायित्व देने के अभिप्राय से उसने जगह-जगह थाने और शासकीय केन्द्र स्थापित किए।^४ बाद में देहली के सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा बख्तियार को बिहार और लखनौती के प्रान्तों का राजप्रतिनिधि या बड़ा लाट बना दिया गया।^५

रणनीति और युद्ध-कौशल को दृष्टि में रखते हुए बंगाल ऐसे प्राकृतिक ढाँचे में ढला हुआ है कि यहाँ स्थल-सैन्य-अभियान सदा कठिन ही रहा है। और बंगाल के उत्तरीय आँचल से किसी सुविधाजनक घाट से कोसी और गण्डक नदी को पार करके गंगा के उत्तरी तट के साथ तिरहुत और अवध आसानी से पहुँचा जा सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए ही तिरहुत के एक जिले को द्वार-बंग (दरभंगा) अभिधान से सुशोभित किया गया।^६

१. यदुनाथ सरकार सम्पादित 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल', भाग २, पृ० २

२. मुजफ्फरपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० १७

३. यदुनाथ सरकार सम्पादित 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल' भाग, २, पृ० ३

४. वही, पृ० ३

५. तबक़त-इ-फक़री १ पृ० ५०; डा० उपेन्द्र ठाकुर 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला', पृ० ३६३

६. यदुनाथ सरकार सम्पादित 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल', भाग २, पृ० ५

तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार यह स्पष्ट है कि मिथिला अथवा तिरहुत पर सर्वप्रथम मुसलिम आक्रमण सन् १२०३ ई० में मुहम्मद बख्तियार ने किया। ऐसा भी पता लगता है कि उसने बंगाल के अपने नव-विजित प्रदेश में मिथिला के कम से कम दक्षिण-पूर्व के भाग तो मिला ही लिये थे। मुसलिम-विजय से पूर्व बंगाल निम्न पाँच भागों में विभक्त था। पहला राढ़ प्रदेश (हुगली के पश्चिम और गंगा के दक्षिण में), दूसरा बागडी प्रदेश (गंगा और ब्रह्मपुत्र का डेल्टा), तीसरा बंग (इस डेल्टे के पूर्व का भाग), चौथा बारेन्द्र (पद्मा के उत्तर भाग और करतोया व महानन्दा नदियों के बीच का प्रदेश), पाँचवाँ मिथिला (महानन्दा के पश्चिम का प्रदेश)। बख्तियार ने मिथिला के दक्षिण-पूर्व के भागों—बारेन्द्र, राढ़ के उत्तरीय जिले और बागडी के उत्तर-पूर्वी जिले हस्तगत किये थे। बहुत देर तक मुहम्मदन राज्य या प्रान्त इतने तक ही सीमित रहा। यह प्रदेश अपनी मुख्य नगरी के नाम पर 'लखनौती' भी पुकारा जाता रहा।^१ इन दिनों मिथिला में कर्णटवंशीय नरसिंहदेव राज्य करता था। 'रियजु-स्-सलतिन' ग्रन्थ में श्री गुलाम हुसेन सलीम महाशय ने लिखा है कि जब सन् ११६८ ई० में बख्तियार खिलजी ने १८ सेनाओं के साथ नदिया पर आक्रमण किया और बंगाल को विजित किया तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मिथिला, बारेन्द्र, राढ़ और बागडी के उत्तर-पश्चिमी भाग भी जीते थे।^२ इस काल में शहबुद्दीन गौरी का भू-पूर्व राजप्रतिनिधि सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ था। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि मिथिला-सम्राट् नरसिंहदेव मुसलमान शासक के सम्मुख नतमस्तक हो गए और फिर वह गयासुद्दीन उवज के समय तक कर देते रहे।^३ तथापि अन्य किसी समकालीन और बाद के मुसलमान इतिहासकार ने बख्तियार के द्वारा उक्त प्रकार से व्यवहृत मिथिला-सम्राट् का उल्लेख नहीं किया है।^४

शहबुद्दीन गौरी के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक की अधीनता में बख्तियार के बाद बिहार में शान्ति रही।^५ वस्तुनः परवर्ती ५० वर्षों के बंगाल के इतिहास को बख्तियार के दुर्भाग्यपूर्ण तिब्बत अभियान ने बहुत प्रभावित किया। इस बीच हिन्दू-शक्तियों ने दीर्घकाल तक चैन की सांस ली। और क्योंकि अपने तिब्बत अभियान के सद्देश्य से बख्तियार ने बिहार से बड़ी संख्या में सैन्य शक्ति को हटा लिया था, परिणामतः बिहार बंगाल के आधिपत्य से निकल गया। जब दुश्चारित्र्य, विश्वासघात और मतभेद यहाँ खिलजियों में प्रबल हो गए तो बख्तियार का सौभाग्य शेष हो गया और वह बाद में सन् १२०६ ई० में अली मर्दान खिलजी द्वारा मारा गया।^६ ऐसा पता लगता है कि बख्तियार खिलजी के पुत्र इख्तियार-उद्दीन मुहम्मद को अपने पिता

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग ३, पृ० २६०

२. अब्दुस्सलीम अनूदित रियजुस्सलतिन, पृ० ४६

३. रहमती, पृ० ६

४. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ मिथिला', पृ० ३६४

५. हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग २, पृ० १५

६. वही, पृ० ११

की मृत्यु के बाद गंगा और सोन (अवध) के बीच की कुछ जागीर हाथ लगी। इससे उत्साहित होकर उसने बिहार और तिरहुत में अभियान किया और इतनी अधिक मात्रा में धन-धान्य की लूट-खसोट की कि इसके बहुसंख्यक स्वजातियों ने बड़ी संख्या में लालायित होकर ऐसे सौभाग्यशाली सरदार की सेवावृत्ति स्वीकार कर ली।^१ उसने पुनः बिहार पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी अदण्डपुर को हस्तगत कर लिया। इस नगर के बड़े बौद्ध मठाधीशों को उसने मरवा डाला। यहाँ के लूट-खसोट के माल (जिसमें मठों का पुस्तकालय भी सम्मिलित था) को भोली में डालकर उसने तत्कालीन दिल्ली के बादशाह कुतुबुद्दीन ऐबक को सलाम जा भुकाया। उसके द्वारा बिहार के और अधिक शोषण के सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है।

अली मर्दान ने अपने को सुलतान अलाउद्दीन के रूप से विख्यात किया। अन्तिम दिनों तक उसने अपने अधिकृत प्रदेश को कहाँ तक बढ़ाया और अपनी गति-विधियों से बिहार को कितना प्रभावित किया इसके विषय में प्रामाणिक एवं विश्वसनीय सामग्री अनुपलब्ध है तथापि इतना कहा जा सकता है कि इस समय बिहार (कम से कम सोन नदी से पूर्व का भाग) लखनौती-साम्राज्य का अंग था। यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि इल्तुतमिश (सन् ११२५-२६ ई०) के प्रथम अभियान के समय तक यह प्रदेश हुसामुद्दीन इवज़ के अधिकार में था।^२ सन् १२११ ई० के लगभग मुसलमानों के करद कामरूप और बंग के हिन्दू शासकों के अतिरिक्त तिरहुत का हिन्दू साम्राज्य भी एक ओर मुसलिम गवर्नर और दूसरी ओर लखनौती के सामन्त से परेशान था।^३

ऐसा भी पता लगता है कि बंग, कामरूप और तिरहुत के शासक सुलतान गियासुद्दीन उवज़ खिलजी (सन् १२१३-१२२७ ई०) के करद रहे।^४ गियासुद्दीन से तो ये प्रदेश अवश्य ही इस काल में परेशान रहे परन्तु इस काल में अन्य किसी बाह्य मुसलिम अभियान का उल्लेख नहीं मिलता।

श्री के० आर० कानूनगो का अभिमत है कि इस समय अरिमल्लदेव के देहावसान के उपरान्त मिथिला का प्राचीन कर्णाट साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चला। इस वंश के राजपुत्र निराश हो सत्ता हस्तगत करने के उद्देश्य से एक ओर मुसलिम प्रान्त अवध से और दूसरी ओर नेपाल की घाटी में लखनौती से जूझने लगे।^५ यहाँ कानूनगो महोदय ने स्पष्ट नहीं किया कि अरिमल्लदेव कौन था। सन् १२१३ से १२२७ ई० तक मिथिला में नरसिंहदेव ने शासन किया। इस समय में अरिमल्लदेव नामक कोई राजा मिथिला में नहीं हुआ। अरिमल्लदेव वस्तुतः नेपाल का शासक था। यह तथ्य है कि कर्णाटवंश के मूल नान्यदेव के पूर्व और पश्चात् मल्ल परिवार का तिरहुत में शासन

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग ३, पृ० ४२

२. हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग २, पृ० २०, पाद टिप्पणी १

३. वही, पृ० २०

४. तबकत-उ-अकबरी १, पृ० ५६, ६६

५. हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग २, पृ० २२-२३

तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार यह स्पष्ट है कि मिथिला अथवा तिरहुत पर सर्वप्रथम मुसलिम आक्रमण सन् १२०३ ई० में मुहम्मद बख्तियार ने किया। ऐसा भी पता लगता है कि उसने बंगाल के अपने नव-विजित प्रदेश में मिथिला के कम से कम दक्षिण-पूर्व के भाग तो मिला ही लिये थे। मुसलिम-विजय से पूर्व बंगाल निम्न पाँच भागों में विभक्त था। पहला राढ़ प्रदेश (हुगली के पश्चिम और गंगा के दक्षिण में), दूसरा बागडी प्रदेश (गंगा और ब्रह्मपुत्र का डेल्टा), तीसरा बंग (इस डेल्टे के पूर्व का भाग), चौथा बारेन्द्र (पद्मा के उत्तर भाग और करतोया व महानन्दा नदियों के बीच का प्रदेश), पाँचवाँ मिथिला (महानन्दा के पश्चिम का प्रदेश)। बख्तियार ने मिथिला के दक्षिण-पूर्व के भागों—बारेन्द्र, राढ़ के उत्तरीय जिले और बागडी के उत्तर-पूर्वी जिले हस्तगत किये थे। बहुत देर तक मुहम्मदन राज्य या प्रान्त इतने तक ही सीमित रहा। यह प्रदेश अपनी मुख्य नगरी के नाम पर 'लखनौती' भी पुकारा जाता रहा।^१ इन दिनों मिथिला में कर्णटवंशीय नरसिंहदेव राज्य करता था। 'रियजु-स्-सलतिन' ग्रन्थ में श्री गुलाम हुसेन सलीम महाशय ने लिखा है कि जब सन् ११६८ ई० में बख्तियार खिलजी ने १८ सेनाओं के साथ नदिया पर आक्रमण किया और बंगाल को विजित किया तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मिथिला, बारेन्द्र, राढ़ और बागडी के उत्तर-पश्चिमी भाग भी जीते थे।^२ इस काल में शहबुद्दीन गौरी का भूतपूर्व राजप्रतिनिधि सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली के सिंहासन पर आरुढ़ था। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि मिथिला-सम्राट् नरसिंहदेव मुसलमान शासक के सम्मुख नतमस्तक हो गए और फिर वह गियासुद्दीन उवज के समय तक कर देते रहे।^३ तथापि अन्य किसी समकालीन और बाद के मुसलमान इतिहासकार ने बख्तियार के द्वारा उक्त प्रकार से व्यवहृत मिथिला-सम्राट् का उल्लेख नहीं किया है।^४

शहबुद्दीन गौरी के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक की अधीनता में बख्तियार के बाद बिहार में शान्ति रही।^५ वस्तुनः परवर्ती ५० वर्षों के बंगाल के इतिहास को बख्तियार के दुर्भाग्यपूर्ण तिब्बत अभियान ने बहुत प्रभावित किया। इस बीच हिन्दू-शक्तियों ने दीर्घकाल तक चैन की साँस ली। और क्योंकि अपने तिब्बत अभियान के उद्देश्य से बख्तियार ने बिहार से बड़ी संख्या में सैन्य शक्ति को हटा लिया था, परिणामतः बिहार बंगाल के आधिपत्य से निकल गया। जब दुश्चारित्र्य, विश्वासघात और मतभेद यहाँ खिलजियों में प्रबल हो गए तो बख्तियार का सौभाग्य शेष हो गया और वह बाद में सन् १२०६ ई० में अली मर्दान खिलजी द्वारा मारा गया।^६ ऐसा पता लगता है कि बख्तियार खिलजी के पुत्र इस्तियार-उद्दीन मुहम्मद को अपने पिता

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग ३, पृ० २६०

२. अब्दुस्सलीम अनूदित रियजुस्सलतिन, पृ० ४६

३. रहमनी, पृ० ६

४. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ मिथिला', पृ० ३६४

५. हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग २, पृ० १५

६. वही, पृ० ११

की मृत्यु के बाद गंगा और सोन (अवध) के बीच की कुछ जागीर हाथ लगी। इससे उत्साहित होकर उसने बिहार और तिरहुत में अभियान किया और इतनी अधिक मात्रा में धन-धान्य की लूट-खसोट की कि इसके बहुसंख्यक स्वजातियों ने बड़ी संख्या में लालायित होकर ऐसे सौभाग्यशाली सरदार की सेवावृत्ति स्वीकार कर ली।^१ उसने पुनः बिहार पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी औदण्डपुर को हस्तगत कर लिया। इस नगर के बड़े बौद्ध मठाधीशों को उसने मरवा डाला। यहाँ के लूट-खसोट के माल (जिसमें मठों का पुस्तकालय भी सम्मिलित था) को भोली में डालकर उसने तत्कालीन दिल्ली के बादशाह कुतुबुद्दीन ऐबक को सलाम जा भुकाया। उसके द्वारा बिहार के और अधिक शोषण के सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है।

अली मर्दान ने अपने को सुलतान अलाउद्दीन के रूप से विख्यात किया। अन्तिम दिनों तक उसने अपने अधिकृत प्रदेश को कहाँ तक बढ़ाया और अपनी गति-विधियों से बिहार को कितना प्रभावित किया इसके विषय में प्रामाणिक एवं विश्वसनीय सामग्री अनुपलब्ध है तथापि इतना कहा जा सकता है कि इस समय बिहार (कम से कम सोन नदी से पूर्व का भाग) लखनौती-साम्राज्य का अंग था। यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि इल्तुतमिश (सन् १६२५-२६ ई०) के प्रथम अभियान के समय तक यह प्रदेश हुसामुद्दीन इवज के अधिकार में था।^२ सन् १२११ ई० के लगभग मुसलमानों के करद कामरूप और बंग के हिन्दू शासकों के अतिरिक्त तिरहुत का हिन्दू साम्राज्य भी एक और मुसलिम गवर्नर और दूसरी ओर लखनौती के सामन्त से परेशान था।^३

ऐसा भी पता लगता है कि बंग, कामरूप और तिरहुत के शासक सुलतान गियामुद्दीन उवज खिलजी (सन् १२१३-१२२७ ई०) के करद रहे।^४ गियामुद्दीन से तो ये प्रदेश अवश्य ही इस काल में परेशान रहे परन्तु इस काल में अन्य किसी बाह्य मुसलिम अभियान का उल्लेख नहीं मिलता।

श्री के० आर० कानूनगो का अभिमत है कि इस समय अरिमल्लदेव के देहावसान के उपरान्त मिथिला का प्राचीन कर्णाट साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चला। इस वंश के राजपुत्र निराश हो सत्ता हस्तगत करने के उद्देश्य से एक ओर मुसलिम प्रान्त अवध से और दूसरी ओर नेपाल की घाटी में लखनौती से जूझने लगे।^५ यहाँ कानूनगो महोदय ने स्पष्ट नहीं किया कि अरिमल्लदेव कौन था। सन् १२१३ से १२२७ ई० तक मिथिला में नरसिंहदेव ने शासन किया। इस समय में अरिमल्लदेव नामक कोई राजा मिथिला में नहीं हुआ। अरिमल्लदेव वस्तुतः नेपाल का शासक था। यह तथ्य है कि कर्णाटवंश के मूल नान्यदेव के पूर्व और पश्चात् मल्ल परिवार का तिरहुत में शासन

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग ३, पृ० ४२

२. हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग २, पृ० २०, पाद टिप्पणी १

३. वही, पृ० २०

४. तबकत-इ-अकबरी १, पृ० ५६, ६६

५. हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग २, पृ० २२-२३

था। परन्तु नेपाल के मल्लों ने स्वतः नान्यदेव से वह शासन उत्तराधिकार में पाया था। इसलिए अरिमल्लदेव के कर्णाटगोत्रीय होने की सम्भावना है। सिलवेन लेवी महाशय का भी विचार है कि मिथिला के किसी एक भाग में मल्लवंश का भी राज्य था।^१ श्री कानूनगो महाशय ने इस अरिमल्लदेव को मिथिला के कर्णाट सम्राट् के साथ गलत सम्बद्ध किया है जो कि वस्तुतः उस समय मिथिला के शासक नरसिंहदेव ही थे।

सुलतान गियासुद्दीन खिलजी एक सुयोग्य शासक सिद्ध हुआ। इसके शासन काल में लगभग १२ वर्ष तक लखनौती और बिहार में शान्ति का साम्राज्य रहा। परन्तु सन् १२२५ ई० में सुलतान शम्सुद्दीन इल्तुत्तमिश के बंगाल के आक्रमण ने उस शान्ति को भंग कर दिया। इस समय तक गियासुद्दीन खिलजी ने बंगाल में अपना शासन जाजनगर (उड़ीसा), बंग (पूर्वी बंगाल), कामरूप (पश्चिमी आसाम) और नान्यदेव के तिरहुत तक फैला लिया था।^२ दिल्ली सम्राट् इल्तुत्तमिश का इस स्वच्छन्द साम्राज्य विस्तार से चिढ़ जाना स्वाभाविक ही था। इसलिए उसने शीघ्र ही बंगाल और बिहार को गियासुद्दीन खिलजी के हाथ से मुक्त कराने के उद्देश्य से अभियान किया। मामूली लड़ाई-भिड़ाई के बाद शान्ति स्थापित हो गई। गियासुद्दीन खिलजी से बिहार और बंगाल जीतने के लिए सम्राट् इल्तुत्तमिश स्वयं आये थे।^३ सम्राट् इल्तुत्तमिश ने बिहार को लखनौती के अधिकृत सूबों से पृथक् करके उसे अलाउद्दीन जनी के हाथ सौंप दिया। इल्तुत्तमिश के देहली-प्रस्थान के बाद ही गियासुद्दीन उवज ने अलाउद्दीन जनी को बिहार से खदेड़ कर उस प्रदेश को पुनः हस्तगत कर लिया और लगभग सन् १२२० ई० तक यह प्रदेश बंगाल का ही भाग बना रहा जब तक कि सम्राट् गियासुद्दीन तुगलक ने इसे पुनः पृथक् न कर दिया।^४

अलाउद्दीन जनी के बिहार से निष्कासन को सुन कर इल्तुत्तमिश का बेटा नसीरुद्दीन खूब क्रोधित हुआ। उसने लखनौती में उवज को मार डाला और बंगाल में अपना शासन स्थापित किया।^५ गियासुद्दीन खिलजी उवज का साम्राज्य लखनौती, पूनिया, ताजपुर आदि प्रदेशों में था। उसने दक्षिण बिहार को पुनर्विजित किया और दिल्ली के अधीन अवध तक अपनी सीमा पहुँचा दी और उत्तर बिहार में गंडक नदी तक उसका शासन था।^६ मुगलों से पूर्व बंगाल के मुसलमान साम्राज्य की सीमा में उत्तर बिहार का अधिकांश तो रहा ही कई-एक मुसलमान बादशाहों के नीचे दक्षिण-बिहार और कुछ भाग पश्चिम-बिहार का भी रहा।

मुहम्मद इलियास रहमनी के अनुसार मिथिला के नरसिंहदेव ने गियासुद्दीन

१. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला', पृ० ३६७

२. डिस्ट्रिक्ट मुजफ्फरपुर गजेटियर, पृ० १७

३. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० २६-२७

४. मिह्ज कृत तबकत-इ-नासिरी, पृ० १६३

५. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० २७

६. वही, पृ० २६-३१

उवज की बिहार-विजय के प्रसंग में मदद की थी। जब दिल्ली सम्राट् इल्तुतमिश के पुत्र नसीरुद्दीन ने बंगाल पर आक्रमण किया तो गियासुद्दीन उवज मारा गया। उस समय नरसिंहदेव ने भी नत होकर कर देना स्वीकार किया।^१ तथापि हम यह जानते हैं कि नरसिंहदेव ने स्वतन्त्र शासक जैसा ही अपना स्तर बनाये रखा। इस प्रदेश पर तत्कालीन मुसलिम अभियान वस्तुतः सफल अभियान मात्र ही थे, प्रभावशाली विजय नहीं, क्योंकि इस समय तक सिमरांव और चम्पारन जिलों तक भी कर्णाटवंश का प्रभुत्व छा चुका था।

इस काल में सुलतान इल्तुतमिश ने तुघरल तुघान को बदायूँ से बिहार भेज दिया। तब बिहार प्रान्त में तिरहुत शामिल न था। तब मिथिला के कर्णाटों के अधीन यह पृथक् राज्य था। सन् १२४२ ई० में दिल्ली के सिंहासन पर अलाउद्दीन मसूद शाह के बैठने के कुछ उपरान्त ही अपने इस नवीन पद को ग्रहण कर मलिक इजुउद्दीन तुघरल तुघान ने निज अभियान शुरू किया था। तुघरल तुघान ने यहाँ लगभग ६ साल (सन् १२३६ ई० से १२४५ ई० तक) आनन्द-भोग किया। यह कहा जाता है कि दिल्ली सम्राट् के विरुद्ध तिरहुत के राजा ने विद्रोह का ध्वज-उत्तोलित किया। इसलिए तुघरल खाँ ने उस राजा के विरुद्ध अभियान कर उसे कैद कर लिया और वहाँ से बहुत-सा माल लूटा।^२ मुहम्मद इलियास रहमनी का कथन है कि नरसिंहदेव सन् १२४४ ई० में चंगेज खाँ के बंगाल-अभियान के समय दिल्ली-सम्राट् अलाउद्दीन मसूद शाह की ओर से बहादुरी से लड़ा। उसके शौर्य से प्रसन्न होकर अलाउद्दीन मसूद शाह ने मिथिला का राज्य प्रदान कर दिया। और उसे सीधे शाही खजाने को कर देने को कहा गया। परन्तु मिन्हज कृत 'तबकत-इ-नासिरी'; गुलाम हुसेन सलीम कृत 'रियजुस्सलतिन' तत्कालीन मुसलिम ऐतिहासिक ग्रन्थों में मैथिल राजा के विद्रोह का उल्लेख नहीं मिलता। और तुघरल के इस प्रदेश पर अभियान के वर्ष से स्पष्ट है कि तब मिथिला के सिंहासन पर नरसिंहदेव नहीं, रामसिंह देव आसीन था। तुघरल ने तिरहुत में सफल अभियान किया जिससे उसे अत्यधिक लूट-खसोट का माल मिला, परन्तु तिरहुत-राज की प्रणति नहीं। उसने अपने सैन्य का बंगाल में मुसलमानी साम्राज्य (जो कि गियासुद्दीन खिलजी उवज की मृत्यु के बाद से स्थायी रहा था) को बढ़ाने में उपयोग नहीं किया।^३ इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मिथिला के कर्णाट लोग मुसलमानों की अनुचित और अनैतिक लूट-खसोट पर होने वाले उनके अभियानों के मध्य भी अपनी राजनयिक स्वतन्त्रता को बनाए हुए थे।

इस काल में दिल्ली सिंहासन के इर्द-गिर्द षड्यन्त्र और विद्रोह होते ही रहते थे। सन् १२५६ ई० में बलबन को इस केन्द्रीय सिंहासन का लाभ हुआ। और उसने मलिक मसूद जनी को खदेड़ कर तिरहुत तक कब्जा कर लिया। उन्हीं दिनों सुलतान मघीसुद्दीन ने शासकहीन अवध को हथियाकर लखनौती और बिहार में अपना स्वतन्त्र

१. ऐनल्स, भाग ३५, पृ० ११०

२. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० ४६

३. बही, पृ० ४६, ७६

शासन स्थापित किया परन्तु सन् १२५७ ई० में कामरूप में उसका दुःखद अन्त हो गया।

बिहार में उपलब्ध बारहदरी के अभिलेख से ज्ञात होता है कि ताजुद्दीन अर्से-लान खाँ का बिहार और लखनौती में स्वतन्त्र प्रभुत्व था। वह आठ मार्च सन् १२६५ ई० में मरा। उसका बेटा तातार खाँ भी इस प्रदेश का स्वाधीन शासक था जो कि सम्भवतः बलबन के सत्तारूढ़ होने के २ वर्ष बाद गुजर गया। इसकी मृत्यु के बाद लखनौती पुनः दिल्ली-साम्राज्य का अंग बन गया। मुंगेर में उपलब्ध बलबन के अभिलेख से पता चलता है कि बलबन ने अब बिहार को बंगाल से पृथक् कर दिया था और वहाँ एक शाही शासक नियुक्त कर दिया था।

सुलतान गियासुद्दीन बलबन पंजाब में होनेवाले मंगोल अभियान से जब निपट चुका तो उसने चाहा कि बंगाल का सुलतान मघीसुद्दीन तुघलक उसकी प्रभुता स्वीकार करे। उसने इस शाही फरमान का जवाब सेनाओं के कूच से दिया। वह उस समय स्वतन्त्र खिताब रखता था और सिक्के आदि भी चलाता था।^१ सन् १२७८ ई० में दिल्ली से बलबन की शाही सेनाएँ तिरहुत के रास्ते उसकी ओर बढ़ीं। तिरहुत और लखनौती के बीच बंगाल की सेना ने शाही सेना की गति रोक दी। शाही सेना हिन्दुओं के द्वारा बुरी तरह पराजित हुई और लूटी गई। दिल्ली की ओर से सन् १२७६ ई० में अवध के गवर्नर एलियास मलिक शिहबुद्दीन या मलिक बहादुर के नेतृत्व में एक दूसरी फौज तिरहुत के रास्ते लखनौती को भेजी गई। इस बार भी शाही सेना बुरी तरह हारी। अब बलबन स्वयं फौज को लेकर पहुँचा। इस बार सुलतान मघीसुद्दीन तुघलक परास्त हुआ और मारा गया।^२ इस प्रकार अनेक वर्षों तक तिरहुत आगे बढ़ती हुई और पीछे भागती हुई सेनाओं का रंगस्थल रहा।

सन् १२८६ ई० में बलबन-पुत्र और उत्तराधिकारी सुलतान नासिरुद्दीन बघरा खाँ एक बड़ी फौज लेकर अपने विद्रोही पुत्र सुलतान कैकबद या कैकौस (एलियास खनउद्दीन) को दण्डित करने के उद्देश्य से बिहार में घुसा। नासिरुद्दीन ने बिहार को हस्तगत कर वहाँ फिरोजएतिगिन को गवर्नर नियुक्त कर दिया।

सुलतान खनुद्दीन कैकौस (सन् १२६१-१३०१ ई०) कम से कम आठ साल तक बिहार और बंगाल के स्वतन्त्र शासक के रूप में मान्य रहा। यह बात लखनौती में उपलब्ध सिक्कों के आधार पर प्रमाणित हो जाती है।^३

फिरोज एतिगिन एलियास सुलतान शम्सुद्दीन फिरोजशाह ने कैकौस की मृत्यु के बाद लखनौती को कब्जा लिया। उसने बिहार का शासन अपने पुत्र ताजुद्दीन हातिम खाँ को सौंप कर अपने विश्वस्त सेवक जियाउद्दीन उलुघ खाँ को मुंगेर से सातगाँव को स्थानान्तरित कर दिया। उसने अड़ौस-पड़ौस के हिन्दू-राज्यों से बहादुरी के साथ लड़ाई लड़ी।^४ शम्सुद्दीन फिरोज ने समस्त बिहार लखनौती, सातगाँव

१. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० ६०

२. वही, पृ० ६७

३. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, सन् १८७३ ई०, पृ० २४६-२४७

४. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० ७७-७८

और बंग (सोनारगाँव) पर सन् १३०७ ई० तक शान्तिपूर्वक राज्य किया।^१ इसका किसी मैथिल सम्राट से टाकरा हुआ इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं उपलब्ध होता।

कर्णाटवंश के अन्तिम सम्राट हरिसिंहदेव के राजत्व में फिर से मुसलिम आक्रमण मिथिला पर देखे जाते हैं। 'सुगतिसोपान' ग्रन्थ में परिचयात्मक श्लोकसंख्या ४ में तत्कालीन स्थिति का सुन्दर चित्र अंकित हुआ है। 'दान रत्नाकर' के एक श्लोक में कहा गया है कि मिथिला म्लेच्छों के सागर में विलीन हो रहा था। चण्डेश्वर और ज्योतिरीश्वर दोनों ही मैथिल प्राचीन पण्डितों ने लिखा है कि हरिसिंह ने कुछ मुसलिम बादशाहों को हराया था।^२ वह मिथिला पर जबरदस्ती करनेवाले मुसलिम शासकों से उसे वापिस लेने में समर्थ था। उक्त मुसलिम आक्रान्ता को मिथिला से भगा देने के बाद ही 'दान रत्नाकर' और 'धूर्त समागम' के कथानक गूँथे गए। यहाँ भगाये जानेवाला बादशाह सम्भवतः बंगाल का बहादुरशाह था। शाही फौज की दिल्ली से रवानगी सुनकर जब बहादुरशाह 'सोनारगाँव' लौट गया था तो नसीरुद्दीन ने शाही फौज से तिरहुत में मिल कर उसकी मदद की थी और बाद में उसकी अधीनता में लखनौती गया और वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया दिल्ली के बादशाह गियासुद्दीन द्वारा।^३

गियासुद्दीन तुगलक का पूर्वी-भारत-अभियान इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। समसामयिक मुसलिम इतिहासकारों ने उसका वर्णन किया है। तिरहुत और बंगाल-विजय के उद्देश्य को लेकर वह सन् १३२४ ई० के जनवरी मास में रवाना हुआ। हरिसिंह उसके साथ खूब जोर-शोर से लड़ा परन्तु भाग्य ने उसका साथ न दिया। वह पूर्णतया परास्त हुआ और तिरहुत के किले का पतन होने पर वहाँ से भाग खड़ा हुआ और नेपाल पहुँचा। तब नेपाल की घाटी का प्रवेश विजित कर वह वहीं बस गया।^४ हरिसिंहदेव के नेपाल-पलायन से मिथिला में हिन्दू स्वातन्त्र्य की अन्तिम भलक (जो कर्णाटवंशी राजत्व में थी) तिरोहित हो चली और अब तिरहुत में एक शाही टकसाल तुगलकपुर उर्फ तिरहुत नाम से खुल गई।^५

हरिसिंह के नेपाल-पलायन से मिथिला के इतिहास में नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। गियासुद्दीन तुगलक ने बिहार को बंगाल से पृथक कर दिया। तिरहुत को पृथक से एक प्रान्त बना दिया जिसकी राजधानी दरभंगा या तुगलकपुर बनाई। शाही हुकम से वहाँ एक जामा मस्जिद और किला भी बनाया गया।

लगभग सवा दो-सौ साल तक स्वच्छन्दता और शान्तिपूर्वक रहने के बाद मिथिला में फिर से दुर्दिन छा गया। दरभंगा मुसलिम गवर्नरों (जो कि दिल्ली सम्राट

१. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० ८०-८१

२. नेपाल दरबार कैंटेलोग, पृ० ६६

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १३३-१३४; हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० ८४

४. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग ४, पृ० १२४

५. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० ८४

की ओर से शासन-व्यवस्था के साथ-साथ कर वसूल करते थे) का अड़्डा बन गया। सन् १३४० या १३५३ ई० में मिथिला का साम्राज्य कामेश्वर ठाकुर को सौंपा गया जोकि ठाकुर या ओइनवार वंश का संस्थापक बना जिस वंश ने इस भूमि पर लगभग दो शताब्दियों तक या १६वीं शती के मध्य तक शासन किया।^१

बंगाल के सिंहासन पर शम्सुद्दीन हाजी इलियास शाह (सन् १३४२-१३५७ ई०) का आसीन होना उस समय की महत्त्वपूर्ण घटना है। उस समय दिल्ली सम्राट मुहम्मद बिन तुगलक की हिंसात्मक नीति से और राज्य-व्यवस्था के सुसंगठित न होने से समस्त उत्तर-भारत अस्थिर था। अलाहाबाद और बहराइच से पूर्व के हिन्दू-सरदार विशेषकर गोरखपुर, चम्पारन और तिरहुत ने शाही-मैत्री से विमुख हो स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी। परन्तु उनमें एकता का अभाव था। दिल्ली सल्तनत की प्रभावहीनता और हिन्दू राजाओं के बीच मत-वैभिन्य ने इलियासशाह के भीतर राज्यसीमा-विस्तार की इच्छा को जगाया और उसी इच्छा का पहला शिकार तिरहुत राज्य बना।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि इन दिनों तिरहुत दो प्रतिद्वन्द्वी राजाओं द्वारा उपभुक्त होता था। हरिसिंह के उत्तराधिकारियों का शासन-पीठ सिमराँव में और गियासुद्दीन तुगलक द्वारा मनोनीत कामेश्वर का शासन-पीठ दरभंगा जिले में मधुबनी के समीप 'मुगौना' में था। इस प्रकार तिरहुत भीतर से छिन्न था। इसीलिये बंगाल के इलियासशाह को सन् १३४५ ई० में तिरहुत-विजय में किसी कठिनाई का सामना न करना पड़ा।^३

तिरहुत-विजय से उत्साहित हो कर सन् १३४६ ई० में उसने नेपाल को अपने राज्य में मिलाया। काठमांडू में वह अधिक नहीं ठहरा परन्तु उसने वहाँ लूट-खसोट काफी मचाई। तिरहुत से आगे बढ़कर उसने चम्पारन और गोरखपुर के राजाओं को भी अपने संरक्षण में ले लिया। कहा जाता है कि हाजी इलियासशाह ने तिरहुत को दो भागों में विभक्त कर दिया था और दोनों के बीच बहनेवाली बूढ़ी गण्डक को बाह्य सीमा निर्धारित किया था। वहाँ के हिन्दू राजा कामेश्वर ने इस विभाजन के विरुद्ध आवाज उठाई। परन्तु भयभीत हो उसे चुप साधनी पड़ी। इस प्रकार इलियास के नियन्त्रण में नेपाल तराई से लेकर बेगूसराय तक का प्रदेश था। गण्डक नदी के किनारे उसने शम्सुद्दीनपुर (जिसे अब 'समस्तिपुर' कहते हैं) नामक नगर बसाया। गण्डक और गंगा के संगम पर उसने अपने नाम से 'हाजीपुर' नामक नगर भी बसाया एक लम्बे अर्से तक हाजीपुर बंगाल के बादशाहों का मुख्य अड़्डा बना रहा।^४

हाजी इलियास की अप्रत्याशित विजय और प्रतिष्ठा ने तत्कालीन दिल्ली के सुलतान फिरोज तुगलक को चमत्कृत कर दिया। उसने उसे दण्डित करने का निश्चय

१. एस० एन० सिंह, 'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत', पृ० ८५

२. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० १०३

३. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग २, पृ० १०३-१०४; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १७६

४. एनल्स भाग ३५, पृ० १२०; डिस्ट्रिक्ट मुजफ्फपुर गजेटियर, पृ० २०

किया क्योंकि उसने अब तक दिल्ली के सीमावर्ती अनेक प्रदेश हस्तगत कर लिये थे ।

बंगाल या लखनौती के विरुद्ध फ़ीरोज़ तुग़लक ने सन् १३५३ ई० के नवम्बर मास में प्रयाण किया । रास्ते में पड़नेवाले गोरखपुर, कश्श या चम्पारन और तिरहुत के राजाओं ने दिल्ली सम्राट का आतिथ्य किया और उसकी प्रभुता का अंगीकार किया । दिल्ली-सुलतान का आगमन सुनकर इलियास तिरहुत से हटकर पंडुआ और पंडुआ से हटकर एकडला चला गया । बादशाह ने उसका पीछा किया और बाद में इलियास पराजित हुआ । वर्षाकाल उपस्थित होने पर फ़ीरोज़ सन् १३५४ ई० में दिल्ली वापिस आ गया ।^१

फ़ीरोज़ तुग़लक ने तिरहुत को पुनः संगठित किया और उसे कामेश्वर के पुत्र भोगीश्वर को सौंप दिया । कहा जाता है कि सन् १३५३ ई० में कामेश्वर फ़ीरोज़ द्वारा सिंहासन से च्युन किये गये । प्रसिद्ध इतिहासकार बर्नी ने कामेश्वर और फ़ीरोज़ की भेंट का ज़िक्र किया है परन्तु कामेश्वर के पदच्युन होने का उल्लेख नहीं दिया । तथापि फ़ीरोज़ के दिल्ली-प्रस्थान के दिन तिरहुत में काजी और कलक्टरों की नियुक्ति हुई इसका उल्लेख मिलता है ।^२ दिल्ली-सुलतान के इस व्यवहार से स्पष्ट है कि उसे कामेश्वर में तब विश्वास नहीं रहा था । इसलिए यहाँ का सामन्त भोगीश्वर को नियुक्त किया गया । तुग़लक-आक्रमण के बाद से मिथिला के प्रायः सभी सम्राट दिल्ली सिंहासन के अधीन होकर रहे । तिरहुत के हिन्दू सम्राट मुसलमानों के वार्षिक करद हो गए नाममात्र को ही; क्योंकि अपने भीतरी मामलों में वे क्रियात्मक रूप से पूर्णतः स्वतन्त्र और स्वच्छन्द थे ।^३

विद्यापति-युगीन मिथिला और उत्तर भारत

जार्ज ग्रियर्सन ने पन्द्रहवीं शती के प्रथमार्द्ध को विद्यापति का युग माना है । सन् १९३५ में प्रकाशित 'पुरुष परीक्षा' के अंग्रेजी अनुवाद-प्रसंग में उन्होंने लिखा है— "विद्यापति फ़्लोरिड एण्ड वाञ्छ ए सेलिब्रेटेड ऑयर ड्यूनिंग एट लीस्ट द फ़र्स्ट हाफ़ ऑफ़ द फ़िफ़्टीन्थ सेन्चुरी"^४ । इस समय से कुछ पूर्व की और कुछ बाद के काल की भी विद्यापति की रचनायें उपलब्ध होती हैं परन्तु ये पचास वर्ष उनकी रचना का श्रेष्ठ युग रूप से स्वीकृत हैं ।

दिल्लीगत तुग़लक वंश के प्रतिष्ठाता गियासुद्दीन तुग़लक ने सन् १३२४ ई० के २५ दिसम्बर को मिथिला के कर्णट वंशीय सम्राट हरिसिंहदेव को पराजित करके तिरहुत को दिल्ली साम्राज्य में मिला लिया^५ । सभझना चाहिये कि इस समय में

१. हिस्ट्री ऑफ़ बंगाल, भाग २, पृ० १०५; हिस्ट्री ऑफ़ तिरहुत, पृ० ८५-८६

२. डिस्ट्रिक्ट मुजफ़्फ़रपुर गजेटियर, पृ० २०; गुलाम हुसैन सलीम कृत रियजुससलतिन, पृ० १०० को पाद टिप्पणी ३

३. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ मिथिला' पृ० ४०९

४. ग्रियर्सन अनूदित 'पुरुष परीक्षा' पृ० ११

५. डा० के० पी० जायसवाल सम्पादित 'राजनैति रत्नाकर' भूमिका, पृ० १३

तिरहुत की स्वाधीनता की अक्षुण्णता जाती रही। तिरहुत में तुगलक साम्राज्य का एक टकसाल स्थापित हुआ। और उस नगर का नाम तुगलकपुर उर्फ तिरहुत पड़ा। चम्पारन जिले के समीपस्थ और वर्तमान नेपाल राज्य के अन्तर्भुक्त सिमराओन परगने के सिमराओनगढ़ की दुर्ग शोभित राजधानी से भागकर हरिसिंहदेव ने नेपाल पहुँच कर कुछ दिन राज्य किया। तब गियामुद्दीन तुगलक ने हरिसिंहदेव के गुरुवंश के कामेश्वर ठाकुर को तिरहुत में सामन्तराज नियुक्त किया। कामेश्वर ने दरभंगा जिलागत मधुबनी मुहकमे के अन्तर्भुक्त सुगौना नामक स्थान पर मुख्य नगरी स्थापित की।

मुहम्मद बिन तुगलक (सन् १३२५-१३५१ ई०) के शासन के अन्तिम दिनों में राजनयिक विशृंखलता का सुयोग पाकर पूर्वी भारत में अनेक हिन्दू और मुसलमान सामन्तों एवं शासकों ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कामेश्वर ने भी ऐसी कोई घोषणा की अथवा नहीं। परन्तु सन् १३४५-१३४६ ई० में गौड़ाधिपति सुलतान शम्सुद्दीन इलियास शाह (सन् १३४२-५७ ई०) ने तिरहुत-जय के बाद नेपाल पर भी चढ़ाई की। नेपाल से लौटने पर उसने उड़ीसा की चिल्का झील तक विजयाभियान किया और उसके बाद चम्पारन और गोरखपुर भी जीत लिये।

सम्भवतः इस काल में ही चम्पारन और गोरखपुर के राजाओं की भाँति कामेश्वर ने भी शम्सुद्दीन इलियास शाह का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। जिसके कारण दिल्ली सम्राट् फिरोज तुगलक (सन् १३५१-८१ ई०) ने जब १३५४ ई० में अन्तर्वेद और अयोध्या से कुशी तक के भूभाग पर पुनराधिकार किया, विशेषतः गोरखपुर, कुरुश और तिरहुत के राजाओं का दमन किया तब कामेश्वर को हटाकर उसके पुत्र भोगीश्वर को तिरहुत-सामन्त बनाया।

फिरोज तुगलक के शासन के अन्तिम दिनों में दिल्ली-साम्राज्य-विघटन के समय विरोधी हिन्दू और मुसलमान नरेशों ने केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध पुनः अपना सिर उठाया। राजनयिक विशृंखलता के इस युग में अर्सलान नामक एक व्यक्ति ने भोगीश्वर के भाई और उत्तराधिकारी गणेश अथवा गणेश्वर की लक्ष्मण संवत् २५२ अथवा सन् १३७१-१३७२ ई० में हत्या कर दी। परन्तु राज्यलुब्धक अर्सलान कौन था, कहाँ का था आदि प्रश्न अभी तक नहीं सुलभ पाये हैं। परन्तु विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' से मालूम होता है कि वह राज्यलोलुप अर्सलान इब्राहिमशाह शर्की के जौनपुर के सिंहासन पर आरोढ़ होने के एक-दो वर्ष बाद तक अर्थात् सन् १४०२-१४०३ ई० तक मिथिला के एक अंश पर आधिपत्य बनाये हुए था। इब्राहिमशाह के तिरहुत-अभियान के समय कीर्तिसिंह ने अर्सलान को द्वन्द्व युद्ध में परास्त किया।

१. 'हिस्ट्री ऑफ बंगाल', भाग २, पृ० १०४-१०५

२. डिस्ट्रिक्ट दरभंगा गजेटियर सन् १९०७ ई०, पृ० १७

३. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला' पृ० ४१०; मजूमदार, 'विद्यापति' पृ० ३०

सन् १३७२ ई० से लेकर लगभग सन् १४०२ ई० तक मिथिला में जो अराजकता की अवस्था रही उसका सुन्दर चित्र विद्यापति की 'कीर्तिलता' में उपलब्ध होता है—

ठाकुरठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ ।
दास गोसाअनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ ॥
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहि होइ विचारक ।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कां पारक ॥
अक्खर रस बुज्झनिहार नहि, कइकुल भमिभिखारि भउं ।
तिरहुति तिरोहित सब्ब गुणो राए गणोस जवे सगग गउं ॥^१

अर्थात् जब गणोस राय स्वर्ग गये तब ठाकुर ठग हो गये, चोरों ने जबरन घर हथिया लिये, नौकरों ने स्वामियों को बन्धन में डाल दिया, धर्म जाता रहा, धन्धा डूब गया, दुष्ट सज्जन का पराभव करने लगे, विचारक मिट गये, जाति-कुजाति में विवाह होने लगे, अधम-उत्तम का भेद समझने वाला कोई न रहा। पण्डित साक्षर भी कोई नहीं मिलता था, कविकुल घूम-घूम कर भिखारी हो गया। तिरहुत के सब गुण तिरोहित हो गये।

इस प्रदेश की यह दुरवस्था दो-चार वर्षों में ही गयी हो ऐसी बात नहीं है अपितु विद्यापति कृत उस वर्णन को पढ़ कर तो लगता है कि एक लम्बे अर्से तक वहाँ अराजकता और विशृंखलता का बोलबाला रहा। सच तो यह है कि सन् १३८८ ईस्वी में सुलतान फिरोजशाह तुगलक की मृत्यु के बाद केवल बंगाल को छोड़ कर उत्तर-भारत में सर्वत्र घोर अशान्ति रही है। दिल्ली का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इस अशान्त वातावरण में ही पूर्वी भारत में एक राज्य स्थापित हो गया, जो अपने जीवन काल में दिल्ली के सिंहासन से बराबर टक्कर लेता रहा और मुसलमान होते हुए भी जो चिरकाल तक साहित्य, कला और संस्कृति को संरक्षण प्रदान करता रहा। इतिहास में यह राज्य जौनपुर के शर्की-साम्राज्य के नाम से विख्यात है।

जौनपुर के ऐतिहासिक महत्त्व की अनेक प्राचीन इमारतों और प्रासादों तथा गढ़ों के ध्वंसावशेष देखकर हम इस नगर के गौरवपूर्ण अतीत की कल्पना आज भी सहज में ही कर सकते हैं। दसवीं शती के अनन्तर गहरवार वंशीय राजाओं के उत्कर्ष-काल से जौनपुर का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इससे पूर्व की ऐतिहासिक सामग्री कतिपय प्राचीनतम प्रमाणों, किंवदन्तियों और पौराणिक स्थापनाओं पर निर्भर करती है^२।

राजनयिक अशान्तियों के मध्य भी यहाँ साहित्यिक अथवा शास्त्रीय चर्चा का स्वर मन्द नहीं पड़ा था। 'मन की बेदर बेसिया' में लिखा है कि जब सन् १३२१ ई०

१. बाबूराम सक्सेना सम्पादित 'कीर्तिलता', द्वितीय पल्लव, पृष्ठ १६

२. 'त्रिपथगा' फरवरी १९५७ ई०, पृ० ६६; डा० ईश्वरी प्रसाद, पृ० १४०-१४२

में गयासुद्दीन तुगलक ने अपने बेटे शाहजादा जफर को आसनीगढ़ को जीतने के लिये भेजा तो तत्कालीन राजा शक्तिसिंह ने शाहजादा जफर से युद्ध करने के बजाय एक धार्मिक शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। दोनों पक्षों ने यह निश्चित किया कि शास्त्रार्थ की हार-जीत वास्तविक हार-जीत समझी जाय। शक्तिसिंह की ओर से शास्त्रार्थ के लिये जोगी जयपाल, पालनाथ वीर और पण्डित बालदत्त तीन प्रतिनिधि चुने गये। शाहजादा जफर की ओर से सैयद असउद्दीन, मखडम आफनाबे हिन्द और मौलवी बहराम नियुक्त हुए। कई दिनों तक इन दोनों पक्षों ने धार्मिक शास्त्रार्थ किया। अन्त में शक्तिसिंह के प्रतिनिधि पराजित हो गये और वह किला छोड़ कर भाग खड़ा हुआ। आसनीगढ़ शाहजादा जफर के हाथ में आ गया। जफर ने मनइछ (प्रचलित तत्कालीन स्थानीय नाम) का नाम बदल कर अपने नाम के अनुसार जफराबाद कर दिया जो आजतक प्रचलित है। जफराबाद में आसनीगढ़ का विशाल ध्वंसावशेष आज भी अपने गौरवपूर्ण अतीत की समाधि पर सिसक रहा है।

वर्तमान जौनपुर के निर्माण का महत्त्वपूर्ण अध्याय तुगलक-काल से प्रारम्भ होता है। सन् १३५६ ई० में जब फ़ीरोज़शाह बंगाल के सिकंदरशाह के विरुद्ध द्वितीय अभियान के सिलसिले में वर्षा ऋतु में इधर से गुजरा तो गोमती के आंचल में बसे इस सुन्दर नगर को देख कर मुग्ध हो गया। बंगाल विषयक सैनिक गतिविधियों को ध्यान में रखते हुए उसने इस नगर के नवनिर्माण के लिये शाही फरमान जारी किया और शाहजादा मोहम्मदबिन तुगलक उर्फ जूना खाँ के नाम पर इस नगर का नाम जूनापुर रखा जो कालान्तर में जौनपुर हो गया। फिरिश्ता के अनुसार जौनपुर का निर्माण काल ६६५ हिजरी संवत् है। फ़ीरोज़शाह के शासनकाल सन् १३७६ ई० में यहाँ की प्रसिद्ध अटाला मसजिद की नींव पड़ी। फ़ीरोज़शाह ने जफराबाद का नाम शहरेजनवर रखा लेकिन यह नाम चल नहीं सका।^१

सन् १३८८ ई० में फ़ीरोज़शाह की मृत्यु के बाद जौनपुर के इतिहास में तब तक कोई विशेष घटना नहीं घटित हुई जब तक कि सरवर नामक एक शिखण्डी ने अपनी शक्ति से सबको चमत्कृत न कर दिया। राजनयिक क्षेत्र में यह व्यक्ति ख्वाजाजहाँ के नाम से प्रसिद्ध है। ख्वाजाजहाँ की उपाधि उसने सन् १३८९ ई० में प्राप्त की थी और उसके साथ ही वजीर की पदवी भी। यह सब उसे फ़ीरोज़शाह के पश्चात् उसके बेटे नसीर-उद्दीन मुहम्मदशाह-बिन-फ़ीरोज़ तुगलक से प्राप्त हुआ था। तत्कालीन दिल्ली सम्राट मुहम्मद तुगलक ने १३९४ ई० में ख्वाजाजहाँ को उसके प्रशासन और युद्ध-कौशलदि से प्रसन्न हो कर 'मलिक-उस्-शर्क' की उपाधि प्रदान की और कन्नौज से लेकर बिहार तक का भारतवर्ष उसके सुपुर्द कर दिया। थोड़े ही समय में उसने कन्नौज, कार, अवध, सण्डीला, डालामऊ, बहराइच, बिहार और तिरहुत का प्रदेश हस्तगत कर लिया, यहाँ के हिन्दू सामन्तों को करद बना लिया। इस मलिक-उस्-शर्क की शक्ति इतनी बढ़ी कि जाजनगर और लखनौ की शासक

भी अपने उपहार अब दिल्ली न भेज कर इसकी सेवा में भेजने लगे। सरवरखाजा-जहाँ 'मलिक-उस्-शर्क' से ही 'शर्की-वंश' चला और सचमुच इस वंश के बादशाहों ने जौनपुर को एक समृद्धिशाली स्वरूप दिया और अच्छी से अच्छी इमारतों का निर्माण कराया, इस वंश के शासन-काल से जौनपुर का ऐतिहासिक किला भी बन कर तैयार हुआ और सन् १४०८ ई० में इब्राहिमशाह शर्की के समय से अटाला मसजिद का निर्माण कार्य भी पूरा हुआ। वस्तुतः शर्की शासन काल में जौनपुर कला और संस्कृति के विकास की चरम सीमा पर था और यह नगर हिन्दुस्तान की सभ्यता, कला-कौशल और विद्या का केन्द्र समझा जाता था। इसी काल में मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति जौनपुर आये और उन्होंने अपने काव्य 'कीर्तिलता' में जौनपुर के तत्कालीन वैभव-विलास का बड़ा ही विशद वर्णन लिखा है—

“तं खने पेक्खिअ न अर सो जोनापुर तसुनाम ।

लोअन केरा वल्लहा लच्छी के विसराम ॥

छन्द-गीतिका

पेष्खिअउ पट्टन चारु मेषल जन्नीन नीर पषारिआ ।

पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर ढारिआ ॥

पल्लविअ कुसुमिअ फलिअ उपवन चूअ चम्पक सोहिआ ।

मअरन्तपाण विमुद्ध महअर सद् मानस मोहिआ ॥

... ..

सम्मान दान विवाह उच्छवगीय नाटक कव्वहीं ।

आतिथ्य विनअ विवेक कौतुक समय पेल्लअ सब्वहीं ॥

पज्जटइ पेल्लइ हसइ हेरइ सथ्य सथ्यहि जाइआ ।

मातंग तुंग तुरंग ठट्टहि उवटि वट्ट न पाइआ ॥”

अर्थात् उसी समय एक नगर दिखाई पड़ा, उसका नाम था जौनपुर। वह आँखों के लिये प्रिय था और सम्पत्ति का विश्राम स्थान था। यवनपुर देखने में सुन्दर था, नीर-प्रक्षालित सुन्दर मेखला से विभूषित था। दीवार में पत्थर का फर्श, भीतर-भीतर जल के बाहर निकल जाने का रास्ता। उपवन, फूल, फल, पत्ती से हरा भरा, आम और चम्पक वृक्षों से सुशोभित। मकरन्दगान करने के कारण मतवाले औरों की गूँज मन को मोह लेती थी... पुष्करिणी और सुन्दर-सुन्दर भवन थे।... श्वेतध्वजा युक्त सुवर्ण कलशों से सुशोभित हजारों शिवालय दिखाई देते थे। स्थल कमलिनी के पत्ते के समान बड़ी आँखों वाली कामिनियाँ, मतवाले हाथी के समान गतिवाली चौरास्ते पर फिर-फिर कर जाते हुए मनुष्यों के भुण्डों को देखती थीं।... सब लोग सम्मान, दान, विवाह, उत्सव, गीत, नाटक, काव्य, आतिथ्य, विनय, कौतुक में समय बिताते थे। भुण्ड के भुण्ड मनुष्य घूमते थे, खेलते थे, हँसते थे,

१. डा० ईश्वरी प्रसाद, 'ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ मुसलिम रूल इन इण्डिया', पृ० १४१

२. डा० बाबूराम सकसेना सम्पादित 'कीर्तिलता', द्वितीय पल्लव, पृ० २६-२८

देखते थे और साथ-साथ चले जाते थे। हाथी और ऊँचे-ऊँचे घोड़ों के बीच रास्ता नहीं मिलता था।

शर्की शासनकाल में जौनपुर की ख्याति देशविदेश में फैली हुई थी। संस्कृति, सम्यता, कला-कौशल और विद्या-वैभव की दृष्टि से देश में इस नगर का महत्त्वपूर्ण स्थान था। विभिन्न कलाओं के अध्ययन के केन्द्र के रूप में इस नगर की ख्याति विदेशों में भी थी और दूर-दूर के विद्यार्थी यहाँ जानार्जन के लिये आते थे। इस दृष्टि से जौनपुर 'शीराजेहिन्द' कहलाता था। 'शीराजेहिन्द' जौनपुर उस समय देश के किसी भी सांस्कृतिक और राजनयिक केन्द्र से आगे था। इतिहास-प्रसिद्ध शेरशाह की शिक्षा-दीक्षा यहाँ की अटाला मसजिद में सम्पन्न हुई थी और भूमिप्रबन्ध की ऐतिहासिक दक्षता भी शेरशाह ने जौनपुर में ही प्राप्त की थी। उस समय जौनपुर का न्याय, शासन सम्बन्धी ज्ञान, स्थापत्यकला का चरम विकास अद्वितीय था। जौनपुर के काजी, मुल्ला, मुपती, साहित्यकार और कवि बेजोड़ थे। उस समय सूफी-साहित्य के अनेक विचारकों ने ऐसे ग्रन्थ प्रस्तुत किये जो आज भी बहुमूल्य थाती समझे जाते हैं। जौनपुर के शर्की-वंश के राजाओं में सर्वाधिक गुणी और उल्लेख योग्य इब्राहिम हुआ। यह शम्सुद्दीन-इब्राहिम शाह शर्की के नाम से विख्यात हुआ। इब्राहिम कला और विद्या का बड़ा अनुरागी था। उसने उस समय के प्रमुख देश-विदेश के विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया जिन्होंने जौनपुर को पूर्वी भारत के प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र के रूप में बदल दिया।

सन् १३६२ से १४०२ ई० तक का समय मिथिला के इतिहास में संक्रमण-काल था। मुसलिम आक्रमणों का दौर चल रहा था। चिरकाल तक यहाँ विप्लव और विशृंखलता का साम्राज्य रहा। मलिक सरवर ख्वाजाजहाँ के तिरहुत में बढ़ते हुए प्रभाव से भयभीत होकर मिथिलावासी कामेश्वर वंश के लोगों ने पहले बंगाल के सुलतान गियासुद्दीन आजमशाह और उसके बाद दिल्ली के सुलतान नसर-तखान की सहायता से असलान के कवल से मिथिला के उद्धार की चेष्टा की थी। इस चेष्टा का निदर्शन विद्यापति के पद की भणित में इन दोनों नरपतियों के नामो-ल्लेख में पाया जाता है। गणेश्वर की मृत्यु के समय बी-सिंह और कीर्तिसिंह शायद नितान्त शिशु थे। जब उनकी उम्र ३०-३२ वर्षों की हुई, वे पितृराज्य का उद्धार करने के लिये जौनपुर जाकर इब्राहिम के शरणार्पण हुए।

फ़िरोज के पीछे दिल्ली सल्तनत क्षीण हो गई। उसके उत्तराधिकारी परस्पर की कलह से कमजोर पड़ गये। मध्य एशिया में तैमूर के नेतृत्व में तुर्क फिर उठे और १३७० ई० में उन्होंने मंगोल-राज्यों की सफाई कर दी। सन् १३६८ ई० में तैमूर ने दिल्ली पर चढ़ाई की और उसे लूटा। सन् १३६४ ई० में जब सुलतान फ़िरोज के पुत्र सुलतान मुहम्मदशाह की मृत्यु हुई तब उसका एक पुत्र केवल ४६ दिन राज्य करके मृत्यु के मुख में गिर गया। उसका दूसरा पुत्र महमूद नासिरुद्दीन 'महमूद' की उपाधि धारण कर सुलतान हुआ, किन्तु अमीर और मालिकों ने फतेखा के पुत्र

और फ़िरोज के पौत्र नसरतखाँ को सुलतान घोषित कर दिया । उसका नाम हुआ सुलतान नासिरउद्दीन नसरतशाह । 'तारीख-इ मुबारकशाही' में देखा जाता है कि नसरतखाँ ने दोआब के जिलों और मण्डलों, पानीपत, भुज्जर और रोहतक पर अपना अधिकार जमाना शुरू किया और महमूद के अधीन दिल्ली के आसपास का कुछ भूमिखण्ड रह गया ।^१ अबसर पाकर ख्वाजा जहाँ कलिक-उस्-शर्क ने जौनपुर की स्वाधीनता की घोषणा कर दी । गुजरात, मालवा और खानदेश ने दिल्ली की अधीनता त्याग दी । महमूद की जो क्षमता बची-खुची थी वह भी सन् १३६८ ई० में तैमूर के आक्रमण के फलस्वरूप नष्ट हो गई । सन् १३६९ ई० में मार्च मास में तैमूर समरकन्द लौट गया तब नसरत खाँ ने दोआब से चलकर मेरठ और वहाँ से दिल्ली पर अधिकार कर लिया । किन्तु कुछ ही महीनों में वह इकबाल द्वारा पराजित हुआ और मेवात में मृत्यु को प्राप्त हुआ । इस समय की राजनीतिक अवस्था का वर्णन करते हुए 'तारीख-ए-मुबारकशाही' का ग्रन्थकार कहता है कि गुजरात और उसके पार्श्ववर्ती देश जाफरखाँ वाज़िबुल मुल्क के हाथ में थे; सुलतान, दीपलपुर और सिन्ध के अश विशेष मसनद अली खिज़्रखाँ के अधीन थे; महोबा और कालपी महमूदखाँ के अधिकार में थे, कन्नौज, अयोध्या, आगरा, दालामऊ, सण्डीला, बहराइच, बिहार और जौनपुर ख्वाजा जहाँ के अधीन थे; धार दिलावर खाँ के अधीन; समाना खलिब खाँ के अधीन था और बियाना शम्स खाँ उहादि के अधीन था । देश में राजनीतिक ऐक्य जरा भी न था । चलचित्र के दृश्यों की भाँति द्रुतगति से राजाओं, अमीरों और सुलतानों के भाग्य का परिवर्तन होता था । आज जो राजा है कल वह निर्वासित हो जाता था । किसी भी राज्य की सीमा स्थायी नहीं थी । इस प्रकार की राजनीतिक परिस्थिति में मिथिला में अराजकता होना और वीरसिंह और कीर्तिसिंह का जौनपुर जाकर इब्राहिम से सहायता की प्रार्थना करना जरा भी अस्वाभाविक नहीं है ।

इब्राहिमशाह शर्की सन् १४०१ ई० में जौनपुर के सिंहासन पर आरुढ़ हुआ । फिरिश्ता के अनुसार इब्राहिम सन् १४०५ ई० से सन् १४१६ ई० तक दिल्ली के साथ युद्ध में लगा था । संभवतः सन् १४०२ ई० से १४०४ ई० के बीच किसी समय इब्राहिम ने तिरहुत आकर कीर्तिसिंह को सामन्त-नृपति का पद प्रदान किया—

“बन्धवजन उच्छाह कर तिरहुति पाइअ रूप ।

पातिसाह जसु तिलक कर कितिसिंह भउं भूप ॥”^२

इस समय से लेकर लगभग सन् १४६० ई० तक तिरहुत जौनपुर का सामन्त-राज्य था ।^३ तत्कालीन राजनयिक परिस्थितियों से स्पष्ट है कि नवोदित इब्राहिमशाह शर्की (जो कि अपने उदयकाल से ही दिल्ली-साम्राज्य से जुझने लगा था) का ध्यान

१. 'जर्नल ऑफ बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' सन् १९२७ ई०, पृ० २६२

२. बाबूराम सक्सेना सम्पादित 'कीर्तिलता', पृ० ११४

३. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला', पृ० ४११

कुछ काल के लिये मिथिला या तिरहुत की ओर जो खींच सका वह महापुरुष था महाकवि विद्यापति । वह स्वयं पैरों चल कर गणेश्वर के उत्तराधिकारी वीरसिंह और कीर्तिसिंह के साथ मिथिला के उद्धार के उद्देश्य से उदार इब्राहिमशाह के दरबार में उपस्थित हुआ और अन्ततः अपने उद्देश्य में उन्हें सफलता मिली । इन पंक्तियों के लेखक के साथ हुए पत्र-व्यवहार में गणेशदत्त कालेज (बिहार) के इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्री राधाकृष्ण चौधरी ने लिखा—“विद्यापति वेन्ट टु जौनपुर टु रिक्वेस्ट इब्राहिम शर्की टु टेक नेसेसरी एक्शन अगेन्स्ट द सो-काल्ड मलिक असलान हू इज सेड टु हैव असर्ड्स द किंगडम ऑफ़ तिरहुत । आई बिलीव दैट द शर्कीज़ फ़ॉर सम टाइम डोमिनेटेड ओवर तिरहुत एज शर्की इन्स्क्रिप्शन्स एण्ड कॉइन्स हैव बीन डिस्कवर्ड फ़ॉम तिरहुत ।”

विद्यापति की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर विचरण करते हुए पता लगता है कि दिल्ली-साम्राज्य-विघटन के समय पूर्वी-भारत में प्रतिष्ठित जौनपुर के शर्की-साम्राज्य से मिथिला को जो समझौता करना पड़ा उसमें विद्यापति का प्रमुख हाथ था । प्रो० राधाकृष्ण चौधरी ने विद्यापति की राजनीतिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में एक अन्य पत्र में जो संक्षिप्त नोट लिखा वह इस प्रकार है :—“यस, इट इज ए फैक्ट दैट मिथिला वाज़ कम्पैरेटिवली फ्री इन द सैन्स दैट इट वाज़ ओल थ्रू ए ट्रिब्यूटरी स्टेट अप टु १५५६ ए०डी० एण्ड ईवन आफ्टर १५५६ इट्स ऑटोनॉमी वाज़ मोर मावर्ड—विद्यापति वाज़ अर्टैन्ड टु द ओइनवार, कोर्ट । फ़ॉम मिथिला रेकर्ड्स इट एपियर्स दैट विद्यापति प्लेड ए वेरी प्रामिनेन्ट रोल इन एस्टेब्लिशिंग रिलेशन्स बिट्वीन द शर्कीज़ एण्ड द ओइनवास । विद्यापतिज् ‘कीर्तिपताका’ इज नॉट अवेलेबल अदरवाइज मेनी मोर फैक्ट्स बुड कम टु लाइट । ‘कीर्तिलता’ इफ़ रेड विद ‘कीर्ति-पताका’ मे ओ सम मोर इल्युमिनेटिंग लाइट ऑन द प्रोब्लेम ।” सचमुच विद्यापति कृत ‘कीर्तिलता’ को उनकी ‘कीर्तिपताका’ (जो अभी सुलभ नहीं है) के साथ मिलाकर अध्ययन करने से इस बात की संभावना है कि वहाँ विद्यापति की मध्यस्थता में सम्पन्न शर्की-साम्राज्य और मिथिला के मध्य समझौता कब और कैसे हुआ था—यह बात प्रकाश में आ जाय ।

दिल्ली साम्राज्य की परिधि अत्यन्त संकीर्ण हो गई थी । मिथिला के शिवसिंह अथवा उसके परवर्ती किसी अन्य राजा का दिल्ली के साथ सम्बन्ध होने की कोई संभावना नहीं दीखती । इस समय में दिल्ली का अधिकार कन्नौज के पूर्व भाग में स्थापित हुआ ही नहीं था । इब्राहिमशाह शर्की तिरहुत के राजा शिवसिंह का सम-कालिक था । इब्राहिमशाह के भय से सैयद वंश का मुबारकशाह और उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह सन्नस्त थे । इब्राहिमशाह के पुत्र महमूदशाह (१४४०-१४५७ ई०) ने कई बार दिल्ली पर आक्रमण किया । सैयद वंश का अन्तिम सम्राट् शाह आलम (सन १४४४-१४५१ ई०) ने निरुपद्रव जीवन-यापन के उद्देश्य से दिल्ली छोड़कर सन् १४४८ ई० से बदायूँ में वास करना आरम्भ किया एवं जौनपुर के आक्रमण से आत्म-रक्षा को ध्यान में रखते हुए उसने महमूद शाह के कनिष्ठ पुत्र हुसेन के साथ अपनी बहिन ब्याह दी । उसे बदायूँ से लौटते न देखकर दिल्ली के अमीर-उमरावों

ने बहलोल लोदी को सिंहासन पर बिठा दिया। शाह आलम जैसे तुच्छ सम्राट् ने जौनपुर के सामन्त-राज्य तिरहुत के अधिपति शिवसिंह को बन्दी किया और विद्यापति अपनी पदरचना कर उसका उद्धार कर लाये होंगे इस प्रवाद में सत्य का अंश नहीं दिखाई देता। बहलोल लोदी महमूद के आक्रमण से इतना विपन्न हो गया था कि उसने यह सन्धि-प्रस्ताव भेजा था कि वह जौनपुर के सामन्त रूप में दिल्ली का शासन करने को तैयार है परन्तु महमूद ने इस प्रस्ताव को वापस भेज दिया। सन् १४५८ ई० में जौनपुर के चौथे सुलतान महमूद के बड़े बेटे मुहम्मद ने भी दिल्ली पर आक्रमण किया। मुहम्मद के भाई हुसेन (सन् १४५८-१४७६ ई०) ने दो बार दिल्ली पर आक्रमण किया और पहले आक्रमण के समय बहलोल फिर जौनपुर का सामन्त राजा बनने को तैयार हुआ। परन्तु सन् १४७६ ई० में बहलोल लोदी जौनपुर के अन्तिम सुलतान हुसेनशाह शर्की को पराजित करने में सफल हुआ और लगभग सन् १४८३ ई० से जौनपुर की स्वाधीनता नाम शेष हो गई।

मिथिला के जौनपुर सामन्त राज्य के रूप से परिगणित होने पर भी उसके हिन्दू राजा सब प्रकार जौनपुर के अधीन नहीं हुए। इस युग में हिन्दू सामन्त-राजाओं की क्षमता के सम्बन्ध में सुगण्डित सारदा चरण मित्र महाशय ने १८७८ ई० में विद्यापति की पदावली की भूमिका में जो उक्ति कही थी, वह आज भी प्रयोज्य है—“भले ही अफगान और पठानों ने बंग और बिहार पर अधिकार स्थापन किया हो किन्तु वे नितान्त मूर्ख थे, इसलिये प्रजा-शासनभार पूर्ववत् हिन्दुओं के हाथ में ही था। हिन्दू राजा लोग मुसलमानों के आधीन होकर उन्हें करमात्र प्रदान करते थे, राज्य-शासन में हिन्दूराजा ही एकाधिपत्य करते थे।”

मिथिला के सिंहासन पर कीर्तिसिंह सन् १४०२-१४०४ ई० के मध्य आरुढ़ हुए। वह अधिक समय तक राज्योपभोग नहीं कर सके, क्योंकि सन् १४१० ई० में शिवसिंह तिरहुत या तीरभुक्ति के महाराज के रूप में मिलते हैं।^१ देवसिंह के जीवन-काल में ही शिवसिंह को राजा कहा जाता था यह बात विद्यापति कृत ‘पुरुष परीक्षा’ के अन्तिम श्लोक के—“भाति यस्य जनको रणजेता देवसिंह नृपतिः” चरण से स्पष्ट हो जाती है। देवसिंह कीर्तिसिंह के चाचा थे। कीर्तिसिंह के देहावसान के समय संभवतः देवसिंह जरायुवत् और निस्पृह हो गए थे, अतः कुछ दिन ही राज्य करके उन्होंने उपयुक्त पुत्र शिवसिंह को राज्याभिषिक्त कर दिया। चण्डेश्वर कृत ‘राजनीति रत्नाकर’ के चौदहवें प्रकरण राजाकृत राज्यदानम्’ को देखने से प्रतीत होता है कि कामेश्वर वंश के राजा लोग वृद्धावस्था में पुत्र के हाथ में राज्यभार सौंपना कुलधर्म समझते थे। ‘राजनीति रत्नाकर’ में इनके कुलधर्म की व्यवस्था इस प्रकार दी गई है—

यदा राजा जरायुवतो रोगात्तर्हि निस्पृहोऽपि च ।

आसन्नमृत्युं विज्ञाय कुलधर्मं विचारयन् ॥

१. मित्र + मजूमदार सम्पादित ‘विद्यापति’ पृ० ३५

२. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल सन् १९१५ ई०, पृ० ३६२

तदा पौर जनान् सर्वानाहूय मन्त्रयेच्च तैः ।

सप्तांगानि च राज्यानि ज्येष्ठ पुत्राय दापयेत् ॥

शिवसिंह ने अभिषिक्त होकर तीन वर्ष और ६ महीने तक राज्य किया । इब्राहिमशाह शर्की तिरहुत के राजा शिवसिंह का समकालिक था । दिल्ली सल्तनत कन्नौज से पूरब के तिरहुत और बंगाल की सीमा तक के इलाके अर्थात् बिहार भी शुरू से उसके आधीन थे । इब्राहिम ने कन्नौज के पश्चिम सम्भल (रहेलखण्ड) और बुलन्दशहर तक गंगा-जमना-दोआब और कालपी को जीता । उसने तिरहुत पर भी चढ़ाई की । पर राजा शिवसिंह ने उसे हरा दिया ।^१ विद्यापति ने 'पुरुष परीक्षा' और 'शैवसर्वस्व सार' में लिखा है कि शिवसिंह ने गौड़ के राजा को दबाया था । शिवसिंह के समसामयिक गौड़ेश्वर थे सैफुद्दीन हामजाशाह, गिहाबुद्दीन बयाजिदशाह, अलाउद्दीन फिरोजशाह और गणेश अथवा दनुजमर्दन देव ।^१

सन् १४०६ ई० बंगाल में गणेश नामक सरदार इलियास शाही वंश से सल्तनत छीनकर स्वयं राजा बन बैठा । गणेश का बेटा यदु उसके बाद मुसलमान हो गया । उसने अपना नाम जलालुद्दीन रखा । वह भी शिवसिंह से लड़ाई में हारा ।^१

तुगलक वंश के अंतिम सम्राट् महमूद की दुर्बलता का सुयोग लेकर हिन्दू लोग सिर उठाने की चेष्टा कर रहे थे । पूर्व भारत में इस प्रचेष्टा का नेतृत्व-भार राजा गणेश ने ग्रहण किया था और उनके सहकारी हुए थे मिथिला के राजा शिवसिंह । दनुजमर्दनदेव (गणेश) के समान शिवसिंह ने भी अपनी मुद्रा चलाई थी । इस प्रकार शिवसिंह स्पष्ट ही एक प्रबल राजा था । उसके समय मिथिला खूब समृद्ध थी । मैथिल कवि विद्यापति जो शिवसिंह के सखा, पथ-प्रदर्शक, योग्य सलाहकार और उच्च दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध थे उसके दरबार को सुशोभित करते थे । प्रसन्न हो अपने राज्याभिषेक के अवसर पर इन्हें ही शिवसिंह ने बिसपी ग्राम दान दिया था और इनकी कवित्व शक्ति से प्रभावित हो 'अभिनव जयदेव' की संज्ञा वितरित की थी । कृतज्ञ महाकवि विद्यापति ने भी अपने संरक्षक शिवसिंह और उनकी श्रीमती लखिमा ठकुराइन की अपनी 'पदावली' में और 'पुरुष परीक्षा' में खूब संस्तुति की ।

३ वर्ष और ६ मास शासन करने के बाद जल्दी ही शिवसिंह के सौभाग्याकाश में दुर्दिन छा गया । दिल्ली सम्राट् को कर भेजना उसे अपमानजनक अनुभव हुआ । उसने स्वतन्त्र हो अपनी सुवर्णमुद्रा का राज्य में प्रचार किया । सुवर्णमुद्रा चलानेवाले मिथिला के कामेश्वरवशी सम्राटों में वह प्रथम था । इस बात से दिल्ली के सुबतान का क्रुपित होना स्वाभाविक था । आक्रमण हुआ और पराजित एवं अपमानित शिवसिंह को दिल्ली पकड़कर ले जाया गया । यह घटना सन् १४१४ या १४१६

१. जयचन्द्र विद्यालंकार—पृथ्वीसिंह मेहता कृत 'बिहार-एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन'

पृ० २१२

२. मित्र-मजुमदार सम्पादित 'विद्यापति', पृ० ३७

३. जयचन्द्र विद्यालंकार-पृथ्वी सिंह मेहता कृत 'बिहार-एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन'

पृ० २१२-१३

ई० में घटित हुई। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि शिवसिंह युद्ध में मारा गया था; कुछ अन्य ऐसा सोचते हैं कि वह नेपाल के जंगलों में भाग गया था और फिर उसका कहीं कुछ पता नहीं चला।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि शिवसिंह के पकड़े जाने के बाद लखिमा देवी और विद्यापति ने नेपालगत सप्तरी के राजा पुरादित्य के यहाँ शरण ली। मिथिला के स्थानीय विद्वानों का विश्वास है कि शिवसिंह उस युद्धकाल में नेपाल भाग गया था जैसा कि भारत-नेपाल की सीमा पर स्थित शिवगढ़ (शिवसिंह के नाम पर) के अवशेषों से आज भी सूचित होता है। यह भी सम्भव है कि लखिमा देवी ने अपने पतिदेव शिवसिंह की स्मृति में उसके नाम पर इस गढ़ की रचना करवाई हो। तथ्य यही है कि शिवसिंह पराजित हुआ और मिथिला पुनः मुसलिम शासन के अधीन हो गई।^२ शिवसिंह के युद्धभूमि से पलायन और मुसलिम सेना के साथ उसके विरोधित युद्ध के वर्णन को जानने के लिए परमेश्वर भा कृत मिथिला तत्व विमर्श का पृ० १६७-१६८ दर्शनीय है।

शिवसिंह के बाद मिथिला में कुछ दिनों तक अराजकता चलती रही। इस अराजकता के समय अथवा कुछ देर बाद तिरहुत के पश्चिमी हिस्से में, नेपाल के दक्षिणी हिस्से में, गोरखपुर और चम्पारन में एक ब्राह्मण राजवंश का उद्भव हुआ। इस वंश के साथ शिवसिंह के वंश का कोई रक्त सम्बन्ध था या नहीं, जाना नहीं जाता है। परन्तु दोनों ही वंश ब्राह्मणों के थे और दोनों वंशों के राजाओं के नाम के साथ 'सिंह' शब्द का योग देख कर लगता है कि सम्बन्ध रहना कोई विचित्र बात नहीं है। इसी ससय के एक और राजा और राज्य का नाम विद्यापति की 'लिखनावली' में पाया जाता है। इस राजा का नाम था पुरादित्य, उसके पिता का नाम सर्वादित्य और राज का नाम द्रोणवार था। जिस प्रकार शिवसिंह का विरुद था रूपनारायण उसी प्रकार इनका उपनाम था गिरिनारायण। जनकपुर के निकटवर्ती राज बनौली में इनकी राजधानी थी।

कर्णाटवंशीय मिथिला के अन्तिम राजा हरिसिंहदेव के वंशधर १४वीं शती के अन्तिम भाग और १५वीं के प्रथम भाग में नेपाल में राज्य करते थे। हरिसिंहदेव के एक अधस्तन पुरुष जयस्थिति नेपाल-राजकन्या राजल्लदेवी के साथ विवाह करके सन् १३८२ ई० में नेपाल के राजा हुए। नेपाल दरबार की कई पोथियों की पुष्पिकाओं से जाना जाता है कि जयस्थितिमल्ल १३९४ ई० में, जयसिंहराम १३९५-९६ ई० में, जयधर्ममल्ल १४०३ ई० में, और जयज्योतिर्मल्ल १४२६-२७ ई० में नेपाल में राज्य करते थे। विद्यापति के युग में नेपाल के साथ मिथिला का राजनीतिक सम्बन्ध घनिष्ठ न होने पर भी उनमें सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रचुर था। इसलिए विद्यापति की पदावली, कीर्तिलता और कीर्तिपताका की प्राचीन पोथी नेपाल में अनुलिखित हुई थी और अभी तक राज-दरबार में संरक्षित है।^३

१. डा० उमेश मिश्र कृत 'विद्यापति ठाकुर', पृ० २८

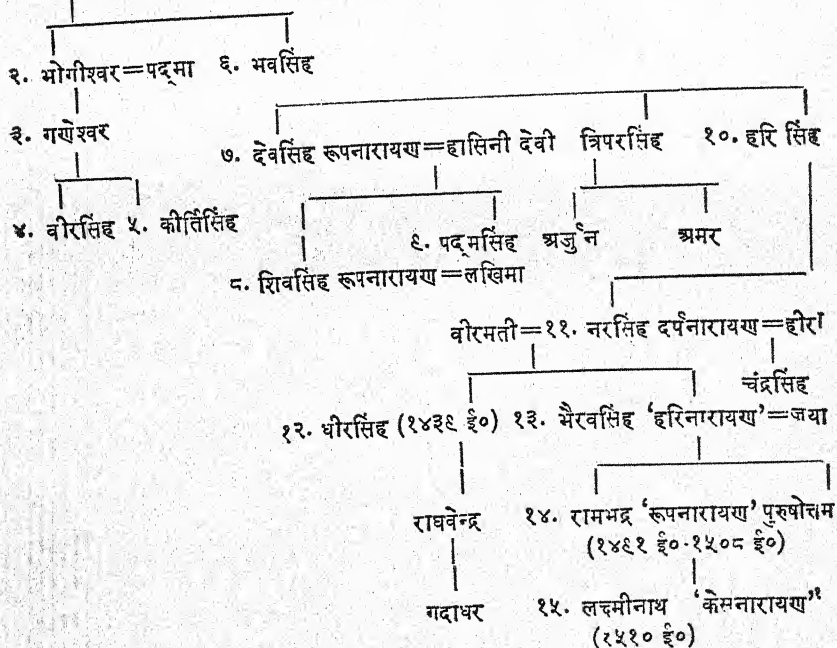
२. डा० उपेन्द्र ठाकुर कृत 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला', पृ० ३१७

३. मित्र-मजुमदार सम्पादित 'विद्यापति', पृ० ३८

शिवसिंह के बाद उसके भाई पद्मसिंह देव और नरसिंह क्रमशः गद्दी पर बैठे । तिरहुत में हरिसिंह के बाद ठाकुरवंश में कमशः राजा नरसिंहदेव उर्फ दर्पनारायण, धीर सिंहदेव उर्फ हृदयनारायण, भैरवेन्द्र (रूपनारायण या हरिनारायण), रामभद्रदेव और लक्ष्मीनाथदेव (कंसनारायण) के नाम मिलते हैं । महाकवि विद्यापति ने शिवसिंह के पूर्वज देवसिंह के समय से आरम्भ कर भैरवेन्द्र के समय तक ग्रन्थ रचना की । भैरवेन्द्र के लड़के रामभद्रदेव की १४६१ से लेकर १५०८ ई० तक की तिथियाँ मिलती हैं । उसके बाद लक्ष्मीनाथदेव के राज्य का १५१० ई० तक होना प्रमाणित होता है । मिथिला के ठाकुरवंशी राजाओं का वंशवृक्ष निश्चित रूप से प्राप्त तिथियों

सहित

१. कामेश्वर



मिथिला के इतिहास में ओइनवार-राजवंश (कामेश्वरवंश) का पतन एक ऐसा सीमाचिन्ह है जहाँ मिथिला के प्रसिद्ध दरबार का अन्त हो जाता है । कंसनारायण इस वंश का अन्तिम शासक था जिसकी मृत्यु के बाद साहित्यिक गतिविधि का केन्द्र वर्षों तक स्थिर न रहा । मैथिली साहित्य पर इस राजवंश की अमिट छाप पड़ी । विद्यापति, अमृतकर, चतुर्भुज, गोविन्द, भीष्म और कंसनारायण जैसे कवि इसी राजवंश की छत्रछाया में फूले-फले । इस वंश के महाराजा-महारानियाँ व उनके रिश्ते-नातेदार

१. जयचन्द्र विद्यालकार-पृथ्वीसिंह मेहता कृत 'बिहार एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन'

और दरबारी एवं कर्मचारीवर्ग समान रूप से विशेष विद्या और कला के अनुरागी रहे। प्रायः उस प्रत्येक व्यक्ति ने (जो सामाजिक जीवन में अग्रणी था), भाषा-कवियों को प्रोत्साहित किया। प्रसिद्ध महाराज शिवसिंह और उनकी प्रियतमा लखिमा, पद्मसिंह को और उनकी रानी विश्वासदेवी; चन्द्रसिंह और उनकी पत्नी प्रमुख विद्वान् कवियों की संगति करते थे। इस परम्परा में कसनारायण का युग एक विशेष वृद्धि-चिन्ह से चिन्हित है। ऐसा प्रतीत होता है कि कसनारायण अपने राज्य में साहित्यिक गति-विधि में विशेष रुचि रखता था। उसका अपना नाम अनेक कविताओं में मिलता है। वह और उसके अन्य रिश्तेदार गोविन्द कवि के नाम से उसी प्रकार से संबद्ध हैं जैसे शिवसिंह के नाम से विद्यापति।

इस समस्त काल में महाकवि विद्यापति की रचनाओं का स्पष्ट अनुकरण हुआ। प्रायः सभी कवियों ने राधाकृष्ण की शृंगारलीला, शृंगार, गंगा, शिव और शक्ति को अपनी कविता का विषय बनाया। शायद ही कोई कवि ऐसा मिले जिसने विद्यापति से भिन्न भाव कल्पना की अभिव्यक्ति में विशिष्ट शैली का प्रदर्शन किया हो। तथापि उनमें भाषा-सौन्दर्य के प्रति राग, संगीत की लय और माधुरी विशेष मिलती है।

ओइनवार वंश के पतन के बाद राज्य के शासन में बड़ी अशान्ति रही। सन् १५२७ से लेकर १५५७ ई० तक जबकि महेश ठाकुर का नवीन राजवंश यहाँ प्रतिष्ठित हुआ मिथिला की साहित्यिक गतिविधि में अवरोध रहा और तब यह केन्द्र नेपाल में स्थानान्तरित हो गया। वहीं राजनीतिक परिस्थितियों से बाधित होकर अनेक मिथिलास्थ विद्या और कलाप्रेमियों ने शरण ली। यही कारण है कि बाद के विद्यापति के अनुसर्ता अधिकांशतः नेपाली लेखक हैं। इसका यह आशय नहीं कि सन् १५२७ ई० के तुरन्त बाद मिथिला में कोई कवि नहीं रह गया था परन्तु वह संख्या १५२७ ई० से पूर्व के और १५५७ ई० से बाद के मिथिला के कवियों की तुलना में इतनी लघु है कि चर्चा का विषय बन सकती है।^१

१४वीं शती के अन्तिम भाग से लेकर १५वीं शती के अन्त तक उत्तर-भारत की राजनीतिक अवस्था संकटाकीर्ण थी। युद्ध-विग्रह, लूट-खसोट, अत्याचार, राजन्य-वर्ग का द्रुतभाग्य-परिवर्तन उस युग की रोज की घटना थी। इस हालत में कामेश्वर वंश के राजाओं का आनुगत्य करने के लिए विद्यापति को भी कई बार भाग्य-विपर्यय का सामना करना पड़ा था।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल और आदिकवि विद्यापति

(क) हिन्दी और हिन्दी साहित्य क्या हैं—जब साहित्य की शृंखला में प्राकृत मृत भाषा मानी जाने लगी तो अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण होना प्रारम्भ हुआ। छठी शताब्दी में अपभ्रंश का स्वर्णकाल प्रारम्भ हुआ जब उसमें उच्च साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई। सुदूर दक्षिण पूर्व तक में इसका प्रचार हो गया और यह शिष्ट

सम्प्रदाय की भाषा हो गई। अपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही। उसके बाद उसे भी 'साहित्यमरण' के लिए बाध्य होना पड़ा और दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किये, फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ।

अपभ्रंश के जड़ हो जाने की अवस्था का ठीक-ठीक समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। अनुमानतः यह समय १००० ई० के बाद का ही है। अनेक स्थानों में बोले जानेवाले अपभ्रंश अनेक प्रकार की भाषाओं में परिवर्तित हो गए। प्रान्त-भेद के अनुसार ब्राह्मण से सिन्धी भाषा का जन्म हुआ। नागर या शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी का विकास हुआ, मागधी अपभ्रंश से बँगला, बिहारी, आसामी और उड़िया का; अर्धमागधी से पूर्वी हिन्दी का तथा महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का विकास हुआ। मिश्रबन्धुओं के अनुसार हिन्दी की उत्पत्ति संवत् ७०० के आसपास मानी गई है क्योंकि पुंड अथवा पुण्य नामक हिन्दी का पहला कवि संवत् ७७० में हुआ। अभी तक के इतिहासकारों ने हिन्दी की उत्पत्ति विक्रम संवत् ७०० से मानी है। अपभ्रंश को व्याकरणों ने तो अपने व्याकरण के सिद्धान्त से 'अष्ट हुई' साबित किया पर वस्तुतः यह अपभ्रंश प्राकृत की विकसित अवस्था का ही नाम है।

हिन्दी की प्रादेशिक उपभाषाएँ—हिन्दी का शब्दार्थ है हिन्द से सम्बन्ध रखने वाला। फारसी में संस्कृत 'स' का 'ह' हो जाता है जैसे 'सप्ताह' का 'हप्ता', ऐसे संस्कृत 'सिन्धु' का 'हिन्द' हो गया। हिन्दी का अर्थ है हिन्द से सम्बन्ध रखनेवाला। इस अति व्यापक अर्थ में हिन्दुस्तान की सभी भाषाएँ इसके अन्तर्गत हो जाती हैं किन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में आजकल वास्तव में इसका प्रयोग उत्तर-भारत के मध्य देश के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया तथा इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। मुख्यतया हिन्दी का अभिप्राय होता है—'खड़ी बोली हिन्दी', (उर्दू इसका फारसी मिश्रित रूप है)। यही देश की राष्ट्रभाषा है और इसी में देश की पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं यही उच्च-शिक्षा और व्यापक प्रकार का माध्यम है। निम्नलिखित उपभाषाएँ और बोलियाँ उसके सामान्य और व्यापक रूप के अन्तर्गत मानी जाती हैं—

(१) **राजस्थानी**—राजस्थान की बोली है। इसका साहित्यिक रूप ङिगल कहलाता है। एक प्रकार से यह मध्यदेश की प्राचीन भाषा का ही दक्षिण-पश्चिमी विकसित रूप है। इस विकास की अन्तिम सीढ़ी गुजराती है किन्तु उसमें भेदों की मात्रा अधिक हो गई है। इस उपभाषा पर नागर-अपभ्रंश का प्रभाव है।

(२) **अजसाषा या पिंगल**—इसकी भी उत्पत्ति नागर अपभ्रंश शौरसेनी से हुई। मध्यकाल में यह अवधी के साथ साहित्य की व्यापक भाषा रही है। तुलसी ने, रीतिकाल के कवियों ने इसे अपनाया। इसमें आज भी कविता होती है। यह और खड़ी बोली दोनों ही पश्चिमी हिन्दी में आती हैं। पहले यही खड़ी बोली का व्यापक स्थान लिये हुए थी।

(३) अवधी—यह पूर्वी हिन्दी का रूप है। इसमें पश्चिमी हिन्दी और कुछ-कुछ मागधी पर आधारित बिहारी का मिश्रण है। जहाँ खड़ी बोली में आकारान्त प्रवृत्ति है—(जैसे छोटा, बड़ा) और ब्रजभाषा में ओकारान्त प्रवृत्ति है (जैसे छोटो, बड़ो) वहाँ अवधी में लघ्वन्त प्रवृत्ति है (जैसे छोट, बड़)। इस पर अर्धमागधी प्रभाव है।

(४) मैथिली या बिहारी—भाषा की उत्पत्ति की दृष्टि से इसका सम्बन्ध मागधी से है किन्तु संस्कृति और शब्द भण्डार की दृष्टि से इसका सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से है। इसके उच्चारण भी बँगला की अपेक्षा हिन्दी से अधिक मिलते हैं। बिहारी लोग 'स' को 'स' ही बोलते हैं, बंगालियों की भाँति 'श' नहीं बोलते। इसका भोजपुरी रूप उत्तर-प्रदेश के बनारस आदि जिलों में प्रचलित है। इसका एक छोर उत्तर प्रदेश से मिला हुआ है और दूसरा बंगाल से। विद्यापति ठाकुर इसके सबसे बड़े कवि हुए हैं। इसमें विद्यापति के बाद और भी कवि हुए हैं किन्तु उनको हिन्दीवालों ने नहीं अपनाया। बिहार ने खड़ी बोली हिन्दी को गद्य के साहित्य के लिये अपनाया है।

इनके अतिरिक्त बुन्देली, बघेली, कन्नौजी, छत्तीसगढ़ी भाषाएँ भी हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं किन्तु उनमें महत्वपूर्ण लिखित साहित्य कम है। बुन्देलखण्डी में लोक-साहित्य है और इसका प्रभाव केशव, तुलसी, बिहारी आदि पर पड़ा है। बुन्देली और कन्नौजी ब्रजभाषा के ही प्रादेशिक रूप हैं। बुन्देलखण्ड के कवि प्रायः ब्रजभाषा में ही कविता करते हैं।

हिन्दी का प्रारम्भ मगही भाषा में उन सिद्धों की कविता में हुआ जिन्होंने बौद्ध धर्म के वज्रयान सिद्धान्त का प्रचार आठवीं शताब्दी से करना प्रारम्भ किया। ये सिद्ध संख्या में ८४ माने गए हैं। इन्होंने किसी साहित्यिक भाषा को न लेकर जन-साधारण की भाषा में ही अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस भाषा के नमूने साहित्य में सुरक्षित नहीं हैं। इनका अनुवाद भोटिया में हुआ है और ये कविताएँ तिब्बत के सक्ख्य बिहार के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली 'स-स्क्य-व्क-बुम्' में हैं। इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, दारिकपा, घंटापा, जालंधरपा, कण्हपा और शान्तिपा मुख्य माने गए हैं। सरहपा का समय राहुल जी ने संवत् ८२६ माना है और डा० विनय-तोष भट्टाचार्य ने संवत् ६९०। अतः ७वीं शताब्दी से ही हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारम्भिक रूप में पाते हैं। इन रचनाओं का वर्ण-विषय हठयोग, मन्त्र, मद्य और स्त्री है जो वज्रयान का मुख्य साधन है। भाषा अपभ्रंश मिश्रित है जिसमें सिद्धान्तों के प्राधान्य के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं पाया।

मिथिला प्रेस, खलीफाबाग भागलपुर से सन् १९३३ ई० के जनवरी मास में प्रकाशित 'गंगा पुरातत्वांक' के अन्तर्गत 'मागधी हिन्दी का विकास' शीर्षक से लिखते हुए महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि हिन्दी पच्छाहीं भाषा है, उसका मगही से क्या सम्बन्ध? उत्तर यह है हिन्दी शब्द सिर्फ खड़ी बोली के ही लिए कोई व्यवहार नहीं करता। ब्रजभाषा और अवधी के हिन्दी न होने का किसी ने आग्रह नहीं

किया। ब्रजभाषा और अवधी भी तो खड़ी बोली से मगही की तरह भिन्न है। हम पुरानी मगही को खड़ी बोली नहीं कहते, हम उसे प्राचीन हिन्दी कहते हैं जैसे ब्रजभाषा और अवधी को।

हिन्दी क्या है पहले इसे आपको समझना चाहिये। सूबा हिन्दुस्तान (हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलगू, ओड़िया, बँगला भाषाओं के प्रदेशों से घिरे प्रदेश की) आठवीं शताब्दी के बाद की भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूप को प्राचीन मगही, मैथिली, ब्रजभाषा आदि कहते हैं। और आजकल के रूप आधुनिक हिन्दी को सार्वदेशिक और स्थानीय दो भागों में विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक हिन्दी को खड़ी बोली (जिसे ही फ़ारसी-लिपि तथा अरबी फ़ारसी शब्दों की भरमार पर उर्दू कहते हैं) तथा आजकल भिन्न-भिन्न स्थानों में बोली जानेवाली मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी, कन्नौजी, ब्रजमण्डली आदि को आधुनिक स्थानीय हिन्दी भाषाएँ कहते हैं।^१

हिन्दी साहित्य का विस्तार अनेक बोलियों में पाया जाता है। बोलियों में साहित्य का निर्माण होने के कारण उनके रूप अभी तक वर्तमान हैं और साहित्य के साथ जीवित हैं। भण्डारकर के अनुसार हिन्दी की अनेक बोलियाँ हैं—राजस्थान में प्रयुक्त बहुत सी बोलियों में दो प्रधान हैं—मेवाड़ी और उसके समीपवर्ती भागों में बोली जानेवाली मारवाड़ी। इन दोनों बोलियों की भौगोलिक स्थिति से यह तो जाना जा सकता है कि वे गुजराती और ब्रजभाषा के बीच की बोलियाँ हैं, जिनमें दोनों भाषाओं की विशेषतायें हैं। उत्तर में ब्रजभाषा है जो मथुरा के समीप बोली जाती है। पूर्व में कन्नौजी है। दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। चौरासी वैष्णव की वार्ता और बल्लभी सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों की भाषा जो ब्रज मानी जाती है, कन्नौजी व्याकरण के रूप भी रखती है। सुदूर उत्तर में गढ़वाली और कुमायूँनी हैं जो गढ़वाल और कुमायूँ में बोली जाती हैं। पूरब में अयोध्या की बोली अवधी है और दक्षिण में बघेली और बुन्देली। सुदूर पूरब में भोजपुरी तथा बिहार और बंगाल की सीमा पर प्रचलित मैथिली भाषा तथा अन्य बोलियाँ हैं। डिंगल, राजस्थानी, पिंगल, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली और खड़ी बोली में साहित्य रचना हुई। वस्तुतः इस समस्त साहित्य का नाम हिन्दी-साहित्य दिया जाना चाहिए। हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियों में साहित्य का निर्माण तथा जन-समाज की व्यापक तथा शतरूपा वृत्ति का प्रदर्शन करने के कारण हिन्दी साहित्य का दृष्टिकोण विस्तृत है इसमें कोई सन्देह नहीं। जीवन को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाले शृंगार रस और शान्त रस का परमोत्कृष्ट रूप और विस्तृत निरूपण होने के कारण भी हिन्दी-साहित्य विश्वजनीन भावनाओं को लिए हुए है।

(ख) हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—इतिहास तथा अनुसन्धान के क्षेत्र में कार्य करने वाले अनेक विचारकों ने हिन्दी-साहित्य को प्रारम्भिक युग को वीरगाथा काल, संधिकाल, सिद्ध-सामन्त काल और आदिकाल आदि नामों से पुकारा है। हमें इसकी

संज्ञा-परिधि में न रहकर यह देखना है कि युग के काव्य की भावधारा अथवा साहित्यिक प्रवृत्ति क्या है ?

इस विषय पर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के तत्वावधान में सम्पन्न 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' विषय को लेकर हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्याख्यानो से अच्छा प्रकाश पड़ा है। वे कहते हैं कि—“इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। श्री हर्ष के 'नैषध चरित' के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में आए हुए अपभ्रंश दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी तरफ निरक्षर सन्तों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया। अपने प्रथम व्याख्यान में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किस भाँति अपभ्रंश साहित्य की उपलब्धि हुई और कैसे हम उससे उत्तरोत्तर लाभान्वित हुए हैं इसकी कथा कही है।

सन् १९५० ई० में श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल एम०ए० के सम्पादकत्व में आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर के ग्रन्थों का एक प्रशस्तिसंग्रह प्रकाशित हुआ है। जिसमें लगभग ५० अपभ्रंश ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ संगृहीत हैं। इनमें कुछ का तो विद्वानों को पहले से भी पता था, कुछ नई हैं। इनमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, वीर, नयनन्दि, श्रीधर, श्रीचन्द, हरिषेण, अमरकीर्ति, यशःकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति, और माणिक्य-राज, रघू आदि की कृतियाँ हैं। अधिकांश रचनाएँ १३वीं शताब्दी के बाद की बताई गई हैं पर उसके बाद भी १६वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में रचनाएँ होती रही हैं। ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भण्डारों से ही प्राप्त हुए हैं। और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। जैनतर मूलों से भी अपभ्रंश का साहित्य मिला है। १९०२ ई० में चन्द्रमोहन घोष ने 'प्राकृत पैंगलम्' छन्दोविधान ग्रन्थ का सम्पादन किया था।

सन् १९१६ ई० में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित कराईं। इन पुस्तकों की भाषा को उन्होंने प्राचीन बँगला कहा। पुस्तक नाना दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थी परन्तु जान पड़ता है कि बंगाक्षरों में छरी होने के कारण विद्वानों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट न हो सका। इसके दोहों की भाषा में स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं पर पदों में पूर्वी प्रदेश की भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को बँगला का पूर्व रूप कहा गया है तो कभी मैथिली और मगही का और कभी भोजपुरी का; कुछ लोगों ने इसमें उड़िया भाषा का पूर्वरूप भी देखा है। निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के परवर्ती काव्य रूपों के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। इस पुस्तक के प्रकाशन के करीब बीस वर्ष बाद महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इन रचनाओं की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। अपनी तिब्बत यात्रा में वे इस श्रेणी के कुछ और साहित्य का पता पा चुके थे। राहुल जी ने बताया कि

उन पदों की भाषा को बँगला नहीं, हिन्दी कहना चाहिये। निस्सन्दिग्ध बात यह है कि उसकी इस भाषा को बँगला, मगही, मैथिली, भोजपुरी, उड़िया सभी का पूर्वरूप कहा जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि इन पुस्तकों में जिन काव्यरूपों का परिचय मिलता है वह बँगला में अब लुप्त हो चुके हैं परन्तु हिन्दी में अभी तक जी रहे हैं। दोहों की प्रथा बंगाल के साहित्य में कभी रही ही नहीं।

बौद्धगानों में भी जिस श्रेणी की पदरचना है वह आगे चलकर कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में अधिक मुखर हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि बँगला भाषा में उसका चित्त भी नहीं मिलता परन्तु वह अधिक लोकप्रिय बंगाल के बाहर ही हुई। बँगला की वैष्णव पदावली में उसका एक रूप प्राप्त अवश्य होता है। साधारण बँगला से फर्क करने के लिये इसे 'ब्रजबुली' कहा जाता है। शायद यह इस बात का प्रमाण है कि वैष्णव कवियों ने समझ लिया था कि इस प्रकार की पदरचना बँगला भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं। जो हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोहा और पदों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से हिन्दी-साहित्य में चली आई है और काव्यरूपों और विचार-प्रवाह की दृष्टि से इन गानों और दोहों का सम्बन्ध परवर्ती हिन्दी-साहित्य से ही अधिक है। सन् १९१८ और १९२१ ई० के जर्नल ऑफ डिपार्टमेंट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय में डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने कुछ और बौद्ध सिद्धों के दोहे प्रकाशित कराये।

सन् १९४५ ई० में राहुल जी ने 'हिन्दी-काव्य-धारा' नाम से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश काव्यों का संग्रह प्रकाशित कराया है। उनके मत से यह अपभ्रंश वस्तुतः पुरानी हिन्दी ही है। इसमें उन्होंने प्रथम बार स्वयम्भू के रामायण की कवित्वपूर्ण अंशों का संकलन प्रकाशित कराया है और बहुत जोर देकर कहा है कि स्वयम्भू हिन्दी का सर्वोत्तम कवि है। दूसरा स्थान उन्होंने पुष्पदन्त को दिया है। राहुल जी को इस दृढ़-कण्ठ घोषणा के कारण हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान अपभ्रंश की ओर खिंचा है।

बहुत पहले ग्रियर्सन ने अपनी एक पुस्तक में ऐसी सूचना दी थी कि विद्यापति की दो रचनायें देश्य मिश्रित अपभ्रंश भाषाओं में हैं। एक का नाम है 'कीर्तिलता' और दूसरी का 'कीर्तिपताका'। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इन पुस्तकों का महत्त्व है ही, काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी ये अत्यन्त उपयोगी हैं। सन् १९०१ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के सेक्रेटरी को पत्र लिखकर हरप्रसाद शास्त्री ने एक ओर महत्त्वपूर्ण पुस्तक का पता दिया था। यह है ज्योतिरीश्वर नामक मैथिल कविलिखित 'वर्णरत्नाकर' जिसमें नाना श्रेणी के मनुष्यों, मानव-व्यापारों, सभाओं, उत्सवों आदि के वर्णन करने के ढंग का उल्लेख है। प्राचीन मैथिली भाषा के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक उत्तम है ही परन्तु उस समय की सामाजिक रीति-नीति, काव्य-रूढ़ि और काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह बहुत उपयोगी है।

इधर भारतीय विद्यामन्दिर के संचालक मुनि जिन विजय को एक व्याकरण ग्रंथ 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' मिला है। इससे बनारस के आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह पुस्तक महाराजा गोविन्दचन्द्र

के सभाषण्डित दामोदर शर्मा ने लिखी है। गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल ११५४ ई० तक था।

साधारणतः सन् ईसवी की १०वीं से लेकर १४वीं शताब्दी के काल को हिन्दी साहित्य का आदि काल कहा जाता है। शुक्ल जी के मत से संवत् १०५० (सन् १८३ ई०) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिन्दी साहित्य का आदि काल कहना चाहिये। १०वीं से १४वीं शताब्दी के काल का साहित्य अपभ्रन्श-प्रधान साहित्य है—दामोदर शर्मा कृत 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' में 'वेद पढ़ब', 'स्मृति अभ्यासब' आदि १२वीं शती की बनारसी भाषा का नमूना है। वहीं 'मेरा क्षेम को करिह' में 'क्षेम' विशुद्ध तत्सम रूप में है। इसके बाद तत्सम शब्दों के निश्चित प्रयोग का प्रमाण ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'कीर्तिलता' में मिलता है। दोनों ही पुस्तकें मिथिला में लिखी गई थीं। विद्यापति पद्य में तो अपभ्रन्श के समान तद्भव रूपों का व्यवहार करते हैं—(यद्यपि जैन लेखकों की तरह वे संस्कृत का सम्पूर्ण बहिष्कार नहीं करते हैं) पर जब गद्य लिखने लगते हैं तो उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की भरमार हो जाती है। सम्भवतः यह बात इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि पद्य की भाषा में तो थोड़ा बहुत पुरानापन तब भी बना हुआ था पर बोलचाल के गद्य में तत्सम शब्दों का प्राचुर्य बढ़ रहा था। विद्यापति की पदावली में तो तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत है परन्तु उसकी भाषा बहुत बदलती रही है अतएव उसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ज्योतिरीश्वर की पूरी पुस्तक ही गद्य में है। उसमें संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग यही सूचित करता है कि बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। इस काल में काशी और मिथिला संस्कृत विद्या के गढ़ रहे हैं।

स्पष्ट ही १०वीं से १३वीं शती तक ही बोलचाल की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रन्श से मिलती-जुलती भाषा पद्य का वाहन बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम बहुल होती गई। 'कीर्तिलता' में इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे-धीरे तत्सम शब्दों और उनके नये तद्भव रूपों के कारण भाषा बदली सी जान पड़ने लगी। और १४वीं शती के बाद वह बदल ही गई। इस प्रकार १०वीं से १४वीं शताब्दी का काल जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं भाषा की दृष्टि से अपभ्रन्श का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रन्श के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तराकालीन अपभ्रन्श कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। विषय वस्तु की दृष्टि में रखकर इस काल के लिये राहुल जी ने एक और नाम सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है 'सिद्ध-सामन्त काल'। उस काल का जो भी साहित्य मिलता है उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। प्रभाव-उत्पादक और प्रेरणा संचालक तत्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। फिर सामन्तकाल में 'सामन्त' शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता

है और अधिकांश चारण जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा स्रोत का भी पता चलता है। सामन्त जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है उसमें उसके झूठे-सच्चे विजयों और कल्पित-अकल्पित प्रसंगों का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृंगार रस का आलम्बन। सामन्त को दोनों ही चाहिये। इस प्रकार इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियाँ स्पष्ट करने का गुण है। 'प्राकृत पैंगलम्' में उद्धृत पद्यों में राजस्तुतिमूलक रचनायें प्रचुर मात्रा में हैं और तत्कालीन संस्कृत काव्य में इस श्रेणी की रचनायें बहुत अधिक हुई हैं।^१

इस काल में जो दो श्रेणी की अपभ्रंश और देश्य मिश्रित रचनाएँ मिलती हैं वे इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही हैं। इस काल में केन्द्रीय शासन टूट चुका था। पश्चिम की ओर से विजातीय संस्कृति के पोषक दुर्दान्त शत्रुओं का निरन्तर आक्रमण हो रहा था। भारतवर्ष के वीर राजपूत उनसे जमकर लोहा भी लेते थे और केन्द्रीय सत्ता के हथियाने की फिक्र में भी रहते थे। उन्हें युद्ध करना पड़ता था। वे अपनी स्तुति भी सुनना चाहते थे। युद्ध उन दिनों के राजपूत राजाओं के लिये आवश्यक कर्तव्य हो गया था। लड़ने वालों की संख्या कम थी क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी। लोग क्रमशः जातियों और उप-जातियों में तथा सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिये सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था। क्योंकि उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार। छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई हो जाती थी। पृथ्वीराज के चाचा कान्ह ने किसी को मूर्खों पर हाथ फेरते देखा, सिर उतार लिया। पछतावा उन्हें भी हुआ। प्रायश्चित्त रूप में उन्होंने आँखों पर पट्टी बाँध ली। यह वीरता का आदर्श था। इन कवियों ने राजस्तुति के नाम पर असम्भव घटनाओं और अपतथ्यों की योजना की। विवाह भी इस वीरता का एक बहाना बनाया। आजकल के ऐतिहासिक विद्वान बेकार ही इन घटनाओं और अपतथ्यों से इतिहास खोज निकालने का प्रयास करते हैं। इन काव्यों में व्यापक रूढ़ियों के आधार पर अपने राजा को या काव्य नायक को उत्साह का आश्रय और रति का आलम्बन बनाना चाहिए। इनमें इतिहास को समझने का कम और तत्काल-प्रचलित काव्य-रूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के ऐतिहासिक काव्य और कीर्तिलता

प्राचीन काल से ही प्राकृत और संस्कृत कथाओं में श्रोता और वक्ता की परम्परा रखने का नियम चला आ रहा था। हिन्दी के आरम्भ काल में पाई जाने वाली

कथाओं में इस प्रकार की श्रोता-वक्ता की योजना वाला विधान मिल जाता है। 'कीर्तिलता' की कहानी भृंग और भृंगी की बातचीत के रूप में है। जैन कवियों में और सूफी कवियों में इस नियम के पालने में थोड़ी शिथिलता दिखाई पड़ती है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में भी यह नियम जरूर माना जाता रहा होगा। बैताल पंचविंशति, शुकसप्तति आदि में भी पूर्व कथा की योजना की गई और रासो में तो यह योजना स्पष्ट ही मिल जाती है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति की 'कीर्तिलता' में उस समय के देश भाषा-साहित्य के गुणानुवाद-प्रधान चरित काव्यों के अनेक लक्षण मिलते हैं और यह पुस्तक उस युग के गुणानुवाद मूलक चरित काव्यों में सबसे अधिक प्रामाणिक है। कवि ने उसे 'काहानी' या 'कथानिका' कहा है जो सम्भवतः उसके आकार की छोटाई के कारण है। उसमें प्रायः उन सभी छन्दों का व्यवहार हुआ है जिनका रासो में व्यवहार मिलता है। रासो की ही भाँति उसमें संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग है और देश्य मिश्रित अपभ्रंश तो वह है ही। ऐसा लगता है कि उन दिनों ऐतिहासिक व्यक्ति के गुणानुवादमूलक चरित काव्य इसी ढंग से लिखे जाते थे। विद्यापति के सामने ऐसा ही कोई ग्रन्थ आदर्श रूप में उपस्थित था। मैं यह नहीं कहता कि वह ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो ही था, क्योंकि गद्यपद्यमयी रचना को संस्कृत में चम्पू कहते हैं। किन्तु प्राकृत की पद्यबद्ध कथाओं में थोड़ा-थोड़ा गद्य भी रहा करता था। 'लीलावती' में गद्य है पर वह नाम मात्र को है। 'कीर्तिलता' में गद्य और पद्य दोनों हैं।

अनुमान किया जा सकता है कि विद्यापति ने अपनी कहानी का ढाँचा उन दिनों अत्यधिक प्रचलित 'चरित काव्यों' के आदर्श पर ही बनाया होगा। कीर्तिलता की कहानी भृंग और भृंगी के संवाद रूप में कहलवाई गई है। प्रत्येक पल्लव के आरम्भ में भृंगी भृंग से प्रश्न पूछती है और फिर भृंग कहानी शुरू करता है। मूल रासो में भी शुक और शुक्री के संवाद की ऐसी ही योजना रही होगी। चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुक्री संवाद के रूप में लिखा गया था। और जितना अंश इस संवाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है। विद्यापति की कीर्तिलता के समान रासो में भी प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में और कदाचित् अंत में भी शुक और शुक्री की बातचीत उसमें अवश्य रही होगी।

सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय जीवन और साहित्य में अनेक नये उपादान आये हैं। ऐतिहासिक काव्य भी उनमें एक है। संभवतः तत्काल-प्रचलित देश्य भाषा या अपभ्रंश में ऐसी रचनाएँ अधिक हुई थीं। इस काल के संस्कृत-साहित्य में राजस्तुति का बहुत प्रमुख स्थान है। अपभ्रंश की रचनाओं में ऐसी राजस्तुति परक रचनाओं का होना स्वाभाविक ही था। कई नवागत जातियों ने (जिनमें अमीर, गुजर और अनेक राजपूत समझी जाने वाली जातियाँ भी हैं) राज्य-अधिकार किया था। वे जिन प्रदेशों से आये थे वहाँ की अनेक रीतिनीति भी साथ ले आये थे। फिर वे संस्कृत उतनी अच्छी तरह समझ नहीं पाते थे, यद्यपि अपने क्षत्रियत्व का दावा उच्च स्वर से घोषित करने के लिये वे पण्डितों का सम्मान भी करते थे और साधारण जनता से अपने को श्रेष्ठ बताने के लिये प्रयत्न संभव थे सभी करते थे। इन उपायों

में देशी भाषा की उपेक्षा भी एक था। फिर भी सच्चाई यह है कि वे अपभ्रंश में लिखी स्तुतियाँ ही समझ सकते थे इसलिये अपभ्रंश में तेजी से राजस्तुतिपरक साहित्य की परम्परा स्थापित होने लगी। संस्कृत में भी यह बात थी पर संस्कृत में और भी सौ बातें थीं।

भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण संग्रह की ओर कम, कल्पना-विलास का अधिक मान था, तथ्य-निरूपण का कम, संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी घटनाओं की ओर कम, उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिये गये हैं। राजा का विवाह, शत्रु-विजय, जल-क्रोड़ा, शैल-वन-विहार दोलाविलास, नृत्य-गान-प्रीति ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं। उत्तरकाल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान् के लिये संगति मिलाना कठिन हो जाता है।

वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है, जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमान्स का आरोप करके निजंघरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है, जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल, बाद में जायसी के रतनसेन, रासो में पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का (फैक्ट्स और फिक्शन का) अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सीमायु की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्ति-भण्डार में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रंगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त में ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं।

संस्कृत में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से संबद्ध काव्यों को 'चरित', 'विलास', 'विजय' आदि नाम दिये गये हैं। सबसे पुराना काव्य, हर्षचरित नामक आख्यायिका है। इसके बाद पद्म गुप्त का नवसाहसार्क चरित १००० ई० के लगभग और बिल्हण का विक्रमांक देवचरित नाम के ऐतिहासिक काव्य मिलते हैं। ये दोनों काव्य हमारे आलोच्य काल हि० सा० का आदिकाल के आरम्भ के हैं और ऐतिहासिक काव्यों की तत्कालीन परिस्थिति को बताते हैं। विक्रमांक देवचरित राजकीय विवाहों और युद्धों का काव्य है। राजाओं के गुणानुवाद के लिये उन दिनों ये ही दो विषय उपयुक्त समझे जाने लगे थे। दोनों में ही कल्पना का प्रचुर अवकाश रहता था और संभावनाओं की पूरी गुंजायश रहती थी। इतिहास की दृष्टि से कुछ अधिक उपादेय पुस्तक कल्हण की 'राजतरंगिणी' है लेकिन उसमें भी पौराणिक विश्वासों और निजंघरी कथाओं की कल्पना का गड्ढा-गड्ढा थोड़ा-बहुत मिल ही जाता है। तत्त्व-मन्त्र, शकुन-अपशकुन के विश्वासों का सहारा भी लिया ही गया है और प्राचीन गौरव की अनुभूति के कारण

घटनाओं में असंतुलित गुस्वारोप हो ही गया है। मानव-कृत्य को इन अतिप्राकृत घटनाओं का नियन्त्रित समझने के विश्वास ने इस अपूर्व इतिहास ग्रन्थ को थोड़ा-सा इतिहास के आसन से दूर खड़ा अवश्य कर दिया है, पर सब मिला कर 'राज-तरंगिणी' ऐतिहासिक काव्य है।

संध्याकर नन्दी का 'रामचरित' एक ही साथ अयोध्यापति श्री रामचन्द्र का भी अर्थ देता है और बंगाल के रामपाल पर भी घटित होता है। इस प्रकार के कठिन व्रत को निर्वाह करने वाले श्लिष्ट काव्य से इतिहास की जितनी आशा की जा सकती है उतनी इससे भी की जा सकती है। यहाँ कवि को रामपाल के जीवन की वास्तविक घटनाओं से कम और श्लेष-निर्वाह से अधिक मतलब है। 'सोमपालविलास' जल्हण का लिखा ऐतिहासिक काव्य है। जियानक का लिखा 'पृथ्वीराज विजय' हिन्दीभाषियों को परिचित ही है। एक और ऐतिहासिक पुस्तक अनन्त पुत्र रुद्र लिखित 'राष्ट्रौद वंश' बताई जाती है। जैन कवि हेमचन्द्राचार्य का लिखा 'कुमारपाल चरित' या 'द्वयश्रय काव्य' है जिसके २० सर्गों में अनहिलवाड़ के राजाओं के कुमार चलिबल का बहुत सुन्दर वर्णन है। बाद के ८ सर्ग प्राकृत में कुमारपाल के वर्णन में हैं। गुजरात के चालुक्यों के इतिहास की दृष्टि से पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी' और 'सुरथोत्सव', बालचन्द सूरि का 'वसंत विलास' और जयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर-काव्य' ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेख योग्य हैं।

इन सब पुस्तकों के बारे में एक ही बात सत्य है। इतिहास इनमें कल्पना के आगे म्लान हो गया है और ऐतिहासिक, पौराणिक और निजंघरी घटनाओं के विचित्र और असंतुलित मिश्रण से इनका ऐतिहासिक रूप एकदम गौण हो गया है।

कीर्तिलता—इन ऐतिहासिक काव्यों में 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता समसामयिक राजा की कीर्तिगान के उद्देश्य से लिखी गई है और कविजनोचित अलंकृत भाषा में रची गई है तथापि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या संभावनाओं के द्वारा धूमिल नहीं हो गया है। कीर्तिसिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है। कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है, बल्कि उस शिल्पी की टांकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिमात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं। उस काल के मुसलमानों का, हिन्दुओं का, सामन्तों का, शहरो का, लड़ाइयों का, सेना के सिपाहियों का इतना जीवन्त और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने जो भी सामने आ गया उसका व्योरेवार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि आवश्यकतानुसार निर्वाचन, चयन और सामञ्जस्य योजना के द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित हो कर भी केवल तथ्य-निरूपक पुस्तक नहीं बना है, बल्कि सचमुच का काव्य बना है। बहुत कम स्थलों पर कवि ने केवल संभावनाओं को वृहदाकार बनाया है। कीर्तिसिंह का वीररूप भी स्पष्ट हो जाता है और जौनपुर के सुलतान फ़िरोज़शाह के सामने उसका अतिनम्र भक्तिमान रूप भी

प्रकट हुआ है। इन चित्रणों में कवि ने कीर्तिसिंह के द्वितीय रूप को दबाने या उज्ज्वलतर रूप में चित्रित करने का प्रयास नहीं किया, बल्कि ऐतिहासिक तथ्य को इस भाँति रखने का प्रयत्न किया है कि जिस स्थान पर कथानायक भुक्ता है, वहाँ भी वह पाठक की सहानुभूति और परिशंसन का पात्र बना रहता है। छन्दों के चुनावों में भी कवि ने कुशलता का परिचय दिया है। तथ्यात्मक विवरण को मोड़ने के साथ ही साथ वह छन्दों को बदल देता है और पाठक के चित्त में उत्पन्न हो सकनेवाली एक धृष्टता या मोनोटानी को कम कर देता है। सब मिला कर कीर्तिलता अपने समय का बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित करती है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवन्त रूप है। उसमें न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा, उसमें यथास्थान पाठक के चित्त में कसृणा, सहानुभूति, हास्य, श्रौत्सुक्य और उत्कण्ठा जागृत करने के विचित्र गुण हैं। इस पुस्तक में उन कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग बहुत कम किया गया है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में एक ही प्रकार के अभिप्राय ला देती हैं और तथ्यात्मक जगत् से कम संबन्ध रख कर कल्पना-विलास की ओर पाठक का मन मोड़ दिया करती हैं। उन दिनों ऋतुवर्णन के प्रसंग में वर्ण्य-वस्तुओं की सूची बन गई थी। बारहवीं शताब्दी की पुस्तक 'कवि-कल्प-लता' में और चौदहवीं शताब्दी की 'वर्ण-रत्नाकर' में ये नुस्खे पाये जा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल क्या है—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के आदिकालीन गहन-कान्तार के मध्य भी हमें जिस मनोहर-स्थली पर ला खड़ा किया है वहाँ पहुँच कर स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत पँगलम्, संदेशरासक, कीर्तिलता, पृथ्वीराज रासो आदि के कवि उस श्रेणी के नहीं थे, जिन्हें आदिम-मनोवृत्ति के कवि कहते हैं। वस्तुतः इन रचनाओं में एक दीर्घकालीन परम्परा का स्पष्ट परिचय मिलता है। ये कवि काव्य लक्षणों के जानकार थे, प्राचीनतर कवियों की रचनाओं के अभ्यासी थे, और अपने काव्य के गुण-दोषों के प्रति सचेत थे। इसलिये इन्हें साहित्य के आरम्भिक काल का कवि कहना ठीक नहीं। इस दृष्टि से भी हिन्दी के इस काल (१०० ई०—१४०० ई०) के साहित्य को दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा का बढ़ाव समझना ही संगत जान पड़ता है। काव्यगत रूढ़ियों और कथानक-रूढ़ियों का इस साहित्य में जमकर प्रयोग किया गया है। इसलिये इस श्रेणी की रचनाओं में आदिम कविता की स्पष्टता, अव्यवहित प्रभाव-विस्तरण, और अनगढ़ भाव नहीं है बल्कि शास्त्रीय कविता की जटिलता और सुगढ़ भाव-व्यंजना का प्रयास मिलता है। वस्तुतः हिन्दी का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्परा विनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।^१

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने ८वीं से १२वीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये हैं—(१) सिद्धों की वाणी और (२) सामन्तों की स्तुति। इसलिये

उन्होंने इस काल को 'सिद्ध-सामन्त-युग' कहा है। किन्तु इस नाम से उन महत्त्वपूर्ण लौकिक रस की रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता जो परवर्ती काव्य में भी बहुत व्यापक रूप में प्रकट हुई हैं। कुछ आलोचकों को इस काल का नाम आदि काल ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। लेकिन इस नाम से सम्बद्ध भ्रामक धारणा से सावधान रहने की आवश्यकता है। यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल बहुत कुछ अपभ्रंशकाल का बढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना ले कर आता है, इसमें भावो हिन्दी-भाषा और उसके काव्य-रूप अंकुरित हुए हैं।^१

(ग) हिन्दी का आदिकवि महाकवि विद्यापति—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' के प्रसंग में एक स्थान पर लिखा है कि देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही निश्चित रूप से लोक-भाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। इस सम्पूर्ण साहित्य में ऐसा कोई स्थान नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोक-भाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा है। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलहिय (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदि कवि माना जाता है। असल में वह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि कवि कम। क्योंकि उसका काव्य जिस रूप में पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रन्थ में इतनी प्रक्षिप्त बातें आ घुसी हैं कि ओम्हा जी जैसे ऐतिहासिक पण्डित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रन्थ समझते हैं। हाल में 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के प्रकाशन के बाद से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो गई है कि चन्द का मूल काव्य बहुत कुछ अपभ्रंश की प्रकृति का था और आज वह जिस रूप में मिलता है वह उसका अत्यन्त विकृत रूप है। असल में अपभ्रंश भाषा में काव्य रचना चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नई भाषा को स्थान दे दिया था। विद्यापति ने पूर्वदेश में एक ही साथ तत्काल-प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश दोनों में ही काव्य लिखा था।^२

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री विद्यापति को बंगाल और मिथिला का आदि कवि और महाकवि मानते हैं परन्तु भाषा की दृष्टि से विचार करने पर मोटे तौर पर उनकी कृतियाँ संस्कृत, अवहट्ट. (अपभ्रंश) और देशी-नागर इन तीन विभागों में विभक्त हो सकती हैं। यह देखते हुए भी स्थिति यह है कि कविता की सुधाधारा बहानेवाले कोकिल-कण्ठ विद्यापति को तीन भाषाएँ अपनाती हैं। बँगला वाले इन्हें बँगला का कवि समझते हैं, हिन्दी भाषाभाषी अपना कवि मानते हैं और इधर जब से ग्रियर्सन ने मैथिलों के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दी है कि मैथिली हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा है तब से स्वभावतया वे दोनों के दावों का विरोध करने लगे हैं। अर्थात् वे विद्यापति को मैथिली भाषा का कवि मानने लगे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य', पृ० ८२-८३

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ० २६-२७

विद्यापति वस्तुतः मैथिली के ही कवि कहे जा सकते हैं, यदि केवल उनके पदों को ही सामने रखा जाय। पर एक तो मैथिली का कोई पृथक् साहित्य उस परिमाण में नहीं देखा जाता जिसके कारण उसे पृथक् ग्रहण किया जा सके, दूसरे मैथिली कम से कम साहित्य के विचार से हिन्दी की ही एक शाखा है। हिन्दी विद्यापति को मैथिली ही के द्वारा अपनाती है। विद्यापति पर हिन्दी का दावा मैथिली के विरोध में नहीं है। बंगालियों का यह गुण है कि वे अपनी गौरव-वृद्धि के लिए दूसरों को अपनाने में आनाकानी नहीं करते; इसीलिए विद्यापति को वे अपनी ओर खींचते हुए कुछ तर्क भी देते हैं।

विद्यापति को अपनाने के लिए बंगालियों के तर्क—

१. उनकी भाषा में कुछ रूप बंगला के-से हैं,

२. शृंगारी-काव्य के लिए राधाकृष्ण को नायक-नायिका के रूप में चुना है। विद्यापति की रचनाएँ जिस भाषा में पाई जाती हैं भाषा-विज्ञान-विशारद उस भाषा को हिन्दी के क्षेत्र से बाहर की घोषित करते हैं। पर विचार करने से विद्यापति हिन्दी के ही कवि अधिक सिद्ध होते हैं।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत जितनी रचनाएँ गृहीत होती आई हैं उन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि हिन्दी साहित्य ने संस्कृत से लगाव रखनेवाली समस्त प्राकृतों का उत्तराधिकार ग्रहण किया है। इस साहित्य के भीतर जिस प्रकार शौरसेनी से लगाव रखनेवाली ब्रजभाषा, बुन्देली, राजस्थानी के वाङ्मय का संकलन है उसी प्रकार अर्द्धमागधी से सम्बन्ध रखनेवाली अवधी के वाङ्मय का भी। अतः मागधी से सम्बन्ध रखने वाली देशी भाषाओं का संकलन भी हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत ही होना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि फिर बँगला गुजराती और मराठी के साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत क्यों नहीं माना जाता? उत्तर यह है कि अब बँगला, गुजराती और मराठी भाषाएँ हिन्दी भाषा से बहुत दूर जा पड़ी हैं।

उनका साहित्य उसी प्रकार हिन्दी से पृथक् समझना चाहिए जिस प्रकार उर्दू का अब एक पृथक् साहित्य खड़ा हो गया है। आरम्भ में यह बात नहीं थी। यही कारण है कि मागधी की सारी विशेषताएँ लेकर बँगला नाम की जो देश भाषा उत्पन्न हुई उसकी पुरानी कविताएँ भी हिन्दी के लगाव में देखी जा सकती हैं। भारतवर्ष की पुरानी प्राकृतों में सबसे प्रधान शौरसेनी ही थी। सामान्य काव्य-भाषा के रूप में इसका बहुत दूर तक प्रचार-व्यवहार था। शौरसेनी का प्रभाव इसी कारण उनसे भिन्न पड़ने वाली मागधी पर भी पड़े बिना न रहा। महाराष्ट्री और मागधी की विशेषताओं को लेकर विकसित होनेवाली देशभाषाओं के प्राचीन रूप को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वे हिन्दी के अधिक निकट हैं। गुजराती, महाराष्ट्री और बंगाली की प्रारम्भिक रचनाएँ प्रमाण में उद्धृत की जा सकती हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों देशी-भाषाएँ अपना-अपना स्वरूप एक-दूसरे से दूर करती चली गई और अब उन देशी भाषाओं में बहुत अन्तर पड़ गया है।

विद्यापति ठाकुर की देशी भाषा और अवहट्ट-रचनाएँ देखने से इस बात की

पुष्टि होती है कि उन पर देश-सामान्य काव्य-भाषा का प्रभाव पड़ा है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपभ्रंश की चली आती हुई परम्परा का पालन किया है। पर देशी-भाषा में लिखे गए अपने पदों में लोक-भाषा के परिष्कृत रूप का आभास दिया है। भारतवर्ष की भाषाओं की विशेषता यह रही है कि जब-जब लोक-भाषा साहित्यारूढ़ होती गई है, तब-तब वह अपना सम्बन्ध सीधे संस्कृत से पुनः जोड़ लेती रही है। यही कारण है कि विद्यापति अपनी अवहट्ट की रचना में अपने नाम तक का अपभ्रंश रूप 'विज्जावइ' रखते हुए देखे जाते हैं पर देशी भाषा की रचना में ऐसा नहीं है।

विद्यापति की रचना को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत गृहीत करने का दूसरा कारण यह है कि शब्दावली के विचार से वे हिन्दी के ही निकट हैं बंगला के नहीं। किसी विशेष साहित्य के अन्तर्गत किसी रचना को मानने के लिए उस रचना की भाषा के क्रियापदों तथा सर्वनामों का ही विचार करना ठीक नहीं जान पड़ता उसमें प्रयुक्त शब्दावली पर भी विचार करना आवश्यक है। यही कारण है कि लोग पिंगल (ब्रजभाषा) ही नहीं, डिंगल (राजस्थानी) की रचनाओं को भी हिन्दी के ही अन्तर्गत मानते हैं। इस बात को छोड़ कर जनता की कसीटी पर भी जब हम इस बात को कसने लगते हैं तब भी मैथिल लोगों के अधिक निकट हिन्दी ही जान पड़ती है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि खड़ी बोली, बाँगड़, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने वाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में आयल, आइल, गयल, गइल, हमरा, तोहरा, आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिन्दी के सिवाय दूसरी नहीं कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिन्दी साहित्य 'वीसलदेव रासो' पर अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।^१

अब रही बंगालियों की दूसरी बात कि विद्यापति ने अपने शृंगारी-काव्य के लिए राधा-कृष्ण को ही चुना है। चैतन्य महाप्रभु के द्वारा वैष्णव धर्म की प्रधानता जो बंगाल में हुई उससे विद्यापति के प्रति भावुक बंगालियों का स्वाभाविक प्रेम हो गया। इन्होंने विद्यापति के राधा-कृष्ण को शृंगार के अधिष्ठातृ देव के रूप में लिया है। इससे स्पष्ट है कि इनका लगाव साहित्य पर जनता के बीच अज्ञात काल से चली आती हुई शृंगार की परम्परा से है, चैतन्य महाप्रभु के उद्बोधन से नहीं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा-कृष्ण की लीला का जो वर्णन है उससे स्पष्ट है कि चैतन्य महाप्रभु के पूर्व पुराणों ने जनता में राधा-कृष्ण लीला का प्रचार कर दिया था। चैतन्य महाप्रभु ने तो उसी पौराणिक भावना को आगे बढ़ाने में योग मात्र दिया। अतः बंगालियों का दूसरा दावा भी निरर्थक है। अन्त में यही कहना पड़ता है कि मैथिल-कोकिल विद्यापति हिन्दी साहित्य के ही रत्न थे।^२

१. रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' संवत् १९६७, पृ० ७०

२. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सम्पादित 'विद्यापति', पृ० ८८-९१

अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक आदियुग में विद्यापति को अपना कवि कह कर उन्हें फुटकल खाते में रखकर संतुष्ट हो जाते हैं। बंगाली भाइयों ने उन्हें अपनाने के लिए जो प्रयास किया उससे विद्यापति का तो कोई महत्त्व नहीं, हाँ, विद्यापति के महत्त्व से वे अपने को महत्त्वशाली करना चाहते हैं यह स्पष्ट है। मैथिल भाइयों के तो वे ही हैं। पर सोचने की बात है कि विद्यापति क्या मैथिलमात्र हैं ? क्या वे मैथिल-कोकिलमात्र हैं ? अथवा क्या वे बंगभाषा या बंगभाषा-साहित्य परम्परा के कवि हैं ? इस पर हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने विचार किया है। अपने-अपने ढंग के तर्क सभी ने दिये हैं। पर ध्यान देने से और थोड़ा गहरे उतरकर विचार करने से पता चलेगा कि विद्यापति को जो सार्वभौम रूप प्राप्त है उसका विचार अभी जमकर नहीं हुआ है। अधिकतर हिन्दी साहित्य की पदावली से विद्यापति द्वारा गृहीत पदावली के साम्य की चर्चा ही की गई है। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य जिस भारतीय परम्परा का ग्रहण करके चला है उसका गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। वस्तुतः जो कठिनाई उत्पन्न कर दी गई है सम्प्रति उसका प्रधान कारण भाषा-विज्ञान का विलायती विचार है। भारत या हिन्दी के भाषा-विज्ञान के पण्डितों ने यदि ग्रियर्सन साहब के दिखाये भागों का अनुगमन मात्र न किया हो तो भी यह तो स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दी भाषा की व्याप्ति जो ग्रियर्सन साहब ने स्वीकार की उससे आगे ये विद्वान नहीं बढ़े अथवा दूसरे ढंग से कहें तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने भारतीय व्याकरणों की बात पर पूरा विचार नहीं किया। विद्यापति के सम्बन्ध में स्थूल रूप से तीन दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है—भाषा की प्रकृति, साहित्य की परम्परा और संस्कृति की एकता।

हिन्दी भाषा की व्याप्ति का विचार करते हुए बिहारी भाषाएँ हिन्दी से पृथक् कर दी गईं। क्योंकि हिन्दी की उपभाषाओं में ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का ग्रहण तो हुआ पर पारम्परिक दृष्टि से उसका विचार न करने से पूर्वी बोलियों को छाँट दिया गया। प्राकृत वैयाकरणों ने पश्चिमी और पूर्वी दो भेद किये हैं और यह भेद आज भी चलता है। इस भेद के कारण हिन्दी भाषा की पुरानी व्याप्ति में अन्तर नहीं पड़ता। हिन्दी मध्य देशीय भाषा है और पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी उसके दो स्वरूप भेद हैं। जैसे पश्चिमी-हिन्दी (प्राकृत वैयाकरणों की शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी) अपने निकट की उत्तर पश्चिम-दक्षिण की भाषाओं को समेटती, उनसे प्रभावित होती, उन्हें प्रभावित करती चली उसी प्रकार पूर्वी-हिन्दी (प्राकृत वैयाकरणों की अर्द्धमागधी की उत्तराधिकारिणी) भी अपने उत्तरपूर्व-दक्षिण की भाषाओं या बोलियों को मिलाती-जुलाती, उनसे मिलती-जुलती चली।

पूर्वी हिन्दी या प्राकृत वैयाकरणों की अर्द्धमागधी है क्या ? उसका नाम ही उसकी प्रकृति को पुकार कर बता रहा है। अर्द्धमागधी वह भाषा थी जिसमें आधी मागधी थी, पर आधी कौन सी भाषा थी ? शौरसेनी ही न ! फिर भी उसका नाम अर्द्ध-शौरसेनी क्यों नहीं रखा गया ? इसीलिए कि उसकी प्रवृत्ति मागधी की ओर अपेक्षाकृत अधिक थी। बोलियों का जो लेखा-जोखा ग्रियर्सन साहब ने दिया है उसमें उन्होंने पूर्वी-हिन्दी को केन्द्र में माना है। आगे चलकर श्री सुनीति कुमार चटर्जी ने

पश्चिमी-हिन्दी को केन्द्र में स्वीकार किया। ग्रियर्सन साहब ने आगे चलकर अपने निश्चय को बदला और पूर्वी-हिन्दी के स्थान पर केन्द्र में हिन्दी को स्वीकारा तथा पूर्वी हिन्दी को बहिर्वर्ती भाषाओं से अधिक सम्बद्ध बतलाया। पूर्वी-हिन्दी के निकट बहिर्वर्ती भाषा बिहारी पड़ती है और उसके अन्तर्गत मैथिली और भोजपुरिया हैं जिनमें बहुत अन्तर है। मैथिली से भोजपुरिया बहुत भिन्न है। चटर्जी महोदय इसी भोजपुरिया को पृथक् रखने के पक्ष में हैं। अर्द्धमागधी से सम्बद्ध पूर्वी हिन्दी अर्थात् अवधी का भाषा की दृष्टि से मैथिली से अधिक लगाव रहा, भोजपुरिया से नहीं। अवधी के भी दो रूप पश्चिमी और पूर्वी हैं। पश्चिमी अवधी शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा के निकट अधिक हुई और पूर्वी अवधी मैथिली के। इसलिए पूर्वी अवधी और मैथिली में प्राचीन युग में जो साहित्य निर्मित हुआ उसके देशगत भाषाभेद के अतिरिक्त और कोई साहित्यिक और सांस्कृतिक भेद नहीं रहे। जनता की जो विचारधारा पूर्वी अवधी में थी वही मैथिली में थी वही बँगला में नहीं।

एक बात पर विचारकों ने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है। प्राकृत वैयाकरणों ने शौरसेनी की प्रकृति का विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रकृतिः संस्कृतम्' और मागधी की प्रकृति का विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रकृतिः शौरसेनी'। प्रायः 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थ यह लगाया गया कि शौरसेनी संस्कृत से निकली है—'संस्कृत' प्रकृति है और शौरसेनी 'विकृति'। पर वैयाकरणों का यह कथन वास्तविकता से मेल नहीं खाता। अतः यदि उन बुध-वैयाकरणों की बात में सचमुच तत्व माना जाय तो इसका तात्पर्य यही मानना समीचीन होगा कि 'प्रकृतिः संस्कृतम्' से वे यह लक्षित करते हैं कि शौरसेनी का भुकाव संस्कृत की ओर है। शौरसेनी अपने शब्दों की नई योजना संस्कृत के ढंग पर करती है अर्थात् शौरसेनी संस्कृतस्थ है। पर मागधी संस्कृतस्थ न होकर शौरसेनी की प्रकृति की है अर्थात् वह 'प्राकृतस्थ' है। इस प्रकार मागधी में एक ओर तो शौरसेनी की-सी संस्कृत-प्रवृत्ति आई और दूसरी ओर प्राकृत-प्रवृत्ति। मागधी से प्रसूत बिहारी और बँगला ने इन दोनों प्रवृत्तियों को अलग-अलग ग्रहण किया।

बिहारी अर्थात् मैथिली तो प्राकृतस्थ रही पर बँगला संस्कृतस्थ हो गई। बँगला की यह प्रवृत्ति बहुत पहले ही राजशेखर ने लक्षित कर ली थी और कहा कि 'गौड़ाद्याः-संस्कृतस्थाः'। बँगला की यह प्रवृत्ति आज भी ज्यों की त्यों है। बँगल अपनी इस प्रवृत्ति में शौरसेनी अर्थात् ब्रजबुली से मिलती है, पर न वह इस दृष्टि से मैथिली से मिलती है; न अवधी (पूर्वी) से। किन्तु मैथिली और अवधी की ये प्रवृत्तियाँ एक-सी हैं। ठेठ की जैसी प्रवृत्ति अवधी में है वैसी ही मैथिली में। प्रायः लोग कहा करते हैं कि जायसी आदि सूफी कवियों ने अवधी का ठेठ रूप ग्रहण किया है। मानो अवधी के दो रूप हों—एक ठेठ और दूसरा अठेठ या परिष्कृत। ऐसा भ्रम वस्तुतः तुलसीदास जी के कारण हुआ है। तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में अवधी का ठेठ रूप जो उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल था हटाकर उसे ब्रजभाषा के संस्कृतस्थ रूप के निकट ले जाने का प्रयास किया। इससे यह भ्रान्ति होने लगी कि तुलसीदास जी ने

अवधी का साहित्यिक रूप ग्रहण किया और जायसी आदि ने उसका ठेठ रूप। सूफ़ी कवियों ने, वस्तुतः तुलसीदास जी ने अवधी भाषा में बहुत बड़ा परिष्कार किया। उनके वे छोटे-छोटे ग्रन्थ ही जो पूर्वी-अवधी में निर्मित हैं भाषा के प्रकृत रूप का पता देते हैं। 'मानस' की भाषा तो उन्होंने गढ़ी है। अवधी में ग्रंथ-निर्माण बहुत दिनों से होता रहा है। जैनों के बहुत से ग्रंथ अवधी या अर्द्धमागधी अपभ्रंश में हैं। उनकी भाषा से मिला देखिये पता चल जायेगा कि इस भाषा की प्रवृत्ति और प्रकृति ठेठ की ही रही है। जायसी आदि का अज्ञान भाषा के ठेठ रूप को ग्रहण करने का कारण नहीं है। भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति ही ऐसी है। अवधी की इस प्रकृति और प्रवृत्ति को हिन्दी में सबसे पहले तुलसीदास जी ने 'मानस' में परिवर्तित करने का प्रयास किया। यही क्यों उन्होंने 'विनयपत्रिका', 'रामगीतावली', 'कवितावली' (जो ब्रजभाषा में लिखे गये हैं) में अवधी के प्रयोग मिला दिये हैं। भाषा ब्रज ही रही (उसका व्याकरण-संगत रूप ब्रज का रहा) पर प्रयोग अवधी के भी मिल गये। तुलसीदास जी के इस मिश्रण का हिन्दी-साहित्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। आगे के कवियों अर्थात् शृंगार काल या रीतिकाल के कवियों ने मिली-जुली भाषा का व्यवहार किया। ब्रज और अवधी के जो पृथक् प्रयोग थे वे मिलकर एक हो गए। केवल ब्रज की कर्मणि-कर्तरि प्रवृत्ति बनी रही अवधी की भाँति केवल कर्तरि नहीं हुई तथा ब्रज के कृदन्तों के ओकारान्त रूप भी जहाँ-तहाँ आते रहे। अन्यथा सारा ढाँचा ऐसा हो गया कि ब्रजभाषा का निरूपण करने जब भिखारीदास जी बैठे तो उन्हें कहना पड़ा कि—

तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार ।

इनके काव्य में मिली भाषा विविध प्रकार ॥

जो लोग ब्रजभाषा का व्याकरण बनाने बैठे उन्होंने तुलसी के प्रभाव से रंजित भाषा को ही उदाहरण के लिये ग्रहण किया। फलतः उनका जो व्याकरण बना वह इसी मिश्रित भाषा का। इस मेल के कारण 'मानस' में (जो अवधी में है) कर्मणि-प्रयोग प्रायः ब्रज के-से हुए और कुछ लोगों को यह कहने के लिये बाध्य करते रहे कि 'मानस' की अवधी को ब्रजभाषा से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। किसी-किसी ने तो यहाँ तक कह दिया कि अवधी का पृथक् अस्तित्व ही नहीं। तुलसी की इस मिश्रित भाषा से ब्रजभाषा के प्रसिद्ध मर्मज्ञ रत्नाकर जी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके जिनके ग्रन्थों में अनेक पूर्वी प्रयोग आ ही गये। यह सब इसलिये कहना पड़ा कि कोई "बन्दो गुरुपद पदुम परागा सुखि सुवास सरस अनुरागा" आदि को पेश करके कहीं यह न कह बैठे कि अवधी की प्रवृत्ति भी संस्कृतस्थ थी। वस्तुतः वह प्रवृत्ति की नहीं गई थी। इस 'प्राकृतस्थ प्रवृत्ति' को विद्यापति भी भली-भाँति जानते थे। उन्होंने 'कीर्तिलता' में जो यह लिखा है कि "देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तँ तँसन जंपअों अवहट्ठा" वह इसीलिए कि अवहट्ठा अर्थात् अपभ्रंश वस्तुतः 'नागर' था—संस्कृतस्थ था, उसे उन्होंने 'देसिल बअना' के समान करने का प्रयास किया अर्थात् उन्होंने उसमें प्राकृतस्थ प्रवृत्ति का मेल किया। 'तँसन' का अर्थ 'वही' नहीं है 'वैसा' है। तुलसीदास जी ने पूरबी भाषा में पछाहीं का मेल किया था और विद्यापति जी ने पछाहीं रूप में

पूरबी का मेल किया था। इस मेल के कारण चाहे आप यह कह लें कि यह पूरबी अपभ्रंश है या यह मान लें कि अपभ्रंश के उत्तरकालिक रूप का नाम अवहट्ठ है, जैसा विद्यापति की भाषा में मिलता है। पर बात इतनी ही है कि विद्यापति ने उसमें मेल किया। यह तो स्पष्ट ही है कि विद्यापति ने जिस भाषा में 'कीर्तिलता' की रचना की है उसका प्रयोग उस समय बोलचाल में मिथिला में क्या, कहीं नहीं था। बोलचाल की भाषा में तो उन्होंने गीत लिखे हैं, पद बनाये हैं।

इस प्रकार भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति के कारण विद्यापति की पदावली की भाषा अवधी के निकट पड़ती है। यदि हिन्दीवाले विद्यापति को अपना कवि मानते हैं तो भाषा विज्ञान उन्हें हिन्दी के इतिहास से निकाल नहीं सकता। यदि भाषा की इस प्रवृत्ति के कारण भी नैकट्य होता तो भी कहा जाता कि इतने मात्र से विद्यापति को हिन्दी के भीतर रखने से बाधा है। पर साहित्य की परम्परा के साथ जब विद्यापति को देखते हैं तो वे हिन्दी की ही परम्परा में दिखाई देते हैं। इसके लिए हिन्दी साहित्य के आदिकाल की रचनाओं की छानबीन में प्रवृत्त होने की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में संख्या बाहुल्य वीरगाथाओं का मिलता है इससे उसका नाम 'वीरगाथाकाल' रखना पड़ा है। पर इन वीरगाथाओं की छानबीन कीजिये तो ऐतिहासिकों के अनुसार यह मानने को विवश होना पड़ता है कि न तो १३७५ ई० आदिकाल की उत्तर सीमा के पूर्व की रचना अपने वर्तमान रूप में 'पृथ्वीराज रासा' ही प्रमाणित होता है न 'बीसलदेव रासा' ही। 'खुमान रासा' का नाम ही नाम है। 'पृथ्वीराज रासा' में ही लिखा है कि उसका संग्रह कावका कवि ने किया। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' से इतना ही प्रमाणित होता है कि पृथ्वीराज की प्रशस्ति में रचनायें होती थी। इसे कौन अस्वीकार करता है कि पृथ्वीराज पर रचनाएँ होती थी पर 'पृथ्वीराज रासा' अपने वर्तमान रूप में तत्सामयिक रचना नहीं। जो उसे तत्सामयिक मानते भी हैं वे भी उसे अपभ्रंश का रूप देने में जो उलटी गंगा बहा रहे हैं उनका वह प्रयास ही कह रहा है कि उन्हें भी इस रूप में मान्य नहीं। जो रूप वे उसे अपने प्रयास से देंगे वह पृथ्वीराज के समय की पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश का रूप तो होने से रहा। इतिहास में ऐसे प्रयत्नों का महत्व होगा भी इसे इतिहास के पण्डित ही बतायेंगे। पर गड़ी भाषा अपभ्रंश का वह प्राचीन रूप नहीं पा रही है इसे भाषा विज्ञान के पण्डित आज भी कह रहे हैं।

यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि 'पृथ्वीराज रासा' या 'बीसलदेव रासा' उतनी ही प्राचीन रचनाएँ हैं जितनी उन्हें प्रामाणिक कहने वाले मनवाना चाहते हैं तो भी यही कहा जा सकता है कि आदिकाल की वह एक ही शाखा थी। पर आगे का हिन्दी-साहित्य जिस सरणि को लेकर चला और जिसमें उसका प्रभूत वाङ्मय निहित हुआ वह विद्यापति की ही सरणि थी। विद्यापति ने जिन गीतों का निर्माण किया उन गीतों की परम्परा उसी रूप में भक्तिरंजित होकर कृष्णभक्त कवियों में दिखाई देती है। भक्तिकाल में कृष्णभक्त कवियों के गीतों का जो वाङ्मय पुंजीभूत हुआ वही उस युग में परिमाण में अधिक है। न साखी, शब्दी, रमैनी कहने-वालों का वाङ्मय परिमाण में उतना है और न 'किहनी उपाख्यान' कहने वाले प्रेम की

पीर दिखानेवालों का ही साहित्य उतना प्रचुर है। रामभक्ति का वाङ्मय भी इसके आकार की समता नहीं कर सकता। यदि बाहुल्य की दृष्टि से भक्तिकाल का नाम रखा जाय तो उसे 'कृष्ण-काव्य काल' ही कहना पड़ेगा।

विद्यापति की गीतों की परम्परा के लिए 'गीत गोविन्द' का नाम लिया जाता है। पर इसका कुछ विचार करने की आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट है कि लौकिक संस्कृत में गीत लिखनेवाले सबसे प्रथम जयदेव ही दिखाई देते हैं। पर क्या विद्यापति ने जयदेव के अनुगमन पर गीत लिखे हैं? न, ऐसी बात नहीं है। जयदेव भी मिथिला की ही विभूति थे। मिथिला में जनता में गीतों का माधुर्य ऐसा आकर्षक था कि जयदेव को उन गीतों ने खींच ही लिया और उन्होंने संस्कृत में गीतों का प्रयोग किया, फिर उनका अनुगमन संस्कृत के कुछ और कवियों ने दिया। विद्यापति तो जनसाधारण के प्राकृत प्रवाह में ही अपने गीतों को मिलाये चल रहे थे। अर्थात् जयदेव में गीत की प्रवृत्ति आरोपित है, विद्यापति में वह प्राकृत या सहज है। जयदेव की परम्परा संस्कृत में अवश्य मानी जा सकती है। पर देशी-भाषा में जयदेव की परम्परा का स्वीकार करना पीठ की ओर चलना है। इसके मान लेने का कारण यही था कि जयदेव ने 'गोविन्द' के गीत गाये और विद्यापति ने भी 'राधा-माधव' के गीत गुनगुनाये। विचार करनेवालों ने 'गोविन्द' की परम्परा के बदले 'गीत की परम्परा' ही कह दी। गीत जनता के थे। गीत-गीत देशी-भाषा की सम्पत्ति थी, उसी की परम्परा थी। संस्कृत में दोहा, सवैया, घनाक्षरी भी लिखे गये हैं। अब यदि आगे चलकर यह कहा जाय कि हिन्दी के शृंगार काल के कवियों ने संस्कृत से यह परम्परा ली तो जैसे यह बात उलटी होगी वैसे ही जयदेव की गीत परम्परा में विद्यापति को मानना भी। वस्तुतः बोला दिया नट-नागर 'श्रीकृष्ण' ने, 'कुंज कुटीरे यमुनातीरे वसति वन वनमाली' ने। यहाँ वनमाली गोविन्द वर्ण्य या अलंकार्य की परम्परा के चक्कर में पड़ने की और दूसरों को बामुदेव कृष्ण आदि नामों के ऐतिहासिक छानबीन के घनचक्करी उलभाव में फँसाने की अंगरेजों की बताई और अंगरेजी में लिखी बातों को हिन्दी में उतारकर पाण्डित्य प्रदर्शन के चाकचिक्य में लोगों को डालने की अपेक्षा न है और न अवकाश ही। अकाण्ड-प्रथन से दोष भी होगा। जयदेव विद्यापति से पूर्व थे अतः यदि प्रस्तुत प्रसंग में 'गोविन्द-गाथा' की परम्परा जयदेव से ही मान ली जाय तो उसमें उतनी बाधा नहीं। कहना इतना ही है कि विद्यापति ने हिन्दी में जनभाषा में शृंगार-रस के क्षेत्र के लिये मर्यादा बाँधकर चाहे कृष्णभक्त कवियों का उतना उपकार न किया हो पर शृंगार-काल के कवियों का बहुत बड़ा उपकार कर गए। विद्यापति का काव्य भक्ति-काव्य है या नहीं इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि विद्यापति का कृष्ण-काव्य सूरदास का या अन्य कृष्णभक्त कवियों का कृष्णकाव्य नहीं है। यह यदि भक्तिकाव्य माना भी जा सकता है तो वैसा ही जैसा बिहारी का, देव का, पद्माकर का था। विद्यापति से सूरदास आदि ने कृष्णभक्ति नहीं पाई, पर गीत की शैली अवश्य पाई। विद्यापति के दृष्टकूटों का अनुगमन सूरदास ने बहुत किया है। शृंगार-काल के कवियों ने विद्यापति से चाहे गीत की शैली न पाई हो, पर शृंगार के आलम्बन राधा-कृष्ण अवश्य पाए। अर्थात् एक ने अलंकार पाया, शैली पाई

वर्णनविधि ली; दूसरे ने अलंकार पाया, गाथा पाई, वर्ण्य लिया। इस प्रकार विद्यापति ने आगे आनेवाले हिन्दी साहित्य को यहाँ से वहाँ तक प्रभावित कर दिया। पर यह कवि हिन्दी साहित्य में गृहीत होकर भी आदिकाल के फुटकल खाते में ही फँका रहा, क्या यह ठीक है ?

जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य यदि अपनी परम्परा ढूँढ़ने निकलेगा तो उसे विद्यापति अपना प्रथम कवि दिखाई देगा। विद्यापति की यह परम्परा बँगला में है ? इसका ठीक उत्तर साहित्य नहीं, संस्कृति देती है। बंगाल की संस्कृति शाक्त-संस्कृति है। उससे मिथिला भी प्रभावित है। वैष्णव भक्ति का प्रसार भी उस शाक्त-संस्कृति को बदल न सका। भला संस्कृति भी शीघ्र बदलती है, नव होती है ? भावुक बंगाल की संस्कृति कैसे बदलती ? जगज्जननी का उपासक बंगाल उस आदि संस्कृति का त्याग कैसे कर सकता था। उसने अपनी शक्ति-संस्कृति से राधा को अवश्य अत्यन्त व्यापक बना दिया। हिन्दी-साहित्य का निर्माण जिस हिन्दी प्रदेश में हुआ उसकी संस्कृति रामकृष्ण-भक्ति की संस्कृति है। हिन्दी-साहित्य में सबका ग्रहण (संग्रह) होने पर भी प्रभूत वाङ्मय इन्हीं को लेकर है। यों तो रामायण, महाभारत, भागवत की प्रभावसीमा व्यापक है। रामकृष्ण को ससीम रूप धारण करने पर भी देशसीमा में बाँधा नहीं जा सकता। पर यह तो मानना ही पड़ता है कि दोनों अवतारों की जन्मभूमि और उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशों में उनका प्रभाव नैकट्य के कारण अधिक पड़ा। यहाँ की संस्कृति प्रधान रूप से रामकृष्णस्नेहसंवर्धित संस्कृति ही है। क्यों मैथिल जयदेव गीतगोविन्द गाने लगे, क्यों विद्यापति 'राधा-माधव', 'माधव-राधा' के पदों में लीन हुए—शाक्त-शैव होकर भी। यह चाहे उनकी उदार भक्ति-भावना मानी जाय या उनका साहित्य-परम्परापालन कहा जाय या उनमें जन-जीवन की प्रेरणा सकारी जाय। पर यह तो कहना ही पड़ता है कि चाहे यह जो हो, पर इससे विद्यापति की रचना का जितना अधिक सांस्कृतिक सम्बन्ध हिन्दी साहित्य से स्थापित होता है उतना बंगीय साहित्य से नहीं। फिर भी यदि कोई बँगला का कृष्ण-काव्य सामने करे तो कहा जा सकता है कि कृष्ण-संस्कृति बंगाल में आरोपित है, योजित है। हिन्दी साहित्य के प्रकृत क्षेत्र मध्यदेश (प्राचीन-परिभाषा के अनुसार इन्द्रप्रस्थ-दिल्ली से अंग-भागलपुर तक के प्रदेश) में यह प्रकृत है, सहज है। सहज न कहें तो चिरजात ही कह लें। फिर यदि राधा-माधव-विलास के गीत गानेवाले विद्यापति को हिन्दी-साहित्य अपना कहता है तो इसमें उसका अपराध क्या है ? यह भ्रम न होना चाहिये कि हिन्दी-साहित्य अपनी साम्राज्य-लिप्सा से ऐसा करता है। उसे तो सहज ही ऐसा जान पड़ता है। उसकी भाषा की प्रवृत्ति, उसकी साहित्य की परम्परा और उसकी संस्कृति की प्रेरणा उसे बाध्य करती है कि वह ऐसा कहे। हिन्दी साहित्य की जब भी ऐतिहासिक प्रमाणों से ही छानबीन की जायेगी तो यह निष्कर्ष आज नहीं तो कल हिन्दी साहित्य के इतिहासज्ञों को निकालना ही पड़ेगा कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा की दृष्टि से विद्यापति उसके आदिकवि हैं।'

महाकवि विद्यापति ने संस्कृत के अतिरिक्त मुख्यतः मैथिली में ही वह रचना की है जिसको देख विभिन्न बोलियों के बोलनेवाले उन्हें आज अपने-अपने मंच पर बिठाने से लिए लालायित हैं। आइए, इस मैथिली को भाषा-तत्त्व-विशारदों की छलनी में छानकर देखें और यह जानने का प्रयत्न करें कि भारतीय भाषा व बोलियों के बीच मैथिली का क्या स्थान है ?

१००० ई० सन् के लगभग मध्य-भारतीय-प्राकृतों से आधुनिक भारतीय बोलियाँ विकसित होने लगीं और १२ वीं शती से आगे तो उनका अंशतः संस्कृत से स्वतन्त्र और अंशतः संस्कृत के अनुकरण पर निजी साहित्य भी मिलने लगा। इन बोलियों में सर्वाधिक महत्त्व हिन्दी (जो मध्यदेश गंगा के दोआब का अधिकांश और उत्तर में हिमालय से लगे मैदान से लेकर दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक, पश्चिम में दिल्ली से आगे तक और लगभग कानपुर तक पूर्वी भाग की भाषा रही है) का है। हिन्दी बोलियों में कन्नौजी, बुन्देली, ब्रजभाषा जिनका साहित्य बन चुका था उल्लेख-योग्य हैं। निम्न भाषाएँ अथवा बोलियाँ इस मध्यदेश की भाषा से खूब सम्बद्ध थीं—उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, पश्चिम में राजस्थानी और गुजराती, पूर्व में पूर्वी, पहाड़ी या नेपाली, केन्द्रीय पहाड़ी और पश्चिमी पहाड़ी, राजस्थानी और गुजराती का निकट का सम्बन्ध रहा। राजस्थानी (राजस्थान की एक बोली) मारवाड़ी को गुजराती से विभिन्न नहीं किया जा सकता। पूर्वी हिन्दी (जिसमें तुलसीदास ने रचना की) का बहिरंग भाषाओं से खूब सम्बन्ध रहा। उन बहिरंग भाषाओं में—उत्तर-पश्चिम में पश्चिमी पंजाब की बोली लहंदा और सिन्धी, दक्षिण में मराठी, पूर्व में बिहारी, उड़िया, बंगाली और आसामी रहीं। मैथिली बिहारी की एक उपभाषा है।^१

डा० पी० डी० गुणे ने लिखा है कि बिहारी बिहार में बोली जानेवाली बोलियों का समूह है। इसके पश्चिम में पूर्वी हिन्दी, दक्षिण में पूर्वी हिन्दी, उड़िया और बंगाली और पूर्व में बंगाली है। इसके उत्तर में हिमालय की बोलियाँ हैं। पश्चिम में अवध और फाँजाबाद ठीक इसकी सीमा के बाहर हैं परन्तु बनारस और मिर्जापुर सीमा के भीतर है। यह छोटा नागपुर में भी बोली जाती है। बिहारी की मैथिली, मागधी या मगही और भोजपुरी ये तीन बोलियाँ हैं। इनमें मैथिली प्रमुखतम है। यह मुजफ्फरपुर, दरभंगा, चम्पारन, पूर्णिया और भागलपुर जिले के ऊपरी भाग में बोली जाती है। उत्तर में हिमालय की तराई और दक्षिण में गंगानदी को इसकी सीमा समझा जा सकता है।^२

‘विद्यापति की भाषा’ प्रकरण में शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति की भाषा को ‘मैथिल अवहट्ट’ कहा है और मैथिल अवहट्ट की स्वतन्त्र रूप से वकालत की है। जबकि तथ्य यह है कि विद्यापति की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश का अन्तिम रूप है। डा० एस० के० चटर्जी का कहना है कि पुरब में अशोक के बाद प्रान्तीय भाषाओं की विशेषकर मागधी की उन्नति नहीं हुई। नाटकों में मागधी नीच पात्रों की ही

१. डा० एस० विण्टरनिट्ज, ‘ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर’, भा० १, पृ० ४६-५०

२. डा० पी० डी० गुणे, ‘एन इंट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलोलॉजी’, पृ० २६२

भाषा थी। अर्द्धमागधी तथा मागधी प्रान्तों में भी साहित्यिक क्षेत्र में शौरसेनी ही व्यवहृत होती थी। संभवतः शौरसेनी भी उस समय की शिष्ट भाषा थी। अपभ्रंश युग में पूरब के कवि भी अपनी देशभाषा का व्यवहार न कर शौरसेनी अपभ्रंश में ही काव्य रचना करते थे। प्राच्य भाषाओं के पूरा प्रचार होने पर भी पूर्व देश में पाश्चात्य साहित्यिक शौरसेनी में लिखने की प्रथा जारी रही। बंगाल के प्राचीन लेखकों ने (१०-१३ शताब्दी तक) शौरसेनी अपभ्रंश में कविता-रचना की। १४वीं शताब्दी के मैथिल कवि विद्यापति ने अपनी मातृभाषा मैथिली तथा अवहट्ट (जो शौरसेनी अपभ्रंश का अन्तिम रूप है) में रचना की।^१ वहीं एक सौ तेरहवें पृष्ठ पर चटर्जी ने बताया है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। पूर्वी भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में पाश्चात्य अपभ्रंश प्रचलित थी। नवीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक उत्तर भारत के राजपूत राजाओं की राजसभा में शौरसेनी अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा प्रचलित थी और राजसभा के भाटों ने उस भाषा को उन्नत किया। उन राजाओं के प्रति सम्मान दिखाने के लिये गुजरात तथा पश्चिम-पंजाब से लेकर बंगाल तक सारे आर्य भारत में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हो गया, और वह राष्ट्र-भाषा हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि यही शिष्ट भाषा थी और कविता-रचना के लिये यही उपयुक्त समझी जाती थी। भारत के अन्यान्य प्रान्तों के भाटों को यह भाषा सीखनी पड़ती थी तथा इसमें काव्य-रचना करनी पड़ती थी। कुछ समय तक यही क्रम जारी रहा किन्तु क्रमशः प्रान्तीय भाषाओं ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। १५वीं शताब्दी के मध्यकाल तक मैथिली, अवधी, राजस्थानी आदि भाषाओं ने प्रौढ़ता प्राप्त की, फलस्वरूप केवल मध्यदेश में ब्रजभाषा के रूप में वह पाई जाने लगी। पृथ्वीराज रासो की प्राचीन हिन्दी पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव पड़ा। उसमें अपभ्रंश के रूपों की भरमार है। मध्य-हिन्दी-युग १५वीं शताब्दी की ब्रजभाषा के पहले तथा १००० ई० के पूर्व की विशुद्ध शौरसेनी अपभ्रंश के बाद जिस शौरसेनी अपभ्रंश का व्यवहार होता था वही 'अवहट्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। 'प्राकृत पिंगलम्' में इस अवहट्ट भाषा के पद्यों का संग्रह है। राजपुताना में अवहट्ट 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध थी। स्थानीय भाट प्राचीन भाषा पिंगल तथा राजस्थानी भाषा डिंगल दोनों ही में काव्य रचना करते थे। बिहार, पंजाब तथा राजपुताना की तरह बंगाल पर भी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार बँगला के रचनायुग (७००-९०० ई०) तथा प्राचीन बँगला युग में (९५०-१२०० ई० तक) इसमें बौद्ध (सहजिया) साहित्य की रचना हुई। वह रचना करनेवाले कवियों की मातृभाषा नहीं थी। इसलिये बँगला के अनेक शब्द तथा बँगला की लेखन-शैली (ईडियम) उसमें पाई जाती है।^१ मिथिला में इस शौरसेनी अपभ्रंश में काव्य-रचना की प्रथा विद्यापति के समय तक जारी रही। यह पहले बताया जा चुका है कि विद्यापति ने अवहट्ट में काव्य-रचना की। विद्यापति के अवहट्ट में उस समय की प्राचीन

१. डा० एस० के० चटर्जी, 'ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेण्ट ऑफ़ बंगाली लेंग्वेज', पृ० ६१

अजभाषा तथा मैथिली का सम्मिश्रण है। उसके ऊपर मैथिली के स्वरविज्ञान तथा वर्णविन्यास का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संस्कृत नाटकों में व्यवहृत साहित्यिक प्राकृत का भी प्रभाव समय-समय पर दीख पड़ता है। विद्यापति के साथ अवहट्ट राजसभा की प्रशंसात्मक काव्यरचना तक ही सीमित रही। बंगाल में जब बँगला ने प्रौढ़ता प्राप्त की तब शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसके अर्वाचीन रूपों का व्यवहार बन्द हो गया।^१ इसी प्रकार विद्यापति के बाद मैथिल भाषा ने जब प्रौढ़ता प्राप्त की तब शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसके अर्वाचीन रूपों का व्यवहार घट गया। बिहारी की गणना हिन्दी में कैसे होती है इस विषय में डा० श्यामसुन्दरदास ने स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि बँगला और उड़िया की भाँति बिहारी भाषा भी मागध अपभ्रंश से निकली है तथापि अनेक कारणों से इसकी गणना हिन्दी में होती है और ठीक होती है। इस भाषा का हिन्दी के अन्तर्गत माना जाना इसलिये ठीक है कि बँगला, आसामी और उड़िया आदि की भाँति इसमें 'स' का उच्चारण 'श' नहीं होता बल्कि शुद्ध 'स' होता है।^२

[घ] विद्यापति-अवहट्ट और उनकी पदावली :—इस विषय पर लिखते हुए डा० शिवप्रसादसिंह ने लिखा है कि परवर्ती-अपभ्रंश प्राकृत-प्रभाव से विजडित एक रूढ़ भाषा थी। परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैगलम् के लेखक ने इसे देसिल बघना के स्तर पर उतार लोक-प्रवाह से अभिविक्त करके नया रूप दे दिया। इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रंश नहीं 'अवहट्ट' यानी एक सीढ़ी और बाद की भाषा कहा है।^३ विद्यापति ने 'देसिल बघना' की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उसी तरह के अवहट्ट में 'कीर्तिलता' काव्य लिखूँगा। उस उद्धरण के 'तैतन' शब्द को लेकर विद्वानों ने बहुत व्यर्थ की माथा पच्चो की है। वस्तुतः विद्यापति देसिल बघना से अपनी भाषा मैथिली को सम्बोधित करते हैं जबकि 'अवहट्ट' तत्कालीन सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी। वैसे विद्यापति की पदावली की भाषा को भी लोचन ने अपनी रागतरंगिणी में 'मिथिलापभ्रंश' ही कहा है। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग बहुत ही ढीले-ढाले अर्थ में होता था। कुछ लोग इस मिथिलापभ्रंश शब्द को लेकर कीर्तिलता की भाषा को भी मिथिलापभ्रंश ही कहने लगे। पर लोचन कवि ने तो अपने मिथिलापभ्रंश का साफ अर्थ भी लिख दिया है—

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलापभ्रंश भाषायाम् ।

श्री विद्यापति निबद्धास्ता मैथिली गीत गतयः प्रदर्शयन्ते ॥

लोचन कवि स्पष्टतः विद्यापति के गीतों की मैथिली भाषा को 'मिथिलापभ्रंश' कहते हैं। 'कीर्तिलता' की भाषा के लिये उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। अपभ्रंश का

१. डा० एस० के० चटर्जी, 'ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेन्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज', पृ० ११३-११४

२. हिन्दी भाषा और साहित्य, पृ० ३६

३. डा० शिवप्रसाद सिंह कृत 'विद्यापति', पृ० २१५

अर्थ उनके लिये देशी भाषा था इसीलिये उन्होंने 'देश्याम्' लिखा। पदावली की भाषा मैथिली है इसमें शक नहीं, पर उस पर अवहट्ट (परवर्ती शौरसेनी अपभ्रन्श) का भी कम प्रभाव नहीं है। इसी कारण विभक्तियों और परसर्गों में तथा कुछ-एक क्रिया रूपों में पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

चौदहवीं शती में उत्तर-भारत की भाषास्थिति का पर्यवेक्षण करने पर कुछ प्रकार की भाषाएँ प्रचलित दिखाई पड़ती हैं। चौदहवीं शताब्दी में प्रचलित भाषाओं के विश्लेषण के आधार पर तत्कालीन उत्तर-भारत की भाषास्थिति का कुछ अनुमान नीचे की सूची से हो सकता है।

१. संस्कृत-प्राकृत—दोनों साहित्यिक भाषाएँ जनता से कटी हुई, थोड़े लोगों के बुद्धिविलास की वस्तु रह गई थीं फिर भी इनमें काव्य-प्रणयन हो रहा था। श्री हर्ष का 'नैषध' तत्कालीन संस्कृत और 'समराइच्च कहा' आदि प्राकृत भाषा के आदर्श ग्रंथ हैं।

२. शौरसेनी अपभ्रन्श का साहित्यिक रूप—जैन लेखकों की रुढ़ अपभ्रन्श आदर्श। शालिभद्रशूरि (११८४ ई०), लखण (१२५७ ई०) आदि की रचनाएँ इस श्रेणी में आती हैं।

३. शौरसेनी का परवर्ती अवहट्ट रूप—सिद्धों के दोहे, कीर्तिलता, अद्दहमाण के 'संदेशरासक' के दोहे इस भाषा के आदर्श हैं।

४. अवहट्ट और राजस्थानी के किञ्चित् मिश्रण से उत्पन्न पिंगल—प्राकृत पिंगलम्, प्राचीन रासो काव्य, रणमल्ल छन्द आदि इस भाषा के आदर्श हैं। चारण शैली की भाषा है।

५. पश्चिमी प्राचीन राजस्थानी या गुजराती मिश्रित अपभ्रन्श—जिसमें शौरसेनी का कम प्रभाव न था, यह भी साहित्यिक भाषा हो गई थी, तेसीतरी ने इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

६. देश-अपभ्रन्शों से विकसित जन भाषाएँ—प्रारम्भिक मैथिली, राजस्थानी, गुजराती आदि। विद्यापति की पदावली की भाषा मूलतः नम्बर ६ के अन्तर्गत सम्मिलित मैथिली है, इसमें शक नहीं पर इस पर नम्बर ३ और ४ का प्रभाव भी कम नहीं है।

(ङ) हिन्दी और मैथिली—परवर्ती अपभ्रन्श साहित्य में हिन्दी के बीज ही निहित नहीं अपितु हिन्दी अपनी समस्त शारीरिक गठन समेत उससे किस भाँति उद्भूत एवं विकसित हुई और उसके इस परम्परित उद्भव और विकास में ज्योतिरी-स्वर व विद्यापति की अपभ्रन्श रचनाओं का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है इस सबको श्री नामवरसिंह ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी के विकास में अपभ्रन्श का योग' में (पृष्ठ ५२-१७२) बखूबी प्रदर्शित किया है।

परवर्ती काल की पूर्वी अपभ्रन्श में जिस मात्रा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ग्रहण किया गया पश्चिमी में उसका शतांश भी नहीं हुआ। एक ओर 'कीर्तिलता' और 'वर्णरत्नाकर' तथा दूसरी ओर 'संदेश रासक' से 'प्राकृत पिंगलम्' तक की रचनाओं

से तुलना करने पर यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है। इसी तरह इसलाम के सम्पर्क से अरबी और फ़ारसी शब्दों का ग्रहण भी पूर्वी अपभ्रंश में बहुत हुआ। यह अवश्य है कि 'कीर्तिलता' और 'वर्णरत्नाकर' में अरबी और फ़ारसी शब्दों को अपनी स्थानीय उच्चारण-विधि के अनुकूल मोड़ कर ग्रहण किया जैसे तुर्क को तुलुक अथवा तुश्क, सुलतान को मुस्तान, हज़ार को हुज़ार, प्याज़ को पयाज़ बना कर अपनी बोलचाल में खपा लेने की कोशिश की गई।

अवहट्ट अथवा परवर्ती अपभ्रंश के बाद भारतीय आर्य भाषा में अतिशय देश-भेद की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। साहित्य-अवहट्ट के अधिक से अधिक तीन प्रदेश-भेद थे—पश्चिमी, पूर्वी और मध्य-देशीय। किन्तु इसके बाद चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही गुजराती, मराठी, बँगला आदि आधुनिक भाषाओं की स्वतन्त्र सत्ता दिखाई पड़ने लगती है। यही नहीं, स्वयं मध्यदेश में भी राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, अवधी और मैथिली आदि बोलियों की निजी विशेषताएँ स्पष्ट होने लग जाती हैं। भारतीय आर्य भाषा में घटित होने वाला यह क्षेत्रीय भेद प्राकृत-काल के क्षेत्रीय भेद से भिन्न है। प्राकृत भेदों में मुख्य भेद उच्चारण सम्बन्धी भी है।

भाषा के इतिहास में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। गुजराती, मराठी, बँगला तथा हिन्दी बोलियों का उदय और विकास अपभ्रंश के ही गर्भ में धीरे-धीरे सैकड़ों वर्षों से होता आ रहा था। एक ओर साहित्यिक अपभ्रंश के रूप धीरे-धीरे अप्रचलित होते गये और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के नये रूप प्रचलन में आते रहे। क्रमशः प्राचीन रूपों के ह्रास और नवीन रूपों के विकास की प्रक्रिया से ही आधुनिक भाषाओं का उदय हुआ। चौदहवीं शती के आसपास इन जनपदीय बोलियों का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में शीघ्र हुआ। क्यों ? इन जनपदों के इतिहास पर विचार करने से पता चलेगा कि अनेक छोटे-मोटे राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद इनकी भौगोलिक सीमाएँ शताब्दियों पहिले से बहुत कुछ अपरिवर्तित रहती आई हैं—ये देश अपभ्रंश काल से ही आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से स्वतन्त्र इकाई के रूप में रहे। जैसे गुजरात के सोलंकी, देवगिरि के यादव और बंगाल के पालराजा। इन राजवंशों ने संस्कृत की अपेक्षा लोक-बोलियों को अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया।

मध्य देश की भाषा का विकास दूसरे ढंग से हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थानी और मैथिली बोलियों का उदय पहले हो गया, इसके बाद अवधी का उदय हुआ। ब्रजभाषा और खड़ी बोली का उदय लगभग साथ ही साथ हुआ। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा खड़ी बोली से पहले ही लोकप्रिय तथा प्रौढ़ हो गई। खड़ी बोली उठी तो बहुत पहिले ही लेकिन एक तो जन्म के साथ इसे मातृभूमि छोड़कर दक्षिण में प्रवासी होना पड़ा, दूसरे यह शुरू-शुरू में विदेशी भाषाभाषियों के हाथ पड़ गई, तीसरे विदेशी धर्म-प्रचार का साधन बन गई, चौथे संयोग से सामान्य जनसमुदाय से दूर नगर तथा राजदरबार में बँध गई, इसलिये आरम्भ में इसका उत्थान ब्रजभाषा की अपेक्षा मन्द पड़ गया। क्योंकि खड़ी बोली के ठीक विपरीत ब्रज भाषा का विकास उसकी ठेठ जन्म-भूमि में ही हुआ, उसे संस्कृत की विशाल परम्परा सा आधार प्राप्त

हुआ, वैष्णवभक्ति के प्रसार का गौरव मिला और सबसे बढ़ कर लोक-हृदय के प्रति-निधि भक्त कवियों का सम्बल मिला। पंजाबी का उदय भी तभी हुआ जब उसे नानक आदि सन्त कवियों की भावराशि तथा सामान्य जनसमूह के सांस्कृतिक जागरण की प्रेरणा मिली। यदि हिन्दी बोलियों में से एक-एक को लेकर उनके उदय के कारणों पर विचार किया जाय तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होंगे जिनसे बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ निर्मूल हो सकती हैं। मैथिली का उदय इतना पहिले इसीलिये संभव हो सका कि मिथिला शासन की स्वतन्त्र इकाई के रूप में एक ही राजवंश के अन्तर्गत कई शताब्दियों तक स्थापित रहा। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति उसी राज्यकाल की उपज हैं। सांस्कृतिक इकाई के रूप में इस जाति का संगठन दीर्घ परम्परा से होता आया है। भौगोलिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से उन दिनों मिथिला मध्य देश से अलग और स्वतन्त्र था। फलतः इस प्रदेश की बोली हिन्दी की अन्य बोलियों से बहुत कुछ भिन्न हो गई। तथापि मैथिली शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित रही। मैथिली का उदय और विकास जिस गति से हुआ वह पीछे प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मन्थर हो गया। लेकिन आधुनिक युग में जातीय भावना के अभ्युदय के साथ ही मैथिली फिर बढ़ चली और आज स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि यह बोली परिनिष्ठित हिन्दी से अलग स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकास कर जायेगी।

राजस्थानी की स्थिति भी बहुत कुछ मैथिली जैसी ही है। पश्चिमी राजस्थान बहुत दिनों तक जातीय और प्रशासकीय रूप में गुजरात से संबद्ध रहा, दोनों जातियों और बोलियों का विकास साथ-साथ हुआ—पुरानी गुजराती और पुरानी पश्चिमी-राजस्थानी में बहुत कुछ समानता का होना इस तथ्य का प्रमाण है। दूसरी ओर पूर्वी-राजस्थान पृथ्वीराज चौहान के ही समय से और शायद उससे भी कुछ पहिले से दिल्ली-आगरा के शासन-सूत्र से सम्बद्ध रहा। फलतः उसकी भाषा (पूर्वी-राजस्थानी) पुरानी व्रजभाषा से मिलती-जुलती है। धीरे-धीरे राजस्थान का राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास इस प्रकार हुआ कि राजस्थानी बोली समूह की मुख्य बोली मारवाड़ी प्रधान हो गई और अब वह परिनिष्ठित हिन्दी से स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा के रूप में गठित होने लगी है।

मैथिली और राजस्थानी के विपरीत देश की शेष तीन मुख्य साहित्यिक बोलियाँ अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली अलग-अलग होती हुई भी आरम्भ से ही एक जातीय भाषा के रूप में विकसित होने के लिये प्रयत्नशील दिखाई पड़ती हैं। इतिहास साक्षी है कि अवधी में किस प्रकार तुलसीदास के समय तक आते-आते व्रजभाषा में अपना अस्तित्व मिला कर एक काव्य-भाषा के निर्माण में योग दिया और आगे चलकर अवधी-मिश्रित व्रजभाषा ही मध्य देश की सर्वमान्य काव्य-भाषा हो गई। साहित्यिक दृष्टि से अवधी ने अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा कर दिया। इसी तरह व्रजभाषा ने भी खड़ी बोली के लिये मार्ग प्रशस्त करके नवीन साहित्यिक भाषा को आगे बढ़ाया^१।

१. नामवरसिंह कृत 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृष्ठ ८६-८८

विद्यापति की भाषा के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मैथिली भाषा उसी हाड़माँस से सँवारी गई एक भाषा है जिसकी श्रेष्ठकृति हिन्दी है। और इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पूर्वी भाषाओं के क्षेत्रीय रूपों में इसका व्यापक रूप रहा है। ब्रज और अवधी के समान ही यह भी साहित्यिक भाषा रही है। मिथिला भाषा का जितना मेल अवधी और ब्रज भाषा से है उतना बँगला से नहीं। मिथिला भाषा का शरीर इस तरह हिन्दी है और परिधान बँगला और परिधानसाम्य भी पड़ोस के कारण ही सम्भव हुआ। कुछ निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण समानताओं पर दृष्टिपात कीजिए, पूर्वी हिन्दी और मिथिला भाषा की समानता आपको ऐक्यभाव ग्रहण करने के लिये विवश कर देगी—

१. मैथिली का सामान्य भूत में लकारान्त प्रयोग—मिभाएल, खाउल, हरल, कहल, सुनल, लेल, गेल, राखल, जागल आदि पूर्वी हिन्दी के अधिक मेल में हैं। विद्यापति की पदावली इन प्रयोगों से भरी है, यथा—

सँसव जीवन दहु मिलिगेल ।

अवनक पथ दुहु लोचन लेल ॥

२. पूर्वी हिन्दी में मूलधातु का अकारान्त रूप जो प्रधानतया वर्तमान का रूप है, भूतकाल का भी काम दे जाता है, मैथिली में भी प्रयुक्त है। देखें—

मैथिली—जनि जनि पुछ बनमारि । (पूछता है, पूछा)

हिन्दी—बनउजार युवराज । (उजाड़ता है, उजाड़ दिया)

छुवतहि दूट पिनाक पुराना । (दूटता है, दूट गया)

३. इसी भाँति पूर्वी हिन्दी के शुद्ध अइ और अय रूप मैथिली में अइ और अय के रूप में ही दर्शित हैं—

मैथिली—निरजन उरज हेरइ कत बेर ।

घन घन घनए घुघुरका बाजय ।

हिन्दी—अंगद चरण टरइ नहि टारे ।

साजय लाखन साज ।

४. पूर्वीय हिन्दी में मूलधातु के साथ 'ब' लगाने से वर्तमान और भविष्य के रूप बनते हैं। मैथिली में भी वर्तमान और भविष्य में ये प्रयोग समान हैं—

मैथिली—सखि कि कहब कहइतें लाज ।

कान्हु हेरब मन छल बड़ साध ।

हिन्दी—कैसे धूप सहब बिनु छाँहां । (जायसी)

भाषा बढ़ करब मैं सोई । (तुलसी)

५. मैथिली में स्वरों को अलग-अलग रखने की प्रवृत्ति है यथा—बेचए, बाँघए, भाँपए, हेरए आदि। यही प्रवृत्ति पूर्वी हिन्दी में भी विद्यमान है। औरत,

ऐनक, ऐसा, जैसा, कैसा, पैसा, आदि का उच्चारण पूर्वी हिन्दी में अउरत, अइनक, अइसा, जइसा, कइसा, पइसा की भाँति होता है। विद्यापति के समसामयिक कबीर की रचनाओं में—सीअउ, दइया, पाइआ लाइआ जैसे प्रयोगों की भरमार है।

६. उच्चारण की दृष्टि से क्ष, क, ख, या क्ख, प्रयोग मैथिली की ही विशेषता नहीं है और न ही पदादि में 'य' के स्थान में 'ज' उच्चारण की ही। हिन्दी में भी ये रूप सदा ग्राह्य रहे हैं—

अखे पुरुख इक डार है। (कबीर)
कोरी मटकी दही जामायो जाखन पूजन पायो। (सूर)
जेहि खन राम शंभु धनु तोरा। (तुलसी)
तजा राज राजा भा जोगी। (जायसी)
जोगी हुआ जुगुत नहि जाना। (कबीर)
एहि जग जामिनी जागहि जोगी। (तुलसी)

७. इसी प्रकार 'पारना' शब्द का प्रयोग 'लाना', 'सकना' के अर्थ में और 'मेलना' का प्रयोग 'डालना' या छोड़ना के अर्थ में—मैथिली की भाँति पूर्वीय हिन्दी में भी है (सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ और कुछ भाग अम्बाला जिले के देहातों में 'मेलना' शब्द का प्रयोग आज भी डालना, 'छोड़ना', 'परोसना' के अर्थ में हो रहा है) कोर, अगोर तथा अहिबात आदि शब्द तो हिन्दी में बहुश्रुत हो चुके हैं—

मैथिली—लखए न पारिअ जेठ-कनेठ।
कत ओक दैत्य मारि मुँह मेलल।
अहो निसि कोर अगोर।

हिन्दी—सखी सब पारत गारी। (कबीर)
बूझ लेहु जो बूझे पारहु। (जायसी)
पर हथ पारिन प्राण। (बिहारी)
मेलेसि कंठ सुमन कर माला। (तुलसी)
पारावार पूरण अपार परब्रह्म रासि।
जमुदा के कोरे एक बार ही कुरै परी। (देव)
हाड़-मांस कत रहो अगोरे। (देव)
अचल रहे अहिबात तुम्हारा
जब लगि गंग-जमुनकर धारा। (तुलसी)

८. मैथिली की विभक्तियाँ, सर्वनाम और क्रियाओं के रूप सभी हिन्दी से सम्बन्ध रखते हैं। सम्बन्धकारक के लिये क, का, कां, केर तथा सम्प्रदान में 'के लिये' के अर्थ में 'लागि का प्रयोग विद्यापति ने किया है। ये विभक्तियाँ उसी रूप में हिन्दी में भी प्रयुक्त हैं—

मैथिली—मदन क भाव पहिल परचार ।

जे पुरुष देखन तेकर भाग ।

मनमथ कां साधन नहि आन ।

मुनल कठिन पण कामिन केर ।

रूप लागि मन धाओल रे ।

हिन्दी—मसिक बूंद तिल सोह कपोला । (जायसी)

तो नीको तुलसी क । (तुलसी)

भुए भरम कहूँ का कर जाना । (कबीर)

प्राण गए कहूँका की मइया । (कबीर)

ताकर नाम भरत अस होई । (तुलसी)

नृपन केरि आशा-निसि नासी । (तुलसी)

राजमुकुट दशकंधर केरे । (तुलसी)

सो मम हित लागी जन अनुरागी ।

प्रगट भए श्रीकंठा । (तुलसी)

नयन अमिय रस लागि । (देव)

९. अपादान के अर्थ में पाए, चाहि, सयं, सजों का प्रयोग मिलता है और हिन्दी में ये विभक्तियाँ चाहि, सिउ, से, सैं, सो, ते, तैं आदि रूप में प्रयुक्त हैं। समानता की व्याख्या में इन पर कुछ भी कहना व्यर्थ है।

१०. मैथिली में विद्यापति ने कर्ता, करण और अधिकरण में ए, ऐ, हुँ और अनुस्वार का सहारा लिया है। मध्यकालीन पूर्वोक्त हिन्दी में इन विभक्तियों का रूप भी यही है। अधिकरण में हि, ही, अहि, महि का उपयोग विद्यापति करते हैं तो कर्म में के, कैं, ए, ऐ का प्रयोग भी उन्हें मान्य होता है। कहीं विषमता का नाम नहीं।

११. सर्वनामों के रूप में भी विद्यापति की मैथिली हिन्दी से भिन्न नहीं—कि, के, ककर, कतय, से, ततय, तखन, जखन, जे, एहि, ई आदि रूपों के लिये उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं।

१२. फिर मैथिली और पूर्वोक्त हिन्दी में ही नहीं, खड़ी हिन्दी में उत्तमपुरुष के रूप हम, हमें, मए, मबे, मों, मोहि, हम लागि, मोर, मोरा, हमर, हमारा, मोरि; मध्यमपुरुष के—तोंह, तव, तुव, मए, मबे, अन्य पुरुष के—से, जे, सो, जो, तसु, ते, तन्हि, ताहि, ताकैं, तोहेरि, ताकर, तन्हिक, तासजों, तासों, : निश्चय समीपार्थ में—इ, एह, एहि एहे : निश्चय दूरार्थ में—ओ, ओहे, आहु : सम्बन्धवाचक में—जे, जेहे, जन्हिका जासु, जाहि, जाकर : प्रश्नवाचक में—केओ, कै अ, कोई और निजवाचक में—अपन, अपना, सबे, सब आदि सर्वनामों का विभेद होना भी कठिन है। सभी एक, एकदम एक प्राण।

१३. मैथिली में वर्तमान काल में लिंग-भेद नहीं पाया जाता है। विद्यापति भी उसी मार्ग पर चले हैं—(दूति भय अनुजनमए नारि) किन्तु भूत और भविष्यत

काल में उन्होंने लिंग भेद किया है—('आज जाइत पथ देखलि रे' तथा 'कअनो ढोइत इ गारि') पूर्वीय हिन्दी में भी ऐसे प्रयोगों की कमी नहीं।

१४. मैथिली में विद्यापति ने 'जनि' शब्द का 'मानो' अर्थ में ('जनि जागे मनसिज भूपरे') और जनु शब्द का नहीं अर्थ में 'विसमकुसुम सर काहु जनु लागु' प्रयोग किया है किन्तु पूर्वीय हिन्दी में तुलसी 'जनि' शब्द का नहीं अर्थ में (राजा छाड़ि जनि होहु भिखारी) एवं 'जनु' शब्द का 'मानो' अर्थ में (वारिद तप्त तेल जनु बरसा) व्यवहार किया है। दोनों के प्रयोग विपरीत हैं। फिर भी आश्चर्य की बात है कि आज मैथिली में भी जनि, जुनि का अर्थ निषेधात्मक हो गया है और जनु का भाव बदल गया है 'मानो' में।

यह दुःखद प्रसंग है कि आज कुछ मैथिली के विद्वान, राजनीति को प्रधानता देते हुए अलग मिथिला प्रान्त की माँग ही नहीं करते, मैथिली को हिन्दी से सर्वथा दूर की भाषा भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मैथिली से हिन्दी उसी प्रकार अभिन्न प्राण है, जिस प्रकार अवधी किंवा ब्रजभाषा से एकात्मक। मैथिली भाषा जगज्जननि सीता की भाषा है। उसका सांस्कृतिक सम्बन्ध भारत भूमि की विभिन्न भाषाओं से है। वह अपनी काया में भी शीलस्वरूप हिन्दी है। दरभंगा जिला के एक अंश विशेष को ही मिथिला प्रान्त बना दिया जाय, हमें खुशी होगी किन्तु मैथिली तो हिन्दी से पृथक् होने से रही। भोजपुरी, मागधी को भी लोग हिन्दी से पृथक् कह सकते हैं, कहते भी हैं किन्तु उक्त कथनों का कोई मूल्य नहीं। मैथिल कोकिल विद्यापति हिन्दी कोकिल हैं—हिन्दी के कानन से उनका निष्कासन कठिन है। विद्यापति के सम्मान में उनके जीवन पर सर्वप्रथम हिन्दी के ही भावुक कवि अरुण ने प्रबन्ध काव्य लिखने की श्रद्धा अपनाई किसी तथाकथित मैथिली-भक्त का प्रयास उस ओर नहीं हुआ। आज भले ही मैथिली-भक्त विद्यापति को अपना कवि बताने में महाभारत की लड़ाई भी लड़ लें।

विद्यापति हिन्दी के प्रथम कवि क्यों कहे जा सकते हैं—इस सम्बन्ध में हमें अब यही कहना है कि सचमुच हिन्दी में खड़ी बोली के अतिरिक्त और भी उन्नत भाषाओं अवधी, ब्रज और मारवाड़ी की कविताओं को हिन्दी का माना गया। हिन्दी—क्षेत्र (मोटे तौर पर अम्बाला से लेकर बिहार में भागलपुर तक) जहाँ के लोग मातृ-भाषा न रहने पर भी हिन्दी को अपनी भाषा मानते हैं, पठन-पाठन व राज-काज की भाषा मानते हैं, वहाँ की मैथिली भी एक समृद्ध साहित्यिक भाषा है। उसके आदि कवि विद्यापति से पुराना हिन्दी का कोई कवि नहीं है।

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश परम्परा और विद्यापति—

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि किसी भी देश की साहित्यिक निधि एक अखण्ड परम्परा के रूप में होती है। कालगत विशेषताओं के कारण प्रत्येक युग का साहित्य परिवर्तित रूप ले कर भले ही आवे किन्तु वह अपने पूर्व की भाव-सन्तति

और कल्पना सम्पत् से सर्वथा भिन्न न होगा। कोई भी कवि हो, किसी न किसी रूप में अपने पूर्वकालीन कवियों का दाय लेकर ही आता है। पूर्वजों से मिली विरासत का उपयोग, उसका परिवर्तन अथवा ह्रास, उसके सही-गलत प्रयोग पर ही उसकी सफलता अथवा निष्फलता जाँची जाती है। विद्यापति हिन्दी के श्रेष्ठ भक्त-शृंगारी कवि हैं और निस्सन्देह सर्वप्रथम रीति कवि हैं, किन्तु गवेषणा-क्षेत्र में विचरण करने वाले पावेंगे कि उनकी साहित्यिक परम्परा संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश साहित्यों से सम्बद्ध है। और वह समस्त साहित्य अत्यन्त वैभवशाली है। विद्यापति के सामने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की साहित्यिक निधि उन्मुक्त थी, जिसका उन्होंने जम कर उपयोग किया। भक्त विद्यापति मूलतः शृंगारी कवि थे, अतः उनकी पूर्व-परम्परा के अध्ययन के लिए हमें प्राचीन भारतीय साहित्य की शृंगार-परम्परा को देखना चाहिये।

(क) संस्कृत कविता में शृंगार—(पूर्व-श्रेण्य-संस्कृत-साहित्य)

वैदिक साहित्य—समस्त विश्व-वाङ्मय के प्रारम्भिक-बिन्दु वैदिक साहित्य के प्राचीनतम सहज भावोद्गार जितने सत्य-संवलित तथा महान् हैं, उतने ही प्रसाद-गुण-मण्डित भव्य-कल्पना प्रसूत, छन्दोबद्ध एवं शब्दालंकार शोभित हैं। प्राचीनतम भारतीय कविता में उत्तान-शृंगार विषयक अभिव्यक्ति ऋग्वेद के दशम मंडल के अन्तर्गत 'पुरूरवा-उर्वशी', 'यम-यमी' के संवाद-प्रसंगों में हुई है।^१

पुरूरवा-उर्वशी सम्वाद—

हुये जाये मनसा तिष्ठ घोरे बर्चासिमिश्रा कृणवावहै नु।

न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन् ॥

महाभारत में आये उपाख्यान के अनुसार उर्वशी पुरूरवा को उस रात्रि में नग्न देख कर अन्तर्हित हो गई और सहैलियों समेत कुक्षेत्र के तालाब में बत्तखों के रूप में तैरने लगी। पुरूरवा व्याकुल हो खोज में निकले। उन बत्तखों के बीच उर्वशी को पहिचान लिया और बोले अयि ! निष्ठुर पत्नी अनुरागी चित्त से ठहरो। हम लोग क्षीघ्र कथनोपकथन करें। इस समय यदि हम दोनों में बातें नहीं हों तो आने वाले दिनों में सुख नहीं होगा।

पुरूरवः पुनस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि । ऋग् ० १०-६५-२

उर्वशी की उक्ति—पुरूरवा तुम अपने घर लौट जाओ। मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूँ।

त्रिःस्म मान्हः इनययो वैतसेनो त स्म मेऽव्यत्यै पृणासि ।

पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्वस्तदासीः ॥ ऋग् ० १०-९५-५

“मैं वैसे भी परेशान थी तुम से, क्योंकि तुम दिन में तीन बार अपने वैतस (लिंग) से संभोग द्वारा मुझे शिथिल कर दिया करते थे। यह ठीक है कि हे वीर

पुरूरवा मैं तुम्हारे पास से लौट कर न जाऊँ ब (अव्यत्यै) इस विचार से तुम मेरा भली-भाँति भरण पोषण करते रहे हो, तब तुम मेरे शरीर के मालिक थे। परन्तु अब तो मैं निकल आई और पुनः तुम्हारे घर नहीं जाऊँगी”।

लौकिक पक्ष में इस संवाद से ऐसा लगता है कि पुरूरवा की गर्भिणी पत्नी अपने मातृ-गृह चली गई। कामी पुरूरवा से अकेले न रहा गया। उसे लिवा लाने के लिये वह उसके पीछे-पीछे वहीं जा पहुँचा और उसे पुनः अपने घर लाने के लिये पटाने लगा। क्योंकि पुरूरवा कहता है कि भला समान मन वाले पति-पत्नी भी कभी वियुक्त होकर रहे हैं ? जो मेरी अग्नि (वीर्य) तुम्हारे भीतर है वह न जाने कब तुम्हारे सास-ससुर को आनन्दित करेगा—ऋग्. १०-६५-१२। उर्वशी के उत्तर को सुन कर हताश प्रेमी की भाँति पुरूरवा बोला कि तब तो अच्छा तब हो यदि मैं किसी भरने की भाँति ऊँचे स्थान से नीचे गिर पड़ूँ और इस प्रकार आत्मघात कर लूँ और मेरे इस भौतिक शरीर को जंगली भेड़िये आदि खा जाएँ—ऋग्. १०-६५-१४। तब उर्वशी ने उसका धैर्य बँधाने की चेष्टा करते हुए कहा कि इस प्रकार आत्मघात करने से क्या लाभ ? तुम तो स्त्रियों की बेवफाई को जानते ही हो—“न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता”। ऋग्. १०-६५-१५। यहाँ मर्त्यलोक में मनुष्य का रूप धारण कर जो दो-चार साल तुम्हारे संग रही हूँ और जो थोड़ा-बहुत उपभोग किया है उससे मैं अब तृप्ता हो गई हूँ।—“निवर्तस्व हृदयं तप्यते मे”। ऋग्. १०-६५-१७। यहाँ पुरूरवा कहता है कि मेरा हृदय जल रहा है इसलिये हे उर्वशी लौट चलो।

‘यम-यमी सूक्त’ में यमी की उक्ति—‘काममूता बह्वे तद्रपामि तन्वा’ मे तन्वं संपिपृग्मि। ऋग्. १०-११। यहाँ ‘काममूता’=काम से बद्ध (मू-बन्धने), कामार्त्ता यमी ने बहुत प्रकार से यम से कहा कि तुम अपने तनु से मेरे तनु की प्यास को क्यों नहीं शान्त करते ? यमी के इस कथन में किसी भी लौकिक दृष्टि से इन मन्त्रों पर विचार करने वाले को उत्तान-शृंगार की झलक दिखाई देगी। डा० एस० के० डे के अनुसार इन दोनों प्रसंगों में लालसायुक्त निष्फल प्रेम अभिव्यक्त हुआ है और यहाँ अभिव्यक्त निश्छल, सरल और स्पष्ट कामावेश को और उसके प्रकट करने के तरीके की दृष्टि से परे कर सकना असंभव है।^१

अन्य वैदिक शृंगार-प्रसंग—‘स्वप्न मन्त्र’—ऋग्वेद और अथर्ववेद के क्रमशः ‘वास्तोष्पति देव’ और स्वापनम् देव’ के प्रसंग में आए मन्त्रों को कुछ ने समर्पण सम्बन्धी जादू के मन्त्र कहा है। जिनके प्रयोगों की सहायता से कोई प्रेमी रात्रि में चुपके से अपनी प्रेयसी के समीप पहुँचता है—

प्रोष्ठेशया बह्वेशया नारीर्यास्तल्प बीवरीः।

स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वा स्वापयामसि ॥

(ऋग्० ७. ५५. ८; अथर्व. ४. ५. ३)

१. ‘ट्रीटमेन्ट ऑफ लव इन संस्कृत लिटरेचर’, ढाका यूनिवर्सिटी कलकत्ता १९२९ ई०, पृ० ३

अर्थात् जो स्त्रियाँ पलंग पर सो रही हैं, जो स्त्रियों आँगन में सो रही हैं, जो स्त्रियों पालकी आदि को उठाती हैं और जो स्त्रियों पुण्यगन्धा हैं उन सब स्त्रियों को सुलाते हैं। सायण के संस्कृत भाष्य के आधार पर रामचन्द्र शर्मा के अथर्ववेद के हिन्दी भाष्य में 'सहस्र शृंग' सूक्त में आए इन मन्त्रों को स्त्र्यभिगमन-प्रसंग में उसको परिवर्तियों को सुलाने के लिए प्रयोग में आने वाले मन्त्र कहा है।^१ रात्रि में इस प्रकार चुपचाप स्त्र्यभिगमन करने वाला कहता है—

स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं निष्वापयाजनम् ।

ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जाग्रदहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥

अर्थात् हे स्वप्नदेव तुम अपने प्रभाव से इन सब परिजनों को सूर्योदय पर्यन्त (आउ-त्सूर्य) निद्रावश रखना जिससे कि मैं इन्द्र की भाँति भोगपरायण होकर अक्षत होते हुए सकुशल उषःकाल (आव्युष) तक जागकर भोग करता रह सकूँ ।

स्मर-प्रसंग—किसी दूसरे को स्मरवश करना अथवा कामिनीमनोऽभिमुख-करणं—स्त्रीवशीकरण की कामनावाला पुरुष 'उत्तुदस्त्वा' इस सूक्त को जपता हुआ अंगुली से स्त्री को प्रेरित करे—

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥

अर्थात् उत्कृष्ट रूप से व्यथित करनेवाले उत्तुद नाम वाले देवता तुम्हको कामार्त करें। सुइयों के समान मदन-विकारों से व्यथित हुई तू पलंग पर शयन में आदर न कर। काम का जो भय देनेवाला बाण है उससे मैं तेरे हृदय को ताड़ित करता हूँ ।

आधीपर्णाकामशल्यामिषु संकल्पकुलमलाम् ॥

ताम् सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ अथर्व. ३. २५. २

अर्थात् मानसी पीड़ाएँ जिसके पर्ण हैं और रमण करने की इच्छा ही जिसका मर्मभेदक शल्य है यह मेरा हो जाय यह मेरा हो जाय ऐसा भोग विषयक संकल्प ही जिसका काठ और शल्य को मिलानेवाला मसाला रूप है उस बाण को धनुष पर भली प्रकार खेंचकर कामदेव उस बाण से हे कामिनि तुझे हृदय में बीधे ।

व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चिन्तान्यस्यतम् ।

अर्थनामकृतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ अथर्व. ३. २५. ६

अर्थात् हे मित्र और वरुण देवताओ इस स्त्री के हृदय से ज्ञानों को दूर करो तदनन्तर इस स्त्री को कार्य और अकार्य के विभाग के ज्ञान से शून्य करके मेरे वश में करिये। अथवा इस स्त्री के हृदय में किसी अन्य के प्रति यदि राग है तो उसे दूर

करके उसे मेरे अनुकूल कर दो ।

एयमगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।

अश्वः कनिकदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥—प्रथर्व. २-३०-५

अर्थात् यह अभिलषित स्त्री पति को चाहती हुई मुझ भर्ता के संग आ गई है और स्त्री की कामना वाला मैं भी उसकी कामना करता हुआ उसके पास आ गया हूँ । जैसे घोड़ा बहुत हींसता हुआ घोड़ी से संयुक्त होता है उसी प्रकार मैं भग के साथ इससे संयुक्त होता हूँ । यहाँ वह कुंवारी उसे मिल गई । वशीकर्ता आगे कहता है—

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिष्वजे ।

एषा परिष्वजस्व मां तथा मां कामिन्यसो यथामन्नापगा असः ॥

—अथर्व० ६-८-१

अर्थात् जैसे ताम्बूल आदि की बेल अपने आश्रय वृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती है, हे जाये ! इसी प्रकार तू मेरा आलिङ्गन कर जिस प्रकार तू मेरी अभिलाषावाली बनी रहे और मेरे पास से न जा सके इस प्रकार मैं तुझको इस प्रयोग से वश में करता हूँ ।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ पर घोषा जैसी अविवाहिता कुंवारी लड़कियों का वर्णन मिलता है । जो कि अपने पितृगृह में ही विवाह या प्रेमी की इच्छा लिये प्रौढ़ता को प्राप्त होती थी । कूमारी-पुत्र का भी संकेत है ।^१ उस समाज में बहुविवाह अनुमोदित था, विवाहिता स्त्री का घर में सत्कार होता था परन्तु उन्मुक्त प्रेम और गुप्त प्रेम के वर्णन भी मिलते हैं । यज्ञांश 'वरुणप्रघास' के प्रसंग में देखें जहाँ यज्ञसम्पादयिता की पत्नी से उसके प्रेमियों के प्रति पूछताछ का उल्लेख है ।^१ 'द्युत सूक्त' (ऋग्० १०-३४-४) में जुमारी की पत्नी अन्य पुरुषों के प्रेम-षड्यन्त्र का शिकार बनती थी ऐसा संकेत मिलता है । ऋग्० दशम्-४०-६ में एक स्त्री अपने नियत समागम-स्थल की ओर जाती हुई बताई गई है । शुक्ल यजुर्वेद, ३०-३२ और अथर्ववेद १५-२-१ में 'पुंश्चली' शब्द मिलता है । 'जार' शब्द यद्यपि उन प्राचीन शास्त्रों में अत्यन्त हीन अर्थ को नहीं प्राप्त हुआ था तथापि उससे सामान्यतया प्रेमी अर्थ समझा जाता था ।

वैदिक ग्रंथों में शृंगार के मानवीकरण की छाया या उसका पूर्वाभास भी एक देवता के रूप में प्रत्यक्ष होता है जो कि बाद के साहित्य में अधिक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट हुआ । यद्यपि शृंगार संस्कृति की मूल शृंगार-शक्तियों की केन्द्रीय या मुख्य देव के रूप में उपासना के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते परन्तु बाद के वैदिक युग में यह उपासना भी अवश्य प्रचलित हो गई होगी । स्वयं ऋग्वेद में 'काम'—(इच्छा) सामान्यतया एक भावात्मक मानवीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । प्रसिद्ध नासदीय सूक्त ऋग् १०-१२६-४ में काम या इच्छा प्रथमागति के रूप में ब्रह्म के मानस में उठी, इसके बाद सृष्टि हुई—बहुत कुछ उसी तरीके से जैसे ग्रीक लोगों के पौराणिक

१. 'वाजसनेयी संहिता', ३०-६

२. डॉ० एस० के० डे कृत 'ट्रीटमेन्ट ऑफ़ लव इन संस्कृत लिटरेचर', पृ० ५

शृंगार देव 'इरोस' से इस विश्व की। यह काम या इच्छा (लैंगिक-प्रसाद-रहित) अथर्ववेद में विश्व की एक बड़ी सर्वदेवोपरि शक्ति के रूप में स्वीकृत है और कभी-कभी इसका अग्नि के रूप में बखान किया गया है। परन्तु अथर्ववेद में ही एक ऐसा सूक्त भी है जहाँ काम का शृंगार देव के रूप में पूर्वाभास मिलता है। वह पुष्प-धन्वा कामदेव (जिसके नाम और व्यक्तित्व को महाकाव्यों में स्थायित्व मिला और बाद के श्रेष्ठ साहित्य में पूर्णतः परिचित हुआ) का पूर्वज समझा जा सकता है। काम सम्बन्धी यह विचार बाद में कविता और ललित कला तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि यह एक संस्कृति का केन्द्र ही बन गया और इसके सम्मान में उत्सवादि किये जाने लगे। शत-पथ ब्राह्मण में पुरूरवा और उर्वशी की शृंगार-(संयोग + विप्रलम्भ) कथा निस्सन्देह कुछ पूर्णता के साथ वर्णित है। वहाँ अस्पष्टतः दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा भी आई है। ब्राह्मणों में वर्णित अनेक यज्ञादि की उपज में शृंगार सम्बन्धी विचारों ने अविस्मरणीय भूमिका अदा की परन्तु ये भाव धार्मिक सिद्धान्तों और क्रिया के उप-योगी सहायक तत्व ही बने रहे, शीर्षस्थान इन्हें न मिला।

प्रधानतः यज्ञपरक प्राचीन वैदिक साहित्य में इस प्रकार की धर्म-भावनाहीन कविता की यज्ञ की दृष्टि से विशेष उपयोगिता नहीं रही। इन वैदिक रोमाण्टिक सम्बादों में साहित्य की एक ऐसी अवशिष्ट शैली दृष्टिगत होती है जिसका सम्बन्ध अवश्य ही लोक-साहित्य से रहा परन्तु वह बाद के वैदिक-साहित्य युग में लुप्त हो गई। ऐसा अधार्मिक (कुछ की दृष्टि में कलुषित) साहित्य उस पुरातन काल में वैदिक साहित्य के समानान्तर ही निमित्त होता रहा यह बात वेदों में आये सम्बादों, जादू-टोनों के मन्त्रों एवं धर्म-भावना-हीन वर्णनों से ही सूचित नहीं होती; अपितु उन्हीं दिनों कथा-प्रधान पालि और गाथा-साहित्य की प्रगति और महाकाव्यों की कथाओं के प्रारम्भिक रूप भी इसके साक्षी हैं। यद्यपि दुर्भाग्यवश पालि-साहित्य और महाकाव्यों के कथानकों में पूर्णतः शृंगार कविता आज सुरक्षित नहीं मिलती तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस वैदिक कविता स्रोत के साथ-साथ एक इस प्रकार की कविता धारा भी बहती चली आई जिसका विषय मुख्यतः शृंगार ही था और जो कि बाद के संस्कृत (अमरक) और प्राकृत (हाल-काव्य) में छलछला उठी।

उत्तम काव्य प्रणयन की अक्षुण्णता और शृंगार साहित्य—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्याभिचाकशीति ॥ ऋग्वे० १०-१६४

अर्थात् एक पीपल की शाखाओं पर दो पक्षी बैठे हैं जिनमें एक तो वृक्ष का फल खाता रहता है, जबकि दूसरा बिना खाये ही शोभा पाता रहता है।

इसमें जीवात्मा-परमात्मा और संसार का पारस्परिक सम्बन्ध एक सुन्दर अतिशयोक्तिपूर्ण रूपक के द्वारा अभिव्यक्त हुआ। कठोपनिषद् के 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' में सुन्दर रूपक में ही काव्य लिखा गया है। इस प्रकार अन्य

उदाहरण भी प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि अपने यहाँ सुन्दर काव्य के तत्व लोग बहुत प्राचीन काल में ही पहचाने गये थे और उन तत्वों का समुचित रूप से वाङ्मय में प्रयोग होता रहा। वैदिक और श्रौतनिषदिक समय के अनन्तर रामायण और महाभारत इतिहास ग्रन्थों में तो साहित्य-शास्त्र के सब तत्वों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। आदिकवि वाल्मीकि के कोमल अन्तस्तल से फूटे जिस शोक ने श्लोकत्व को प्राप्त किया था उसमें सुन्दर श्लेष के द्वारा समग्र रामायण का इतिवृत्त व्यंग्यात्मक रूप से ध्वनित है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

एवमेव भगवान् व्यास की यह वाणी कर्णगोचर करें—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।

किन्तु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम् ॥

अर्थात् सुन्दरी रामा मनोरमा होती है, उसके हाव, भाव, विलास आदि मोहक होते हैं, यह सच है। किन्तु यह जीवन भी तो मदिराक्षी के अपांग-वीक्षण की भाँति क्षणिक ही है यह याद रखना चाहिये। इनमें दो पंक्तियों में शान्त और शृंगार दो प्रधान रसों का समुचित मिश्रण प्रस्तुत किया गया है।

प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक युग के इन उदाहरणों के साथ महाकवि अश्वघोष कृत 'सौन्दरनन्द' और उनके भी पूर्ववर्ती महर्षि पाणिनि कृत 'जाम्बुवती-विजय' (अनुपलब्ध काव्य) बाद में पतञ्जलि के द्वारा उल्लिखित वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैरवरी, कसवध, बलिबंध आदि साहित्यिक कृतियों के नामों से पता चलता है कि उत्तम काव्य प्रणयन की परम्परा अपने यहाँ अविच्छिन्न रही है। साथ ही यह भी पता चलता है कि साहित्य-शास्त्र-निर्माण का सूत्रपात भी तब तक हो चुका था। 'ललित-विस्तर' संज्ञक महायान बौद्ध धर्म के प्रमाण ग्रन्थ में लिखा है कि सिद्धार्थ गौतम ने 'काव्य कारण-शास्त्र' अर्थात् काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया था। यास्क मुनि कृत 'निरुक्त' में उपमा-अलंकार का शास्त्रीय विवेचन मिलता है। ईसा के बाद द्वितीय शती के सौराष्ट्र के महाक्षत्रप रुद्रदाम की जो प्रशस्ति जूनागढ़ के एक शिलालेख में प्राप्त है उसकी कुछ पंक्तियों में गद्य-पद्य आदि विभाजन का तथा लघु, मधुर, चित्र, कान्त, उदार आदि काव्य-लक्षणों का उल्लेख है "शब्दार्थ गान्धर्व न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारण विज्ञान प्रयोगावाप्तिनिपुणकीर्तिना स्फुट लघु मधुरचित्रकान्त शब्द समयोदारालंकृत गद्य-पद्य.....स्वमधिगत महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना"।

इन बातों से स्पष्ट है कि महामुनि भरत कृत नाट्यशास्त्र के बहुत पूर्व ही स्वस्थ साहित्य प्रणयन के समानान्तर साहित्यशास्त्रीय अगोपानों के विषय में भी चर्चा रहती थी। मुनि भरत के काल के विषय में विद्वान् लोग एक मत नहीं हैं। सामान्यतया उन्हें ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी और ईसा के पश्चात् तीसरी शताब्दी के बीच रखा जाता है। भरतमुनि द्वारा प्रारब्ध यह साहित्यशास्त्र-प्रणयन बाद की

शताब्दियों में अधिक व्यापक हो गया और इसके अन्तर्गत रस, अलंकार, रीति, गुण-दोष, वक्रोक्ति, औचित्य ध्वनि आदि अनेक विभिन्न मत विकसित हुए। आचार्यप्रवर, भामह, वामन, दण्डी, कुन्तक आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्ताचार्य, महाराज भोज, क्षेमेन्द्र, पण्डितराजजगन्नाथ आदि अनेक उद्भट विद्वानों ने अपनी अद्भुत प्रतिभा, मौलिक सूक्ष्म, तर्कशक्ति के बल पर अपने-अपने मतों की उद्भावना और प्रस्थापना से विरोधी मतों का निरसन करके साहित्य-शास्त्र के भंडार को निश्चय ही परिपूर्ण किया।

काव्य मीमांसा में 'शब्दार्थो सहितौ काव्य' अर्थात् शब्दार्थ सहितत्व को ही काव्य कहा गया है। इस 'सहित' के सहित शब्द ने 'साहित्य संज्ञा' को जन्म दिया। फिर इस सहितत्व ने काव्य के भीतर चारुत्व और सौन्दर्य की छानबीन की और पण्डितों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य वामन ने कहा—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' और सौन्दर्य ही अलंकार है। वैसे तो काव्य-लक्षण और काव्यात्मा-निरूपण-सम्बन्धी विवाद भरतमुनि के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' वाले प्रसिद्ध सूत्र को लेकर चल पड़ा था। भरत ने रस ही को काव्य का प्रधान लक्षण और प्राण मानकर उसकी निष्पत्ति का विधान उक्त सूत्र में दिया। इसी पर चर्चाया टीका करते हुए विविध आचार्यों ने अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि आदि को रस का सर्वस्व सिद्ध करने के यत्न किये। भामह, उद्भट, दण्डी, रुद्रट, प्रतीहारचन्द्रराज आदि ने अलंकारों को ही काव्य का प्राण कह कर रसों को उनके अधीनस्थ रसवत् अलंकार की संज्ञा दी। पीछे आचार्य वामन ने 'विशिष्ट पदरचना' को रीति कह कर उसी को काव्य का प्राण माना और कहा—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। 'विशिष्ट-पदरचनारीतिः'। रीतिवाद निस्सन्देह अलंकारवाद से एक कदम आगे गया। तदनन्तर राजानक, कुन्तल या कुन्तक आये जिन्होंने 'वैदग्ध्यभंगीभणिति'-शब्द-चयन तथा विषय-प्रतिपादन सम्बन्धी विदग्धता या सौन्दर्य को 'वक्रोक्ति' की संज्ञा देकर उसी को काव्य की आत्मा माना। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में भरत के मूल सूत्र की विवेचना करते हुए कहा कि उत्तमकाव्य वह है जिसमें चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ अनुरणनात्मक रूप से पाया जाता हो। रस का प्रकाशन प्रत्यक्ष शब्दों के द्वारा नहीं व्यञ्जना के सहारे किया जाना चाहिये—'प्रसिद्धश्चेदमस्त्येव विदग्धविवृ-त्परिप्लु यदभिमततरं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षात् शब्दवाच्यत्वेनैव'। उन्होंने तब व्यंग्यार्थ के रसादि अलंकार और वस्तु नामक तीन विभाजन करके सबको व्यंग्य ही के अन्तर्गत माना। इस ध्वनि मत के अनुसार नवरस, भाव और उनके आभास सब रसादि प्रथम विभाग के अन्दर आ जाते हैं और ध्वनि-काव्य, गुणीभूत व्यंग्य व चित्र काव्य क्रमशः ये तीन प्रकार काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के माने गए। ध्वनिकार ने 'यतःपरिपाकवतां कवीनां रसादि तात्पर्यविरहे व्यापार एवं न शोभते' कह कर रस की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित की। ध्वनिवाद तत्त्वतः रसवाद का भी पोषक है। फिर औचित्यविचार चर्चा व कविकण्ठाभरण के रचयिता क्षेमेन्द्र आए जिन्होंने रस का भी प्राण औचित्य को माना—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणः चारुचर्वणे।

रस जीवित भूतस्य विचारं कुस्तेषुना ॥

उनका औचित्य पद वाक्य, रस, अलंकार, क्रिया, लिंग, वचन, देश, काल आदि सबको प्राण-रस प्रदान करता है। अन्त में प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कह कर लगभग अपने से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित रस की काव्यात्मकता और श्रेष्ठता पर पक्की मुहर लगा दी।

उन विचारकों की बारीक पहुँच सचमुच कमाल की है। जितना विचार विमर्श काव्यात्मा प्रसंग को लेकर चला उतना ही मतभेद रस प्रतीति विधान वाले प्रश्न को लेकर भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त ने प्रस्तुत किया। रस की प्रतीति या निष्पत्ति किस में मानी जावे—नाटकीय पात्र में, अभिनेता में, अथवा सहृदय सामाजिकों में? भरतमुनि कृत 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस सूत्रवाक्य की विवेचना के रूप में सारा विवाद प्रस्तुत हुआ।

आइये, प्रसंगवश यह समझते चलें कि यह रस (काव्य आनन्द) क्या, कहाँ और कैसे होता है? रस सम्बन्धी भरतमुनि के सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव का अर्थ है—रति, हास्य, करुणा आदि। भावों के कारण ये दो प्रकार के होते हैं—एक आलम्बन जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं जैसे नायक-नायिका आदि और दूसरे उद्दीपन जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते हैं जैसे वसन्त, उपवन, चान्दनी आदि। अनुभाव भावानुभूति के अनुकर्म हैं अर्थात् उसके व्यक्त प्रभाव हैं जैसे भ्रूक्षेप, स्मिति, कटाक्ष आदि। व्यभिचारी अस्थायी भाव हैं जो क्षण-क्षण में उठ गिर कर स्थायीभाव की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयुक्त रूप में साक्षात्कार कर दर्शक के मन में एक उत्कट आनन्दमयी भावना का संचार होता है—यही रस या काव्यानन्द है। एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए—“कुशल नट और नटी दुष्यन्त और शकुन्तला के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। ये पहले पहल तपोवन के रमणीय कुँजों में मिलते हैं (विभाव)। दोनों एक दूसरे के आह्लादकर सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते हैं और तृप्ति, उत्सुक नेत्रों से एक दूसरे की ओर देखते हैं—अनिच्छापूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी एक दृष्टिपात करती है (अनुभाव)। वियोग में कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते हैं (व्यभिचारीभाव)। सौभाग्य से शकुन्तला सखी की सहायता से पत्र द्वारा दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने ही में दुष्यन्त वहाँ आ कर सहसा उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार दोनों प्रेमियों का संयोग हो जाता है। जब यह सब विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव आदि का संयोग कविता-संगीत, रंगवैभव आदि की सहायता से जिनको भरत ने नाट्य धर्मी कहा है मंच पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति स्थायीभाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति और देश-काल का अन्तर भूल कर सामने उपस्थित घटना में तन्मय हो जाता है और चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना में विभोर

कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।” डा० राकेश गुप्त ने काव्यानुभूति व उसके रसास्वाद का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए भट्ट लोल्लट, भट्ट नायक, शंकुक और अभिनवगुप्त को रस सम्बन्धी मीमांसाग्रों का सुन्दर ढंग से उल्लेख किया है। और डा० नगेन्द्र आदि के अभिमतों को उद्धृत करते हुए बताया है कि रस की न तो उत्पत्ति होती है, न अनुमिति और न भुक्ति उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है। रस बाहर से प्राप्त नहीं होता सहृदय की अपनी आत्मा में से आविर्भूत होता है। वह वस्तुगत या विषयगत न होकर सर्वथा विषयीगत है। विदेश में हीगेल, ह्यूम आदि दार्शनिकों का भी यही सिद्धान्त है। वे भी सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं विषयगत नहीं।

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार रस नौ माने गए हैं—शृंगार, हास्य, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त जिनके क्रमशः रति, हास, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद स्थायीभाव हैं। भरत मुनि ने ‘अष्टोनाट्य रसाः’ कह कर दृश्य काव्यों में शान्त रस को स्वीकार नहीं किया किन्तु महाभारत का तो वही प्रधान रस है। काव्य-प्रकाश-प्रणेता आचार्य मम्मट ने ‘नवरसरुचिरा’ कह कर कवि भारती का अभिनन्दन किया है। कुछ आचार्यों ने प्रेयान (स्वदत्त, उदात्त, वात्सल्य, उद्धत, लौल्य, भक्ति, कार्पण्य आदि रसों की अवस्थिति भी मानी है। इनमें से प्रचलित नवरसों में शृंगार का स्थान सर्वोपरि, सार्वभौम और सर्वप्रथम माना गया है और उसे रसरजत्व की उपाधि भी मिल चुकी है। शृंगार का स्थायी-भाव रति है जिसकी अवस्थिति और प्रसार समस्त मानव सृष्टि में अन्य सभी स्थायीभावों से अधिक व्यापक है। महाराज भोज ने तो यहाँ तक कह डाला कि शृंगार ही एकमात्र रस है। ‘एकावली’ नामक ग्रन्थ से प्रकट होता है कि भोज कृत ‘शृंगार प्रकाश’ में शृंगार को छोड़ अन्य रसों के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं किया गया है—‘राजातु शृंगारमेकमेवं शृंगारप्रकाशे रसमुररीचकार’। शृंगार की लोकप्रियता का अनुमान संस्कृत साहित्य में उपलब्ध अकेले उसी रस के विवेचनार्थ बने दर्जनों ग्रन्थों से आसानी से हो सकता है। उनमें से कुछ के नाम ये हैं—‘शृंगारकौस्तुभ’, शृंगार-तटिनी, शृंगारतिलक, शृंगारदीपिका, शृंगारमंजरी, शृंगारसारावली इत्यादि।

बौद्धसाहित्य—बौद्धसाहित्य में शृंगार शीर्षक के अन्तर्गत आनेवाला तथ्य न के बराबर है। ‘दीर्घनिकाय’ की ‘सवकप्रश्न’ बौद्ध कविता ही एक ऐसी रचना है जिसमें मानवीय भावनाओं का उच्छ्वास है और शृंगार के उन्मुक्त वातावरण का विहार है। इस रचना के विषय में पूरी सम्भावना यह है कि यह कोई प्राचीन अबौद्ध गाथा है जिसने कभी बौद्धों के सूत्र-साहित्य में स्थान पा लिया यद्यपि यह वहाँ नितान्त अप्रासंगिक है क्योंकि यह एक विशुद्ध शृंगारगीत है, नमूना देखें—

“भद्रे सूर्यवचसे तेरे पिता तिम्बल की वन्दना करता हूँ।

जिससे हे कल्याणि मेरी आनन्ददायिनी तू उत्पन्न हुई ॥१॥

पुष्परेणु से युक्त शीतल जलवाली पुष्करिणी को

धूप में सन्तप्त गजराज की भाँति मैं तेरे स्तनोदर को अवगाहन करूँ ॥४॥”^१

सचमुच यह छोटी-सी शृंगार कविता अनेक शताब्दियों के ब्राह्मण और बौद्ध-साहित्य के विस्तृत एवं शुष्क महस्थल में एक शस्यश्यामला भूमिखण्ड है। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि इस प्रकार की लोकप्रिय गाथाओं में शृंगार अवश्य ही निर्धारित विषय के रूप में रहता था। भले ही इसे पुरोहितों व राजकुमारों की सहृदयता सुलभ न हुई हो परन्तु इसने अवश्य ही जन सामान्य के सरल एवं अकृत्रिम हृदय में स्थान पाया।

रामायण, महाभारत आदि महाकाव्य साहित्य में सावित्री, शकुन्तला, दमयन्ती आदि की कथा में शृंगार है। राम और सीता के शृंगार-कथानक पर ही तो रामायण बनी। इन प्रेम कथाओं में आया शृंगार उपदेशात्मकता और गम्भीरता के बोझ से दबा है उसे सही माने में लौकिक-शृंगार नहीं कह सकते। वास्तव में इस युग में लौकिक शृंगार रचना के विशेष अनुकूल वातावरण नहीं रहा। तथापि शृंगार ने उस जमाने में लोगों के जीवन में उलट-फेर लाकर वे चमत्कार दिखाये जिनसे लोग आज भी अचम्भे में हैं। महाकाव्य काल में शृंगार-कथाएँ एवं कविताएँ मिलती अवश्य हैं पर तथ्य यही है कि इस युग की संस्कृति और सामाजिक परिस्थितियाँ विशुद्ध लौकिक शृंगार-काव्य-रचना के विकास के अनुकूल नहीं थीं। उन दिनों समाज में, विशेष कर उच्च वर्ग में, गम्भीरता और उपदेशात्मकता से अभिभूत ठोस धार्मिक साहित्य समाहत था।^२

क्लासिकल या श्रेष्ठ संस्कृत-साहित्य—संस्कृत साहित्य के क्लासिकल युग में शृंगार-कविता खूब फूलती हुई दिखाई देती है और इस काल की कविता ने ही स्त्री को एक अलौकिक आवेशयुक्त प्रेरणा का स्रोत उद्घोषित किया। हम देखते हैं कि इस युग के उषःकाल से ही ‘शृंगार-कविता’ आम विषय बन जाता है। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में ‘पतंजलि-महाभाष्य’ में यवक्रीत, प्रियंगु और ययाति, वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भीमरथ की कथाएँ आती हैं। सबके विषय में तो विस्तार से कहना सम्भव नहीं, पर हम इतना जानते हैं कि वासवदत्ता की कथा के मूल में अवश्य ही शृंगार भाव रहे हैं। पतंजलि ने इस युग की खूब अलंकृत एक गीतिका को भी उद्धृत किया है जिसकी एक विच्छिन्न पंक्ति में प्रातः काल का शृंगारिक वर्णन है—“वरतनु संप्रवदन्ति कुक्कुटाः”—इसका भावार्थ इस प्रकार है—अयि सुगात्रे ! सुर्गे बोलने लगे हैं, अब तू अपने प्रेमी के बन्धन को त्याग। सौभाग्यवश बारह शताब्दियों के उपरान्त क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य विचार चर्चा में इस पद्य को पूरे रूप में प्रस्तुत किया परन्तु वहाँ उसने इसे कुमारदास कृत बताया है।^३

१. श्री राहुल और जगदीशकाश्यप कृत ‘दीर्घनिकाय’, पृ० १८१-८२

२. डॉ० एस० के० डे० कृत ‘ट्रीटमेन्ट ऑफ लव इन संस्कृत लिटरेचर’, पृ० १२

३. पं० दुर्गादास और काशीनाथ पाण्डुरंग परब सम्पादित ‘औचित्य विचार चर्चा’, पृ० १४४

शास्त्रकारों की रचनाओं से विदित होता है कि पाणिनि नाम के कोई कवि हुए हैं उन्होंने 'पातालविजय' और 'जाम्बुवती-विजय' दो कविता-ग्रंथ लिखे। पाणिनि की अधिकांश कवितायें कल्पना के आवरण से युक्त हैं परन्तु उनमें कुछ विशेषतया शृंगारिक हैं। काव्यशैली के प्रथम संस्कृत लेखक अश्वघोष ने अपनी धार्मिक रचनाओं में सीधे तौर से शृंगार भावनाओं का उपयोग नहीं किया है तथापि उनके सौन्दरानन्द के चतुर्थ अंक में नन्द और सुन्दरी की कथा के रूप में एक नवदम्पति के प्रेम का अच्छा अलंकृत वर्णन है। भावावेशयुक्त धर्म-भावना-हीन ऋग्वेद के मन्त्र ही इस प्रकार के लोकप्रिय भावुक शृंगार-साहित्य के मूल लगते हैं। अनेक शताब्दियों तक इस कविता की धारा अप्रकट रूप से लोक में बहती रही, कभी-कभी वह परम्परित साहित्य में प्रकट भी हुई। यही कारण है कि क्लासिकल युग की प्रारम्भिक शृंगार-कविता संस्कृत में उतनी नहीं मिलती, जितनी कि प्राकृत में। इस प्रकार की प्रारम्भिक शृंगार-गीतियों का एक बृहत्काय संग्रह हाल के नाम से प्रचलित है और प्राकृत-साहित्य का अंग है। प्राकृत-कविता की भी वैसी ही परम्परा है जैसी संस्कृत-कविता की मिलती है। प्राकृत-कविता के प्रारम्भिक शृंगारिक पद्य जन-सामान्य में अपनी शृंगारिकता के कारण लोकप्रिय हुए। तब संस्कृत कविता ने इन्हें विशेष प्रगति न करने दी। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी कि प्राकृत-गीत बाद के संस्कृत शृंगार-गीतों के मूल रूप नहीं हैं दृढ़ सम्भावना यही है कि लौकिक संस्कृत-शृंगार-कविता में विकीर्ण शृंगार-तत्व प्राकृत-कविता में अवश्य जीवित रहा और बाद में इसने संस्कृत में लिखे दरबारी साहित्य को भी समाक्रान्त कर लिया और अन्ततः यह समस्त संस्कृत-साहित्य में सर्वमान्य निर्धारित विषय तत्व के रूप में स्वीकृत हुआ।

क्लासिकल संस्कृत कविता की समालोचना करने से पूर्व वह किन परिस्थितियों में उद्भूत हुई और किस वातावरण में फूली-फली यह जान लेना अच्छा रहेगा। इसके लिये निम्न बातों पर ध्यान दें—

१. इस साहित्य में अनेक गीतिछन्दों का निर्माण—जिनका संग्रह पिगल के छन्द-शास्त्र में है। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि इनमें से कुछ छन्दों का नाम-करण सुन्दरियों की रूपानुकृति के आधार पर हुआ। विद्युन्माला, कनकप्रभा, चारुहासिनी, कुन्ददन्ती, वसन्त तिलका, स्रग्धरा आदि सुन्दर नाम हैं जो शृंगारिक विषय से अपने सम्बन्ध को स्वयं प्रकट कर रहे हैं।

२. ईसा की पहली कुछ शताब्दियों के शिलालेख जो कि इस काव्य-शैली में अंकित हैं वे उस काल की कविता का राज-दरबारों या अन्य अनेक संस्कृत महा-कवियों के आश्रयदाताओं से सम्बन्ध द्योतित करते हैं। वास्तव में यह कविता आरम्भ से ही धनी आश्रयदाताओं या राजदरबारों की छत्रछाया में पली।

३. गम्भीरता के साथ-साथ स्वभावतः इस कविता ने दरबारी जीवन के सौंदर्य और वहाँ की कृत्रिमता पर प्रकाश डाला है। यहाँ की रुचि और वातावरण के अनुकूल ही समृद्ध कल्पना के इसमें दर्शन होते हैं।

४. बाद में काव्य-शास्त्र ने कुछ विशेष परिपाटियों का निर्माण किया इस

दरबारी रुचि के अनुकूल और बाद की संस्कृत कविता इन सुनिश्चित परिपाटियों से ही अनुशासित होती रही ।

५. दरबारी प्रभाव ने इस कविता में विशेष दरबारी शैली को बढ़ावा तो दिया ही साथ ही इसे सहज प्रवाह की अपेक्षा कल्पना और परिश्रम-साधना-प्रिया भी बना डाला ।

६. संस्कारिता और चमक-दमक तो इस कविता ने खूब प्राप्त की परन्तु इसकी सहज सरलता और भावावेश का वह विशेष स्वर जाता रहा । भावुकता ने भाव का स्थान ले लिया । कल्पना आवेश के सिर चढ़ बैठी और अनुभूति कल्पना-चातुरी के सामने न टिक सकी ।

समाज में बौद्ध धर्म सम्बन्धी निराशावादिता दूर हो गई थी । स्वयं बौद्ध संस्कृत लेखक अश्वघोष ने 'नागानन्द' में जीमूतवाहन के उत्सर्ग की कथा को शृंगार के ताने के सहारे खड़ा किया है । शृंगार-तत्त्व ने संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य को भी प्रभावित किया । इस विषय में ध्यान देने योग्य है कि गणितज्ञ भास्कर गुप्त ने 'लीलावती' में एक सुन्दरी के सामने बीजगणित (एलजेब्रा) की समस्याओं का आख्यान किया है । सामाजिक लोग सभी लौकिक अच्छी वस्तुओं का आस्वाद लेते थे । केवल दरबारी जीवन ने ही इस साहित्य को प्रेरणा नहीं दी । बाद की क्लासिकल-संस्कृत-कविता में शृंगारप्रेरिता प्रधानतः उस बाह्य वातावरण से आई जिसमें यह पली और जिसने इसे स्वीकृत किया । इस वातावरण के केन्द्र में समाज का नागरिक है । जिसकी संस्कृति, रुचि और आदतों ने इस साहित्य को अत्यधिक प्रेरित किया । कीथ महाशय का कथन है इस साहित्य में नागरिक की वैसी ही विशिष्ट स्थिति है जैसी की पुरोहित या दार्शनिक की ब्राह्मण और 'उपनिषद् साहित्य' में । इस साहित्य में तो नागरिक का चित्र मिलता ही है, इसके अतिरिक्त वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' में भी प्राचीन नागरिक का सजीव चित्र मिलता है । (देखें चौखम्बा संस्कृत सिरीज में प्रकाशित 'कामसूत्र' पृ० ३८-५२) ।

इस युग के साहित्य को सैद्धान्तिक और क्रियात्मक दृष्टिकोण से कामविज्ञान ने खूब प्रभावित किया तथापि क्लासिकल संस्कृत-शृंगार-कविता को कामोद्दीपक साहित्य की कोटि में न समझना चाहिये । वात्स्यायन की आदर्श रचना कामसूत्र में प्रेम (शृंगार-दाम्पत्य-रति) के अभ्यास और कला सम्बन्धी अनेक अध्यायों के साथ-साथ प्रेमीपर विजय और उसे अपना बनाये रखने के तरीके, विवाह के निमित्त आराधना और प्रेम के चिह्न, विवाह और वैवाहिक जीवन के आचार और उससे तनिक आगे शृंगार-भावना-सम्बन्धी क्रियात्मक मनोविज्ञान का विषय आया है । इन मामलों में अलंकारशास्त्र भी विशेषकर शृंगार रस परक रचनाओं में घुल-मिल गया है, अतः संस्कृत-शृंगार-कविता के गुण-दोषों के विषय में तात्कालिक नागरिकों की आदतों, सोचने के तौर-तरीकों, साहित्यिक परम्पराओं, और शास्त्रों में सुरक्षित काव्यशास्त्रीय प्रारम्भिक मान्यताओं को बिना जाने कुछ भी ठीक नहीं कहा जा सकता । परन्तु संस्कृत-कवि अपने शाही आश्रयदाताओं और सुसंस्कृत नागरिकों के साथ-साथ रसिक एवं सहृदय श्रोताओं और पाठकों को भी न भूल सका । उनके चतुर निर्णय पर ही

उसकी रचना का खरा-खोटापन परखा जाता, भारतीय आदर्श के अनुसार कविता की उत्तमता रसरूप कलात्मक आस्वाद पर निर्भर करती है। उत्तम कविता प्रबन्ध हो या मुक्तक उसमें रस व्यंजना के दर्शन अवश्य होते हैं। यह स्पष्ट है कि इस विशेष वातावरण में संस्कृत-कविता ने खूब संस्कारिता और गरिमा का लाभ किया।

संस्कृत-शृंगार-कविता के तत्त्व और उपादान—प्रेम और संसार-त्याग के बीच ताना-बाना बुनने की प्रवृत्ति भर्तृहरि का ही कोई व्यक्तिगत विशेष चिह्न नहीं है परन्तु इस प्रवृत्ति ने सामान्यतया संस्कृत के अधिकांश कवियों को प्रभावित किया है। इसलिए सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में दो प्रकार के कवि प्रमुखतः हुए—एक तो विशुद्ध लौकिक शृंगार-भावना-प्रधान और दूसरे लोक-त्याग (परलोक) भावना-प्रधान। बीच का कोई मार्ग नहीं है। संस्कृत-कवि अधिकांश में इसीलिए या तो शृंगार-भावना-प्रधान हुए और या फिर लोकत्याग की भावना लिये हुए। इस आधार पर अब इस कविता के प्रधान तत्त्वों का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं :—

१. संस्कृत की शृंगार-कविता में सम्भोग या आनन्दसम्बन्धी हादिक भाव-प्रधान-तत्त्व रहा है।

२. पूर्णभोग और पश्चात्ताप—कवि लोग एकदम तापसी वृत्ति के नहीं थे, न ही वे केवल सांसारिकता या कोरे आदर्शवाद में नाक तक डूबे थे। परन्तु पर्याप्त सरल एवं सच्ची अनुभूतियों के कारण जहाँ वे इहलौकिक आनन्द-मौज के प्रति कृतज्ञ हुए वहाँ विषयभोग के चरम पर पहुँच कर पश्चात्ताप करने वाले। ऐसे वातावरण में निरा काल्पनिक प्रेम नहीं पनपा। ऐसे प्रेम के नाम पर संस्कृत में केवल एक उदाहरण मिलता है—बाण की 'कादम्बरी' में—ताम्बूलकरं कवाहिनी पत्रलेखा और राजकुमार चन्द्रापीड़ में ऐसी ही रोमैण्टिक मैत्री है।

३. आवेशों का आत्मसात् रूप से चित्रण—संस्कृत-कवियों ने शृंगार के आवेशों को जीवन के निजी अंगस्वरूप स्वीकार किया है, उन्हें कभी भी आदर्श के आवरण में दबाया नहीं है।

४. स्पष्टोक्ति और धरती के मानव की बात—यह कविता अत्यधिक प्राचीन है और स्पष्टोक्ति इसका एक प्रशंसात्मक गुण है। यह आदर्श एवं स्वर्ग के मोहक द्वारों को नहीं खोलती। यह धरती पर विचरण करती है और मानव-शरीर की अतृप्त भूख और इन्द्रियों के विशिष्ट उन्माद का व्याख्यान करती है।

५. शृंगार बलवती शासिका शक्ति—संस्कृतकविता में शृंगार-प्रेम एक ऐसी बलवती शक्ति है जो मानव-शरीर में यदि पैठ जाय तो इन्द्रियों और सामान्य क्रियाओं पर से उसका निजी नियन्त्रण जाता रहता है। कवियों ने इसे एक प्रकार का रोग तक कहा है। इस प्रवृत्ति के कारण ही कुछ हद तक संस्कृत-शृंगार-कविता को अत्यधिक ऐन्द्रिय और स्थूल कह कर निन्दित किया जाता रहा। यह ठीक है कि इन प्राचीन संस्कृत-कवियों में प्रेम का पुट देने का प्रवृत्ति है जिसे आधुनिक आलोचक अभिव्यक्ति की घृष्टता का नाम देते नहीं हिचकिचाते। परन्तु इन सच्ची-सरल-शृंगार-अभिव्यक्तियों में अनैतिकता का प्रचार, स्थूलता एवं अभद्रता का प्रसार देखना न्यायसंगत नहीं है।

६. बाद की संस्कृत-शृंगार-कविता लेखक के 'कामशास्त्र-ज्ञान' को प्रदर्शित करने का साधन बन गई, परन्तु इन कवियों में मानव-जीवन के निकटतम एवं प्रारम्भिक प्रेमावेशों के चित्रणों में वैसी स्वाभाविकता और सचाई न रही। इन दरबारी कवियों में कृत्रिमता, कल्पना, बाहरी बनाव-शृंगार की अधिकता हो गई। बाद के संस्कृत-शृंगार-चित्रों को जिनमें मदोद्धत इन्द्रिय-सुख-सम्बन्धी कोमल दृश्य हैं काव्य-परिपाटी के भीने आवरण से ढका नहीं जा सकता।

अभद्र शृंगार—इनमें से कुछ संस्कृत-कविता का अभद्र शृंगारवर्णन भारतीय समालोचकों को भी खटकता है। कालिदास-कृत कुमारसम्भव में देवयुग्म के प्रेम सम्बन्धी साहसिक कृत्यों के चित्रण में औचित्य का उल्लंघन हुआ है। (देखें कुमार-सम्भव ८वां सर्ग)।

८. स्त्री-सौन्दर्य की भारतीय व्याख्या—संस्कृत-शृंगार-कविता की यह प्रवृत्ति स्त्री-आकर्षण सम्बन्धी उत्कट शृंगारात्मक वर्णनों में शृंगार और प्रेम के वास्तविक आवेश के आधार पर भारतीय स्त्री-सौन्दर्य विषयक धारणा और आदर्श की व्याख्या करती है। पुरुष शरीर के आकर्षक चित्र बहुत कम हैं परन्तु स्त्री-रूप-चित्रण बहुधा विस्तार और भावावेश से पूर्ण है।

९. रूढ़िपालन—इनमें से अधिकांश वर्णन शृंगारशास्त्र और काव्य-शास्त्र सम्बन्धी पूर्व स्थापित साहित्यिक विशिष्ट परम्पराओं (कविता के नुस्खों) पर आधारित हैं। इस प्रकार का बहुत स्पष्ट वर्णन श्री हर्ष कृत 'नैषध' में है। रूढ़ि-पालन के अन्तर्गत नख-शिख-रूपचित्रण सम्बन्धी केश, कुन्तल, मस्तक, नेत्र, कटाक्ष, मुस्कान, होंठ, दन्त, कान, नाक, गाल, गर्दन, भुजाएँ, वक्षस्थल, कमर, नीविबन्ध, नितम्ब, आभूषण एवं शृंगार-प्रसाधन, दर्शन और स्पर्शन आदि का बड़ी रसिकता से उल्लेख हुआ है। स्फुट रचनाओं में भी कामोद्दीपक तत्व और नायिका-भेद ने प्रधानता पाई है। कविसमय एवं रूढ़ियों का पिष्ट-पेषण कभी-कभी सहृदय पाठकों को खटकता है।

१०. कृत्रिमता—सिद्धान्तशास्त्रों का प्रभाव उत्तरकालीन संस्कृत-शृंगार-कवियों पर खूब पड़ा। यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि उस समय अभ्यास-साध्य-कविता सूक्ष्मता और कोमलता की दृष्टि से खूब समृद्ध हुई परन्तु उस अनुकरणमात्र के आधार के कारण उसमें अज्ञात चिरनूतन प्रवाहमयता का ह्रास भी घर कर गया। इस कविता की कृत्रिमता प्राकृतिक दृश्यों के गहरे एवं अद्भुत अनुभवों के सहारे खड़ी है। प्रकृति की पृष्ठभूमि पर मानवीय भावों का सुन्दर चित्रण हुआ है। संस्कृत-शृंगार-गीत जयदेव के 'गीत गोविन्द' में शैली और भावात्मकता की दृष्टि से कला के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गये। जयदेव को अपनी शब्दावली, भाषा-सौन्दर्य संगीत और भावों की सुकोमलता पर गर्व है। उनका 'गीत गोविन्द' अद्वितीय संगीत और शाब्दिक लयों के परिच्छेद को धारण कर एक नवीन कविता-शैली के सूत्रपात करने का गौरव अनुभव करता है। इसके संगीतात्मक शब्द-चित्रों में कृष्ण और राधा का देव-चरित पूर्णतः मानव का (इस लोक का) हो गया है।

११. देवी-देवता भी लौकिक विलास की चादर में—इससे पूर्वकालीन रत्नाकर कृत 'वक्रोक्ति पंचाशिका' जैसी रचनाएँ भी हैं, जिनमें देवी-देवताओं की

शृंगारलीला को श्लिष्ट वक्रोक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। असल में कालिदास-कृत कुमारसम्भव की पुरानी परम्परा को पाकर संस्कृत-कवियों ने देवी-देवताओं का स्त्री-पुरुषोचित विशेषण देकर उनकी खुली शृंगारलीला चित्रित करने में तनिक भी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं किया। हर्ष, उत्प्रेक्षावल्लभ, मूक, लक्ष्मण आचार्य आदि की रचनायें ऐसी हैं।

(ख) संस्कृत कवि और विद्यापति—भारतवर्ष में सामन्तवाद तथा पौराणिक वर्णाश्रम धर्म के बद्धमूल होने के साथ ही साहित्यिक संस्कृत का उदय हुआ। साहित्यिक संस्कृत की महाकाव्य एवं मुक्तक परम्परा का विद्यापति पर प्रत्यक्ष प्रभाव है। यह ठीक है कि विद्यापति ने प्रबन्ध काव्य की पद्धति उसी रूप में नहीं अपनाई है किन्तु माघ और हर्ष का प्रभाव विद्यापति पर स्पष्ट देखा जा सकता है। इतना ही नहीं संस्कृत के 'चरित काव्यों' का प्रभाव विद्यापति की 'कीर्तिलता' में मिलता है। विद्यापति के पदों पर संस्कृत तथा प्राकृत की शृंगार-परम्परा एवं प्रणयचित्रों की पूरी छाप है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विद्यापति स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और संस्कृत कवियों के दाय का पूरा प्रतिबिम्ब उनके मुक्तकों में देखा जा सकता है।

विद्यापति पर संस्कृत-साहित्य के प्रभाव का विश्लेषण करने से पूर्व इस काव्य की पृष्ठभूमि को हृदयंगम किया जाय। साहित्यिक-कलासिकल संस्कृत के प्रायः सभी कवि दरबार थे। ये कवि एक ओर सामन्तवाद के और दूसरी ओर पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधि हैं। साहित्यिक संस्कृत के कवि प्रायः पण्डित हैं। यही कारण है कि वे अपनी कला को अधिक पाण्डित्य तथा अलंकार सज्जा से सजाकर सामने लाते हैं। अश्वघोष तथा कालिदास की कला उतनी अधिक कृत्रिम नहीं है जितनी बाण, माघ, भवभूति और श्री हर्ष की है। परन्तु कालिदास में अश्वघोष की अपेक्षा अधिक कलात्मक सौन्दर्य मिलता है। कालिदास में भावपक्ष तथा कलापक्ष का सन्तुलन दिखाई पड़ता है; जबकि कालिदासोत्तर कवियों में भावपक्ष हलका पड़ गया है, कलापक्ष अधिक हो उठा है। कालिदास से लेकर श्रीहर्ष या जयदेव तक के संस्कृत-साहित्य में नागरिक समृद्ध और विलासी जीवन का चित्र मिलता है। जो कालिदास के काव्यों से उत्तरोत्तर अधिक से अधिकतर विलासी दिखाई पड़ता है। विद्यापति पर इन्हीं विलासी प्रणयचित्रों का प्रभाव है।

कालिदास में संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों के सुन्दर चित्र मिलते हैं। वहाँ संयोग का उत्साह है तो विप्रयोग-विप्रलम्भ का विषाद भी है। पर बाद के कवियों का विप्रलम्भ इतना रूढ़ हो जला कि उसमें स्वानुभव की तरलता ही खत्म हो गई। भारवि, माघ, हर्ष सब कवि प्रणय के संयोगपक्ष के जितने सफल विचारक हैं उतने विप्रलम्भ के नहीं। अमरूक में फिर भी विप्रलम्भ के कुछ सरस चित्र मिल जाते हैं, जहाँ प्रोषितपतिका या प्रवत्स्यतृपतिका की कण्ठ मूर्ति को उपन्यस्त किया गया है। पर अमरूक भी मूलतः संयोग के ही कवि हैं। इस सम्बन्ध में एक बात कह देनी आवश्यक है कि संस्कृत आचार्यों ने विप्रयोग-विप्रलम्भ के दो प्रकार माने हैं—मान

विप्रयोग तथा प्रवास विप्रयोग ।^१ किन्तु सच्चा विप्रयोग प्रवास का ही है—‘मान’ को तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संयोग का एक प्रकार भी कह सकते हैं—उससे संयोग का आनन्द और गाढ़ा ही होता है । पिछले खेवें में दो प्रकार के विप्रयोग मिलते हैं—एक पूर्वरंग तथा नायिका-प्राप्ति जनित विप्रयोग, दूसरा प्रवास-विप्रयोग । प्रवास विप्रयोग केवल मुक्तक काव्यों में छुटपुट मिल जाता है । परन्तु पूर्वरंग तथा नायिका प्राप्तिवाला विप्रयोग कालिदासकृत ‘कुमार सम्भवम्’ के पाँचवें सर्ग में पार्वती विरह वर्णन, बाण-कृत ‘कादम्बरी’ में महाश्वेता तथा कादम्बरी के विरह-वर्णन में और श्री हर्ष कृत ‘नैषध’ के चतुर्थसर्गगत दमयन्ती की क्लान्त मूर्ति में देखा जा सकता है । इसके कुछ पहलू हाल संकलित ‘गाथा सप्तसती’ की गाथाओं तथा जयदेवकृत ‘गीत-गोविन्द’ की राधा में भी देखे जा सकते हैं । यह संयोग मूलक प्रणय, मानादि भारवि तथा माघ के विरह-वर्णनों में, अमरुक के पद्यों में और गीत-गोविन्द की राधा और कृष्ण के मानमनौवल में और कुछ कहीं-कहीं गाथाओं में मिल जाते हैं । विद्यापति विप्रयोग की इसी परम्परा के कवि हैं, यही कारण है कि उनके पदों में मानवाले चित्रों या पूर्वरंग के प्रणय-चित्रों की ही प्रधानता है ।

कालिदास और विद्यापति—‘शृंगारतिलक’ के रचयिता सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास माने जाते हैं । ‘शृंगारतिलक’ के एक-दो श्लोकों के साथ विद्यापति के पदों की तुलना कर देखने से विद्यापति के पदों की सरसता आँकी जा सकती है ।

भ्रष्टिति प्रविश गेहं माबहिस्तिष्ठ कान्ते

ग्रहणसमय बेला वर्तते शीतरश्मे : ।

तव मुखमकलकं वीक्ष्यनूनं स राहु—

प्रसति तव मुखेन्दु पूर्णचन्द्रं विहाय ॥

अर्थात् प्रिये तुम बाहर मत रहो, शीघ्र घर में प्रवेश करो । यह चन्द्रग्रहण का समय है । कलंक से रहित और सुन्दर तुम्हारा मुँह देख कर राहु पूर्णचन्द्र को छोड़कर तुम को निगल जायगा ।

लोलुभ बदन-सिरि धनि तोरि, जनु लागिह तोह चाँदक चोरि ।

दरसि हलह जनु हेरहु काहु, चाँद भरम मुख गरसत राहु ।

धवल नयन तोर काजर कार, तीख तरल तहि कटाखक धार ।

निरवि निहारि फांस गुन जोलि, बाँधि हलत तोहि खंजन बोलि ।

सागर सार चोराओल चन्द, तालागि राहु करय बड़दन्द ।

भनई विद्यापति होहु निसंक, चाँदहु कां किछु लागु कलंक ।

अर्थात् हे नायिका तुम्हारी मुख-छवि चंचल है । तुम्हें चन्द्रमा की चोरी का कलंक न लग जाय । तुम किसी की ओर दृष्टिपात मत करो । डर है कि चन्द्रमा के भ्रम से राहु तुम्हारा मुँह न निगल जाय । तुम्हारे स्वच्छ नेत्रों में काला काजल है ।

उसमें कटाक्ष की तेज और तिरछी धारा है। अच्छी तरह देख भाल कर तुमको खंजन समझ कर व्याध जाल में फँसा कर बाँध डालेंगे। राहु देवों से इसीलिये लड़ता आ रहा है कि उन्होंने अमृत और चन्द्र चुराये। विद्यापति निर्भय हो कर कहते हैं कि चन्द्रमा को कुछ कलंक लगता ही है।

कालिदास नायिका को घर में प्रवेश करने का उपदेश दे रहे हैं क्योंकि उन्हें डर है कि ग्रहण के समय मुँह को चन्द्रमा समझ कर राहु उसे निगल न जाय। यहाँ मुख का 'अकलंकम्' विशेषण अच्छा नहीं है, क्योंकि मुख में कलंक न होना ही सीधी पहिचान है कि वह चन्द्रमा नहीं है, फिर इस प्रकार की आशंका क्यों? इस अस्वाभाविकता को दूर करने के लिए विद्यापति ने मुँह के विरुद्ध चन्द्रमा की चोरी का कलंक लगा कर अपनी विदग्धता का परिचय दिया है। विद्यापति कहते हैं कि केवल राहु का ही डर नहीं है। व्याध का भी डर है। इसलिए खजन रूपी आँखें और चन्द्र रूपी मुँह छिपा कर रखो। विद्यापति ने व्याध को बुलाकर शिकार की उत्तमता पर उसे लुभा कर कामिनी की कमनीयता और भी बढ़ा दी।

किसी नायिका के घर में एक पथिक सोया हुआ है। नायिका पथिक से कहती है—

यामिन्येषा बहुलजलदैर्बद्ध भीमान्धकारा
निद्रां यातो मम पतिरसौ क्लेशितः कर्मदुःखैः ।
बाला चाहं मनसिजभयात् प्राप्तगादप्रकम्पा
ग्रामश्चौरैरयमुपहतः पान्थ निद्रां जहीहि ॥

अर्थात् यह रात है, बादल घिर जाने के कारण भयंकर अन्धकार है। भाग्य-दोष से दुखी हो कर मेरे पति सो गये हैं। मैं बाला हूँ, काम के डर से मेरा शरीर काँप रहा है, इस गाँव में चोरों का उपद्रव है। इसलिए हे पथिक जागो।

हम जुवती पति गेलाह विदेश
लग नहि बसय पड़ोसिया क लेश ।
सासु दोसरि किछुओ नहि जान
आँखि रतौंधी, सुनय न कान ।
जागह पथिक जाह जनु भोर
राति अन्हार, गाम बड़ चोर
भरमहुँ भीरि न देख कोतवार
काहुक केओ नहि करय विचार ।
अधिप न कर अपराधहुँ साति
पुरुख महत सब हमरे जाति ।

—विद्यापति

अर्थात् मैं युवती हूँ, पति विदेश चले गये हैं, समीप में कोई पड़ोसी नहीं है, घर में केवल सास है, वह कुछ भी नहीं समझती है, उसे रतौंधी है, वह बहरी भी है। पथिक जागो सवेरे मत जाओ, क्योंकि रात अन्धेरी है और यह गाँव बड़ा चोर है।

भूल से भी कोतवाल पहरा नहीं देता है। यहाँ कोई किसी का खयाल नहीं करता है, राजा अपराधियों को दण्ड नहीं देते हैं। इस गाँव के महान् पुरुष सब मेरे सजातीय हैं।

‘शृंगारतिलक’ में पति को सुला कर व्यंग्यार्थ द्वारा पथिक के आह्वान में रसाभास हो जाता है और दोनों को पद-पद पर डर है कि पति उठ न जाय, कोई आन जाय। विद्यापति ने पति को विदेश भेज दिया, सास को अन्धी और बहरी बना दी, कोतवालों के पहरा देने का या किसी पड़ोसी के आने-जाने का भय दूर कर दिया, राजा या गाँव के प्रधान पुरुषों के द्वारा दण्डित होने की आशंका दूर करदी। इस तरह निश्चिन्त और निर्भय हो कर निर्जन स्थान में पति की अनुपस्थिति में नायिका को पथिक के जगाने का और घण्टों तक आनन्द लूटने का अवसर दे कर विद्यापति ने शृंगार-तिलक के रचयिता की अपेक्षा कहीं अधिक रसिकता का परिचय दिया है। शृंगारतिलक की नायिका ने “मैं काम के भय से काँप रही हूँ” कह स्पष्ट शब्दों में अपनी काम-विह्वलता दिखला कर अपनी असिकता का परिचय दिया है। विद्यापति की नायिका ‘हम जुवती’ इन्हीं दो शब्दों में सब भाव प्रकट कर देती है। अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के बल्कल को काँटे में उलझा कर दुष्यन्त-दर्शन का थोड़ा अवसर दिया है। विक्रमोर्वशीय नाटक में राजा पुरुरवस् के जाने के समय उर्वशी कहती है, सखी चित्रलेखे ! लता के वृक्ष में यह एकावली उलझ गई है इसे सुलझा दो। इन दोनों नाटकों में वस्त्र और एकावली को उलझा कर कवि शकुन्तला और उर्वशी को प्रियदर्शन का थोड़ा अवसर देते हैं पर विद्यापति झाँकी से संतुष्ट न हो कर मोती का हार तोड़ डालते हैं जिससे राधा की सखियाँ और उसके गुरुजन एक-एक दाना चुनने में व्यस्त हैं और राधा कृष्ण के चिरदर्शन का आनन्द लूट रही है।^१ मेरी समझ में इस अवसर पर विद्यापति कालिदास से भी ऊँचे उठ जाते हैं और उनसे भी अधिक रसिकता का परिचय देते हैं।

अमरुक और विद्यापति—अमरुक की नायिका को सखियाँ बार-बार मान करने की शिक्षाएँ दिया करती हैं किन्तु नायक-नायिका में इतना अधिक प्रेम है कि परस्पर दर्शन होते ही मान निभ नहीं सकता। सखियों के प्रश्न करने पर नायिका उन से कहती है—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते,
रुद्धायामपि चाचि सस्मितमिदं दग्धानन जायते।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि, तनूरोमांचमालम्बते,
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन्जने ॥

अर्थात् उनके सामने आने पर मेरा मान किस तरह निभ सकता है ? भौहें चढ़ाने पर मेरी दृष्टि और भी अधिक उत्कण्ठा के साथ उनकी ओर देखने लगती है। मैं बोलना बन्द कर देती हूँ किन्तु यह मेरा अभाग मुँह मुसकराने लगता है, मैं अपने मन को करकश कर लेती हूँ किन्तु मेरे शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

विद्यापति की नायिका सखियों से कह रही है—

दुरहि रहिअ करिअ मन आन
नअन पिआसल हंटल न मान ।
हास सुधारस तमु मुख हेरि
बाँध लेओ बाँध निबीकत बेरि ।
कि सखि करब धरब कि गोय
करबि मान जों आइति होय ।
धसमस करय रह्यो हिय जांति
मगर शरीर धरब कत भांति ।
गोपहि न पारअ हृदय उलास
मुनलओ बदन बेकत होय हास ।
भनइ विद्यापति तोर न दोष
भूखल मदन बढ़ाबय रोस ।

अर्थात् मैं दूर ही खड़ी हो गई और मन दूसरी ओर ले गई। मैंने अपने मन को रोका किन्तु प्यासे मन को रोकने में मुझे सफलता नहीं मिली। उनके मुँह से हँसी रूपी अमृत रस टपक रहा था उसे देख कर वह रुकता कैसे? मेरा नीबीबन्धन शिथिल मालूम पड़ता था। बार-बार बाँधती थी फिर भी वही शिथिलता। मैं क्या करूँ, किस तरह अपने मन का भाव छिपाऊँ। यदि अपने ऊपर मुझे पूरा अधिकार होता तो मैं मान करती, पर वह नहीं है। मैं छाती पर पत्थर रख देती हूँ तथापि मेरा सारा शरीर काँपने लगता है। समझ में नहीं आता कि सारा शरीर किस प्रकार स्थिर रखूँ। मैं अपने हार्दिक भाव को छिपा नहीं सकती हूँ, आँखें मूँदने पर भी हँसी प्रकट हो जाती है। विद्यापति कहते हैं कि इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, कामदेव भूखा है, भूखे को अधिक क्रोध होता है उसी अतिथि के क्रोध से यह सब उपद्रव हो रहे हैं।

अमरुक की नायिका तयोरी चढ़ाती है जिससे और भी उसकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है। इधर विद्यापति की नायिका दूर ही खड़ी हो जाती है और अपने मन को दूर ले जाती है, किन्तु जो प्यास से छटपटाता है वह भला पानी देख कर किसी का उपदेश सुन सकता है? यही कारण है कि प्यासे मन ने मुँह की हँसी रूपी सुधारस देख कर उसकी एक भी नहीं सुनी और नायक की ओर बढ़ा। अमरुक की नायिका बोलती ही नहीं है उसका खयाल है कि नहीं बोलने पर प्रेम की गति थोड़ी देर के लिये रुक जायगी पर होता है उलटा, उसका मुँह मुसकराने लगता है। विद्यापति की चुप रहने से ही सन्तुष्ट नहीं होती। उसे डर है कि नायक के देखने पर उसका मन विचलित हो जायगा। इसलिये वह आँखें मूँद लेती है किन्तु परिणाम होता है एकदम उलटा। आँखें खुली रहने पर दृष्टि इधर-उधर कुछ देर तक भटकती तो संभव था कि कुछ देर तक वह हँसी रोक सकती थी किन्तु आँखें मूँदने पर सदा उसके मन में वही विचार उमड़ता रहता कि मैंने आँखें क्यों मूँदीं? हृदयेश्वर से अपना प्रेम छिपाने के लिये। और परिणाम यह होता कि आँखें मूँदने पर भी नायक का चित्र

उसके सामने खड़ा हो जाता है। बस क्या है, वह हँस पड़ती है और अपनी अयोग्यता प्रकट करती है। अमरक की नायिका मन कठिन करने की कोशिश करती है, किन्तु उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विद्यापति की नायिका हृदय को दबाती है पर सारा शरीर उसके हृदय का उद्गार प्रकट कर देता है। विद्यापति नायिका की अवस्था के वर्णन से ही सन्तुष्ट न होकर कारण और उपाय भी बता देते हैं। कवि नायिका से कहते हैं कि तुम्हारे घर एक अतिथि अर्थात् मदन भूखे हैं इसलिये ये उपद्रव हो रहे हैं और व्यंजना के द्वारा बतलाते हैं कि उन्हें भर पेट खिला दो, सारे उपद्रव शान्त हो जायेंगे। अब रसिक पाठक सोचें कि विद्यापति की कविता कैसी है।

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृतापादयो
स्तस्यालाप कुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धेमया।
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कन्चुके सन्धयः ॥

अर्थात् हे सखियो मैं क्या कहूँ मेरी चोली में सँकड़ों छेद हो गये हैं। मैंने अपने मान की रक्षा के लिये क्या नहीं किया ? उनकी ओर देखते हुये मैंने अपने मुँह को मोड़ लिया। दृष्टि को पैर की ओर ले गई, मेरे कान उनकी बातें सुनने के लिये व्याकुल हो रहे थे किन्तु मैंने उन्हें रोका। मेरे गाल पर पसीना निकल रहा था मैंने उसको हाथों से पोंछ डाला। विद्यापति का पद भी पढ़ें—

अवनत आनन कय हम रहलिहूँ बारल लोचन चोर।
पिया मुख रुचि पिबय धाओल जनि से चाँद चकोर।
ततहु सज्यो हठे हंदि आनल घएल चरन राखि।
मधुक मातल उड़ए न पारए तइ अओ पसारल पाँखि।
माधव बोलल मधुरी बानी से सुननि मृदु मोज्यो कान।
ताहि अवसर ठाम वाम मेल धरि धनु पंचवान।
तनु पसेवे पसाहनि भासलि तइसन पुलक जागु।
चुनि चुनि भय काँचुअ फाटलि बाहु बलभा भांगु।
भन विद्यापति कम्पित कर हो बोलल बोल न जाय।
राजा सिवसिंह रूप नारीयन सामल सुन्दर काय।

अर्थात् मैं मुँह नीचे की ओर झुका कर बैठी, चोर की तरह चुपचाप भागने वाले अपने नेत्रों को रोका—देखो उस ओर कभी मत जाना किन्तु वे मानते हैं कब ? जिस प्रकार चकोर चन्द्र-दर्शन के लिये लालायित रहता है उसी प्रकार लालायित मेरे नेत्र प्रिय का मुख-चन्द्र देख दौड़ पड़े। उनको जबरदस्ती मैं पकड़ लाई और चरण पर रख दिया, मधु से उन्मत्त मेरे नेत्र रूपी भँवरे उड़ नहीं सकते थे। तो भी उन्होंने पंख फैलाये। माधव मधुर वचन बोले। उसे सुन मेरे कान मृदु हो गये। इस अवसर पर मेरे भाग्य ने पलटा खाय़ा, कामदेव बाण का संघात कर खड़ा हो गया। शरीर के पसीने से केश रचना बह गई। चुन-चुन शब्द कर बोली फट गई। हाथ का बाला

(चूड़ियाँ) दूट गया। विद्यापति कहते हैं कि हाथ काँपने लगता है, बोली मुँह से नहीं निकलती है।

अमरुक की नायिका नायक से दृष्टि हटा कर अपने पैर की ओर ले जाती है। विद्यापति ने इसी भाव पर रंग चढ़ा कर इसे कैसा सरल बना दिया है? विद्यापति की नायिका आँखों की चंचलता और चोरी से पूर्ण परिचित है। इसलिये सबसे पहिले वह उन्हें रोकती है किन्तु आँखें रुकती नहीं हैं। इसलिये चोरों की तरह उन्हें पकड़ कर वह चरण रूपी कारागार में रख देती है। मधु में चिपक जाने के कारण भागने की इच्छा होने पर भी नेत्र-चोर भाग नहीं सकते। अमरुक की नायिका के कान नायक के वचन सुनने के लिये व्याकुल हो रहे हैं किन्तु नायिका जबर्दस्ती उन्हें रोकती है। विद्यापति की नायिका नायक की बातें नहीं सुनना चाहती किन्तु माधव का वचन सुन कर उसके कानों की करकशता दूर हो गई, वे मडु हो गये और वचन सुनने के लिये विवश हो गये। यहाँ 'मडु' शब्द ने कमाल कर दिया है। अमरुक की नायिका के गाल में थोड़ा पसीना हुआ जिसे वह पोंछ कर छिपा लेती है किन्तु विद्यापति की नायिका के शरीर में पसीने की धारा उमड़ पड़ी है जिसे वह छिपा नहीं सकती है। अमरुक की नायिका कहती है कि वह केवल चोली फटने का चुन-चुन शब्द सुन सकी थी कि उसका वलय दूट गया, हाथ काँपने लगे और उसके मुँह से एक भी बात नहीं निकल सकी। यही कारण है कि अमरुक की नायिका की तरह वह स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कह सकी कि मैं क्या कहूँ, किस तरह मान की रक्षा करूँ? इस मौनोक्ति में जो सरसता है वह गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने में कहाँ? अमरुक ने नायिका के पसीना होने का कारण नहीं बतलाया किन्तु विद्यापति ने धनुष पर पाँच बाणों का संधान कर कामदेव को खड़ा कर दिया। अबला के सामने धनुष पर पाँच बाण चढ़ा कर यदि कोई भी खड़ा हो जाय तो पसीना होना, काँपना आदि स्वाभाविक है। कवि ही कह सकते हैं कि दोनों में क्या अन्तर है।

अमरुक की अभिसारिका से उसकी सखी पूछती है—

क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीये,
प्राणाधिको वसति यत्रजनः प्रियो मे।
एकाकिनी बत कथं न बिभेषि बाले,
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनः सहायः॥

अर्थात्, प्रश्न—आधी रात के निविड़ अन्धकार में तुम कहाँ जा रही हो? उत्तर—मैं वहाँ जा रही हूँ जहाँ प्राणों से भी अधिक प्यारा मेरा प्रेमी है। प्रश्न—तुम अकेली हो फिर डरती क्यों नहीं हो? उत्तर—धनुष पर बाण चढ़ाये हुए कामदेव मेरे सहायक हैं। विद्यापति की अभिसारिका की निर्भीकता भी देखें—

निसि निसिअरे भम भीम भुअंगम जलधर बीजुरि उजोर।
तरुन तिमिर निसि तइओ चलसि जासि बड़ सखि साहस तोर।
सुन्दरि कओन पुरुष धन जे तो हरल मन जसुलोभचल अभिसार।

आंतर दुतर नरि से कैसे जयबह तरि आरति न करिय भांप ।

तोरा अछि पंचसर तें तोरा नहि डर मोर हृदय बड़ कांप ।

अर्थात्, रात में निशाचर और भयंकर सर्प घूमते हैं। बादल में बिजली चमक रही है, रात में निविड़ अन्धकार है तथापि तुम जा रही हो यह बहुत बड़ा साहस है। वह घन्य पुरुष कौन है जिसने तुम्हारा मन हर लिया है और जिसके लोभ से तुम संकेत स्थान जा रही हो बीच में दुस्तर नदियाँ हैं। उनको पार कर तुम कैसे जाओगी? प्रेम-मत छिपाओ। पाँच शर वाले कामदेव तुम्हारे सहायक हैं। इसलिये तुम्हें डर नहीं है, किन्तु सहायक नहीं होने के कारण मेरा हृदय बहुत जोर से काँप रहा है।

अमरुक 'घने निशीथे' कह कर सन्तुष्ट हो गये किन्तु विद्यापति ने निशाचर, सर्प और बिजली बुला कर रात्रि की भयंकरता और भी बढ़ा दी। अमरुक की नायिका को केवल प्रेमी के पास जाना है किन्तु विद्यापति की नायिका को दुस्तर नदी भी पार करनी है। अमरुक का नायक नायिका का प्राणाधिक है किन्तु विद्यापति के नायक ने नायिका का मन हर लिया है, इसके पास मन ही नहीं, सोचे तो किससे? मन चुराने वाले नायक का बदला लेने का सबसे उत्तम उपाय उसका ही मन हर लेना है। चोरी करने का सबसे उत्तम समय अन्धकारपूर्ण रात्रि है। इसलिये नायिका की उत्सुकता दिखलाकर कवि ने और भी चमत्कार बढ़ा दिया है। अमरुक की नायिका कहती है—मेरे सहायक पंचबाण हैं, किन्तु विद्यापति की नायिका से सखी कहती है—तुम्हारी सहायता के लिए पंचबाण धनुष पर चढ़े हुए हैं और कामदेव तुम्हारे सहायक हैं, किन्तु मैं असहाय हूँ, मेरा हृदय जोर से काँप रहा है। इसमें कुछ व्यंग्य अर्थ भी मालूम पड़ता है। सखी के कहने का अभिप्राय यह है, तुम्हारे साथ सहायक हैं, इसलिये तुम जाओ किन्तु भयभीत होने के कारण मैं नहीं जाऊँगी। इस तरह नायिका को अकेले नायक-मिलन का अवसर देना ही उसका व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। असहाय होने के कारण पति के पास उसे पहुँचा देने का भी इशारा हो सकता है। इन्हीं अन्तिम पंक्तियों ने इस पद को उत्तम काव्य कहलाने का अधिकार दिलवा दिया है।

‘अमरुक कवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध शतायते’—यदि अमरुक कवि का प्रत्येक श्लोक महाकाव्य कहलाने योग्य हो तो महाकवि विद्यापति के पदों को भी महाकाव्य कहना अयुक्त और असंगत नहीं होगा।

गोवर्धनाचार्य और विद्यापति—विद्यापति गोवर्धनाचार्य के भी ऋणी हैं। आर्यासप्तशती, गाथा सप्तशती, शृंगारतिलक, शृंगारशतक आदि का प्रभाव विद्यापति के पदों पर अनेक स्थानों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उदाहरणतः आर्यासप्तशती की एक आर्या लें—

अनुगृहीतानुनयां मामुपेक्ष्य सख्यो गता वतैकाहम् ।

प्रसभं करोषि मयि चेत्त्वदुपरि वपुरद्य मोक्ष्यामि ॥—आर्या स० श० श्लोक ३२

नायिका नायक से कहती है, मैंने मान का त्याग नहीं किया था, सखियाँ मुझे अकेली छोड़ कर चली गई। यदि तुम बलात्कार करोगे तो मैं अभी मर जाऊँगी। यहाँ श्लेष के द्वारा ‘मैं तुम्हारे शरीर पर अपने को गिराऊँगी’ यह अर्थ प्रतीत होता है और उसके द्वारा बलात्कार करने का इशारा ही व्यंग्यार्थ है।

ए हरि बले यदि परसबि मोय ।

तिरि - वध - पातक लागए तोय ॥२

तुहु रस - आगर नागर ढीठ

हम न बूझिए रस तीत कि मीठ ॥४॥ —विद्यापति, बेनीपुरी, पद ८१

हे हरि, यदि तुम जबर्दस्ती मुझे छुओगे तो तुम्हें स्त्रीवध का पाप लगेगा । तुम ढीठ, रसिक और नागर हो, मैं तो नहीं समझती हूँ कि रस मीठा होता है या तीता । 'आर्यासप्तशती' की नायिका आत्महत्या की धमकी दे कर बलात्कार करने से रोकती है किन्तु विद्यापति की नायिका उसकी अनुमति के बिना छूने से भी रोकती है और कहती है कि यदि तुमने मेरा स्पर्श किया तो तुम्हें स्त्रीवध का पाप लगेगा । सीधे आत्महत्या की थुड़की की अपेक्षा स्त्रीवध का भय दिखलाने में इतनी अधिक सरसता है—यह सहृदय-हृदय ही समझ सकता है । इस पर यह भी स्पष्ट शब्दों में कह देती है—तुम रस के समुद्र हो, नागरिक हो और प्रौढ़ हो, इसलिये रस का परिचय देना और अपनी ठिठाई दिखलाना तुम्हारे लिये स्वाभाविक है । मैं तो जानती ही नहीं कि रस क्या है । इसलिये हत्यापराध लग जाने की धमकी देकर असिकता प्रकट करना मेरे लिये स्वाभाविक है । यदि मैं असिकता प्रकट करना नहीं छोड़ती हूँ तो फिर तुम अपनी रसिकता क्यों छोड़ोगे ? इस व्यंग्यार्थ के द्वारा बलात्कार करने का इशारा करती है । श्लेष के द्वारा अस्वाभाविक अर्थ 'मैं अपना शरीर तुम्हारे शरीर पर गिरा दूँगी' की कल्पना की अपेक्षा यह व्यंग्यार्थ रसिकजनों को कहीं अधिक मीठा और ताजा रस पिला कर उन्मत्त कर देता है । कोई भी मानिनी अचानक यह नहीं कह सकती है—मैं तुम्हारे शरीर पर अपना शरीर गिरा दूँगी । यह सर्वथा अस्वाभाविक है । निश्चय ही यहाँ विद्यापति गोवर्धनाचार्य से कई-एक कदम आगे बढ़ गये हैं ।

जयदेव और अभिनव जयदेव विद्यापति—जयदेव से लगभग ३०० वर्षों के बाद पन्द्रहवीं शती में महाकवि विद्यापति हुए जिन्होंने मैथिली में जयदेव-शैली के मृदु व मनोहर पद लिखे । इनके काव्य के विषय भी वही रहे—राधा-माधव के प्रेम-विरह, सखी-दूती, ऋतुवर्णन, आदि । भाषा और भावों के संवारने का सुघरपन कल्पना, चित्र, अलंकार, रस, ध्वनि सब एक से रहे । दोनों के भाव-पक्ष और कल्पना पक्ष में समानता, बल्कि एकता रही । फिर भी जैसे जयदेव वैसे ही विद्यापति भी मौलिक कहलाये । अवश्य विद्यापति ने जयदेव से फैलाव यानी व्यापकता देखी । इन्होंने समाज को भर-भर कर प्रेम के प्याले पिलाये । जिसे इनके काव्य का रस नहीं मिला, सचमुच वह अभागा है ।

जयदेव या विद्यापति ने जो कविताएँ लिखी हैं—वे आधुनिक प्रगतिशीलता, सुरुचि आदि के परे हैं । उनमें शास्त्रीय कौशल की बहिर्मुखता है, बहुमुखता है । भीतरी स्तर में कवि का सरस हृदय है । हृदय सहृदयों द्वारा तुरन्त परख लिया जाता है पर बाह्य-सौन्दर्य की सच्ची समझ के लिये शास्त्र-परिष्कृत दृष्टि की आवश्यकता होती है । यह बाहरी सौन्दर्य काव्यगत सत्य का आवरण नहीं, आभरण है । बाह्य सौन्दर्य की प्रतिभा है, भीतर प्राण । इसलिये इनकी कला में जीवन है, जिन्दादिली है । कहना तो यों चाहिये कि एक ही जगह धूप-छाँह की आँखिमिचीनी है । ऊपर शृंगार-

सौन्दर्य की ललित-नीलिमा और भीतर भक्ति का ज्योतिर्लोक । जो जितनी गहराई तक पहुँचेगा, वह उतना प्रकाश पा सकेगा ।^१

संस्कृत के ह्रासोन्मुखी काल के कवि संयोग पक्ष में जितना ध्यान नख-शिख-वर्णन, अनुभाव आदि पर देते हैं, उतना संचारी तथा सात्विक भाव पर नहीं । कालिदास या भवभूति जैसे सकल कवि संचारी भावों के कुशल चित्रकार हैं किन्तु भारवी, माघ, श्रीहर्ष या जयदेव उद्दीपन विभाव, आलम्बन या अनुभावों को जुटाने में विशेष कुशल जान पड़ते हैं।^२ संयोग के वर्णन में संस्कृत के पिछले खेव के कवि अत्यधिक उच्छृंखल हो जाते हैं और कभी-कभी तो रात के साम्प्रयोगिक चित्रों को भी उपस्थित करने में भी नहीं हिचकते । विद्वानों का मत है कि यह दोष कालिदास की चन्द्रिकोज्ज्वल कविता में भी कलंक-सा दिखाई देता है । आनन्दवर्धन ने (ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत पृष्ठ ३३३) इसके लिये कालिदास की टीका भी की है । इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने तो यहाँ तक लिखा था कि संयोग शृंगार के कई पहलू होते हैं, किन्तु पता नहीं कविगण सुरतनखच्छद, दन्तदशन आदि की ओर ही क्यों अधिक ध्यान देते हैं ? संयोग में परस्पर प्रेम-प्रदर्शन आदि का भी चित्रण किया जा सकता है । परन्तु आनन्दवर्धन के चेतावनी देने पर भी विलासी दरबारी कवि अपनी अति शृंगारी प्रवृत्ति से बाज न आये । इस विलासी प्रवृत्ति को उस काल के मन्दिरों पर भी देखा जा सकता है । यहाँ धर्म-सम्प्रदाय भी राजशक्ति का अनुगमन करता हुआ दिखाई पड़ता है । ऐसी स्थिति में कवियों की क्या गिनती ? प्रथम तो सामन्ती दरबारी कवि अपने मालिकों की विलासी प्रवृत्ति को उभाड़ रहे थे । दूसरे इन कवियों के पास कालिदास या भवभूति जैसी पर्यवेक्षण-शक्ति नहीं थी अतः ये वात्स्यायन के पन्ने उलटते रहे । इसीलिए ये अश्लील सांयोगिक विधियों के प्रयोग करते रहे । ये लोग प्रेम का वर्णन भी हृदय से नहीं बुद्धि से करते थे । कालिदास जहाँ शृंगार-रस के कवि थे वहाँ उनके परवर्ती शृंगार-कला के कवि हुए । किन्तु कालिदास स्वयं इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं हैं । 'कुमार सम्भव' के अष्टम सर्ग में शिव-पार्वती के सम्मोग का वर्णन कालिदास ने बिना संकोच के किया है । आगे चलकर भारवि तथा माघ के विरह वर्णन में खुले ग्राम मुखादि का वर्णन किया गया है । श्रीहर्ष ने कालिदास की भाँति नल-दमयन्ती के संयोग का वर्णन 'नैषध' के पूरे दो सर्गों (१८वाँ तथा २०वाँ) में किया है । जयदेव को यही परम्परा मिलती है ।

जयदेव ने जमुना-कुंजों में छिपकर की गई राधा-माधव की रह-कैलि की जय-घोषणा की । इतना ही नहीं जयदेव में पतन की प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि उसने राधाकृष्ण की क्रीड़ा-विमिश्रित लज्जा से मुक्त रति के रस का पूरा वर्णन भी किया है—जब संयोग से दोनों कहीं अंधेरे में मिल जाते हैं और एक दूसरे को देख तो नहीं पाते किन्तु बातचीत से पहचानकर काम-व्यापार में संलग्न हो जाते हैं—

१. 'माधुरी' मई सन् १९४० ई०, पृष्ठ ४४७

२. भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' सर्ग ८; माघ कृत 'शिशुपाल वधम्' सर्ग ६-११; जयदेव कृत गीत-गोविन्द

आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्तजात,

ओब्बोधादनु सम्भ्रमादनुरता रम्भादनुश्रीतयोः ।

अन्यार्थ गतयो भ्रमान्मिलितयोः सम्भाषणौर्जनितो,

दम्पत्योर्निशि को न को न तमसि व्रीड़ाविमिश्रो रसः ॥—गीत-गोविन्द ५-४

विद्यापति ने भी इस प्रकार की संभोग-वर्णन की पद्धति को अपनाया है—

अंकम भरि हरि सयन सुतायल

हरलवसन अविसेखे ।

चांपल रोस जलज जानि कामिनि

मैदीन देल उपेखे ॥

एक अधर के नीवि निरोपलि

दू पुनि तीनि न होई ।

कुच जुग पाँच-पाँच ससि उगल

कि लय धरिथ धनि गोई ॥

अकुल अलप बेआकुल लोचन

आंतर पूरल नीरे ।

मनमथ मीन बनसि लय बेधल

देह दसो दिसि फीरे ॥

भनहि विद्यापति दुहुक मुदित मन

मधुकर लोभित केली ।

असह सहथि कत कोमल कामिनि

जामिनि जिव दय गेली ॥

खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और अभिसारिका के वर्णनों के बीच संस्कृत-साहित्य में बहुत पुराने हैं। कालिदास ने भी इनका वर्णन किया है पर कालिदास का वर्णन नायिका-भेद की दृष्टि से नहीं है। नायिकाभेदवाली पद्धति का वर्णन संस्कृत मुक्तकों (अमरक शतक) में तथा महाकाव्यों में भारवि और माघ में उपलब्ध होता है। बाद के कवि तो लक्ष्मणों को ध्यान में रखकर नायिका-भेद का वर्णन करने लगे, जयदेव भी ऐसे ही कवियों में हैं। किन्तु विद्यापति-नायिका-भेद में वह परिपाटी-पालकता नहीं जो बाद के हिन्दी-कवियों में मिलती है। विद्यापति के वर्णन में भावपक्ष की अपूर्वतरलता है। वह कोरे रीतिशास्त्र के अनुवादक नहीं बन पाये।

वस्तु ध्वनि के ऐसे उदाहरण जिनमें स्वयंदूती आदि की उक्तियों से तत्तत् भावों की व्यंजना कराई जाती है संस्कृत-अलंकार-ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। रतौंधी वाली अन्धी सास की खाट पर न जाने के लिये चेतावनी देती हुई नायिका और बिना बिछौने वाले पथरीले गाँव में पथिक को ठहरने के लिए आमन्त्रित करने वाली ग्राम-वधूटी को संस्कृत-साहित्य शास्त्री नहीं भूलता। स्वयंदूती की यह वस्तुध्वनिपरक परम्परा विद्यापति को भी प्राप्त हुई है। विद्यापति की विदग्ध नायिका उक्ति से ही

अपना भाव व्यंजित कर देती है। पर विद्यापति की इस कला में संस्कृत कवियों का कम हाथ नहीं है। किसी नायिका के घर में एक पथिक सोया हुआ है। नायिका पथिक से कहती है—

याभिन्धेषा बहुल जलदैर्घ्यभीमान्धकारा,

निद्रां प्राप्तो मम पतिरसो क्लेशितः कर्मदुःखैः ।

बाला चाहं मनसिज भयात् प्राप्तगाढप्रकम्पा,

ग्रामश्चौरैरयमुपहतः पान्थ निद्रां जहीहि ॥ —शृंगारतिलक

श्रीधरदास संकलित 'सदुक्तिकण्ठमृत' में खट्ट-कृत—'एकाकिनी परवशा तरुणी तथाहं' आदि पद्य और उपरोक्त शृंगार तिलक के पद्य का अनुवाद विद्यापति के निम्न पद्य में पाया जा सकता है—

‘हम जुवति पति गेलाह विदेस ।’ इत्यादि ।^१

प्रकृति का जैसा उदात्त और सुन्दर वर्णन महाभारत और वाल्मीकि रामायण में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कालिदास का प्रकृति-वर्णन भी सुन्दर है। किन्तु कालिदास में ही अलंकृत प्रकृति-वर्णन वाल्मीकि से अधिक हो चला है। प्रकृति का स्वच्छ अना-विल वर्णन करने के लिए तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति की आवश्यकता है। इसके लिए प्रकृति का साहचर्य आवश्यक है। यही कारण है कि दरबारी कवियों में प्रकृति का वह रूप नहीं मिलता। यही कारण है कि आगे चलकर प्रकृति-वर्णन समासोक्ति, उत्प्रेक्षा या अन्य अर्थालंकारों से लदने लगे और भारवि तथा माघ के प्रकृति-वर्णनों में यमक जैसे शब्दालंकार की कलावाज्रियाँ भी दिखाई देती हैं। इस प्रकार प्रकृति-वर्णन में बिम्बग्रहण कराने की क्षमता नष्ट होती गई और धीरे-धीरे हिन्दी के रीतिकाल में तो प्रकृति-वर्णन की मिट्टी पलीद हो गई। किन्तु विद्यापति तक यह दयनीय दशा नहीं थी। विद्यापति का प्रकृति-वर्णन ऊब पैदा करने वाला नहीं है। पर वह कालिदास के निकट भी नहीं पहुँचता। संस्कृत की परवर्ती कविता में प्रकृति-वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आता है। वहाँ की प्रकृति संयोग में नायक-नायिका को सुख और वियोग में पीड़ा देने आती है। चन्द्रज्योत्स्ना या तो गुदगुदाने आती है या शोले बरसाने, ज्योत्स्ना को ज्योत्स्ना के रूप में देखना इस पिछले खेव के संस्कृत कवि को आता ही न था। प्रकृति-वर्णन उद्दीपन या अर्थालंकार व्यंजना के साधन बन गये। जहाँ कहीं वस्तुत्प्रेक्षा या समासोक्ति के द्वारा प्रकृति पर मानवोचित व्यापार की संभावना या व्यवहार समारोपित किया जाता था अथवा उपमा या रूपक के द्वारा मानव जीवन के लिए चित्रों के साथ प्रकृति के व्यापार की तुलना की जाती थी वहाँ वर्णन सुन्दर बन पाता था। जयदेव का वसन्त वर्णन या तो तरुण तरुणियों के हृदय को विदारित करने वाले नाखून के समान पलाश के बाणों से सुशोभित होता है—‘युजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किशुक जाले’ अथवा युवक-युवतियों के आमोद-प्रमोद की सृष्टि करता है—‘बिहरति हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति युवतिजनेन सम’। वसन्त में

विकसित नागपुष्प कामदेव के सुवर्णदण्ड वाले छत्र के समान सुशोभित होता है तो पाटल के गुच्छों पर बैठे भौरे ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे कामदेव के तरकस में बाण भर रहे हों—

मदन महीपति कनकदण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे ।

मिलति शिलीमुख पाटलिपटल कृत स्मर तूण विलासे ॥

—गीत-गोविन्द

विद्यापति के प्रकृति-वर्णन में भी यह दुहरा रूप है। ऐसे भी शृंगारी अप्रस्तुतों का प्रयोग विद्यापति के पदों में पाया जाता है। विद्यापति का वसन्त भी महीपति है जो चम्पा के पुष्पों का छत्र धारण करता है, कुन्दवल्ली उसकी पताका है पाटल के स्तबक तरकस और अशोक के पत्ते वे बाण जिनसे वह विरहियों के हृदयों को बिद्ध कर देता है—

आएल ऋतुपति राज वसन्त ।

धाओल अलिकुल माधवि पंथ ॥

दिनकर किरण भेल पौगण्ड ।

केसर कुसुम धएल हेमदण्ड ॥^१

साहित्याचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने लिखा है कि कदम्ब की छांह में खड़े मुरली मनोहर की मनोहर मुरली की तान उसी के तने पर बँठी कोयल की कूक वृन्दावन की कुंजगली में मुग्ध मूर्च्छित गोप-बालाओं की लम्बी उसाँस जैसे जयदेव की साँस 'गीत-गोविन्द' के रूप में परिवर्तित हो गई हैं। पर विद्यापति की पदावली में इससे और ज्यादा दर्द और ज्यादा मिठास और ज्यादा गहराई है। कम से कम विद्यापति के विरह का बादल तो विश्व के शत-शत विरही नर-नारियों के आँसुओं का पुँजीभूत रूप है जबकि गीतगोविन्द महज राधा-माधव के प्रेम-शृंगार का उद्दीपन मात्र है।^२

दोनों कवियों की कल्पना, भाषा, अनुभूति आदि साहित्यिक तत्त्वों के आधार पर तुलना करते हुए जानकी वल्लभ आगे लिखते हैं कि जयदेव और विद्यापति में आलोचक को बुरी तरह खटकने वाली अश्लीलता मिलेगी। संस्कृत और ब्रजभाषा के लिये यह कोई नया दोष नहीं है। एकबार स्वस्थचित्त विचार करते-करते मैं इस नतीजे पर पहुँचा था कि संस्कृत में व्यास-वाल्मीकि से लेकर अब तक के किसी भी कवि की कृति इस लायक नहीं कि उसे निस्संकोच रूप से बेटी-बहिन या मां-बच्चे को पढ़ाया जा सके। फिर जयदेव ने यदि 'विलासकलासुकुतूहलम्' से शुरू ही किया है। हाँ, यह बात जरूर है कि भाषा या भाव के बहाव के सबब सुन्दर सौन्दर्य-सृष्टि के कारण साधारणतया अश्लीलता पर आँखें अटक नहीं पाती।

श्लिष्यति कामपि चुस्वति कामपि

कामपि रमयति रामाम् ।

१. मित्र-मजूमदार सम्पादित 'विद्यापति', पद ७१६, पृ० ४६६

२. 'माधुरी' मई १९४० ई०, पृ० १४४

पश्यति सस्मित चासुरा

मपरानुगच्छति वामाम् ॥

या

उरसि मुराररूपहित हारे धन इव तरलबलाके ।

तड्दिव पीते रति-विपरीते राजसि सुकृत विपाके ॥

यहाँ आलिंगन, चुम्बन, रमण या विपरीत-रति की अश्लीलता बीभत्स नहीं है। सच तो यह है कि शृंगार-रस का 'क', 'ख' संस्कृत और व्रजभाषा में यहीं से शुरू होता है। भाषा और भाव की रेशमी साड़ी ने कविता में नग्नता नहीं आने दी है। पर जयदेव या विद्यापति यहीं से नहीं लौट जाते वह तो राधिका की चूनी खोलवा देते हैं। ११-१२ वर्ष की बालिका से कृष्ण की छेड़खानी का हवाला बेफास गले से देने लगते हैं—

विघटल नीवि कर धर जाति । अंकुरल मदन धरए कत भाँति ॥

कुच कोरक तव कर गहिलेल । काँच बदरि अहनिम रुचि मेल ॥

—विद्यापति

या

विगलित वसनं परिहृत रशनं घटय जघनमपिधानम् ।

किसलय शयने पंकज नयने निधिमिव हर्ष निदानम् ॥

—जयदेव

इसे नग्नता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? यों कुछ नहीं पर एक बात है जिससे इस शंका का सम्यक् समाधान हो सकता है। कवि का दृष्टिकोण या काव्य-कला की पूर्ण परिणति देख चुकने पर उलझन सुलभ सकती है। दो पंक्तियों के उद्धरण द्वारा कला का एकांगी परिचय मिलता है, पूर्ण नहीं। कवि के निजी दृष्टिकोण का मैं परिचय दे चुका हूँ। कविता की गति भी भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर है। भाव का प्रवाह भी शृंगार से भक्ति की तरफ, काव्य से दर्शन की ओर है।^१

जयदेव और विद्यापति दोनों ही प्रेमयोगी हैं, अश्लील शृंगार के कवि नहीं, वासना के प्रचारक नहीं। मैं ऐसा ही समझता हूँ। फिर भी अपरिपक्वमति, बालक-बालिकाओं के बीच इन्हें बिठलाना ठीक नहीं और भक्तिपथ-प्रदर्शक के रूप में आदर्श कह कर ग्रहण करना तो किसी के लिए उचित नहीं है। इनकी भावना-धारा आरम्भ से अन्त तक समानान्तर रहकर बही है। उद्गम स्थान एक होने पर भी अनन्त मिलन से पहले दोनों का अस्तित्व दोनों का स्वत्व-व्यक्तित्व बराबर कायम रहा है। इसलिए दार्शनिक सत्य की दृष्टि से दोनों में ऐक्य रहने पर भी दोनों एक नहीं हैं। जयदेव के कृष्ण राघवमय हैं किन्तु विद्यापति की राधा कृष्णमय। जयदेव अधिक साहित्यिक है, विद्यापति अधिक रसिक। सुख-दुख दोनों में जयदेव संयत हैं, विद्यापति

बहते हुए। जयदेव का संगीत मधुर है, विद्यापति के गीत मीठे। जयदेव द्रष्टा हैं, विद्यापति प्रदर्शक। साहित्यिक तुलना के लिये यह भेद दोष नहीं मौलिकता का महत्त्व बतलाने वाला महत्तम गुण है। जयदेव सुख के कवि हैं, विद्यापति सुख-दुख दोनों के। जयदेव आनन्द की ओर उन्मुख दीख पड़ते हैं, विद्यापति को सब कुछ स्वीकार है। जयदेव ने जैसे प्राप्त कर लिया है, पर विद्यापति ने पाकर खो दिया है। फिर भी वह निराश नहीं हैं। इतने पर भी दोनों का विषय एक है और दृष्टिकोण समान। उद्देश्य एक है और विषय समान। आरम्भ और अन्त में समानता रहने पर मध्य का काल्पनिक भेद साहित्यिक मनोरंजनमात्र के लिए है। भारत को छोड़ और कहाँ इस प्रकार एक ही में भक्त और कवि के दर्शन हो सकते हैं।^१

वस्तुतः विद्यापति अभिनव जयदेव हैं—जयदेव के गुण-दोष सभी विद्यापति में विद्यमान हैं। वही अश्लील शृंगारी चित्रण, वही शास्त्रीय पद्धति की किन्तु भावात्मक रतिभाव की व्यंजना, वैसा ही कामशास्त्र का उन्मुक्त संकेत, कल्पना की गतानुगतिकता और संगीत का अजस्र प्रवाह। संस्कृत के पिछले खेव के कवियों में भावपक्ष के उपन्यास तथा कल्पना-पक्ष की विनियोजना में मौलिकता का अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। स्वयं जयदेव में भी मौलिकता का अभाव है। जयदेव ने अपने पूर्ववर्तियों की भावना और कल्पना-संपत्ति को बिना किसी हेर-फेर के अपना लिया है। हाँ, उसे संगीत की शाण पर चढ़ा कर ध्वनिमय अवश्य कर दिया है। कविता पर कोमल कान्त पदावली वाले संगीत की पालिश ने ही जयदेव को अमर बना दिया। विद्यापति की अमरता का प्रमुख कारण भावपक्ष या कला पक्ष का मौलिक उपन्यास न होकर पदों के लिए ललित देशी भाषा का माध्यम चुनना और संगीत की चाशनी में बोर कर उन्हें लोकगीतों की मधुरता प्रदान करना है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' की भूमिका में लिखा है कि संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में जो कुछ कवि प्रौढ़ोक्ति है, जो कुछ प्रचलित उपमान हैं उन सब का प्रचुर प्रयोग विद्यापति ने किया है अपने पदों में। गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरक शतक, शृंगारशतक आदि संस्कृत और प्राकृत आदिरस की कविताओं में से विद्यापति ने अपने गानों के लिए यथेष्ट भावों को लिया है। जो लोग संस्कृत पढ़े हैं उनके लिए विद्यापति के पदों में सुर (संगीत) और भाषा (देशी) को छोड़कर और कुछ नहीं है।

उमापति उपाध्याय और विद्यापति—औफ्रीस्ट के 'कैटेगोरिस' 'कैटेगोरिस' में उमापति नामक चौदह कवियों की चर्चा है किन्तु इनमें केवल दो 'उपाध्याय' की उपाधि धारण करने वाले हैं। एक ने 'शुद्धि निर्णय', 'सार संग्रह', 'स्मृति दीपिका' आदि ग्रन्थों की रचना की थी और दूसरे ने 'पारिजात हरण' की। एक मंगरीनी (दरभंगा) के रहने वाले थे और दूसरे कोइलख (दरभंगा) के। 'पारिजात हरण' वाले उमापति उपाध्याय कोइलख के थे।^२ उमापति की कृति 'पारिजात हरण' को प्रथम मैथिल या

१. 'माधुरी' मई १९४० ई०, पृ० ४५७

२. डॉ० प्रियसंन, जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी १९१७ ई०, भाग १, पृ० २५

प्रथम हिन्दी नाटक होने का गौरव तो अनेक देने लगे हैं। इस रचना के अन्तर्गत बीच-बीच में रागानुसार कुछ भाषागीत भी हैं जो अवश्य ही विद्यापति से पूर्व की मैथिल गीत-परम्परा में उल्लेख पा सकते हैं। डॉ० प्रियर्सन, डॉ० उमेश मिश्र, के० बी० चटर्जी और बलदेव उपाध्याय जैसे शीर्ष-कोटि के विद्वानों ने हरिसिंहदेव या हरदेव (१३०५-१३२४ ई०) को उमापति उपाध्याय का आश्रयदाता बताया है। उमापति उपाध्याय का स्थिति काल चौदहवीं शती है इसके समर्थन में भाषा सम्बन्धी प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाण भावसम्बन्धी हैं। यह प्रबलतम समझा जाना चाहिये। मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति के स्थितिकाल का निश्चय अभी ठीक-ठीक नहीं हो सका है किन्तु बिमान बिहारी मजुमदार के प्रयासों के फलस्वरूप इतना निश्चितरूप से ज्ञात हुआ है कि वे सन् १३८० ई० से १४६० ई० तक जीवित थे।^१ विद्यापति के बहुत से पदों पर उमापति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कई स्थलों पर तो दोनों कवियों की भणितार्थों की शैली में इतना अधिक साम्य है कि आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। उपमानों के प्रयोग का भी यही हाल है। उमापति द्वारा रचित एक पद तो करीब-करीब ज्यों का त्यों विद्यापति के नाम से मिलता है। वह पद यों है—

—‘मालवरागे गीतम्’

अरुन पुरुष दिसि बहलि सगरिनिसि गगन मगन भेल चन्दा ।

मुनि गेलि कुमुदिनि तइजो तोहर धनि मूनल मुख अरविन्दा ॥^२

विद्यापति (विद्यापति, बेनीपुरी पद १३८) के नाम से जहाँ यह पद मिलता है वहाँ कतिपय शब्दों के पाठान्तर के अतिरिक्त उपर्युक्त पद की अन्तिम पंक्ति के स्थान पर राजा सिवसिंह रूपनरायन कवि विद्यापति भाने हैं, परन्तु यह पद निश्चित रूप से उमापति का है। इस पक्ष का सबसे बड़ा प्रमाण उमापति के ‘पारिजात हरण’ में ही मिलता है। वहाँ जिस स्थल पर यह पद आया है वहाँ उमापति ने प्रत्येक चार पंक्तियों के बाद उसी भाव के संस्कृत में भी पद्य प्रस्तुत किये हैं। आरम्भ में ‘एतस्मिन्नर्थे श्लोकः’ अथवा ‘गीतार्थे श्लोकः’ लिखकर उन्होंने यह स्पष्टतया सूचित किया है कि मैथिली और संस्कृत और दोनों ही भाषाओं के पद किसी दूसरे कवि के न होकर उन्हीं के रचे हुए हैं।

श्रुति-परम्परा से ज्ञात है कि उमापति एक धुरन्धर विद्वान् था। वह जयदेव के गीत-गोविन्द से भी परिचित था और उसका चौबीस संख्यक गीत तो गीतों का गीत लगता है। ये गीत मुक्तक हैं। इनमें स्वनामभणित और आश्रयदाता प्रशस्ति भी है। यहाँ उमापति कृत पद सं० १४, १६, १८, २०, २१, ३० विद्यापति के पदों से खूब मिलते-जुलते हैं। पद सं० ३० की भणितार्थ से स्पष्ट होता है कि दुखिया को आश्वासन देना भी विद्यापति ने लगता है उमापति से ही सीखा था—

“सुमति उमापतिभान सपहु करब समधान ॥”^३

१. मिश्र-मजुमदार सम्पादित ‘विद्यापति’, भूमिका, पृ० ४०-४६

२. डॉ० प्रियर्सन-सम्पादित ‘पारिजातहरण’, पृ० ४४-४६

३. वही, पृ० ४७

प्राकृत कवि और विद्यापति

प्राचीन साहित्य में राधा-कृष्ण की शृंगार-लीला का प्रथम उल्लेख हाल सातवाहन-संकलित 'गाथासतसई' में मिलता है। हाल सातवाहन ईसा की प्रथम शती में प्रतिष्ठानपुर में राज करते थे। हाल ने उस समय प्रचलित प्राकृत कवियों की शृंगार कविताओं का बहुत सा धन व्यय करके यह संकलन तैयार किया था। इन गाथाओं की भाषा का विश्लेषण कर पण्डितों ने इसे २००-४५० ई० के बीच की रचना बताया है। किसी ने भी इस संग्रह को छठी शती के बाद का नहीं माना। ऐसा प्रतीत होता है कि ये गाथायें और इनके साथ-साथ राधा-कृष्ण की प्रेम-कहानी ईसा की सातवीं शती के पूर्व ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुकी थी। हाल सातवाहन सम्पादित इस सतसई में राधा-कृष्ण की ब्रजलीला विषयक अनेक पद हैं। केवल एक पद में स्पष्ट रूप से राधा का उल्लेख हुआ है—

मुहमरुएण तं कल्ल गोरअं राहिआएँ अवरोन्तो ।

एताण वलवीणं अण्णणं वि गोरअं हरसि ॥ १. २६

अर्थात् हे कृष्ण तुम मुख मारुत से (फूँक मारकर) राधिका के मुख पर पड़ी गोरज (धूलि) का अपनयन करके इन वल्लभियों तथा अन्य नारियों (गोपबालाओं) के गौरव का ही हरण कर रहे हो। वहाँ उपलब्ध ब्रजलीला विषयक एक-दो पद देखें—

(क) अज्जवि बालो दामोअरोत्ति इअ जम्पि ए जसोआए ।

कन्हमुत्पेसि अच्छं णिहुअं हसिअं ब अबहूहि ॥ २. १२

अर्थात् आज भी दामोदर बालक है, यशोदा जब ऐसा कह रही थीं तब कृष्ण के मुखड़े की ओर निहार कर ब्रज की बधुएँ ओट में हँस रही थीं।

(ख) एच्चए सलाहएणिहेए पासपरिसंठिआ णिउणंगोवी ।

सरिसगोविआणं चुम्बइ कवोलपडिमागअं कन्हम् ॥ २. १४

अर्थात् नाच की प्रशंसा के बहाने बगल में आई कोई निपुणा गोपी अपनी जैसी गोपियों के कपोल-प्रतिमागत-कृष्ण का चुम्बन कर रही है।

विद्यापति कृत पदावली में अनेक पद ऐसे मिलते हैं जिनमें श्रीकृष्ण के माधव, हरि, मुरारि, मधुसूदन, बनवारि, कान्हा, काला, मोहन, मधुरिपु आदि नाम हैं। अनेक पदों में कृष्ण नाम न रहने पर भी यमुना, गोप, पुरुषोत्तम, राही प्रभृति शब्द हैं।^१ जिनसे स्पष्ट ही इन पदों में राधा-कृष्ण की ब्रजलीला ही चित्रित हुई है। राधिका की वयःसन्धि अथवा तच्छणी का प्रेम-चांचल्य, प्रेम की गहराई, मिलन-विरह, मान, दर्शन-मौग्य आदि विषय हिन्दी के शृंगार कवियों को ही परिचित नहीं थे, प्राकृत कवियों के भी ये विषय अपने थे। अब कुछ ऐसे पद प्रस्तुत करते हैं जो विद्यापति के पदों से साम्य रखते हैं।

१. मित्र-मजुमदार, 'विद्यापति' पद सं० २४६, ३२७, ४३८, ४५०, ७४१-७४५

क. चिरकाल बाद प्रवासी प्रियतम के लौटने पर उसकी प्रेयसी कैसे मांग-लिक अनुष्ठानों से उसकी अभ्यर्थना करेगी यह देखें—

रत्यापङ्गणग्रगुण्णला तुमं सा पङ्किच्छए एन्तम् ।

दारणिहिहोहि दोहि वि मंगलकलसेहि व थरोहि ॥२॥ ४०

अर्थात् तुम्हें एक लम्बे अर्से के बाद आता हुआ जानकर वह मंगल आयोजनपूर्वक प्रतीक्षा कर रही है। अपने नयनोत्पलों के द्वारा उसने तुम्हारे आगमनपथ को प्रशस्त किया है और अपने दोनों स्तनों को द्वार पर स्थित दो मंगल कलशों की भाँति रखा है।

संस्कृत कवि अमरक और त्रिविक्रम भट्ट व अन्य अनेक स्फुट रचनाकारों के तो ऐसे पद मिलते ही हैं विद्यापति के निम्न पद पर भी तनिक दृक्पात करें—

पिया जब आओव ए मभु गेहे मंगल जतहुँ करब निज देहे ।

कनया कुम्भ भरि कुचयुग राखि दरपन धरब काजर देइ आँखि ॥

वेदि बनाओव हम अपन अंक में भाड़ करब ताहे चिकुर बिछाने ॥

कदलि रोपब हम गरुआ नितम्ब आम पल्लव ताहे किंकिनि सुभम्प ॥

दितिदिसि आनब कामिनि ठाठ चौदिगे पसारब चाँदक हाट ।

विद्यापति कह पूरब आस दुइ एक पलके मिलब तुअ पास ॥

मित्र-मजुमदार 'विद्यापति', पद ७६०

अर्थात् नायिका का कथन है कि जब प्रियतम इस घर में आवेंगे तब अपने शरीर में ही समस्त मंगलाचरण कहेंगी। अपने कुचयुग को मांगलिक स्वर्णघट बनाऊँगी। आँखों में काजल देकर दर्पण स्वरूप प्रस्तुत करूँगी—(मेरे नेत्र मुकुर में दयित निज मुखावलोकन करेंगे)। मैं अपने शरीर में वेदी-रचना कहूँगी। केश-प्रसार कर उससे भाड़ कहूँगी, अपने गुरु-नितम्ब रूपी कदली को स्थापित करके उस पर किंकिणि रूपी आम्र पल्लव डुला दूँगी। सर्वतः चाँद-सा रूप-विस्तार करूँगी। विद्यापति कहते हैं कि यह आशा पूर्ण होगी। एक दो पल में ही दयित-प्रिय तुम्हारे पास आकर मिलेंगे।

'गाहासतसई' की आगमिष्यत्पतिका के मुकाबले विद्यापति की आगमिष्यत्प-तिका में सजीवता और समग्रता अधिक है। प्रवासी प्रियतम के पुनरागमन की प्रतीक्षा में नायिका दिन गिनती है। प्रेमाधिक्यवशा उस विरहिणी ने 'मेरा प्रियतम आज गया है' 'आज गया है' इस प्रकार लिखकर गिनते हुए दिवस के प्रथमार्द्ध में ही दीवार को रेखाओं से चित्रित कर डाला—

अज्जं गओत्ति अज्जं गयोत्ति गणरीए ।

पढम विवअ दिथ हद्धे कुड्डो रेहाहि चित्तलियो ॥

३. ८

अब विद्यापति कृत निम्न पदों पर ध्यान दें :—

(क) कालिक अवधि करिया पिया गेल, लिखइते कालि भीत भरि गेल

मेल परभाति कालि कहे सबहि, कह कह रे सखि कालिकर्वाहि

—आदि पद ७२६

अर्थात् पिया कह गये थे कि कल आऊँगा। कल लिखते-लिखते दीवाल भर गई—बहुत से कल बीत गए। सब कहते हैं कि प्रभात हुआ किन्तु हे सखि बताओ प्रभात कब होगा? रात्रि व्यतीत होने से ही तो प्रभात होता है ठीक है किन्तु जब वह न आए तो कल कब होगा। 'कल, कल' करते आशा ही छोड़ बैठी हैं। कान्त तनिक भी पास नहीं आए। विद्यापति कहते हैं कि हे वरनारि सुन मथुरापुर की नारियों ने उन्हें रोक रखा है।

निम्न गाथा में कोई विरहिणी मुग्धा इस बात को विचार कर रुदन करती है कि प्रियतम के पुनरागमन की प्रतीक्षा में दिवस गिनते-गिनते हाथ और पैर की उँगलियाँ तो छीज गई, अब किस तरह से दिन गिनेगी—

हृत्थेसु अ पाएसु अ अंगुलिगणणाइ अइगआ दिअहा

एण्ह उए केए गणिज्जउ ति भण्ड रुअइ मुद्धा ॥

४. ७

विद्यापति कृत 'पद सखि मोर पिया' इत्यादि में भी यही भाव अभिव्यक्त हुआ है। हेमचन्द्र के प्राकृत 'द्व्याश्रय काव्य' (पृ० ५६६) पर भी इसी भाव का दोहा संकलित हुआ है। ऐसे अवसर पर विद्यापति की विरहिणी राधिका सुनिय क्या कहती है और कैसे हौले से विद्यापति उसे आश्वासन देते हैं—

सजनी के कह आओब मधाई

विरह पयोधि पार किए पाओब

मभु मन नहि पतिआई।

एखन तखन करि दिवस गमाओल

दिवस दिवस करि मासा

मास मास करि बरस गमाओल

छोड़ लूँ जीवन आसा.....

भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति

अब नहि होह निरासे

से ब्रजनन्दन हृदय अनन्दन

झटित मिलब तुअ पासे ॥—विद्यापति, बेनीपुरी पद २०४

'गाहा सत्तसई' की प्रणयमानिनी नायिका कहती है—

अच्छीइं ता थइस्सं दोहि बि हृत्थेहि बि तस्सिं दिट्ठे।

अंगं कलम्ब कुसुमं व पुलइअं कहं गु ढक्किस्सम् ॥ ४, १४

अर्थात् उसे देखने पर मान लो दोनों हाथों से दोनों आँखों को तो ढक लूँगी, कदम्ब पुष्प की भाँति पुलकित अपने अंगों को कैसे ढक पाऊँगी?

प्रेमज एक प्रकार के देह विकार को ढाँकने की कोशिश करने पर दूसरा विकार प्राकर विद्यापति की नायिका को देखिए कैसी मुसीबत में डाल देता है :—

दुरहि रहिअ कश्चि मन आन । नयन पियासल हटल न मान ॥

हास सुधारस तसु मुख हेरि । बाँध निबी कति बेरि ॥

—मित्र-मजुमदार 'विद्यापति' पद. ४३०

अर्थात् उनके दूर रहने पर मन अनमना सा रहता है। प्यासे नयन मेरा निषेध नहीं मानते हैं। हास्य सुधारस संचित उनका मुख देख कर बँधी हुई नीवि को कितनी बार बाँधूँ ? उनके दर्शन होने पर सुबद्धा नीवि भी ऐसा लगता है कि शिथिल पड़ गई है। सखि, क्या करूँ ? कैसे यह सब छिपाकर रखूँ ? यदि मन अपने वश में हो तब ही तो उनके प्रति मान कर सकती हूँ। दिल में धुकधुकी-सी लगी रहती है इसी लिए उसे दबाकर रखती हूँ। सारा शरीर किस प्रकार शोभा को धारण करे ? हृदय के अपने उल्लास को मैं छिपा नहीं सकती मुख बन्द किये रहने पर—(बातचीत न करने पर) भी हँसी व्यक्त हो जाती है। तो सखि बोलो अब मैं क्या करूँ कैसे उनके प्रति मान करूँ ?

‘गाहा सत्तसई’ की अभिसारिका पर दृक्पात करें:—

अज्ज मए गन्तव्वं वणान्धआरे वि तस्स सुह अस्स ।

अज्जा णिभीलि अच्छी पअपरिवाडि धरे कुणइ ॥ ३. ४६

अर्थात् आज मुझे घने अन्धेरे में उस कान्त के अभिसार में जाना पड़ेगा इस बात को सोचकर वह वर नागरी निमीलिताक्षी होकर अपने घर के एक कोने में ही चहल-कदमी (पूर्वाभ्यास) कर रही है।

निम्न पद में ध्यान दें और देखें कि विद्यापति की नायिका किस भाँति तिमिराभिसार का पूर्वाभ्यास करती है :—

हेरह पछिम दिस कखन होयत निस

गुरुजन नयन निहारि ।

बिनु कारन गुह करह गतागत

मुनि नयन अरविन्दा ।

अति पुलकित तनु विहसि अकामिक

जागि उठलि सानन्दा***

—मित्र-मजुमदार ‘विद्यापति’ पद, ६४

अर्थात् सखी ने नायिका से कहा कि हे सुन्दरि स्पष्ट क्यों नहीं बताती व्यर्थ में बहाने मिला रही हो। सब बताओ मदन महासिद्धि के अर्थ किसने अपने पूर्व सुकृत का फल-लाभ किया है। कौन है वह ? रात्रि से पूर्व ही काली पोशाक से सजकर नायिका जरा-जरा सी देर में गुरुजनों की ओर ताक कर देखती है कि वे उसके भावाद को तो कहीं नहीं ताड़ रहे और पश्चिम की ओर नज़र घुमाकर बार-बार देखती है कि कब सूर्यास्त होगा—रात आवेगी ? बिना कार्य के ही आँख मूँदकर भीतर घर से बाहर और बाहर से भीतर आवागमन करके अन्धकार में अभिसार करने का अभ्यास करती है। रह रहकर उसका देह पुलकित हो उठता है अकस्मात् ही वह हँसती हुई उठ खड़ी होती है। विद्यापति कहते हैं कि सखी चतुरा है उसके साथ बहाना नहीं चलेगा और रूपनारायण राजा शिवसिंह इस कला रस को जानते हैं।

सतसई की सद्यः स्नाता का साक्षात् निम्न गाथा में होता है :—

पत्ति अम्बफंसा ण्हागुत्तिण्णए सामलंगीए ।

जलबिन्दुएहिं चिहुरा रुम्हन्ति बन्धस्स व भएण ॥६.५१

अर्थात् नहाकर निकली श्यामलांगी के नितम्ब का स्पर्श पाए हुए चिकुर-समूह फिर बंध जाने के भय से जलबिन्दुपात क्या कर रहे हैं मानो रो रहे हैं ।

विद्यापति कृत सद्यःस्नाता के चित्रण कहीं अधिक समग्रता और सुखरता को लिए हुए हैं ।

नायिका के नख-शिख प्रसंग में गाथा सप्तशती की निम्न गाथा में आप पावेंगे कि पीनोन्त स्तन-युगल में राह न पाकर हार जमुना नदी के फेनपुंज की तरह छाती पर मानो उद्विग्न होकर चक्कर काट रहा है—

मगं च्चिअ अलहन्तो हारो पीगुण्णआणं थणआणम्

उव्विगो भमइ उरे जमुणाणइफेण पुंजोव्वं ॥ ७.६६

इसे पढ़कर विद्यापति का निम्न पद्यभाग सामने आ जाता है ।

गिरिवर गरुअ पयोधर परसित गिम गजमोति क हारा ।

काम कम्बु भरि कनक सम्भु परि डारत मुरसरि धारा ॥

विद्यापति 'बेनीपुरी, पद १८

निम्न गाथा में बहुवल्लभ नायक का चरित्र कृष्ण के चरित्र से खूब मेल खाता है—

ए मुअन्ति दीहसासं ए रुम्हन्ति चरं ए होन्ति किसिआओ ।

धण्णाओ ताओ जाणं बहु वल्लह वल्लहो ए तुमम् ॥ २.४७

अर्थात् जो लम्बी सांस नहीं लेती हैं, देर तक नहीं रोती हैं, कुश भी नहीं होती हैं वे ही नारियाँ धन्य हैं जिनके हे बहुवल्लभ तुम वल्लभ नहीं हो । 'गाथा सप्तशती' २.७८ में द्विती प्रसंग भी मिलता है । 'गाथा सप्तशती', 'द्रव्याश्रय काव्य, गौड़ वहो और 'प्राकृत पैंगलम्' में ऐसी अनेक गाथायें व पद हैं जिन्हें विषय, भाव अथवा प्रेरक-तत्त्व की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के भक्त शृंगारी कवियों की शृंगार व भक्ति प्रधान रचनाओं की पृष्ठभूमि के रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है । वयःसन्धि, किंचिदुपारूढ यौवना, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा नवौढ़ा, विलम्बनवौढ़ा, कुलस्त्री (स्वकीया), असती (परकीया), खण्डिता, अन्यरतिचिन्ह-दुःखिता, विरहिणी, द्वीवचन तनुना-ख्यान, उद्वेग-कथन, वासक सज्जा, स्वाधीन भर्तृका, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, गोत्र-स्खलिता, मानिनी, प्रवत्स्यत्भर्तृका, प्रोषितभर्तृका, अभिसारिका आदि कुछ ऐसे अत्यन्त सामान्य विषय हैं जिन पर 'गाथासप्तशती', 'द्रव्याश्रय काव्य', गौड़वहो, 'प्राकृत पैंगलम्' में संगृहीत रचनाओं का कलेवर आश्रित है । विद्यापति की पदावली से परिचय रखनेवाला इन सभी विषयों से सम्बन्धित रचना उनके पदों में पा सकता है ।

अपभ्रंश कवि और विद्यापति

संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य का अनुशीलन करनेवाले पावेगे कि भले ही वहाँ अन्य रसों को भी स्थान मिला है तथापि उन रचनाओं में भी शृंगार भावनाओं की ही प्रमुखता है। अधिकांशतः सामन्त या आश्रयदाताओं के सहारे रहने वाले कवियों ने समय-समय पर अपने आश्रयदाता की प्रशंसा की है। उन्होंने परम्पराभुक्त नायिकाभेद, नखशिखवर्णन, ऋतु वर्णन आदि का काव्यों में यथेच्छ प्रयोग किया है। प्रबन्ध काव्य भी लिखे गए तथापि मुक्तक रचना का आधिक्य है। अपभ्रंश साहित्य के चरित ग्रन्थों में प्रायः कवियों ने अपने आश्रयदाता का वर्णन किया है। उनमें शृंगार-भावना की प्रमुखता नहीं दिखाई देती किन्तु शृंगार का अभाव नहीं है। प्रायः सभी चरितनायक यौवन में भोग विलासमय जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं। जैनाचार्यों ने धार्मिक दृष्टि से ही इन चरित ग्रन्थों की रचना की थी, अतः रस, नायिकाभेद, शृंगार आदि पर स्पष्ट रूप से विवेचन असम्भव था। फिर भी इन 'चरित-ग्रन्थों' में बीच-बीच में हमें रीतिकाल के काव्य स्वरूपों के संकेत मिल ही जाते हैं।

नयनन्दी कृत 'सुदंसण चरित' (संवत् ११००) में धार्मिकता के अतिरिक्त बीच-बीच में ऋतु, विवाह, नखशिख, रति, शृंगार आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें नायिकाभेद के भी दर्शन हो जाते हैं। अपभ्रंश में लिखित इस ग्रन्थ में तथा 'सन्देश रासक', 'स्थूलिभद्रकथा' आदि ग्रन्थों में भी नख-शिख वर्णन मिलता है। 'सन्देश रासक' का षड्ऋतुवर्णन रीतिकालीन षड्ऋतुवर्णन के समान विरह की भावना से ओत-प्रोत है। सब वस्तुएँ विरहिणी के हृदय में वियोग की पीड़ा को द्विगुणित करती हुई प्रतीत होती हैं। 'बारहमासे' का वर्णन भी रीतिकालीन परम्परा में वियोग के प्रभाव को प्रगट करने के लिए ही किया जाता है। यह बारहमासे का वर्णन हमें अपभ्रंश साहित्य में भी मिलता है। 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' में भी बारहमासे का यही रूप हमें मिलता है। 'धर्मसूरिस्तुति' में बारहमासे का धार्मिक रूप मिलता है। विनय चन्द्र सूरि (१२०० ई०) की 'नेमिनाथ चौपड़' अपभ्रंश की पहली कृति है जिसमें 'बारहमासा' मिलता है। इससे पहले संस्कृत और प्राकृत की परम्परा के अनुसार प्रायः षड्ऋतुवर्णन ही दिखाई पड़ता है। हिन्दी में यह बारहमासा ही अधिक लोकप्रिय हुआ। नेमिनाथ के वियोग ले लेने पर उनकी पत्नी राजलदेवी उनके वियोग में विलाप करती है। यह बारहमासा मार्मिक विरह-विलाप का पुंज है। सावन मास से शुरू होकर अषाढ़ में समाप्त होता है—

आवणि सरवणि कण्डुय मेहु गज्जइ विरहिनि छिज्जइ वेहु

विज्जु भवक्कइ रक्खसि जेवं नेमिहि विण्णु सहि सहियइ केवं। इत्यादि

सावन में बिजली भवकना, भादों में आँखों के सामने भरे ताल का लहराना, कार्तिक में त्रितिज पर उगती हुई साँझ, फागुन में पेड़ों से पत्तों के आँसू भरना और चैत्र में बन-बन कोयल का टहका करना ये सभी ऐसी बातें हैं जो विरही तो विरही

स्वस्थ मन को अनमना बना देती हैं। विनयचन्द्र ने एकदम हलकी-फुलकी भाषा में प्रकृति का चित्र खड़ा कर दिया है साथ ही सीधे-सादे ढंग से नारी-हृदय की व्यथा भी कह दी है। वियोग के ऐसे मार्मिक वर्णन अपभ्रंश-साहित्य में कम हैं। ऐसा 'बारहमासा-वर्णन' जो कि तत्कालीन लोकप्रकृति के अनुकूल था अपभ्रंश कवियों के बाद सर्वप्रथम विद्यापति में मिलता है।^१ विद्यापति का बारहमासा आषाढ़ से शुरू होता है और अपभ्रंश-कवि विनयचन्द्र सूरि की अपेक्षा विरहिणी के बारहमास अधिक सहृदयता एवं सजीवता से वर्णित हुए हैं।

नयनन्दी कृत 'सुदंशु चरित' में शृंगार-विषयक समस्त सामग्री उपलब्ध होती है। वहाँ सुदर्शन के सौन्दर्य को देखकर मनोरमा भी उसके प्रति आकृष्ट हो गई। उसके उपलब्ध न होने पर मनोरमा की व्याकुलता में सुन्दर विप्रलम्भ-शृंगार की अभिव्यंजना हुई है। मनोरमा व्याकुल हो उपालम्भ देती है—“अरे खल काम तुम मेरे देह को व्यर्थ तपाते हो?” क्या सज्जन को यह उचित है? शिव ने तुम्हें दग्ध किया। फिर मुझ महिला के ऊपर यह क्रोध क्यों? अरे मूर्ख तुमने अपने पाँचों बरण मेरे हृदय पर छोड़ दिये, अब भला दूसरी युवतियों को किससे विद्ध करोगे—‘सुदंशु चरित’ ५.१। बिलकुल ऐसा ही विद्यापति का पद देखें—

कत न वेदन मोहि देसि मदन। हर नहि बला मोहि जुवति जना ॥
विभूति भुषन नहि चान्दनक रेनु। बाघछाल नहि मोरा नेतक वसनू ॥
नहि मोरा जटा भार चिकुरक बेनी। सुरसरि नहि मोरा कुसुमक सेनी ॥
चान्दनक बिन्दु मोरा नहि इन्दु छोटा। ललाट पावक नहि सिन्दूरक फोटा ॥
नहि मोरा कालकूट मृगमद चार। फनिपति नहि मोरा मुकुता हार ॥
भनइ विद्यापति सुन देव कामा। एक पथ दुषन अछ ओहि नामक वामा ॥^२

अर्थात् वामदेव स्त्री में वामदेव की समानताओं को देख मानो शत्रुना-वश कामिनी को सता रहा है। इस पथ में विद्यापति बड़े युक्तियुक्त ढंग से काम को उपालम्भ देते हैं, युवती की ओर से—‘मदन तू मुझको कितनी वेदना दे रहा है?’ मैं महादेव नहीं युवती नारी हूँ। विभूतिभूषण मेरा नहीं है, यह तो चन्दन-रज है, शरीर पर मेरे बाघ-छाल नहीं, नेतकवस्त्र है। यह तिर पर जटाभार नहीं, चिकुर की बेणी है। यह सुरसरि नहीं, कुसुमों की श्रेणी है। यह मस्तक पर चन्दन का बिन्दु है, चन्द्रमा नहीं। मेरे कपाल में पावक नहीं, सिन्दूर का बिन्दु है। यह गले में कालकूट विष नहीं, चार मृगमद है। यह फणीन्द्र नहीं, मुक्ता-हार है। विद्यापति कहते हैं कि हे कामदेव श्रवण करो बस मेरा एक ही दोष है—मेरा नाम वामा है। महादेव का एक नाम वामदेव है।

सोमप्रभाचार्य कृत ‘कुमारपाल-प्रतिबोध’ के भीतर (पृष्ठ ४४३-४६१ पर) ‘स्थूलिभद्र कथा’ शीर्षक से एक लघु कथा आती है। इस प्रसंग में कोशा के सौंदर्य

१. ‘विद्यापति’ ‘बेनीपुरी’, पद सं० २०८, पृ० २७१-२७३

२. मित्र-मञ्जुमदार सम्पादित विद्यापति, पद २५०

का वर्णन इस प्रकार किया है—

जसु बयण त्रिणिज्जउणं ससंकु, अप्पाणु निसिंहि दंसइ ससंकु ।
जसु रायण-कंति-जिय लज्ज-भरिण, वण-वासु पवन्नय नाइ हरिण ॥ ८ ॥
जसु सहहि केस-घण कसण-वन्न, नं छणय मुह पंकय पवन्न ।
भवणिक-वीर-कंदण-घणह, सुन्दरिम विडंबहि जासु भमह ॥ ९ ॥
जसु अहर हरिय-साहग-साह, नं विदुम सेवइ जलहि खार ।
जसु दन्न पंति सुरेह रुन्दु, बहु सीआसहं तु वि लहइ कुन्दु ॥ १० ॥
असणंगुणि पल्लव नह पसूण, जसु सरल भुयाउ लयाउ नूण ।
घण-वीण-तुंग-थण-भार—सत्तु, जसु मज्झु तणुतरु नं पवत्तु ॥ ११ ॥

—‘कुमारपाल प्रतिबोध’ पृष्ठ ४४५

अर्थात् जिस कोशा के मुख से पराजित चन्द्रमा अपने आपको रात्रि में सशक्ति हुआ दिखाता है । जिसकी आँखों की कान्ति से पराजित अतएव अत्यधिक लज्जित हरिण ने मानों बनवास प्राप्त कर लिया । जिसके घने काले केश ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मुख-कमल पर भौंरे मँडरा रहे हों । जिसकी भृकुटी संसार में एकमात्र वीर काम के धनुष के सौन्दर्य की भी विडम्बना करती है । जिसके अधरों से अपहृत सौन्दर्यवाले विद्रुम मानों क्षार—समुद्र में चले गये । जिसके सघन, पीन और उत्तुंग स्तनभार को वहन करते-करते मध्य भाग मानों क्षीण हो गया । इस नखशिख-वर्णन में प्राचीन परम्परा का अनुकरण दिखाई पड़ता है । विद्यापति ने भी इस शैली पर नायिका का नखशिख (शिखनख-वर्णन) किया है—

कबरी-भये चामरीगिरि-कन्दरे मुख-भये चान्द अकासे ।

हरिनि नयन-भये स्वर-भये कोकिल गति भये गज वनवासे ॥

सुन्दरि काहे मोहे सम्भासि न यासि तुम्र डरे इह सब दूर पलाएल

तुहुँ पुनु काहि डरासि ॥ इत्यादि

—‘विद्यापति’ भिन्न-मज्जुमदार, पद ६२६

अर्थात् तुम्हारी कबरी-केश के भय से चामरी मृग पर्वत की गुहा में, मुख के भय से चाँद आकाश में, नयन के भय से हरिण, कण्ठ-स्वर के भय से कोकिल और गति के भय से गज वन में वास करते हैं । सुन्दरि मुझ से सम्भाषण करके क्यों नहीं जाती हो ? तुम्हारे भय से ये सब दूर भाग गये हैं, तुम्हें अब किस का भय है अर्थात् किस के डर से तुम मुझ से बातें नहीं करके जाती हो ? कुच के भय से कमल के कोरक जल में बन्द पड़े रहते हैं, घड़ा आग में प्रवेश करता है, दाढ़िम और श्रीफल आकाश में रहते हैं और शम्भु ने विषपान कर लिया है (कुच के साथ पद्म-कलि-घट-अनार-बेल और शिवलिंग की उपमा दी है) । बाहु के भय से मृणाल कीचड़ में छिप गया, हाथ के डर से पल्लव काँपने लगा, विद्यापति कहते हैं कि इस प्रकार के मदन का प्रताप कितना कहें ।

मान-विरह, मिलन, अभिसार, नौकाविहार आदि प्रसंगों में परम्परा-पालन होते हुए भी विद्यापति में नीरसता नहीं आई, बस यही उनकी अपनी चीज है ।

हिन्दी का पद-काव्य और विद्यापति—मध्यकालीन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य की अभिव्यक्ति का प्रधान साधनवाह पद रहा है। कबीर साहित्य में शब्द संज्ञा से अभिहित समस्त पद, मैथिल कोकिल विद्यापति के सान्द्र भावापन्न लोकगीतात्मक पद, सूर, तुलसी, मीरा आदि के समस्त पद हिन्दी साहित्य की बहुत बड़ी काव्य सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित हैं। मध्यकालीन भक्त शृंगारी कवि की समग्र भाव-विह्वलता और तन्मयता को स्वरबद्ध करने वाले इन पदों का मूलस्रोत क्या है इस पर अभी बहुत कम विचार हुआ है। काव्य-रूप की दृष्टि से इन पदों के रूप-शिल्प के अवयवों का विकास भारतीय काव्य और धर्म साहित्य में कहाँ से आरम्भ हुआ है यह विषय विचारणीय है।

पदों के मूल के सम्बन्ध में विविध अनुमान किये गये हैं। डा० कीथ के अनुसार पदों की परम्परा गीत-गोविन्द से आरम्भ हुई है। वह गीत-गोविन्द पर केवल बंगाल के यात्रागीतों का प्रभाव मानते हैं।^१ जर्मन पण्डित पिशेल की इस सूचना के आधार पर कि गीत-गोविन्द किसी अपभ्रंश कृति से प्रभावित है डा० कीथ ने केवल इतना स्वीकार किया है कि गीत-गोविन्द की समतुल्य प्रवृत्ति मात्र अपभ्रंश की देन हो सकती है। पिशेल ने जिसे कोई एक अपभ्रंश कृति कहा था वह वस्तुतः नालन्दा और विक्रमशिला में पनपने वाली मिथ्यों की समस्त रचनाएँ हैं। किन्तु पद-काव्य की रूपगत रूढ़ियाँ इससे भी बहुत अधिक पहिले मिलती हैं। उस सुदीर्घकालीन परम्परा की उपलब्ध कड़ियों को परखिये।

बौद्ध पालि-साहित्य में पद काव्य की रूपगत रूढ़ियाँ मिलती हैं। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में पदकाव्य की प्रमुखतम रूढ़ि ध्रुवक या टेकशैली का मूल मिलता है—

“कस्मैदेवाय हविषाविधेम”, “तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु” आदि पंक्तियाँ आवृत्ति-ध्रुवक परक ढग से प्रयुक्त हुई हैं।

बौद्धधर्म के पालि साहित्य में पदों की इस टेकवाली शैली का पर्याप्त विकास हुआ। ‘खुद्दक निकाय’ के सुत्तनिपात नामक अंग में ‘उरगमुत्तं’, ‘घनियमुत्तं’, ‘खग्ग-भिण्ण सुत्तं’, ‘बसल सुत्तं’ आदि ऐसी अनेक रचनाएँ हैं जिनमें इस रूढ़ि का दर्शन होता है। पालि काव्यों के पश्चात् संस्कृत नाटकों में भी प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में कुछ लोकगीतात्मक छन्दों का उपयोग हुआ है जो पदों के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। ‘विक्रमोर्वशीयम्’ के चतुर्थ अंक में आये प्राकृत और अपभ्रंश के गेय चर्चरी-पद उन्हीं छन्दों के उदाहरण हैं। श्री हर्ष रचित ‘रत्नावली’ नाटिका में चर्चरी का उल्लेख हुआ है। ‘रत्नावली’ में कंदर्प-पूजा-प्रसंग में चेटियों ने जो त्रिपदी छन्द गाया है वह परवर्ती फागु-काव्यों का आदिम रूप समझा जाना चाहिये।^२ इस प्रकार लोक-गीतों और लोक-काव्य रूपों से जो गीत और काव्यरूप शैलियाँ झिटक-झिटक कर श्रेण्य-संस्कृत-नाटकों में पहुँच गयीं वे पालि-काव्यों और अपभ्रंश के चर्यापदों के बीच की कड़ी बन कर पदों की निरवच्छिन्न विकास-परम्परा को सूचित करती हैं।

१. डा० कीथ कृत ‘ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर’, पृष्ठ १६२

२. श्री हर्ष कृत रत्नावली, १. १३-१५

८वीं शती में सरोरुहपाद आदि के चर्यापद प्राप्त होने लगते हैं। इनमें ध्रुवक शैली तो विशेष व्यवहृत नहीं हुई है किन्तु राग-निर्देश अवश्य हुआ है जैसे रागदेशाख, राग भैरवी, राग बलाडी आदि। यह राग-निर्देश शैली हिन्दी-पदों में अविकल रूप से गृहीत हुई है। काण्हपाद कृत एक चर्यापद इस प्रकार है—

मण-तरु पाँच इन्दि तसु साहा । आसाबहल पात फल बाहा ॥

वर-गुरु वग्रणें कुठारे छिज्जग्र । काण्ह भणइ तर पुण रा उड्ज्जग्र ।^१

इन सिद्धों के चर्यापदों की बड़ी विशेषता समतुकान्त प्रवृत्ति है। वस्तुतः अधिक स्पष्ट रूप से समतुकान्त प्रवृत्ति सिद्धों की रचनाओं से ही मिलनी आरम्भ होती है। सिद्धों की इन रचनाओं में १६ मात्राओं के चौपाई छन्द का मूल भी मिल जाता है। उपर्युक्त चर्या में कुछ स्वरूप चौपाई का भलकता ही है। चौपाई छन्द पद-साहित्य का भी छन्द रहा होगा। यह बात इसलिये भी अधिक विश्वसनीय लगती है कि कबीर ग्रन्थावली (पृष्ठ २२३) में लिखित रमैणियों तक में यह परम्परा चली आई है। कबीर ग्रन्थावली में रमैणीका 'सूहो' नाम से स्पष्टतः राग-निर्देश है। बीजक में रमैणियों का राग-निर्देश नहीं हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सिद्ध-साहित्य से लेकर कबीर-साहित्य तक चौपाई पद-साहित्य के ही अन्तर्गत था। सिद्ध-परम्परा से संबद्ध गुरु गोरखनाथ ने भी पदों की रचना की। इनके पदों में टेक प्रणाली आ गई है किन्तु टेक की बार-बार आवृत्ति नहीं हुई है। पदलेखन की यह शैली कबीर, सूर, मीरा आदि में चली गई।

लोक परम्परा में पदों के विकास के समानान्तर ही श्रेण्य-संस्कृत में भी इसका विकास चल रहा था। विशेष सम्भव यही जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्रकृत 'दशावतारचरित' और जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' में विकसित होने वाली पद-परम्परा लोक-प्रचलित पदों के प्रभाव से ही अस्तित्व में आई होगी। डॉ० एस० के० डे ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि गीत-गोविन्द संस्कृत काव्य की परम्परा का अनुसरण न करके अपभ्रंश या आधुनिक भारतीय भाषा-काव्यों की अन्तर्वर्तिनी चेतना और बाह्य रूप-शिल्प से सीधी समानतार खता है।^२ 'गीत-गोविन्द' के पश्चात् मिथिला में विद्यापति ने अपने पदों की रचना लगभग १४वीं शती में की। विद्यापति के पदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे लोक-गीतों के विभिन्न रागों से सीधे संबद्ध हैं। उनके पदों में आये रागों की एक सूची लोचन की 'रागतरंगिणी' और डॉ० जयकान्त मिश्र की गवेषणाओं के आधार पर पहिले प्रस्तुत की जा चुकी है। विद्यापति की पदावली में प्रयुक्त लय और राग आज भी उधर (मिथिला) के गाँवों में सुने जा सकते हैं। मिथिला में आज भी सैंकड़ों नारि-नर मेले-ठेले के या अन्य आमोदोत्सवों के

१. डा० पी० सी० बागची सम्पादित 'जर्नल ऑफ डिपार्टमेन्ट ऑफ लेटर्स', कलकत्ता, भाग ३०
२. डॉ० एस० के० डे और एस० एन० दास गुप्त, 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर', पृ० ३६४

अवसरों पर इन गीतों को गाते हैं। एक पद लें—

ससन-परस खस अम्बर रे देखल धनि देह ।
नवजलधर तर चमकए रे जनि बीजुरि रेह ॥
आज देखली धनि जाइत रे मोहि उपजल रंग ।
कनकलता जनि संचर रे महि निरअवलंब ॥
त पुन अपरुब देखल रे कुछ जुग अरविन्द ।
विगसित नहि किछुकारन रे सोभा मुखचन्द ॥
विद्यापति कवि गाओल रे रस बुझए रसमन्त ।
देवसिंह नृपनागर रे हासिनि देवि कन्त ॥^१

यह विद्यापति कृत पदावली की सर्वाधिक प्रिय लय है। इसका और ऐसी ही अन्यअनेक लयों का अभी तक कोई नामकरण नहीं हुआ है क्योंकि इनका सम्बन्ध विशुद्ध लोक-गीतों से है। इनमें सिद्धों और क्षेमेन्द्र के पदों की भाँति एक विशिष्ट लय कास्वतन्त्र प्रवाह है। कबीर आदि के नाम पर चलने वाले पदों में यह स्वर-प्रवाह और यह शैली पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित है—

निसिदिन खेलत रही सखियन संग, मोहि बड़ा डर लागे ।

मोरे साहब की ऊँची अटारिया, चढ़त में जियरा काँपे ॥^१

विद्यापति के पदों में उस रूप के दर्शन भी होते हैं जिसका दर्शन सूरदास के पदों में मिलता है। कबीर के नाम पर चलने वाले पदों में बिना ध्रुवक के की हुई पद-रचना, और ध्रुवक सहित की हुई पद-रचना इन दोनों प्रकारों के रूप उपलब्ध होते हैं। दूसरी शैली के भी दो रूप दिखाई देते हैं—एक ध्रुवक के तुक के अनुसार आगामी सभी पंक्तियों का तुक मिले और दूसरे ध्रुवक के तुक के अनुसार आगामी प्रथम पंक्ति तो तुकान्त हो, पर अन्य पंक्तियाँ नहीं। कबीर के पदों में एक नवीन बात यह मिलती है कि उन्हें शब्द कहा गया है। पदों को शब्द कहने की यह प्रणाली सन्तों से ही आरम्भ होती है। कबीर के पदों का वस्तुतत्त्व बहुत कुछ सिद्धों और गोरखनाथ के वस्तु-तत्त्व से मिलने के कारण उन दोनों का ऊबड़खाबड़पन बहुत कुछ एक-जैसा है, तथापि कबीर की प्रखर प्रतिभा से उसके रूपकों की भाषा उनमें भक्ति-तत्त्व के ग्रहण और लोक-गीतों के सहज अनुसरण के कारण इन पदों की काँति कुछ और ही है—

“काहे री नलिनि तू कुंभिलानी तरे ही नाल सरोवर पानी” ।^१

कबीर के पदों में राग-निर्देश उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार सिद्धों, गोरखनाथ, विद्यापति की पद-रचनाओं में।

इसके पश्चात् सूरदास के सूरसागर में संगृहीत पद आते हैं। इसके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रन्थ में लिखा है—“सूरसागर किसी चली

१. मित्र-मजूमदार, ‘विद्यापति’, पद ५

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, ‘कबीर’—परिशिष्ट संकलन

३. कबीर ग्रन्थावली, १०८, ६४

आती हुई गीत-काव्य-परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है"।^१ यह गीत-काव्य-परम्परा वस्तुतः मौखिक और लिखित दोनों रूपों में चली आ रही थी। लिखित परम्परा का मूलस्रोत भी मौखिक परम्परा ही थी। लिखित परम्परा के अन्तर्गत विद्यापति में पुंजीभूत सिद्धों के चर्यापदों, गीत-गोविन्द के पदों और लोकगीतों के स्वरों की समष्टि थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—
“सूर के श्रृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है”।^२ प्रमाण स्वरूप शुक्ल जी ने कुछ ऐसे पद वहाँ उद्धृत किये हैं जिनके भाव और शब्दों में में परस्पर साम्य है।

इस पद-परम्परा का परिशीलन करने के पश्चात् यह असम्भव नहीं जान पड़ता कि सूरदास के पदों पर विद्यापति के पदों का प्रभाव पड़ा हो। इस बात को भी कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता कि इन पदों में मध्यकालीन संगीत और परम्परित अलंकार शास्त्रीय एवं नाटिका-भेदादि की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। कबीर और सूरदास के बाद निगुण और सगुण दोनों भक्त-शाखाओं में पद-रचना-प्रणाली विकसित हुई। सन्त परम्परा में पद-शैली लोक-गीतों के बहुत निकट पर सगुण-भक्त-परम्परा में पद-शैली शास्त्रीय संगीत और काव्य के शास्त्रीय उपादानों से समलंकृत हुई। तुलसीदास, मीरा, नन्ददास, दादू, रज्जब आदि का नाम पद-लेखकों में महत्त्वपूर्ण है। रीतिकाल हिन्दी-पद-परम्परा के विकास में घातक सिद्ध हुआ। इस काल में सबैया, कवित्त, दोहा के मुकाबिले पर केवल कुछ कृष्ण-भक्त-कवियों और सन्त सम्प्रदाय में सीमित हो कर रह गया।

संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश की इस बहुमूल्य सामग्री का अवलोकन करने के फलस्वरूप कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यों का वर्णनीय विषय सामान्यतः राम, कृष्ण कथा प्राचीन उग्रायान, धार्मिक महापुरुष, प्रसिद्ध राजा आदि से सम्बद्ध कोई विषय होता था, परन्तु अपभ्रंश में इन सबके साथ-साथ सामान्यवर्ग के पुरुषों को भी काव्य में नायक बनाया गया। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में जन-धर्म सम्बन्धी कथानकों का वर्णन विपुल मात्रा में मिलता है। प्रबन्ध काव्यों में चरित नायक के साथ जिन अन्य दृश्यों के वर्णन की परम्परा अभी तक चली आ रही थी उनको मानव जीवन के दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न अपभ्रंश-काव्यों में हुआ। यद्यपि प्राकृत में ही इस प्रवृत्ति के बीज वर्तमान थे किन्तु उसका विकास अपभ्रंश-साहित्य में भी हुआ। अपभ्रंश के अधिकांश काव्यों में श्रृंगार और वीर रस से परिपोषित निर्वेद-भाव या शान्त रस की ही प्रधानता है। अपभ्रंश साहित्य में तीन धाराएँ बहती हुई प्रतीत होती हैं—प्रथम रूढ़िवादी कवि जिनकी संख्या अल्प है, द्वितीय कान्तिवादी जो बहुसंख्यक है, और तृतीय मिश्रित जिनकी संख्या रूढ़िवादियों से कुछ अधिक है। लौकिक जीवन और ग्राम्य जीवन से सम्बद्ध वर्णनों का प्रभाव अपभ्रंश की मुक्तक काव्यशैली में अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में या अलंकार विधान में

१. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सम्बत् १९६७, पृष्ठ २००

२. वही ग्रंथ, पृष्ठ २०२

लौकिक जीवन से सम्बद्ध उपमानों का प्रयोग अपभ्रंश कवियों की विशेषता थी। अपभ्रंश में अनेक नये छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ जिनका संस्कृत में अभाव है। छन्दों के समान नवीन अलंकारों को भी अपभ्रंश ने जन्म दिया। अपभ्रंश-अलंकार-ग्रंथों के अभाव से यद्यपि उन अलंकारों का नामकरण भी न हो सका तथापि इस प्रकार के कुछ अलंकारों का प्रयोग हिन्दी में भी पाया जाता है। हिन्दी-छन्दों में मातृक छन्दों की अधिकता और उसमें अत्यानुप्रास का प्रयोग अपभ्रंश से ही आया। हिन्दी के अनेक मातृक छन्द अपभ्रंश से ही विकसित हुए। हिन्दी के भिन्न-भिन्न काव्य रूपों, काव्य-पद्धतियों और काव्य-शैलियों को अपभ्रंश ने प्रभावित किया। हिन्दी कवियों की विचारधारा पर भी अपभ्रंश कवियों का प्रभाव पड़ा। भरतखंड में चिर-काल से भारतीय साहित्य की धारा अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होती चली आ रही है। वह धारा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अनन्तर आज हिन्दी साहित्य के रूप में हमें दिखाई देती है।^१

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का काव्य-भण्डार विद्यापति का अपना था

इतना विवरण दे चुकने के बाद यह निःसंकोच लिखा जा सकता है कि संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की काव्य-परम्परा विद्यापति के लिये सुलभ थी। उसका काव्य-भण्डार विद्यापति का अपना था। विद्यापति के ग्रंथ रचना-क्रम से पता लगता है कि वे पढ़ना समाप्त कर राज-दरबार में आये। वह दार्शनिक युग था और विद्यापति भी दार्शनिक थे किन्तु परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने कीर्तिसिंह को प्रसन्न करने के लिये सबसे पहिले क्रीतिलता और कीर्तिपताका की रचना की। देवसिंह के शासन-काल में ही शिवसिंह के युवराज होने पर विद्यापति केवल प्रशंसा का पुल बाँधने वाले कवि ही नहीं रह गये किन्तु शिवसिंह के घनिष्ठ मित्र होने के कारण विद्यापति को शासन में भी सहयोग देना पड़ता था। वीर-पुरुषों की कथा कह प्रोत्साहन देना, धर्मवीरों की कथा के द्वारा धर्मपथ से टस से मस नहीं होने का उपदेश देना आदि ही 'भूपरिक्रमा' और 'पुरुष परीक्षा' के उद्देश्य मालूम पड़ते हैं। कड़वे उपदेशों के साथ बीच-बीच में मनोरंजन होना भी आवश्यक है। चमत्कारपूर्ण कविता ही विद्वानों के मनोरंजन का सच्चा साधन है। शिवसिंह विद्वान् एवं गुणग्राही थे और उनकी धर्मपत्नी लखिमा भी उच्च कोटि की विदुषी थीं। यह सुवर्ण सुयोग पाकर विद्यापति ने शृंगार रस की सरिता ही बहा दी जिसकी एक एक बूंद ने विद्यापति को अमर बना दिया। इसी समय की रचना पदावली है।

शिवसिंह की मृत्यु के बाद विद्यापति ने कविता करना छोड़ दिया। जब तक उनकी उपासना का रूप स्थिर नहीं हो सका था तब तक मन बहलाने के लिये उन्होंने 'लिखनावली' लिखी। अनन्तर उनके उपास्यदेव शिव, उनकी अर्धांगिनी दुर्गा और जटावलम्बिनी गंगा के विषय में 'शैव सर्वस्वसार', 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' और 'गंगा-वाक्यावली' की रचना की। हादिक मित्र शिवसिंह के विरह से व्याकुल विद्यापति ने

शृंगार रस की कविता करना छोड़ दिया। यह इससे भी ज्ञात होता है कि विद्यापति के संस्कृत-ग्रन्थों 'कीर्तिलता' और 'पुरुष परीक्षा' में भी शृंगार रस का जो पुट था वह शिवसिंह की मृत्यु के बाद बने हुए ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। अनेक युद्ध, अनेक इष्ट मित्रों की मृत्यु देख-देख कर विद्यापति दुनिया से ऊब-से गये थे जैसा निम्न पदों से ज्ञात होता है—

१. जतन जतेक धन पाय बटोरल मिलि मिलि परिजन खाय ।
मरन के बेर हरि कोई न पूछ्य करम संग चलि जाय ॥

२. वयस कतए चल गेलाह ।
तोहें सेवइत जनम बहल तँ ओ न अपन भेला ॥

३. तातल सैकत वारि बूंद सम सुत मित रमनि समाज ।

संस्कृत में ग्रंथ-रचना के साथ अपभ्रंश में उन्होंने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' लिखीं लेकिन मैथिली-पदों के द्वारा वह हिन्दी के कवियों में शामिल हुए। लोकभाषा द्वारा शिष्ट-काव्य की सृष्टि हिन्दी में सर्वप्रथम उन्होंने की।

हिन्दी के कतिपय मध्ययुगीन भक्त-कवियों में शृंगार-रस

मध्यकालीन शृंगार-साधना का विकास—वैदिक युग के अनन्तर भारतीय समाज की प्रवृत्ति ऐहिक जीवन की ओर से हटकर आमुष्मिक की ओर बढ़ती जाने लगी थी और तदनुसार उसके द्वारा निर्मित साहित्य का रूप अधिकतर कर्मकाण्ड से ही सम्बन्ध रखता था। भक्ति साधना की परम्परा के प्रचलित हो जाने पर उसमें भगवान को अपने बीच में लेकर उन्हें प्रतिष्ठित देखने की भी अभिनाया उत्पन्न हुई। संयोगवश उसकी ऐसी ही मनोदशा के बने रहते समय इस देश में कुछ ऐसी जातियों का भी प्रवेश हो गया जिसने उसकी इस परिवर्तित प्रवृत्ति को बल प्रदान किया। ये जातियाँ आभीर आदि की थीं जिनकी रहन-सहन एवं संस्कृति में हमें ऐहिकता का भाव प्रचुर मात्रा में मिल गया। उनके सरल, स्वच्छन्द एवं आनन्द-प्रमोदमय जीवन में एक विविध आकर्षण था और उनकी भाषा तथा लोकगीतों में भी एक अलङ्कार एवं मिठास थी जिनका भारतीय जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा तथा इसके अनुसार यहाँ की साहित्य रचनापद्धति में भी एक नये मोड़ का आना स्वाभाविक सा हो गया। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आस-पास से हमें जन-साधारण की भाषा में निर्मित ऐसे विविध लोक-काव्यों के उदाहरण मिलने लगते हैं जिनका ऐहिक जीवन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। कहते हैं कि विक्रम संवत् के प्रथम शतक में प्राकृत में रचित प्रायः एक करोड़ ऐसी गायार्थें मिलने लगी थीं जिनमें से सात सौ को चुनकर आंध्र देश के सातवाहनवंशीय राजा हाल ने संगृहीत किया और जो पीछे 'गाथा सत्तसई' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस रचना के तत्कालीन समाज में लोकप्रिय होने का एक बहुत बड़ा प्रमाण इस बात में मिलता है कि उसके अनुकरण में काव्य रचना प्रस्तुत करने की एक नवीन परम्परा ही चल निकली। प्राकृत एवं अपभ्रंश जैसी भाषाओं की कौन कहे पण्डितों की संस्कृत भाषा में भी ऐसी रचनाएँ अच्छी संख्या में दीख पड़ने लगीं।

हाल के द्वारा संगृहीत गाथा-उदाहरण कविताओं में समाज के गार्हस्थ्य जीवन की बड़ी स्पष्ट एवं सरल अभिव्यक्ति है। उसमें न तो कृत्रिमता लक्षित होती है और न अतिरंजन का ही दोष दृग्गत होता है। उसके वर्ण्य विषय दैनिक व्यापारों से सम्बन्ध रखते हैं। उसमें यौन-सम्बन्ध का प्रकृत रूप अत्यन्त सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है, उसका चित्रित वातावरण हमारा सर्वथा परिचित प्रतीत होता है। गाथा सतसई के अनुकरण पर जिन अनेक संस्कृत काव्यों की रचना हुई उनमें से सब इस प्रकार की विशेषता नहीं रखते जिसका प्रमुख कारण यह हो सकता है कि इनके रचना काल तक हमारे सामाजिक वातावरण में बहुत कुछ परिवर्तन भी होने लगा था। गुप्त-साम्राज्य की समृद्धिशालिता तथा उसके परवर्ती राज-दरबारों के वैभवा-धारित जीवन के कारण क्रमशः नागरिकता की भावना का विकास होता जा रहा था और ऐसे युगों के अधिकांश कवियों का निकट सम्बन्ध प्रायः ऐसे ही वातावरणों के साथ जुड़ा रहता था। फलतः गाथा सतसई के साथ अधिक सादृश्य रखने वाली संस्कृत की 'अमरक शतक' अथवा 'आर्यासप्तशती' जैसी रचनाओं में भी हमें उसका सहजगुण वैसी मात्रा में उपलब्ध नहीं है। 'शृंगारतिलक', 'शृंगार शतक', 'चौख पंचाशिका' आदि ऐसी रचनाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण अलंकृत भाषा के कारण उक्त विशेषताएँ और भी स्पष्ट हो गई हैं। किन्तु यह रंग अपभ्रंश भाषा के मुक्तकों पर उतना नहीं चढ़ पाया जैसा हेमचन्द्रादि द्वारा संगृहीत फुटकल दोहों के उदाहारणों के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है।

संस्कृत साहित्य के अंतर्गत इस प्रकार की शृंगारिकता का प्रवेश इस समय एक अन्य मार्ग से भी होता जा रहा था। उपर्युक्त रचनाओं के निर्माणकाल में जिन स्तोत्रादि भक्ति काव्यों की रचना हुई उनमें भी शृंगारिक भावों की प्रधानता दीख पड़ने लगी। दुर्गा, राधाकृष्ण, शिव, पार्वती की वन्दना में जो ऐसे पद्य लिखे गए हैं उनमें नख-शिखादि के वर्णन तथा लीलाओं के परिचय प्रायः शृंगारिक स्तर पर ही दिये जाने लगे। इसके भिवाय कदाचित् मध्यकाल के बहुत पहले से ही कामशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों का भी प्रणयन होता आ रहा था जिससे इस प्रवृत्ति को बड़ी प्रेरणा मिली। इसके कारण नख-शिख-वर्णन एवं नायिका भेद के निरूपण की परिपाटी को व्यवस्थित रूप मिल गया। काव्य-रचना के क्षेत्र में इसका अनुसरण करना शास्त्रीय परम्परा के समुचित पालन का महत्त्व रखने लगा। प्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में राधा एवं कृष्ण की जिन रहस्यमयी केलियों की जय मनाई गई है उनमें ऐसी अनेक लीलाओं के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं जो कामशास्त्रानुकूल हैं। इस कवि ने हरिस्मरण के व्याज से ऐसे कई प्रसंगों का नग्न चित्रण किया है जो साधारणतः विलास-प्रेमी समाज में ही सम्भव हो सकते हैं। किन्तु फिर भी 'गीतगोविन्द' का उस काल के समाज में बहुत आदर हुआ और यह रचना शृंगारिक भक्ति-काव्य का एक आदर्श बन गई। मैथिली कवि विद्यापति ने उसकी रचना शैली के अनुकरण में जो अपनी पदावली रची वह भी लगभग वैसी ही सफल कृति सिद्ध हुई। उसका प्रभाव बंगला

एवं हिन्दी के परवर्ती भक्त-कवियों पर विशेषरूप से पड़ा ।^१

शृंगार रस की इन दिनों यहाँ तक प्रधानता थी कि वीर रस पूर्ण ग्रन्थों की रचना के उद्देश्य से लेखनी उठाने वाले कवियों का भी ध्यान सहसा अपने चरित नायकों की प्रेम कहानियों की ओर चला जाता था । वे उसके युद्ध-कौशल की चर्चा करने के पहले उसके प्रणय-व्यापार का भी विशद वर्णन करने लग जाते थे । काव्य-ग्रन्थों में शृंगारिकता का प्रवेश कराने में इस समय एक अन्य दिशा से भी पूरा समर्थन मिला । विक्रम की आठवीं शताब्दी के इस देश के भीतर मुसलिम आक्रमण-कारियों का प्रथम प्रवेश हुआ और उसके अनन्तर धीरे-धीरे उन्होंने यहाँ अपने पैर जमाना आरंभ कर दिया । दक्षिण भारत की ओर पहले अरब निवासी आया करते थे और यहाँ वाणिज्य व्यापार करके चले जाया करते थे । इस्लाम धर्म के अरब में प्रतिष्ठित होने के अनन्तर वहाँ से धर्मप्रचारकों का भी आना प्रारंभ हुआ और फिर उन्हीं की भांति अन्य मुस्लिम देशवाले भी आने लग गये । इन धर्मप्रचारकों में सबसे अधिक प्रभावशाली वे सिद्ध हुए जो ईरान अथवा उसके आसपास के निवासी थे और जिन्होंने सूफियत का प्रचार करने के व्याज से यहाँ पर ईरानी साहित्य एवं संस्कृति का भी बहुत कुछ प्रभाव जमा दिया । मुस्लिम शासकों के दिल्ली, आगरा आदि अनेक प्रसिद्ध नगरों में बने रहने के कारण भी इस प्रकार की विचारधारा तथा आचरण पद्धति को पूरा प्रश्रय मिला । मुस्लिम वातावरण के इस प्रकार क्रमशः अधिकाधिक निर्मित होते जाने के कारण यहाँ की साहित्य-रचना शैली में परिवर्तन आगया । ईरान का फारसी-साहित्य सूफ़ीमत द्वारा प्रभावित हो चुका था और सूफ़ियों के प्रेम-पंथ की शृंगारिक भावना प्रमुख स्थान पा चुकी थी । मुस्लिम राज्य के यहाँ प्रतिष्ठित हो जाने पर फारसी भाषा के साथ-साथ उसके साहित्य का भी प्रचार आरम्भ हो गया और यहाँ के मुस्लिम लेखकों ने उसके निर्माण तक में हाथ बँटाकर उसे लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न किये । तदनुसार यहाँ पर न केवल फारसी भाषा में ही प्रेम सम्बन्धी मसनवियाँ रची गई अपितु उनके अनुकरण में हिन्दी प्रेम-गाथाओं की भी एक परम्परा चल निकली ।

इस प्रकार भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र की रचना के समय से लेकर मध्यकाल के आरम्भ तक शृंगारिक प्रवृत्तियों के विवेचन एवं वर्णन के सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य का निर्माण होता आ रहा था जिसके उदाहरण उस युग की प्रायः सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं । एक ओर जहाँ भरतमुनि, भामह आदि काव्य-शास्त्र के आचार्य शृंगार-रस की व्याख्या करते हुए उसे सर्वाधिक महत्व प्रदान करने की ओर अग्रसर होते आये वहाँ उनके समानान्तर में ही ऐसे काव्य-ग्रन्थों की रचना भी होती आई; जिनमें शृंगारिक भावना की प्रधानता थी और जिसके लिए क्रमशः वातावरण भी अधिक से अधिक अनुकूल होता जा रहा था । संत अकबर शाह बड़े साहब कृत 'शृंगार मंजरी,' तेलगू-संस्कृत—डा० वी० राघवन संपादित भूदेव विरचित

‘रस विलास’ तथा कुमार मणिशास्त्री कृत ‘रसिक रसाल’ जैसी रचनाओं का प्रणयन विक्रम की अठारहवीं शताब्दी तक होता आया।

शृंगार रस को सर्वप्रथम भरत मुनि ने उज्ज्वल, पवित्र तथा उत्तम कहा था और अग्नि पुराण के रचयिता ने इसे आदि रस भी सिद्ध करने की चेष्टा की थी। फिर इसके विविध भावादि की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए अन्य आचार्यों ने इसे रसराज तक की संज्ञा दे दी। मध्यकालीन ‘अकबरसाहिश्चृंगारदर्पणम्’ के रचयिता जैन कवि पद्म सुन्दर के अनुसार तो शृंगार-विहीन काव्य वैसा ही नीरस बन जाता है जैसा कोई तृण का बना पुरुष हो—“एतेन हीनमपि किंच कवेः कवित्वं नैरस्यमेव तृणपुरुषवद्भजेत।”

उत्तर हाल की सतसई से लेकर जिस शृंगार-साहित्य की रचना होती आई उसमें क्रमशः निर्मित होते जाने वाले नागरिक जीवन की अनेक विशेषताओं का भी समावेश होता आया और अपने विषय-वैविध्य के कारण उसके विस्तार और व्यापकता में सदा वृद्धि होती रही। फारसी-साहित्य के प्रभाव ने इसमें एक नया रंग लाकर इसे और भी पूर्ण तथा समृद्धिशाली बना दिया। मध्यकाल के प्रारम्भिक दिनों में बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय ने भी प्रायः सूफियों की ही भाँति प्रेम-पंथ का प्रचार कर वहाँ के गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय को प्रेरणा प्रदान की। उसके कारण दृढ़तर बनते जानेवाले शान्तरस एवं शृंगार-रस के गठबन्धन का अपूर्व स्वागत हुआ। वीर-गाथा के रचयिता कवियों की दृष्टि में शृंगार रस का महत्व यदि वीर रस के एक सहायक के रूप में रहा तो भक्तिकाल के कवियों ने उसे शान्त रस का वस्तुतः सिरमौर ही बना डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपनी चरम सीमा तक पहुँच कर वह अपने रसराजत्व के मद में चूर हो गया और अन्त में उसके प्रति विद्रोह तक करने की आवश्यकता पड़ गई।

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन इतिहास को प्रकारान्तर से शृंगार रस के उत्थान एवं पतन का इतिहास भी कह सकते हैं। इसका प्रारम्भिक रूप अपभ्रंश की रचनाओं में लक्षित होता है और वह पहले अधिकतम लोक-प्रचलित परम्पराओं का ही आश्रय ग्रहण करता प्रतीत होता है। किन्तु यह उस काल तक रची गई संस्कृत-काव्य-कृतियों द्वारा भी प्रभावित रहता है और इसकी अभिव्यक्ति में आभिजात्य का भी अंश कम नहीं रहना। फिर भी यह तत्कालीन धार्मिक साहित्य से भी प्रेरणा प्राप्त कर अपना एक आमुष्मिक रूप प्रदर्शित करने लग जाता है जिसका ठीक स्पष्टीकरण मैथिल कवि विद्यापति के समय तक नहीं हो पाता और वह इसी कारण इसके लिए संक्रान्तिकाल भी कहा जा सकता है। अन्त में फारसी साहित्य के नवीन आदर्श तथा विभिन्न भक्ति आन्दोलनों के प्रसार स्वरूप जो समर्थन हिन्दी साहित्य को मिलता है उसके कारण यह निखरने लग जाता है। सूफियों एवं विशेषकर संतों की रचनाओं में तो यह विशुद्ध आध्यात्मिक वेश ही धारण करने के प्रयत्न में रहता है किन्तु सगुणवादी भक्तों का भी प्रश्रय पा लेने पर इसे फिर एकबार अपने ऐहिक क्षेत्र में लौट आने का प्रलोभन मिलता है जिसका संवरण इसके लिए असंभव सा सिद्ध होता है। वैभव-सम्पन्न मुगल साम्राज्य को अथः पतन के साथ जैसे-जैसे

विलसिता का बल मिल जाता है इसकी निर्मलता क्रमशः नष्ट होती जाती है। जिस प्रकार धरातल के विभिन्न जलाशयों में संचित जल सूर्य किरणों द्वारा क्रमशः खिचता हुआ आकाश की ओर जाता है और वहाँ समुज्ज्वल बन बादलों का रूप धारण कर लेता है तथा जिस प्रकार वहाँ से नीचे आकर वह मटमैला बन जाता है उसी प्रकार लौकिक साहित्य का शृंगार-रस भी अवसर पाकर उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँच गया तथा एक बार अधिक विषुद्ध भी बन गया; किन्तु फिर अन्त में लौटकर उसे मलिन एवं पंकिल तक हो जाना पड़ा और उसमें आ फँसने के कारण अवतारी राधा-कृष्ण एवं सीताराम तक की मिट्टी पलीद हो गई।

प्रमभाव के पूर्ण विकास में जिन शृंगार-प्रवृत्तियों का सहयोग प्राप्त होता है उनका परिचय हमें आचार्यों द्वारा किये गए शृंगार-रस के विवेचनों में मिलता है और उनके अनुसारउन की संस्था एवं क्रम की एक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। शृंगार रस के स्थायीभाव रति, उसके आलम्बन विभाव नायक-नायिका, उसके उद्दीपन विभाव सखी-सखा-दूती एवं प्राकृतिक वातावरण, उसके अनुभाव स्वेद, रोमांच, कटाक्ष आदि तथा उसके संचारीभाव ब्रीड़ा, विन्ता आदि की ओर पहले संकेत दिया जा चुका है। आचार्यों ने इस प्रकार विविध उपादानों की विशद व्याख्या करके इनकी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। साहित्यकारों ने इनका पूर्ण महत्व स्वीकार कर उसके अनुसार इनका वर्णन किया है तथा इन्हीं के आधार पर प्रमुख-शृंगार-प्रवृत्तियों का परिचय भी दिया है। इन उपकरणों में सबसे अधिक प्रधानता स्वभावतः नायक-नायिकाओं को दी गई है। इनमें से भी नायिकाओं की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में वेश्या, कुलजा एवं प्रेय्या नाम से तीन प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख किया था, जिन्हें प्रकृति के विचार से उन्होंने उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा तथा यौवना की दृष्टि से नवयौवना, द्वितीय यौवना, तृतीय यौवना एवं चतुर्थ यौवना कहा था। परन्तु नायिकाओं के चार भेद कह कर उन्हें उन्होंने फिर दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री एवं गणिका नाम भी दिये थे। इसी प्रकार अवस्था के अनुसार वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहांतरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितायिका और अभिसारिका होना भी बतलाया था। भरत मुनि की इस वर्गीकरण पद्धति को परवर्ती आचार्यों ने भी तत्त्वतः स्वीकार कर लिया और नायिकाओं के अवस्थानुसार बताये गए आठ भेदों का वर्णन प्रायः जैसे के तैसे रूप में आधुनिक समय तक करते चले आये। इनके नामकरण तक में भी कभी आपत्ति नहीं की गई। शृंगार-रस के कवियों ने इनका नामोल्लेख नहीं किया किन्तु इन भेदों के अनुसार नायिकाओं का वर्णन करना एक आवश्यक नियम सा बन गया। प्रबन्धकाव्यों में तो नहीं किन्तु मुक्तक काव्यों के संग्रहों में इनके उदाहरण प्रायः सर्वत्र मिलते हैं और अधिक स्थलों पर उनका अंशानुसरण भी प्रतीत होता है।

इधर के काव्याचार्यों ने नायिकाओं का वर्गीकरण कभी-कभी 'कामशास्त्र' के अनुसार उन्हें पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी एवं हस्तिनी नाम देकर भी किया है। सामाजिक धर्मानुसार उन्हें स्वकीया, परकीया सामान्या तथा उसके एव नैतिक स्तर के अनुसार उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा शब्दों द्वारा भी अभिहित किया है। 'उज्ज्वल

नीलमणि' ग्रन्थ के कर्ता श्रीरूप गोस्वामी ने शृंगार-रस को भक्ति-रस में समाविष्ट कर उसे 'मधुर-रस' का भी नाम दिया है। उन्होंने इसके विभावों में श्रीकृष्ण तथा उनकी वल्लभाओं को ही आलम्बन रूप में स्वीकार किया है, जिस कारण वहाँ नायिकाओं के सब वर्गीकरण अपेक्षित नहीं हैं।^१ किन्तु शुद्ध साहित्यिक शृंगार का वर्णन करनेवाले आचार्यों ने इसके लिए अन्य नवीन आधारों की भी कल्पना की है। जैसे हिन्दी के रीतिकालीन कवि देवदत्त ने नायिकाओं को उनके विभिन्न देशों के अनुसार भिन्न-भिन्न कहा है। उनका नगर, ग्राम, वन आदि के अनुसार वर्गीकरण किया है। उन्हें जाति एवं वर्ग के आधार पर पृथक्-पृथक् वर्गों में रखा है और इसके लिए विभिन्न व्यवसायों को महत्व दिया है। उन्हें देवों, मनुष्यों, गन्धर्वों, यक्षों आदि की श्रेणियों के अनुसार विभाजित किया है अथवा उनके कफ-प्रकृति एवं वात-प्रकृति होने की ओर तक ध्यान दिया है। इस प्रकार नायिकाओं के वर्गीकरण का कार्य अपने मूल उद्देश्य अर्थात् उनके सांस्कृतिक वा मनोवैज्ञानिक अध्ययन से इधर बहुत दूर जा पड़ा है। आचार्यों ने इसके लिए जहाँ तक उनके वयःक्रम, मनोदशा अथवा अवस्था को आधार बनाया है वहाँ तक उनका प्रयत्न आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता। नायकों के विषय में भी पति, उपपति, अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं वृष्ट के भेद उपस्थित करना उतना असंगत नहीं है।

शृंगार-रस के आलम्बन विभाव नायिका एवं नायक के अनन्तर एवं उनके साथ-साथ भी उसके उद्दीपन विभाव सखी, सखा, दूती एवं प्राकृतिक वातावरण आदि की चर्चा की जाती है। परन्तु इसके पहले नायिका एवं नायक के नख-शिख को महत्त्व दिया जाता है जिसके अन्तर्गत उनके सौन्दर्य-वर्धक गुणों का वर्णन रहा करता है। नख-शिख शब्द से किसी व्यक्ति के नख से लेकर शिख अर्थात् उसके मस्तक के सर्वोच्च भाग तक का वर्णित होना आवश्यक है। किन्तु बहुधा देखा जाता है कि सभी कवि इस क्रम का यथावत् अनुसरण नहीं करते और न उसके भीतर आनेवाले प्रत्येक अंग का उल्लेख ही किया करते हैं। यदि चरण से लेकर केश तक के मध्यवर्ती सभी प्रमुख अंगों की शोभा का वर्णन किया जाय तो उनके अन्तर्गत क्रमशः जघन, नितम्ब, कटि, नाभि, त्रिबली, रोमावलि, कुच, ग्रीव, त्रिबुक, अधर, दन्त, कपोल, कर्ण, नेत्र, नासिका, भौंह, मुख और ललाट के नाम लिये जा सकते हैं। किन्तु, कोई भी कवि इन सभी का एक साथ और क्रमानुसारी वर्णन करता नहीं देख पड़ता और कुछ कवि सारे मुखमण्डल अथवा बाहुयुगल के भी प्रसंग एक साथ छेड़ते देखे जाते हैं। इसके सिवाय इन कवियों का ध्यान कभी-कभी सीधे उन अंगों पर न जाकर उन पर किये गये प्रसाधनों अथवा पहने गये अलंकारों तक ही रह जाया करता है—वे महावर की चर्चा करते हैं, नूपुरों का नाम लेते हैं, किंकिणि, हार, कुण्डल, नय, बेसर का वर्णन करते हैं तथा अंजन, बिन्दी एवं सिन्दूर की शोभा बतलाते हैं। इसी प्रकार वे बहुधा चरणों की हंसगति, नेत्रों की खंजनवत् चंचलता एवं केशों की कृष्णता आदि का ही उल्लेख कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। ऐसा करते समय उन्हें प्रायः

उन रूढ़ियों का आधार मिल जाता है जिनकी परम्परा लगभग दो सहस्र वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। प्रत्यक्ष है कि किसी नायिका का वास्तविक सौन्दर्य अंगों के चन्दनादि द्वारा लिप्त होने अथवा उसके तूपुर आदि भूषणों के धारण करने की अपेक्षा नहीं करता और न वह उसके शरीर के किसी अवयव विशेष के किसी सुन्दर वस्तु के सदृश प्रतीत होने पर ही अवलम्बित है। शारीरिक सौन्दर्य एक संश्लिष्ट गुण है जिसे केवल किसी एक अंगमात्र पर ही केन्द्रित नहीं किया जा सकता और न उसका कोई निश्चित वर्णन ही किया जा सकता है। इसका बहुत कुछ अंश व्यक्ति पर भी आश्रित रहता है जिसकी दृष्टि को वह स्वभावतः आकृष्ट करने में समर्थ होता है। नख-शिख-वर्णन की परम्परा वस्तुतः उन संस्कृत रचनाओं से आरम्भ होती है जिनमें भक्त-कवियों ने अपने उपास्य देवों के प्रत्येक अंग का वर्णन भक्तिभाव से प्रेरित होकर किया है। नख-शिख-शब्द में नख का ही पहले आना इस बात को सूचित करता है कि भक्तों ने अपने इष्ट देव को आराध्य या उपास्य की दृष्टि से देखा था जिससे उनका ध्यान सर्वप्रथम उनके चरणों की ही ओर गया। शृंगारी कवियों ने भी नायिकाओं के प्रत्येक अंग को महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा में ही इसका आरम्भ किया था किन्तु उनकी मनोवृत्ति एवं वातावरण के अनुसार वह निम्न स्तर तक भी जा पहुँचा।

शृंगार रस के उद्दीपन पक्ष में प्रायः तीन प्रकार की वस्तुओं एवं व्यापारों को प्रधानता दी जाती है। इनमें से प्रथम वर्ग में प्राणियों की गणना की जाती है जो या तो सखी, सखा, व दूती के रूप में मानव योनि से सम्बन्ध रखते हैं अथवा भ्रमर, कोकिल, कीर, चकोर, चक्रवाक, मोर, पपीहा, पारावत, हंस, मृग जैसे मानवेतर जीव हैं जिनके गुंजन, कूजन, गान, गति, नृत्य, एवं सौन्दर्य हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं। दूसरे वर्ग के उद्दीपन विभावों में या तो चन्द्र, सूर्य, मलय-समीर, ज्योत्स्ना जैसे प्रकृति के अंगों का समावेश किया जाता है अथवा इनमें वासी, कुंज, तड़ाग, उपवन, आदि आते हैं जिनका निर्माण मनुष्य के हाथों से किया गया होता है। तृतीय वर्ग के उद्दीपन विभावों में समय सम्बन्धी स्थितियों का उल्लेख किया जा सकता है जो सूर्यादि ग्रहों की स्वाभाविक गति के कारण उत्पन्न होती है और जिनका प्रभाव प्रत्येक पदार्थ पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जैसे प्रत्येक दिवस के प्रभात एवं सन्ध्या-काल, निशीथ, दुपहरी, षड्ऋतु, वर्ष के बारह मास। ये ऐसी घटनाएँ हैं जिनकी सुखद एवं दुःखद अनुभूतियों द्वारा प्रत्येक प्राणी परिचित है और जिनका प्रभाव जड़ पदार्थों तक पर लक्षित होता है। शृंगार रस के ये विभाव जिस प्रकार प्रेम-भाव के उदय एवं विकास में सहयोग प्रदान करते हैं उसी प्रकार अनुभाव उसके वर्तमान रहने का परिचय देते हैं। चाहे वे स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, एवं प्रलय के रूपों में शरीर पर स्वयं लक्षित हों, चाहे वे आँख, हाथ आदि के द्वारा व्यञ्जित किये जाएँ, प्रत्येक दशा में वे इस बात की सूचना देते हैं कि ऐसे लक्षणों वाले व्यक्ति के हृदय में प्रेमभाव का उदय हो चुका है। ये बातें कभी-कभी प्रेमावत पुरुषों अथवा स्त्रियों, आमोद-प्रदर्शक मानसिक व्यापारों तथा उनकी ऐसी वेश-भूषादि द्वारा भी प्रकट होती हैं और इनके बहुत से उदाहरण शृंगार रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने अनुभावों के अतिरिक्त संचारी भावों की भी चर्चा की है।

सर्वप्रथम भरत मुनि ने कुल ४१ भावों के नाम गिनाये थे जिनमें से प्रथम ८ को तो उन्होंने ८ रसों के स्थायी भाव कहा था और शेष ३३ को संचारीभाव कह कर छोड़ दिया था। सब विभाव, अनुभाव कवि परम्परा में रुढ़ हो गये थे। मरण संचारीभाव को कवियों ने काम की दस अवस्थाओं में गिनाकर उदाहृत किया है। मध्यदेश-कौशल-वासी अपभ्रंश कवि स्वयम्भू (७६० ई०) ने अपने पउमचरित के अन्तर्गत सीता के सौन्दर्य से प्रभावित हुए, राम की इस दशा का वर्णन किया है।^१ स्वयम्भू कृत प्रेम-अवस्था वर्णन में स्वाभाविकता से कहीं अधिक उसकी रुढ़ि-परायणता ही लक्षित होती है। अन्य बहुत से कवियों ने भी सदा इसी प्रकार के प्रयत्न किये हैं और तदनुसार अनुभावों एवं संचारीभावों के उदाहरणों में अधिकतर कृत्रिमता के ही दर्शन होते हैं।

सच बात तो यह है कि कविगण अपनी कृतियों की रचना सदा स्वाभाविक ढंग से किया करते और काव्य शास्त्र के आचार्य उनमें प्रदर्शित तथ्यों के आधार पर ही सिद्धान्तों एवं नियमों की परिकल्पना करते, अपनी ओर से मनमाने आदर्शों की सृष्टि उनका लक्ष्य न थी। किन्तु जैसे-जैसे शास्त्रीयता का महत्त्व बढ़ता गया और कवियों का ध्यान अपनी वास्तविक अनुभूति के अनुसार काव्य-निर्माण करने की अपेक्षा उनके अनुसरण मात्र की ही ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया उसका प्रकृत क्रम उलट गया और बहुत सी कृतियाँ केवल टकसाली बन कर ही रह गईं। फिर भी जहाँ तक परिस्थिति एवं वातावरण का सम्बन्ध है उनका कुछ न कुछ प्रभाव बराबर पड़ता चला आया है और इस बात के अनेक उदाहरण हमें मध्य-कालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं में मिल सकते हैं। इस युग के विहङ्गार पर खड़े विद्यापति से लेकर इसके अन्तिम दिनों तक की प्रवृत्तियों के कुशल चित्रकार ग्वाल कवि की रचनाओं को एक बार सरसरी ढंग से देखने पर भी इस बात के स्पष्ट होते देर नहीं लगती। चाहे नायिका भेद का प्रश्न हो, चाहे नख-शिख वर्णन हो अथवा प्रकृति का ही चित्रण हो, शृंगार प्रवृत्तियों का रंग सदा एवं सर्वत्र एक समान ही नहीं दीख पड़ता। कुछ परिवर्तन तो इस बात पर निर्भर है कि सभी ऐसे कवियों की मनोवृत्ति एक ही प्रकार की नहीं है। जहाँ विद्यापति, बिहारीलाल, अब्दुरहीम, पद्माकर जैसे कवियों का ध्यान यदि अपने काव्य-सौष्ठव की ही ओर अधिक है वहाँ केशवदास, मतिराम, देवदत्त एवं ग्वाल जैसे कवि दोनों बातें संभालने की ओर प्रत्यक्ष रूप में प्रयत्नशील जान पड़ते हैं और कृपाराम, बलभद्र, भिखारीदास एवं रस-लीन अपने आचार्यत्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं। इसी प्रकार सूरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसीदास एवं नन्ददास को भी शृंगार रचनाओं को प्रस्तुत करते समय सदा अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के अनुसार ही चलना पड़ता है।

विद्यापति प्रधानतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं इस तथ्य का पता उन पदों की पंक्तियों द्वारा चलता है जहाँ उन्होंने शृंगार रस के आलम्बन एवं उद्दीपन विभावों का वर्णन करते समय प्रायः संस्कृत-अपभ्रंश कवियों की शैली-अनुसरण

करते हुए ही लिखा है। इन पंक्तियों में विद्यापति ने न केवल किसी नायिका की केवल शारीरिक शोभा की ही चर्चा की है प्रत्युत उसमें कहीं अधिक ध्यान उसकी मानसिक विशेषताओं की ओर दिया है। वयःसन्धि का चित्रण देने हुए ये इस प्रकार की बातें करते हैं जैसे उस नायिका का ये कहीं से छिपकर सूक्ष्म निरीक्षण करते रहे हैं। ये उसकी सभी विशेषतायें एक-एक करके आंकिते चलते हैं और एक अनुभवहीन रसिक व्यक्ति की भाँति उन पर टीका टिप्पणी करने में भी नहीं चूकते। निश्चय ही विद्यापति भी ये पंक्तियाँ श्रीकृष्ण के प्रति किसी दूती द्वारा दी गई नायिका के वयः-क्रम की वस्तुस्थिति विषयक सूचना है जो अत्यन्त आकर्षक भी है। इनके शब्द चुन-चुन कर छोटे-छोटे वाक्यों में नगों की भाँति जटित करके रखे गये हैं जिनमें अभीष्ट प्रभाव के पड़ते देर नहीं लगती। दूती अपने वर्णन में न केवल सीधी बातें कह कर विरत हो जाती है प्रत्युत श्रीकृष्ण को पूर्णतः प्रभावित करने के लिए वह उनका समर्थन भी करता है। विद्यापति ने इस प्रकार की शैली का प्रयोग उन स्थलों पर भी किया है जहाँ वे श्रीकृष्ण की दूती द्वारा राधा को तथा राधा की दूती द्वारा श्रीकृष्ण को क्रमशः उनके प्रेमी अथवा प्रेमिका की मनोदशा एवं शारीरिक अवस्था का परिचय दिलाते हैं तथा इस प्रकार उन्हें परस्पर पूर्णतः उन्मुख भी कराते हैं। यही बात इनकी उन शिक्षाओं में भी दृग्गत होती है जिन्हें वे श्रीकृष्ण के प्रति अथवा राधा के प्रति परस्पर मिलन के उद्देश्य से सजग और सावधान होने के लिये कहते हैं। वहाँ सच्चे आत्मीय शुभचिन्तक के उपयुक्त कथन के उदाहरण उल्लब्ध होते हैं।

विद्यापति एक सुयोग्य पण्डित और विद्वान् थे। साथ ही वे काव्य-शैली में पूर्णतः परिचित भी थे। किन्तु उनकी रचना-शैली में केवल नियमानुसरण अथवा रूढ़ि-पालन के ही प्रयत्न नहीं और न उनकी पंक्तियों में केवल परम्परागत बातों का ही समावेश है। ये स्वयं अनुभव करते हैं, स्वयं सोचते हैं, अपनी निजी कल्पना से काम लेते हैं और पुरानी बातों को भी ऐसे ढंग से प्रस्तुत करना जानते हैं जिससे उनमें नवीनता आ जाती है। उनकी रचनाओं पर कव्यशास्त्र एवं कामशास्त्र इन दोनों का ही प्रभाव प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है किन्तु सब कुछ होते हुए भी हम वहाँ ठेठ अश्लीलता का अनुभव नहीं कर पाते। उनका विषय प्रानतः साहित्यकारों के भाव-जगत् की ही वस्तु है और उनके नायक श्रीकृष्ण एवं नायिका राधा की विविध चेष्टाओं में अभी तक उस वातावरण का ही रंग लक्षित होता है जिसका निर्माण पौराणिक पद्धति एवं गीत-गोविन्द का आदर्श पर हुआ था।

विद्यापति के जीवनकाल (१३६०-१४८० ई०) में ही भक्ति-ग्रान्दोलन का भी प्रचार पूर्ण रूप से होने लगा था। सन कबीर दास उनके समकालिक थे और जायसी का भी जन्म उनकी मृत्यु में कदाचित् कुछ पहले ही हो चुका था जिससे स्पष्ट है कि हिन्दी में निर्गुण भक्ति की रचनाओं का आरम्भ अवश्य हो चुका होगा। कबीरदास की रचनाओं में जिस शृंगार रस की अभिव्यक्ति दृग्गत होती है वह विद्यापनीय परम्परा से नितान्त भिन्न है—(देखें परशुराम चतुर्वेदी कृत 'कबीर साहित्य की परख')। किन्तु जायसी कृत पद्मावत में हम उसके उदाहरण बहुत स्पष्ट रूप में पाते हैं। और उस रचना में हमें उनकी उस शैली का भा पता चलता

है जो मूलतः फ़ारसी साहित्य की देन थी। जायसी ने पद्मावत की प्रेम-कथा को आध्यात्मिक प्रेम के विकास एवं परिणति पर घटित करने की चेष्टा की है—इस बात का स्पष्ट उल्लेख रचना के अन्त में कर दिया गया है। किन्तु प्रत्यक्षतः उसमें सर्वत्र रतनमेन एवं पद्मिनी अथवा उसकी दूसरी रानी नागमती के ही प्रेम एवं विरह के वर्णन की प्रसंगता विद्यमान है। पद्मिनी के सौन्दर्य को सुनकर रतनसेन के सहसा मूर्छित हो पड़ने का जायसी वर्णन करते हैं जो भारतीय पद्धति के गुण-श्रवण-जनित-पूर्वराग (विप्रलम्भ शृंगार) के उदाहरण में आता है। इसी प्रकार वे रतनसेन के विरह में पड़ी हुई नागमती की दशा का विशद विवरण करते हैं—उसमें भी उन्होंने मूलतः उसी का अनुकरण किया है किन्तु ऐसी दशाओं के वर्णन-प्रसंग में अनेक स्थानों पर जिस अत्युक्ति में काम लेते हैं वह अधिकतर फ़ारसी साहित्य के प्रभाव के कारण है। जायसी की नागमती यदि आरम्भ से ही स्वकीया नायिका है तो पद्मिनी सर्वप्रथम परकीया जैसी ही दृग्गत होती है। इसमें प्रेम भावोद्दीपन में सखियाँ भी काम करती हैं और नायिका की एवं नायक की मनोदशाओं के रूप भी प्रायः शास्त्रीय आदर्शों का ही अनुकरण करते जान पड़ते हैं। तथापि विद्यापति एवं जायसी के शृंगार-वर्णनों में सर्वत्र साम्य के ही दर्शन नहीं होते। जायसी कृत पद्मावत एक प्रबन्धकाव्य होने के साथ ही कोरे ऐहिक प्रेम का लक्ष्य लेकर निर्मित की गई रचना नहीं है। उसका कुछ उद्देश्य है। वह साधारण प्रेम-कथा को आध्यात्मिक प्रेम-साधना में घटाने के प्रयत्न में बनी है। सूरी कवि जायसी की दृष्टि में सांसारिक प्रेम एवं परमात्मा के प्रति प्रदर्शित प्रेम में सिद्धान्तः विशेष अन्तर नहीं और एक को दूसरे में परिणत किया जा सकता है। किन्तु विद्यापति अपने पदों में उस प्रेम की चर्चा करते हैं जो राधा एवं कृष्ण के पौराणिक स्तर पर विकसित होता हुआ भी साधारण प्रेम-व्यापार के अनुरूप भर जान पड़ता है। ये राधा एवं कृष्ण की कतिपय प्रेमलीलाओं का वर्णन एक पद्धति विशेष के अनुसार करते देख पड़ते हैं। विद्यापति की इस शैली को सूरदास ने भी अपनाया किन्तु इसका उद्देश्य विद्यापति की भाँति काव्यरस-वर्च-मात्र न था। वे एक सम्प्रदाय-दीक्षित भक्त थे और उनकी धारणा थी कि अपने इष्टदेव कृष्ण एवं उनकी प्रेयसी राधा की विविध प्रेमलीलाओं के वर्णन द्वारा वे उनका गुणानुवाद कर रहे हैं। यह गुणानुवाद सोद्देश्य था और इससे वे उनकी प्रसन्न एवं अग्नी और आकृष्ट करने की आशा रखते थे। इस प्रकार सूरदास आदि के यहाँ कृष्ण एवं राधा साहित्यिक अभिव्यक्ति के कोरे उपकरणमात्र ही नहीं हैं और न उन्हें ये कभी साधारण नायक एवं नायिका-रूप में देखते ही हैं। आगे चलकर हिन्दुविंश जी के वल्लभ सम्प्रदाय में तो राधा-कृष्ण की कुंज-लीला का ही ध्यान सर्वोच्च साधना मानी गई और इस कारण उसके सजीव वर्णन को सर्वाधिक महत्त्व मिला।

यह ठीक है कि सूरदास के कृष्ण एवं राधा जायसी के रतनमेन एवं पद्मिनी अथवा नागमती कभी नहीं हो सकते। फिर भी सूरदास के भीतर ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं जहाँ कवि सूरदास का अपने इष्टदेव के प्रति भक्ति-भावना का शुद्ध रूप कायम किये रहना सिद्ध नहीं होता। राधा एवं कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का

वर्णन करते-करते ये उनके शारीरिक संयोग तक की चर्चा करने लग जाते हैं। इस प्रकार वहाँ इनके द्वारा मर्यादा का उल्लंघन होना भी कहा जा सकता है। इनका चौर-हरण-लीला के अवसर पर श्रीकृष्ण द्वारा इस प्रकार का गोपियों के प्रति हठ कराना "कि तुम जल से बाहर हाथों को ऊपर उठाये नग्न रूप में निकलो" भी इनके द्वारा शिष्टाचारोल्लंघन का ही दूसरा उदाहरण माना जा सकता है। ऐसे स्थलों की प्रायः आध्यात्मिक व्याख्या भी कर दी जाती है। जो कभी-कभी सूफी कवियों द्वारा अपनी प्रेम-गाथाओं को रूपक सिद्ध करने का प्रयत्न-सी लगती हैं। फिर भी सूरदास कृत राधाकृष्ण-अनुराग-वर्णन अपने ही ढंग का है। सूरदास की सौन्दर्य-भावना का परिस्फुटन भी अनेक स्थलों पर उच्च आदर्शों के ही अनुसार हुआ है। इनकी गोपियाँ जब श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का बखान करने लगती हैं तो इनकी राधा कह उठती है कि मेरी दृष्टि तो कभी उनके किसी अंग पर आज तक पड़ी ही नहीं—यह उस पर ठहरने में सदा असमर्थ रही है। राधा कृष्ण के लिये कोई साधारण प्रेमिका नहीं और वह कभी-कभी भक्त के भी रूप में दिखाई देती है, वह स्वयं उनके-से स्तर की है। श्रीकृष्ण की अन्य नायिकाओं का भी वर्णन विभिन्न गोपियों के रूप में मिलता है। राधा के सामने वे साधिकाओं की-सी लगती हैं। सूरदास ने रास के प्रसंग में नायक एवं नायिका के सम्भोग-शृंगार का वर्णन किया है और तत्पश्चात् राधा का मानिनी रूप भी दिखलाया है। राधा यहाँ साधारण नायिकाओं की श्रेणी में आ जाती है क्योंकि यहाँ पर उसमें अन्य गोपियों के प्रति ईर्ष्या का भाव भी दृग्गत होता है। राधा की ऐसी मनोवृत्ति सर्वथा स्त्रियोचित भी है। श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य भाव प्रदर्शित करने वाली भक्त कवयित्री मोरारबाई तक की रचनाओं में इसके उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं।

सूरदास के प्रेमभाव सम्बन्धी वर्णनों में कभी-कभी ऐसी अपूर्वता दिखलाई पड़ती है जो उनके द्वारा उसे अलौकिकता प्रदान किये जाने के कारण ही सम्भव है। इस दृष्टि से उनकी शृंगार-रचनाएँ विद्यापति से भिन्न कोटि की ठहरती हैं। यद्यपि सूरदास की प्रत्यक्ष प्रेमलीलायें सूफी कवि जायसी की प्रेमगाथा वाली रूपकमयी रचना की श्रेणी में नहीं बिठाई जा सकतीं तथापि उनकी शृंगारिकता आध्यात्मिकता के ही मार्ग का एक स्थल विशेष है जिसकी ओर स्वयं सूरदास ने भी कहीं-कहीं संकेत कर दिया है।

तुलसीदास भी अपने इष्टदेव के चरित्रवर्णन-प्रसंग में प्रेमलीला को स्थान देना नहीं भूले हैं। किन्तु उन्होंने सूरदास की भाँति इसे प्रधानता भी नहीं दी है। 'राम-चरितमानस' में रामचन्द्र के बचपन से लेकर प्रौढ़ वय तक की प्रमुख घटनाओं का समावेश है। बाल-काण्ड में जहाँ जनकपुर के पुष्पोद्यान का वर्णन है वहाँ रामचन्द्र एक नायक और सीता नायिका के रूप में दृग्गत होते हैं। रामचन्द्र एवं सीता वहाँ परस्पर दर्शन करते हैं और उस प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा पूर्वानुराग की दशा का आरम्भ हो जाता है। रामचन्द्र के साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण हैं जो प्रसंगवश यहाँ एक सखा का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सीता की संग आई हुई सखियाँ तो स्पष्ट रूप में उद्दीपन का कार्य करती दीख पड़ती हैं। प्रेमभाव के क्रमशः उदित एवं अंकुरित होने

के लिए अवसर एवं स्थान भी सर्वथा उपयुक्त हैं। रामचरितमानस के नायक एवं नायिका जब एक दूसरे के प्रति अनुरक्त होने के मार्ग पर बढ़ आते हैं तो उन पर भी ठीक वैसे ही प्रभाव पड़े हुए लक्षित होते हैं जैसे किन्हीं ऐसे दो साधारण व्यक्तियों पर हो सकते हैं। किन्तु इनमें एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण इनके भावों में वैसी किसी दुर्बलता का भान नहीं हो पाता। तुलसीदास की दृष्टि में रामचन्द्र जगत् के पति और उनके स्वामी हैं तथा उसी प्रकार सीता भी जगन्माता और उनकी स्वामिनी हैं। इस कारण ये उनके भौतिक प्रेम की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। राम का सौन्दर्य ऐसा है जिसे एक बार देख लेने वाला उसके वर्णन में सर्वथा असमर्थ हो जाता है और उसके लिए “गिरा अनयन नयन बिनु बानी” तक कहने का अवसर आ जाता है। इसी प्रकार सीता की शोभा की सराहना स्वयं रामचन्द्र भी केवल अपने हृदय में ही कर पाते हैं उसे वे व्यक्त नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति में होते हुए भी तुलसीदास के रामचन्द्र एवं सीता विद्यापति के उन नायक-नायिका की दशा—

“दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर। समय न बूझए अचतुर चोर॥”

का अनुभव नहीं करते। यहाँ रामचन्द्र का ध्यान तत्क्षण अपनी दशा की ओर भी चला जाता है और सीता भी उन्हें ‘लोचन-मगु’ द्वारा उर में लाकर उस पर चतुरता के साथ ‘कपाट’ डाल देती हैं। यहाँ इन दोनों नायक-नायिका पर उस प्रकार का प्रभाव भी नहीं लक्षित होता जिसे सूरदास ने ‘नैन-नैन मिलि परी ठगोरी’ जैसे शब्दों द्वारा प्रकट किया है। ये दोनों अपनी-अपनी मर्यादा का ज्ञान रखते हैं और इनकी सारी चेष्टायें आगे की अन्य स्थितियों में भी मर्यादित ही रहती हैं। तुलसीदास के नायक राम पद्मावत के रतनसेन से भी नितान्त भिन्न हैं जो ‘सुआ’ के मुख से पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन सुनते ही विमूर्च्छित हो गिर पड़ता है। तुलसीदास की सीता का चरित्र-चित्रण उसके अपने पति के साथ रहने तथा उससे वियुक्त होने की दशा में भी एक सच्ची भारतीय नारी के रूप में हुआ है। उसके गार्हस्थ्य जीवन का सजीव चित्र जैसा रामचरितमानस में मिलता है वैसा सूरदास की राधा के लिए भी सम्भव न था। जायसी की पद्मिनी एवं नागमती में उस आदर्श की झलक अवश्य मिलती है किन्तु वह अधूरी ही है। सूरदास की राधिका श्रीकृष्ण की प्रेमिका और प्रेम-प्राप्ती ही बनी रह जाती है और उसके ये दोनों रूप केवल प्रेमलीलाओं में दीख पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों का जीवन-क्षेत्र सीमित कर दिया गया है— न तो श्रीकृष्ण के सामने प्रेमलीलाओं से बढ़कर कोई दूसरा काम है और न राधा के जीवन का ही कोई अन्य पहलू हो सकता है। श्रीकृष्ण यदि किसी अन्य कार्य में लग जाते हैं तो वह राधा के जीवन में बाधा बन जाता है। विद्यापति की पदावली में श्रीकृष्ण को अन्य कार्यों के लिए अवकाश ही नहीं है। उनकी राधा का भी जो परिचय वहाँ उपलब्ध होता है वह अनूठा है, अपने ही ढंग का है। निस्सन्देह तुलसीदास की सीता में अधिक स्वाभाविकता और जीवन की पूर्णता है। भले ही विद्यापति कृत श्रीकृष्ण-राधा (नायक-नायिका) का चित्रण एकांगी निरा साहित्यिक मात्र एवं निराधार सा लगता है, फिर भी शृंगार दृष्टि से देखने पर विद्यापति ही वस्तुतः सफल कहे जाते हैं, और इसी से वे अपने परवर्ती कवियों के लिए कोई आदर्श भी रख पाये। इनके

आदर्श को लेते हुए सूरदास के अनुकरण में काव्य-रचना करनेवाले नन्ददास थे जो तुलसीदास के ही समकालीन थे । नन्ददास ने श्रीकृष्ण एवं राधा तथा गोपियों की प्रेमकथा के अतिरिक्त 'रूप मंजरी' नामक एक प्रेमाख्यान लिखा और 'विरहमंजरी' तथा 'रस मंजरी' के द्वारा शृंगार-रस विषयक अनेक आवश्यक बातों का सांगोपांग वर्णन किया । 'रसमंजरी' वस्तुतः नायिकाभेद-वर्णन का ग्रन्थ है किन्तु वे इसकी रचना इस उद्देश्य से करते हैं कि इसके द्वारा भगवान् कृष्ण का ही वर्णन हो जाता है—श्रीकृष्ण ही रूप हैं, वे ही प्रेम हैं और वे ही आनन्द भी हैं । नायिकाओं का वर्गीकरण करते समय इन्होंने भानुदत्त (मैथिल) के संस्कृत-ग्रन्थ 'रसमंजरी' का अनुसरण किया है, किन्तु कहीं-कहीं अपनी कल्पना से भी काम लिया है । नन्ददास की विशेष ख्याति उनकी 'रासपंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' नामक रचनाओं पर आश्रित है । ये दोनों ग्रन्थ श्रीकृष्ण की लीला से सम्बन्धित हैं । 'रासपंचाध्यायी' में रासलीला का वर्णन है किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो उसमें कुछ आध्यात्मिक रहस्य भी लक्षित होता है और इस दृष्टि से उसकी सभी बातें एक अनौकिक रूप धारण करती प्रतीत होती हैं । इसी प्रकार भ्रमरगीत में भी उद्धव एवं गोपियों के संवाद के आधार पर श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित प्रेम का सुन्दर ढंग से निरूपण हुआ है । नन्ददास की गोपियाँ परकीया नायिका की ही श्रेणी में रखी जा सकती हैं किन्तु इनमें उस ब्रीड़ा वा सकोच का भाव नहीं जो ऐसी नारियों में पाया जा सकता है । इसके अतिरिक्त गोविन्ददास और ज्ञानदास आदि भक्त कवियों ने शृंगार-रचना प्रसंग में विद्यापति को ही आदर्श और गुरु-तुल्य माना है ।

नन्ददास में भक्तिकाल एवं रीतिकाल दोनों के ही प्रसंग आते हैं । नन्ददास एक भक्त कवि थे इस कारण उन्होंने जो कुछ भी शृंगार-वर्णन किया वह अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को भगवान् की दृष्टि से देखते हुए ही किया और उनके द्वारा नायिका भेद जैसे विषयों की व्यवस्थित चर्चा केवल अपने समय की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का अनुसरण मात्र ही था । इनके समसामयिक अब्दुरहीम का दृष्टिकोण सबसे भिन्न है, क्योंकि ये अपने 'नायिका भेद' एवं 'नगरशोभा' ग्रन्थों में अपने बरबै छन्दों द्वारा विभिन्न नायिकाओं के उदाहरण देते चले जाते हैं उनके लक्षण भी देने की चेष्टा नहीं करते । 'नगरशोभा' में तो ये अनेक जातीय नारियों का वर्णन करने लगते हैं जो वस्तुतः नायिका-भेद की दृष्टि से नहीं किया गया प्रतीत होता है । ये वर्णन बहुत कुछ परिचयात्मक हैं । इस बात में रहीम का अनुकरण बाद में कवि देवदत्त ने भी किया और उन्होंने इस प्रकार की एक पृथक् रचना ही प्रस्तुत कर दी । रहीम ने नायिका-भेद-प्रतिपादन केवल कवि-दृष्टि से ही किया । उन्होंने ऐसा करते समय संभवतः उन वर्गीकरणों की ओर भी ध्यान दिया हो जो क्रमशः प्रचलित हो रहे थे । इनके पीछे आने वाले बिहारीलाल तथा पद्माकर जैसे कवियों में भी हमें प्रधानतः इसी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है । बिहारीलाल भी अब्दुरहीम की भाँति एक रसिक जीव थे और उन्हें काव्य-कला का भी अच्छा ज्ञान था जिसका निदर्शन उनकी 'सतसई' है । गगर में छलकते शृंगार के सागर सतसई के दोहों में उनके सूक्ष्म निरीक्षण एवं शब्द-चयन का प्रायः वही प्रयास लक्षित होता है जिसे हम विद्यापति में भी पाते हैं । उनके दरबारी

होने के कारण उनकी कृतियों में भी अधिकतर वैसी ही बातें मिलती हैं जिन्हें उस काल के राजे महाराजे बहुत पसन्द करते थे। फिर भी अपनी नायिकाओं की मनोवृत्ति के विश्लेषण एवं प्रदर्शन में उन्होंने सूक्ष्म कला-कौशल का परिचय दिया है। बिहारीलाल में भी हमें विद्यापति के ही जैसा मनावैज्ञानिक अध्ययन का उपकरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना है। बिहारीलाल ने सौन्दर्य का निरीक्षण और वर्णन बड़ी सहृदयता के साथ प्रस्तुत किया है। इसके उन्होंने रूपगत, स्वभावगत और व्यापारगत किसी भी पहलू को छोड़ा नहीं। प्रेम की विविध अवस्थाओं का उन्होंने वर्णन किया है और उसके मानवीय एवं इष्टद्वारक दोनों ही पक्षों की ओर ध्यान दिया है। उनकी रचना में ऐसे भी अनेक स्थल हैं जो उस युग की कुसुचि की दृष्टि से क्षम्य ही कहे जा सकते हैं।

पद्माकर की रचनाओं में भी हमें बिहारीलाल की इन विशेषताओं का परिचय मिलता है किन्तु वे कभी-कभी अपना आचार्यत्व भी प्रकट करते हैं। 'जगद्गोद' ग्रन्थ में उनकी इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन हुआ है। पद्माकर भी अपने शृंगार-वर्णनों में कामशास्त्रीय ज्ञान का परिचय देते हुए दिखलाई पड़ते हैं। अपने अनिरजित चित्रण-प्रसंगों में वे कहीं-कहीं बिहारीलाल से भी आगे बढ़ जाते हैं। आचार्यत्व प्रदर्शन की धुन में कभी-कभी इन्होंने देवदत्त की भाँति नवीनता लाने का भी चेष्टा की है। फिर भी पद्माकर का ध्यान जितना काव्य-कौशल-प्रदर्शन की ओर है उतना अपना आचार्यत्व सिद्ध करने की ओर नहीं है।

रीतिकाल के इन कवियों की रचनाओं में श्रीकृष्ण एवं राधा का वह रूप नहीं रह जाता जो सूरदास आदि की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। यहाँ ये दोनों उस काल के विलासप्रिय नागरिकों अथवा कभी-कभी ग्रामीणों तक की श्रेणी में उतर आते हैं। इनमें कवि विद्यापति द्वारा प्रदर्शित पौराणिकता तक का चिह्न अत्यन्त साधारण मात्रा में मिलता है और ये बहुधा तत्कालीन मुसलिम वातावरण द्वारा भी प्रभावित हैं।

यह ठीक है कि शृंगार-रस के ऐसे कवियों ने कुसुचि की ओर तो अधिक ध्यान नहीं दिया फिर भी उन्होंने अपना काव्य-प्रेम निभाया है। इसके विपरीत जिन कवियों का ध्यान अपने आचार्यत्व को संभालने की ओर भी बाँट गया वे सब इतना भी नहीं कर सके। ऐम कवियों के मार्गप्रदर्शक 'तरंगिणीवार' कृपाराम समझे जाते हैं। इस नायिकाभेद सम्बन्धी ग्रन्थ का नन्दकिशोर की प्रार्थना से प्रारम्भ किया गया और यह भी बतलाया गया है कि कवि लोग शिगार-रस का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया करते हैं। नायिकादि का वर्णन करने से पूर्व ये उसके लक्षण बतला दत्त हैं और तब उनके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस पद्धति का अनुसरण पाँछे के अन्य कवियों ने किया। स्पष्ट है कि ऐसे वर्णनों में शृंगार-रस का आस्वादन हमें निर्बाध रूप से नहीं हो पाता। ये लोग मनावैज्ञानिक के मुकाबले वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय ही अधिक बने रह जाते हैं। फिर भी कृपाराम के अनन्तर अन्य अनेक आचार्यों ने भी इसी पथ का अनुसरण करना श्रेयस्कर जाना। केशवदास जो अब्दुरहीम के समसामयिक थे, इस प्रवृत्ति के प्रबल पाषक थे। ये एक दरबारी कवि थे और योग्य पण्डित भी थे। अतः इन्हें काव्य-शास्त्र से विशेष परिचय था। शृंगार का वर्णन करते समय राम सीता के सम्बन्ध में तो नहीं किन्तु राधा एवं कृष्ण के विषय में मर्यादाओं के उल्लंघन से ये

अपने को बचा नहीं पाते थे । अन्य अधिकांश कवियों की भाँति इन्होंने परकीया की अपेक्षा स्वकीया को महत्त्व नहीं दिया । इन्होंने नायिकाओं की मनोवृत्ति का अध्ययन तो परम्परानुसार ही किया है किन्तु कभी-कभी नायक की ओर भी दृष्टि रखी है । इन पर भी काम शास्त्र और 'नाट्य-शास्त्र' का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा प्रतीत होता है । अनेक बातों के वर्णन में इन्होंने अपने अनुभव से भी काम लिया है । इनके अनेक लक्षणों में संस्कृत-ग्रंथों की अपेक्षा बहुत कुछ विकास दिखाई पड़ता है और सखीकर्म एवं हावों की संख्या में तो उन्होंने स्पष्ट वृद्धि की है ।

इस विषय में मतिराम के वर्णनों में अधिक मनोवैज्ञानिकता है । मतिराम ने शृंगार-रस का वर्णन करते समय उसका स्थायीभाव केवल उसी रति को माना है जो तिथि-पुरुष का होता है । अतः प्रतीत होता है कि उन्होंने भक्ति के आधार पर कल्पित किये जाने वाले भाव को सम्भवतः कोई भी महत्त्व नहीं दिया । रूप गोस्वामी आदि वैष्णव भक्त-कवियों ने प्रेम का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए शृंगार-रस विषयक भक्ति को उज्ज्वल-रस का नाम दिया है तथा नायिका भेद के ज्ञान को प्रेम-तत्त्व की पहिचान के लिये अनिवार्य मानकर उसके वर्णन के उदाहरणों में ब्रज की गोपियों की चेष्टाओं का उल्लेख किया है किन्तु मतिराम ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया । फिर भी नायिका-भेद की दृष्टि से इनका 'रसरस' ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में मान्य है । मतिराम को अपनी भाषा को ललित, सशक्त बनाने की कला पर भी अच्छा अधिकार है । इस कोटि में ही देवदत्त, भिखारीदास और ग्वाल भी गिने जाते हैं । देवदत्त ने तो नायिका भेद को सबसे अधिक विस्तार के साथ कहा है । आचार्यत्व में देवदत्त मतिराम की अपेक्षा सचेष्ट हैं और सदा नवीनता लाने के फेर में रहते हैं । भिखारीदास एवं ग्वाल ने परम्परागत वर्णों में ही भेदोपभेद की सृष्टि का प्रयास किया है । देवदत्त ने 'प्रेम-चन्द्रिका' में प्रेम-तत्त्व का विशद वर्णन किया है और सर्वत्र स्वकीया के प्रेम को ही श्रेष्ठ माना है । संचारीभावों को भी इन्होंने तन-संचारी एवं मन-संचारी नामक दो भागों में विभक्त किया । अन्य आचार्यों की अपेक्षा इनमें यह नवीनता है । नायक वा दूती आदि के विषय में अधिक न लिखकर नायिकाओं के वर्गीकरण की ओर ही इन्होंने विशेष ध्यान दिया ।

नायिकाभेद के वर्गीकरण में भिखारीदास की विशेषता यह है कि अवस्थानुसार किये गए उनके भेदों को इन्होंने सम्भोग-शृंगार एवं विप्रलम्भ-शृंगार की दृष्टि से पुनः क्रम से लिखा है । ऐसा उनसे पूर्व किसी आचार्य कवि ने नहीं किया था । तथापि इनका ध्यान जितना अपने आचार्यत्व के प्रतिपादन की ओर है उतना प्रेमतत्त्व के निरूपण एवं उनके प्रकृत-मनोवैज्ञानिक उल्लेख की ओर नहीं है । ग्वाल कवि कृत नायिकाभेद-वर्णन भिखारीदास की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है । परकीया और गणिका के वर्णन को भी इन्होंने विस्तार दिया है । इनके विषय में कहा जाता है कि इन्होंने राधा-कृष्ण को सामान्य नायिका-नायक के रूप में स्वीकार करके उनके वर्णन को अमर्यादित बना डाला । यह केवल इनकी ही विशेषता नहीं । वैसे इसका कारण तत्कालीन वातावरण में ढूँढ़ा जा सकता है । ग्वाल कवि ने अपने को राधा का

उपासक तक बतलाया है और एक स्थल पर अपने शृंगार-वर्णनों के लिए उनसे क्षमा याचना भी की है—

“श्री राधा पद पदुम कों प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल ।

छमवत है अपराध को कियो जु कथन रसाल ॥”

इन कवियों का युग ही ऐसा था । ऐसे वर्णनों के लिये ये लोग बाध्य थे । ग्वाल कवि (सं० १८४८-१९२५) का जन्म-स्थान वृन्दावन था किन्तु इनकी उठ-बैठ रामपुर के नवाबों तक के यहाँ थी और रहन-सहन पर वैभव की छाप थी । शृंगार-रस को ये अलौकिक रूप देते प्रतीत होते हैं किन्तु उसके वर्णन-प्रसंगों में अश्लीलता के दोष से अपने को मुक्त नहीं कर पाते । लगता है, भिखारीदास को अपनी शृंगारिक रचनाओं की उत्कृष्टता पर पूर्ण विश्वास न था इसीलिए तो उन्होंने कहा था—

आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई ।

न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है ॥

इन वचनों से उस युग के कवियों की मानस वृत्ति स्पष्ट होती है ।

हिन्दी-कवियों ने शृंगार रचनाओं में जिस प्रकार नायिका-भेद के वर्णनों द्वारा स्त्रियों की मानस वृत्ति का परिचय दिया है उसी प्रकार नखशिख-वर्णन के आधार पर उनके रूप सौन्दर्य की व्याख्या करने में अपने काव्य-कौशल का प्रदर्शन किया है । विद्यापति ने इस विषय में संस्कृत-कवियों द्वारा चलाई गई वर्णन-पद्धति का ही अनुसरण किया है । किन्तु स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी निरीक्षण शक्ति के बल पर नवीनता भी ला दी है । इन कवियों ने अपनी रचनाओं में किसी क्रम के अनुसार चलने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है । विद्यापति ने अपने ऐसे पदों में से कुछ में पयोधर से आरम्भ किया है और फिर मुख, नेत्र और भौंह का वर्णन करने लगते हैं तो कुछ में नेत्रों से ही आरम्भ कर फिर नीचे-ऊपर जाने लगते हैं । सौन्दर्य-वर्णन क्रम में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें उन्होंने किसी क्रम ‘नखशिख’ या ‘शिखनख’ का उचित निर्वाह किया है अथवा जिनमें सभी प्रमुख अंगों पर ध्यान दिया है । इन वर्णनों में वे प्रायः रूपक एवं उत्प्रेक्षा से ही अधिक काम लेते हैं और बीच-बीच में नवीन उद्भावनाएँ करते चले जाते हैं । आंगिक सौन्दर्य-वर्णन-प्रसंग में इस व्यतिक्रम का यह भी कारण हो सकता है कि किसी सुन्दरी को अचानक देखते समय उसके प्रत्येक अवयव को किसी एक ओर से ही निरीक्षण करते चलना सम्भव नहीं है । रूप सौन्दर्य का वास्तविक अनुभव कभी प्रयोगशाला में किये जाने वाले अणु-वीक्षण की-सी अपेक्षा नहीं करता । वह तो प्रायः अकस्मात् हो जाता है । और इसके लिये केवल अधूरा अंग-दर्शन भी पूरा काम करता पाया जाता है । फिर किसी रमणी के सौन्दर्य को प्रत्यक्ष अंकित कर पाना भी सरल काम नहीं है । इसी कारण ऐसे अवसरों पर कवि को किसी आड़ की भी व्यवस्था करनी पड़ जाती है । महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलगत अपनी नायिका के सौन्दर्य का अनुभव उसके नायक द्वारा तरु-लतादि की ओर से ही कराया है । विद्यापति ने अपने पदों की नायिका के रूप सौन्दर्य का वर्णन करते समय क्रम का अधिकतर निर्वाह वहाँ किया है जहाँ वे उसके

सद्यःस्नाता-रूप का बखान करते हैं। साधारण स्थिति के वर्णनों में तो वे कभी-कभी किसी क्रम का उलट-फेर करना भी भूल जाते हैं और सौन्दर्य का यथेच्छ दर्शन न कर सकने के कारण पश्चात्ताप भी करते हैं—

‘सजनी, भल कए पेखन न भेल।

मेघ माल संय तड़ित लता जनि, हिरदय सेल दइ गेल ॥’

विद्यापति की रचना मुक्तक है अतः उसमें प्रबन्ध जैसे व्यवस्थित वर्णनों का उपलब्ध होना आवश्यक नहीं है।

ऐसे वर्णनों को सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में अधिक नियमित रूप से प्रस्तुत किया है। पद्मावत में दो स्थल ऐसे हैं जहाँ नायिका पद्मिनी के नखशिख का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। एक स्थान पर ‘सुवा’ राजा रतनसेन से उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ उसके बिगार-वर्णन में प्रवृत्त होता है और फिर क्रमशः उसके केश, माँग-लिलार, भौंह, नयन, बरुनी, नासिका, अघर, दसन, रसना, कपोल, श्रवण, गीउ, भुज, कुच, पेट, पीठ, लंक, नाभिकुण्ड एवं नितम्ब तथा जंघा और चरणों तक के विषय में कहता चला जाता है। वह इन सभी अंगों का वर्णन करता हुआ उन पर धारण किये गये अलंकारी की चर्चा करना भी नहीं भूलता और कहता है—

‘बरनि सिंगार न जानऊँ नख सिख जैस अमोग ।’

यह उस नायिका की मनोहरता-वृद्धि की ओर संकेत-सा सूचित होता है। इस प्रकार का दूसरा वर्णन वहाँ आता है जहाँ राघवचैतन उसकी प्रशंसा करता हुआ दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन को उसकी ओर आकृष्ट करता है। इस नखशिख-वर्णन की एक विशेषता यह है कि इसमें पहले पूरी काया के ही सौंदर्य से आरम्भ किया जाता है और सबसे अन्त में उसकी सुकुमारता की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करके अपनी उक्ति अचानक समाप्त कर दी जाती है। इसके सिवाय इस वर्णन में कुछ अंगों को छोड़ भी दिया गया है और कुछ की ओर केवल थोड़ा-सा ही ध्यान द कर चलता कर दिया गया है। इसमें बरुनी, पेट, पीठ, नाभि एवं नितम्ब आदि के स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं और मुख एवं केश तथा कपोल एवं श्रवण के वर्णनों के क्रम को उलट भी दिया गया है। इन दोनों सौन्दर्य-वर्णनों के सुनने वाले राजा क्रमशः रतनसेन तथा सुलतान अलाउद्दीन इन्हें सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। निश्चय ही विद्यापति के वर्णनों की अपेक्षा ये दोनों वर्णन अधिक पूर्ण हैं। स्पष्ट ही इनमें प्रबन्ध कल्पना के विचार से प्रत्येक बात को विस्तृत रूप देने की चेष्टा की गई है। इसमें अत्युक्तियों की भरमार उनसे अधिक मात्रा में है। जायसी ने यहाँ ऐसी नायिका का वर्णन किया है कि जो अपने सौंदर्य में केवल अपूर्व ही नहीं सर्वथा अलौकिक भी है। यह उस परमात्मा का प्रतीक है जिस वे अपने सर्वात्मवाद की दृष्टि से सर्वत्र व्यापक मानते हैं। इस कारण वे उसके हंसत ही चन्द्र-किरण की आभा से सरोवर के कुमुदों को विकसित कर देते हैं और उसके सामन आते ही उस सरोवर को उसका दर्पण भी बना देते हैं जिस

कारण सरोवर में उास्थित सब वस्तुएँ उसके विविध सुन्दर अंगों का प्रतिबिम्ब बन जाती हैं। यहाँ राजा रतनसेन और सुलतान अलाउद्दीन के सौन्दर्य-वर्णन को सुन कर मुग्ध हो जाने से इस बात की ओर संकेत है कि परमात्मा-तत्त्व के नूर की भी केवल भावना ही पर्याप्त होती है। उसके लिये प्रत्यक्ष दर्शन अपेक्षित नहीं है। सद्-गुरु वा पीर द्वारा किया गया उसका यथोचित वर्णन ही किसी साधक को वेगुध कर सकने में समर्थ है। ये वर्णन किसी रमणी के शारीरिक सौन्दर्य का आश्रय (आड़) लेते हैं इस कारण इन्हें परम्परागत प्रणाली के अनुसार निभाना पड़ता है। जायसी ने यही किया है। वस्तुतः यह अरूप के उस सौन्दर्य का परिचय है जिसका वर्णन अनिर्वचनीय जैसे शब्दों द्वारा किया जाता है। सन्त कवियों की दृष्टि में यह अमपूर्ण, अवाञ्छनीय एवं अनावश्यक भी है।

सगुणवादी कवियों ने परमात्मा के अलौकिक सौन्दर्य की भाँकी पौराणिक अवतारवाद के आधार पर प्रदर्शित की है। सूरदास के श्रीकृष्ण स्वयं परमात्मा रूप हैं और वे भक्तों के लिये अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। उनकी शक्ति व प्रकृति भी राधा के रूप में अवतरित हुई हैं। यह राधा उनकी प्रेमपात्री एवं प्रेमिका बन कर उनकी लीलाओं में सहयोग प्रदान करती है। अपनी पदावली में तो नहीं किन्तु 'कीर्तिपनाका' (जिसकी एक खण्डित प्रतिर्लिपि डा० जयकान्त मिश्र, इलाहाबाद के समीप है) में विद्यापति ने एतद्विषयक अपनी मीमांसा स्पष्टतया उल्लिखित की है। वर्तमान रचना में उसे अन्यत्र उद्धृत किया गया है।^१ वहाँ स्पष्ट लिखा है कि रामावतार में सीता के हरण-जन्य विरह से खिन्न रामचन्द्र ने अपने दुःख को दूर करने के लिये ही कृष्णावतार में गोपियों के साथ नाना प्रकार का भोगविलास किया। शृंगार-रस के संभोग पक्ष के सूरदास कृत और विद्यापति के वर्णनों में विशेष अन्तर नहीं है। सूरदास तथा अन्य वैसे ही सगुणवादी कवियों ने जितना ध्यान श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की ओर किया है उतना उन्होंने राधा के रूप-वर्णन की ओर नहीं दिया। उसमें उनकी निजी साम्प्रदायिक दीक्षाएँ एवं आस्थाएँ कारण हैं। विद्यापति के अवतारी कृष्ण-राधा सामयिक विभिन्न प्रभाव-पूर में प्रवाहित होते हुए प्रकृत नायक-नायिका-रूप से सभावित हैं। सूरदास ने राधा की छवि का वर्णन रास-क्रीड़ा के अवसर पर किया है, जहाँ वह खूब बन-ठन कर उपस्थित हुई है। वहाँ एक पद में उसके नखशिख की चर्चा उसकी वेणी से आरम्भ करके कुछ तक समाप्त की है, वहीं अन्य पद में उसे 'पग की जेहरी' से वे आरम्भ करते हैं और ऊपर की ओर उसके 'ललित कपोल' तक ले जा कर छोड़ते हैं। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि इन पदों में अंगों से अधिक ध्यान आभूषणों की ओर दिया गया है। नन्ददास भी जहाँ प्रेमलीला का वर्णन करते हैं वहाँ सखियों द्वारा श्रीकृष्ण का ध्यान राधा के आभूषित शरीर की ही ओर दिलाने की चेष्टा करते हैं।

परन्तु तुलसीदास ने रामचरितमानस में इस प्रकार का नखशिख-वर्णन नहीं

१. वर्तमान रचनागत विद्यापति और रीतिकालीन कवियों का भावपक्ष शीर्षक अध्याय।

किया और जहाँ इस पद्धति पर नखशिख का उल्लेख किया भी वहाँ थोड़ा-सा ही वर्णन है। वे स्पष्ट कह देते हैं कि सीता तो जगन्माता हैं और समस्त गुणों एवं रूप सौन्दर्य की खान हैं। उनके सम्मुख सब उपमाएँ हीन प्रतीत होती हैं क्योंकि वे प्रायः प्राकृत नारियों के अंगों के ही लिये प्रयुक्त होती हैं। संसार में कौन ऐसी स्त्री है जो उनके सदृश है। यदि सुन्दरी देवियों की उपमा दी जाने लगे तो वह भी अनुचित जँचेगी—सरस्वती बहुत बोलने वाली हैं, पार्वती का शरीर ही अधूरा है, रति अपने पति के अंगग होने से ही दुःखिनी है और स्वयं लक्ष्मी तर्क के भाई बन्धु विष एवं वारुणी कहे जाते हैं। इसीलिये मानों सीता के सौन्दर्य वर्णन में तुलसीदास को अतिसंकोच का अनुभव होता है—

सिय सोभा नहि जाइ बखानी। जगदम्बिका रूप गुन खानी।

उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी ॥ इत्यादि

तुलसीदास ने रामचन्द्र के रूप सौंदर्य का वर्णन तो अनेक स्थलों पर नखशिख-पद्धति के अनुसार भी किया है परन्तु सीता के विषय में वे प्रायः मौन धारण कर लेते हैं। रामचन्द्र के विषय में भी कभी वे सिख से नख तक चलते हैं, कभी इस क्रम को उलट देने की चेष्टा करते हैं और शरीर के गठन-सौन्दर्य पर विशेष ध्यान रखते हैं। अन्य कवि अधिकतर चमक-दमक, अंगों के व्यापार अथवा उनके विविध आभूषणों को ही महत्त्व देते हैं। इस बात में तुलसीदास ने वाल्मीकीय रामायण का अनुसरण किया और अपने को फारसी साहित्य में प्रचलित परम्परा से बचा लिया।

बिहारीलाल और पद्माकर तत्कालीन वर्णन पद्धति से अधिक प्रभावित हैं। चाहे नायिका-सौंदर्य विषय हो अथवा उसके सौकुमार्य एवं विविध अंगों की चेष्टाओं का चित्रण करना हो ये अपने सामयिक वातावरण द्वारा अवश्य प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इसी कारण इनके चित्रणों में अतिरंजन विशेष मात्रा में दृग्गत होता है। बिहारीलाल ने सतसई में केवल दोहे अथवा सोरठे ही लिखे हैं जो बहुत छोटे-छोटे छन्द होते हैं और जिनमें समग्रतः नख-सिख-वर्णन का आ पाना असम्भव है। इसीलिये वे कभी-कभी केवल एक ही अंग को ले लेते हैं। बहुत कम स्थल ऐसे होंगे जहाँ उन्होंने एकाधिक अंगों पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया है। नायिका के नेत्रों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है और कहीं-कहीं केश, जंघा, त्रिबली, नाभि आदि के विषय में भी विविध कल्पनाएँ की हैं। इसी प्रकार वे उसकी मुद्राओं का भी सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और ऐसे स्थलों पर उसकी मानस वृत्ति का भी परिचय दे देते हैं। फिर भी जहाँ उनके वयः सन्धि वाले वर्णन में शिशुता एवं यौवन की भलक मात्र की ही प्रधानता है वहाँ ऐसे अवसरों पर विद्यापति ने नायिका की मनोदशा को भी चित्रित कर दिया है।

पद्माकर ने नखशिख का वर्णन करते समय अधिकतर कवित्त और सवैया जैसे लम्बे छंदों का प्रयोग किया है। बिहारीलाल के मुकाबिले उन्हें स्थान की अधिक स्वतन्त्रता है। फिर भी इन्होंने अपना ध्यान शरीर के प्रत्येक अंग को किसी क्रम विशेष में रखने की ओर बहुत कम किया है। इन्होंने अधिकतर उन्हीं अंगों को

लिया है जो कामोद्दीपन के प्रमुख आधार हैं और जिनसे केवल प्रेम-भाव के विकास मात्र में ही सहायता नहीं मिलती। प्रतीत होता है कि पद्माकर एवं ग्वाल कवि पर कामशास्त्रीय परम्परा का प्रभाव बिहारीलाल और केशवदास से भी अधिक पड़ा।

केशवदास ने नखसिख-वर्णन करते समय आचार्यों की भाँति लिखा है। उन्होंने ऐसे वर्णनों के दो भेद किये। उनके अनुसार इस प्रकार के वर्णनों में यदि स्त्री किसी देवी की कोटि की हो तो उसके नख से आरम्भ करके सिख तक जाना चाहिये किन्तु यदि वह केवल मानुषी ही हो तो इसके विपरीत सिख से आरम्भ कर उसके नख तक आना उचित है। राधा को वे अहिदेव की भी इष्टदेवता समझते हैं। इसी कारण अपनी नखसिख वाली रचनाओं में उनके पदपंकज के वर्णन से आरम्भ कर उनके केशपाश तक पहुँचते हैं। इसके बीच में वे केवल अंग विशेष की ही चर्चा नहीं करते प्रत्युत उस पर धारणा किये गये आभूषणों तथा कभी-कभी उनकी चेष्टाओं का भी चित्रण करते हैं। अपनी इस नखसिख विषयक रचना के अन्त में एक पद में समस्त भूषणों का वर्णन करके प्रत्यंग सौरभ की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और राधा को 'मदनमन्त्र की सिद्धि प्रेम की पद्धति पूरी' ठहराते हुए उसे ब्रजबाधाहरणा भी कहा है।^१

किन्तु केशवदास के अग्रज कहे जाने वाले बलभद्र कवि ने अपनी नखसिख वर्णन वाली रचना का नाम ही 'सिखनख' रखा है और वे अपने कवित्तों में नायिका के केशों से ही वर्णन आरम्भ करते हैं। फिर वे उसकी पाटी, वेणी, माँग तक का वर्णन अलग-अलग करते हैं और तब उसका साँगोपाँग विवरण उपस्थित करते हैं। अन्त में सम्पूर्ण शरीर पर भी दृष्टिपात करते हैं तथा सोरह शृंगार एवं बारह आभरण तथा सुकुमारता एवं स्वभाव तक का वर्णन किये बिना नहीं रहते। बलभद्र कवि उन आचार्यों में गिने जाते हैं जिन्होंने शृंगार रस के विविध अंगों को स्वतन्त्र विषय बना कर लिखने की परिपाटी प्रचलित की थी। अनेक भक्त कवियों ने तो अपने इष्टदेव के किसी अंग विशेष की ही प्रशंसा में स्वतन्त्र प्रयत्न किये, जैसे कि रामचन्द्र पण्डित की 'चरण चन्द्रिका' तथा गोविन्द गिल्ला भाई की 'श्री राधामुख शोडषी' रचनाओं में परिलक्षित होता है।

नागरीदास ने नखसिख का वर्णन नख से सिख तक के क्रम से किया है और फिर अन्यत्र सिख से लेकर नख तक भी इसके विरोध क्रम में रखा है। किन्तु वे भी वस्तुगत सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते। देवदत्त कवि ने नायिका के प्रत्येक अंग का पृथक्-पृथक् वर्णन अधिक रुचि के साथ किया प्रतीत होता है और वे उनकी संख्या की ओर उतना ध्यान नहीं देते। ऐसा प्रतीत होता है कि इस खेव के कवि नखसिख वर्णन की पुरानी पद्धति की ओर आकृष्ट न हो कर क्रमशः उसे भुलाने तक लगे थे। ग्वाल कवि की शृंगार-रचनाओं के लिये यहाँ तक कहा गया है कि उनमें नखसिख का वर्णन का उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नहीं किया गया प्रतीत होता।

तथापि नखशिख वर्णन का उद्दीपक पार्श्व दृष्टि से सर्वथा ओझल भी नहीं हुआ,
वेखें—

नखशिख रूप की भलाभली है सघनाई,
जंघ केल नाभि कूप आवैं दरसन में ।
हाथ में न अचै कटि केहरी दुबोच तहाँ,
उदर-सरोवर अपार है तरन मैं ।
ज्वाल कवि कुच कोक दुगे कर वासन तैं,
नैन ये न मृग भरै चकड़ी चलन में ।
जो पै तुम्हें सोख है गिकार ही सों प्यारेला,
तो पै क्यों न खेलौ तरुनी के तनवन में ॥

प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने में प्राकृतिक वातावरण का ही हाथ रहा करता है। विद्यापति से लेकर इनके पीछे आने वाले मध्य-कालीन कवियों ने भी अपनी शृंगार-रचनाओं में प्राकृतिक दृश्यों एवं घटनाओं का परम्परा-प्रनुसार वर्णन किया है। उनकी ये चर्चा न केवल पूर्वानुगम प्रसंग में ही करते हैं, अग्नि विप्रलम्भ-शृंगारवर्णन में भी उन्हें अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। ऐसे वर्णन नायक-नायिका के विलास-प्रिय जीवन की भाँकी देकर उनके आमोद-प्रमोद का चित्रण बन जाते हैं। वे कवि प्रकृति को स्वतन्त्र वस्तु के रूप में ग्रहण कर उसके रूप का यथान्त्र्य अंकन करना महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। संस्कृत कवियों ने भी सदा ऐसा नहीं किया और वाल्मीकि तथा उनके परवर्ती कालिदास तथा भवभूति जैसे कुछ कवियों को छोड़कर दूसरों ने ऐसा करना कभी उचित नहीं माना था।

विद्यापति में वह पुगनी प्रवृत्ति कुछ अंशों में दृग्गन होगी है और वह सराहनीय भी है। विद्यापति ने अपनी पदावली में षडऋतुओं में से वसन्त एवं पावस के वर्णन की ओर विशेष ध्यान दिया है। बारहमासा भी उन विरह-वर्णन का अंग बनता है। आषाढ़ मास से लेकर यह क्रमशः जेठ तक चलता है। अपभ्रंश कवि विनयचन्द्र सूरी (१२०० ई०) के 'नेमिनाथ चउपईगत' बारहमासा के बाद हिन्दी में सर्वप्रथम बारहमासा का उल्लेख विद्यापति की पदावली में हुआ है। विनयचन्द्र सूरी का बारहमासा श्रावण से आरम्भ होकर आषाढ तक चलता है। विद्यापति ने वसन्त के वर्णन में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की है। ऋतु का चित्रण करते समय वे वस्तुगम सौन्दर्य को भी नहीं भूलते। यह ऋतु उनके लिये भी उभी प्रकार ऋतुराज है जैसे अन्य कवियों के लिये रहता आया है। और उन्होंने कभी-कभी नृपति के रूप में इसे चित्रित भी किया है। जब वे इसे नवल-किशोर नायक श्रीकृष्ण और राधा के बिहार के वातावरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो स्वयं भी उन्मत्त-मे हो उठते हैं। कभी-कभी वसन्त को वे होली की कड़ाओं के साथ भी चित्रित करते हैं किन्तु वहाँ विशेष नवीनता नहीं है। पावस का वर्णन करते समय जहाँ वे त्रिरहिणी नायिका की चिन्ता एवं ईर्ष्या का पता देते हैं वहाँ उनके शब्दों में बहुत कुछ स्वाभाविकता का रंग आ जाता है।

विद्यार्पित के अनन्तर उस प्रकार का चित्रण प्रायः कम ही दिखाई देता है। भक्तिकान के कवियों में से सूफियों ने अधिकतर अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों को ही उच्च स्थान दिया है और सगुणवाधियों ने भी अपनी परम्पराओं का ही पालन किया है। जायसी ने अपनी कल्पना के बल पर विरहताप के कारण सारी सृष्टि को ही दग्ध-सा कर डाला है। एक स्थान पर तो वे यहाँ तक कहते हैं कि मेघों की श्यामना इसी के कारण है, राहु एवं केतु इसी की ज्वाला के प्रभाव में पड़ कर 'काले पड़' गये हैं, चन्द्रमा खण्डित रूगों में दिखाई देता है, पनास के फूल अंगारों-से दहक रहे हैं और सूर्य तक की गर्मी का कारण इसके विरह-ताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रेमवश योगी बने हुए राजा रतनमेध के विरह-पीड़ित हृदय का प्रभाव भी कम नहीं। इनके अतिरिक्त नागमती की आँखों से जो अश्रु-प्रवाह बहा उसमें तो सारी सृष्टि ही सिक्त-सी जान पड़ती है। यह नागमती रानी होती हुई भी विरहावेश में विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं के समान अपना दुखड़ा रोनी फिरती है और इसमें सब प्रभावित भी प्रतीत होते हैं। मानव द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं में अपने मानसिक भावों के इस प्रकार आरोप करने तथा अनुभव करने की यह प्रणाली नई नहीं थी। संस्कृत और फ़ारसी के साहित्यों में इसके उदाहरण पहले से ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। वे इन कवियों के लिये आदर्श बन गये। सूफ़ी कवियों की रचनाओं में रूपक प्रयोग की शैली का अनुमान करके कुछ विचारकों ने उनकी अत्युक्तियों को उतना बुरा नहीं माना है। परन्तु वस्तुस्थिति के स्वाभाविक चित्रण को यथोचित महत्त्व प्रदान करने वाले काव्य-रसिकों को उनका ऐसा कथन करना समीचीन प्रतीत नहीं होता। जायसी की यह प्रवृत्ति अन्य सूफ़ी कवियों तक ही सीमित नहीं रही। सूरदास एवं तुलसीदास जैसे कवियों की रचनाओं में भी यह लक्षण होनी है। दोनों में अन्तर केवल इनका ही है कि सूफ़ी कवियों में जहाँ रूपक-योजना की दुहाई दी जाती है वहाँ सगुणवादी कवियों के विषय में इष्टदेव की लीला की ओर संकेत किया जाता है। फिर भी जायसी और तुलसीदास ने जहाँ सरोवर, पर्वत एवं नदी जैसी प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन किये हैं वहाँ वे कभी-कभी स्वाभाविक चित्रण को प्रस्तुत करने की ओर प्रयत्नशील हैं और ऐसे स्थानों पर वे सफल भी रहे हैं। सूरदास की रचना में ऐसे दृश्य बहुत कम उपलब्ध होते हैं। वैसे उनके मुक्तकों में इन्हें पृथक् से वर्णित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। तुलसीदास के वर्षा-वर्णन जैसे प्रसंगों में प्राकृतिक व्यापारों में मानवीय स्वभाव का आरोप है और उनी के साथ उनकी उपदेशप्रियता लिपटी हुई है।

बिहारीनाथ और मेनापति का नाम प्राकृतिक चित्रण के कुशल चित्तरों में विशेष रूप से उल्लिखित होता है। ये दोनों कवि समसामयिक थे। दोनों की रचनाओं में तत्कालीन वातावरण का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। दोनों ने उस समय प्रचलित परम्परा का अनुसरण किया है, किन्तु प्रतिभा एवं रुचि के अनुसार दोनों के चित्रणों में कुछ विशेषताएँ भी लक्षित होती हैं। प्राकृतिक वस्तुओं, दृश्यों तथा घटनाओं को दोनों ने परम्परानुसार उद्दीपन का ही साधन माना है और उनसे पड़ने वाले प्रभावों की ओर भी विशेष ध्यान दिया है। ऐसे वर्णनों में आलंकारिक भाषा के प्रयोग की ओर इनका झुकाव रहा। दोनों में ही प्रकृति पर मानवीय स्वभाव

के आरोप तथा उसकी मानव के प्रति सुख-दुख में सहानुभूति के उदाहरण मिलते हैं । फिर भी दोनों की रचनाओं में कुछ अन्तर भी है । इस अन्तर का प्रमुख कारण इस तथ्य में ढूँढा जा सकता है कि सेनापति ने जो वर्णन किये हैं उनमें उनके कवित्त छन्द के कारण अधिक विस्तार का अवकाश मिल सका और बिहारीलाल के लघुकाव्य दोहों में स्वभावतः सभी बातें चुनकर संक्षेप में रखी गई । एक दो दृष्टान्त देखें—

सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यो दल ।

निबल अनल गयौ सूर सियराई के.....इत्यादि

—कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग, ४५ कवित्त

यहाँ व्यास शैली का आश्रय लेकर सेनापति ने सीत का प्रभाव न केवल सूर्य, अग्नि एवं पवन पर ही दिखाया है अपितु इसके कारण जनसाधारण की मनोदशा में लक्षित हो सकनेवाले तदनुरूप भावों की भी सुन्दर कल्पना है । इसी प्रकार समास शैली के पण्डित बिहारीलाल ने निम्न दोहे में ग्रीष्म के प्रभाव का बड़े अच्छे ढंग से वर्णन किया है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ ।

जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥

यहाँ बिहारीलाल ने ग्रीष्म ऋतु के कारण समस्त जगत् को तपोवन के रूप में परिवर्तित हुआ-सा बतलाया है । इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने अपने छोटे-से दोहे में सर्प एवं मयूर तथा मृग एवं बाघ जैसे परस्पर विरोधी जीवों के एकत्र हो जाने के दो दृष्टान्त भी दिये हैं ।

मध्यकालीन आचार्य कहे जाने वाले कवियों ने भी अपनी रचनाओं में प्रकृति-चित्रण को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । उनकी उल्लेखनीय विशेषता यही है कि वे पहले ही चली आती हुई परम्परा के पालन में अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सावधान रहे । यहाँ तक कि कभी-कभी ये लोग अपने रीतिग्रन्थों में इस बात के भी स्पष्ट संकेत करते हैं कि अमुक वस्तु के वर्णन में अमुक विषयों पर ध्यान देना आवश्यक है । जैसे केशवदास ने अपनी कविप्रिया में किसी तालाब के वर्णन के सम्बन्ध में निम्न नुस्खा लिखा—

ललित लहर, बग, पुष्प, पशु, सुरभि, समीर, तमाल ।

करभ केलि पंथी प्रकट, जलचर बरनहु ताल ॥

उक्त रचना में उन्होंने स्वयं भी अपने-ऐसे मुभावों के अनुसार काम किया है और विविध वस्तुओं के नाम तक गिना डाले हैं । ऐसा करते समय कभी-कभी ये इस बात पर भी ध्यान नहीं रख सके कि अमुक वस्तु का अमुक स्थान पर पाया जाना सिद्ध भी है अथवा नहीं । सच तो यह है कि केशवदास प्रकृति में रमे नहीं थे और प्राकृतिक वस्तुओं को अत्यन्त स्थूल रूप से दूर से देखते प्रतीत होते हैं । इस बात में ये अपने पूर्ववर्ती विद्यापति के सामने बहुत साधारण कोटि में आ जाते हैं । केशवदास के अनन्तर देवदत्त ने भी अपनी रचनाओं में आचार्यत्व के प्रदर्शन की चेष्टा की है ।

तथापि इनकी रचना में यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं जहाँ इन्होंने अपने वर्णन-कौशल द्वारा दृश्यों के सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। ऐसे अवसरों पर ये प्राकृतिक वस्तुओं को केवल उद्दीपन की सामग्री मानते हुए नहीं प्रतीत होते किन्तु उनके सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुगत सौन्दर्य का भी परिचय देते हैं—

(क) उमड़्यो परतज्योतिमण्डल अखण्ड सुधा
मण्डल मही में इन्दु मण्डल विवर तैं ।

(ख) रंगराती हरी हहराती लता भुकि जाती समीर के झुकनि सों ।
यहाँ उन्होंने क्रमशः शरद ऋतु की चन्द्रिका तथा समीर-आन्दोलित लता के सुन्दर चित्रों का अंकन किया ।

मध्यकाल के अन्त में होनेवाले ग्वाल कवि ने जहाँ अपने आचार्यत्व के प्रदर्शन की चेष्टा की वहाँ ऋतुवर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने पहले प्रत्येक ऋतु का लक्षण दिया है और तब उद्दीपन एवं आलम्बन विभावों की दृष्टि से उसके वर्णन का प्रयत्न किया है।

स्पष्ट है कि मध्यकालीन हिन्दी रचनाओं में शृंगार-प्रवृत्तियों का विवेचन एवं वर्णन सदा एक ही प्रकार का रहा नहीं प्रतीत होता। कवियों की मनोवृत्ति, उनकी शिक्षा, संस्कार, वातावरण आदि अनेक विशेषताओं के आधार पर निर्मित रहा करती थी जिनके परिणाम अनिवार्यतः उनकी रचनाओं में लक्षित होते थे। वे अपनी कविताओं में उनका प्रदर्शन स्वभावतः कर जाते थे और उनके वर्ग के कवियों में से कदाचित् ही कोई इस नियम के विरुद्ध जा पाता था। फलतः विद्यापति से लेकर ग्वाल कवि तक की रचनाओं में इस बात के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। विद्यापति, केशवदास एवं ग्वाल तीनों ही शृंगारी कवि थे और तीनों का ही किसी न किसी दरबार के साथ सम्बन्ध रहा। किन्तु इन तीनों के आविर्भाव कालों में परस्पर अन्तर था। विद्यापति विक्रम संवत् की पंद्रहवीं शताब्दी के एक मैथिल राज-दरबार के कवि थे और उनके समय तक वहाँ मुस्लिम प्रभाव भी अधिक नहीं था। इस कारण उनकी रचनाओं में हमें पौराणिक संस्कृति का परिचय कुछ विशेष मात्रा में मिलता है। इसके विपरीत केशवदास उसी विक्रमी संवत् की १७वीं शती के मुगलकालीन बुन्देलखण्ड के दरबारी कवि थे जिनके समय तक वैभव-विलास में बहुत परिवर्तन हो चुका था। इसलिए इनकी रचनाओं में हमें विद्यापतिकालीन विशेषताओं का वैसी मात्रा में ढूँढ़ना उचित नहीं। विक्रम संवत् की १९वीं शती के रामपुरवाले नवाब के दरबारी कवि ग्वाल के समय तक तो उक्त परिवर्तन में और भी अधिक विकास हो गया था। विद्यापति के समय में शृंगारिक नग्नता केवल इस कारण ही चित्रित की जा सकती थी कि उस काल के कवि अपनी साहित्यिक परम्परा का पालन करते थे। किन्तु ग्वाल के समय तक वह दैनिक जीवन में भी उतर चुकी थी। भक्तिकाल में शृंगारिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक मोड़ देने का साहित्यिक प्रयास अवश्य किया गया किन्तु उसमें पूरी एवं स्थायी सफलता नहीं मिल सकी। तब भी सूफी एवं सगुणवादी कवियों के क्षेत्र ऐसे थे जहाँ होकर चलते समय अपने को आस-पास के

वातावरण से अछूता बचा ले जाना सरल नहीं था और इस बात के उदाहरण हमें यदा-कदा उन रचनाओं में मिल जाते हैं जो कृष्ण-भक्तों एवं प्रेमगाथा के सूफी कवियों द्वारा प्रस्तुत की गई। केवल रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास एवं निगुणिया सन्त ही ऐसे थे जिन्होंने या तो सर्वथा मर्यादा का आश्रय ग्रहण किया अथवा इस और अधिक प्रयत्न ही नहीं किया।

शृंगार और भक्ति—मध्ययुगीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ और विद्यापति

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (देखें मैथिली क्रैस्टोमैथी पृ० ३६), जनार्दन मिश्र (देखें, विद्यापति पृ० ४७) और श्री कुमारस्वामी (देखें, सौगस ऑफ़ विद्यापति) जैसे विद्वान विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रेमवर्णन को रहस्यवादी बतलाते हैं जबकि श्री विनयकुमार सरकार (देखें, लव इन हिन्दू लिटरेचर, पृ० २०-२१), श्री रामकुमार वर्मा (देखें हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५०६) जैसे अन्य अनेक लोग विद्यापति को नितान्त शृंगारिक या कहिए कि शत-प्रतिशत शृंगारी कहते हैं। श्री जनार्दन मिश्र ने विद्यापति के रहस्यवादी होने का एक कारण यह बताया है कि उस समय रहस्यवादी धारा की प्रधानता थी। विद्यापति इससे बच न सके और उसमें वह बह गये। वहाँ रहस्यवादी धारा से उनका तात्पर्य क्या है यह स्पष्ट नहीं हो सका परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों का अध्येता उनके संकेत को भली-भाँति समझ सकता है। रहस्यवादी साहित्य जो विद्यापति के समय में था, उनके पूर्व लिखा जा रहा था वह या तो सिद्ध-साहित्य था या परवर्ती सूफी साहित्य। सिद्ध-साहित्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप में तो नहीं दिखाई पड़ती तथापि सिद्ध-साहित्य के अन्तर्गत रहस्य प्रवृत्ति का एक रूप अवश्य है। वस्तुतः सिद्धों का रहस्यवाद आधुनिक रहस्यवाद से कुछ भिन्न है। भिन्न इस अर्थ में कि आधुनिक रहस्यवाद न तो दार्शनिक शब्दों या साम्प्रदायिक नियमों से आक्रान्त है और ना ही इसमें पुराने मध्यकालीन रहस्यवादी सिद्धों की तरह गुह्य साधना का घटाटोप है। फिर भी पुराने सिद्धों की रहस्यवादी भावना पर विचार करने पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि विद्यापति पर इनका प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है।^१

डा० सुभद्र झा ने अपने ग्रन्थ 'सौगस ऑफ़ विद्यापति' में ग्रियर्सन आदि विद्वानों का विरोध करते हुए लिखा है कि भारतीय प्रतीकवादी रहस्यवादी कवियों की कविताओं में जैसे जायसी और कबीर के काव्य में जीवात्मा को परमात्मा से मिलने लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। परमात्मा स्वतः परिपूर्ण सत्ता होने के कारण निरपेक्ष है और वह न तो जीवात्मा से मिलने के लिए इच्छुक होता है और न कोई इस अभिलाषा से आह्वान ही करता है। कबीर का साँई या जायसी की पञ्चावती जो ब्रह्म के प्रतीक हैं बहुरिया या रतनसेन के लिए आकांक्षा व्यक्त नहीं करते।^२ इन पंक्तियों के लेखक को विद्यापति के सेहरे पर रहस्यवादी का बिल्ला लगाना अभीष्ट नहीं परन्तु ग्रियर्सन आदि की स्थापना के विरोध में झा साहब का मत बहुत सबल

१. डा० शिवप्रसाद सिंह कृत 'विद्यापति', पृ० ६८

२. डा० सुभद्र झा कृत 'सौगस ऑफ़ विद्यापति', पृ० १८३

नहीं जँचता। वैसे यदि प्रतीक की दृष्टि से ही कथा के व्यापक प्रसंगों का व्यौरेवार अर्थ बिठलाया जाने लगे तो पता लगे कि कबीर का साँई भी अनेक बार कबीर पर रंग डालता है—‘सतगुरु हो महाराज साँईयो पर रंग डारा’। राजा राम भरतार कबीर के घर आते हैं और वह सखियों से मंगल गान गाने की प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार जायसी की पद्मावती रतनसेन के कैद हो जाने पर छुड़ाने के लिए न केवल प्रयत्न करती है अपितु उसकी मृत्यु के उपरान्त चिता में जलकर अपने शरीर को क्षार कर देती है। इसलिये राधा और कृष्ण के उभयपक्षी सक्रिय प्रेम को डा० भा० के तर्क के आधार पर अरहस्यवादी सिद्ध करना कठिन है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निगुण सन्तों के विषय में लिखते हुए लिखा है कि भक्त का भगवान के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान या ईश्वर कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है।^१ अतः विद्यापति के कृष्ण यदि राधा के रूप से आकृष्ट हैं या उससे प्रेम का प्रतिदान देते हैं तो इससे उनके सर्वशक्तिमान ईश्वर रूप में कोई त्रुटि नहीं आती। विद्यापति में रहस्यवाद विशेषकर सिद्धों और सूफियों जैसा नहीं दिखाई देता; क्योंकि सिद्धों और सूफियों ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया वे विद्यापति में नहीं पाये जाते। विद्यापति में न तो सिद्धों की सहज समाधि है न षट्चक्र, न कुण्डलिनी, न हठयोग और न मन के भीतर ही साधना द्वारा आत्मलय प्रक्रिया द्रुतगति होती है। विद्यापति पर सूफी रहस्यवाद के प्रभाव की बात उठाना भी व्यर्थ है। उस समय सूफी धर्म का प्रचार शुरू हो गया था इसमें सन्देह नहीं परन्तु मिथिला की ओर १४वीं शती में इससे प्रचार का संकेत प्राप्त नहीं होता। ऐसे कुछ संकेत यदि कहीं उपलब्ध भी हों तो भी विद्यापति जैसे ब्राह्मण के संस्कारी चित्त में इस विदेशी पद्धति का प्रभाव पड़ना संभव नहीं लगता। विद्यापति के रहस्यभाव को हमने अन्यत्र इन साम्प्रदायिक रहस्यवादितार्थों से परे काव्यात्मक रहस्यवाद के रूप में स्वीकार किया है।

विद्यापति रचित राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों में रहस्यवादिता की सुगन्ध खोजनेवाले लोगों की खिल्ली उड़ाते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि आध्यात्मिक रंग के चरमे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत-गोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्ण-भक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं जहाँ वृन्दावन, यमुना, निकुंज, कदम्ब, सखा, गोपिकाएँ आदि सब नित्य रूप में हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने लीलाओं को नित्य माना और यह भी

स्वीकार किया कि इनका कीर्तन कृष्ण-भक्ति के प्रसंग में चलता है। परन्तु विद्यापति के पदों में वे भक्ति के तत्व का समावेश स्वीकार करना नहीं चाहते। सूरदास आदि भक्तों के श्रृंगारी-पद लीला-कीर्तन होने के कारण यदि भक्ति के अन्तर्गत परिगणित हो सकते हैं तो भला विद्यापति के श्रृंगारी पदों का क्या कसूर? इसका उत्तर देते हुए शुक्ल जी ने कहा कि विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना श्रृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिये। यहाँ विद्यापति शैव थे इसलिए कृष्ण-भक्ति के पद नहीं लिख सकते और इसीलिए उनके पदों को श्रृंगार के पद मानना चाहिये कृष्ण-भक्ति के नहीं, यह बहुत अच्छा तर्क प्रतीत नहीं होता।^१

स्वर्गीय शिवनन्दन ठाकुर और कई अन्य विद्वानों ने यह माना कि विद्यापति शैव थे। अपने ग्रन्थ महाकवि विद्यापति में विद्यापति के शैव होने विषयक अनेक प्रमाण देते हुए अन्त में श्री शिवनन्दन ठाकुर ने तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का सारांश देते हुए लिखा “विद्यापति के समय में मिथिला में तान्त्रिक उपासना की प्रबलता थी। विद्यापति के ऊपर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सम्भव है तब तक विद्यापति अपनी उपासना का रूप स्थिर नहीं कर पाये थे। तब वे शक्ति के उपासक थे और ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी शक्ति की उपासना करवाते थे। उस समय भारत में विशिष्टाद्वैत मत का स्पष्ट प्रचार हो रहा था। उसके अनुसार विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण आदि युगल मूर्ति की उपासना की धारा बह चली थी। विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और शिवजी को अपना इष्टदेव, तब शाक्त और विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावित होने के कारण शिवजी को अपना इष्टदेव न रखकर युगल मूर्ति गौरीशंकर को अपना इष्टदेव बनाया।

“लोढ़व कुसुम तोड़व बेल पात । पूजव सदाशिव गौरी क सात” ॥

निस्सन्देह विद्यापति ने गौरी-शिव विषयक अनेक स्तुति पद लिखे हैं। इनमें कुछ पद केवल शंकर स्तुति विषयक हैं और कुछ अर्धनारीश्वर-रूप में शंकर-गौरी दोनों के हैं। कुछ पद उमाशंकर के विवाह-प्रसंग में हैं। ऐसे पदों में कवि ने शंकर में ईश्वरत्व बुद्धि के साथ ही साथ जनसामान्य की वैवाहिक रीति-पद्धति का भी समावेश किया है। इन पदों में तात्कालिक मिथिला के विवाहोत्सवों में होनेवाले हास-विनोद आदि के चित्र उभरे हैं। विवाह-प्रसंगों में शंकर-पार्वती के विवाह-गीत आज भी पूर्वी प्रदेश में गाये जाते हैं। ऐसे समय पर वरपक्ष की कुरूपता और दरिद्रता का झूठा बखान करके एक विशिष्ट प्रकार के विनोद की परिपाटी चलती है। विनोद में कन्या के सौभाग्य का भी वर्णन रहता है। इस प्रकार के मांगलिक गीतों का खूब प्रचार रहा है। विद्यापति के निम्न पद्य में कन्या के भविष्य जीवन के विषय में माँ की चिन्ता, ईश्वर का फटेहाल दूल्हा बनकर आना, नारद ऋषि की दुरवस्था और व्यंगविनोद के अन्तराल में पार्वती के समस्त मंगल सौभाग्य की सविच्छा कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है :—

हम नहि आजु रहब य आँगन

जो बुढ़ होइत जमाई गे माई, इत्यादि

—मित्र-मजूमदार कृत 'विद्यापति', पद १०४, पृ० ५७२

श्री शिवनन्दन ठाकुर के कथन में एक तथ्य है जो विद्यापति के काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायक होता है और वह यह है कि उस समय मिथिला में विशिष्टाद्वैत मत का प्राबल्य था। शिवनन्दन ठाकुर विद्यापति को शैव मानते हैं इसीलिये उनके राधा-कृष्ण के प्रेम को सामान्य शृंगार-काव्य की कोटि में ही रखना चाहते हैं। उनका कथन है कि मिथिला में ईश्वर की पूजा पति के रूप में कभी नहीं होती थी।^१ डा० सुभद्र भा ने यह स्वीकार करते हुए कि गौरी-शंकर के विवाह विषयक गीत मिथिला में विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं, 'शिवनन्दन ठाकुर' के 'मिथिला में ईश्वर की पूजा पति के रूप में कभी नहीं होती थी' इस कथन को गलत बताया और विष्णुपुरी की कविताओं का उद्धरण देकर लिखा है कि मिथिला में प्रेमभक्ति की कविताएँ लिखी गई थीं।^२

यहाँ श्री शिवनन्दन ठाकुर और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के तर्क सामान्यतया विचारणीय हैं। क्या विद्यापति क्योंकि शैव थे अतएव वह राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति का काव्य नहीं लिख सकते थे? समझने की बात यहाँ यह है कि शैव-वैष्णव-वैमनस्य जैसा उग्रवाद में हुआ वैसा विद्यापति के समय में नहीं था। खजुराहो के एक शिलालेख (जो कि सन् १००० ई० के आस-पास का है) में भगवान् शिव को ऐकेश्वर कहा गया है। वायुपुराण और विष्णुपुराण ग्रन्थों में भी शिव और विष्णु का तादात्म्यरूपण उल्लेख हुआ है, देखें—

'क' प्रकाश चाप्रकाशं च जंगमं च यत् ।

विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम् ॥ —वायुपुराण २५।२०

'ख' शंकरो भगवान् शौरिभूति गौरी द्विजोत्तम ।

नमो नमो विशेषस्त्वं ब्रह्मा त्वं हि पिनाकधृक् ॥—विष्णुपुराण १।८।२१

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे अतः वैष्णव भक्त नहीं हो सकते वे उस काल की मनःस्थिति को नहीं जानते। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वाल नरेश अपने को माहेश्वर कहते थे पर वे लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे।^३ विद्यापति के निम्न पद में न केवल शिव और विष्णु के तादात्म्य का अथितु विष्णुलीलाओं में प्रमुख गोकुल में गाय चराना, गोविन्द के रूप में दधि का महादान वर्णित है—

१. शिवनन्दन ठाकुर कृत 'महाकवि विद्यापति', पृ० १६४

२. डा० सुभद्र भा कृत 'सौंगस ऑफ विद्यापति', पृ० १८४-१८५

३. हजारी प्रसाद कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३६

भल हर भल हरि भल तुअ कला ।

खन पित वसन खनहि बघछला ॥.....'इत्यादि

—मित्र-मजूमदार कृत 'विद्यापति', पद ७७३, पृ० ५०५

महाकवि तुलसीदास ने हरि-हर के इस समवेत रूप को ही अपनाकर विशद भूमिका के साथ प्रस्तुत किया—

रुबिर हरि शंकरी नाम मंत्रावली इन्द्र दुख हानि आनन्द खानी ।

विष्णु शिव लोक सोपान सम सर्वदा वदति तुलसीदास विसद बानी ॥

विद्यापति ने शिव-विष्णु की स्तुति के साथ शक्ति या दुर्गावन्दना के पद भी लिखे। शक्ति का रूप सदा से भारतीय कवि को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। शक्ति के भी विविध रूप हैं। राधा स्वयं परमेश्वर की आह्लादिनी शक्ति कही गई है। पुराणों में अनेक स्थलों पर प्रकृति को विष्णु-माया कहा है। शक्ति की व्यापकता और सार्वभौमता अक्षुण्ण है। राधा-तत्त्व कई दृष्टियों से काश्मीरी शैवदर्शन में व्याख्यात शक्ति-तत्त्व से साम्य रखता है। पुराणों में वर्णित वैष्णव शक्ति-तत्त्व और शैवागमों में वर्णित शक्ति-तत्त्व में रूप का अन्तर नहीं, नाम का अन्तर ही अधिक है। विद्यापति के निम्न पद में शक्ति के उस सार्वभौम रूप की स्तुति ही गायी गई है।

विदिता देवी विदिता हे अवरिल केस सोहन्ती.....'इत्यादि

—मित्र-मजूमदार कृत 'विद्यापति', पद १, पृ० १

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि विद्यापति की शक्ति-वन्दना में मध्यकालीन तान्त्रिक साधना का प्रभाव है तथापि इसे सामान्यतया हिन्दी कवि-हृदय का दुर्गा के प्रति भक्ति-निवेदन ही समझना चाहिये। सच बात तो यह है कि विद्यापति के समय में मिथिला में क्या समस्त उत्तर भारत में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों प्रकार के मतों का पर्याप्त प्रचार हो गया था। विद्यापति ने सब देवी-देवताओं की वन्दना की। उन्होंने राधा की वन्दना में भी पद लिखे। निम्न पद में देखें राधा जगत्-धातृ के आसन पर विराजमान है। उसकी रूप-आभा के सम्मुख जगत् का सौन्दर्य विरस है। कामदेव को भी स्वरूप से विजित करने वाले कृष्ण इस सौन्दर्य को देखकर संज्ञाहीन हो जाते हैं। सहस्र लक्ष्मी राधा के चरणों पर न्यौछावर हैं। राधा का यह रूप देवी-सूक्त जैसा है जिसके सामने देवी-देवता निर्बल एवं निष्प्रभ जान पड़ते हैं—

देखि देखि राधा रूप अपार

अपरूप केहि विधि आन मिलाओलि खिति तल लावनी सार.....'इत्यादि

विद्यापति के परवर्ती ब्रजबुलि-कवि-शिरोमणि गोविन्ददास ने लिखा है कि विद्यापति का काव्य कितना गौरवपूर्ण है! गोविन्द-गौरि के, कृष्ण-राधा के प्रेम पर लिखे हुए जिनके गीतों ने संसार का हृदय जीत लिया है। चैतन्यानुयायी-गौड़ीय-वैष्णवों का तो यहाँ तक कहना है कि विद्यापति का जन्म ही इसीलिये हुआ था कि वह चैतन्य महाप्रभु के अवतार से पूर्व इस भू पर आकर राधा-कृष्ण की प्रेम-भक्ति के गान लिखें जिन्हें महाप्रभु कीर्तन में गावेंगे।

आज हमारे मन में शृंगार और भक्ति के विषय में कुछ धारणाएँ बढमूल करादी गई हैं। वस्तुतः शृंगार भक्ति का विरोधी नहीं है। विद्यापति के काव्य में ऐसा उत्तान-शृंगार क्यों है? यह समझने के लिए विद्यापति जहाँ है उसकी पृष्ठभूमि कैसी रही यह देखना होगा। उस भूमि पर पहुँचने पर पता चलेगा कि नख-शिख-वर्णन-मात्र शृंगारिक कवियों ने नहीं प्रस्तुत किये हैं। उन भ्रान्त बढमूल धारणाओं में से एक यह भी है कि भक्ति के सगुण और निर्गुण मतवाद परस्पर विरोधी चीजें हैं। इस प्रकार के विचारक सगुण काव्य को भारतीय परम्परा से सम्बद्ध मानते हैं और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार सगुण भक्ति काव्य को छठी शती में उत्पन्न मानना पड़ता है और सूरदास तथा अन्य वैष्णव कवियों के लिए बारहवीं शती के जयदेव और चौदहवीं शती के विद्यापति एकमात्र प्रेरणा-केन्द्र बच जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खास तौर से ब्रजभाषा प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।^१ डा० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि सोलहवीं शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था किन्तु वह सब का सब या तो संस्कृत में है जैसे जयदेव कृत गीत-गोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में जैसे मैथिल कोकिल कृत 'पदावली'। ब्रजभाषा में लिखी हुई सोलहवीं शताब्दी से पहले की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। डा० शिवप्रसाद सिंह ने 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' शीर्षक से शोध-प्रबन्ध लिखा है जिसमें सूर-दास से पूर्वकालीन कृष्ण-साहित्य पर विस्तार से विचार किया गया है।

वस्तुतः उन बढमूल धारणाओं के निराकरण के लिए और भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि को सही रूप में हृदयंगम करने के उद्देश्य से हमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की धाराओं में निमज्जन करना चाहिये। भागवत पुराण कृष्ण-काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। अन्य भी अनेक पुराणों में कृष्ण के जीवन व उनके अनौकिक कृत्यों का उल्लेख है। ईस्वी सन् के पहले से ही भगवान् वासुदेव कृष्ण अथवा परम देव के रूप में पूजित होने लगे थे। लौकिक संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थलों पर कृष्ण की अवतार के रूप में अभ्यर्थना हुई है। भागवत के अतिरिक्त हरिवंश पुराण, नारद पंचरात्र आदि धर्म-ग्रन्थों में भी कृष्णलीला-वर्णन मिलता है। संस्कृत नाटककार कवि भास कृत नाटकों में (जो कुछ विद्वानों के अनुसार ईसा के जन्म से पूर्व लिखे गए थे) से अनेक में कृष्ण-जीवन नाट्य वस्तु के रूप में प्रस्तुत हुआ है। संस्कृत महाकाव्य-त्रयी में परिगणित माघ कवि कृत 'शिशुपाल वध' में कृष्ण-जीवन और कार्यों का विवरण है। संस्कृत गीतकार जयदेव कृत गीत-गोविन्द तो कृष्ण-भक्ति का अनुपम काव्य-ग्रन्थ कहलाता है।

शौरसेनी अपभ्रंश काव्यों में भी कृष्ण कथा है। डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है कि अपभ्रंश में कृष्ण सम्बन्धी जो कुछ भी साहित्य अवशिष्ट है और जिसका सन्धान हो सकता है वह ब्रजभाषा के सगुण कृष्ण-भक्ति आन्दोलन को समझने में बहुत सहायक हो सकता है। इनमें सर्वाधिक महत्त्व की रचना पुष्पदन्त कवि का 'महापुराण' है,

जिसमें कृष्ण-जीवन का विशद चित्रण किया गया है। इसमें कृष्ण-भक्ति के निश्चित रूप का पता नहीं चलता। कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित घटनायें निस्सन्देह भागवत या हरिवंश पुराण के आधार पर ली गई हैं। गोपियों के साथ कृष्ण का विहार उत्तर पुराण (पृ० ६४-६५) पूतना-लीला, उत्तर पुराण (पृ० ६) ओखल-बन्धन, गोवर्धन-धारण, उत्तर पुराण (पृ० १६) कालिय-दमन, आदि की घटनायें भागवत की कथा से पूर्ण साम्य रखती हैं। पुष्पदन्त ने कृष्ण के लिए जिन सम्बोधनों का प्रयोग किया है उनमें गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि शब्द आते हैं। रास के वर्णन में पुष्पदन्त ने गोपियों की उत्सुकता, प्रेम, विह्वलता, और असामान्य व्यवहारों का वैसा ही जिक्र किया है जैसा भागवत में है अथवा परवर्ती विद्यापति या सूरदास आदि में। देखिये पुष्पदन्त के धूलि धूसरित कृष्ण गोपियों को किस कौशल से क्रीड़ा-रसाभिभूत कर देते हैं—

धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा ।

कीलारस वसेण गोवालय गोवी हियय हारिणा ॥ इत्यादि

—पुष्पदन्त कृत 'महापुराण', उत्तर भाग, पृ० ६४

यहाँ उन गोपियों में से कोई आधी बिलोई दही को वैसी ही छोड़कर भागी, किसी की मथानी दूट गई। किसी ने कहा कि तुमने हमारी मथानी तोड़ दी इसका दाम चुकाओ एक आलिंगन देकर। वहीं खेल-खेल में किसी की पांडुर चोली कृष्ण की कृष्ण छाया से कृष्णाभा को धारण करती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १०वीं शती के जैन कवि के लिए भी कृष्ण का रास वर्णन कम आकर्षक नहीं था। यह स्मरणीय है कि जैन कवि पुष्पदन्त का आविर्भाव गीत-गोविन्दकार जयदेव से दो सौ वर्ष पूर्व हुआ। इनके बाद भी अनेक जैन कवियों ने कृष्ण-कथा लिखी परन्तु उसमें कृष्ण महाप्राणवान् पुरुष के रूप में ही चित्रित हुए भगवान् नहीं बने। बल्कि 'प्रद्युम्न चरित' जैसे काव्यों में तो यत्र-तत्र कृष्ण की दुर्गति भी चित्रित है। बारहवीं शती के हेमचन्द्र संकलित अपभ्रंश-दोहों में दो ऐसे हैं जिनका कृष्ण-कथा से सम्बन्ध है। एक में तो स्पष्टतः कृष्ण-राधा के प्रेम की चर्चा है। डा० शिवप्रसाद सिंह का खयाल है कि ये दोहे एतत्सम्बन्धी किसी पूर्ण काव्य-ग्रन्थ के अंश हैं। वे दोहे प्रस्तुत करते हैं—

एक—

हरि नच्चविउ पंगणइ विमडू पाडिउ लोउ ।

एम्बहि राह पओहरहं जं भावइ तं होउ ॥

राधा-कृष्ण प्रेम का संकेत देनेवाले इस पद में किसी हास्य प्रगल्भा सखी की राधा के प्रति उक्ति है कि हरि को प्रांगण में नचाने तथा लोगों को विस्मय में डाल देनेवाले राधा के पयोधरों को जो भावे सो हो।

दो—

मइ भणियउ बलिराय तुहुं केइउ मगण एहु ।

जेहु तेहु न वि होइ बड़ सइ नारायण एहु ॥

भक्ति-क्षेत्र में दूर तक का व्याख्यान करनेवाले मूलभाव तो यहाँ नहीं है। तथापि नारायण और बलि की कथा-सूत्र से बुने हुए इस दोहे में स्तुति की भलक अवश्य है। मेरु-गाचार्य कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में भी एक दोहा ऐसा है जहाँ राजा बलि की कथा को लेकर अन्योक्ति की गई है—

अम्मीहीउ संदेडउ तारय कन्ह कहिज्ज ।

जगु दालिहिहि डुब्बिउं बलिबन्धणह मुइज्ज ॥

—प्रो० जिनविजयमुनि द्वारा सम्पादित 'प्रबन्ध चिन्तामणि' शान्ति निकेतन,

सन् १९३३, पद ७, पृ० ८

यहाँ अन्योक्तिकार का कथन है कि मेरा सन्देश उस तारक कृष्ण से कहना कि यह जगत् दारिद्र्य में डूबा जा रहा है अब तो बलि को बन्धन-मुक्त कर दीजिए। इस दोहे में आया हुआ तारक शब्द महत्व का है। यहाँ तारक अथवा उद्धारक विशेषण से कृष्ण के प्रति परमात्म-भाव-सम्बन्ध द्योतित होता है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि पर विहार करनेवाले पावेंगे कि चौदहवीं शती के आस-पास पिंगल ब्रजभाषा में इसका रूप अस्तित्व में आने लगा था। 'प्राकृत पैगलम्' का रचना काल चौदहवीं शती के आस-पास माना जाता है। यह एक ऐसा संकलन ग्रन्थ है जिसमें चौदहवीं शती तक के पिंगल-ब्रजभाषा-काव्यों में से छन्दों के उदाहरण छाँटकर रखे गए। इसमें कृष्ण-भक्ति सम्बन्धित अनेक पद्य हैं। कृष्ण के अतिरिक्त शंकर, विष्णु आदि की स्तुतिपरक रचनाएँ भी मिलती हैं। एक पद में दशावतार का वर्णन भी है। इन पद्यों का विश्लेषण करनेवाले को भक्ति-सम्बद्ध अनेक बहुमूल्य तथ्य हाथ लगेंगे। प्रेम-भक्ति का इसमें मधुर एवं मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुति विषयक पद्यों में आत्म-निवेदन और प्रणति दर्शनीय है। अब शिव और नारायण, राम-कृष्ण की स्तुति विषयक रचना प्रस्तुत करते हैं—

शिव स्तुति—

जसुकर फणिवइ वलअ तरुणिवर तगुमंह विलसइ ।

मअण अणल गल गरल विमल ससहर सिर शिवसइ ॥

सुरसरि सिरमह रहइ सअलजण दुरित दमण कर ।

हसि ससिहर हरउ दुरित वितरह अतुल अभअवर ॥^१

इन अपभ्रंश रचनाओं के शिव, कृष्ण या राम की स्तुति परमात्मा के रूप में हुई है। वे दीनों पर कृपा करनेवाले अभयदाता इष्टदेव हैं यहाँ। ध्यान दें यहाँ कृष्ण सम्बन्धी वे रचनाएँ विशेष महत्त्व की हैं जिनमें कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे स्थलों में कवि ने बड़ी कुशलता से लौकिक प्रेम का समग्र रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमें विनमय सत्ता का आरोप किया है।

निम्न पद्य में नदी पार करते समय कृष्ण अपने चापल्यवश नाव को तनिक

१. चन्द्रमोहन घोष सम्पादित 'प्राकृत पैगलम्' पद १११, पृ० १६० और पद १६५

१३८, २०१, पृ०, ३१३, ४५८, ५५८

डुलाकर गोपी को भयभीत करना चाहते हैं। कृष्ण के ऐसे कृत्यों के पीछे छिपे कोमल भाव को पहचाननेवाली भय का बहाना करती हुई एक प्रेम-विह्वला गोपी सुनिये क्या कहती है—

अरे रे बाहहि काण्ह राग छोड़ि डगमग कुगति रा देहि ।

तइ इतिथ राइहि संतार देइ जो चाहहि सो लेहि ॥^१

चौदहवीं शती में संगृहीत 'प्राकृत पैगलम्' ग्रन्थ में नारायण^२ और जनार्दन^३ नामों के साथ ही स्थान-स्थान पर कृष्ण-भक्ति की झलक इन पदों में मिलती है—

जिणि कंस बिणासिअ किति पञ्चासिअ मुट्ठि अरिट्ठि बिणास करे
गिरि हृत्य धरे ।^४इत्यादि

इस पद्य में कवि ने कृष्ण को नारायण के रूप में स्मरण करते हुए भी उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें भक्ति के तत्व दिखाई पड़ते हैं। मधुर भाव की भक्ति का यह संकेत ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। डा० शशि-भूषण दास गुप्ता ने अपने महा प्रबन्ध में स्वीकार किया है कि संस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल देशभाषा में राधा-कृष्ण की प्रेम सम्बन्धी वैष्णव-पदावली १५वीं सदी के मैथिल कवि विद्यापति और बंगला के कवि चण्डीदास की रचनाओं में पाते हैं।^५ उपर्युक्त पद्य में नारायण के रूप में कृष्ण को परम देव या कहना चाहिये कि परमात्म बुद्धि से स्मरण किया गया है। ध्यान रहे कि ऐसे परमात्मा का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन ("राहा मुह मट्ट पान करे जिमि भमरवरे") इस बात का स्फुट संकेत है कि चौदहवीं शती के पूर्व अर्थात् विद्यापति-चण्डीदास आदि के पूर्व ही देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था। कृष्ण-स्तुति विषयक निम्न एक दो पद्यों के साथ उसी ग्रन्थ में एक पद्य ऐसा मिलता है जिसमें हर-हरि की समवेत स्तुति की गई है :—

जमइ जमइ हर बलइअ बिसहर

तिलइअ सुन्दर चंदं मुणिआणंदं जगकंदं ।इत्यादि

—चन्द्रमोहन घोष सम्पादित 'प्राकृत पैगलम्' पद २१५, पृ० ५८६

इसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार दिया गया है—'जयति जयति हरः वलयितविष-
धरस्तिलकितसुन्दर चन्द्रः मुन्यानन्दः जनकन्दः वृषभगमनकरः त्रिशूलडमरूधरः
नयनदग्धानंग, शिरोगंगः गौर्यर्द्धांगः । जयति जयति हरिर्भुजयुगधृतगिरिर्दशमुख-

१. चन्द्रमोहन घोष सम्पादित 'प्राकृत पैगलम्', पद ६ पृ० १२

२. वही ग्रन्थ, पद २०७ पृ० ५७०

३. वही ग्रन्थ, पद ७५, पृ० ३८५

४. वही ग्रन्थ, पद २०७ पृ० ३३४

५. डा० शशिभूषणदास गुप्त कृत 'राधा का क्रमिक विकास' हिन्दी संस्करण काशी
सन् १९५६ ई०, पृ० २७६-२७७

कंसविनाशः पीतवासाः सागरवासः बलिच्छलकः महीधरः असुरविलयकरः मुनिजनमा-
नसहस्रः शुभवासाः उत्तमवंशः ।

—चन्द्रमोहन घोष सम्पादित 'प्राकृत पैगलम्' पद २१५, पृ० ५५७

यह ठीक है कि इस पद्य में मूलतः एक परन्तु प्रतिक्षण दोनों ही रूपों का
प्रत्यक्ष करानेवाली—

भल हर भल हरि भल तुअ कला, खन पित वसन खनहि बघछला ।

खन पंचानन खन भुज चारि, खन संकर खन देव मुरारि ॥०

—मित्र-मजूमदार कृत 'विद्यापति', पद ७७३, पृ० ५०५

सर्वथा विद्यापति जैसी विपरीत अद्भुत बानी नहीं उच्चरित हुई तथापि 'जयति
जयति हरः' और 'जयति जयति हरिः' लिखनेवाले कवि-भक्त हृदय में दोनों के प्रति
समान आदर भावना थी इसे कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता ।

शैव और वैष्णव मतों में समन्वय का प्रयत्न बंगाल के सेनवंशीय राजाओं के
काल में ही आरम्भ हो गया था । इस वंश के प्रसिद्ध सम्राट् विजयसेन ने प्रद्युम्नेश्वर
का मन्दिर बनवाया था जिसके एक शिला-लेख में शंकर और विष्णु की समवेत मूर्ति
की उपासना यों अंकित है—

लक्ष्मी वल्लभ शैलजादयितयोरद्वैतलीला गृहं

प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे ॥

तो हमें कहना यह है कि जो लोग विद्यापति के शैव अथवा वैष्णव विषयक विवाद
में उलझकर रह जाते हैं उन्हें इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अवश्य अवलोकन करना
चाहिये ।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने युग की नाड़ी परखते हुए ठीक ही लिखा है कि
समूचा उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त्त था, शिव के प्रति उसकी अग्रगण्य भक्ति बनी
हुई थी किन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह
उतना ही महत्वपूर्ण देवता मानता था । शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भवित के आश्रय ।^१

इसके बाद कृष्ण-भक्ति काव्य का अगला विकास-चरण संत कवियों की
रचनाओं में चिन्हित है । एक विचित्र बात यह है कि संत कवि प्रायः निर्गुण मत के
माने जाते हैं इसलिए उनकी सगुणभाव-युक्त कविताओं को भी निर्गुण की चादर में
लपेट कर ही हम रखना चाहते हैं । जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी सहज
अभिव्यक्ति-युक्त कविताओं के भीतर रहस्यभाव ढूँढ़ने लगते हैं । यह काम सगुण और
निर्गुण को भिन्न धाराएँ मानकर किया जाता है । वस्तुतः ये दोनों प्रकार की साध-
नाएँ मूलतः एक ही हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने लिखा है कि जहाँ तक ब्रह्म
हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त
कहते हैं पर यहीं तक इसकी इयत्ता नहीं है । उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है ।
इसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का
आश्रय लेते हैं । ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मत वालों का भी ध्येय है किन्तु

व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधन का प्रयोग करता है वह सीमित है। ब्रह्म का दर्शन इस सीमित क्षेत्र में होने पर सगुण की संज्ञा प्राप्त करता है। वल्लभानुयायी सूरदास आदि अष्टछाप-भक्त-कवियों ने निर्गुण, निराकार ब्रह्म में विश्वास रखने-वालों की कड़ी आलोचना की है। कुछ विचारक इस प्रकार की आलोचनाओं को आधार मानकर दोनों मतों को परस्पर द्रोही सिद्ध करना चाहते हैं। सूरदास आदि भक्त-कवियों ने ब्रह्म की निराकार स्थिति को कदापि अस्वीकृत नहीं किया। उन्होंने जो किया वह यही था कि निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञानमार्गी साधन को उपयुक्त नहीं माना।

तथ्य यह है कि सगुण और निर्गुण दोनों सम्प्रदायों का उद्देश्य भगवत्प्रेम की प्राप्ति रही है। भक्त के जीवन की परम साधना भगवान की लीला है। भक्तों में अपनी उपासना-पद्धति के अनुसार इस लीला के रूप में भेद हो सकता है। पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो निर्गुणभाव से भजन करता है वह भी भगवान की चिन्मय सत्ता में विलीन हो जाने की इच्छा नहीं रखता बल्कि अनन्तकाल तक उसमें रमते रहने की कामना करता है। कबीरदास, दादूदयाल तथा निर्गुण मतवादियों की नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्यलीला एक ही जाति की है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सगुण और निर्गुण मतों की साम्यसूचक कुछ अन्य विशेषताओं का भी आख्यान किया है। दोनों ही मतों में भगवान और भक्त को समान बताया गया है अर्थात् प्रेम-क्षेत्र में छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं है। प्रेम की महिमा का वर्णन दोनों प्रकार के भक्त लोगों ने समान रूप से किया है। प्रेमोदय के जो क्रम सगुणोपासक भक्तों ने निश्चित किये हैं वे सब भक्तों में समान रूप से समा-हत हैं। अन्त में डा० द्विवेदी ने लिखा है कि और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनता पर जोर देते हैं आत्म-समर्पण में विश्वास रखते हैं और भगवान की कृपा से ही मुक्ति मिल जाती है इस बात पर सम्पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं।^१ विद्यापति कृत अनेक पदों में आत्म-ग्लानि, दीनता तथा इष्टदेव के प्रति अनन्य प्रेम का भाव व्यक्त हुआ है।

सगुण मतवादी कृष्ण-काव्य के निर्माण में जयदेव, विद्यापति की रचनाओं के साथ-साथ संत निर्गुण कवियों ने भी महत्वपूर्ण योग दिया है। निर्गुण सन्त कवि नामदेव अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय देते हुए कहते हैं कि, “कामी पुरुष कामिनी पियारी, ऐसी नामे प्रीति मुरारी।” माधव से उन्होंने होड़ न लगाने का आग्रह इस प्रकार किया “बदहु किन होड़ माधव मोसिउ। ठाकुर ते जन-जन ते ठाकुर खेल परिउ है तो सिउ।”^२ इन पंक्तियों को पढ़कर सूरदास की निम्न पंक्तियाँ स्मृति-पटल पर उभर आती हैं—

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि।

हिरदय तें जब जाहुगे सबल बढौंगो तौहि॥

और नामदेव के हृदय ने जिस अनन्त व्यापिनी हार्दिक पीड़ा का जो अनुभूति ‘मोकउ

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’, पृ० ८८-८९, ९४

२. परशुराम चतुर्वेदी सम्पादित ‘सन्तकाव्य संग्रह’, पृ० १४९

तून बिसारि तून बिसारि तून बिसारै रमैया”^१ इस पंक्ति में मुखर हुई ठीक वैसी ही भाव-विह्वलता विद्यापति की निम्न पंक्तियों में है—

तोहे जनम पुनि तोहे समाइत
सागरि लहरि समाना ।.....इत्यादि

जो लोग विद्यापति को मात्र शृंगारिक कवि कहते हैं वे संभवतः ऐसे पदों पर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहते हैं। निश्चय ही इन पदों का ऐतिहासिक व सांस्कृतिक महत्व है। विद्यापति के ये पद न केवल उस समय की भक्ति-पद्धति की एक खास विशेषता की सूचना देते हैं बल्कि इनसे यह भी मालूम होता है कि उनके स्तुतिपरक पद सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्ति-काव्यों की परम्परा में हैं और उन्हें प्रभावित करनेवाले हैं।^२

यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि शृंगार और भक्ति दोनों ही मध्य-कालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। तत्कालीन समाज में शृंगार की विशेष मर्यादा थी। तब ही तो जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भावधारा के रूप में प्रस्तुत किया—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ॥

—गीत-गोविन्द, श्लोक ३

निश्चय ही वह समाज ऐसा रहा जिसके अनुकूल वातावरण में जयदेव जैसे रससिद्ध कवि कामकला और हरिस्मरण के सौरभ को समवेत रूप से विकिरित करते रहे। उस काल के अन्य धार्मिक ग्रन्थों में शृंगार और भक्ति की इस समन्वित धमिता के विषय में विशद रूप से विचार हुआ है। भागवत में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान घोषित किया गया है—

सता प्रसंगान्मम वीर्यसंविदोभवन्ति हृत्कर्णरसायन्तः कथाः ।

तज्जोषणादाश्वपर्गवत्तर्नि श्रद्धारतिर्भक्तितनुरक्रमिष्यति ॥ (भागवत ३-२०-२२)

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘स्त्री-पूजा और उसका वैष्णव स्वरूप’ इस निबन्ध में उक्त विषय पर पर्याप्त विस्तार से विचार प्रकाशित किए हैं।^३ वहाँ उन्होंने सही लिखा है कि भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास सम्प्रदाय का धर्म सा था। पीछे की ओर मुझे तो ऋग्वेद १०-१२६-२५ से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है। अथर्ववेद ६-५-२७-२८ में तो इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् २-१३-१ के “कांचन न परिहरेत्” मन्त्रांश का अनुवाद आचार्य शंकर ने इस प्रकार किया है कि जो वामदेव सामन् को जानता है उसे मैथुन की विधि

१. परशुराम चतुर्वेदी सम्पादित ‘सन्तकाव्य संग्रह’, पृ० १५०

२. डा० शिवप्रसाद सिंह कृत ‘विद्यापति’, पृ० ६६

३. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत ‘सूरसाहित्य’ १६५६ ई०, बम्बई, पृ० २०-६०

का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है कि किसी स्त्री को मत छोड़ो। अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।^१ कथावस्तु जातक (२३-२) और मज्झिम निकाय (पहला भाग पृ० १५५) से सिद्ध होता है कि बुद्ध के जीवनकाल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। गौतम बुद्ध ने अनेक स्थलों पर इसकी निन्दा की है।^२

अपने देश में बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों में वज्रयान शाखा प्रबल थी। उसके प्रभाव से पंचमकार सेवन का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिये त्रिपुर सुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरन्तर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। इस प्रकार तत्कालीन तंत्रवाद में रति और शृंगार की भावना को एक नवीन स्वरूप और आध्यात्मिकता का रंग मिला। वैष्णव धर्म में नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। और रूप गोस्वामी ने तो अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थ में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जिसके बिना कृष्ण अपूर्ण रहते हैं।^३ महाप्रभु चैतन्य ने परकीया प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। यों समझ लीजिये कि नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों भक्ति के विविध पक्षों के साथ तादात्म्य स्थापित हो गया और इस सबको काम-शास्त्र से बनी बनाई रूपरेखा सुलभ रही।

इस सिद्धान्त सूत्र के सहारे कहा जा सकता है कि विद्यापति, सूरदास तथा अन्य ब्रज कवियों को इससे वैचारिक प्रेरणा मिली। शृंगार के वर्णनों की व्यावहारिक प्रेरणा उन्हें गीत-गोविन्द तथा प्राचीन भागवत आदि संस्कृत ग्रन्थों से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन ब्रजभाषा के काव्य का पड़ा इसमें सन्देह नहीं। प्राचीन ब्रज का मतलब यहाँ प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से है।^४

मध्य युग में रचित जैन काव्य प्रायः धार्मिक माने जाते हैं। परन्तु हमें यह कहना है कि जिन लोगों ने यह देखना हो कि धार्मिक काव्यों में शृंगार का मिश्रण कैसे होता है वे जैन कवियों के धार्मिक काव्यों का अवश्य पारायण करें। इन कवियों की शृंगार प्रेम भावना से परिचित होने के लिये इस रचना के प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश को देखें।

बद्धमूल हो चली विशेष धारणावश लोग प्रायः समझते हैं कि भक्ति काव्यों में शृंगार का कोई स्थान नहीं। इसी कारण विद्यापति के काव्य के विषय में प्रायः ये शंकाएँ की जाती हैं कि वह रहस्यवादी भक्ति-काव्य है अथवा मात्र शृंगार प्रधान प्रेम-काव्य। बहुत से लोग विद्यापति आदि के नखसिख-वर्णनों को देखकर इतने घबरा जाते हैं कि उन्हें इन कवियों की भक्ति-भावना पर ही अविश्वास होने लगता है। किन्तु शृंगारिक होने के कारण ही उनकी कविताओं में भक्ति-भाव का अभाव

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'सूरसाहित्य' १९५६ ई०, बम्बई, पृ० २३-२४

२. मनीन्द्रमोहन बोस कृत 'पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट,' पृ० १०१

३. रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' कृष्ण वल्लभा, ५

४. डा० शिवप्रसादसिंह कृत 'विद्यापति, पृ० १०३-१०४

प्रमाणित नहीं होता । प्राकृत-अपभ्रंश की धार्मिक-अधार्मिक रेखाओं से घिरी जैनियों की और इतर-धर्मावलम्बी कवियों की रचनाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि नखसिख-वर्णन अथवा रूप-चित्रण की परिपाटी मध्यकालीन काव्य की सर्वमान्य और सर्वत्रगृहीत प्रणाली है । सचमुच इसके प्रभाव से संस्कृत, प्राकृत और भाषा का कोई कवि नहीं बचा । यहाँ तक कि राग और विराग के धनी जैन कवियों ने भी नखसिख-वर्णन को पूर्व प्रचलित ढंग से अपनाया । नखसिख-वर्णन की समस्त परिपाटी चाहे वह जैन, बौद्ध या हिन्दू किसी भी कवि द्वारा अपनाई गई हो कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्रगत नारी-लक्षणों से खूब प्रभावित रही हैं । विद्यापति के नख-सिख वर्णन पर भी कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र का पर्याप्त प्रभाव पड़ा ।

संक्षेप में प्रत्येक महाकवि अपने समय की परम्पराओं का परिणाम होता है । इस बात को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता कि कोई भी जीवंत कवि पुरानी रूढ़ियों को तोड़ कर नई भाव-धारा की सृष्टि करता है और पुराने प्रथा-कथित वर्णनों की शृंखला का विच्छेद करके नये उपमान मुहावरे और प्रतीकों का भी निर्माण करता है, तथापि वह अपनी परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो ही नहीं सकता । विद्यापति के काव्य को समझने के लिये तत्कालीन काव्य मर्यादाओं, नियमावलियों और कविजनोचित उस परम्परा को हृदयंगम करने की सर्वाधिक अपेक्षा है जो उन्हें विरासत में मिली । अपभ्रंश साहित्यगत सगुणभक्ति परक रचनाओं में निम्न विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं—

- (क) राधा-कृष्ण संबंधी पदों में भक्ति और शृंगार का समन्वय ।
- (ख) स्तुति परक रचनाओं का बाहुल्य, इनमें कृष्ण और शिव की स्तुति समवेत रूप में की गई है ।
- (ग) शृंगार का रूप बहुत मुखर है ।
- (घ) निर्गुणमतवाद की सृष्टि करने वाली रचनाओं में भी आत्मनिवेदन, शरण-प्रणति तथा भक्त के अनन्य प्रेम की सूचना देने वाली प्रवृत्तियाँ मिलती हैं ।
- (ज) गोपाल नायक और बैजूबावरा जैसे संगीतज्ञ कवियों के काव्य में संगीत प्रेम और भक्ति का समन्वय है जैसा विद्यापति के काव्य में दिखाई पड़ता है ।

विद्यापति ने अपने समय की परम्परा को अपनाया तो कोई अपराध नहीं किया । वातावरण के अनुकूल नखसिख-वर्णन और नायिका-भेद जो उनके पदों में प्रत्यक्ष होता है उसके आधार पर उन्हें मात्र शृंगारिक कह कर टाला नहीं जा सकता । ध्यान रहे कि नखसिख-वर्णन या नायिका-भेद के रूप में रूप-चित्रण कदर्थना की वस्तु नहीं है ।

विद्यापति के बाद हिन्दी में शृंगार रस

भक्तों की कविताओं में शृंगार-रस—विद्यापति के बाद लगभग समस्त उत्तर भारत में जो शृंगार-भाव-मिश्रित कविताएँ मिलती हैं उनकी माध्यम भाषा मध्य

देशीय ब्रज हिन्दी ही सब के केन्द्र में है, स्थानीय मैथिली, बँगला, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि का भी पुट है उसमें। यहाँ कुछ प्रसिद्ध भक्ति-सम्प्रदायगत कवियों की शृंगार-रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। वैसे इन विभिन्न सम्प्रदायगत रचनाओं को भी वैष्णव-शृंगार-भक्ति-पद-शीर्षक से संगृहीत किया जा सकता है, भले ही उनमें से कुछ बंगाल में रचे गये, कुछ मिथिला (बिहार) में और कुछ उत्तर-प्रदेश आदि स्थानों पर। सन् १५०० ई० से लेकर सन् १८०० ई० तक के लगभग ३०० वैष्णव कवियों की रचनाओं को डा० सुकुमार सेन ने अपने 'ए हिस्ट्री आफ ब्रजबुली लिटरेचर' ग्रन्थ में उद्धृत किया है। उन लेखकों की भाषा को डा० महोदय ने ब्रजबुली नाम देते हुए लिखा है—'ओरिजिन एण्ड नेचर आफ ब्रजबुली'—

ब्रजबुली इज ए मिसप्रेख, मैथिली इज द बेसिक पार्ट, ह्वाइल बँगाली, विद आडमेण्ट्स ऑफ हिन्दी एण्ड ब्रजभाखा, फॉर्न्स द सुपर स्ट्रक्चर। ब्रजबुली इज रीयली ए डाइलेक्ट—ओन्ली इट इज लिटरेरी—ऑफ बँगाली, एण्ड इन द सेन्स दैट इट हैड ओरिजिनेटेड एण्ड डेवलप्ड इन बँगाल एण्ड हैड विन कल्टिवेटेड एक्सक्लूसिवली बाई बँगाली पोपुलर'। ('हिस्ट्री आफ ब्रजबुली लिटरेचर', पृष्ठ १)।

डा० सुकुमारसेन ने तत्कालीन आसाम और उड़ीसा प्रान्तगत ब्रजबुली की ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि ब्रजबुली का उद्गम बंगाल में हुआ। उस युग में जब कि देश पश्चिम से लेकर पूर्व तक तुर्कों से आक्रान्त था, मिथिला ने कुछ हिन्दू शासकों की छत्रछाया में स्वतन्त्रता की साँस ली। ये हिन्दू शासक संस्कृत विद्यानुरागी थे। स्वभावतः बंगाल से अध्येता लोग मिथिला में एकत्र होते थे और जब वे स्वदेश को लौटते थे तो संस्कृत के शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ मिथिला में प्रचलित और परम्परागत बोली के शृंगार-गीत भी ले आते थे। ये गीत विद्यापति और उनके पूर्वजों की रचना होते थे, जिनका संगीत और माधुर्य अत्यन्त आकर्षक था। वे गीत वहाँ के संस्कृत जन समुदाय में शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये। उसके बाद जन सामान्य में पहुँच गये।

परन्तु ब्रजबुली का बंगाल में अभ्युदय वहाँ वैष्णवइष्म के पुनर्जागरण के साथ हुआ और चैतन्यदेव के जीवन के साथ वह चरम विकास को पा गया। डा० सुकुमार सेन का मन्तव्य है कि मैथिल गीत मात्र कृष्ण-गाथा पर ही आधारित थे।

बंगाल में ब्रजबुली का यह अभ्युदय पन्द्रहवीं शती के द्वितीयाद्ध, संभवतः उस शती के अन्तिम दस वर्षों में या अगली शती के प्रथम दशक में हुआ। प्राचीनतम ब्रजबुली का लेखक यशोराजखाँ है जिसकी कविता गौड़ नरेश हुसेनशाह को समर्पित है, अतः निश्चय ही यह कविता सन् १४६३ ई० और सन् १५१९ ई० के मध्य कभी रची गई—('ए हिस्ट्री आफ ब्रजबुली लिटरेचर', पृष्ठ २)।

डा० सुकुमारसेन ने ब्रजबुली को एक कृत्रिम और मिश्रित साहित्यिक भाषा माना है। इसको उन्होंने ब्रजबुली नाम क्यों दिया इसके विषय में उनका कथन है कि चैतन्यदेव के कुछ निकटतम साधियों और अनुयायियों में ब्रजबुली के प्रथम लेखक थे और यह समस्त साहित्य बंगाल के पूर्व वैष्णवों के प्रयत्नों का फल था। डा० सुकुमारसेन ब्रजबुली का ब्रजभाषा या ब्रजभाखा से कोई साम्य नहीं स्वीकार करते—('ए हिस्ट्री आफ ब्रजबुली लिटरेचर', पृष्ठ ३)।

डा० सुकुमारसेन प्रदत्त तथाकथित ब्रजबुली के विवरण को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे ब्रजबुली कोई नवीन भाषा है जो बंगाल में उत्पन्न हुई। परन्तु विचार करने से बात हमें वैसी नहीं प्रतीत होती। तथ्य इतना ही जँचता है कि उस युग में मध्य देशीय ब्रज (जिसमें तत्कालीन स्थानीय अपभ्रंश शब्द भी रहते थे) बड़े पैमाने पर कविता के माध्यम-रूप स्वीकृत हुई। संस्कृत आदि के धुरन्धर पण्डित भी इसमें रचना करने में अपनी सार्थकता अनुभव करते थे। विदेशी मुगलों के दरबारों में भी इसने समादृत स्थान पाया था। विश्लेषक दृष्टि के सामने डा० सुकुमारसेन की ब्रजबुली बँगला होने के मुकाबले हिन्दी (मध्यदेशीय कविता-भाषा) अधिक ठहरती है। भले ही उन तीन सौ कवियों के पदों का परिचय बँगला कविता के रूप में दिया गया हो, भले ही हिन्दी-साहित्य के अधिकांश विद्यार्थियों का ध्यान उधर नहीं गया हो, भले ही वे रचनाएँ बँगला लिपि में बद्ध हैं फिर भी जब उन पर से बँगला लिपि का आवरण हटता है—उन्हें नागर अक्षरों में लिख दिया जाता है तो उनका सब अजनबीपन दूर हो जाता है और उनकी अधिकांश रचनाएँ हिन्दी-भाषी के लिए या कहिये कि हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये विदेशी नहीं रह जातीं। भाव, विचारधारा और शैली में वे अधिकांशतः विद्यापति एवं उनसे पूर्ववर्ती मैथिल पद-रचनाओं से प्रभावित हैं। इसीलिये यहाँ वैष्णव कवियों में प्रख्यात गोविन्ददास और ज्ञानदास की रचनाओं को प्रस्तुत कर दिया गया है।

इसके बाद अष्टछाप के प्रसिद्ध भक्त कवि नन्ददास की रचनाएँ हैं। फिर रामदास भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास की कुछ शृंगार विषयक रचनाएँ हैं। और तब वैष्णव सम्प्रदायों में से प्रमुखतम राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता हितहरिवंश के शृंगार-पदों का संक्षिप्त वितरण दिया गया है।

गोविन्ददास-शृंगार-रस—वैष्णव कवियों में कम से कम पाँच कवि गोविन्ददास नाम के विश्रुत हैं। उन सबमें गोविन्ददास कविराज प्रसिद्ध हैं—(वैष्णव पदलहरी पृष्ठ २६८)। गोविन्ददास कविराज (सन् १५३५-१६१३ ई०)—ब्रजबुली साहित्य के सबसे बड़े कवि थे—('हिस्ट्री आफ ब्रजबुली लिटरेचर', पृष्ठ १०५)। गोविन्ददास कौन, कब, कहाँ का था इस विषय को लेकर बंगीय साहित्य परिषद् पत्रिका द्वितीय भाग, बंगाब्द १३३६, पृष्ठ ६९-१२४ में, पद-कल्पतरु की भूमिका में और बंग भाषार लेखक व वैष्णव पद लहरी आदि ग्रन्थों में पर्याप्त विस्तार से विचार किया गया है। स्पष्टतः यहाँ उन्हें विद्यापति के शिष्य रूप से स्वीकार करते हुए भी वर्द्धमान जिला गत श्रीखण्ड (बंगाल) वासी सिद्ध किया गया है।

दूसरी ओर कुछ का कहना है कि गोविन्ददास भ्रा दरभंगा महाराज सुन्दर ठाकुर के दरबारी कवि थे और संस्कृत भाषा आदि के महापण्डित थे। राधा-कृष्ण के वह परम भक्त थे। विद्यापति के समान ही इनके गीतों में ओज का पूर्ण आभास है, शब्दयोजना का श्रेष्ठ सौरभ है तथा उनके गीत कविता-कानन के कमनीय कुसुम हैं। विचार एवं विवेकपूर्वक यदि कहा जाय तो कहा जा सकता है कि गोविन्ददास की भाषा विद्यापति से विशेष प्रौढ़ है तथा उनके पद अधिक पुष्ट। अतः मैथिली में विद्यापति के साथ गोविन्ददास को भुलाया नहीं जा सकता। गोविन्ददास विद्यापति से ढेढ़ सौ से

भी अधिक वर्ष पश्चात् सोलहवीं शती में हुए थे। उन पर विद्यापति का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। गोविन्ददास उनको अपना काव्य-गुरु मानते थे।

गोविन्ददास बंगाल के थे या मिथिला के यह उतनी महत्वपूर्ण बात नहीं है जितनी कि यह कि वह विद्यापति को गुरु-रूप से स्वीकार करते थे और राधा-कृष्ण-कथा-मूलक पदों की रचना करके डा० सुकुमारसेन के अनुसार वह ब्रजबुली के वैष्णव पद-कर्त्ताओं में अग्रणी थे। गोविन्ददास ने विद्यापति का खूब नज़दीक से अनुकरण किया।

गोविन्ददास रचित लगभग ४२५ पद 'पदकल्पतरु' में संगृहीत हैं; कुछ और अधिक संख्या राधामोहन ठाकुर-सम्पादित 'पदामृत समुद्र' में मिलती है। 'गोविन्द-गीतावली' नाम से श्री मथुराप्रसाद दीक्षित द्वारा एक संकलन गोविन्ददास की रचनाओं से पूर्ण पुस्तक भण्डार पटना और लहरिया सराय से प्रकाशित है। वैष्णव पद संग्रहस्थ गोविन्ददास की भणितान्त्रियों से युक्त पदों में कम से कम इक्कीस पद ऐसे हैं जिनमें दुहरी भणितान्त्रिता मिलती है। वहाँ विद्यापति को छोड़कर अन्य सब उल्लिखित सज्जन कवि गोविन्ददास के समकालीन और मित्र थे, जिनके प्रेम-वश उसने उन्हें अपनी कविताओं के साथ-साथ अमर बना दिया।

विद्यापति के शिष्यत्व को स्वीकार करने वाले गोविन्ददास ने गुरुवन्दना इस प्रकार की है—

विद्यापति-पद युगल सरोरुह
निष्यन्दित मकरन्दे।

तछु मभु मानस मातल मधुकर

पिबइते कर अनुबन्धे ॥ इत्यादि। 'पद कल्पतरु' १२ पद

यहाँ विद्यापति-पद-युगल का ध्यान कर गोविन्ददास का भक्त-हृदय राधा-कृष्ण लीलागान विषयक आन्तरिक स्फुरणा की प्रार्थना करता है।

लहरिया सराय और पटना से प्रकाशित 'गोविन्द गीतावली' में आप देखेंगे कि सचमुच गोविन्ददास का हृदय विद्यापति के सरस पदों ने चुरा लिया था। गोविन्ददास ने विद्यापति के पदों को त्रिभुवन में रचित वाणी का सार समझा। गोविन्ददास का निश्चित मन्तव्य था कि जगत् के सार स्वरूप विद्यापति के पदों को छोड़कर यदि कोई व्यक्ति यहाँ किसी अन्य पदार्थ की कामना करता है तो वह उस बौने व्यक्ति के समान है जो अपने अभीष्ट की प्राप्ति के हेतु सदैव ऊर्ध्वबाहु रहता है—

कविपति विद्यापति मति माने।

जाक गीत जन चित चोरायल गोविन्द गौरी सरस रस गाने ॥ इत्यादि
—गोविन्द गीतावली, पद ४

विद्यापति को काव्य-गुरु मानने वाले गोविन्ददास अपने युग के विशिष्ट विद्वत्-समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय रहे। अनुप्रास को बाँधने में आप सिद्धहस्त हैं। अनुप्रास-

साधना से कविता में कृत्रिमता का समावेश होना स्वाभाविक है, परन्तु इनके पदों में ऐसा प्रयास होने पर भाव-शैथिल्य के दर्शन नहीं होते ।

अब बंगाल और बिहार में संगृहीत गोविन्ददास कृत पदों में शृंगार विषयक रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं । गोविन्ददास ने निम्न शब्दावली में श्रीकृष्ण के सौंदर्य का चित्र उपस्थित किया है—

अरुणित चरण रणित मणि मंजिर अधपद चलनि रसाल ।

कंचन बंचन वसन मनरंजन वलित ललित वनमाल ॥

धनि धनि मदन मोहनिया ।० इत्यादि ।

—‘गोविन्द गीतावली’ पद २३, ‘पद कल्पतरु’ पद २४२४

सुनागरिक के से विशेषणों से युक्त तरुण तमाल-से सुन्दर रूप को गोविन्ददास नित्य अपने चित्त की विश्राम-भूमि बनाना चाहता है । श्रीकृष्ण के जिस अलौकिक सौंदर्य पर गोविन्ददास अपने हृदय को न्यौछावर करते हैं उसका एक छोटा-सा चित्र यह है—

(क) अभिनव जलधर सुन्दर अंग

हेलन कल्पतरु ललित त्रिभंग ।

चूड़ाक उपर शोभ मयूर शिखण्ड

भलमल कुण्डल ढल-ढल गण्ड ॥० इत्यादि । गोविन्द गीतावली, पद २८

(ख) नव नीरद तनु तड़ित लता जनु पीत वसनि बनि भाल ।

मालति बकुल बलित अति आकुल मौलि मिलित वनमाल ॥

पेखल कालिन्दी कूल विलासी ।० इत्यादि ।

वही, पद ३०

नवोत्थित मेघ के सदृश साँवली आभा वाले कालिन्दी-कूल-विलासी और तरुणियों के लिये हेलि-कल्पतरु श्रीकृष्ण के लावण्य को देख कर कौन कुलवती स्त्री भला उन्मत्ता न हो जाती थी ?

शरद् कालीन चन्द्रमा को अपनी आभा से पराभूत करने वाली राधा के सौंदर्य का बखान कवि ने यों किया है—

शरद-सुधाकर मण्डल-मण्डन, खण्डन वदन-विकास ।

अधर मिलायत श्याम-मनोहर, चित चोरायानि हास ॥० इत्यादि

—‘पद कल्पतरु’ पद २४६३

अतनु-यूथ-शत-सेवियत लावण्य-निधि साधिका न केवल श्याम के चित्त को चुराने वाली हुई अपितु श्रीकृष्ण को राधा से विनोद की प्राप्ति भी होती थी ।

गोविन्ददास कृत राधा का एक सिखनख वर्णन से युक्त चित्र इस प्रकार है—

धनि कान्धरछांद-बाँध कबरी, मन मालति माल ताहि उपरी ।

दलितांजन गंज कला कबरी, क्षण उठति बैसि ताहि उपरी ॥.....इत्यादि

गोविन्द गीतावली, पद ४३

श्याम-कान्ति श्रीकृष्ण को देखकर मुग्धा राधा अनुरक्ता हो गयी। साक्षात् के उपरान्त उसे श्यामवर्ण परक वस्तुओं से विशेष राग हो गया, क्योंकि वे सब वस्तुएँ उसे श्याम की याद दिलाती हैं और इस प्रकार उसे उल्लसित करती हैं—

लोचने श्यामर वचनहि श्यामर,
श्यामर चारु निचोल ।
श्यामर हार हृदये मणि श्यामर
श्यामर सखि कर कोर ॥.....इत्यादि

—‘पद कल्पतरु’, पद ४०

निकटस्था किसी सखी ने श्रीकृष्ण के यहाँ अनुरक्ता राधा का वर्णन किया है। उसका कथन है कि श्रीकृष्ण जबसे उसने तुम्हें (श्याम को) देखा है तब से लोचनों में श्याम काजल समाया है, वचनों में भी श्याम है अर्थात् श्याम श्रीकृष्ण विषयक चर्चाओं में विशेष रुचियुक्ता है, श्याम वस्त्र चोली धारण करती हैं और श्यामानुरक्ता वह यदाकदा अपनी कृष्णवर्ण किसी सखी से आलिंगन करती है। इस प्रकार अनुराग की पराकाष्ठा को पहुँची वह रात जागकर बिताती है। क्या आप उसे भूल गये ? भला गोविन्ददास कब तक उसे यह आश्वासन देंगे कि शीघ्र ही तुम्हें नन्दकिशोर मिल जायेंगे।

गोविन्ददास कृत पदों में विप्रलम्भ-शृंगार के चित्र अधिक सुन्दर हैं। पूर्वानुराग मान और विरह संबन्धी गोविन्ददास के अनेक पद मिलते हैं। पूर्वानुरागवशा राधा नायिका सुनें क्या कहती है—

ढल ढल सजल जलद तनु सोहन मोहन अमरण साज ।
अरुण नयन गति बिजुरी चमक जिति दगधल कुलवति लाज ॥
सजनि जाइत पेखल कान्ह ॥० इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद ४८; ‘पद कल्पतरु’ ७३

यहाँ अपने अनुराग को राधा अपनी किसी अन्तरंगा सखी से अभिव्यक्त करती है। उसने कहा कि मैंने सजल मेघ-से श्यामल मोहन को मार्ग में जाते हुए देखा। बस, तब से यह जगत् मुझे कुसुमशरों से पूर्ण लगता है और कुछ नहीं सूझता नहीं मालूम कि मैं किस इच्छा से व्याकुल हूँ इसलिये हृदय दग्ध हो रहा है। गोविन्ददास ने आश्वासन दिया था कि श्रीकृष्ण मिलेंगे परन्तु अभी तक कृष्ण से भेंट नहीं हुई।

राधा के अपरूप ने श्रीकृष्ण के हृदय को आकृष्ट किया और श्रीकृष्ण को जो अनुभव हुआ वह इस प्रकार है—

राग वसंत— करु जल केलि आलि संगे बाला,
हेरलु पथे जनु चांदकि माला ॥
अपरूप रूप नयने मझु लागि ।
अनुखन माधुरी मरमहि जागि ॥
ए सखि ए सखि मोहे हेरी राइ
विहसि रहलि घनि गीम मोड़ाइ ॥.....इत्यादि

गोविन्ददास और विद्यापति की सम्मिलित भण्डिता से युक्त निम्न पद प्रेषित पतिका नायिका का चित्र उपस्थित करता है—

परायण पिया सखि हमरि पिया, अबहु न आयल कुलिश हिया

नखर खोयालु दिवस लिखि लिखि, नयन अन्हायलु पिया पथ देखि । इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद ३५०

यहाँ नायिका को इस बात का बहुत खेद है कि नायक उसे अल्पवयस्का जानकर छोड़ कर गया। सचमुच उस समय उसे भी गुण-दोष का भान न हो सका। परन्तु अब जब वह तारुण्यारूढ़ा हुई तो उसे रसिकजनोचित भाषा, व्यवहारादि का ज्ञान हुआ। उसके हार्दिक दुःख को प्रियतम के समीप निवेदित करनेवाला भी उसके समीप कोई नहीं। विद्यापति ने कहा कि भाई कैसी प्रीति है, गोविन्ददास ने मानो प्रत्युत्तर दिया कि उपयुक्त पंक्तियों में उस प्रेषितपतिका के प्रेम की रीति निदिष्ट है।

विप्रलम्भ शृंगार से सम्बद्ध मान एवं मानमोचन सम्बन्धी गोविन्ददास के पदों में भी विद्यापति के सदृश कृत्रिम रोष, पार्थक्य, तदुद्भूत मानसिक पश्चात्ताप और फिर अनायास ही मान-मोचन का प्रसंग मिलता है। गोविन्ददास की मानिनी के मुख से ही सुनिये—

जाकर चरण नखरचि हेरइत मुरछ्य कत कोटि काम ।

सो मभु पदतल धरणि लुटायल पलटि न हेरल हाम ॥.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद २८४

यहाँ मानिनी ने स्पष्ट स्वीकार किया कि अपने दारुण-मानवशा हो मैंने ब्रजकुल-नन्दन श्रीकृष्ण की उपेक्षा की। मेरे प्रियतम कान्हू ने अपने मधुर वचनों (चाट्टकियों) द्वारा एवं अपनी कातर दृष्टि-युक्त मुद्रा से मुझ से कितनी विनय की परन्तु मैंने तब उनकी ओर कान ही नहीं दिया और अब हृदय में प्रबल अग्नि दहक रही है। उस रसिक प्रिय दयित का स्मरण कर अब मेरा मन या मैं स्वयं झुरी जा रही हूँ। गोविन्ददास ने संबोधित किया उसे—हे सुनागरिके ! तुम्हारे दयित समीप ही है—शीघ्र ही मिलेंगे अतः हृदय में आश्वासन धारण करो।

प्रेमकलह अथवा कृत्रिम मान में अस्थायी विच्छेद होता है दम्पति का। राधा-माधव के बीच जब यह प्रसंग आया तो अस्थिरमति श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त होने पर अपनी भुंभलाहट प्रकट करते हुए राधा ने यहाँ तक कह डाला अपनी सखी से—

कुलवती कोई नयने जनि हेरई । हेरत पुनि जनि कान ।

कानु हेरि जनि प्रेम बढ़ायई प्रेम करई जनि मान ॥.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद २४६; 'पदकल्पतरु', पद ४३४

राधा पर विरह का प्रभाव देखना हो तो निम्न पंक्तियों पर ध्यान दें—

कि कहब राइक नेहा ।

तुअ गुन गुनि गुनि दशमि दशश्रयी दुरबल भेल निज देहा ।.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद ११३

यहाँ राधा की सखी ने राधा-विरह का निवेदन श्रीकृष्ण से करते हुए कहा कि माधव

राधा को छोड़कर जब तुम मधुपुर चले आए तो राधा तुम्हारे गुणों का स्मरण करती हुई क्षीणांगा हो गई। यहाँ तक कि वह विरह की दशम दशा के समीप तक पहुँच गई। कान्ह कान्ह पुकारती और उसे दिन रात का भी भान न रहा। वह इतनी क्षीण-काया हो गई कि जँगली की मुद्रा कलई का कंकण बन गई और कलई का कंकण गले में हार की भाँति आ सकता था। चन्द्रकला की भाँति वह प्रतिदिन क्षीण-क्षीणतर होती जा रही है। बस, कहीं पर सांस अटक रहे हैं। राधा-सखी के ऐसे वचन सुनकर कम्पित चरणों से श्रीकृष्ण एकदम चल पड़े और नियत निकुंज में राधा से भेंट की भुजबन्धादिपूर्वक—ये सब बातें गोविन्ददास कहते हैं।

दयित के बिछोह में सब जगत् विपरीत-सा लगता है। गोविन्ददास ने एक विरहिणी का चित्र यों अंकित किया है—

जोयत पंथ नयन भर नीर।

जैसन चित पुतली रहु थीर ॥.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद ३१४

अब गोविन्ददास के पदों से कुछ ऐसे पद प्रस्तुत करते हैं जिनमें शृंगार रस के सामान्य घटक (सखी, सखी-शिक्षा, दूती, अभिसारिका, खण्डिता, रतिगुप्ता आदि नायिकाभेद) आ जाते हैं।

सखिशिक्षिता नायिका दृढ़ता से कहती है कि हे सखी मैं अवश्य ही तेरी सीख पर टिकी रहूँगी—

नव अनुरागे चलल वर नारि। गुरुजन गौरव दूरहि डारि ॥

सखि संगे पूछत प्रेम की बात। पुरुखक कबहुँन लागे गात ॥.....इत्यादि

—‘अप्रकाशित पदरत्नावली’, पद १४

यहाँ सखिशिक्षिता नायिका बोली कि तुम्हारी शिक्षा के अनुसार कान्ह से प्रथम-समागम के समय मैं विशेष बतराऊँगी नहीं। स्पर्श करने का प्रयत्न देखूँगी तो उसका हाथ परे ठेल दूँगी और स्वयं सिर झुकाये खड़ी रहूँगी। ऐसा सुनकर गोविन्ददास बोले कि तुम्हारी इस मुद्रा को देखकर तो तुम्हारा दयित अवश्य ही तुम्हें अपने साथ कर लेगा।

राधा की आप्तादूती अपनी कुलवती नायिका के श्रीकृष्ण से अनुरक्ता हो जाने पर उसका कैसा सुन्दर शब्दचित्र उपस्थित करती है, नायक के सम्मुख—

नयनक कोने ना हेरि निज नाह।

जलधर हेरि सजल-दिठि चाह ॥ इत्यादि

सचमुच उस नवानुरक्ता के विविध अभिलाषों का बखान उसकी आप्तादूती और मानों गोविन्ददास भी नहीं कर सकते।

एक खण्डिता नायिका अपने व्यंग्य-वचनों से वक्रगति माधव को सरलहृदय बनाने के प्रयत्न में कहती है—

सुन माधव कौन कलावति सोय।

प्रेम हेम गहि आपनी रंग देइ एहनि सजायलि तोय।.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद २६६

अर्थात् माधव महाराज तनिक यह तो बताओ कि वह कौन सी कलावती नायिका है जिसने अपना अंगदान देकर तुम्हारी यह अनोखी सज्जा की है? रूप तो देखो—नयनों में लगाया जानेवाला अंजन होंठों पर लगाया है और होंठों पर लगी पान की लाली नेत्रों पर पोत दी। तुम्हारे मस्तक के चन्दन-बिन्दु को अपने माथे के सिन्दूर से ढक दिया और छाती पर तुम्हारी चरणों में लगाये जानेवाले अलकतक (यावक) के निशान बने हैं। सुवर्ण-सी आभावाली किसके रूप के प्रलोभन में तुम पड़े जिसने कि तुम्हें अपने नखों की रेखाओं से अंकित कर दिया। जरा विचार करो कि तुम्हारी इस अन्यभुक्त अतएव शिथिलित एवं कान्तिशून्य (झामर) देह को कौन ग्रामीणा स्पर्श करने को उद्यत होगी? हे रसलब्ध! क्यों अब निर्लज्ज की भाँति अपने निष्प्रभ मुँह को लेकर यहाँ आ गये हो? किंचित् हतप्रभ माधव से गोविन्ददास ने खण्डिता की ओर से कहा कि तथापि हम अपना स्पर्श तुम्हें देने को प्रस्तुत हैं परन्तु शर्त यह है कि तुम अपनी बान (आदत) को छोड़ दो—तुम अपनी इस कुटेव से बाज आ जाओ।

दिवा (ग्रीष्म), वर्षा और शरद ऋतु में नायिका-अभिसार सम्बन्धी पद गोविन्ददास ने अच्छे रुचिकर लिखे हैं। इन अभिसार-पदों के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि वस्तुतः हरि का प्रेम दुर्निवार है। हरिप्रेमी, कृष्णरसिक अद्भुत-कर्मा हो जाते हैं—

मांथहि तपन तपत पथ बालुक आतप दहन विथार।

नयनक पुतरि तनु चरण कमल जनु तखन चलल अभिसार।.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद १३५

यहाँ कान्ह-स्पर्श-लिप्सा लिए जो नायिका मार्ग की तप्त बालुका को नगण्य समझती है उसे छमछम बरसते मेघ भी दयित के समीप पहुँचने में बाधा नहीं पहुँचा पाते—

अम्बर डम्बर भर नव नेह, बाहर तिमिर न हेरु निज देह।

अम्बर ऊगल श्यामल इन्दु उल्लसय मनहि मनोभव सिन्धु।।.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद १३८

इस पद में सखिनिर्दिष्टमार्गा नायिका को कहीं दिग्भ्रम न हो जाये इस विचार से गुप्त रूप से गोविन्ददास भी उसके साथ हो लेते हैं।

शरदऋतु में रास-प्रसंग में श्रीकृष्ण की उमादिनी मुरली की तान सुनकर गोपियाँ उन्मत्ताओं की भाँति कान्ह से मिलने के लिये दौड़ ही तो पड़ती हैं—

शरद चन्द पवन मन्द विपिन भरल कुसम गन्ध।

फुल्ल मल्लि मालतीयूथि मत्त मधुकर भोरणी।.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद १५६; 'पदकल्पतरु', पद १२५५

अभिसारोत्कण्ठिता नायिका एक विशेष साधनारता होती है इसका उल्लेख गोविन्ददास ने बहुत सुन्दर ढंग से इस प्रकार किया है—

कटक गाड़ि कमल सम-पदतल-मंजिर चोरहि भांषि

गागरि बारि ढारि करि पीछल चलतहं अंगुलि चांपि।.....इत्यादि

—गोविन्द गीतावली, पद १५०

अर्थात्, गोविन्ददास इस बात को प्रमाणित करते हैं कि हे माधव तुम्हारे अभिसार के निमित्त वह भामिनी अभिसरणकालीन विपतियों पर विजयलाभ करने के उद्देश्य से अपने मन्दिर (घर) में ही जानबूझ कर उनसे सामना कर अभिसरणीय मार्ग-गमन का पूर्वाभ्यास करती है जैसे घर में ही कंठकादि बिछाकर उन पर कमल-से कोमल चरणों से चलती है—अभिसार के समय अकस्मात् चुभे काँटे की वेदना से वह पहले ही परिचित हो जाना चाहती है। पैरों के नूपुरों को कपड़े से भाँप कर चलती है। अभिसरण-स्थल का मार्ग फिसलनेवाला भी हो सकता है ऐसे मार्ग में सफलप्रयाण वह कर सके इस विचार से वह घर में गागर से जल ढार कर फिसलन कर लेती है। मार्ग में और उस पर सावधानी से पैर की उंगलियों को गड़ाकर चलने का अभ्यास करती है। रात्रि में घर में जागकर भामिनी अभिसरणीय दुस्तर मार्ग-गमन-साधना में लगी हुई दोनों हाथों से आँखों को बन्द करके चलती है इस आशा से कि शायद घने अन्ध-कार में से होकर जाना पड़े। उस दुस्तर मार्ग में सर्प जैसी बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं इसलिए वह अपने हाथ के कंकण को बेचकर या उसके बदले भुजग-गुरु (सपेरा) के पास से फनि-मुख (सर्प) वशीकरण विद्या के अभ्यास की व्यवस्था करती है। परिवार के गुरुजनों के वचनों का उस पर कोई असर नहीं होता। उनके लिये उसके कान मानो बहरे हैं। उनसे सुनती कुछ है तो प्रत्युत्तर में कहती कुछ और ही है—गुरुजनों को उसका आचरण अद्भुत-सा प्रतीत होता है। परिजन-अपने हम उमर सखा-सखियों के मध्य मुग्धा के सदृश हँसती रहती है।

विद्यापति, चण्डीदास, गोविन्ददास, ज्ञानदास जैसे शृंगार-भक्त कवियों की रचनाओं में अभिसार को विशेष महत्त्व प्राप्त है। गोविन्ददास ने यहाँ उपर्युक्त भामिनी की अभिसार-साधना का उल्लेख कर उस साधना-भक्ति-पद्धति विशेष को अनुमोदन प्रदान किया है जिस पर अधिकांश वैष्णव-शृंगार-भक्त चलने को लालायित रहे हैं।

गोविन्ददास ने 'संगीत-माधव नामक' एक संस्कृत रूपक भी लिखा जो अभी अप्रकाशित है। इसमें राधाकृष्ण के प्रेम-व्यापार का चित्रण है। कवि ने इसकी रचना नरोत्तम ठाकुर के नाती-भाई सन्तोष राय की फर्माइश पर की थी। इस रचना के उद्धरण बंगला वैष्णव पद संग्रहों में उपलब्ध होते हैं। श्रीकृष्ण-वन्दना सम्बन्धी उनका एक संस्कृत पद देकर इस प्रसंग को बन्द करेंगे।

ध्वजवज्रांकुश पंकज कलिलम्, व्रजवनिता कुच कुंकुम ललितम् ।
वन्दे गिरिवरधरपदकमलम्, कमलाकरकमलांचितं अमलम् ॥
मंजुलमणिनूपुर रमणीयम्, अचपलकुलरमणीकमनीयम् ।
अतिलोहितं अतिरोहित-भासम्, मधु मधुपीकृत-गोविन्ददासम् ॥

—'पदकल्पतरु', पद ३७९; 'पदामृत समुद्र', पृ० १६३

गोविन्ददास की रचना को देखने से स्पष्ट होता है कि यह महाकवि संगीतमय शब्द-

चित्रण में विशेष रुचि रखता था। तथापि शृंगार सम्बन्धी आवेश और निराशा के भावों के गहन चित्रण में बहुत कम प्रतिद्वन्दी रखता है। वैष्णव कीर्तन-शैली में उपस्थित होने पर ये पद विशेष रुचिकर प्रतीत होते हैं। अपनी कविता के विषय में गोविन्ददास की उक्ति इस प्रकार है—

रसनारोचनश्रवण-विलास ।

रचई रुचिर-पद गोविन्ददास ॥^१

ज्ञानदास-शृंगार-रस

ज्ञानदास ब्रजबुलि साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। इनका जन्म सन् १५३० ई० में जिला बर्दवान के उत्तर में स्थित काँदड़ा नामक स्थान पर हुआ।^१ इस स्थान पर आज भी उनकी स्मृति में वैष्णवों का एक वार्षिक मेला लगता है। ज्ञानदास एक ब्राह्मण-संतान थे। नित्यानन्द प्रभु की धर्म पत्नी जान्हवी देवी से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। वैष्णव संग्रह-ग्रन्थों में १०० से भी अधिक इनके पद संगृहीत हैं। गोविन्ददास कविराज को छोड़कर ब्रजबुलि के लेखकों में ज्ञानदास सर्वाधिक सतर्क लेखक थे।

सुविख्यात वैष्णव पदकर्ता ज्ञानदास के जातिभाई अब भी बाँकुड़ा जिले के कौतलपुर ग्राम में वास करते हैं। ज्ञानदास श्रीमती जान्हवी देवी के मन्त्रशिष्य होने के कारण गोस्वामी विरह से विभूषित हुए थे। यही कारण है कि उनके वंशज आज भी गोस्वामी उपाधि से अभिहित होते हैं। ज्ञानदास साधुवृत्ति के होते हुए भी एक सुरसिक, सहृदय थे। उनकी जन्मभूमि काँदड़ा ग्राम में आज भी एक मठ वर्तमान है। उस मठ में प्रतिवर्ष पौष पूर्णिमा के दिन तीन दिन का एक मेला लगता है। उसमें बहुत जन सम्मिलित होते हैं।

विद्यापति और चण्डीदास के अनुकरण पर अनेक वैष्णव कवियों ने पदावली रचना की किन्तु ज्ञानदास उनमें प्रधान स्थान रखते हैं। उनकी पदावली में कविभाव जीवन्त रूप से परिस्फुटित हुए हैं। इनका 'षोडश गोपाल रूप वर्णन' अपना सानी नहीं रखता।^२

ज्ञानदास ने राधाकृष्ण विषयक अपनी कविताओं में श्रीकृष्ण-जीवन के गौण पहलुओं यथा दान, नौका आदि पर ही विस्तार से लिखा है। ये कविताएँ सुन्दर हैं परन्तु रसोद्गार और मथुरा शोषक से रखी जा सकनेवाली कविताएँ और अधिक सुन्दर हैं। भाव और शैली की दृष्टि से इन्हें विद्यापति एवं चण्डीदास का अनुसर्ति कहा जा सकता है। अब ज्ञानदास की कविता-सीकरों से स्नात हो उल्लसित होवें। वैष्णव पद लहरी में संगृहीत प्रथम पद में राधा की विमुग्धकारी कान्ति का उल्लेख यों हुआ है—

१. ए हिस्ट्री ऑफ ब्रजबुलि लिटरेचर, पृ० १३४

२. वही ग्रन्थ, पृ० ६७

३. वैष्णव पद लहरी, पृ० १६६

शिख-नख— कनक वयन कनक कान्ति मुकुता निकर दशनापांति ।
नासा तिल मृदु-कुसुम तुल काजरे माजल दिठि दुकूल ।।...इत्यादि
ऐसी त्रिभुवन-निरूपमा सुवर्ण कान्तिमती, यौवनतरंगा एवं तरलवसना रूपराशि को
देखकर भला कौन विमुग्ध न होगा ?

विदग्ध माधव ने रूपराशि का हृदय से अनुभव किया और नवानुरक्ता अवस्था
में एक पिपासु की भाँति हाथ पसार दिया—

पहिलहि राधा माधव मेलि, परिचय दुलह दूरे रहु केलि ॥

अनुनय करइते अवनत नयनी, चकित विलोकि नख लेखइ धरनी ॥...इत्यादि

—वैष्णव पद लहरी, पद २२४, पृ० २४९

परस्परानुरक्त राधा-माधव की यह गुरुतम प्यास संयोगशृंगारान्तर्गत सम्भोग दशा
की ओर उन्हें ले जाती है। ज्ञानदास ने राधा-कृष्ण के सम्भोग का चित्र निम्न शब्दों
में दिया है—

अवनत वयने ना कहे किछु वानी, परसिते विहँसि चेलइ पहुँ पानी ।

सुचतुर नाह करये अनुरोध, अभिनव नायरी ना माने बोध ॥...इत्यादि

—वैष्णव पद लहरी, पद ६३, पृ० २११

ज्ञानदास की निम्न पंक्तियों को पढ़कर ज्ञात होगा कि विद्याता की अद्भुत
रूप सृष्टि नागर श्याम मनोहर को देखकर राधा का बलात् उस ओर तन-मन से
आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था। कृष्ण की मन्थरगति और लघुदृष्टि भंगिमाबद्धा
वह उस रूपराशि से कदापि न वियुक्त होने की इच्छा करने लगी। इस प्रबल आकर्षण
पर ज्ञानदास ने टिप्पणी की कि जब अभी से यह हाल है तो जिस समय तुम्हारा और
कृष्ण का सांगोपांग मिलन होगा तब कैसा होगा ? अर्थात् वह अवश्य ही वाणी से
परे होगा—

रूप देखि आँखि नाहि नटई, मन अनुगत निज लाभे ।

अपरसे देइ परस-सुख-सम्पद, श्यामर सहज-स्वभावे ॥इत्यादि

—अप्रकाशित पदरत्नावली, पद १३५

विप्रलम्भ-शृंगार-विषयक पूर्वराग, मान और प्रवास शीर्षकों के अन्तर्गत
रखे जा सकनेवाले पद भी वैष्णव पद संग्रहों से अनेक उद्धृत किये जा सकते हैं। यहाँ
पहले क्रमशः राधा और कृष्ण के पूर्वराग सम्बन्धी चित्र प्रस्तुत हैं—

राग सिंघुड़ा

शारद अमल इन्दु मुख सुन्दर, तनु धन श्यामर-कान्ति ।

नयन कमल अलि उरुयुग भंगिम, लागि रहल मधुमाति ॥इत्यादि

—अप्रकाशित पदरत्नावली, पद २

अर्थात् उस सहज सुमति नागर नन्दकिशोर का साक्षात् कर तरुणवयसा राधा विभोर
हो गई। ज्ञानदास उसकी इस स्वाभाविक क्रिया से सहमत होते हुए कहते हैं कि भला

ऐसी कौन स्त्री है जो उस रूपराशि श्रीकृष्ण को देखकर अपने तन की सुधि रख सकती है ? अर्थात् उस राशि का दर्शक मात्र विमुग्ध होता है । इस पद में राधा ने सखी से कहा कि है सखि मैंने उस नागर नन्दकिशोर को देखा है जिसका दर्शन तरुणियों के चित्त को विभोर करनेवाला है । साक्षात् के उपरान्त अब श्रीकृष्ण पास में नहीं हैं इसलिये सखि से श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन कर राधा ने निज पूर्वरगावस्था को प्रकट किया है । बिलकुल ऐसा ही श्रीकृष्ण के पूर्वरग से सम्बद्ध निम्न पद है—

राग धनाश्री

खेलत न खेलत लोक देखि लाज । हेरत न हेरत सहचरि माझ ॥

बोलइ ते वचन अलप अवगाइ । हसत न हसत मुख मुचुकाई ॥ इत्यादि

—अप्रकाशित पदरत्नावली, पद १८

यहाँ विमुग्ध श्रीकृष्ण ने भी राधा की सखी के सामने यह स्वीकार किया कि वस्तुतः मैंने वह नारी देखी है जिसका दर्शन चिर-सुखदाई है । न जाने उसे विधाता ने कैसे बनाया है ? उसकी तुलना योग्य वस्तु कहीं नहीं दीखती । श्रीकृष्ण ने परिचय घनिष्ठ करने के उद्देश्य से उसका स्पर्श अनुभव करते हुए जब उस राधा-नागरि का नाम जानने के लिए प्रश्न किया तब ही ज्ञानदास बोल पड़े, ऐ रसिक ! यह सुजान, सुना-गरिका है ।

प्राण में आतिशय का पुट देने वाले मान-विरह के विषय में ज्ञानदास कृत निम्न पद ध्यान देने योग्य हैं—

गगनक चाँद हाथ धरि देयलुं, कत समुझायलुं नीत ।

जत किछु कहल सबहुं ऐछन भेल, चीत-पुतलि-सम रीत ॥ इत्यादि

—‘पदकल्पतरु’ पद ५०२, पृ० ३३७

‘यहाँ दूती ने राधा के दुर्जयमान की सूचना देते हुए कहा कि मैंने उसके चाँद-से मुखड़े को अपने हाथ से सहलाते हुए अनेक प्रकार से नीति-प्रबोधन दिया—उसे समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया । परन्तु मेरा यह सब प्रयत्न ऐसा हो गया जैसे मानो मैं किसी चित्र में लिखित पुत्तलिका को बुझाने का यह सब प्रयत्न कर रही थी—चित्रलिखित किसी पुत्तलिका की भाँति उस पर मेरे प्रबोध-सूत्रों का कोई असर नहीं हुआ । स्वयं माधव द्वारा मनाये जाने पर भी नहीं मानती उसे कैसे समझाया जावे ? दूती आगे कहती है कि हे माधव तुम्हारे मधुर गुणों को अब उसके चित्त में कैसे प्रस्थापित करूँ ? यह तो अब उन पर विश्वास ही नहीं लाती और तुम्हारे गुणों का बखान सुनकर पाले से मारी कमलनी-सी प्रतीत होती है । अपने आप मैंने उसे बहुतेरे हाथ पैर जोड़कर साधने की कोशिश की तब वह अन्त में रोषपूर्वक उठकर चली गई । राधा के दुर्जयमान के साक्षी ज्ञानदास भी कहते हैं कि सचमुच सखी द्वारा प्रयुक्त सरस-विरस किसी भी प्रकार के वचनों से उसे प्रबोध न हुआ—उनमें से किसी भी बात पर उसने कान न दिया । सचमुच वह दुर्जयमानवती थी ।

एक अन्यस्थल पर दुर्जयमानवशा नायिका का वैय भी बँधाते हैं विद्यापति की भाँति—

पहिलहि चांद करे दिल आनि । भांपल शैल-शिखरे एक पानि ॥
अब विपरित भेल से सब काल । बासि कुमुमें किये गाँथई माल ॥ ...इत्यादि
—पदकल्पतरु, पद ४६६, पृ० ३३३

यहाँ मानवती की दृष्टि में सखी या दूती द्वारा उसको मनाने का प्रयत्न ऐसा है जैसे बासी फूलों से हार गूँथना । उसे विश्वास हो गया है कि श्रीकृष्ण वस्तुतः कुलिश-हृदय हैं वैसे ऊपर से वह मिष्टभाषी हैं । अब वह सचमुच इस बात को माननेवाली हो गई है कि पानी और तेल का गाढ़ प्रेम स्थाई प्रीत सम्भव नहीं है । दूती की शठता पर भी उसे अब कुछ क्षोभ है । वह पूछती है कि हे कुट्टिनी तू सच बता कि मेरी यह दुर्दशा क्या गुप्तप्रेम का ही फल नहीं है ? इस प्रकार भीतर क्षुब्ध और अनमनी नायिका को ज्ञानदास ने कहा कि चिन्ता मत करो सब ठीक हो जायेगा ।

मानवती के क्षुब्ध हृदय में आपने भाँक लिया । ज्ञानदास की रचना में से अब क्रमशः विप्रलब्धा और प्रोषितपतिका का चित्र प्रस्तुत करते हैं—

ए घोर रजनी मेघ गरजनी केषने आओब पिया ।

सेज बिछाइया रहिनु बसिया पथ पाने निरखिया ॥.....इत्यादि

—वैष्णवपद लहरी पद २३७, पृ० २५१-२५२

इस पद में नवानुरक्ता विश्वस्ता हो सहेट-स्थल पर पहुँची अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करती । सहेट स्थल में सूनी सेज पाकर उस घनघोर रात्रि में उसका हृदय कचोट उठा मनोरथ को असफल जानकर । ऐसी भग्नहृदया से ज्ञानदास बोले, हे सुन्दरि सुनो दीन मत हो शीघ्र ही तुम अपने अभीष्ट बन्धु से मिल जाओगी ।

प्रवासी प्रेमी की प्रियतमा किसी भी ऋतु में सुखभोग नहीं कर पाती । विशेषकर पावस और वसन्त के आगमन पर तो उसकी दुर्दशा चरम सीमा को पहुँच जाती है—

पिया परदेगे बेश गैल दूर, हान रभस सबहुँ भेल चूर ।

मृग मद चन्दन लेपन विथ, मन्द पवन जनु आनल शिख ॥इत्यादि

प्रोषितपतिका को यहाँ दयित के अभाव में कुछ भी नहीं सुहाता । दयित के विरह में उसकी देह रेखा का अनुसरण करनेवाली हो गई है । अन्त में वह कहने लगती है कि दुर्दैव ने 'हा-हा' शब्द ही मेरे जीवन में सार रूप से छोड़ दिये हैं । यह सुनकर ज्ञानदास कह उठते हैं कि यह अविचार है, अर्थात् हे सुन्दरी, ऐसा मन में नहीं लाते, शीघ्र ही तुम्हें प्रियतम-लाभ होगा धैर्य धारण करो ।

नन्ददास-शृंगार-रस

ये सूरदास जी के प्रायः समकालीन थे और इनकी गणना अष्टछाप में है । इनका कविता-काल सूरदास जी की मृत्यु के पीछे संवत् १६२५ या उसके और आगे तक माना जा सकता है । प्राचीन वार्ता रहस्य में जो वृत्त नन्ददास का दिया हुआ है

उससे विदित होता है कि वह रामपुर (जिला एटा) निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे और उनकी गणना अष्टछाप में की जाती थी। डा० दीनदयालु गुप्त ने अनुमान से संवत् १५६४ में इनका जन्म माना है। इसके विस्तृत जीवन वृत्त की जानकारी के लिए डा० उमाशंकर शुक्ल कृत 'नन्ददास ग्रन्थावली' प्रथम भाग और जुलाई १९४० ई० में प्रकाशित हिन्दुस्तानी पत्रिका में वर्तमान महाकवि नन्ददास का जीवन चरित विषयक लेख पठनीय हैं। अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का ही स्थान है। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि 'और सब गढ़िया नन्ददास जड़िया'।

रासपंचाध्यायी के अतिरिक्त इन्होंने ये पुस्तकें लिखी हैं—भागवत दशम स्कंध, रुक्मिणी मंगल, सिद्धान्त पंचाध्यायी, रूपमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी, विरहमंजरी, कामचिन्तामणिमाला, अनेकार्थनाम माला (कोष), ज्ञानमंजरी, दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी, श्याम सगाई, भ्रमरगीत और सुदामा चरित। दो ग्रन्थ इनके और कहे जाते हैं हितोपदेश और नासिकेत पुराण (गद्य में)। दो सौ से ऊपर इनके फुटकर पद भी मिले हैं।

रूपमंजरी, रसमंजरी, विरहमंजरी, भ्रमरगीत और रासपंचाध्यायी स्पष्टतः ही इनकी शृंगार रस विषयक रचनाएँ हैं। कृष्ण के भक्त होने के नाते नन्ददास की कोई भी ऐसी रचना नहीं है जो किसी न किसी रूप में कृष्ण से सम्बद्ध न हो। रूपमंजरी में धर्म-धीर नामके किसी राजा की कन्या का चरित्र वर्णित है। विवाह-योग्य होने पर रूपमंजरी के माता-पिता ने किसी ब्राह्मण को उसके योग्य वर खोजने का भार सौंपा। लोभी तथा दुर्बुद्धि ब्राह्मण ने उसका विवाह किसी क्रूर तथा कुरूप राजपुरुष से करा दिया। रूपमंजरी के स्वजन विशेष रूप से उसकी सखी इन्दुमति इस घटना से अत्यन्त दुःखित हुई। उसने उपपत्ति-रस द्वारा अपनी सखी के अपार सौन्दर्य को सार्थक बनाने का यत्न किया। उसके व्रत आदि के फलस्वरूप रूपमंजरी को कृष्ण ने दर्शन दिये। इसके पश्चात् कवि ने षट्शतुओं तथा उनसे पीड़ित रूपमंजरी की विरहावस्था का वर्णन करके अन्त में स्वप्नावस्था में कृष्ण-प्राप्ति करा दी है। इन्दुमति भी अपनी सखी की सेवा करते हुए मुक्ता हो गई। इस आख्यान में कवि ने पात्रों के व्यक्तित्व का विकास भी किया है जिससे यह निश्चित नहीं हो पाता है कि उसके प्रधानपात्र रूपमंजरी तथा इन्दुमती ऐतिहासिक व्यक्ति थे अथवा नहीं। डा० उमाशंकर शुक्ल लिखते हैं कि हम यह देख चुके हैं कि एक बहिरंग साक्ष्य द्वारा ग्वालियर की बेटी रूपमंजरी से कवि की मैत्री होने का उल्लेख मिलता है। कदाचित् रूपमंजरी का वैवाहिक जीवन असफल था और वह अन्त में कृष्ण-भक्त हो गई थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उससे धनिलता होने के कारण कवि ने उसके वृत्त को प्रकट न किया हो। विरहमंजरी बारहमासे की शैली पर लिखी हुई रचना है। इसमें विरहाकुल व्रजबाला चन्द्र को दूत बनाकर कृष्ण के पास द्वारिका से शीघ्र वापस आने का सन्देश भेजती है।

रसमंजरी भाषा-साहित्य में कदाचित् नायिका-भेद का पहला ग्रन्थ है। स्वयं

कवि ने रसमंजरी नामक किसी ग्रन्थ के अनुसरण करने का उल्लेख किया है। संस्कृत कवि भानुदत्त मिश्र (मैथिल) विरचित रसमंजरी से नन्ददास की रसमंजरी की तुलना करने पर दोनों में बहुत अधिक साम्य मिलता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का अभिप्राय भानुदत्त के ग्रन्थ का अनुसरण करने से ही है। भानुदत्त ने विभिन्न नायिकाओं के लक्षण गद्य में दिये और उनके उदाहरण श्लोकों में। लक्षणों की समीचीनता पर भी उन्होंने शास्त्रीय ढंग से विचार किया है। नन्ददास ने इन विस्तारों को एकदम छोड़ दिया है। उन्होंने प्रायः उदाहरणों को ही लिया है। यहाँ दोनों ग्रन्थों से 'सुरतिगोपना परकीया' का एक उदाहरण तुलनार्थ दिया जाता है जिससे यह ज्ञात होता है कि नन्ददास का उद्देश्य भानुदत्त के ग्रन्थ को रूपान्तरित करना ही था—

श्वश्रुः क्रुध्यतु विद्विषन्तु सुहृदो, निन्दन्तु वा मातरः ।

तस्मिन् किन्तु न मन्दिरे सखि पुनः स्वापोविधेयो मया ॥

आखोराक्रमणाय कोणकुहरादुत्कालमातन्वती ।

मार्जारी नखरैः खरैः कृतवती, कां कां न मे दुर्दशाम् ।

—'रसमंजरी' भानुदत्त मिश्र, पृ० ५३, प्रकाशक श्रीकृष्ण निबन्ध भवन, काशी १९२६ ई०

कहे सखी सों उहि गृह अंतर अबतैं हौं सोऊँ न सुतंतर ।

सास लरी, धैया किन लरी, दैया जो भावै सौ करो ।

आखु धरन हित दुष्ट मजारी, मोपै उछरि परी दइमारी ।

दंगई तीछन नख दुखदाई, कासों कहों दरद सों भाई ।

इहि छल छतन छिपावै जोई परकिय सुरति गोपना सोई ॥

—डा० उमाशंकर शुक्ल सम्पादित 'नन्ददास रसमंजरी', पंक्ति ११०-११४ पृ० ४४-४५

नन्ददास के काव्य का प्रधान लक्ष्य गोपीकृष्ण के प्रेम को अंकित करना ही था। उनके भक्त हृदय के काव्याकाश का क्षितिज गोपियों के निस्सीम तथा उमड़ते हुए प्रेमसागर में विलीन हो जाता है। कवि यह स्पष्टतया स्वीकार करता है कि गोपियों का प्रारम्भिक प्रेम वासनामय है—

तैसैई गोपी प्रथम काम, अभिराम रसी रस ।

पुनि पाछे निस्सीम प्रेम, जिहि कृष्ण भये वस ॥

—'नन्ददास' सिद्धान्त पंचाध्यायी, पंक्ति २१७-२१८, पृ० १६३, भाग २
उसके मूल में मानव हृदय की स्वाभाविक पाशविक वृत्तियाँ अन्तर्हित हैं। वह कृष्ण के ईश्वरत्व से नहीं वरन् उसकी अनुपमेय रूपमाधुरी से उन्मत्त होने पर प्रादुर्भूत होता है। परन्तु ब्रह्मादि से लेकर कीटपर्यन्त में अनुप्रविष्ट समस्त सृष्टि का सृजन तथा पालन करनेवाले परम पुरुष कृष्णचन्द्र की ओर उन्मुख होते ही वासनाओं का विष जाता रहता है। गोपी-कृष्ण का प्रेम प्रेम ही नहीं है वह परम प्रेम है।

इस प्रेम की विशेषता साधन में न होकर साध्य में परिलक्षित होती है। कहा जाता है कि साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार गोपी-कृष्ण का प्रेम स्वकीया प्रेम ही है क्योंकि गोपियाँ कृष्ण की विवाहिता स्त्रियाँ थीं। पृष्टिमागीय अचार्यों का इस

विषय में जो भी मत हो, पुष्टिमार्गीय कवियों की रचनाओं में इस बात को नहीं स्वीकृत किया गया है। नन्ददास ने एक स्थल पर स्पष्ट रूप से कहा है कि परकीया प्रेम ही प्रेम की चरम सीमा है—

रसमैं जो उपपति रस आही ।

रस की अवधि कहत कवि ताही ॥

—नन्ददास 'रूपमंजरी', पंक्ति १६६, पृ० ८

कवि के फुटकर पदों में दाम्पत्य रति की कुछ भाँकियाँ अवश्य देखने को मिलती हैं किन्तु वे संख्या में अधिक नहीं हैं। नन्ददास का प्रेम प्रधानतया रूपासक्तिमूलक ही है। अतएव कृष्ण की रूपमाधुरी का चित्रण बड़े विस्तार से किया गया है—

कोटि काम लावण्य धाम अंग सांवरे पिय के ।

जे जे जाकी दृष्टि परे ते भये तित ही के ॥.....इत्यादि

—नन्ददास 'रुक्मिणी मंगल', पंक्ति १६६-१७२, पृ० १४६

संयोग-शृंगार के दो अनूठे चित्र रासपंचाध्यायी में हैं, पहला प्रथम अध्याय में कृष्ण के अन्तर्हित होने के पहले देखने को मिलता है। यह मिलन संक्षिप्त ही है—

विलसत विविध विलास हास नीवि-कुच परसत ।

सरसत प्रेम अनंग रंग नव घन ज्यों बरसत ॥

—नन्ददास 'रासपंचाध्यायी', पंक्ति २४५-२४६, पृ० १६६

दूसरा चतुर्थ अध्याय में कृष्ण के प्रकट होने के बाद से प्रारम्भ होकर पंचम अध्याय के अन्त तक चलता है और पहले की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत और पूर्ण है। कृष्णप्राप्ति के बाद जिस प्रेमोल्लास के साथ गोपियाँ उनसे मिलती हैं उसकी सीमायें निर्धारित करना असम्भव है—

पीत वसन वनमाल धरे, मंजुल मुरली हथ ।

मन्द मधुर मुसकात, निपट मनमय के मनमथ ॥.....इत्यादि

—नन्ददास 'रासपंचाध्यायी', पंक्ति ३६५-४१०, पृ० १७३

संयोग के चित्रण में कवि की लेखनी पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ चलती है। संयम अथवा नियन्त्रण को वह जानबूझकर हटा देता है। क्योंकि उसके आदर्श के अनुसार आराध्य और आराधक के इस पुनीत मिलन में दोनों का पूर्ण एकीकरण बहुत आवश्यक है।

दाम्पत्य रति के संयोग-पक्ष का जो यत्किंचित् विस्तार किया है उसकी मनोहरता अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। निम्न पद में राधा-कृष्ण की पारस्परिक स्पर्धा का जिस सरलता से निबटारा कराया गया वह द्रष्टव्य है—

बेसर कौन की अति नीकी ।

होड़ परी प्रीतम अरु प्यारी अपने अपने जीकी ॥.....इत्यादि

—'नन्ददास भाग' २, परिशिष्ट पृ० ४१६, पद १५०

विप्रलम्भ शृंगार अध्ययन के सुभीते के विचार से शृंगार-रस को दो भागों में विभाजित किया जाता है—संयोग तथा वियोग। अन्य कवियों के समान ही नन्ददास में भी संयोग शृंगार का उतना विशद वर्णन नहीं किया है जितना वियोग का रूपमंजरी, विरहमंजरी, भ्रमरगीत, रुक्मिणी मंगल, रासपंचाध्यायी तथा कुछ फुटकर पदों में विप्रलम्भ-शृंगार के गम्भीर विश्लेषणों की छटा प्रदर्शित की गई है। इन रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि नन्ददास ने विप्रलम्भ-शृंगार के अन्तर्गत पूर्वराग, मान, प्रवास आदि पर पर्याप्त लिखा है। पूर्वानुराग के निम्न पद में नन्ददास की भाषा भावों को सुचारु रूप से व्यक्त ही नहीं करती वरन् उसमें एक अजीब जान डाल देती है—

कृष्ण नाम जब तें श्रवन सून्यों री आली,

भूलि री भवन हौं तो बावरी भई री ।.....इत्यादि

—डा० उमाशंकर शुक्ल सम्पादित 'नन्ददास पदावली, भाग २,
पंक्ति २६८-७५, पृ० ३४१

कृष्ण-रूप-माधुर्य के स्मरण मात्र से गोपियाँ जड़ता की अवस्था को प्राप्त हो जाती है—

सुनि मोहन-सन्देश रूप सुमिरन ह्वै आयो ।

पुलकित आनन अलक अंग आवेस जनायो ॥.....इत्यादि

—नन्ददास भ्रमरगीत, पंक्ति २६-३०, पृ० १२४

विरह के भेदों के सम्बन्ध में भी नन्ददास के विचार उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार विरह के चार भेद होते हैं। वे अपने मित्र से कहते हैं—

प्रथम प्रतच्छ विरह तू सुनि लै, तातें पुनि पलकान्तर गुनि लै ।

तीजौ विरह वनान्तर भये, चौथो देसान्तर के गये ॥

—नन्ददास विरहमंजरी, पंक्ति १२-१३, पृ० २८

मित्र प्रश्न करता है— प्रश्न भई इक सुन्दर श्याम बसत वृन्दावनधाम ।

या के विरह जु उपज्यो महा, कहौ नन्द सो कारण कहा ॥

—'विरह मंजरी', पंक्ति ८-९, पृ० २९

इस प्रश्न के उत्तर में ही कवि विरह के चारों भेदों को गिनाता है। चैत, बैसाख, जेठ, असाढ़, सावन, भादों, कुंवार, कार्तिक, अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन के शीर्षक से 'विरहमंजरी' के बारहमासे की पृष्ठभूमि में भी इसी प्रकार की विचार शैली है। इस वर्णन में विशेष मर्मस्पशिता और हृदयग्राहिता नहीं है।

मान-प्रसंग के अन्तर्गत नन्ददास की 'मान मंजरी', 'नाममाला' प्रस्तुत की जा सकती है। इसकी रचना अमरकोश के आधार पर हुई है। किन्तु इसमें कवि ने अपने विषय का प्रतिपादन अत्यन्त रोचक तथा मौलिक ढंग से किया है। यह उनकी एक-दम सम्प्रदाय-प्रभाव-रहित रचना है। इसे नन्ददास ने अपनी रसिकता से सरस बना डाला है। ठीक है कि इसके अन्त में भी युगलकिशोर आराधना की छाप मिलती है। नन्ददास ने इसमें शब्दों के पर्यायवाचियों के साथ-साथ मानिनी राधा के मनाने की

कथा का कुछ त्रिस्तुत वर्णन देकर अन्त में राधा और कृष्ण का मिलन करा दिया है। सचमुच इस प्रसंग की अवतारणा से कोश ऐसे नीरस विषय में भी बहुत सरसता आ गई है। प्रथम दो तीन पंक्तियों में शब्द के पर्यायवाचियों की सूची देकर बाद में अन्तिम पंक्तियों में राधा-माधव की मान-कथा वर्णित की है। प्रारम्भ में ही कवि ने इस रचना का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है—

गुंथनि नाना नाम की, अमर कोश के भाइ ।

मानवती के मान पर, मिलें अर्थ सब आइ ॥

—डा० उमाशंकर शुक्ल सम्पादित 'नन्ददास'—'मानमंजरी', पंक्ति ५-६, पृ० ६१

अब मानमंजरी के सौरभ से आप्लावित होइये—

मान—ग्रहंकार, मद, दर्प पुनि गर्व स्मय अभिमान ।

मान राधिका कुंवर को सबको करत कल्याण ॥ पंक्ति ७-८, पृ० ६१

सखी—वयसा, सौरिन्वी, सखी, हितू सहचरी आहि ।

अलि, कुंवरि वृषभान की, चली मनावन ताहि ॥ पंक्ति ९-१०, पृ० ६१

काम—मदन जु मनमथ, मनोभव, समर, पंचसर, मार ।

मीनकेत कन्दर्प पुनि दर्पक अति सुकुमार ॥ इत्यादि, पं० २०३-६, पृ० ७५

प्रिया—इष्टा, दयिता, वल्लभा, प्रिया, प्रेयसी होइ ।

प्रिय के तोसी प्रीतमा और न देखी कोइ ॥ पं० २१५-२१६, पृ० ७६

लता—व्रतती, बिशती, वल्लरी, विष्नी, लता, प्रतान ।

अमरबेलि जिमि मूल बिन इमि देखियत तुव मान ॥ पं० २१७-१८, पृ० ७६

मित्र—सुहृदय, मित्र, वल्लभ, सखा, प्रीतम, परम, सुजान ।

पिया प्यारे पै जाहु बलि न करि अकारन मान ॥ पं० २१९-२०, पृ० ७६

प्रेम—हार्द, स्नेह, प्रियता, बहुरि, प्रणय, राग, अनुराग ।

कित गो तेरो प्रेम बलि हे भामिनी बड़भाग ॥ पं० ३२५-२६, पृ० ८३

मग—बर्त्तम, अध्वा, सरनि, पथ, संचर, पाद, बिहार ।

मग देखत ह्वै है दई, आतुर नंद कुमार ॥ पं० ३६७-६८, पृ० ८६

कृपा—माया, दया, कृपा, घृना, अनुकंपा, अनुक्रोस ।

कहना करि कहनानिधे राधे जिनि करि रोस ॥ पं० ३६९-७०, पृ० ८६

पत्र—पत्र, पर्न, दल, छदन, छद, खरकत जब तरुपात ।

तुव आगम अम चौकि पिय उठि उठि उठि लौं जात ॥ पं० ३६५-६६, पृ० ८८

समूह—निकर, प्रकर, निकुरंब, व्रज, पूर, पूग, चय, व्यूह ॥

कंदल, जाल, कलाप, कुल, निवह, निचय समूह ॥

चक्र, अनंत, कदंब, गन, ग्राम, तोम, बहु, वृंद ।

मैं अनेक बातें कही भई तये की बुंद ॥ पं० ४०७-१०, पृ० ८८-८९

अल्प—दर, स्तोक, ईषद, अल्प, रंचक, मंद, मनाक ।

तव पिय सहचरि खन चितै मुसकी कुंवरि तनाक ॥ पं० ४११-१२, पृ० ८६

उच्चधाम—सौध, हर्म, प्रसाद तै चली जु तिय मति मंद ।

सोभित मुख जनु गगन तै अवनी उतरत चंद ॥ पं० ४२३-२४, पृ० ९०

चन्द्रिका—जोतिस्ना पुनि कौमुदी बहुरि चन्द्रिका नाउं ।

जौन्ह सी पसरति वदन तै थोरौ हंसि बलि जाऊं ॥ पं० ४२५-२६, पृ० ९०

विद्रुम—सुषिरा, नटी, नली, घमनि, कपोतांग्रि, परबाल ।

तुव अघरन सम कहत कवि पैनहि मृदुल रसाल ॥ पं० ४७६-८०, पृ० ९४

केतकी—ताल, खजूरी, तृणद्रुमा, केतकी पकरति पाइ ।

तुव आगम आनन्द बलि फूली आंगन माइ ॥ पं० ४६६-५००, पृ० ९५

कूल—कुल, पुलिन, उपकण्ठ, तट, निकट, रौघ, अभ्यास ।

तीर तीर बलि जाहि चलि निपट निकट पिय पास ॥ पं० ५१७-१८, पृ० ९६

बेत—बेत, सीत, बिन्दुल, रथी, अन्नपुष्प, वानीर ।

मंजुल बंजुल कुंजतर जंह बैठे बलवीर ॥ पं० ५१६-५२०, पृ० ९६

इंद्री—गो, हृषीक, खं, करव, गुन इन्द्री ज्यों असु पाइ ।

यौं राधा माधव मिले परम प्रेमरस पाइ ॥ पं० ५२३-२४, पृ० ९७

जुगल—जुगल, जुग, जुग, दण्ड, द्वय, उभय, मिथुन, विवि, वीय ।

जुगलकिशोर सदा बसहु नन्ददास के हीय ॥ पं० ५२७-२८, पृ० ९७

प्रवास के अन्तर्गत इनका 'भंवरगीत' प्रस्तुत किया जा सकता है। भंवरगीत का मूलाधार श्रीमद्भागवत-दशम स्कन्ध के अध्याय ४६-४७ हैं। नन्ददास के भंवरगीत में उद्धव के आगमन का प्रयोजन केवल गोपियों को समझाना है। उसकी प्रथम पंक्ति है—“उधो को उपदेस सुनो ब्रज नागरि ।” आगे चलकर इसमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों को ही बराबर स्थान मिला है, जहाँ दार्शनिक युक्तियों का प्रयोग है वहाँ उसी के साथ विरह की वेदना और रूप-माधुर्य की पिपासा भी है।

जौ हरिके नहीं कर्म कर्म बन्धन क्यों आवै ।

तौ निर्गुन है वस्तुमात्र परमान बतावै ॥...इत्यादि

प्रेम की विह्वलता के हमें अनेक उदाहरण मिलते हैं किन्तु जहाँ पर गोपियों की तन्मयता के कारण उनके मानस पटल के कृष्ण उनके नेत्रों के सामने दिखाई पड़ने लगते हैं तब वह विह्वलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है—

अहो नाथ श्रीनाथ और जडुनाथ गुसाई,

नन्द-नन्दन बिहराति फिरति तुम बिन सब गई ॥...इत्यादि

नन्ददास के भंवरगीत में विशेषकर वियोग-शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है और यत्र-तत्र विविध अलंकार जड़े हुए मिलते हैं। इस दृष्टि से निम्न छन्द विशेष उल्लेखनीय है—

सुनत श्याम को नाम ग्राम-घर की सुधि भूली,
भरि आनंद रस हृदय प्रेम बेलि द्रुम फूली।*** इत्यादि

इसमें श्याम आलम्बन हैं और श्याम का उनके सखा द्वारा नाम-श्रवण उद्दीपन है। हर्ष (भरि आनंद रस हृदय प्रेम बेलि-फूली) संचारी है। रोमांच (पुलकि रोम), अश्रु (भरि आये जल नैन) और स्वरभंग (कण्ठ छुटे गद्गद गिरा) सात्विक भाव हैं जो एक प्रकार के अनुभाव ही हैं। भंवरगीत में सिंगार से सम्बद्ध आवेग दीनता आदि और भी संचारियों के उदाहरण मिलते हैं—“दुख जलनिधि हृष बूझहीं कर अवलम्बन देहु” में दीनता का अच्छा उदाहरण है।

नन्ददास ने मनुष्य के हृदय के गूढ़तम भावों को अन्तर्दृष्टि से देखकर उन्हें ललित शब्दों में स्पष्ट कर दिया है—वियोगिनी ब्रजबालाओं का स्वाभाविक वियोग-कथन भावपूर्ण और कितना करुणाजनक है—

नैन मूँदिबो महा अस्त्र लै हाँसी हाँसी।

मारत हो कित सुरतनाथ बिन मोल की दासी ॥***इत्यादि

—रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत, पृ० १५

वियोग के बाद आकस्मिक संयोग की छटा कितनी स्वाभाविक है—

कोऊ चटपट सौं भूपटि कोऊ पुनि उरवर लपटि।

कोऊ गर लपटि कहत भले जु कान्हर कपटि ॥***इत्यादि

—वही, पृ० १७

वियोग-शृंगार के लिये तो सम्पूर्ण रचना ही उदाहरणस्वरूप दी जा सकती है। गोपियों के विरह का एक चित्र यह है—

कोउ कहै अहो दरस देहु पुनि बेनु बजावौ,

दुरि दुरि वन की ओट कहा हिय न लौन लगावौ।***इत्यादि

—भ्रमरगीत, पृ० १४

शृंगार-रस के सामान्य घटक—कहना न होगा कि अभी हाल में उद्धृत ‘मान-मंजरी’ के लगभग दो दर्जन पद्यों में सखा, सखी, लता, वन, संध्या, चन्द्रिका, विद्रुम, नदी, तट, कुंज आदि शृंगार-रस के सामान्य सभी घटकों का वर्णन आ जाता है। तथापि रस-उद्दीपन जिनका प्रयोजन है ऐसे प्रकृति वर्णन, हावभाव, हेला, रति, नायिकाभेद आदि शृंगार-घटकों के विषय में नन्ददास के विचार लिखते हैं।

प्रकृति वर्णन—नन्ददास ने प्रकृति का सुखमय वर्णन तीन प्रकार से किया है :—

१. प्रकृति का सुखमय शृंगारयुक्त चित्रण।

२. आगामी कार्यों के क्रीड़ा-स्थल के उपयुक्त प्रकृति का रूप प्रदर्शन।

३. केवल अलंकार के रूप में लाने के लिये ही प्रकृति के भिन्न रूपों का प्रयोग।

प्रथम प्रकार के प्रकृति-वर्णन में प्रकृति एक नवयौवना स्त्री के समान हृष्टि-गोचर होती है, जिसका स्वाभाविक शृंगार नेत्र और हृदय को आनन्द देनेवाला है।

प्रकृति के प्रत्येक अंग में स्त्री के बाह्य सौन्दर्य की झलक है। कवि वर्णन करता है केवल सजीव सौन्दर्य का और वह भी सीधे शब्दों में। नन्ददास का इस प्रकार का वर्णन यह है—

कुसुम धूरि धूमरि कुंज मधुकरनि पुंज जंह ।

ऐसेहु रस आवेस लटकि कीनो प्रवेस तंह ॥...इत्यादि

—रासपंचाध्यायी और भंवरगीत, पृष्ठ ६

दूसरे प्रकार के वर्णन में नन्ददास प्रकृति का रूप इस भाँति वर्णन करते हैं कि आगे होनेवाले कार्यों की तीव्रता बढ़ती है अथवा उनमें उद्दीपन होता है। जिस प्रकार नाटक में शृंगार-कथानक की सरसता रंग-मंच के दृश्य में उपवन, राज्य-प्रासाद या चन्द्र-दर्शन से और भी बढ़ जाती है उसी प्रकार कथानक का वेग और भी तीव्र करने के लिये नन्ददास ने प्रकृति का सहारा लेकर कथानक के अनुकूल ही वायुमण्डल की सृष्टि कर दी है। प्रथम अध्याय में कृष्ण की मुरली की ध्वनि को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये कवि ने शरद की निस्तब्ध रात्रि का सहारा लिया है। प्रकृति यहाँ उद्दीपन विभाव का काम करती है—

कोमल किरण अरुण मानो बन व्याप रही ज्यों ।

मनसिज खेत्यो फागि धुमड़ धुरि रह्यो गुलाल ज्यों ॥...इत्यादि

—वही, पृ० ५

यहाँ कविता के चित्र के लिए प्रकृति ने सचमुच ही चित्रपट का रूप ले लिया है।

नन्ददास के तीसरे प्रकार के प्रकृति-वर्णन में कोई विशेषता नहीं है। प्रकृति के भिन्न रूपों का प्रयोग केवल अलंकार लाने के लिये उन्होंने किया अवश्य है पर बहुत कम। कारण यह है कि वास्तव में वह अलंकार के उतने प्रेमी नहीं थे जितने भाव के। ऐसे वर्णन में यदि अलंकार है तो भाव का भी सर्वथा अभाव नहीं है। वे लिखते हैं जैसे—

टूटी मुक्तन माल छूटि रही साँवरे ऊपर ।

गिरि तें जिमि सूरसरि गिरी द्वै धार धारिधर ॥...इत्यादि

—वही, पृ० २३

नन्ददास जिस वस्तु का वर्णन करते हैं वह वर्णन इतना यथार्थ और स्वाभाविक होता है कि उसका चित्र आँखों के सामने आ जाता है—

सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजत भारी ।

हियो सरोवर रस भरी चली मानो उमगि पनारि ॥...इत्यादि

—वही, पृ० १

इन शब्दों के प्रवाह में पनारी के तीव्र-गमन का चित्र है।

‘रस-मंजरी’ नन्ददास कृत नायक-नायिका-भेद विषयक लक्षण-ग्रन्थ है। जिसमें नायिकाभेद वर्णन के साथ उन्होंने भाव, हाव, हेला और रति के विषय में भी लिखा है—

एक मीत हम सों अस गुन्यो, मैं नायिकाभेद नहि सुन्यो ।

अरु जे भेद नायक के गुने, ते हू मैं नीके नहि सुने ॥

१—डा० उमाशंकर शुक्ल सम्पादित नन्ददास रसमंजरी, पंक्ति ११-१२, पृ० ३६
इस प्रकार मित्र-अनुरोध पर नन्ददास ने जो नायिकाभेद लिखा उसकी एक झलक देखें—

(क) ज्ञातयौवना मुग्धा—सहचरि के उर जन तन चहैं, अपने चंह, मुसकि छविलह ।
सखि कहैं, बलिये तव कुच नये, इक ठां विविसंमुखे भये ।

—नन्ददास-रसमंजरी पंक्ति ६२-६३, पृ० ४२

(ख) लण्डिता प्रौढ़ा—भोरहि आये मोहन लाल, तिय पद जाबक अंकित भाल ।

—नन्ददास-रसमंजरी पंक्ति १६२ पृ० ४८

(ग) कृष्णाभिसारिका मध्या—निरखि सुमुखि अभिसार कि बारा,

सखि संग गवने रुचिर विहारा । इत्यादि

—वही, पंक्ति २६६-२७१ पृ० ५४

(घ) शुक्लाभिसारिका मध्या—चन्द उदय चन्दन तन धरै,

जोन्हसि आपुहि हंसि हंसि परै । इत्यादि

—वही, पंक्ति २६६-२७१, पृ० ५४

(ङ) प्रवत्स्यमाना परकीया—चलन कहत हैं कालि पिया का करिहौं मेरी आलि ।

विधना ऐसे करि कछु जैसे होइ न कालि ॥

—वही, पंक्ति ३२६-३३०, पृ० ५८

अब भाव, हाव, हेला, रतिप्रेम के विषय में देखें नन्ददास क्या कहते हैं—

भाव—प्रेम की प्रथम अवस्था जोइ कविजन भाउ कहत हैं सोइ ।

—वही, पंक्ति ३५५, पृ० ५६

हाव—नैन बैन जब प्रगटैं भाउ ताको सुकवि कहत हैं हाउ ।

—वही, पंक्ति ३५६, पृ० ५६

हेला—पिय तन तनक कनखियन भाँके नीवि, कुच, प्रगटैं अरु ढाँके ।

कन्दुक खेले सखि कहूँ ठेले अंग अंग भाव उमगि छवि छेले । इत्यादि

—वही, पंक्ति ३६३-३६६, पृ० ६०

रति—मन की गति हिय पै इहि ढार समुद मिलि जिमि गंगा धार

—वही, पंक्ति ३६६, पृ० ६०

प्रेम—परकीय प्रोषितपतिका के नीचे प्रेम के विषय में—

प्रेम मिटै नहि जन्म भरि उत्तम मन की लागि ।

जो जुग भरि जल में रहै मिटै न चकमक आगि ॥

—वही, पंक्ति १५१-५२, पृ० ४७

अलंकार-विभव—नन्ददास की रचना में अलंकारों की भरमार तो नहीं है किन्तु उनका नितान्त अभाव भी नहीं है । अलंकारों में कोमलपदावली के कारण

अनुप्रास तो जहाँ-तहाँ स्वाभाविक रूप से आ ही गया है—‘सखा सुन श्याम के’, ‘छवि जाय’, ‘प्रेम पीयूषहि प्रगट’, ‘प्रेम प्रवाह’, ‘कर्म के कूप’ आदि इसके उदाहरण हैं। उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि समतामूलक अलंकार इधर-उधर अपनी बाँकी भाँकी दे जाते हैं। इनके अलंकारों में प्रयास की गंध नहीं है। ‘ज्यों करतल आमलक के’, ‘तरंगनि चारि ज्यों, परम्परा गत उपमाएँ बड़े मौके से बैठाई गई हैं। कर्म के कूप, जोग भुवंग, मलज्ञान कों, प्रेम बेलि द्रुम फूली आदि सुन्दर रूपकों के उदाहरण हैं। निम्न पद में रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों हैं—

नव मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण ब्रजबाला ।

वृन्दावन को रीझि मनोँ पहराई माला ॥

—रासपंचाध्यायी और भंवरगीत, पृ० २०

इन सबके कारण नन्ददास की भाषा में लाक्षणिकता आ गयी है। इसके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी सुन्दर रीति से सजाये गये हैं। नन्ददास के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि वे भक्ति के साथ कवित्व में भी पारंगत थे। काव्य शास्त्र में उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होंने काव्य की अनेक शैलियों में रचना कर अपनी बहुज्ञता और काव्य-ज्ञान का प्रमाण दिया है। रासपंचाध्यायी में उन्होंने भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय देते हुए रीतिशास्त्र का पांडित्य भी प्रदर्शित किया। कृष्ण-गोपी चित्रण में आध्यात्मिक संकेत के साथ शृंगार-रस के लिये नायिका-नायक का आलम्बन अनेक गुणों के साथ प्रस्तुत किया गया है। उद्दीपन में ऋतुवर्णन है। शैली की दृष्टि से पंचाध्यायी खण्ड काव्य की कथा-वस्तु लिये हुए है। अलंकार और छन्द का उपयुक्त प्रयोग, भावों की अनुगामिनी भाषा का महत्त्व नन्ददास के कवित्व का गौरव है। अतः ज्ञात होता है कि वे श्रेष्ठ भक्त के साथ ही साथ रीतिशास्त्र के भी आचार्य थे। रसमंजरी में तो उन्होंने नायिका-भेद ही लिखा है। उन्होंने केशव की भाँति अपनी प्रतिभा को पांडित्य के कठिन पाश में नहीं जकड़ दिया। नन्ददास पर रीतिशास्त्र का उतना ही प्रभाव है जहाँ तक कि उनकी भक्ति-भावना को अनियन्त्रित रूप में प्रकट करने की आवश्यकता है। इसके लिये उनका शब्दचयन और अलंकार-प्रयोग भी सुरुचिपूर्ण है। नन्ददास यमक और अनुप्रास के पण्डित हैं, पर उनका अनुप्रास पद्माकर के ‘मल्लिकान मन्जुल मल्लिन्द मतवारे मिले मन्द मन्द मारुत मुहीम मनसा की है,’ के समान नहीं है। अनुप्रास प्रवाह का सहायक है बाधक नहीं।

नन्ददास ने जिस प्रकार काव्य रचना की है उससे ज्ञात होता है कि वे गीत-गोविन्द के रचयिता जयदेव और पदावली के रचयिता विद्यापति से अधिक प्रभावित थे।^१

तुलसीदास-शृंगार-रस—गोस्वामी तुलसीदास मात्र कवि ही नहीं थे वरन् वह मर्यादावादी भक्त और धर्मोपदेशक भी थे। रामभक्ति (जिसका सूत्र उन्होंने गुण-आचार्य रामानन्द से लिया था)—ही उनकी कविता की प्रेरक शक्ति थी। राम (वैष्णव) संस्कृति का प्रसार करने वाले कवियों में तुलसीदास (सन् १५३२-१६२३

१. डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास सन् १९५४ संस्करण, पृष्ठ ५६३-५६४

ई०) का नाम अग्रगण्य है, जो आज उत्तर भारत के लाखों गृहस्थों का अपना हो चुका है ।^१

विदेशी विद्वान डा० ग्रियर्सन ने कहा है कि बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे । ये असाधारण प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए । जिस युग में इनका जन्म हुआ था उस युग के समाज के सामने कोई ऊँचा आदर्श नहीं था । समाज के उच्चस्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था ।

गोस्वामी तुलसीदास के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिये । हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहिले पहल दिखाई पड़ा । वीरगाथाकाल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्य-भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परम्परा निभाते आ रहे थे । भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को आश्रय मिलने लगा । कबीरदास ने चलती बोली में अपनी वाणी कही । पर वह बोली बैठकाने की थी । उसका कोई नियत रूप न था । शौरसैनी-अपभ्रंश या नागर-अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिये स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था । उन्होंने तो नाथ-पन्थियों की सघुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया, जिसमें खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था । इसका कारण यह है कि मुसलमानों की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गई थी और निर्गुण पंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था । अतः उनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का भी मनमाना प्रयोग मिलता है । उनका कोई साहित्यिक लक्ष्य न था और वे पढ़े-लिखे लोगों से दूर ही दूर अपना उपदेश सुनाया करते थे । साहित्य की भाषा में, जो वीरगाथाकाल के कवियों के हाथ में बहुत कुछ अपने पुराने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के संयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ । भक्त-वर सूरदास जी ब्रज की चलती भाषा को परम्परा से चली आती हुई काव्य-भाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोक-व्यवहार के मेल में लाये । उन्होंने परम्परा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया । सूरसागर को ध्यानपूर्वक देखने से उसमें क्रियाओं के कुछ पुराने रूप, कुछ सर्वनाम जैसे—जासु, तासु, जेहिन्तेहि तथा कुछ प्राकृत के शब्द पाये जायेंगे । सारांश यह है कि वे परम्परागत काव्य-भाषा को बिल्कुल अलग करके एक बारगी नई चलती बोली लेकर नहीं चले । भाषा का एक शिष्ट-सामान्य रूप उन्होंने रखा, जिसका व्यवहार आगे चलकर बराबर कविता में होता आया । यह तो हुई ब्रजभाषा की बात । इसके साथ ही पूर्वी बोली या अवधी भी साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर हो चुकी थी । आगे चलकर प्रेम-मार्गी शाखा, के मुसलमान कवियों ने भी अपनी कहानियों के लिये अवधी भाषा ही चुनी । इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने समय में काव्य-भाषा के दो रूप प्रचलित

१. डा० ईश्वरी प्रसाद कृत 'ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ मुसलिम रूल इन इंडिया' सन् १९५८, पृ० ५४४

पाये—एक ब्रज और दूसरी अवधी। दोनों में उन्होंने समान अधिकार के साथ रचनाएँ कीं।

भाषा-पद के स्वरूप को लेते हैं तो गोस्वामी जी के सामने कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें से ये मुख्य हैं—

(क) वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति।

(ख) विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति।

(ग) गंग आदि भाटों की कवित्त सदैया पद्धति।

(घ) कबीरदास की नीति सम्बन्धी बाणी की दोहा पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी।

(ङ) ईश्वरदास की दोहे-चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति।

इस प्रकार काव्य-भाषा के दो रूप और रचना की पाँच मुख्य शैलियाँ साहित्य-क्षेत्र में गोस्वामी जी को मिलीं। तुलसीदास जी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सब सौंदर्य की परा-काष्ठा अपनी दिव्यवाणी में दिखाकर साहित्य-क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिन्दी-कविता के प्रेमी मात्र जानते हैं कि उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं, वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी की पद्मावत में मिलती है वही 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल', 'बरवै रामायण' और 'रामलला नहछू' में पाते हैं।

विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति पर उन्होंने बहुत विस्तृत और बड़ी सुन्दर रचना की है। सूरदास की रचना में संस्कृत की कोमलकान्त पदावली और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामी जी की रचना में है। दोनों भक्त शिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है। गोस्वामी जी की रचना अधिक संस्कृत गंभीर है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इसके पदों में शुद्ध देश भाषा का माधुर्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है। हृदय के विविध भावों की व्यंजना 'गीतावली' के मधुर पदों में देखने योग्य है। 'गीतावली' की रचना गोस्वामी जी ने सूरदास के अनुकरण पर की है। बाललीला के कई एक पद ज्यों के त्यों सूरसागर में भी मिलते हैं, केवल राम, श्याम का अन्तर है। लंका-काण्ड तक तो कथा की अनेकरूपता के अनुसार मार्मिक स्थलों का चुनाव हुआ है वह तुलसी के सर्वथा अनुरूप है। पर उत्तरकाण्ड में जाकर सूरपद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गंभीर व्यक्तित्व तिरोहित-सा हो गया है। सूरसागर में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाये गये हैं।^१

संयोग-भृंगार—तुलसीदास का सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है।

१. रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० २००६ संस्करण, पृ० १३२-

लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरितमानस शुरू से आखीर तक समन्वय का काव्य है। इस महान् समन्वय के प्रयत्न का आधार उन्होंने रामचरित को चुना। वस्तुतः इससे सुन्दर चुनाव हो नहीं सकता।^१ वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम के चरित्र को वैष्णव उपासना पद्धति में सम्मिलित करके रामभक्ति को कृष्णभक्ति के समकक्ष रखा। वैष्णव भक्ति में उन्होंने मर्यादावाद का समावेश करके उसका समस्त स्वरूप ही बदल देने की चेष्टा की।

तुलसी के काव्य को वैराग्य का प्रचारक नहीं मानना चाहिये। वास्तव में उसमें भक्ति रस का प्राधान्य है। जो दास्यभाव की प्रीति-रति के विचार से शृंगार रस का भी एक रूप माना जा सकता है।

रामवनगमन के अवसर पर पुरवासिनी स्त्रियों की रति का चित्र देखें—

कोटि मनोज लजावनि हारे, सुमुखी कहहु को आहि तुम्हारे।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन मह मुसुकानी।'' इत्यादि।

पुरवासिनी स्त्रियों की रति रूप के आकर्षण से आरम्भ होकर भी उस सीमा पर नहीं पहुँचती जहाँ उसमें मधुर-शृंगार का भाव आ जाय। राम-काव्य और कृष्ण-काव्य के अन्तर का यह सबसे स्पष्ट उदाहरण है।

तुलसीदास जी का यह वर्णन उनकी काव्य-कुशलता का तो सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है ही साथ ही यह उनकी भक्ति के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार वे व्यक्तिगत भक्ति और सामाजिक आचार या मर्यादा का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित करते हैं। रामचरितमानस में नवों रसों का उद्रेक सफलता के साथ हुआ है। प्रत्येक काण्ड में अनेक रस हैं।

तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा और काव्य शक्ति से रसों का चित्रण अनायास ही कर दिया है। अतः किसी काण्ड में कोई रस विशेष नहीं है। सभी काण्डों में रस वैचित्र्य है। रामचरितमानस से एक सामान्य संयोग शृंगार का वर्णन देखें—

प्रभुहि चितै पुनि चितैमहि, राजत लोचन लोल।

खेलत मनसिज मीन युग, जनु विधुमंडल डोल। सटीक तुलसीकृत रामायण।

प्रभु-राम के साक्षात् से चंचलमना जनक-सुता के लोचन चंचल हो उठे। वह मुग्धा नायिका की भाँति कभी राम की ओर देखती है और कभी धरती से टकटकी लगाती है। उसके मनसिज-वश-नेत्र-द्वय विलास करते हैं। उसके मुँह को देखकर ऐसा लगता है कि मानों चन्द्र-मंडल ही डोलायमान हो गया है। यहाँ शृंगार रस को पोषक नेत्र-संचालन से भू-निक्षेप-रूप अनुभाव, व्रीड़ा हर्ष संचारी भाव स्पष्ट हैं। राम विभाव है।

रूप वर्णन—मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र का कथन कुछ इस प्रकार से हुआ है कि उसमें शृंगार प्रतिपादन के लिये अधिक गुंजाइश नहीं है, क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित्र के सहारे एक मर्यादा-मार्ग प्रस्तुत करना था। तथापि कृष्ण-काव्य की भाँति राम-काव्य में भी शृंगार के दर्शन होते हैं। भले ही इसका कारण तत्कालीन कृष्ण-काव्य में शृंगार-भक्ति का समावेश हो। स्पष्ट ही तुलसीदास के रूप-वर्णनों में अलंकार और चित्रोपमता दोनों का आकर्षण है। उनके राम सूरदास जी की तरह केवल शृंगार के आलम्बन नहीं हैं। उनके राम पौरुष के प्रतीक हैं, शक्ति के स्रोत हैं, फिर भी काम को लजाने और युवतियों को मोहित करने का गुण उनमें भी है—

पद कीमल श्यामल गौर कलेवर राजत कोटि मनोज लजाए।

कर बान सरासन सीस जटा सरसीरुह लोचन सोन सुहाए ॥ इत्यादि।

परन्तु तुलसीदास जी ने शृंगार के वर्णन में भी मर्यादा और शील का सदैव ध्यान रखा है। रामचरितमानस के बालकाण्ड में शृंगार के आलम्बन रामचन्द्र जी का वर्णन शृंगार का उत्तम उदाहरण होते हुए भी अत्यन्त विशुद्ध है—

शोभा सींव सुभग दोउ वीरा। नील पीत जल जात शरीरा।

काक पक्ष शिर सोहत नीके। गुच्छेबिच बिच कुसुम कली के ॥

भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाए। श्रवण सुभग भूषण छवि आए।

विकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नव सरोज लोचन रत नारे। इत्यादि।^१

मार्ग में जाते हुए राम-लखन और सीता को देखने वाली कोई स्त्री—देखिये कैसे उन सबकी रूप माधुरी का बखान अपनी सखी से करती है—

सखि ! नीके कै निरखि, कोऊ सुठि सुन्दर बटोही।

मधुर मूरति मदनमोहन जोहन जोग, बदन शोभा सदन देखि हौं मोही।^२ इत्यादि
तापस वेष में भी उनके नखशिख की छटा से कोटिशः काम मन्दाभ हो जाते हैं—

देखु री सखी नखशिख नीके हैं। नीले पीले कमल से कोमल कलेवरनी,

तापस हू वेष क्रिये काम कोटि फीके हैं। इत्यादि।^३

सिखनख—तुलसीदास ने श्रीकृष्ण की रूप शोभा का वर्णन इस प्रकार किया है—

राग बिलावल

देखु सखी हरि वदन इंदु पर।

चिक्कन कुटिल अलक-अवली-छवि

कहि न जाइ सोभा अनूप वर। इत्यादि।^४

१. सटीक तुलसी कृत रामायण, बालकाण्ड, पृष्ठ २८३-२८४, वैकटेश्वर प्रेस
२. तुलसीदास कृत गीतावली, अयोध्या काण्ड, पृ० १६१, राग केदारा, पद सं० १६, गीता प्रेस
३. वही, पृ० २०२, पद सं० ३०, गीता प्रेस गोरखपुर
४. तुलसीदास कृत श्रीकृष्ण गीतावली, सम्बत् २०१४, पृ० २५, पद सं० २१, गीताप्रेस, गोरखपुर।

तुलसीदास ने इस प्रसंग में उन मुग्धा गोपबालाओं का भी जिक्र किया है जो कि श्रीकृष्ण की उन्निद्र एवं आलसयुक्त मुखछवि को देख कर तात, पति, तनय आदि को भूलकर उस ओर दौड़ पड़ी थीं—

आजु उनीदे आए मुरारी । आलसवंत सुभग लोचन सखि ।

छिन मूदत छिन देत उघारी ॥१॥

मनहुँ ईदु पर खंजरीट द्वै, कछुक अहन विधि रचे सँवारी ।

कुटिल अलक जनु मार फंद कर, गहे सजग ह्वै रह्यो संभारी ।२। इत्यादि ।^१

तुलसीदास के राम-लखन का रूप भी अनेक मुग्धाओं की चितवनों को चौंधिया देने वाला और बरबस उन्हें अपनी ओर आकर्षित करते वाला था और था स्वाभाविक दरसलालसा जगाने वाला—

नीके कै मैं न विलोकन पाए ।

सखि यहि मग जुग पथिक मनोहर वधु विधु-बदनि समेत सिधाए ॥१॥

नयन सरोज किसोर वयसवर, सीस जटा रचि मुकुट बनाए ।

कटि मुनि वसन-तून, धनु-सर कर, श्यामल-गौर सुभाय सोहाए । इत्यादि ।^२

गीतावली तुलसीदास की काव्य-कला की सबसे मधुर अभिव्यक्ति है । उसमें जहाँ व्रजभाषा का माधुर्य है वहाँ भावों की कोमलता भी अत्यधिक है । इसीलिये पुरुषभाव सम्बन्धी घटनायें कथा-वस्तु के अन्तर्गत नहीं हैं । इस दृष्टिकोण ने तुलसीदास को कोमल रसों के निरूपण करने के लिये ही अधिक प्रेरित किया है । इस ग्रन्थ पर दृष्टिपात करने के बाद यह कहा जा सकता है कि—

शृंगार—(क) यदि वात्सल्य को भी शृंगार रस के अन्तर्गत मान लिया जावे तब तो शृंगार ही प्रधान हो जाता है क्योंकि राम का बालवर्णन संयोगात्मक अधिक है वियोगात्मक कम । इसके पर्याय कृष्ण का बालवर्णन वियोगात्मक अधिक है संयोगात्मक कम ।

(ख) तुलसी ने राम कथा का जैसा चित्रण किया है उसके अनुसार शृंगार रस को प्रधान स्थान मिलता है । राम के उन्हीं चरित्रों का दिग्दर्शन अधिक कराया गया है जो कोमल भावनाओं के व्यंजक हैं ।

(ग) गीतावली का अन्तिम भाग कृष्ण-काव्य से प्रभावित होने के कारण भी अधिक शृंगारात्मक बन गया है । वसन्त और हिडोला आदि अवतरणों ने तो शृंगार को और भी अतिरंजित कर दिया है ।

१. तुलसीदास कृत श्रीकृष्ण गीतावली, पृ० २६-२७, पद सं० २२, सम्बत् २०१४ गीता प्रेस, गोरखपुर

२. तुलसीदास कृत गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पृ० २०६, पद संख्या ३५, गीता प्रेस, गोरखपुर

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में गीतावली की आलोचना देते हुए लिखा है कि गीतावली में राम के सौन्दर्य-वर्णन को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया गया। शील का संकेतमात्र है, लोकशिक्षा का स्वरूप जो मानस में तुलसी का आदर्श है अप्रकाशित ही रह गया। सीता का चरित्र एक कोमलांगी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। राम का चरित्र एक सुन्दर राजकुमार-सा है। कृष्ण का व्यक्तित्व सौन्दर्य से अधिक निर्मित है अतएव तुलसीदास राम के व्यक्तित्व को कृष्ण के व्यक्तित्व के बहुत समीप तक ले आये हैं। इसी आधार पर तुलसीदास को सूर के कृष्ण-काव्य से प्रभावित हुआ माना जा सकता है।^१

गीतावली में तुलसी की बहुत मधुर अनुभूति है। अनेक स्थानों पर मनोदशा के बड़े कर्ण चित्र हैं। तुलसीदास ने इसके लिये ब्रजभाषा के माधुर्य का अक्षय कोश प्रयुक्त किया है। भाषा में तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों के प्रयोग ने ब्रजभाषा को बहुत स्वाभाविक और मधुर बना दिया है। जिस प्रकार तुलसीदास को अवधी पर अधिकार था उसी प्रकार ब्रजभाषा पर भी। अलंकारों का प्रयोग भी मौलिक है पर अधिकतर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, काव्यलिङ्ग, अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकारों का ही प्रयोग किया गया है। गुणों में माधुर्य और प्रसाद का प्राधान्य है। एक ही प्रकार की उपमाओं का आवर्तन अनेक बार हुआ है। राम के सौन्दर्य की उपमा के लिए कामदेव न जाने कितनी बार बुलाया गया है। बादल और मोर भी काव्य में अनेक बार लाये गये हैं। इस ग्रन्थ में कवि का कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं है पर जहाँ तक राम की कथा का कोमल स्वरूप से सम्बन्ध है वह बड़ी सफलता के साथ गीतावली में प्रदर्शित हुआ है। राम का सौन्दर्य और ऐश्वर्य ही गीतावली की आत्मा है।^२

तुलसीदास कृत कवितावली में जहाँ वीर-रस राम के शौर्य का समर्थक है, वहाँ शृंगार-रस राम के सौन्दर्य का द्योतक है। शृंगार रस के प्रसंग में इस ग्रन्थ का राम का बाल-वर्णन और विवाह (बालकाण्ड के छन्द १-७; १२-१७) और राम-वनवास (अयोध्या काण्ड के छन्द १२-२७) का प्रकरण पठनीय है। इन प्रसंगों में अधिकतर राम की शोभा का ही वर्णन है अतः संयोग शृंगार का ही प्राधान्य है।

विप्रलम्भ शृंगार—तुलसीदास में उत्तरकालीन रीतिकवियों का-सा रातों करवटें बदलनेवाला और कदम-कदम पर कराहनेवाला विप्रलम्भ नहीं मिलता। तथापि राम-कथा में सीता-हरण के पश्चात् वियोग-शृंगार के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत महाकवि कालिदास के मेघदूत में उन्मत्त यक्ष कामार्त्त होने के कारण चेतन-अचेतन के भेद को भूल कर मेघ से वार्तालाप में उलझ जाता है—“कामार्त्त हि प्रकृतिक्पणाश्चेतनाचेतनेषु” ठीक वैसे ही राम की उन्माद दशा वियोग पर शान चढ़ा देती है—

१. डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४०२

२. वही, पृ० ४०७-८

लक्ष्मणा समुभाये बहु भाँती । पूछत चले लता तह पाँती ॥३॥

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ॥४॥

—सटीक तुलसीकृत रामायणम्, 'अरण्य काण्डम्' वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० ७२६

राम खग-मृगादि से सीता का अता-पता पूछते फिरते हैं ।

तुलसीदास की रचनाओं से पूर्वराग और प्रवास सम्बन्धी कुछ पद प्रस्तुत करते हैं ।

पूर्वराग—पुष्प-वाटिका में राम सीता का साक्षात् होता है । उसके बाद जब तक धनुष यज्ञादि लौकिक विधि-विधानों द्वारा दोनों एक दूसरे के नहीं हो जाते तब तक राम-सीता के हृदयों के भाव पूर्वराग के भीतर रखे जा सकते हैं । दोनों श्रवण-दर्शनादि के द्वारा एक-दूसरे की रूप-माधुरी से मुग्ध होते हैं । आइये पुष्पवाटिका में चलें और कुछ देखें—

(क)—एक सखी सिय संग बिहाई । गई रही देखन फुलवाई ॥७॥

तेई दोउ बंधु बिलोके जाई । प्रेम विवस सीता पंह आई ॥८॥

—वही ग्रन्थ, पृ० २७८

(ख) तासु दशा देखी सखिन, पुलकगात जल नैन ॥

कहु कारण निज हर्ष कर पूछहि सब मृदु बैन ॥२७६ दोहा ।

—वही ग्रन्थ, पृ० २७६

(ग) देखन बाग कुँवर दोउ आये । वय किशोर सब भाँति सुहाए ॥१॥

श्याम गौर किमि कहौं बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥२॥

सुनि हरषी सब सखी सयानी । सिय हिय अति उत्कण्ठा जानी ॥३॥

एक कहै नृप सुत तै आली । सुने जे मुनि संग आये काली ॥४॥

निज निज रूप मोहिनी डारी । कीन्हें स्ववश नगर नर नारी ॥५॥

वरांत छवि जंह तंह सब लोगू । अवशि देखिये देखन जोगू ॥६॥

तासु बचन अति सियहि सुहाने । दरश लागि लोचन अकुलाने ॥७॥

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई । प्रीति पुरातन लखै न कोई ॥८॥

—वही ग्रन्थ, पृ० २७६

(घ) चितवति चकित चहूँ दिशि सीता । कहं गये नृप किशोर मन चीता ॥१॥

जंह बिलोकि मृगशावक नयनी । तंह जनु वरष कमल सितसेनी ॥२॥

लता ओट तब सखिन लखाये । श्यामल गौर किसोर सुहाये ॥३॥

देखिरूप लोचन ललचाने । हर्षे जनु निज निधि पहचाने ॥४॥

थके नयन रघुपति छवि देखी । पलकन हू परिहरी निमेषी ॥५॥

अधिक सनेह देह भई भोरी । शरद शशिहि जनु चितब चकोरी ॥६॥

लोचन मगु रामहि उर आनी । दीन्हें पलक कपाट सयानी ॥७॥

जब सिय सखिन प्रेमवश जानी । कहि न सकहि कछु अति सकुचानी ॥८॥

—वही ग्रन्थ, पृ० २८२-२८३

सीता की एक प्रमुख सखी देखिये उसे कहती है, नाहक परेशान होती हो ।
गौरीपूजन के बहाने भूप-किशोर के दर्शन कर लो—

धरि धीरज इक सखी सयानी । सीतासन बोली गहि पानी ॥१॥

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू । भूप-किशोर देखि किन लेहू ॥२॥

—सटीक तुलसीकृत रामायणम्, 'अरण्य काण्डम्' वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० २८४

और स्वाभाविक संकोचशीला सीता रघुसिंह के दर्शन करती है—

सकुचि सीय तब नैन उधारे । सन्मुख दोउ रघुसिंह निहारे ॥३॥

परवश सखिन लखी जब सीता । भये गहरु सब कहहि सभीता ॥४॥

पुनि आउब इहि बिरिया काली । अस कहि मन बिहँसी इक आली ॥५॥

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी । भये विलम्ब मातुभय मानी ॥६॥

—वही, पृ० २८५

रघुसिंह-दर्शन से सीता परवशा हो गई । उसे परवशा देख सब साथ की सखियों को ध्यान आया कि अरे इस क्रीड़ा में तो बड़ा विलम्ब हो गया । कल इसी समय फिर आवेंगी ऐसा कहकर एक सखी मन में हँसी । उसकी इस गूढ़ोक्ति को [सीता समझ गई और सकुचाई—हाव-प्रदर्शन किया । पुष्प-वाटिका से प्रस्थान के समय वह मुड़-मुड़ कर राम को देखती जाती है—

देखन मिसु मृग विहंग तरु, फिरति बहोरि बहोरी ।

निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़ी प्रीति न थोरि ॥ दोहा २८२

—वही, पृ० २८५

स्वमनोरथ-सिद्धि के लिये जनक-तनया गौरी की शरण लेती हैं । दूसरी ओर विधु-व्याज से वर्णनीया सीता-मुख छवि ने रघुसिंह पर कोई असर नहीं डाला ऐसी बात नहीं । रघुवीर ने भी स्वहृदयानुभूत सीय-लुनाई का गुरु के समीप जाकर सहजभाव से निवेदन किया—धीरोदात्त नायक की भाँति—

हृदय सराहत सीय लुनाई । गुरु समीप गवने दोउ भाई ॥१॥

राम कहा सब कौशिक पाहीं । सरल स्वभाव छुआ छल नाहीं ॥२॥

—वही, पृ० २८६

प्रवास—सीताहरण-प्रसंगवश भले ही वह यहाँ किसी कारण से हुआ हो राम और सीता के बिछोह-भावों को हम प्रवास के अन्तर्गत ले सकते हैं । विरहाकुला सीता अशोक वाटिका में विरह-दग्ध स्व-शरीर का नाश चाहती है । उसके लिए उसे अग्नि सुलभ नहीं हो पाती यद्यपि चहूँ ओर से सन्ताप का ही अनुभव करती है । तब अशोक वृक्ष के नूतन पल्लवों को अग्नि सहश समझ कर उस विटप से ही कहने लगती है कि हे अशोक-विटप अग्निदान से मेरे शरीर का निदान कर दो और इस प्रकार मेरे शोक का हरण करके अपने अशोक नाम को सत्य सिद्ध कर दो—

कह सीता विधि भा प्रतिकूला । मिलै न पावक मिटै न सूला ॥ ७ ॥
देखियत प्रगट गगन अंगारा । अवनित न आवत एकौ तारा ॥ ८ ॥
पावकमय शशि स्रवत न आगी । मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥ ९ ॥
सुनहु विनय मम विटप अशोका । सत्य नाम करु हरु मम शोका ॥ १० ॥
नूतन किसलय अनल समाना । देहु अग्निनि तनु करहु निदाना ॥ ११ ॥

—सटीक तुलसीकृत रामायणम्, 'अरण्य काण्डम्' वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० ८२०-८२१

लंका की अशोक वाटिका में रामदूत हनुमान पहुँचता है और सचमुच विरह-वारिधि में डूबती हुई जनकजा के लिए जलयान बन जाता है। सीता को अति विरहाकुला देखकर हनुमान राम के विरह-सन्देश को प्रस्तुत करता है—

राम कहा वियोग तब सीता । मौ कंह सकल भये विपरीता ॥ १ ॥
नूतन किसलय मनहु कृशानू । काल निशा सम शशि निशि भानू ॥ २ ॥
कुवलय विपिन कुन्त वन सरिसा । वारिद तप्त तेल जनु वरिसा ॥ ३ ॥
जेहि तरु रहौं करत सौ पीरा । उरग स्वास सम त्रिविध समीरा ॥ ४ ॥
कहेहु ते कुछ दुख घटि होई । काहि कहौं यह जान न कोई ॥ ५ ॥
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ॥ ६ ॥
सौ मन सदा रहत तोहि पाहीं । जान प्रीति रस इतनेहि मांही ॥ ७ ॥

—वही, पृ० ८२२-८२३

राम-प्रभु-सन्देश को सुनकर जानकी प्रेम-मग्न हो गई। उसे अपने शरीर की सुधि बिसर गई। वस्तुतः हनुमान के द्वारा जो दो विरही हृदयों के सन्देशों का विनिमय हुआ है वह सरल होने के साथ बड़ा मार्मिक है। राम का विरह-सन्देश तो आपने जान लिया। सीता का विरह-सन्देश और भी मार्मिक है—

अवगुण एक मोर मैं जाना । बिछुरत प्राण न कीन्ह पयाना ॥ ५ ॥
नाथ सो नयनन्ह कर अपराधा । निसरत प्राण करहि हृति बाधा ॥ ६ ॥
विरह अनल तनु तूल समीरा । स्वास जरै क्षण मांह शरीरा ॥ ७ ॥
नैन स्रवै जल निज हित लागी । जरै न पाव देह विरहागी ॥ ८ ॥

—वही, ग्रन्थ पृ० ८४२

सीता के इस विरह-सन्देश में अपने शरीर के जीवित बचने के सम्बन्ध में बड़ा सुन्दर काव्यमय कारण दिया गया है। सच्चे विरह में प्राण नहीं रह सकते। सीता प्राण नहीं छोड़ सकीं इसको वह अपराध रूप से स्वीकार करती हैं। किन्तु वह अपने अपराध की सफाई भी देती हैं। वह यह कि शरीर के जलकर भस्म हो जाने के सब कारण उपस्थित हो जाने पर भी शरीर नहीं जलता है। इसका उत्तरदायित्व नेत्रों पर है। नैन स्रवै निज हित लागी—नयन अपने स्वार्थवश जल-स्राव करते हैं। राम-दर्शन उनका अभीष्ट है। विरह रूपी अग्नि है, शरीर रुई है, निश्वास हवा है। जब अग्नि को प्रज्वलित करने वाली हवा भी विद्यमान है तब शरीर जला क्यों नहीं? इसका कारण है कि नेत्र रागदर्शन के स्वार्थवश होकर जल की वर्षा कर देते हैं अतएव अग्नि बम्-

जाती है और शरीर भस्म होने से बच जाता है। इस कथन में दिन रात रोते रहने की व्यंजना हो जाती है।

अशोक-वन में विरह-दग्धा सीता को हनुमान ने किस दशा में पाया यह जानना हो तो ध्यान दें—

देखी जानकी जब जाई।

परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाई ॥ १ ॥ इत्यादि
—सटीक तुलसीकृत रामायणम्, 'अरण्य काण्डम्' गीता प्रेस, पृ० २६२-२६३,
पद सं० २

विरहिणी अंगनाओं का प्रबल शत्रु त्रिविध—(शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त) समीर जिसके संतप्त वचनों के डर से पास नहीं फटकता, जो निरन्तर राजीवलोचन राम की रट लगाये रहती ऐसी विरह-कृशांगी सीता का हनुमान ने यों विरह-निवेदन किया—

(क) सुनहु राम विश्राम धाम हरि ! जनक सुता अति विपति जैसे सहति ।
हे सौमित्रिबन्धु कहनानिधि मन मंह रटति, प्रगट नहि कहति ॥
... इत्यादि

(ख) रघुकुल तिलक वियोग तिहारे ।
मैं देखी जब जानकी मनहु विरहमूरति मन मारे । ... इत्यादि

(ग) अतिहि अधिक दरसन की आरति !
राम-वियोग असोक-विटपतर सीय निमेष कलप सम टारति ॥ ... इत्यादि
—तुलसीदास कृत 'गीतावली' सुन्दरकाण्ड; पद १७, १८, १९;
पृ० ३१२-१४

तुलसीदास का यहाँ कथन है कि यद्यपि सीता रात-दिन अण-क्षण में प्रभु-राम की मूर्ति का दर्शन करती है तब भी उसके शरीर का दुस्सह ताप दूर नहीं होता। वस्तुतः राम के बाह्य-वियोग के सामने उसका ध्यानादिजनित आन्तरिक सुख हार मान जाता है। और तब इस असह्य दशा का वर्णन अपनी अन्यतमा सखी त्रिजटा से जानकी इस प्रकार करती है—

(क) कब देखौंगी नयन वह मधुर मूरति ?
राजिवदल नयन, कोमल, कृपा-अयन-मयननि बहु छबि अंगनि दूरति ।
... इत्यादि

(ख) बहु कबहुं देखिहों आली आरज-सुवन ?
सानुज सुभग-तनु जब ते बिछुरे वन, तब तैं दव-सी लगी तीनिहु भुवन ॥
... इत्यादि

(ग) अब लौं मैं तोसौं न कहेरी,
सुन त्रिजटा ! प्रिय प्राननाथ बिनु वासर निसि दुख दुसह सहे री ॥
... इत्यादि

—वही पद ४७, ४८, ४९, पृ० ३४६-४८

विरहोद्विग्ना जनकजा को त्रिजटा ने सहज शब्दों में आश्वासन दिया—

सिय धीरज धरिये, राघो अब ऐहैं ।

पवनपूत पै पाइ तिहारी सुधि सहज कृपालु विलंब न लैहैं ॥ १ ॥

—तुलसीदास कृत 'गीतावली', सुन्दरकाण्ड, पद ५१, पृ० ३५०

राम-विरह—तुलसीदास कृत 'बरवै रामायण' के अरण्यकाण्ड में जानकीहरण के पश्चात् राम कहते हैं, लक्ष्मण ! सोने की शलाका, चन्द्रमा की कला, दीपक की सिखा अथवा नक्षत्रवत् ज्योतिर्मयी सीता कहाँ है यह मुझे बता दो—

कनक सलाक कला ससि दीप सिखाउ ।

तारा सिय कहं लछिमन मोहि बताउ ॥ ३१

—तुलसीदास कृत 'बरवै रामायण' गीताप्रेस, अरण्य काण्ड, पृ० १२

विरही राम को चहुँ ओर की प्रकृति कैसी लग रही है इसकी एक झलक देखें—

(क) सीय बरन सम केतकि अति हियं हारि ।

किहेसि भँवर कर हरवा हृदय बिदारि ॥ ३२

—वही, पृ० १३

यहाँ सीता के वर्ण-रूप के साथ समता करते हुए चित्त में अत्यन्त निराश होकर सोचते हैं कि मानों उस रूपवती से लज्जित होकर ही केतकी पुष्प ने अपना हृदय फाड़ दिया और अब कलंक के रूप में भौरों की काली माला बना पहिन ली ।

(ख) सीतलता ससि की रहि सब जग छाडि ।

अग्नि ताप ह्वै हम कहं संचरत आइ ॥ ३३

—वही, पृ० १३

यहाँ राम का कथन है कि चन्द्रमा की शीतलता समस्त संसार में व्याप्त हो रही है किन्तु वही जानकी के वियोग से तपे हुए हमारे शरीर में लगकर अग्नि का-सा ताप धारण कर लेती है ।

सीता-विरह—तुलसीदास कृत 'बरवै रामायण' के सुन्दरकाण्ड में सीता कहती हैं कि हृदय में जब वियोग की अग्नि भड़क उठती है तब मेरी शत्रु ये दोनों आँखें आँसू बहाकर बुझा देती हैं—उस अग्नि में मुझे जलने नहीं देती—

विरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ । ए अँखियाँ दोउ बैरि देहि बुझाइ ॥ ३६

—वही, पृ० १४

वहीं सीता ने कहा— डहकनि है उजिअरिया निसि नहि धाम ।

जगत जरत अस लागु मोहि बिनु राम ॥ ३७

—वही, पृ० १४

अर्थात् यह फैली हुई रात्रि की चाँदनी नहीं है दुखदायिनी घूप है । मुझे राम के बिना समस्त जगत जलता-सा लगता है ।

अशोक वाटिका में उपस्थित हनुमान के सामने विरहवश अपनी शारीरिक कुशला को सीता ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ ।

कनगुरिया के मुदरी कंकन होइ ॥३८॥

—तुलसीकृत 'बरवै रामायण', गीता प्रेस, अरण्यकाण्ड, पृ० १४

अर्थात् हनुमान ! अब जीवित रहने की कोई आशा नहीं है । तुम देखते ही हो कि कनिष्ठिका अंगूली की अगूठी अब कंगन बन गई है (उसे कंगन के समान हाथ में पहिन सकती हूँ, इतना कृश हो गया है शरीर) ।

ऐसी विरह-कृश-शरीरा सीता का विरह-निवेदन हनुमान ने राम के सम्मुख निम्न शब्दों में किया—

सिय वियोग दुःख केहि विधि कहौ बखानि ।

फूल बान ते मनसिज बेधत आनि ॥ ४० ॥ —वही, पृ० १५

अर्थात् जानकी के दुःख का वर्णन किस प्रकार करूँ ? कामदेव आकर उन्हें अपने पुष्प-बाण से बीधता रहता है ।

(ख) सरद चाँदनी संचरत चहुँ दिसि आनि ।

विश्रुहि जोरि कर बिनबति कुलगुरु जानि ॥ ४१ ॥ —वही, पृ० १५

अर्थात् जब शरद ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी प्रगट होकर चारों दिशाओं में सब ओर फैल जाती है, तब वह जानकी को सूर्य की धूप के समान ऐसी उष्ण लगती है कि चन्द्रमा को अपने कुल (सूर्यवंश) का प्रवर्तक (सूर्य) समझ कर हाथ जोड़ कर उससे प्रार्थना करने लगती है ।

'बरवै रामायण' के प्रारम्भिक छन्द तो अलंकार-निरूपण के लिए लिखे गये ज्ञात होते हैं । यहाँ तुलसीदास प्रथम बार रस और अलंकार निरूपण का प्रयास करते हैं । भाषा अच्छी है, जिसमें छन्द की साधना सफलतापूर्वक हुई है । यदि इस ग्रन्थ में उत्तरकाण्ड न होता तो यह रीतिकालीन रचना कही जा सकती थी । यहाँ कवि की कला ही अधिक है, भाव-गाम्भीर्य कम है ।^१

राम-सीता के शृंगार-वर्णन में तुलसीदास ने रहः प्रसंग का वर्णन कम किया है । पुष्प-वाटिका के प्रसंग में ही लक्ष्मण राम के कोमलतम भावों के भागी बनते हैं, दूसरी ओर सखियाँ सीता की कोमलतम भावनाओं का आस्वाद लेती हैं । इसी प्रकार वियोग-शृंगार के वर्णन में भी गोस्वामी तुलसीदास के राम, लक्ष्मण से कोई पर्दा नहीं करते । सीता-हरण के बाद राम लक्ष्मण के सामने स्पष्टतया अपने हृदय के दैन्य का प्रकाशन करते हैं, परन्तु उनकी गम्भीरता सदैव उन्हें संभाल लेती है । सीता के वियोग में भी वह धर्म के उपदेश देते रहते हैं । ऐसा बहुत कम होता है जब उनके हृदय की वेदना उमड़कर प्रकाश में आ जाती हो । विरही की तरह वह विषाद अवश्य करते हैं परन्तु उनका हृदय कदाचित् ही क्षुब्ध होता है—

(क) लक्ष्मण देखहु कानन शोभा । देखत केहि कर मन नहि क्षोभा ॥ ३ ॥

नारि सहित सब खग मृग बृन्दा । मानहु मोरी करतहं हि निन्दा ॥ ४ ॥

(ख) राखिय नारि यदपि उर मांही । युवति शास्त्र नृपति वश नाही ॥ ९ ॥
देखहु तात वसन्त सुहावा । प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ॥ १० ॥

—सटीकम् 'तुलसीकृत रामयणम्' अरण्यकाण्डम्, पृ० ७३६-३७

(ग) घन घमण्ड नभ गरजत घोरा । प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥ १ ॥
दामिनि दमकि रही घन मांही । खलकी प्रीति यथा थिर नाही ॥ २ ॥

—वही, किष्किन्वा काण्ड, पृ० ७७०

वसन्त में विकसित प्रकृति को और पावस-धुमड़ते मेघों को देखकर राम को सीता की याद अवश्य आती है। इस प्रकार तुलसीदास के राम-काव्य का शृंगार-रस पूर्ण रूप से परिपक्व और प्रभावशाली होते हुए भी भक्ति-रस और प्रीति, रति के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

तुलसीदास ने कृष्ण-गोपी-प्रसंग भी लिखा है। सूरदास से प्रभावित होते हुए भी वह सूरदास-सा जानदार नहीं है। उस सबमें तात्कालिक साहित्य-रीति-निर्वाह ही हाथ लगेगा। कृष्ण के मथुरा प्रस्थान करने पर गोपियों की विरह-दशा के एक-दो नमूने देखें—

बिछुरत श्रीब्रजराज आज इन नयनन की परतीति गई ।

उड़ि लगे हरि संग सहज तजि ह्वै न गय सखि श्याममई ॥ ...इत्यादि

—तुलसीदास कृत 'श्रीकृष्णगीतावली' गीता प्रेस, पद सं० २४, पृ० २८, संवत् २०१४

अर्थात् गोपियाँ रूप-रस-लोभी मीन-छवि-हर अपने नेत्रों की प्रतीति नहीं कर रहीं क्योंकि यदि वे सचमुच ऐसे स्वभाव के होते तो भला श्याम-रस राँचे होकर भी उनके संग क्यों न जा लगे ? यही उन सबको सोच है इसीलिए वे अश्रु बहाती हैं।

कृष्ण के चले जाने पर गोपी को "दुसह दसा सो मो पै परति नही वरनि" कहने वाले तुलसीदास कहते हैं कि माधव बिना सब कुछ विपरीत-सा लगने लगा—

ससि तैं सीतल मोकों लागै माई री तरनि ।

याके उऐ बरति अधिक अंग-अंग दव,

बाके उएँ मिटति रजनि जनि जनि ॥ १ ॥ इत्यादि

—वही, पद ३०, पृ० ३७

अन्त में राधारानी भी सखी से बोली—

मोको अब नयन भये रिपु भाई ।

हरि-वियोग तनु तजेहि परमसुख, ए राखहि सो करि बरिआई ॥ १ ...इत्यादि

—वही, पद ५६, पृ० ६८-६९

अर्थात् श्रीकृष्ण के गमन-वश जो काम-दव सुलगती थी हृदय में उसे श्रीकृष्ण दर्शन की लालसा-वश इन नेत्रों ने बुझा दिया। माधव ने उद्धव को ज्ञान-परशु लेकर भेजा ताकि जैसे-तैसे हमारी विरह-लता को उन्मूलित किया जा सके। वह प्रयत्न व्यर्थ रहा, क्योंकि वह तो इन नेत्रों के उस अद्भुत सिंचन-प्रवाह को देखकर थकित सा

खड़ा रह गया। ये निगोड़े नैन तो उनकी निठुराई को जानकर भी नहीं जान रहे। कदाचित् हरि अनुकूल हो गए तो दर्शन की लालसा लगी है।

अमर्यादित शृंगार—यह सर्वविदित है कि गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित के सहारे एक मर्यादावाद को प्रस्तुत किया है। इसी के लिए वह चिरस्मरणीय हैं। यह भी ठीक है कि उनके ग्रन्थों से मर्यादा की ध्वनि ही तार-स्वर से उठी है तथापि तुलसीदास की रचना में कुछ भाग ऐसा मिलता है जहाँ उनका मर्यादा-स्वर मन्द है। भले ही वह सामयिक प्रभाव-वश हो। पार्वती-मंगल, रामललानहछू और बरबै रामायण में से कुछ ऐसे शृंगार-प्रसंग उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें तारस्वर मर्यादावाद का स्वर धीमा है।

तुलसीदास कृत 'पार्वती मंगल' संस्कृत महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव से प्रभावित है तथापि कालिदास जैसा उत्तान शृंगार यहाँ नहीं मिलेगा। उसे तुलसीदास की मर्यादा ने दबा दिया है। मर्यादा के अभाव में उमा का शृंगार-भाव बहुत उत्तान हो सकता था। मर्यादा से शिथिल शृंगारवशा उमा शिव-विरह में कैसी हो गई देखें—

उमा नेह वस विकल देह सुधि बुधि गई
कलप बेलि बन बढ़त विषम हिम जनु दई ॥ २६
समाचार सब सखिन्ह जाइ घर-घर कहे।
सुनत मातु पितु परिजन दारुण दुख दहै ॥ ३०

—तुलसीदास कृत 'पार्वती मंगल' सं० २०१४, गीता प्रेस, पृ० १२
मदन-दहन के उपरान्त शिव उदासीन हो उस तपोवन को छोड़कर अन्यत्र चले गये तो उमा प्रेमवश व्याकुल हो गई। उनके शरीर की सुष-बुध (होश हवास) जाती रही, मानों वन में बढ़ती हुई कल्पलता को विषम पाले ने मार दिया हो। फिर सखियों ने घर-घर जाकर सारे समाचार सुनाये और इस समाचार को सुनकर माता-पिता एवं घर के लोग दारुण दुख में जलने लगे।

साधना के कष्टों को बता कर परिजनों ने उमा को घर लौट चलने की सलाह दी। परन्तु उनकी बात कौन सुनता और घर अब ऐसे कैसे सुहाता, मन तो उसका चन्द्रभूषण महादेव को चाहता था।

साधक कलेस सुनाइ सब गौरिहि निहोरत धाम को।
को सुनइ काहि सोहाइ घर चित चहत चन्द्र ललाम को ॥

—वही, पृ० १२

बदुवेषधारी शिव ने उमा को बताया कि भूतनाथ तो दोष-निघान हैं, तुम किस बावले से अनुराग कर रही हो। तब उमा ने कहा—

बोली फिरि लखि सखिहि कांपु तन थर थर। आलि विदा करु बडुहि बेगि बड़ बरबर
कहुं तिय होहि सयानि सुनिहि सिख राउरि। बोरेहि के अनुरागभयउं बड़ि बाउरि ॥ ६३

—वही, पृ० २०

कहीं कोई चतुर स्त्रियाँ होंगी वे आपकी शिक्षा सुनेंगी, मैं तो बावले के प्रेम में ही अत्यन्त बावली हो गई हूँ।

बस फिर क्या था पार्वती के रूप और अनुराग को देखकर महादेव पार्वती के वश में हो गये—

देखि रूप अनुराग महेस भये वस ।

—तुलसीदास कृत 'पार्वती मंगल' सं० २०१४, गीता प्रेस, पृ० २२

महादेव और उमा का पाणिग्रहण संस्कार हो जाता है। तदुपरान्त बराती लोग तो जनवासे को चले गये और दुल्हा-दुल्हिन कोहबर में गये। उस समय मेना ने उनका द्वार रोक कर कौतुक किया और शिव-पार्वती ने लहकौरि की रीति करके उसे बड़ा सुख दिया। वर-वधू को जुआ खिलाते समय सब स्त्रियाँ हिमालय-पत्नी मेना को गाली गाती हैं। शिव अपनी ओर देखकर विशेष आनन्दित होते हैं कि—हमारे तो माता है ही नहीं गाली किसको देंगी। सखियों, सुवासिनियों और सास सबने ही सब प्रकार सुख प्राप्त किया। फिर मंगल-निधान दुल्हा-महादेव जनवासे को गये—

बहुरि बराती मुदित चले जनवासहि ।

दुलह दुल्हिनि गे तब हास अवासहि । १३३ इत्यादि

—तुलसीदास कृत 'पार्वती मंगल' सं० २०१४, गीता प्रेस, पृ० ३७-३८

तदनन्तर प्रीति-भोग हुआ। गिरि-राज ने सबको सादर भोजन के लिये बिठाया। भोजन परोसने वाले परोसने लगे। बरातियों ने जीमना शुरू किया। उस समय सुन्दरी स्त्रियाँ गाली गाने लगीं और मन को आनन्द में डुबोने लगीं—

भई जेवनार बहोरि बुलाई सकल सुर ।

बैठाये गिरिराज धरम धरणी धुर ॥ १३७

परुषन लगे सुआर विबुध जन जेवहि ।

देहि गारि वर नारि मोद मन भेवहि ॥ १३८

—बही, पृ० ३८

अब तुलसीकृत बरवै रामायण से कुछ ऐसे प्रसंग प्रस्तुत करते हैं जिनमें मर्यादा का स्वर शिथिल है। विवाह के अनन्तर राज-भवन में स्त्रियाँ, सखियाँ, जानकी और राम के मिलन के समय जानकी को सम्बोधित करती हैं कि हे नवीना, (मुग्धा) नारी धूँघट से मुख क्यों छिपा रही हो? इसके जैसा चन्द्रमा आकाश में शोभित है—उसे तो सब देखते ही हैं—

का धूँघट मुख मूँदहु नवला नारि ।

चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ॥ १७

—तुलसीदास कृत 'बरवै रामायण' बालकाण्ड, गीता प्रेस, सं० २०१४, पृ० ६

फिर सखियाँ राम से विनोद करते हुए कहती हैं, रघुनन्दन ! तुम अपने मन में अपने सौन्दर्य का गर्व मत करो। तुम्हारी मूर्ति साँवली होने के कारण जानकी की छाया के समान है विचार कर देख लो—

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माहि ।

देखहु आपनी मूरति सिय के छाहि ॥ १८ —बही, पृ० ६

विनोद के अनन्तर सीता राम को एकान्त-प्रसंग का अवसर प्रदान करने की इच्छा से सखियाँ हँस कर कोमल वाणी कहती हुई जाने का बहाना बनाकर उठी कि चलो भाई अब जानकी और रघुनाथ के नेत्र नींद से भर गये हैं—

उठी सखी हँसि मिस कर कहि मृदु बैन ।

सिय रघुवर के भये उनींदे नैन ॥ १६

—तुलसीकृत 'बरवै रामायण' बालकाण्ड, गीता प्रेस, सं० २०१४, पृ० ६

'बरवै रामायण' के अयोध्या काण्ड में तुलसीदास केवट (निषाद) के शब्दों को दुहराते हुए राम से कहते हैं—गंगा में खड़े होकर मैं सच कह रहा हूँ कि आप मेरी नौका पर चरण मत रखें नहीं तो नौका स्त्री के रूप में बदल जावेगी और मेरी स्त्री मुझे एक और स्त्री के साथ देखकर नित्य सर्वथा तंगा करके नाच नचाया करेगी—

तुलसी जनि पग धरहु गंग मंह साँच ।

निगा नांग करि नितहि नचाइहि नांच ॥ २४

—वही, अयोध्या काण्ड, पृ० ११

तुलसीदास कृत 'बरवै रामायण' के सुन्दर काण्ड में देखें हनुमान ने सीता के विरह को राम के सामने किन शब्दों में रखा—

सिय वियोग दुख केहि विधि कहहुँ बखानि ।

फूल बान ते मनसिज बेधत आनि ॥ ४०

—वही, सुन्दर काण्ड, पृ० १५

अर्थात् हनुमान राम से कहते हैं कि जानकी के दुःख का वर्णन किस प्रकार करूँ, कामदेव आकर उन्हें अपने पुष्प-बाण से बीधता रहता है ।

शृंगार रस के सामान्य घटक—सखी, सखा, दूती, नख-शिख, षट्कृतु, सरिता, बाग, तड़ाग, वन, चाँद, चाँदनी, आभूषण-छटा आदि का वर्णन कवि लोग रस-उद्दीपन के लिये करते रहे हैं । तुलसीदास में काव्यरूढ़ियों के प्रयोग के सम्बन्ध में लिखते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, कि तुलसीदास प्रकृत्या भावुकता को पसन्द नहीं करते थे । एक ही जगह उनकी भावुकता "पुलक-गात और लोचन-सजल के रूप में प्रकट होती है और वह भगवान के कल्यायतन या मोहन-मथन रूप को देखकर । इससे भी अधिक अजीब बात यह है कि उनकी उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं में कहीं-कहीं काव्यगत रूढ़ियों का बुरी तरह पालन किया गया है । उनके जैसे प्रतिभाशाली कवि के लिये जो इच्छा करते ही नई-नई उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का ठाठ लगा सकता था जो इस गुण में अतुलनीय था, यह बात एक अजीब-सी लगती है ।"

वस्तुतः यह कोई अजीब बात नहीं है । तुलसीदास ने काशी के विद्यापीठ में गुरु के पास बैठ कर शास्त्राभ्यास किया था । शास्त्रीय परिपाटियों को बिना अपनाये

भला वह कैसे रह सकते थे ? उस पर उस परम्परा-निर्वाह के प्रसंग में ही शृंगार-रस विषयक सामान्य घटकों का वर्णन उन्होंने यत्र-तत्र किया है ।

वस्तुतः तुलसीदास एक कुशल और सावधान कलाकार की भाँति अलंकार-रत्नों को बड़ी सरलता से काव्य में सजा देते हैं और यह सज्जा नन्ददास के जड़ने-सी नहीं रहती । पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इनकी उपमाओं के सम्बन्ध में लिखा है—
'रामचरितमानस' की कोई चौपाई भले ही बिना उपमा के मिल जाय, किन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनता से ऐसा मिलेगा जिसमें किसी उपमा का प्रयोग न हो । उपमाएँ साधारण नहीं हैं वे अमूल्य रत्न-राजि हैं ।^१

इस प्रकार अनोखी रत्न-राजि अपने आँचल में छिपाये तुलसीदास का शृंगार-रस वर्णन भासित हो रहा है ।

हितहरिवंश-शृंगार-रस

राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाँई हितहरिवंश का जन्म संवत् १५५६ में मथुरा से ४ मील दक्षिण बादगाँव में हुआ था ।^२ डा० विजयेन्द्र स्नातक की आधुनिकतम गवेषणाओं से पता लगता है कि हितहरिवंश का मूल वास देवबन्द जिला सहारनपुर था ।^३ इनका आविर्भाव काल संवत् १६२२ माना जाता है । उसी समय ओरछा नरेश के राजगुरु श्री हरिराम व्यास इनसे दीक्षित हुए । इनका ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था । ये संस्कृत के पण्डित भी थे ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता श्री हितहरिवंश के राधा-सुधा निधि, यमुनाष्टक तथा विट्ठलदास के लिखित दो गद्य पत्र (संस्कृत) और हित चौरासी और स्फुटवाणी (हिन्दी) ये रचनायें प्रकाशित हैं । राधासुधानिधि संस्कृत में लिखित २७० श्लोकों का एक स्तोत्र-काव्य है । राधा की वन्दना, प्रशस्ति, सेवा, पूजा, भक्ति-सामीप्य सौन्दर्य आदि का इसमें वर्णन है । राधा के अंग सौष्ठव में भाषा का मार्दव दर्शनीय है—

गीरांगे अदिमा, स्मिते मधुरिमा, नेत्रांचले द्राघिमा ।

वक्षोजे गरिमा तथैव तनिम मध्ये, गतौ मन्दिमा ॥

श्रोण्यां च प्रथिमा, श्रुवौ कुटिलिमा, बिम्बाधरे शोणिमा ।

श्री राधे हृदि ते रसेन जडिमाध्यानेऽस्तु मे गोचरा ॥

—श्लोक ७४, राधासुधानिधि

यमुना, निकुंज, वृन्दावन आदि के वर्णनों में भाषा की चित्रात्मकता तथा नादसौन्दर्य और संगीतमयता है ।

१. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय लिखित 'तुलसीदास की उपमाएँ' शीर्षक लेख

'माधुरी' वर्ष दो, खण्ड १, संख्या १, पृ० ७४

२. रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० २००६, पृ० १५०

३. डा० विजयेन्द्र स्नातक कृत 'राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य'

‘यमुनाष्टक’ यमुना की वन्दना में लिखा ८ श्लोकों का एक छोटा प्रशस्ति-काव्य है। ‘हित चौरासी’ इनका चौरासी पदों का एक संग्रह है। यह ग्रन्थ राधा-वल्लभ सम्प्रदाय का मूल है। हरिवंश ने इसमें ब्रजभाषा का समस्त माधुर्य उँडेल दिया है। यह शुद्ध रसपद्धति से लिखा गया मुक्तक पदों का संकलन है, जिसे राधाभाव-परक प्रेम-लक्षणा-भक्ति का ग्रन्थ समझा जाता है। हाँ, तो ‘हित चौरासी’ एक मुक्तक-पद-रचना है। श्री रूपलाल गोस्वामी ने इसके पदों का निम्न वर्गीकरण किया है—

- (१) सुरतान्त समय अर्थात् मंगला के १६ पद
- (२) शैया समय के १७ पद
- (३) रास के १७ पद
- (४) वन विहार के ३ पद
- (५) स्नान शृंगार के ४ पद
- (६) राजभोग (शैया विहार) के २ पद
- (७) वसन्त वर्णन के २ पद
- (८) होरी वर्णन के २ पद
- (९) फूल डोल झूलन का १ पद
- (१०) मलार के ४ पद
- (११) सम्भ्रम मान के १३ पद

संयोग शृंगार—राधा-कृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्य-विहार, रास लीला, भक्ति भावना, प्रेम में मान-विरह की स्थिति, राधावल्लभ का यथार्थ स्वरूप, नित्य-विहार के अवयवों का वर्णन ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इन विषयों को हितहरिवंश जी ने शृंगार की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया है जो कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के मेरुदण्ड हैं। हितहरिवंश का नित्य-विहार-वर्णन मूर्धन्य-कोटि का है। आपने ही अपने गेय पदों में इसकी सैद्धान्तिक रूप से सर्वप्रथम स्थापना की। सूरदास आदि कवियों ने भी निकुंज लीला की ओर अग्रसर होते समय इस प्रकार की रचना से मार्ग प्रदर्शन पाया। नित्य-विहार के वर्णन शृंगार-रस की शैली से ही प्रस्तुत होते हैं। लौकिक शृंगार में जिस प्रकार प्रिया-प्रियतम परस्पर प्रेमपाश में आबद्ध हो रति-क्रीड़ा आदि करते हैं और अन्त में सुरत-प्रसंग आदि काम-भोग में उनकी रति का पर्यवसान होता है उसी प्रकार राधा और कृष्ण के नित्य-विहार में दाम्पत्य भाव से प्रगाढ़ प्रेम का वर्णन होता है। यह प्रेम काम की समस्त चेष्टाओं से परिपूर्ण होने पर भी लौकिक कामवासनामय नहीं माना जाता, क्योंकि अन्तरंग भावना में इसका पक्ष आध्यात्मिक ही स्वीकार किया जाता है। भक्ति के इस प्रशस्त युग में जगता है कि भक्त और सन्त लोगों के उज्ज्वल मानस सरोवर में निमज्जित हो काम ने नवीन कंचुक धारण किया हो। उसका अग्ररूप ओझल हो गया। उज्ज्वल रस की उस उज्ज्वल भक्ति नसेनी के सहारे समाज परम उज्ज्वल धाम तक पहुँचने का उद्यम

करने लगा। राजनीतिक क्रान्ति एवं संघर्षमय जीवन में भी भक्त महात्माओं ने भारतीय जनता को जिस पथ की ओर उन्मुख किया वह इस देश के इतिहास में निश्चय ही एक असाधारण घटना कही जावेगी। भक्ति के क्षेत्र में निर्गुण एवं सगुण भावना के साथ माधुर्य भाव संयुक्त प्रेम लक्षणा भक्ति का उदय इसी काल में हुआ। रसरारा शृंगार के उज्ज्वलतम स्वरूप की प्रतिष्ठा भक्ति-क्षेत्र में इसी युग में हुई। शृंगार के लौकिक रूप विरह-मिलन को स्वीकार करके उसके उन्नयन द्वारा आध्यात्मिक नित्य विरह-मिलन की भावना अनेक रसिक भक्तों द्वारा सम्पुष्ट हुई और भक्ति की मन्दाकिनी में माधुर्य रस की निर्मल धारा का संगम हुआ। उत्तरीय भारत में ब्रज-मण्डल के भक्तों ने भक्ति में मिलन-भावना का उत्कर्ष विधान करके शृंगार के लौकिक रूप को माधुर्य रस से सिक्त करके सहज संवेद्य और आस्वाद्य बनाया। बंगीय वैष्णव भक्तों ने विरह-भावना का उत्कर्ष स्थापित करके उसके लौकिक रूप को निखारा और भोग के कर्दम से बाहर निकाल कर उज्ज्वल बनाया। वृन्दावन के रसिक भक्तों ने ब्रजभाषा की सहज माधुरी वाणी के द्वारा लक्ष्य-ग्रन्थों का विशाल भण्डार एकत्र करके प्रेमतत्त्व की विविध रूपों में व्याख्या प्रस्तुत की। राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों ने राधा को प्रमुख स्थान देकर माधुर्य भक्ति को और अधिक रसमय बनाया। इस सम्प्रदाय के भक्त कवियों द्वारा शृंगार रस के उन्नयन का प्रयत्न प्रच्छन्न रूप से हुआ और वर्णन की भावभूमि लौकिक होने से इस सम्प्रदाय का साहित्य सामान्य मानव के लिये गोप्य ही बना रहा। क्यों? शायद इसीलिए क्योंकि उनका अभिमत था—“शृंगार रस के द्वारा भक्ति की वृत्तरणी पार करना प्रत्येक मानव के लिए सहज नहीं। शृंगार-रस लौकिक वृत्तियों के प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न करने वाला होता है अतः कौन जाने कब भक्ति भाव हाथ से छूट जाय और शृंगार की लौकिक अनुभूति में निमज्जित होकर ही साधक काम वासना को अपना अभीष्ट समझ बैठे।” इस साधना का प्रत्येक सोपान देखने में सहज सीधा किन्तु अभ्यास में दुस्साध्य और दुष्कर है। ध्रुवदास के शब्दों में—

चढ़ि कै मैं तुरंग पै चलि बो पावक माहि
प्रेम पन्थ ऐसो कठिन सब कोउ निबहत नाहि
सबते कठिन उपासना प्रेम पन्थ रस रीति
राई सम जो चलै बन छूटि जाय ध्रुव प्रीति।

अधिकांश भक्तों ने शृंगार के विषय में ऐसी धारणा रखकर ही काव्य-सृजन किया। यही कारण है कि नित्य-विहार सम्बन्धी जो पद ‘हित चोरासी’ में या अन्य भक्त महानुभावों की वाणियों में मिलते हैं उनका शाब्दिक धरातल लौकिक दृष्टि से शृंगारमय ही प्रतीत होगा किन्तु भावना के उदात्तीकरण द्वारा उनका आध्यात्मिक रूप अन्तर्नेत्रों के सम्मुख आ सकता है। हित जी का एक पद देखें—

प्रात समय दोउ रस लम्पट सुरत जुड़ जय जुत अति फूल
अम वारिज धन बिन्दु बदन पर भूषण अंग हि अंग विकूल।

कछु रह्यो तिलक शिथिल अलकावली बदन कमल मानो अति मूल
हित हरिवंश मदन रंग रंगि रहे नैन बैन कटि शिथिल दुकूल ॥

—पद ३, 'हित चौरासी'

शृंगार रस के सामान्य घटक—यह ठीक है कि हितहरिवंश की वाणी भक्ति रस से आप्लावित मुक्तक गेय पदों का संग्रह है। यदि इन पदों को काव्य रस की शास्त्रीय कसौटी पर कसा जाय और विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से साहित्यिक शैली द्वारा रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को चरितार्थ किया जाय तो ये भक्ति रस या शृंगार रस की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण मिलते हैं। हिन्दी के भक्ति साहित्य में भक्ति रस की शास्त्रीय व्याख्या नहीं मिलती परन्तु भक्ति का वर्णनरस पद्धति पर ही हुआ है। अतः भक्ति रस की स्थापना करनेवाले श्री रूप गोस्वामी कृत उज्ज्वल नीलमणि और भक्तिरसामृत सिन्धु आदि ग्रन्थों के आधार पर भक्तों की वाणी में रस निदर्शन का रूप समझा जा सकता है।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये ५ प्रकार हैं भक्ति रस के। मधुर को ही शृंगार या उज्ज्वल रस की संज्ञा दी जाती है। मधुर रस के रूढ़ और अधिरूढ़ दो भेद हैं। महिषीगण रूढ़भाव से अनुरक्त होती हैं और अधिरूढ़ भाव की अधिष्ठातृ हैं गोपियाँ। इस अधिरूढ़ भाव को भी दो प्रकार का माना गया है। संयोग दशा में यह 'मादन' कहलाता है और वियोग में 'मोहन'। जिस प्रकार काव्य-शास्त्र में शृंगार-रस के दो भेद हैं वैसे ही भक्ति-रसनिष्ठ शृंगार भी संयोग और विप्रलम्भ से द्विविध है। सम्भोग शृंगार अनन्त रूपों वाला है, परन्तु विप्रलम्भ के चार प्रकार माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और प्रेम वैविध्य।

भक्ति रस का स्थायीभाव कृष्ण-रति या राधा-कृष्ण-प्रेम है। हितहरिवंश जी की वाणी में केवल मधुर भाव है। राधाकृष्ण का केवल माधुर्य-मण्डित रूप ही रति उद्बुद्ध करने का कारण है और वही स्थायीभाव के रूप में प्रतिष्ठित होता है। हितजी के भावों की मनोमुखकारी छटा से शृंगार का उज्ज्वल रूप निखार पाकर कान्तिमय हो उठा और शृंगार का माधुर्य-मण्डित रूप समस्त ब्रजमण्डल में अनुकरण का विषय बन गया। इस रस के आलम्बन कृष्ण और राधा (नायक-नायिका) हैं। राधा-कृष्ण स्वकीया-परकीया-भाव-निर्विशेष होने पर भी परस्पर अनन्य भाव से आसक्त हैं। अतः ये आलम्बन के समस्त धर्मों से युक्त हैं। अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यहाँ यही नवीनता है, कृष्ण राधा-प्रेम के लिये लालायित होकर राधा की अर्चना करने में लीन देखे जाते हैं। अनिन्दा सुन्दरी कृष्ण की आराध्या बनी रहती हैं। हर्षादि आठों सात्विक भाव और सहज प्रेम से उद्भूत, विलास, ललित, कुटुमित, विव्कोक आदि भाव उनके भूषण हैं। वंशीरव आदि उद्दीपन भाव और विलुठित, गीत, अट्टहास, कटाक्ष आदि अनुभावों के अन्तर्गत हैं। स्वेद, स्तम्भ, रोमांच आदि सात्विक भावों, संचारी या व्यभिचारीभावों का भी वर्णन हुआ है। हित चौरासी के बिहार सम्बन्धी पद ११ में रस परिपाक के विविध अंग देखें—

संजुल कल कुंज देश राधा हरि विशद वेश
राका नभ कुमुद बन्धु शरद यामिनी ॥० ...इत्यादि

—हित चौरासी, पद ११

यहाँ शरद पूर्णिमा की मादक रात्रि में कृष्ण और राधा विहार-रत हैं। कृष्ण-राधा भक्त के लिये आलम्बन हैं, शरद पूर्णिमा की रात्रि, सौरभयुत शीत वायु, वृक्ष, पत्र-रचित-शयन आदि उद्दीपन विभाव हैं। राधा का मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल गतियुक्त मानसिक अनुभाव है और वेपथुयुत होना उसका सात्विक भाव है। इस प्रकार विभाव आदि से परिपुष्ट होकर राधा-कृष्ण-रति स्थायीभाव को प्राप्त हो रही है।

नायक-नायिका-विहार-प्रसंग में—पावस की फुहार में भीगते हुए राधाकृष्ण का नैसर्गिक रूप और सघन कुंज का दृश्य—

दोउ जन भीजत अटके बातन
सघन कुंज के द्वारे ठाढ़े अंबर लपटे गातन
ललिता ललित रूप रस भीजी बूँद चावत पातन
हितहरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रति रस घातन ॥

—हितहरिवंश, स्फुटवाणी, पद २३

यहाँ राधा-माधव दोनों कुंज द्वार पर आमोद-प्रमोद में डूबे हुए रति रस लूटने के घात में खड़े हुए हैं। उन्हें न तो वर्षा की बूँदों की चिन्ता है, न समीप खड़ी हुई ललिता सखी के द्वारा देखे जाने का भय। इस वर्णन में कृत्रिमता नहीं है। बड़े सहज रूप में पाठक को राधा-माधव पावस की सन्ध्या वेला में किसी लता-कुंज के बाहर खड़े प्रेमलीला में सराबोर-से देखने लगते हैं। शृंगार रस से पूर्ण एक पद में विहार (रतिसुख) को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाकर राधा की उन्माद दशा अंकित की गई है—

तू रति रंग भरी देखियत है री राधे रहसि रमी मोहन सों बैरन।

गति अति शिथिल प्रगट पलटे पट गौर अंग पर राजत ऐन ॥...इत्यादि

—हितहरिवंश, स्फुटवाणी, पद १०

नख-शिख-वर्णन (शिख-नख)—नख-शिख-वर्णन यद्यपि भक्ति-काव्य का विषय नहीं है फिर भी उपास्य का विग्रह मूर्तिमन्त करने के लिए आनुषंगिक रूप से नख-शिख-वर्णन का प्रसंग आ ही जाता है। सूरदास ने तो राधा और कृष्ण दोनों का सांगोपांग चित्रण किया है तथा नख-शिख की शास्त्रीय परिपाटी का भी निर्वाह कर दिखाया है।

रूपसौन्दर्य चित्रित करनेवाले 'हित चौरासी' में लगभग एक दर्जन पद हैं जिनमें कहीं पर नख-शिख का समग्र रूप से और कहीं कोई विशेष अंग उभार के साथ वर्णित हुआ है। इनका संक्षिप्त सर्वांगपूर्ण सशक्त, व्यापक, रुढ़ शैली पर आधारीत राधा का रूप-चित्रण निम्न पद में दर्शनीय है :—

ब्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुटमणि श्यामा आजु बनी

नख शिख लों अंग अंग माधुरी मोहि श्याम घनी ॥० ...इत्यादि

—हित चौरासी, पद २६

रूप चित्रण के सम्बन्ध में नेत्रों का सबसे अधिक वर्णन हुआ है। हित चौरासी में राधा के नेत्र समस्त उपमाओं को तिरस्कृत करनेवाले हैं।—

खंजन मीन मृगज मद मेटत कहा कहौं नैनन की बातें ।

सुनि सुन्दरि कहा लौं सिखइ मोहन वशीकरण की घातें ॥० ... इत्यादि

—हित चौरासी, पद ७३

हितहरिवंश की वाणी का अध्ययन करने से पता चलता है कि यह गेय पद प्रधान है। इनकी रचना में प्रायः शास्त्रीय संगीत के रागों में पदों को बाँधा गया है। इनके पदों से नादात्मक सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य दो प्रकार का आनन्द उपलब्ध होता है। इनकी वाणी में विभास, बिलावल, टोड़ी आदि १४ रागों का समावेश है। हित-हरिवंश शास्त्रीय संगीत के पण्डित थे।^१ इनके सुरति-चित्रों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है और उससे भाषा की लाक्षणिकता में वृद्धि हुई है। शब्द-मैत्री, समीचीन वर्ण-विन्यास, नाद-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, संगीतात्मकता और प्रांजलता इनकी ब्रजभाषा के ऐसे उल्लेख्य गुण हैं जिनके कारण वे ब्रजभाषाभक्त कवियों में मूर्धन्य गिने जाते हैं।

शृंगार को अंगी रस स्वीकार करने के कारण उसकी संभोग दशाओं की पूर्ण विवृत्ति इन पदों में परिलक्षित होती है। काम केलि की चरम परिणति सुरत प्रसंग आदि को भी हितहरिवंश जी ने विस्तार के साथ गाया है। माधुर्य भक्ति-रस के मर्म से अनभिज्ञ पाठक ऐसे वर्णनों को शुद्ध शृंगार-वर्णन समझने की भूल करते हैं।

सूरदास की भाषा में आंचलिक पुट है। लोक भाषा के अधिक समीप होने के कारण मसृण और परिष्कृत शब्दों की ओर उनका झुकाव नहीं है। नन्ददास ने अवश्य शब्दचयन में परिष्कार पर बल दिया है और शब्द-मैत्री तथा ध्वन्यात्मक नाद-सौन्दर्य को अपनाकर नन्ददास जड़िया का पद पाया है, किन्तु नन्ददास की भाषा में हितहरिवंश के समान समृद्धता नहीं है। संस्कृत की तत्सम पदावली को ब्रजभाषा के प्रवाह में ढालने की कला में हरिवंश जी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। संस्कृत कवि जयदेव की पदावली से विद्यापति ने प्रभाव ग्रहण किया था। हरिवंश जी ने जयदेव और विद्यापति दोनों की पदावली से प्रभाव ग्रहण करके उसे ब्रजभाषा के कलेवर में अभिनव रूप दिया।^२

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक कृत 'राधावल्लभ सम्प्रदाय', पृ० ३३५

२. वही, पृ० ३२५-३६

विद्यापति और रीतिकालीन कवियों के सामान्य विवेच्य

देश की परतन्त्रता—देश-भाषा की अमान्यता—

विगत लगभग एक सहस्र वर्षों में तैयार हिन्दी साहित्य की समस्त सामग्री को साहित्य-इतिहास-लेखकों ने आदिकाल व वीरगाथा काल या सन्धिकाल (मध्यकाल) और आधुनिक काल इन भागों में विभक्त किया है। पुनः मध्यकाल को भी कई प्रकार से बाँटा है। मिश्रबन्धुओं ने उसके तीन उपविभाग किये—पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत।^१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसके दो विभाग प्रस्तुत किये—पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल। पहिले का नाम भक्तिकाल और दूसरे का नाम रीतिकाल रखा।^२ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को क्रमशः बीज वपन, अंकुरोद्भव और पत्रोद्गम रूप तीन भूमियों में प्रस्तुत किया है। यहाँ अंकुरोद्भव काल ही हिन्दी साहित्य का मध्यकाल है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत वर्गीकरण में मध्यकाल के अन्तर्गत पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल), उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल)—संवत् १३७५ से लेकर १६०० तक की रचनाएँ आती हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण भी आचार्य शुक्ल जी से मिलता-जुलता है। लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अंकुरोद्भव—मध्यकाल के अन्तर्गत संवत् १४५७ से लेकर १६०७ तक की रचनाएँ आई हैं। इस प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को रामचन्द्र शुक्ल से ८२ वर्ष बाद आरम्भ करते हैं और ७ वर्ष बाद तक ले जाते हैं। यों महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत अंकुरोद्भव-मध्यकाल के भीतर विद्यापति से लेकर पद्माकर तक की रचनाएँ रखी जा सकती हैं। और संवत् १५०० से लेकर संवत् १६०० तक की हिन्दी साहित्य की रचनाओं को मध्यकालीन संज्ञा से अभिहित करना उचित ही है।

इस काल की आरम्भिक रचनाओं के स्वरूप और भाषा आदि पर बहुत कुछ

१. मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ संस्करण

२. रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रवर्द्धित संस्करण

प्रभाव अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य का रहा। मध्यकाल के अनेक सन्त कवि भी उस प्रभाव से अपने को अछूते नहीं रख सके। अपभ्रंश कविता के विषय अधिकतर नीति सम्बन्धी और धार्मिक उपदेश, शृंगार रस की रचनाएँ और लोक प्रचलित कथानक थे।^१ अपभ्रंश कोई एक भाषा नहीं है। बल्कि स्थान भेद से अनेक प्रकार की है। यहाँ एक बात विचारणीय है यदि आधुनिक भाषाएँ पूर्व-प्रचलित अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास हैं, तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है जबकि अपभ्रंश के काव्यों में खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल-रूपों में नहीं मिलते। यहाँ वर्तमान भाषा से इस काल की आरम्भिकता की ओर भुकी सूरदास, तुलसीदास आदि की प्राचीन काव्य-भाषा समझना चाहिये। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं उन दिनों प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द, अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोले जाते थे। ऐसा न होता तो कबीर और दादू आदि की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था।^२

इसके हटते हुए भावों के साथ ही हिन्दी कविता में अलंकार की प्रवृत्ति आने लग गई जिसका संवत् १६०० के आसपास कवि पद्माकर तक बराबर विकास होता रहा।

६४७ ई० के आरम्भ में हर्षवर्धन का निधन हुआ। इसके बाद से वर्द्धन-साम्राज्य-विघटन के साथ-साथ भारतवर्ष छिन्न-भिन्न हो चला। राजपूत राजा महा-राजा लोग परस्पर लड़ने लगे। धार्मिक मतमतान्तरों के नाम पर विभिन्न सम्प्रदाय और समुदाय उठ खड़े हुए।

भारतवर्ष में विदेशी लोग स्थल मार्ग के अतिरिक्त जल मार्ग से भी आते रहे हैं। विजेता शासक के रूप में तो मुसलमान दशवीं शती के बाद ही आये हैं, परन्तु जल मार्ग द्वारा भारत में उनका आगमन बहुत पहिले शुरू हो चुका था। मुसलमानों का प्रथम पानी का जहाज यहाँ सन् ६३६ ई० में आया था। और अरब वालों ने ८वीं शती में भड़ोच और काठियावाड़ के समुद्री तट पर हमला करके अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया था। तब वे निज व्यापार और उपनिवेशों की वृद्धि में लगे। दशवीं शती में वे लोग पूर्व-उत्तर की ओर भी फैलने लगे। अल्पकाल में ही वहाँ के समाज को इनकी उपस्थिति का अनुभव होने लगा। मुसलमानों ने राजनीति और समाज में अपने लिये स्थान कर लिया था।^३

दशम शती के अन्त और ग्यारहवीं शती के आरम्भ तक, जब कि मुसलमानों ने वहाँ व्यवस्थित रूप से आक्रमण प्रारम्भ किये, भारतवर्ष समाज-रुद्धिग्रस्त हो चुका था। बौद्ध मत के सम्मिश्रण से हिन्दू धर्म में नया बल आ चुका था। इसके द्वारा

१. डा० पी० डी० गुणो सम्पादित भविसयत्तकहा की भूमिका, बड़ीदा सन् १९३३ संस्करण

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २७

३. डा० ताराचन्द कृत इनफ्लूएन्स ऑफ़ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ४३

जनसमुदाय तुष्ट हो विशेष कर शिक्षित वर्ग जीवन के प्रति नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाये हुए था। राजनीतिक ढाँचा जीर्णोद्धार हो चुका था। विदेशी के विरुद्ध सामूहिक मोर्चा लेने की बात कहीं सुनाई न पड़ती थी। सब ओर छोटे-छोटे राज्य थे। इनकी व्यवस्था भ्रष्ट सरदारों या सामन्तों के अधीन थी। समाज के शब्द कोष में स्वतन्त्रता शब्द की सार्थकता लुप्त हो गई थी।

अवसर पाते ही सुबुक्तगीन और महमूदगजनवी आदि यहाँ अनेक बार आये, लूट-मार की, दो चार शहरों को तहस-नहस किया, चार-छः मन्दिरों को धराशायी किया और अन्त में धन बटोरा और वापस चले गये। भारतवर्ष को उन्होंने बेरी के पेड़ की तरह खूब भाड़ा। इसके लगभग एक शताब्दी बाद अफगानिस्तान के गोरी शासकों का ध्यान स्थायी रूप से पूर्व की ओर गया और उनके मस्तिष्क में भारत वर्ष पर शासन करके उसे अपना स्थायी निवास बनाने का विचार आया। और सचमुच वे यहाँ आगये। इस प्रकार आठवीं शती से भारतवर्ष में मुसलमानों का प्रभाव जमना शुरू हुआ और तेरहवीं शती के अन्त तक वे यहाँ अच्छी तरह जम गये और इस ऐतिहासिक तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि वे भारतवर्ष में १८वीं शती के अन्त तक शासक बने रहे।

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उनके देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।

वस्तुतः मुसलमानों की उस बढ़ती हुई ऐश्वर्याकांक्षारूपा बाढ़ ने हिन्दुओं के अस्तित्व पर भी प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया। प्रोफेसर हेवेल ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ आर्यन रूल' में लिखा है कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिये गये। इसलिये दुनिया के झगड़ों से छुट्टी मिलने पर उनमें धर्म की ओर—'जो उनके लिये एकमात्र आश्रयस्थल रह गया था,' स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ। भक्ति-काल की अनुक्रमणिका देते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने हिन्दुओं के हृदय में भय की भावना भर दी थी। यदि मुसलमान केवल लूटमार कर ही चले जाते तब भी हिन्दुओं की शान्ति में क्षणिक बाधा ही पड़ती किन्तु जब मुसलमानों ने भारत को अपनी सम्पत्ति मानकर उस पर शासन करना प्रारम्भ किया तब हिन्दुओं के सामने अपने अस्तित्व का प्रश्न

आ गया। मुसलमान जब अपनी सत्ता के साथ अपना धर्म प्रचार करने लगे तब तो परिस्थिति और भी विषम हो गई। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो पराजित कर सकते थे और न अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहाय अवस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे। कभी-कभी यदि वीरत्व की चिनगारी भी कहीं देख पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती थी या बुझा दी जाती थी। इस प्रकार दुष्टों को दण्ड देने का कार्य उन्होंने ईश्वर पर ही छोड़ दिया और वे सांसारिक वस्तुस्थिति से पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरण में ही विहार करने लगे। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गये और वीरगाथाकाल की वीररसमयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे शान्त और शृंगाररस में परिणत होने लगी।^१

मुसलमानों ने जहाँ एक ओर साम्राज्य स्थापित किया वहाँ दूसरी ओर इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार भी प्रारम्भ किया। यत्र-तत्र उचित-अनुचित दबावों के द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाना उनका एक नियमित कार्य हो गया था। अपने धर्म और जातीय सुरक्षा हेतु हिन्दू सतर्क हुए। फलतः देश भर में हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के लिए आन्दोलन चल पड़े। उत्तर भारत में जयदेव, सधना, लालदेव, वेणी, नामदेव, बिलोचन, राघवानन्द, रामानन्द, कबीर, रयदास, कमाल, पीपाधन्ना, नानक, सूर, तुलसी, दादू, रज्जब, दरिया, मीराबाई आदि के भक्त-गीतों द्वारा वैष्णव धर्म-प्रचार, महाराष्ट्र में नामदेव तथा गुजरात में ज्ञानेश्वर द्वारा धर्म-प्रचार, कर्नाटक में लिंगायतों की धर्मनिष्ठा आदि के द्वारा आस्तिकता प्रतिपादन के अतिरिक्त एकेश्वर का प्रचार हुआ और शिव, विष्णु, राम, कृष्ण तथा पार्वती, लक्ष्मी, सीता, राधिका के पारस्परिक भेद-भाव को दूर करके समस्त हिन्दू समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास हुआ।

कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सम्भालने और लीन रखने के लिये दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल हो गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गये। यद्यपि हिन्दूधर्म पर यवनों का आघात होते ही जनता विचलित हो उठी थी तथापि शनैः शनैः आत्म-रक्षा के विचार से किसी हद तक हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म को समझने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप धार्मिक विचारों में परिवर्तन का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी। यह नवीन धारा सन्त काव्य के रूप में प्रवाहित हुई।

मुगलों के भारत आगमन से पूर्व वैदिक और ब्राह्मण युग के बाद की धार्मिक गतिविधि का सिंहावलोकन करें तो पता चलता है कि छठी शती ईस्वी पूर्व में जैन

१. डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सन् १९५४ संस्करण, पृ० १६२

धर्म और बौद्धधर्म नामक दो आन्दोलन खड़े हुए। दोनों सुधारवादी थे। इनके समान ही वैष्णवमत की भावना धार्मिक सुधार से ही सम्बन्ध रखती है, जिसका उद्भव ईसा से पाँच-सौ वर्ष पूर्व हो गया था।^१ इसी का परिवर्धित रूप पंचरात्र अथवा भागवत धर्म है। नारायण की भावना के मिश्रण से यह धर्म और भी विस्तृत हो गया। ईसा के कुछ वर्ष बाद आभीरों ने इसमें श्रीकृष्ण की भावना सम्मिलित कर दी। आठवीं शती में यह धर्म शंकर से अद्वैतवाद के सम्पर्क में आया। अपनी भक्ति के आदर्श के कारण इसे शंकर के मायावाद के संवर्ष लेना पड़ा, जिसका विकसित रूप ग्यारहवीं शती में रामानुजाचार्य (सन् १०१७ सद्रास) के श्री सम्प्रदाय में प्रदर्शित हुआ। आगे चल कर निम्बार्क ने इस विष्णु रूप में कृष्ण रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया और उसमें राधा के स्वरूप को भी जोड़ दिया। तेरहवीं शती में मध्वाचार्य (सन् १२५७, मंगलौर) ने इस विचार को और भी पल्लवित किया और द्वैतवाद का प्रचार कर विष्णु को और भी अधिक महानता दी। दूसरी ओर रामानन्द (चौदहवीं शती आरम्भ) ने विष्णु के रामरूप का प्रचार किया और भक्ति को अधिक महत्त्व दिया। सोलहवीं शती में वल्लभ (सन् १४७६-१५३० ई०, तेलगु) ने कृष्ण और राधा का प्रेमात्मक निरूपण किया और बंगाल में महाप्रभु चैतन्य (सन् १४८५, बंगाल) ने बालकृष्ण की भावना पर जोर दिया। चैतन्य ने बालकृष्ण और राधा को मिलाकर वैष्णवधर्म में प्रेम के मार्ग को प्रशस्त किया। हिन्दी साहित्य की भूमिका में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि सच पूछा जाय तो मध्य युग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। प्रसिद्ध है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी। उसे उत्तर भारत में रामानन्द ले आये और कबीरदास ने उसे सप्तदीप और नवखण्ड में प्रकट कर दिया—

भक्ती द्रावीड़ ऊजी लाये रामानन्द।

प्रगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड ॥

रामानन्द संस्कृत के पण्डित, उच्च-ब्राह्मण कुलोत्पन्न और एक प्रभावशाली सम्प्रदाय के भावी गुरु थे, पर उन्होंने सबको त्याग दिया—देश भाषा में कविता लिखी, ब्रह्मण से चांडाल तक को रामनाम का उपदेश दिया। उनके हाथ से झू कर लोहा सोना हो गया। रामानन्द के बारह प्रधान शिष्य हैं जिनमें से कई नीच कही जाने वाली जातियों में उत्पन्न हुए थे—

रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सेना (नाई), पीपा (राज-पूत), भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द और श्री आनन्द।^२

मुसलमानी सत्ता के साथ ही इस देश में सूफी साधकों का आगमन होने लगा था। सूफीमत प्रारम्भ में केवल आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के रूप में ही था। नवीं शती के बाद ही उसने एक मत अथवा धर्म का रूप धारण किया और एकेश्वरवाद आदि

१. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड इथिक्स, भाग १२, पृष्ठ ५७१

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ४७-४८

का प्रचार किया। कुफावासी आबूहासिम के लिये सर्वप्रथम सूफी नाम का प्रयोग हुआ था, जिनकी मृत्यु सन् ७७८ ई० में हुई थी।^१ शुरु-शुरु में ये साधक पंजाब और सिन्ध में आ कर बस गए और धीरे-धीरे इनकी परम्परा सारे भारतवर्ष में फैल गई। उन दिनों जैसा कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तों की परम्परा प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि भारतीय चिन्ता की परिणति भक्ति आन्दोलन के रूप में हो चुकी थी। समूचा देश इस सिरे से उस सिरे तक भक्ति की रस-माधुरी में सुस्नात हो रहा था। सूफियों की साधना अनेकांश में इन सन्तों के अनुकूल थी। ये साधक अन्यान्य मुसलमानों के समान कट्टर और विरोधी नहीं थे, इसीलिये भारतीय जनता ने विश्वासपूर्वक उनकी साधना के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। मुईनउद्दीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगंज (१२०० ई०), शेखचिश्ती (१२६१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), सलीमचिश्ती (१५१२ ई०), मुबारक नागो-री (१५१२ ई०) आदि सूफी साधकों ने समान भाव से हिन्दू और मुसलमान दोनों का आदर और विश्वास प्राप्त किया था। बहुतांश की समाधि पर आज भी हजारों की संख्या में श्रद्धालु हिन्दू और मुसलमान जनता अपनी भक्ति निवेदन करने प्रतिवर्ष जाती है। यह बात कुछ विरोधाभास-सी लगती है कि उन दिनों जब कि हिन्दुओं और मुसलमानों की लड़ाइयाँ आम बात थी, किस प्रकार ऐसा मिलन संभव हो सका? मध्य-युग बहुत कुछ करामातों का युग था। उस युग के प्रत्येक साधु-सन्त के नाम पर दो-चार करामाती किस्से मिल ही जाते हैं। इन करामातों और उनकी ख्याति से लोग परस्पर एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते थे। दोनों ज्यों-ज्यों निकट आते गये त्यों-त्यों अधिकाधिक अनुभव करते गये कि दोनों में तात्त्विक मतभेद बहुत कम है। कबीर आदि सन्तों ने इस बात पर बहुत जोर दिया। उन्होंने हिन्दुत्व और मुसलमानत्व के बाह्य उपकरण को हटाकर उनका असली रहस्य पहिचानने की चेष्टा की। मुसलमानों की ओर से यह काम प्रेम कहानियाँ लिखकर सूफी सन्तों ने किया।^२

अवश्य ही इस काल के साधकों और सन्तों ने हिन्दी में एक विशेष प्रकार के साहित्य को लुप्त होने से बचा लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओं के भीतर इस युग में जो विराट जन-आन्दोलन भक्तिवाद के रूप में बढमूल हो चला था वह प्राचीन धर्म का आश्रय ले कर ही चला था। परन्तु शास्त्रगत सूक्ष्मविचारों और पांडित्य-प्रवण चिन्ताओं का प्रभाव उस पर बहुत कम था। इसके दो कारण थे। प्रथम तो यह जन आन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य है, इसलिये इसमें उन रूढ़ियों और परम्पराओं की चर्चा नहीं मिलती जो शास्त्रीयता से पुष्ट साहित्य में साधारणतः मिल जाया करती हैं। दूसरे जिस प्राचीन साहित्य के साथ इसकी तुलना की जाती है उसके बनने से लेकर इस साहित्य के बनने के काल के बीच जो प्रायः आधी सह-स्राब्दी का व्यवधान पड़ता है, उस व्यवधान-युग के विचारों के विकास के अध्ययन की चेष्टा नहीं की जाती। यदि इस व्यवधान कालिक साहित्य के उस अंश को देखें

१. डा० ताराचन्द कृत इन्क्वैरिन्स ऑफ इस्लाम मोन इंडियन कल्चर, पृ० ६७

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ५६

जिसका सम्बन्ध पण्डित जनों से नहीं बल्कि जनसाधारण से था तो कोई संदेह नहीं रह जायगा कि यह साहित्य इस व्यवधान कालिक जनसाहित्य का ही क्रम-विकास है। कबीरदास के निगूँण भजन, सूरदास के लीलागान और तुलसीदास का रामचरित-मानस अपनी अन्तर्निहित शक्ति के कारण अत्यधिक प्रचलित हो गये और जनता का सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींचने में समर्थ हुए।^१ परन्तु जनसाधारण का एक और विभाग जिसमें धर्म का स्थान नहीं था जो अपभ्रंश साहित्य के बदलते रूपों के साथ, गाँवों की बैठकों में कथानक और गान-रूप से चल रहा था, उपेक्षित होने लगा। इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले तत्कालीन लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर अपनी बात जनता तक पहुँचाई।

प्रारम्भ में भक्ति विषयक कविता के अवलम्बन थे—असुर-संहारक—लोक कल्याणकारी मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और लीलाधारी श्रीकृष्ण तथा उनकी शक्ति स्वरूपा पत्नियाँ सीता और राधा। बाद में भक्ति भावना में रागानुगा भक्ति एवं प्रेमलक्षणा भक्ति का समावेश हुआ। वल्लभ और महाप्रभु चैतन्य ने इसका विशेष प्रचार किया। जिसका फल यह हुआ कि भक्ति-भावना लौकिक पक्ष की ओर झुक चली। इसमें परकीया-भाव को भी प्रोत्साहन मिला। यहाँ तक कि रूप गोस्वामी ने समस्त साहित्यिक नायिका-भेद को कृष्ण-भक्ति का एक अंग ही बना दिया। भक्ति में कामुकता का मिश्रण करने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ सूफी सन्तों के पल्ले भी पड़ता है। उर्दू-साहित्य का इतिहास लिखते समय डा० राम बाबू सक्सेना ने लिखा है कि सूफी कवि लौकिक प्रेम को पारलौकिक प्रेम तक पहुँचने का सोपान मानते हैं। इसी कारण उन्होंने शारीरिक सौन्दर्य को विशेष गाया है। पारलौकिक प्रेम की शिक्षा देने के लिए उन्होंने प्रेम का प्रचार किया। इस प्रकार आध्यात्मिकता के साथ कामुकता का मिश्रण कर देने का उत्तरदायित्व उन्हीं का है। वहीं आगे उन्होंने बताया है कि क्योंकि सूफियों ने शारीरिक सौन्दर्य वर्णन को आध्यात्मिकता का एक आवश्यक अंग माना अतः उन्होंने कामुक शारीरिक सौन्दर्य की चर्चा की। आगे के कवियों के हाथों में (जिनमें सन्तों के समान अध्यात्म भावना का सर्वथा अभाव था) पड़कर यह लौकिक सौन्दर्य-प्रेम विकृत और पतित हो गया।^२

मुसलमानी धर्म का प्रभाव सूफी मत द्वारा प्रचारित प्रेम-काव्य के अतिरिक्त सन्त-काव्य पर भी पड़ा जिसकी रूपरेखा सूफी मत से बहुत मिलती है। मुसलमानों का शासन मूर्तिपूजा के लिए अनुवंरा भूमि-सम था। वे प्रबल मूर्ति विध्वंसक थे और घुराणित काफिरों (हिन्दुओं) का समूल नाश चाहने वाले थे। अतः हिन्दू धर्म की मूर्तिपूजा से सम्बद्ध प्रवृत्ति मुसलमानों को भला कैसे सह्य होती? इस प्रकार हिन्दू धर्म के उपासकों के सामने यह जटिल प्रश्न था जिसका हल उन्हें सन्त-मत में मिल गया। इसके प्रवर्तक महात्मा कबीर थे। कबीरदास ने हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को मुसलमानी धर्म के मूल सिद्धान्तों से मिलाकर एक नवीन पन्थ की कल्पना की।

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ५७

२. डा० रामबाबू सक्सेना कृत ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर पृ० २७-२८

जिसमें ईश्वर एक था। वह निर्गुण और सगुण से परे था। उसकी सत्ता प्रत्येक कण में थी। माया अद्वैतवाद की ही माया थी जिससे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता का आभास होता है। गुरु की बड़ी शक्ति थी, वह गोविन्द से भी बड़ा था आदि। सूफीमत में भी खुदा या हक एक है। जीव उसका ही रूप है। वह निराकार है। उसकी व्याप्ति संसार के प्रत्येक भाग में है। साधक को साधना की अनेक स्थितियों को पार करना पड़ता है। इस तरह दोनों धर्मों के मेल से एक नवीन पंथ का प्रचार हुआ जो सन्त मत के नाम से पुकारा गया। हिन्दू धर्म की वे बातें जो इस्लाम को असह्य थी सन्त मत में नहीं हैं। मुसलमानी धर्म की वे बातें जो हिन्दू धर्म से मिलती-जुलती हैं सन्त मत में हैं। इस प्रकार सन्त-मत के पल्लवित होने का बहुत कुछ श्रेय-मुसलमानी धर्म को है।^१ हम यह भली-भाँति जानते हैं कि भारतीय हिन्दी साहित्य में कबीर के बाद एक बड़ी सन्त परम्परा विद्यमान है। इस बात को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता कि जहाँ तक इन सन्त साधकों की धर्म-भावना विषयक बुद्धि एवं भारतीयता का प्रश्न है वहाँ सूफी सन्तों के बाह्य आकार को छोड़कर सब कुछ भारतीय है। विशेषकर हिन्दुओं के भीतर इस युग में विराट जन-आन्दोलन-रूप से उद्भूत भक्तिवाद के पीछे प्राचीन भारतीय धर्म का बल है। कहना हमें यहाँ इतना ही है कि देश में परतन्त्रता फैली थी और इसलिए सर्वोच्च दरबारों में देशी भाषा के अमान्य हो जाने से उसकी कविता सन्तों की वाणी के रूप में ही हो सकती थी। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मध्ययुग के इस साहित्य की विशेषता यों अंकित की है—मध्ययुगेर साधक कबिरा ने मध्ययुग के इस साहित्य की विशेषता यों अंकित की है—मध्ययुगेर साधक कबिरा हिन्दी भाषाय जे भाव रसेर ऐश्वर्यविस्तार करियाछेन ताहार मध्ये असामान्य विशेषत्व आछे। सेइ विशेषत्व एइ जे ताहादेर रचनाय उच्च अंगेर साधक एवं उच्च अंगेर कवि एकत्र मिलित होइयाछेन। एमन मिलन सर्वत्रइ दुर्लभ।^२

अर्थात् मध्ययुग के साधक और कवियों ने जो भाव और रस का विस्तार किया है उसमें असामान्य विशेषता है। वह विशेषता यह कि उस रचना में उच्च श्रेणी के साधक और उच्च श्रेणी के कवि का सम्मिलन है। इस प्रकार का मिलन सर्वत्र दुर्लभ है।

संत-साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए डा० रामकुमार वर्मा^३ ने लिखा है कि नाथ पंथ का विकसित रूप संतकाव्य में पल्लवित हुआ जिसका आदि इतिहास सिद्धों के साहित्य में है। गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार में जिस हठयोग का आश्रय ग्रहण किया था वही हठयोग संतकाव्य में साधना का प्रधान रूप हो गया। अतः सिद्ध साहित्य नाथ-पंथ और संतमत एक ही विचारधारा की तीन परिस्थितियाँ हैं। संतमत में जो अनेक पंथ चले उनकी प्रधान भावनाएँ ये हैं—

(क) ईश्वर एक है। वह निराकार और निर्गुण है।

(ख) मूर्तिपूजा व्यर्थ है। उससे ईश्वर की व्यापकता सीमित हो जाती है।

१. डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २१५

२. हरिनारायण शर्मा पुरोहित सम्पादित सुन्दर ग्रन्थावली, प्राक्कथन, सन् १९३३

३. डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६८

(ग) गुरु का महत्व ईश्वर से भी अधिक है।

(घ) जाति भेद का कोई बन्धन नहीं है। ईश्वर की भक्ति में सभी समान हैं।

संतकाव्य में मुसलमानी प्रभाव यथेष्ट है। कुछ तो राजनीतिक परिस्थितियों के कारण और कुछ मूर्तिपूजा की उपेक्षा के कारण। संतकाव्य अधिकतर मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हुआ। हिन्दू धर्म की रूपरेखा लिए संत मत के निर्माण में इस्लाम का पर्याप्त हाथ रहा है। मूर्तिपूजा की अवहेलना और जाति के बन्धन का बहिष्कार संतमत ने बड़ी उग्रता से किया है। हिन्दी साहित्य में यह देन अंशतः इस्लाम की है। सन्तकाव्य में सिद्धान्तावर्तन पुनः-पुनः हुआ है। किसी भी कवि ने अपनी ओर से मौलिकता प्रदर्शित करने का श्रम नहीं उठाया। वही बातें बार-बार एक ही रूप में दृष्टिगत होती हैं।^१

(आ) राजदरबारों में भाषा-कवियों का आदर बढ़ना

वस्तुतः हिन्दी-रीति-साहित्य की प्रवृत्ति उतनी मौलिक नहीं जितनी आवश्यकता-जन्य है। भाषा में फूटती हुई कवि प्रतिभा ने राजाओं और सामन्तों को चमत्कृत किया और उनके संरक्षण व प्रोत्साहन के फलस्वरूप भाषा काव्य का विकास हुआ। लोक-भाषा में ज्ञान और अनुभव के प्रकाशन और प्रचार की परम्परा ईसा की छठी शती पूर्व ही पड़ चुकी थी जबकि गौतमबुद्ध (५१७ ई० पू०-४३७ ई० पू०) ने अपने ज्ञान और उद्देश की प्रणाली संस्कृत में न डालकर पाली में डाली थी। इसी परम्परा के विकास के रूप में अनेक सन्त-कवियों का भाषा आन्दोलन देखा जा सकता है। गोरखनाथ के पूर्ववर्ती व समकालीन सिद्धों और नाथों का साहित्य लोकभाषा साहित्य है, निश्चय ही जिसमें हिन्दी के सन्तकाव्य का आदिम रूप झलक रहा है। कबीर ने इस परम्परा के अनुरूप ही संस्कृत के स्थान पर भाषा में निहितज्ञान-मुलभता की घोषणा की—‘संसकित कूपजल कबीरा भाषा बहता नीर’। कूपजल और बहते नीर की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। एक यदि स्वच्छ सुरक्षित निर्मल और गम्भीर जल का आगार है तो निश्चय ही वह श्रम-साध्य है—सर्वजनमुलभ नहीं। दूसरा यदि सर्वजन मुलभ है तो उसमें वह गंभीरता, शीतलता, गुणकारिता और विकारहीनता नहीं जो पहले में है। निस्सन्देह यदि संस्कृत कूपजल न बनकर बहता नीर बना रह सकता तो भाषा सम्बन्धी अनेक सामने आई उलझनें शायद न उभर पातीं।

भाषा-साहित्य को प्रचार और प्रतिष्ठा मिल जाने पर भी भाषा-साहित्यकारों ने संस्कृत भाषा व साहित्य को ससम्मान सुरवाणी सम्बोधन दिया। कबीर संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे। यदि उनके उपर्युक्त कथन में कोई ननु नच करे तो उसके प्रति निवेदन है कि विद्यापति तो संस्कृत, प्राकृत-अपभ्रंश के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन भाषा-कृत-क्षेत्रों में ‘पुरुष परीक्षा,’ ‘कीर्तिलता’ उनके अक्षय-कीर्ति स्तम्भ हैं। उन्हें भी ‘दिसल बग्रना’ का प्रयोग या कहिये कि देशी भाषा का व्यवहार अधिकतर रुचा है। उनका निश्चित मत है कि प्रचलित लोकभाषा सब जनों को मीठी लगनेवाली होती है। उनकी पदावली

उस मिठास की साक्षी दे रही है। यह विचार-धारा और लोक-भाषा-परम्परा निरन्तर गतिशील रही और गोस्वामी तुलसीदास (जो कि संस्कृत के अत्यन्त ऋणी हैं) तक ने संस्कृत के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हुए भी है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँचि।

काम जो आवे कामरी, का लै करै कमाँचा ॥

तुलसीदास के समान जन-मानस का पारखी दुर्लभ है। उनका इस विषय में मन्तव्य स्पष्ट जान पड़ता है कि लोक-भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में ज्ञान और साहित्य की सम्पत्ति व्यर्थ होती है। भाषा-काव्य-प्रणयन की उस लहर में संस्कृत के वातावरण में पले केशवदास को बहना पड़ा, भले ही उसके खानदान में भाषा-प्रयोग न होता था—

भाषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।

भाषा कवि सो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास ॥

समस्त मध्ययुग में हिन्दी को भाषा नाम से ही कहा गया है। अतः यह भाषा हिन्दी-भाषा का ही संक्षिप्त रूप है। इसमें 'हिन्दी' शब्द नहीं है और अब हम 'भाषा' को छोड़ चुके हैं। जायसी ने भी इसे भाषा ही कहा है—'आदि अन्त जस गाथा अहै लिखि भाषा चौपाई कहै।' इस भाषा को ही प्रायः मुसलमानों ने अपनी खड़ी बोली शैली के लिए विशेषतः हिन्दी नाम दिया—

अरबी हिन्दी फारसी तीनों करो खयाल ।' —खुसरो १४ वीं शताब्दी

जिस समय भाषा-साहित्य का प्रारम्भ हुआ उस समय संस्कृत के लक्षण और अलंकार ग्रन्थ अन्तिम चरण में थे। शाहजहाँ के समय में पण्डितराज जगन्नाथ का अलंकार शास्त्रीय ग्रंथ 'रस गंगाधर' निर्मित हुआ। और युगपदेव उस समय भक्ति काव्य की अगाध धारा के साथ-साथ नन्ददास की रसमंजरी, कृपाराम की हित तरंगिणी, केशवदास कृत कविप्रिया और रसिकप्रिया जैसे हिन्दी में अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ रचे गए। शाहजहाँ के दरबार में रहकर सुन्दर कवि ने नायिकाभेद पर 'सुन्दर शृंगार' नामक ग्रन्थ रचा।

मुसलमान आक्रान्ताओं में से पठानवंशोद्भव गुलाम और खिलजी वंश के लोगों ने भारतभूमि (१२००-१४१२ ई० तक) लगभग २०० वर्षों तक शासन किया। ये लोग मात्र लुटेरे नहीं थे तथापि इतिहास इस बात का पोषक है कि पठान बाद-शाहों ने हिन्दू भाषा-कवियों को दरबार में आश्रय नहीं दिया।^१ उनके दरबार में रहनेवाले कवि अधिकांश फारसी के थे और वह परम्परा लगभग अकबर के समय तक चलती रही।

दिल्ली-साम्राज्य-विघटन के समय सद्दयद और लोदी लोग तो दिल्ली के आस-पास ही रह गए थे। पूर्वी भारत में तुर्की-हुकूमत कायम हुई। बुलन्दशहर से दरभंगा

१. डा० भागीरथ मिश्र कृत हिन्दी रीति साहित्य, पृ० ३, पाद टिप्पणी संख्या १

२. डा० ईश्वरी प्रसाद कृत मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २५३

तक इसका विस्तार था। जौनपुर राजधानी थी। मिथिला इनका करद के रूप में था। जब मुसलमानी शासन भारतवर्ष में स्थापित हो गया तो हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियाँ परस्पर स्नेह-भाव के जागरण की आकाँक्षा करने लगीं। यह सच है कि मुसलमान शासक अपने उद्धत स्वभाव के कारण तलवार की धार में अपने इस्लाम की तेजी देखना चाहते थे और किसी भी हिन्दू को इस्लाम या मृत्यु या दोनों में से किसी एक को चुनने के लिये बाध्य कर सकते थे। जैसा कि शुरु के अनेक यवन आक्रान्ताओं ने किया भी परन्तु दूसरी ओर एक शासक वर्ग ऐसा भी था जो हिन्दुओं को अपने पथ पर चलने की आज्ञा प्रदान करने में सुख का अनुभव करता था। ऐसे शासक वर्ग में जौनपुर के शर्की सम्राट् शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह, हुसेन शाह और शेरशाह, (गोड़ाधिप गुलाम वंशज फरीद खाँ जो बाद में दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ) का नाम प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः इन शासकों के साथ ऐसे मुसलमान भी थे जो हिन्दू धर्म के प्रति उदार ही नहीं वरन् उस पर आस्था भी रखते थे। जहाँ वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास रखते थे, वहाँ दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। हिन्दी साहित्य के प्रेमकाव्य की रचना में इसी भावना का आधार है। शर्की सम्राटों और शेरशाह आदि ने स्पष्ट ही उलमाओं की शिक्षा की अवहेलना कर हिन्दू धर्म के प्रति उदारता का भाव प्रदर्शित किया।^१ फलतः हिन्दू मुस्लिम ऐक्य भावना ने विस्तार पाया और संगीत तथा भाषा-कविता को प्रोत्साहन मिला। भ्रमणशील और भारतीय जनता के प्रेम कथानकों को लेकर जन-भाषा में कविता करने वाले अनेक सूफी कवियों ने इन सम्राटों का आश्रय लिया और गुणगान भी किया। इस प्रकार इन राज-दरबारों में भाषा-कवियों का आदर बढ़ने लगा।

कुतुबन—ये चिह्नी वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्य-भाग संवत् १५५० सन् १४९३ ई० था। उन्होंने मृगावती नाम की एक कहानी चौपाई-दोहे के क्रम से सन् ९०९ हिजरी (संवत् १५५८) (सन् १५०१ ई०) में लिखी जिसमें चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूप-मुरारि की कन्या मृगावती की प्रेम-कथा का वर्णन है।^२

मलिक मुहम्मद जायसी—ये जायस के रहनेवाले थे और प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे। इनकी एक छोटी-सी पुस्तक आखिरी कलाम (सन् १५२८ ई० के लगभग) बाबर के समय में लिखी गई थी। उसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा है। जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है पद्मावत जिसका निर्माण-काल कवि ने इस प्रकार दिया है—

सन् नव से सत्ताइस अहा। कथा आरम्भ बैन कवि कहा ॥

१. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत “ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया”

२. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००९ संस्करण, पृ० ६४

इसका अर्थ होता है कि पद्मावत की कथा के आरम्भिक वचन कवि ने ६२७ हिजरी सन् १५२० ई० के लगभग में कहे थे। पर ग्रन्थारम्भ में कवि ने मसनवी रुढ़ि के अनुसार शाहेवक्त शेरशाह की प्रशंसा की है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू । चारहु खंड तपै जस भानू ॥

ओही छात्र राज औ पादू । सब राजै भुंइ धरा ललादू ॥

शेरशाह के शासन का आरम्भ ९४७ हिजरी अर्थात् सन् १५४० ई० से हुआ था। इस दशा में यही सम्भव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाये थे पर ग्रन्थ को १६ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया।^१

उस समय देखादेखी हिन्दू राजा-उमरावों के दरबारों में भी भाषा-कवि समादर पाने लगे थे। स्वयं जायसी ने शेरशाह का आश्रय प्राप्त किया ही, ये गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगत्देव (आविर्भाव संवत् १५८४) के आश्रित भी रहे। बाद में ये अमेठी नरेश के विशेष कृपा-पात्र हुए। क्योंकि इन्हीं के आशीर्वाद से उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई थी। इनकी कब्र भी अमेठी-राज्य में है। इस प्रकार मरने पर भी इन्होंने अपना सम्बन्ध अमेठी से नहीं तोड़ा।^२

१५वीं शती के प्रथम दशक में शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह शर्की नामक जौनपुर का सर्वाधिक विशिष्ट सम्राट् हुआ। कलाप्रियता और विद्यानुराग उसमें बहुत था। अपनी इस विशिष्ट वृत्ति के कारण इसने अनेक विद्यानुरागियों को आश्रय प्रदान किया। जिन्होंने जौनपुर को उन दिनों पूर्वी भारत का प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र बना दिया। दिल्ली पर उन दिनों तैमूर के आक्रमण से खदेड़े गए अनेक असुरक्षित और विस्थात साहित्यिक रुचि के लोग इसके दरबार में आ गये और उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध शिह-बुद्दीन मलिक-उल-उलमा ने उदाराशय इब्राहीमशाह को अपनी अनेक रचनाएँ समर्पित कीं।^३ मध्ययुग में जौनपुर वस्तुतः एक प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र था और इब्राहीम शाह शर्की विद्याप्रेमियों का एक उदार आश्रयदाता। अनेक साहित्यिक, दार्शनिक और धार्मिक रचनाएँ उसके राजत्व में सम्पन्न हुईं।^४

शेरशाह ने अपने मुस्लिम गुह उलमाओं की शिक्षा पर कान न देकर हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी प्रारम्भ कर दी थी। विदेशी शासक होते हुए भी वह अपने शासन की सार्थकता तब ही समझता था जबकि वह प्रजाजनों

१. रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, २००६ संस्करण, पृ० ६६-१००
२. डा० रामकुमार वर्मा कृत हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, १९५४ सं०, पृ० ३०८
३. डा० ईश्वरी प्रसाद कृत ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, १९५८ सं०, पृ० १४२
४. वही, पृ० १६५

के जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षा देनेवाला हो। उसके अनुसार सब शासकों को अपने न्याय-सिद्धान्तों का, बिना जाति-पाँति का भेद रखे, सबके साथ समान व्यवहार करना चाहिये और उन्हें अपने कार्यवाहक सशक्त अधिकारियों को ऐसे निर्देश देने चाहियें जिनसे कि वे न्याय-रक्षा करते हुए क्रूरता और अत्याचार की छाया से बचे रह सकें।^१ जौनपुर और शेरशाह के इतिहास के देखने से पता चलता है कि ये विदेशी आने होने लगे थे। ऐतिहासिक, उपलब्धियों से यह बात स्पष्ट है। इन विशेष प्रवृत्ति वाले बादशाहों की उदार आशयता को तत्कालीन राज दरबारों में भाषा-कवियों के समादर-वृद्धि में मूल कारण समझना चाहिए। यह उदाराशयता उत्तरकालीन स्वदेशी-विदेशी शासकों में जहाँ-जहाँ जितनी मात्रा में बढ़ती गई वहाँ-वहाँ भाषा-कवियों के ठूठ जमा होते गए उतनी ही मात्रा में।

(इ) रीतिकालीन कवियों का प्रादुर्भाव

भारतीय साहित्य एवं कला का नया अरणोदय उस दिन हुआ जिस दिन दिल्ली के तख्त पर सम्राट् अकबर आसीन हुआ। सन् १५५६ ई० में अकबर दिल्ली-राज्य के सिंहासन पर बैठा। उसने अपने ५० वर्ष के शासन-काल में मुगल साम्राज्य की नींव इतनी दृढ़ कर दी कि आगे ३०० वर्षों तक मुगल-सम्राटों ने जमकर सुख-भोग किया। अकबर ने ही सबसे पहले हिन्दी-भाषा-कवियों को दरबार में आश्रय दिया और हिन्दी-काव्य को इस प्रकार उचित प्रोत्साहन मिला। अधिक स्पष्ट रूप में भाषा-कवियों के राज्याश्रय की परम्परा अकबर के समय से ही पड़ी और जिसकी देखा-देखी राजपूताना तथा मध्य भारत की रियासतों—(ओरछा, नागपुर आदि) में भाषा-कवियों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और आगे उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के दरबारों में प्रतिष्ठा मिली और इसके फलस्वरूप व्यापक रीति-साहित्य की रचना हुई।^२

सम्राट् अकबर की कलाप्रियता, विद्यानुराग, समन्वयवादी धार्मिक भावना तथा उसकी उदाराशयता के दृष्टिकोण ने भारतीय साहित्य, कला एवं संस्कृति में एक अद्भुत मोड़ समुपस्थित किया। उसके सम्पूर्ण राज्य एवं रक्षित राजाओं की प्रजा में शान्ति व्याप्त थी। आक्रमणकारी बादल भारतीय गगन से छिन्न-भिन्न हो गए थे और देश धन-धान्य से पूर्ण होकर भोग-विलास की ओर तीव्रता से बढ़ने लगा। राज-स्थान में मेवाड़ वंश की उन्नति के कारण हिन्दी कविता में वृद्धि तो अवश्य हुई थी किन्तु राणा संग्रामसिंह की हार से कविता की उन्नति में सचमुच ठेस लग जाती, यदि ब्रज के समीप आगरे में सहृदय सम्राट् अकबर अपनी राजधानी को न उठा लाते। राजधानी और राजदरबार का ब्रज-मण्डल के निकट आ जाना ब्रजभाषा की उन्नति के लिए दृढ़ कारण हो गया। अकबर के राज-दरबार और दरबारियों में

१. डा० ईश्वरी प्रसाद कृत ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया—मुखपृष्ठ-टाइटिल

२. डा० भगीरथ मिश्र कृत हिन्दी रीति साहित्य, पृ० ४

साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्य की खासी चहल-पहल रही। साहित्य-सेवा की इच्छा से फारस और अन्यान्य देशों से आकर सहृदय कवि राजधानी में बस गये। फारसी आचार-विचार, भाव और काव्य शैली की उन्नति ब्रजभाषा कविता के लिए सहायक हुई। ब्रजभाषी सहृदय प्रेमी सौन्दर्य के उपासक शृंगार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे। फारसी के प्रेमी भी ऐसे ही थे। उनके बीच एक प्रकार की मित्रता भी हो गयी। सम्राट और कुछ मुख्य सचिव सेनानायक एवं राजकवि ब्रजभाषा के कवि हो गये।^१ अकबरी दरबार का हिन्दी-काव्य-प्रेम देखकर औरों में भी ब्रजभाषा का प्रेम बढ़ा। रक्षित छोटे-छोटे राजाओं और नवाबों के दरबारों में भी हिन्दी-कविता पहुँच गई, क्योंकि ये लोग सीधे अकबरी दरबार से प्रेरणा पाते थे और अकबर-दरबार की नकल में अनेक छोटे-मोटे दरबार स्थापित हो चले। इस प्रकार हिन्दी भाषा (जिसे उन दिनों मातृ-भाषा या भाखा कहा जाता था) के कवियों के भाग्य खुल गये और उनका रहन-सहन, ठाट-बाट साधारण स्तर से ऊपर और नवाबों का-सा रहने लगा। भाषा-कवियों के इस आशातीत सम्मान को देखकर अधिक लोग इस ओर आकर्षित हुए क्योंकि इससे मनोरंजन तो होता ही था साथ-साथ आर्थिक लाभ की भी सम्भावना रहती थी। अब हिन्दी के कविगण गलियों का चक्कर लगाने तथा ठोकरें खानेवाले नहीं रह गये थे। वे दरबार के रत्न थे और उन्हें सम्मान के साथ ही साथ धन भी मिलता था। इस समय तक भक्ति और शृंगार की कविता साथ-साथ चल रही थी। जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कवि रचते थे। सम्राट अकबर का शासनकाल भारतीय इतिहास में हिन्दू-साम्राज्य के लम्बे अर्से के बाद आनेवाला पहला शासनकाल था जिसने स्वस्थ सामन्ती वातावरण उत्पन्न करके साहित्य-संगीत-कला एवं संस्कृति को पूर्णतया विकसित होने का अवसर प्रदान किया।

वस्तुतः अकबर का शासन-काल हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए एक स्मरणीय घटना है। अभी तक पठानों या मुगलों का शासन हिन्दू संस्कृति के लिए विरोधी सिद्ध हुआ था। पठानों के अत्याचार से हिन्दू न केवल अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकते थे वरन् अपने धार्मिक विचारों को भी प्रकट करने में असमर्थ थे। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में कबीर, नानक, तुलसी और सूर का आविर्भाव हुआ था और उन्होंने अपने धर्म की मर्यादा का निर्भीकतापूर्वक प्रचार किया था। यह धार्मिक क्रान्ति राजनीति से सम्बन्ध रखती थी और शासकों के समक्ष जनता के हृदय का क्रान्तिकारी चित्र रखने की चेष्टा कर रही थी। शासक की सहानुभूति अभी तक जनता के साथ नहीं थी किन्तु अकबर के राज्यारोहण ने अभी तक की शासन-नीति में परिवर्तन ला दिया। अकबर बड़ा उदार शासक सिद्ध हुआ। उसने अपने राज्य के प्रारम्भ से ही धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। फलस्वरूप हिन्दू धर्म भी स्वच्छता से विकसित हुआ पर अब उसमें प्रतिक्रिया के अभाव में वह क्रान्ति की भावना नहीं रह गई थी। तुलसी की 'वाढ़े बहु खल चोर-जुआरा जे लम्पट पर धन घर द्वारा' की शक्ति अब नष्ट हो गई थी। अब तो धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ धार्मिक विलास

और उच्छृंखलता की भावना भी अपने विकास का मार्ग खोजने लगी थी। नीति और उपदेश की साधु प्रवृत्तियाँ अवकाश के साथ कवियों के द्वारा प्रतिपादित होने लगी थीं। धर्म की ज्वलन्त एवं निर्भीक भावधारा अब समतल बाधारहित मार्ग पाकर शान्त-सी हो गई थी। अब तो राजाओं के आश्रित होकर ही नहीं स्वयं अकबर के दरबार का सहारा पाकर कविगण अपने काव्य का चमत्कार स्वयंवर में आये हुए राजकुमार के कौशल की भाँति प्रदर्शित करने लगे। धर्म की पवित्र भावना अब कला का रूप लेने लगी। अतः साहित्य अपने चमत्कार के प्रकाशन का मार्ग खोजने लगा। उसका उद्देश्य अब कोई निश्चित न होकर उच्छृंखलता हो गया। धर्म की भावना तो केवल नाममात्र को रह गई। तुलसी और सूर की प्रतिभा का प्रकाश अभी तक कवियों का पथ-प्रदर्शन कर रहा था अतएव कविगण राम और कृष्ण का नाम तो नहीं छोड़ सके हाँ राम और कृष्ण के भीतर छिपे हुए धार्मिक उन्मेष को अवश्य भूलने लगे। अब राम और कृष्ण की कविता पर अत्याचार के बदले पुरस्कार मिलने लगा। अकबर और रहीम भी कविता करने लगे। भक्ति में शृंगार की भावना का सूत्रपात यहीं से आरम्भ हुआ। कवि निर्भीक होकर भक्ति में शृंगार और शृंगार में नीति की रचनाएँ करने के लिए उत्सुक हो उठे और एक बार फिर हिन्दी साहित्य में विविध विषयों पर रचना करने के लिए कई लेखनियाँ एक साथ चल पड़ीं।

बाद में जहाँगीर और शाहजहाँ के जमाने तक उन लेखनियों के कवित्व में निखार आता रहा। वैसे मुहम्मदशाह रंगीले के समय तक भी "हुंस जवाहिर" के कर्ता कासिम शाह, इन्द्रावती के कर्ता नूर मुहम्मद जैसे अनेक भाषा कवि समादर के पात्र बने रहे।

अब हम अकबर के समय से लेकर शाहजहाँ के समय तक मुस्लिम-हिन्दू-दरबारों में आश्रय पानेवाले कुछ ऐसे कवियों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करते हैं जिनकी अधिकांश कविता रीति साहित्य की सीमा में आती है। इस समय के प्रधान कवि निम्नलिखित हैं—

(१) सनोहर कवि—इनका कविता काल संवत् १६२७ के लगभग माना जाता है। ये अकबर के समकालीन थे और उन्हीं के दरबारी कहे जाते हैं। फारसी और संस्कृत पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी कविता में कहीं-कहीं फारसी के शब्द भी आ जाते हैं। इनकी एक रचना प्राप्त है—वह है "शतप्रश्नोत्तरी"। अधिकतर दोहों में ही रचना किया करते थे जिनमें नीति व शृंगार की सूक्तियाँ रहा करती थीं।

(२) जयतराम—इनका आविर्भाव काल संवत् १६३० है। ये अकबर के दरबार के कवि थे। इन्होंने भगवद्गीता की पद्यबद्ध टीका की थी। यह श्रीधर टीका का भाषानुवाद है।

(३) रहीम—ये हिन्दी के प्रसिद्ध सूक्तिकार और जीवन की परिस्थिति के कुशल चित्रकार हैं। ये अकबर के अभिभावक बैरम खाँ के पुत्र थे। अतः इनका सम्बन्ध अधिकतर राज्यकुल से ही था। इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ था। ये बड़े दानी थे और एक-एक बार में अपरिमित धन दान करते थे। एक बार इन्होंने गंग की रचना पर ३६ लाख रुपये दान कर दिये थे। अन्त में जहाँगीर ने इन्हें राजद्रोह के अपराध

में कैद कर लिया और इनकी सारी जागीर जब्त कर ली। उस समय इनकी दशा भिक्षुक की-सी हो गई थी। इस प्रकार इन्हें जीवन की दो सीमान्त परिस्थितियों का अनुभव हो गया था और उसी अनुभव से उन्होंने जीवन के ऐसे मार्मिक तथ्यों का उल्लेख किया जो सदैव के लिए सत्य हैं और हृदय को स्पर्श करनेवाले हैं। ये बड़े विद्वान् थे। डा० ईश्वरी प्रसाद ने भी इनका निर्देश अपने इतिहास में किया है।^१

ये तुर्की, फारसी, अरबी और संस्कृत के ज्ञाता थे। ब्रजभाषा और अवधी पर तो इनका पूर्ण अधिकार था। इन्होंने फारसी का एक दीवान लिखा और वाक्यात वाबरी का अनुवाद तुर्की से फारसी में किया। इनके बनाये हुए कुछ संस्कृत के श्लोक भी हैं। ब्रजभाषा में इनके दोहे पद-लालित्य और उक्ति के लिए प्रसिद्ध ही हैं और अवधी में इन्होंने जिस सुन्दरता से नायिका-भेद की रचना की है वह हिन्दी की एक असूत्य रचना है।

इनकी कविता बड़ी ही सरस है। शब्दों का प्रयोग ये बड़ी उपयुक्त रीति से करते हैं। भाषा के पीछे जो भाव हैं वे एकान्त सत्य होकर सजीव हैं जिनसे मानव जीवन का अटूट सम्बन्ध है। मर्म की बात कहने में रहीम बड़े पटु हैं। उनकी रचना के पीछे एक ऐसा हृदय है जिसमें अनुभव, अन्तर्दृष्टि और सरसता है। इसी कारण उनकी कविता लोकप्रिय और अमर है। कहा जाता है रहीम और तुलसी में बड़ा स्नेह था।

वेणीमाधव दास ने भी अपने गोसांई चरित में तुलसीदास की बरवै रामायण की रचना का कारण रहीम को माना है—

कवि रहीम बरवा रचै पठये मुनिवर पास

सखि तेहि सुन्दर में रचना कियो प्रकास ॥ —गोसांई चरित, दोहा ६३

इनकी कविता इतनी श्रेष्ठ है कि इसमें कल्पना के चित्र रहते हुए भी सत्यता है और वह हमारे जीवन के अत्यन्त निकट है। इनके ग्रन्थों में रहीम दोहावली, बरवै नायिका, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी और शृंगार सोरठ प्रसिद्ध हैं। काव्य के दृष्टिकोण से इनकी बरवैनायिका भेद सबसे सफल रचना है। इसमें अवधी के भाषा सौन्दर्य के साथ ही साथ नायिकाओं के जो चित्र हैं वे सरस और भावपूर्ण हैं। रहीम की मृत्यु संवत् १६८२ में हुई। मुसलमान होते हुए भी उनमें हिन्दू धर्म की ऐसी छाप थी कि उससे किसी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं प्रकट होती। यह रहीम की सहृदयता, भावुकता और प्रतिभा ही थी।

(४) बीरबल—इनका आविर्भाव काल संवत् १६४० है। ये अकबर के प्रसिद्ध मंत्रियों में थे। इनका विनोद तो प्रसिद्ध ही है। महाकवि भूषण के अनुसार इनका जन्म स्थान तिकवांपुर का समीपवर्ती एक गाँव था। जिसे आजकल बीरबलपुर कहते हैं। कवि होने के साथ ही वे बड़े उदार भी थे। इन्होंने एक बार केशवदास को उनकी कविता पर ६ लाख रुपये दिये थे। इनकी कविता अधिकतर नीतियुक्त ही रहती है

पर इनका ऋतुवर्णन भी प्रसिद्ध है। इनकी भाषा मँजी हुई और सरस है। उसमें अलंकार की छटा भी यत्र-तत्र पाई जाती है। कविता में ये अपना उपनाम ब्रम्ह रखते थे। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में अकबर का यह सोरठा प्रसिद्ध है।

दीन देखि सब दीन एक न दीन्यो दुसह दुख।

सो अब हम कहैं दीनह कछु नहि राख्यो बीरबल ॥

अकबर ने बीरबल को कविराय की उपाधि से विभूषित किया था। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी इस विषय में लिखते हैं—“यह तो स्पष्ट है कि कोई बात उनमें ऐसी विशेष होगी कि गंग और नरहरि आदि के रहते हुए भी कविराय की महत्त्वपूर्ण पदवी अकबर ने उन्हीं को दी। अकबर स्वयं साधारण कवि और कविता प्रेमी न था। यद्यपि उसके दरबार में फारसी और हिन्दी आदि के कवि आते-जाते रहते थे किन्तु वह उन्हीं कवियों का सम्मान करता था जिनमें उसे सार और तत्व दिखाई पड़ता था। अतएव कविराय पद से विभूषित करने के पहले ही उसने विचार कर लिया होगा। दरबार में आने के पहले ही से बीरबल की कविता की प्रशंसा होती थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त शायद वह पद अकबर ने किसी दूसरे को नहीं दिया”।^१

(५) होलराय—ये अकबर के समकालीन थे और प्रायः अकबर के दर्शन करने के लिए दरबार में भी जाया करते थे। इनका कविता-काल संवत् १६४२ है। ये अधिकतर चारण-रचनाएँ किया करते थे। और अपने आश्रयदाता श्री हरिवंशराय की विरुदावली गाया करते थे। इनकी कविता अधिकतर वर्णनात्मक है। उसमें काव्य के किसी अंग का निरूपण नहीं है वरन् वे तत्कालीन घटनाओं और परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती हैं। कहते हैं कि ये तुलसीदास के लोटे पर रीझ गये थे। इन्होंने कहा था—‘लोटा तुलसीदास का लाख टका को मोल’। तुलसीदास ने निम्नलिखित चरण कह कर इन्हें अपना लोटा दे दिया था—‘मोल तोल कछु है नहीं लेहु राय कवि होल’। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। स्फुट रचना देखने में आती है, वह भी साधारण है।

(६) टोडरमल—इनका जन्म संवत् १५८० और मृत्यु संवत् १६४६ में हुई। ये अकबर के मंत्रियों में से थे। इन्होंने हिन्दी-स्फुट-रचनायें की। कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा। इनकी रचनायें अधिकतर नीति से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। इनका कविता-काल संवत् १६१० माना जाता है।

(७) नरहरि बन्दीजन—ये अकबर के दरबार के माननीय व्यक्ति थे। इन्हें अकबर ने महापात्र की उपाधि दी थी। इनका आविर्भाव काल संवत् १६५० कहा जाता है। इनके तीन ग्रन्थ-रुक्मिणी मंगल, छप्पय नीति और कवित संग्रह प्रसिद्ध हैं। छप्पय और कवित इन्हें विशेष प्रिय थे। कहते हैं इनके एक छप्पय पर प्रसन्न होकर अकबर ने अपने राज्य में गोवध बन्द कर दिया था।

(८) गंग—अकबर के दरबार में गंग श्रेष्ठ कवि माने जाते थे, अतः इनका कविता-काल संवत् १६५० के लगभग ही मानना चाहिये। इनका विशेष विवरण

ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जाता है कि किसी राजा या नवाब ने इन्हें हाथी से चिरवाये जाने का मृत्युदण्ड दिया था, जो इन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। गंग अपने समय के बहुत बड़े कवि कहे जाते हैं। दास के “तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सर-दार” कथन में इस प्रमाण की पुष्टि होती है। इन्होंने बड़ी सरस रचना की है। एक ओर यदि स्वाभाविक शृंगार-वर्णन है तो दूसरी ओर विरह-वर्णन की अतिशयोक्ति है। इनकी रचना देखने से ज्ञात होता है कि इनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था। यद्यपि इनकी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं प्राप्त होती तथापि इनके पद अनेक संग्रहों में मिलते हैं। इनकी रचनायें बहुत लोकप्रिय हैं।

(६) व्यास जी—इनका आविर्भाव काल संवत् १६२२ माना गया है। ये ओरछा नरेश श्री मधुकर शाह के राजगुरु थे। ये संस्कृत के बड़े पण्डित थे। ज्ञानार्जन के लिए पर्यटन किया करते थे। वृन्दावन में हितहरिवंश के महत्त्व को देखकर उनके शिष्य हो गए। इनकी कविता बड़ी लोकप्रिय हुई। उन्होंने ज्ञान और भक्ति की विवेचना बड़े सरल और स्पष्ट ढंग से की। ये कृष्ण-लीला के बड़े प्रेमी थे और उन्हीं लीलाओं के पद गाकर सुनाया करते थे। बुन्देलखण्ड के ये बड़े लोकप्रिय कवि थे।

(१०) निपट निरंजन—ये अकबर के समकालीन थे। इनका जन्म संवत् १५९६ में हुआ था। ये बड़े ही शक्तिशाली कवि थे। इनकी स्फुट रचना में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के बड़े लोकप्रिय कवित्त हैं।

(११) बलभद्र मिश्र—ये ओरछा निवासी महाकवि केशवदास के बड़े भाई थे और भाषा के अच्छे कवि थे। उनका कविताकाल संवत् १६३७ के लगभग माना जाता है। इन्होंने नख-शिख पर उत्कृष्ट रचना की है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और सन्देह का इन्होंने विशेष सफलता के साथ कविता में प्रयोग किया। बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक, गोवर्धन सतसई टीका और दूषण विचार इनके ग्रन्थ हैं।

(१२) मुबारक—इनका कविता-काल संवत् १६७० माना जाता है। ये अनेक भाषाओं के विद्वान् थे। संस्कृत और फारसी पर तो पूर्ण अधिकार था। इनका शृंगार-रस-वर्णन बहुत प्रसिद्ध है। नख-शिख पर तो इन्होंने सरस लिखा है। एक अंग पर इन्होंने १०० दोहों के हिसाब से रचना की है। स्फुट कवित्तों और सर्वयों के अतिरिक्त इनके अलक शतक और तिल शतक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें उन्होंने अधिकतर उत्प्रेक्षाओं के सहारे सौन्दर्य-वर्णन किया है।

(१३) बनारसीदास—ये जैन कवि थे। इनका जन्म संवत् १६४३ में जौनपुर में हुआ था। इनका आविर्भावकाल १६७० है। जैन भाषा कवियों में सबसे श्रेष्ठ यही हुए। ये बादशाह शाहजहाँ के समकालीन थे।

(१४) रसखान—मुसलमान कवियों में रसखान अपने श्रीकृष्ण-प्रेम और तन्मयता के लिए प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इनके जीवन का पहला भाग भौतिक प्रेममय था। इनकी प्रेमासक्ति के विषय में दो कथायें प्रसिद्ध हैं। एक तो बनिये के लड़के से प्रेम की कथा और दूसरे मानवती स्त्री के प्रेम के सम्बन्ध की कथा। दोनों ही कथाओं में इनक भौतिक प्रेम की प्रतिक्रिया के रूप में श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट

होने की बात है ।^१ इनका कविता-काल १६७१ माना जाता है । इनकी प्रेम वाटिका और सुजान रसखान दो रचनायें प्रसिद्ध हैं ।

(१५) अहमद—इनका आविर्भाव काल संवत् १६७८ माना गया है । ये जहाँगीरे के समकालीन थे । इनका दूसरा नाम ताहिर भी है । इन्होंने हस्तरेखा विज्ञान पर सामुद्रिक नाम की एक पुस्तक लिखी । काव्य में कोई विशेषता नहीं है । इनकी दूसरी पुस्तक का नाम गुण-सागर है जिसमें कोक-शास्त्र का निरूपण है । कहीं तो ग्रन्थ बहुत अश्लील हो गया है । ग्रियर्सन का कथन है कि ये सूफी थे पर इनकी रचनाओं में वैष्णव धर्म की ही छाप है ।

(१६) सुन्दरदास—इनका आविर्भाव काल संवत् १६८८ है । ये ग्वालियर के निवासी थे और शाहजहाँ के दरबार में जाया करते थे । ये पहले कविराज और फिर महाकविराज की उपाधि से विभूषित किये गये थे । इनके ग्रन्थ का नाम सुन्दरशृंगार है जिसमें नायिका-भेद वर्णित है ।

मध्ययुगीन दरबारी एवं सामन्ती संस्कृति ने वास्तु, स्थापत्य, चित्र, संगीत और साहित्य सभी ललित कलाओं के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया । इस बात को भी कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता कि मुगलकालीन कलात्मक प्रवृत्तियों का हिन्दी मुक्तक काव्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । हिन्दी काव्य में संस्कृत साहित्य से होता हुआ ग्रन्थवा उससे प्रभावित अपभ्रंश एवं लोकसाहित्य के रस से सिंचित मुक्तकों का जो प्रवाह चला आ रहा था उसे गति देकर गीत का स्वस्थ स्वरूप और लोकप्रियता मध्यकालीन दरबारों की देन है । शाश्वत शृंगार भावनाओं के कारण हिन्दी मुक्तकों का अस्तित्व तो था किन्तु उन्हें समुचित रूप से पल्लवित और पुष्पित होने का सुअवसर भारतीय सामन्ती संस्कृति के विकास-काल में ही मिल सका क्योंकि सन्नाटों, अमीरों, सामन्तों, नवाबों और उमरावों की गोष्ठियाँ-महफिलें ही मुक्तक काव्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थल ठहरा । इस काल के अधिकांशतः प्रमुख काव्य-रचनाकर्त्ता दरबारी थे । अतः राजमहलों की शृंगार-प्रवृत्ति का इस काव्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा । जिन दरबारों में ये कवि आश्रय पाते थे उनके दो वर्ग थे—एक मुगल बादशाह और उसके अमीर नवाबों का, दूसरा छोटे-मोटे हिन्दू राजाओं-सामन्तों का । प्रथम में प्रधानतः फारसी उर्दू के शायरों और विद्वानों का जमघट रहता तो द्वितीय में संस्कृत और भाषा के कवि समादर पाते । बड़े दरबार में समादर-लालसावश भाषा-कवि फारसी शायरों से होड़ करते और फारसी शायर भाषा-कवियों का मुकाबला ।

धर्म, नीति, उपदेश आदि विषयों की अपेक्षा दरबारों में शृंगार-विषयों को अधिक समादर मिलता था । अतः दरबारों में सम्मानित होनेवाली कविता का मुख्य प्रतिपाद्य शृंगार ही बना । देशी दरबारों अथवा गोष्ठियों में हिन्दी के कवियों को अपना चमत्कार दिखाने में संस्कृत के पण्डितों से जोड़-तोड़ भिड़ाना पड़ता था और मुसलमानी दरबारों में भी अपना रंग जमाने में फारसी या उर्दू के शायरों से मोर्चा लेना पड़ता था । संस्कृतवाले शृंगार की मुक्तक रचना लाते थे जिसमें वे नायक-

नायिकाओं का वर्णन, ऋतुवर्णन, नखशिख आदि की छटा दिखाते थे, हिन्दीवालों को भी वही करना पड़ता था। नरेश ही नहीं छोटे-छोटे तालुकेदार और जमींदार तक ऐसी रचना के शौहीन हो गये थे। कवि-कर्म करनेवालों के ये ही तो आश्रयदाता थे। मुसलमानी दरबारों में फारसी की रचना प्रेम का ही बँधा-बँधाया विषय (थीम) लेकर चलती थी। उसके जोड़ में भी हिन्दी कवियों ने शृंगार या नायिकाभेद की रचना सामने की। उधर से वे शेर पढ़ते थे या गजल गाते थे इधर से ये कवित्त, सबैया या दोहा भनते थे। मुक्तक रचना के आधिक्य का प्रमुख कारण यह दरबारदारी ही है क्योंकि मुक्तक द्वारा ही थोड़े रस के छींटे उछाले जा सकते थे। दरबारी कवियों ने प्रबन्ध को छुआ तक नहीं। उनका काम मुक्तकों से ही चल जाता था।^१

ओइनवार वंश का शासनकाल मिथिला के इतिहास में उत्कर्ष का युग था। इस काल में न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, ज्योतिष, काव्य आदि संस्कृत-साहित्य के विभिन्न अंगों की सर्वांगीण उन्नति हुई। सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध में सम्राट् अकबर ने खण्डवला-कुल-रत्न महामहोपाध्याय महेश ठाकुर को मिथिला का शासक नियुक्त किया। इनके रचित चिन्तामणि और आलोक-दर्पण के भाष्य उपलब्ध हैं। इनके अनुज मेघ ठाकुर रचित सरस्वती कण्ठाभरण की हस्तलिपि आज भी बीकानेर-नरेश के पुस्तकालय में संगृहीत है। सुप्रसिद्ध विद्वान् शुचिकर उपाध्याय इनके गुरु और पण्डित राय रघुनन्दन झा इनके प्रिय शिष्य थे। महा० रुचिपति उपाध्याय ने अनघराघव पर भाष्य की रचना की। मिथिलेश महेश ठाकुर के ये द्वार-पण्डित थे। मिथिलेश महेश के अग्रज महा० मर्च ठाकुर रचित बुद्धाधिकार, कुसुमांजलि प्रकाशिका, द्रव्य प्रकाशिका, किरणावली प्रकाशिका, आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। पण्डित वंश मणि शर्मा ने नेपाल-नरेश प्रतापमल्लदेव के आश्रित होकर गीत दिगम्बर काव्य ग्रन्थ की रचना की। कोइलख (दरभंगा) निवासी उमापति उपाध्याय ने सुप्रसिद्ध मैथिली नाटक ग्रन्थ पारिजात हरण की रचना की। मिथिलेश महिनाथ ठाकुर के अनुज कुमार नरपति ठाकुर के आदेश से ही लोचन कवि ने संगीत विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रागतरंगिणी की रचना की। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाराज सुन्दर ठाकुर के आदेश से कविवर रामदास झा ने आनन्द विजय नाटिका की रचना की। नल चरित, कृष्ण चरित आदि काव्य-ग्रन्थों के रचयिता कविवर गोविन्ददास झा रामदास के ही भाई थे। मैथिली में कृष्ण-जन्म नामक काव्य-ग्रन्थ के रचयिता मनबोध का निवास दरभंगा जिले के भरामगांव में था। गणेश्वर (अपर) रचित हरिभक्ति दीपिका और गंगाभक्ति तरंगिणी भक्ति-रस के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। महा० देवनाथ रचित उषा हरण नाटक, कवि उमापति-रचित रुचि-मणी स्वयंवर नाटक, हरिलाल-रचित आचार्यादर्श व्याख्या, नरहरि उपाध्याय-रचित अधिकरण कौमुदी, धर्मशास्त्र ग्रन्थ, देवनाथ-रचित स्मृति कौमुदी, अभिनव वर्धमान रचित परिभाषा विवेक आदि खण्डवला-कुल के शासन काल में रचित ग्रन्थों में पूर्ण प्रसिद्ध हैं। महा० हरिनाथ उपाध्याय सतधरा (दरभंगा) के निवासी थे। इनका रचित ग्रन्थ स्मृति सार है। विश्वेश्वर ने स्मृति समुच्चय नामक स्मृति विषयक ग्रन्थ

की रचना की। महा० गोविन्द मिश्र रचित नलचरित नाटक और कवि वैद्यनाथ मिश्र रचित केशव चरित्र प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सम्राट् शाहजहाँ ने पण्डित रघुदेव मिश्र की सर्वतोमुखी प्रतिभा पर प्रसन्न होकर उन्हें सारस्वत की उपाधि से विभूषित किया था। १७वीं शताब्दी में हुए नैयायिक पद्मनाभ मिश्र ने सिद्धान्तमुक्ताहार की रचना की। मदन मिश्र ने गोरक्षा निर्णय, मुक्तेश्वर भा ने पूजापटलभास्कर और प्रज्ञाकर ने नलोदय पर सुबोधिनी भाष्य की रचना की। सुचरित मिश्र-रचित काशिका, गायक-शिरोमणि, वाग्मणि-रचित संगीत-संग्रह, वंशमणि-रचित गीत दिगम्बर और विश्वेश्वर मिश्र-रचित स्मृति समुच्चय भी उस काल के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में हैं। विश्वेश्वर मिश्र के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे सम्राट् शाहजहाँ के द्वार-पण्डित थे। इन्हीं के समकालीन लक्ष्मीधरोपाध्याय ने काव्य-ग्रन्थ कल्पतरु की रचना की।

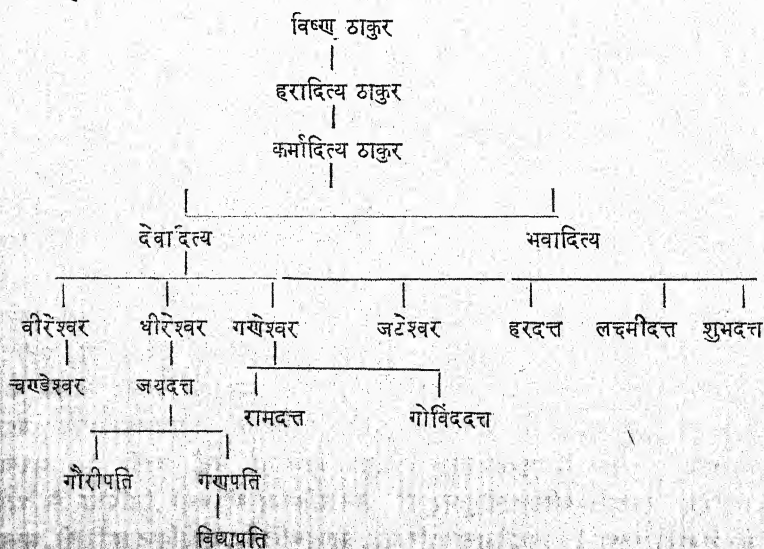
सुप्रसिद्ध भाष्यकार विष्णुदत्त भा की विद्वत्ता के सम्मानस्वरूप मिथिलेश प्रतापसिंह ने सिमरा गाँव उन्हें प्रदान किया। धर्माधर्मप्रबोधिनी के रचयिता प्रेमनिधि ठाकुर भी इस समय हुए थे। उसी समय में पूर्णिया जिला के खोखा ग्राम निवासी बदरीनाथोपाध्याय ने चक्रकौमुदी, तारा-भक्ति सुधारण्व की टीका और भैरव्यमोक्त स्तोत्र की टीका की रचना की। पूर्वोक्त महामहोपाध्याय गदाधरभा के वंशधर महा-महोपाध्याय हरिगोविन्द भा न्यायग्रन्थों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं। ये सूवे बिहार के अन्तिम वज्जीरेआज़म थे और सम्राट् शाहआलम ने इन्हें राजा की उपाधि से विभूषित किया था। आर्यासप्तशती के सुप्रसिद्ध भाष्यकार महामहो० सचलमिश्र को मिथिलेश प्रतापसिंह से जगतपुर गाँव, मिथिलेश माधवसिंह से चनौर गाँव और पूना के श्रीमन्त पेशवा माधोराव नारायण से मध्य प्रान्त के महगवाँ और सलैया गाँव पुरस्कारस्वरूप प्राप्त हुए थे। इनका असल नाम भवानीनाथ मिश्र था। इनके गुरु मंगरौनी (दरभंगा) निवासी महामहो० चित्रधरोपाध्याय-रचित वीरसारिणी, शृंग-सारिणी तथा प्रमाण प्रबोध प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। महाविद्वान् अचल मिश्र का भी यही काल है। मिथिलेश माधवसिंह के मातुल कवि देणीदत्त भा ने रसकौस्तुभ नामक रस विषयक ग्रन्थ की रचना की। गीतगोपीपति, चंडिका-चरित-चन्द्रिका और शशिलेखा आदि काव्य ग्रन्थों के रचयिता बाल कवि कृष्णदत्तोपाध्याय दरभंगा जिले के उजान गाँव के निवासी थे। तरीनी (दरभंगा) निवासी नरपति भा मिथिलेश राघवसिंह की सभा के रत्नों में थे। इनके रचित राघवकीर्तिशतक और गोपीवल्लभ प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। व्रजभाषा के पद्य में कंदर्पीघाट के सुप्रसिद्ध युद्ध का वर्णन करने वाले श्री लाल कवि मंगरौनी (दरभंगा) के निवासी थे। ज्योंतिषी श्री लाल कवि ने इसी समय मैथिली संस्कृत मिश्रित गौरीस्वयम्बर नाटक की रचना की। महामहोपाध्याय सचलमिश्र के अनुज पण्डित मोहन मिश्र ने राधानयन द्विशती नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की। इसी काल में हुए मंगरौनी निवासी तंत्रशास्त्रविशारद मदनोपाध्याय के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक कहानियाँ आज भी सुनी जाती हैं। भरवाड़ा (दरभंगा) निवासी पण्डित गोनू भा की विनोदप्रियता की चर्चा मिथिला के प्रत्येक घर में होती रहती है। प्रायश्चित्त पारिजात, प्रणवचन्द्रिका, एकोद्दिष्ट सारिणी, आचार

संग्रह स्मृति, कृष्णार्चन चन्द्रिका, नारीपरीक्षा-चिकित्सा-कथन, क्षय मासादि विवेक, महादान वाक्यावली, मिथिलेश चरित, मिथिलेशान्हक, व्रताचार, रामचन्द्रप्रतिष्ठा और सुबोधिनी धर्म के रचयिता रत्नपति भा महाराज रुद्रसिंह के द्वार-पण्डित थे। महामहोपाध्याय आंखी भा इनके समकालीन महावैयाकरण और कवि थे। इस प्रकार उत्तर भारत के लगभग सब ही छोटे-बड़े दरबारों में पण्डित-कवियों का समा-दर बढ़ चला था।

दरबारी कवि विद्यापति

मध्य युग में होने वाले अनेक कवियों और ग्रन्थकारों ने ग्रन्थ के अन्त में अथवा कविता की भनिता में अपने माता-पिता और अन्य पूर्व पुरुषों का कुछ विवरण लिखा है। विद्यापति के पूर्ववर्ती मिथिला के लेखक भी इसी नीति का अनुसरण करते थे किन्तु विद्यापति ने अपने किसी ग्रन्थ अथवा किसी अकृत्रिम पद में अपने वंश की कोई बात नहीं कही है। सन् १८८१ ई० में सरजार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (जो उस समय दरभंगा जिले के मधुबनी डिविजन के भार-वाहक राजकर्मचारी थे) ने मिथिला-पंजी का अनुसंधान करके विद्यापति की पूर्व पीढ़ी के (विष्णु ठाकुर-हरादित्य-कर्मादित्य-देवादित्य-वीरेश्वर-जयदत्त-गणपति) सात पुरुषों के नाम एवं उनकी उत्तरपीढ़ी के (हरपति-रतिधर-रघु-विश्वनाथ-पीताम्बर-नारायण-दीन मणि-तुला-एकनाथ-भैया-फणीलाल-बदरीनाथ) बारह पुरुषों के नाम अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मैथिली क्रैस्टोमेथी में प्रकाशित किये।

ग्रियर्सन के परवर्ती मैथिल गवेषकों ने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों एवं मिथिला की पंजी से अनुसंधान करके विद्यापति के पूर्व पुरुषों की निम्नलिखित रूप से वंशलता स्थिर की है—



इस वंशलता के अनुसार विद्यापति सुप्रसिद्ध पण्डित और राजमंत्री वीरेश्वर, गणेश्वर, चण्डेश्वर प्रभृति के अधस्तन पुरुष हैं। देवादित्य मिथिला के कर्णाट राजवंश के सान्धिविग्रहिक मंत्री अथवा विदेश मंत्री थे। उनके पुत्र गणेश्वर ने सुगतिसोपान में अपने पिता और ज्येष्ठ भ्राता वीरेश्वर के पाण्डित्य, पद-मर्यादा और दानप्रियता की घोषणा की है। देवादित्य के सात पुत्रों में वीरेश्वर ने पिता का सान्धिविग्रहिक का पद पाया था, गणेश्वर महामहत्तक अथवा प्रधान मंत्री हुए थे। गणेश्वर ने अपना परिचय महाराजाधिराज कह के दिया है। वे सामन्त-नृपतियों की परिषद् का सभापतित्व करते थे। उनके पुत्र रामदत्त ने भी स्वकृत छान्दोग्यमन्त्रोद्धार ग्रन्थ में महाराजाधिराजस्य महामहत्तकेशस्य श्रीगणेश्वरस्य—गणेश्वर का पुत्र कह कर अपना परिचय दिया है। विद्यापति ने पुरुष परीक्षा की आठवीं कथा में वीरेश्वर की सहृदयता का उदाहरण दिया है। उन्होंने सुबुद्धि कथा में गणेश्वर की चतुरता का भी उल्लेख किया है—आसीन्मिथिलायां कर्णाटकुलसम्भवो हरिसिंहदेवी नाम राजा, तस्य सांख्य-सिद्धान्त पारगामी दण्डनीतिकुशलो गणेश्वर नामधेयो मन्त्री बभूव।^१

पंजी में देवादित्य के अन्य पुत्रों के सम्बन्ध में लिखा है कि जटेश्वर भांडागारिक अथवा कोषाध्यक्ष, हरदत्त स्थानान्तरिक अथवा कर्मचारियों का नियुक्ति स्थान परिवर्तित करने वाले, लक्ष्मीदत्त मुद्राहस्तक अथवा (कीपर आव द सील) एवं शुभदत्त राजवल्लभ थे (गढ़विसपी संबीजी विष्णु शर्मा, विष्णुशर्मसुतो हरादित्यः, हरादित्यसुतः कर्मादित्य, कर्मादित्यसुतौ सान्धिविग्रहिक-देवादित्य-राजवल्लभ-भवादित्यौ, देवादित्यसुताः भाण्डागारिक वीरेश्वर-वातिकनैबन्धिक धीरेश्वर-महामहत्तक गणेश्वर-भाण्डागारिक जटेश्वर-स्थानान्तरिक हरदत्त-मुद्राहस्तक लक्ष्मीदत्त राजवल्लभ शुभदत्ताः भिन्नमात्रिकाः।^२ देवादित्य के सात पुत्रों में विद्यापति के प्रपितामह धीरेश्वर पण्डित मात्र थे। उनकी उपाधि वातिकनैबन्धिक थी। परन्तु उनकी लिखी हुई कोई किताब नहीं मिलती।

इस विवरण से स्पष्ट है कि विद्यापति के प्रपितामह धीरेश्वर के भाई लोग मिथिला-राजवंश से सम्बद्ध होने के साथ-साथ विपुल ऐश्वर्य, प्रभुत्व और पाण्डित्य के अधिकारी थे। उन्होंने प्रचुर-दान-ध्यान किया है, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ बनवाई हैं और मिथिला के समाज-संगठन के लिये स्मृति के प्रामाण्य-ग्रन्थ भी लिखे (वीरेश्वर-कृत छन्दोग पद्धति, गणेश्वर कृत छान्दोग्य स्त्रीकर्तृक श्राद्ध पद्धति—मिथिला की हस्तलिखित पोथियों का विवरण)। किन्तु विद्यापति के प्रपितामह धीरेश्वर पण्डित होते हुए भी उच्च राजपद के अधिकारी नहीं थे। धीरेश्वर के पुत्र और विद्यापति के पितामह जयदत्त भी पाण्डित्य अथवा पद-मर्यादा का वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त कर सके।

विद्यापति के वृद्ध प्रपितामह एक बड़े आदमी थे अवश्य, परन्तु उनके

१. पुरुष परीक्षा, चन्दा झा संस्करण, पृष्ठ ६७

२. डा० काशीप्रसाद जायसवाल सम्पादित राजनीति रत्नाकर, भूमिका, पृष्ठ १६

प्रपितामह, पितामह और पिता विशेष प्रसिद्धि-लाभ नहीं कर सके थे। आत्मसम्मान के सम्बन्ध में सचेत अपेक्षाकृत दरिद्र बुद्धिजीवी व्यक्ति अपने सम्बन्धी बड़े लोगों का परिचय नहीं देना चाहते हैं। संभवतः इसीलिये विद्यापति ने कहीं भी किसी ग्रन्थ अथवा पद में देवादित्य, वीरेश्वर, गणेश्वर, चण्डेश्वर, गोविन्द दत्त, रामदत्त प्रभृति ख्यातिमान् एवं प्रभूत ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध की कोई बात नहीं लिखी है। इसमें संदेह नहीं कि विद्यापति का वंश अत्यन्त सम्भ्रान्त एवं सम्मानित था। मिथिला के राजपरिवार के साथ इस वंश की घनिष्ठता ओइनीवार वंश के कामेश्वर के अधस्तन पुरुषों के मिथिला-सिंहासन पर प्रतिष्ठित होने के बहुत पहले ही से थी। इसीलिये विद्यापति कवि और पण्डित मात्र होते हुए भी कामेश्वर वंश के राजाओं के साथ अन्तरंगता रख सके।

विद्यापति-रचित पदों और ग्रन्थों में उनके आश्रयदाता सामन्त, राजा-रानी, मंत्री और सुलतानों का उल्लेख हुआ है। विद्यापति ने अपने विभिन्न पृष्ठपोषकों का परिचय अपने पदों और ग्रन्थों में दिया है। विद्यापति कृत ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि कवि ने कीर्तिलता में कामेश्वर और उसके पुत्र भोगीशराय और उसके पुत्र गणेश और उसके तीनों पुत्रों (वीरसिंह-कीर्तिसिंह-रागसिंह) का नाम, भूपरिक्रमा में देवसिंह और शिवसिंह का नाम, पुरुष परीक्षा में भवदेवसिंह-उसके पुत्र देवसिंह और उसके पुत्र शिवसिंह का नाम, शैव-सर्वस्वसार में भवसिंह-उसके पुत्र देवसिंह-उसके पुत्र शिवसिंह और शिवसिंह के अनुज पद्मसिंह एवं उनकी स्त्री विश्वासदेवी का नाम, गंगावाक्यावली में पुनः विश्वासदेवी का नाम, विभागसार में भवेश-उसके पुत्र हरिसिंह और उसके पुत्र दर्पनारायण का नाम, दानवाक्यावली में नरसिंह दर्पनारायण और उसकी पत्नी धीरमती का नाम, दुर्गाभक्तितरंगिणी में नरसिंह और उसके तीन पुत्रों वीरसिंह, भैरवसिंह, चन्द्रसिंह का नामोल्लेख किया है। इन पन्द्रह पुरुषों और दो नारियों में भवदेव, भवसिंह वा भवेश के साथ कामेश्वर का क्या सम्बन्ध था अथवा नरसिंह के साथ शिवसिंह का क्या सम्बन्ध था—यह विद्यापति ने नहीं कहा। कामेश्वर के अधस्तन पुरुषों में कीर्तिसिंह, देवसिंह, शिवसिंह, पद्मसिंह, और उसकी स्त्री विश्वासदेवी, नरसिंह और उसकी स्त्री धीरमती, धीरसिंह, भैरवसिंह और चन्द्रसिंह के नाम उन्होंने अपने ग्रन्थों में पृष्ठपोषकों के रूप से उल्लिखित किये हैं।

श्री खगेन्द्रनाथ मित्र और डा० विमानबिहारी मजुमदार सम्पादित विद्यापति-पदावली में विद्यापति ने कामेश्वरवंशीयों में देवसिंह का नाम २५ पद को छोड़ कर प्रथम छः पदों में, हरिसिंह का नाम एक पद में, शिवसिंह का नाम १५७ पदों ८ से २०४ और २०७ में, विश्वासदेवी के पति पद्मसिंह का नाम एक पद २०८ में, अर्जुन राय का नाम पाँच २०९-२१३ पदों में, कुमार अमरसिंह का नाम दो २१४-२१५ पदों में, कंसदलन नारायण सुन्दर धीरसिंह का नाम एक २१६ पद में, राघवसिंह का नाम तीन २१७-२१९ पदों में, नृप खड्गसिंह का नाम दो २२०, २२८ पदों में उल्लिखित है। कामेश्वर वंश के राजा-रानी और राजकुमारों को छोड़कर विद्यापति ने और नाम भी दिये हैं, जिनमें तीन आदमी संभवतः इसी वंश के मंत्री थे और दो मुसलमान थे। मन्त्रियों के नाम रेणुकादेवी के पति महेश्वर (पद संख्या २२१-२२३—मित्र-

मजुमदार); जुड़मदेवी के कान्त महेश्वर (पद संख्या २२४), रूपिणी देवी के पति रतिधर (पद संख्या २२५), दसासए अवधान अर्थात् जो दशशत विषयों में एक साथ ही अवधान कर सकते थे ऐसे राय दामोदर (पद संख्या २२६) हैं। ये लोग किस के मंत्री थे और कब थे कुछ ज्ञात नहीं हैं। इस पदावली के २२७ संख्यक पद में उल्लिखित मलिक बहारदिन के सम्बन्ध में भी कोई तथ्य अवगत नहीं। इस पदावली के द्वितीय पद में विद्यापति ने महलम जुगपति ग्यासदीन सुलतान के दीर्घायुष्य की कामना की है। इनका प्रकृत नाम गियास उद्दीन आजम शाह था। इनके पिता का नाम सिकन्दरशाह और पितामह का सम्सउद्दीन इलियास शाह था। संभवतः गियास ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करके ७६३ हिजरी में बंगाल के सिंहासन पर आरोहण किया। श्री यदुनाथ सरकार ने इनका राजत्वकाल सन् १३८६ ई० से १४०६ ई० तक माना है।^१ गियासउद्दीन ने जौनपुर के प्रथम सुलतान ख्वाजाजहान अथवा मलिक सर्वर सन् १३६४-१३६६ ई० को हाथी एवं अन्यान्य द्रव्य उपहार में भेजे थे। १४०६ ई० में चीन के सम्राट् इयूँलो ने बंगाल में दूत भेजा था एवं गियासउद्दीन ने १४०६ ई० में चीन देश में अपना दूत भेजा था। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध कवि हाफिज़ ने इन्हें एक कविता लिख कर भेजी थी। यह कोई विचित्र बात नहीं है कि इस प्रकार के सुप्रसिद्ध और विद्योत्साही सुलतान को विद्यापति अपनी कविता उपहार दें।^२

विद्यापति कृत पदों में ७५ प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें किसी राजा, मन्त्री अथवा सामन्त का नाम नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकांश शिवसिंह की मृत्यु के बाद एवं पद्मसिंह, विश्वासदेवी, नरसिंह, धीरसिंह, मरवासिंह के आश्रय में आने से पूर्व रचे गये थे। इस समय कवि कामेश्वर वंश के आश्रय से च्युत होकर राज बनौली में वास करते थे। उस समय उनकी उम्र ३५ से ५० वर्षों के बीच की थी। विभिन्न देशों के साहित्य का अध्ययन करने से पता लगता है कि इसी उम्र में साहित्यिक प्रतिभा का श्रेष्ठ विकास होता है। मित्र-मजुमदार सम्पादित विद्यापतिगत राजनामांकित २२५ पदों में ३० से अधिक विरह के पद नहीं हैं। इसी प्रकार के पदों को देख कर लगता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था—विद्यापति सुख के कवि हैं, चण्डीदास दुःख के। विद्यापति विरह में कातर हो उठते हैं, चण्डीदास को मिलन में भी सुख नहीं। विद्यापति जगत् में प्रेम को ही सार मानते थे, चण्डीदास प्रेम को ही जगत् समझते थे। विद्यापति भोग के कवि थे, चण्डीदास सहन के। किन्तु राजसभा के वातावरण में जो पद नहीं रचे गये थे उन्हें कवि ने अपने दुःख के दिनों में अकेले बैठ कर रचा था, उनमें एक गंभीरतर सुर, एक निबिड़तर आनन्द और अतीन्द्रिय अनुभूति की छाप है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विद्यापति को अनेक राजाओं का आश्रय उपलब्ध हुआ। यद्यपि विद्यापति का जीवन राजदरबार में ही बीता और ओझीवार वंश के कई राजा इनके आश्रयदाता हुए तथापि इनका वैसा प्रेम किसी से स्थापित न

१. हिस्ट्री आफ़ बंगाल, भाग २, पृ० ११६

२. मित्र-मजुमदार सम्पादित विद्यापति, भूमिका, पृ० २३

हो सका जैसा शिवसिंह से था। शिवसिंह विद्यापति का बड़ा आदर करते थे और ये उनकी प्रशस्ति उल्लासपूर्वक गाया करते थे। इस वंश की रक्षा के लिए विद्यापति सतत प्रयत्नशील रहे। जिन-जिन राजाओं के सम्पर्क में आये सबकी प्रशस्ति में इन्होंने कविता की। अपने परिचित व्यक्तियों के स्मरणस्वरूप भी बहुत सी कविताएँ रचीं। इन पर सबका प्रेम था और इन्हें भी सब प्रिय थे। विद्यापति कोरे कवि ही नहीं, कुशल राजनीतिज्ञ भी थे। इसका प्रमाण उन्होंने उस समय दिया था जब राजा शिवसिंह को घोड़े से यवनों ने कँद कर दिल्ली में रखा था। विद्यापति उनको छुड़ाने के लिए किस प्रकार दिल्ली गये, किस प्रकार सुलतान को अपने कवित्व का चमत्कार दिखला कर उन्हें छुड़ाया इस विषय में एक दो किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं।^१ किम्बदन्ती है कि एक समय दिल्ली के सुलतान ने क्रुद्ध हो कर राजा शिवसिंह को बुला लिया। विद्यापति ने अपनी दिव्य दृष्टि का परिचय दे कर सुलतान को प्रसन्न किया। सुलतान ने लकड़ी के एक सन्दूक में विद्यापति को बन्द कर दिया और अनेक सुन्दरी रमणियों को नदी में स्नान करने के लिये आज्ञा दी। अनन्तर विद्यापति सन्दूक से निकाले गये और उनसे उस घटना का वर्णन करने के लिए कहा गया। विद्यापति ने सद्यःस्नाता का वर्णन करना आरम्भ किया जिस पर प्रसन्न हो कर राजा ने शिवसिंह को छोड़ दिया।

दूसरी किम्बदन्ती है कि सुलतान ने विद्यापति से पूछा तुम कौन हो? विद्यापति ने कहा मैं कवि हूँ और अदृष्ट का दृष्टवत् वर्णन कर सकता हूँ। सुलतान की आज्ञा से विद्यापति ने सद्यःस्नाता सम्बन्धी पद पढ़े तथापि सुलतान सन्तुष्ट नहीं हुए। विद्यापति लकड़ी के सन्दूक में बन्द कर दिये गए और वह सन्दूक एक कुएँ पर लटका दिया गया। कुएँ के समीप आग फूँकती हुई सुन्दरी स्त्री खड़ी की गई। विद्यापति से कहा गया कि ऊपर जो कुछ है उसका वर्णन करो। विद्यापति सन्दूक के अन्दर से गाने लगे—

सजनि निहुड़ी फुकु आगि, तोहर कमल भंवर हम देखल मदन उठल जागि।

जों तोहें भामिनि भवन जयबह, अयबह कोनहि बेला,

जों ई संकट सों जी बांचत, होएत लोचन-मेला।

बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजा शिवसिंह छोड़ दिये गये। विद्यापति ने निम्न-लिखित पद की रचना की—

भन विद्यापति चाहथि जे विधि, करथि से लीला।

राजा शिवसिंह बन्धन मोचल, तखन सुकवि जीला।

ठीक इसी तरह की घटनाएँ भोज प्रबन्ध में भी पाई जाती हैं। राजा भोज एक रात अकेले ही नगर में घूम रहे थे कि उन्होंने देखा कि एक स्त्री बैठी हुई है और उसकी गोद में उसका पति सोया हुआ है। अनन्तर उसका लड़का सो कर उठा और आग

१. लिग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भाग दो, जिल्द ५, पृ० ६७

की ज्वाला के समीप पहुँच गया। उस पतिव्रता ने पति को नहीं जगाया और आग में गिरते हुए लड़के को नहीं पकड़ा। राजा यह आश्चर्यजनक घटना देख कर वहाँ खड़े हो गये। अनन्तर उस पतिधर्म-परायणा ने अग्नि से प्रार्थना की, हे यज्ञेश्वर ! तुम सर्वज्ञ हो, तुम जानते हो कि पतिव्रता होने के कारण मैंने अपने पुत्र को नहीं रोका। इसलिये, दया करो मेरे पुत्र को मत जलाओ। तब बालक आग में प्रवेश कर भी नहीं जला। पति के उठने पर उस स्त्री ने उस लड़के को उठा लिया। इस घटना को देख कर राजा चकित हो कर बोले, अहा मेरे सदृश भाग्यवान् कौन है जिसके नगर में इस तरह की पुण्यवती स्त्रियाँ हैं। सवेरे सभा में आ कर सिंहासन पर बैठ कर राजा कालिदास से बोले, रात मैंने एक अपूर्व घटना देखी। यह कह कर पढ़ने लगे हुताशनश्चन्दनपंकशीतलः। कालिदास बोले—

सुतं पततं प्रसमीक्ष्य पावके
न बोधयामास पति पतिव्रता।
तदाभवत् तत्पतिभक्तिगौरवात्
हुताशनश्चन्दनपंकशीतलः ॥

जिस प्रकार इस श्लोक में कालिदास ने आँख से देखी हुई घटना की तरह अदृष्ट घटना का वर्णन किया उस प्रकार विद्यापति ने भी लकड़ी के सन्दूक में बन्द रहकर भी आग फूँकती हुई नायिका का वर्णन किया। कवयः किं न पश्यन्ति—के अनुसार कवि सर्वद्रष्टा माने जाते थे और समक्ष घटनाओं की तरह परोक्ष घटनाओं का यथार्थ वर्णन कर सकना ही महाकवि की अग्नि परीक्षा थी। महाकवि विद्यापति इस परीक्षा में प्रतिष्ठा के साथ (विद औनर्स) उत्तीर्ण हो गये।^१

इन किंवदन्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि कवि की निरीक्षण शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। वे अनदेखी वस्तु का वर्णन कर सकते थे अथवा नहीं इसका उतना महत्व नहीं जितना उनके इन वर्णनों में निरीक्षण की गहराई का है। उन्होंने नायिकाओं की भंगिमाओं का निरीक्षण एवं तदनुरूप जैसा वर्णन प्रस्तुत किया वह बहुत थोड़े कवियों में दिखाई पड़ता है।

विद्यापति की कविता महाराज शिवसिंह तथा उनकी पत्नी रानी लखिमादेवी के समय में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई थी। इसी समय वे शिवसिंह को छुड़ाने यवने-श्वर से मुक्ति दिलाने के लिए दिल्ली गये थे। वहाँ सुलतान को प्रसन्न कर इन्होंने शतावधान की उपाधि पाई। शिवसिंह को छुड़ा कर विद्यापति जब लौटे तब महाराज शिवसिंह ने राज सिंहासन पर बैठने के उपलक्ष में इन्हें विसपी ग्राम दिया, साथ ही अभिनव जयदेव की उपाधि से विभूषित किया। महाराज शिवसिंह इनकी कविता पर इतने मुग्ध हुए कि उन्हें राग रागनियों से मिला कर गाने के लिये सुमति नामक एक कलावन्त को नियुक्त किया गया, जो इन पदों का स्वर बिठाया करता था। शिवसिंह और लखिमा दोनों समय-समय पर कवि को दान देते और अनेक प्रकार से सम्मानित

करते रहते थे । जितना गौरव कवि को इस समय प्राप्त हुआ उतना फिर कभी नहीं हुआ, यद्यपि इस वंश के अनेक राजा उनके आश्रयदाताओं में हुए । विद्यापति का जीवन अनेक उदार राजाओं-हिन्दू-सामन्तों आश्रयदाताओं के बीच व्यतीत हुआ था । उनके राजत्वकाल में उनके निर्देशों के अनुसार अनेक ग्रन्थों की उन्होंने रचना की और उन राजाओं एवं आश्रयदाताओं की प्रशंसा भी की । यह ठीक है कि जैसा सम्मान स्तुति तत्कालीन मिथिला के दरबारों में मैथिल कोकिल विद्यापति का हुआ वैसा अन्य किसी मैथिल कवि का नहीं हुआ । फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि इन्होंने अपना समय और अपनी शक्ति केवल आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही नहीं लगाई प्रत्युत स्वान्तः सुखाय भी बहुत सी रचना की । ऐसी रचना सदा इनके नाम को अमर बनाये रखने में समर्थ है ।

श्री खगेन्द्रनाथ मित्र और डा० विमानबिहारी मजुमदार द्वारा सम्पादित विद्यापति ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में विद्यापति कृत राजनामांकित २३० पदों को कालक्रम से सजाया गया है । इनमें स्पष्ट रूप से विद्यापति ने अपने आश्रयदाता—हिन्दू—सामन्तों एवं कतिपय विद्यानुरागी यवन-नरेशों के नाम अंकित कर उनका गुणानुवाद किया, प्रशस्ति रूप में अथवा उनका आनुकूल्य-लाभ करने के उद्देश्य से । कहीं हासिनी देवी के पति गरुड़नारायण नरपति देवसिंह को जाचक जन की गति घोषित किया (पद १ विद्यापति मित्र-मजुमदार), किसी स्थान पर सुलतान गियासउद्दीन के दीर्घायुष्य की कामना की गई (पद २ विद्यापति मित्र-मजुमदार), अनेक स्थलों पर अपनी कविता के रस के ज्ञाता के रूप में अपने विशेष प्रिय सामन्त एवं दरबारी जन-मन्त्री का उल्लेख किया, जैसे—

(क) भनइ विद्यापति एह रस भान ।

सिरिहरिसिंघ देव इ रस जान ॥ —विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ७

(ख) विद्यापति भन बुझ रसमन्त ।

राए सिवसिंह लखिमादेविकन्त ॥ —वही, पद १४

(ग) रसमय विद्यापति कवि गाव ।

राजा सिवसिंघ बुझ रस भाव ॥ —वही, पद १७

(घ) भनइ विद्यापति सुनह मधुरपति तोहें छड़ि गति नहि आने ।

विसवासदेवि पति रस का बिन्दक नृपति पदुमसिंह जाने ॥

—वही, पद २०८

अनेक स्थलों पर अपने इष्ट सामन्तों एवं दरबारी-जन-मन्त्री के दीर्घायुष्य की प्रार्थना की—

(क) चिरंजीव रहू पंच गौड़ेश्वर

कवि विद्यापति भाने ॥

—वही, पद २२६

(ख) भन विद्यापति सुन रमापति

सकल गुन निधान ।

चिरे जिवे जिवओ राए दामोदर

दसा सए अवधान ॥

—वही, पद २२६

अभिनव जयदेव विद्यापति ने अपने सर्वप्रमुख आश्रयदाता शिवसिंह का खूब गुणगान एवं स्तुति की। राजनामांकित पदों की भण्डिताओं में शिवसिंह नाम से अंकित पद ही सबसे अधिक हैं। शिवसिंह को उन्होंने शत्रुकुल-निहन्ता और सब गुणों का उत्स उद्धोषित किया—

सुकवि नव जयदेव, भनि ओ रे
देवसिंह नरेन्द्र नन्दन, सनु नरवइ कुल निकन्दन
सिंघ सम सिवसिंघ राया, सकल गुनक निधान गनि ओ रे।

—विद्यापति मित्र-मजुमदार, पद ६

शिवसिंह के दरबार में रहते हुए विद्यापति ने सामान्य काव्य-रचना के अतिरिक्त देविवंदना भी इसलिए की जिससे उनके उदार सामन्त को तुष्टि-लाभ हो—

सकल पापकला परिच्युति, सुकवि विद्यापति कृत स्तुति
तोसिते सिवसिंघ भूपति कामना फल दे ॥ —वही, पद १०

विद्यापति ने कीर्तिसिंह के राज्यकाल में कीर्तिलता अवहट्ट भाषा में लिखी, भूपरिक्रमा और पुरुष परीक्षा देवसिंह के जीवन-काल में संस्कृत में लिखी। देवसिंह की मृत्यु के बाद विद्यापति ने पुनः अवहट्ट भाषा के आश्रय से कीर्तिपताका लिखी। इस ग्रन्थ के आरम्भ में शिवसिंह से सम्बद्ध शृंगार रस का वर्णन है। बाद में उन्होंने किस प्रकार एक सुलतान को युद्ध में पराजित किया और अपनी डा० जयकान्त कीर्तिपताका उड़ाई इसका वर्णन है। डा० जयकान्त मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री ऑफ़ मैथिली लिटरेचर, भाग १, पृ० १५२' में इसके जिस अंश को उद्धृत किया है उसमें गौड़ के सुलतान की शिवसिंह के द्वारा पराभूत होने की कथा है। ग्रन्थ के अन्त भाग में लिखा है—

एवं श्रीशिवसिंह देव नृपतेः संग्रामजातं यशो।

गायन्ति प्रतिपत्तनं प्रतिदिशं प्रत्यंगणं सुभ्रुवः ॥

पूर्व भारत के इतिहास में शिवसिंह के अनुज पद्मसिंह की पत्नी विश्वासदेवी का उच्च स्थान पाना सही है। युद्ध में अपने पति पद्मसिंह के विकलांग हो जाने से शासन-भार विश्वासदेवी सम्भालती थीं। विद्यापति ने इनकी जितनी प्रशंसा की है उसका कुछ अंश भी यदि सच माना जाय तो विश्वास देवी निश्चय ही असामान्या महिषी हुई। कवि ने अपने ग्रन्थ शैवसर्वस्वसार के ७ से १७ संख्यक श्लोक तक स्रग्धरा छन्द में विश्वासदेवी का गुणगान करते हुए कहा है कि वे पति के सिंहासन पर बैठकर मिथिला महामण्डल का पालन करती थीं। वे न्याय और राजनीति में विश्वविख्यात थीं, उनकी बुद्धि समुज्ज्वल और स्वभाव मधुर था। उनके समान कोई दान नहीं कर सकता। उन्होंने विश्वभाग नामक तड़ाग खुदवा कर उसके चारों ओर सुन्दर उद्यान लगवाया था। विश्वासदेवी संभवतः खूब विदुषी भी थीं, नहीं तो गंगावाक्यावली ग्रन्थ के अन्त में कवि विद्यापति यह न कहते कि यह निबन्ध विश्वास देवी ने ही लिखा,

उन्होंने (विद्यापति ने) केवल प्रमाण श्लोक उद्धृत कर उसको परिपूर्णता प्रदान की—

कियन्निबंधमालोक्य श्री विद्यापति सुरिणा

गंगावाक्यावली देव्याः प्रमाणैर्विमली कृता ॥

विद्यापति ने जिन सामन्तों एवं सामन्त—वनिताओं की प्रशस्ति का उल्लेख किया या जिन दरबारी मन्त्रीजनों को कविताएँ उत्सर्ग करके परितोष प्रदान किया वे सब रसमन्त थे। कवि ने तरुणवयस में तथा शिवसिंह की राजसभा की छाया में जो कविताएँ की थीं उनका विषय प्राकृत नायक-नायिका-शृंगार-रस-वर्णन है। इस समय में परचित पदों में राधा और माधव का नाम रहने पर भी कवि ने प्रकृत पक्ष में लीलारसगान नहीं किया है, देखें—

(क) प्रथम एकादस दइ पहु गेल

से हो रे बितित मोर कत दिन भेल ॥ इत्यादि। विद्यापति, मित्र-मजुमदार, ५६०

(ख) लिखब उनेस सताइसक संग।

से पुनि लिखब पचीसक संग।

इत्यादि।

—वही, पद ५८१

(ग) माधव मास तीथि भउ माधव।

अवधि कइ ए पिया गेला ॥

इत्यादि।

—वही, पद १६४

निःसंदेह इन पदों में मुरारि और माधव का नाम आया है तथापि ये विरहिणी प्रकृत नायिका के उद्गार मात्र हैं। अनेक बार विश्वविद्यालयों के परीक्षक महोदय विद्यापति की श्री राधा इत्यादि प्रश्न भले ही पूछे, परन्तु विद्यापति की पदावली में केवल श्रीराधा की बात नहीं है। उसमें स्वकीया, परकीया और वारवनिता नायिका की बातें जिस प्रकार वर्णित हैं उसी प्रकार बाला, तरुणी, युवती और वृद्धा की बात भी, जैसे—

स्वकीया—पहिली पिरीति परान आंतर तखने अइसन रीति।

से आबे कबहु हेरि न हेरथि, भेल निमसनि तीति।

इत्यादि

—वही, पद १६१

परकीया—मोराहि जे अंगना चन्दनकेर गाछे, सौरभे आबए भमर पचासे।

अरे अरे भमरा न फेरु कवारे ॥ आचर सुतल अछ पदुम कुमारे। इत्यादि

—वही, पद २०३

वृद्धा कुटनी—हमें धनि कूटनि परिनत नारि बैसहु वास न कहों विचारि ॥

काहु के पान काहु दिअ सान कत न हकारि कएल अपमान।

—वही, पद ६

प्रगल्भा कुलटा—

बचन अभियसम सने अनुमानि निअर अएलाहु तुअ सुपुरुष जानि

तसु परिनति किछु कहहि न जाए। सूति रहल पहु दीप मिभाए। इत्यादि

—वही, पद ४०६

विद्यापति ने अपने जीवन में दस-बारह राजाओं का उत्थान-पतन देखा । उनके काव्य में एक मानसिक क्रमविकास का सुस्पष्ट चिह्न रहता स्वाभाविक है । डा० विमानबिहारी मजुमदार ने इस क्रमविकास की धारा को लक्ष्य करने के हेतु राजनामांकित पदावली को जहाँ तक संभव हो सका है, कालक्रम से सजाकर प्रकाशित किया है । उन्होंने लिखा है कि इतना अवश्य जोर के साथ नहीं कहा जा सकता कि राजनाम-विहीन समस्त पद कवि की वृद्धावस्था की रचना है, लेकिन इतना ठीक है कि देवसिंह नामांकित ५ पद, ग्यासदीन नामांकित १ पद, हरिसिंह नामांकित १ पद और शिवसिंह नामांकित २०२ पद, सब मिलाकर ये २०९ पद अथवा अकृत्रिम पदों में सँकड़े २९ पद कवि के तरुण वयस की रचना है । इन पदों की विषयवस्तु और भण्डिता के साथ जिन राजनाम-विहीन पदों का विशेष सादृश्य देखा जाता है, उनको भी हम विद्यापति के यौवन काल की रचना मान सकते हैं । उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है कि ५७६ से ५७८ संख्यक प्रहेलिका पद, १९३ से २०१ संख्यक प्रहेलिकाओं के समान पद हैं और ये सब एक ही युग में रचे गये थे । (क्रास बर्ड पज़ल) के समाधान के लिये काफ़ी रुपये पुरस्कार में देने की रीति जब प्रवर्तित नहीं हुई थी उस समय, यह कहा जा सकता है कि राजसभा के वातावरण में कवि ने राजा-रानी और सभासदों के चिह्नविनोद के लिए इन पदों की रचना की थी । उसी प्रकार ६६ से ७३ संख्यक पदों में सखियों के कौतुक के साथ ३०२ से ३०५ संख्यक के भाव ही क्या कहीं-कहीं भाषा की भी समानता है, यथा—६८ के साथ ३०३ संख्यक पद, ६९ के साथ ३०५ संख्यक पद, सुतरां यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि ये पद कवि के जीवन के एक रंग कौतुकमय अध्याय में रचे गये थे ।

शिवसिंह नामांकित पदों में कवि के मन में आनन्द मानों स्वतः उद्भूत हुआ । इन सब पदों के रूप, रस, वर्ण की इन्द्रधनुच्छटा पाठकों को प्रतिक्षण विभ्रान्त करने वाली है । चारों ओर मानों सुख की एक लहर लहर जाती है । कवि के पद चपल गति से तरलभंगिमा में नाच उठते हैं । कल्पनाजगत् का समस्त सौन्दर्य मानों कवि की नायिका में मूर्तिमान हो उठा हो—

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे, कतेक जतन विहि आनि समारल ।

देखलि नयन सरूपे, पल्लवराज चरणयुग शोभित गति गजराजक भाने ।० इत्यादि

—विद्यापति मित्र-मजुमदार, पद २५

ऐसी वह अनुपम सुन्दरी नायिका सखियों से शिक्षा प्राप्त करती है, कैसे—

कुन्द भमर संगम संभासन, नयने जगाओब अनंगे ।

आसा दए अनुराग बढ़ाओब भंगिम अंग विभंगे ॥० इत्यादि

—वही, पद ८२

अर्थात्—सखी ने कहा कि जिस प्रकार कुन्द मिलन के लिये भ्रमर का आह्वान करता है उसी प्रकार तुम नयन-कटाक्ष से अनंग को जगाना, अंग-भंगिमा से अनुराग बढ़ाना । सुन्दरी कुछ उपदेश ग्रहण करो, सुललित वाणी सुनो । तुम्हें कुछ नागरिकों की छलकला बतलाती हूँ । जो चतुरा होती है वह कहीं हुई बात को सुनती है—उसी

के अनुसार काम करती हैं। कण्ठ में कोकिल-सा मधुरस्वर भरना। ऋतुराज वसन्त की शोभा बढ़ाना—मुँह पर मधुर हँसी व्यक्त करना, कुछ क्षणों के लिए लज्जा-त्याग करना। गाढ़ आलिंगन के समय ऐसा दिखाना जैसे तुम्हें लज्जा आती हो। कुछ देर नाराज होना, फिर प्रिय का प्रबोध मान लेना। अर्धनिमीलित नेत्रों से नागर को देखने से तुम्हारे शरीर में जो प्रस्वेद हो उसे दिखलाना। प्रियतम को नखाघात करके मणिबन्ध छुड़ा लेना, सुरत में केलि बढ़ाना। समापित मन्मथ-युद्ध को उस युद्ध की सरस-कथा-वार्ता करके—फिर जारी करके—फिर से उसी मन्मथ-भाव को जगाने में समर्था नारी कलावती है। सरस कवि विद्यापति सम्भोग की कथा का गान करते हैं, पंचबाण के समय को रूपनारायण राजा शिवसिंह समझते हैं।

इस युग की रचना बसन्त-सम्बद्ध पदों में एक ओर अभिनव पल्लव, धवल-कमल, रक्त-अशोक प्रदान पूर्वक बसन्त की अगवानी और वरण का उल्लेख है :—

अभिनव पल्लव बइसक देल, धवल कमल फुल पुरहर भेल।

करु मकरन्द मन्दाकिनि पानि, अरुन असोग दीप दहु आनि॥

माई हे आज दिवस पुनमन्त, करिए चुमाओन राय बसन्त॥०

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद १४०

दूसरी ओर नायिका के मन में आशा अंगड़ाई ले रही है कि शायद अब उसके प्रियतम लौट आवेंगे—

सुरभि समय भल चल मलआनिल, साहर सउरभ सार लो।

काहुक बीपद काहुक सम्पद, नाना गति संसार लो॥० इत्यादि

—वही, पद १४२

और जिस नायिका के हृदय में इस प्रकार का आशा-संचार नहीं होता वह विवश कर्मफल की दुहाई देती देखी जाती है :—

कोकिल गावए मधुरिम वाणि, ऋतु बसन्त हे अमिअरस सानि।

असमय पसि आलाना पाये, चेओ चेओ करिअ काहु न सोहाये॥० इत्यादि

—वही, पद १४३

अर्थात्—अमिय रस में बोर कर बसन्त ऋतु में कोकिल मधुर कूक रही है। असमय में यदि पंजरबद्ध पक्षी चहके तो वह शोभा नहीं देता। सखि ! अब कैसे आश्वस्त होऊँ ? मुझे कान्ह के समीप जाना ही होगा। सुपुरुष की वाणी सुमेरु के सहस्र वजन-दार होती है। न जाने इस सुपुरुष-कुल-धर्म को छोड़कर उन्होंने कैसी नादानी (भोलापन) दिखाई है ? मेरे कर्म के दोष से ही यह सब हुआ, मुझे शास्ति भुगतनी पड़ी। यह जन्म तो निरर्थक ही समझो अब। सुपुरुष-कुल-धर्म—परिपाटि को अगले जीवन में समझने की चेष्टा करूँगी। विद्यापति कहते हैं कि हताश न होओ, सुयोग पाकर काम प्रभाव-विस्तार करेगा। लखिमा देवी के कान्त रसमन्त रूपनारायण राजा शिवसिंह इस रस को समझते हैं।

और कोई नायिका गुप्त रूप से प्रियतम-मिलन के बाद लौट आने पर सखियों की चतुरा दृष्टि से पकड़ ली जाती है—

आएल बसन्त सकल रस मण्डल, कुसुम भेल सानन्द ।

फुलली मल्ली भूखल भ्रमरा, पीवि गेल मकरन्द ॥० इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद १३६

अर्थात्—सकल रस-रंजित बसन्त आ गया। कुसुम आनन्दित हुए। पुष्पित मल्लिका का मधु क्षुधार्त भ्रमर पी गया। हे भामिनि अब हमें क्या कैफियत देती हो ? हमें कुछ और समझाने का तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है। हम परिजनों के सामने तुम “नहीं नहीं” का उल्लेख कर रही हो (अर्थात् क्षुधित भ्रमर ने पुष्पित मल्लिका का मधुपान नहीं किया, ऐसा कह रही हो), परन्तु अब लक्षणा कुछ और ही दिखाई दे रहे हैं—नखों के रक्तराग के द्वारा पयोधरों की पूजा हुई है, जो गुप्त थी वह बात प्रकट हो गई। सुमेरु-शिखर पर शशधर उदित होने पर दशों दिशाएँ उद्योतित हो गई। भला, यह तो बताओ कि बिना कारण ये कुन्तल (केश) क्यों आकुल (उलझे हुए से) लग रहे हैं ? यह युक्ति तुम्हारी अच्छी नहीं है। तुम इस युक्ति को करके बिलकुल वैसे ही पकड़ी गई हो जैसे कोई कुंकुम की चोरी करके कन्धे से हाथ पोंछकर यह कहने लगे कि मैंने यह काम नहीं किया है। उसके कन्धे से पुछा हुआ कुंकुम ही मानो उसे स्पष्ट रूप से कुंकुम का चोर घोषित कर रहा होता है। यहाँ भी तुम्हारे शारीरिक लक्षणों से प्रियतम से गुप्तमिलन सूचित है, “नहीं नहीं” कहने से काम न चलेगा। विद्यापति कहते हैं कि हे युवतिश्रेष्ठ ! इस प्रकार पंचवान प्रत्यक्ष हो रहा है, लखिमा देवी के पति रूपनारायण राजा शिवसिंह इस बात के साक्षी हैं।

शिवसिंह के राज्यकाल के लगभग पचास वर्षों के बाद रुद्रसिंह नामांकित पदों में दृष्टिगोचर होता है कि ऋतुराज बसन्त के विजय-अभियान के अन्तराल में विरहिणियों का जो मर्मन्तिक क्रन्दन छिपा रहता है उसकी ओर कवि दृष्टि आकृष्ट हुई है :—

मलय पवन बह, बसन्त विजय कह ।

भ्रमर करइ रोल, परिमल नहि ओर ॥० इत्यादि

—वही, पद २२०

यहाँ विरहि-जन के लिये बसन्त विपद-रूप धारण करके आया और उस काल में विकसित लाल-लाल केसू के फूल मानों उनके अन्तस् की ज्वाला राशि-स्वरूप हैं।

अभिसार और विरह विषयक जो पद कवि ने शिवसिंह के युग में लिखे थे, उन के सुर के साथ परवर्ती-काल में इन विषयों पर लिखे गये पदों का पार्थक्य गौर से देखने से समझ में आ जाता है।

करिवर, राजहंस जिनि गामिनि, चललिहूँ संकेत गेहा ।

अमला तड़ित दण्ड हेममंजरि, जिनि अति सुन्दर देहा ॥ इत्यादि

—वही, पद ८६

इस पद में नायिका करिवर और राजहंस को अपनी चाल से लजाती हुई संकेत स्थाल को जा रही है। यहाँ कवि उसके अन्तर के भावों के सम्बन्ध में एक भी बात नहीं

कहता, केवल उसके विभिन्न अंगों की उपमा कमल, चकोर, सफरी, मृगी, बेल, ताल, सिंह, मृगाल आदि से देकर अपरूप-राशि का फरमाइशी शो-केस खोल देता है।

मित्र-मजुमदार सम्पादित विद्यापति के ६० से ६५ संख्यक पदों में अभिसारिका को किस साज-सज्जा और किस भाव से संकेत-स्थल की ओर जाना चाहिये यह निर्दिष्ट है। ६७ और ६८ संख्यक पदों में भी ऐसी ही वेशभूषा और दैहिक सौन्दर्य का वर्णन बहुत सरस भाव से किया गया है, जैसे अभिसार-पथ में मुख से एक वचन भी मत बोलना, क्योंकि तुम्हारी बोली मधुयुक्त है, जैसे ही बोलोगी मधु-सुगन्ध से आकृष्ट मधुलोभी मधुलिह-भ्रमर तुम्हारा अधर-मधु-पान करने लगेंगे—

वदन कामिनि हे बेकत न करवे, चऊ दिस होएत उजोरे ॥

चांदक भरमे अमिय रस लालचे, ऐ ठंकए जाएत चकोरे ॥० इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ६८

वर्षाभिसार सम्बन्धी १०४, १०५ और १०६ संख्यक पद कवित्व की दृष्टि से तुलनीय हैं। विशेषतः १०६ संख्यक पद “घन घन गरजये, घन मेह बरिखये दशदिस नाहि परकासा” इत्यादि की शब्द-भंकार, भावगाम्भीर्य और नायिका की आकुल प्रार्थना—“ए नेह काहु जानि लागि”—ऐसा प्रेम किसी को भी न हो, मर्मस्पर्शी हैं। किन्तु परवर्तीकाल में अर्जुनराय के आश्रय में रहकर कवि ने ऐसे ही विषय पर जो पद लिखे उनमें अधिक आन्तरिकता दृष्टिगोचर होती है—

निसि निसिअर भम भीम भुअंगम, जलधर बिजुरि उजोर।

तरुन तिमिर निसि तइअओ चललि जासि ॥

बड़ सखि साहस तोर ॥ इत्यादि

—वही, पद २११

यहाँ सखी अभिसारिका से कह रही है कि रात में निशाचर और भीषण सर्प घूमते हैं। बादलों में बिजली चमक रही है। घना अँधेरा छाया है, तब भी तुम चली जा रही हो। सखि! तुम बड़ी साहसिका हो। सुन्दरी! वह कौन पुरुष-रत्न है जिसके लोभ से तुम अभिसार कर रही हो और जिसने तुम्हारा मन चुरा लिया है? मध्य मार्ग में दुस्तर नदी है, उसे कैसे पार करोगी? तुम अपनी आरति (हादिक प्रेम) को छिपाने की चेष्टा मत करो। लगता है कि पंचशर तुम्हारा अंगरक्षक है इसीलिये तुम्हें भय नहीं लग रहा, मेरा तो हृदय काँप रहा है।

इसमें जो कुछ चपलता (“सुन्दरि कअोन पुरुष घन जे तोर हरल मन, जसु लोभे चलु अभिसार”) है, वह आगे चलकर राजनामविहीन ३३५, ३३६, ३३७ संख्यक पदों में अन्तर्हित हो गई। ३३५ संख्यक पद में प्राकृतिक दुर्योग के साथ अन्तर्द्वन्द्व जैसे बहुत ही अल्प शब्दों में प्रकाशित हुआ है, उसी प्रकार भण्डिता में राधा-वनमाली के प्रति कवि का एक ममत्व भाव-सा स्फुटि हुआ है। ३३७ संख्यक पद में भाव-गहनता और अनुराग-तीव्रता का जो चित्र कवि ने अंकित किया है उसकी तुलना राजसभा के वातावरण में लिखित किसी पद में नहीं दृष्टिगोचर होती। निश्चय ही

विद्यापति ने राजसभा में बैठकर केवल मदन और मदन-सभा के प्रताप की कथा का गायन किया और परिणत वयस में प्रेम-वित्रांकन ।

शिवसिंह और उसके परवर्तीकालीन विरह-पदों में भी कवि के चित्त का क्रमिक विकास परिलक्षित होता है । शिवसिंह के समय में लिखित विरह के ४८ पद, अन्य राजा एवं राज-पुरुषों के नामों से अंकित ६ पद, राजनाम-विहीन पदों में नेपाल और मिथिला में १०२ पद (मित्र-मजुमदार, विद्यापति, पद ४६७ से ५६९) और बंगाल में प्रचलित ३९ पद (वही संस्करण, पद ७१९ से ७५८)—ये सब मिलाकर कुल १९५ विद्यापति-कृत विरह-पद अभी तक आविष्कृत हुए हैं । अनेक विचारकों का मन्तव्य है कि विद्यापति केवल सुख के कवि थे, दुःख-गान उन्होंने किया ही नहीं । इन विरह-पदों की संख्या यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त समझी जानी चाहिये कि विद्यापति ने दुःख गान भी किया था ।

शिवसिंह-कालीन विरह-पदों में से अधिकांश चिराचरित काव्य-रीति अनुयायी हैं । परम्परायुक्त (कनवेन्शनल) होने के कारण उनमें भावों की गहनता नहीं है । स्पष्ट ही सुख और सौन्दर्य के उस दरबारी वातावरण में मानों कवि दुःख का सुर पकड़ ही नहीं सका :—

कुसुमित कानन हेरि कमलमुखि, मुदि रहए दुइ नयान ।

कोकिल कलरव मधुर ध्वनि सुनि, कर देइ भाँपल कान ॥० इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद १७९

खने सन्ताप सीत जर जाइ, की उपचरब सन्देह न छोड़ ।

उचितओ भूसन मानए भार, देह रहल अछ सोभासार ॥ इत्यादि

—वही, पद १८०

इन पदों में कोकिल की कूक सुनकर कान बन्द करना, कुसुमित कानन को देखकर आँख मूँद लेना, विरह में क्षीण-तनु होना, चन्दन में अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला का अनुभव करना, कभी सन्ताप और कभी शीत बोध करना इत्यादि अलंकार-शास्त्रोक्त विरह-लक्षण वर्णित हुए हैं ।

निम्न पद में प्रहेलिका—कौशल के प्रति सावधान रहते हुए विद्यापति ने नायिका के विरह का वर्णन किया :—

माधव जानल न जिवति राही, जतवा जकर लेले छलि सुन्दरि ।

से सबे सोपलक ताही ॥

सरदक समधर मुखरुचि सोपलक, हरिन के लोचन लीला ।

केशपासलए चमरिके सोपक, पाए मनोभव पीला ॥० इत्यादि

—वही, पद १८१

यहाँ नायक के समीप नायिका की दूती ने पहुँच कर कहा कि माधव ! लगता है कि राधा अब जीवित न बचेगी । विरह-कातरा उसने शरत के चन्द्रमा को मुख-रुचि, हरिण को लोचन-लीला, चमरी को केश-पाश, दाड़िम को दन्तशोभा और सौदामिनी

को देहकान्ति लौटा दी है। वह काजल के सदृश मलिना एवं श्रीहीना हो गई है। उसका शरीर अब मात्र तुम्हारी प्रीति का अवलम्बन किए हुए है।

इन पदों में विरहिणी का एक हृदयग्राही शब्द-चित्र कवि ने यों अंकित किया है :—

करतल लीन सोभए मुखचन्द, किसलय मिलु अभिनव अरविन्द ।

अहिनिसि गरए नयन जलधार, खँजने गिलि उगिलत मोतिहार ॥० इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद १७०

किन्तु इसमें भी उपमा-वैचित्र्य और शब्द-भङ्गार के बीच भाव-गहनता प्रस्फुटित नहीं हो पाती। दुःख के दिनों में अर्जुनराय के आश्रय में बैठकर कवि ने जो विरह गीत गाये उनमें शब्द कम, परन्तु भाव गहन हैं। चरम दुःख के समय में जो उच्छ्वास-स्रोत रुक सा जाता है कवि ने उस स्रोत की उपलब्धि की थी—

सहज सितल छल चन्द, सब तह से भेल मन्द ।

विरह सहाइअ नारि, जिवैकके न हनिअ मारि ॥० इत्यादि

—वही, पद २१२

यहाँ उन्होंने कहा कि जो चान्द शीतल (आकर्षक-सुखद) था वह सब प्रकार से मन्द (अनाकर्षक-दुःखद) हो गया। नारी को यदि वह जान से ही मार डालता तो अच्छा था, अब वह उसे विरह-यन्त्रणा दे रहा है।

‘विद्यापति के चित्त का क्रमिक विकास’ के सम्बन्ध में लिखते हुए डा० विमानबिहारी मजुमदार ने उचित ही लिखा है कि बसन्त-वर्णन, अभिसार और विरह के शिवसिंह नामांकित पदों के साथ परवर्तीकाल में लिखित विद्यापति के पद समूह का तुलनात्मक रूप से विश्लेषण करने से यह सिद्धान्त पहचाना जाता है कि कवि ने प्रथम जीवन में प्राकृत नायक-नायिका को लेकर शृंगार रस की कविता लिखी थी, परन्तु परिणत वयस में वैष्णवीय साधना के रस में निमग्न होकर राधाकृष्ण का लीला-रस गान किया है। वर्तमान युग के मैथिल पंडित लोग इस सहज सत्य को मानना नहीं चाहते। वे कहते हैं कि विद्यापति शैव थे, उनके हर-गौरी गीत ही मिथिला के शिव मन्दिरों में गाये जाते हैं और अन्यान्य पद स्त्रियाँ आपस में ही गाकर एक दूसरे का मनोरंजन करती हैं। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र महाशय लिखते हैं—“मुझे तो यही प्रतीत होता है कि कवि केवल शृंगारिक थे और इनका जीवन भी प्रायः ऐसे ही लोगों के साथ राजसभाओं में व्यतीत हुआ जिससे इनका मन अधिकतर शृंगार ही की तरफ झुका हुआ रहना स्वाभाविक था। यह पूर्व में भी कहा गया है कि कवि राधा और कृष्ण के सच्चे स्वरूप से अपरिचित नहीं थे, किन्तु सच्चा प्रेम जिसे हम राधाकृष्ण की भक्ति कहते हैं कवि ने अपनी इन कविताओं में कहीं नहीं दिखाया। प्रायः उनका उद्देश्य भी यह नहीं था। उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसा कि चैतन्यदेव के समय में बंगाल में थी (विद्यापति ठाकुर, द्वितीय संस्करण, १९४९ ई०, पृष्ठ १३७) विद्यापति के पदों

को कालानुयायी न सजाने के दोष से डा० उमेश मिश्र के समान पंडित प्रवर भी विद्यापति के चित्त के क्रम विकास की धारा समझ नहीं सके। विद्यापति शिवसिंह की राजसभा के वातावरण में संचमुच ही शृंगार-रस के कवि थे। इस समय में लिखे हुए राधाकृष्ण-नामयुक्त पद भी प्रकृतपक्ष में शृंगार रस की कविता हैं। किन्तु प्रायः दस वर्ष का समय (लिखनावली रचना २६६ लं० सं० से भागवत लिपिकाल ३०९ ल० सं०) राजबनौली में अपेक्षाकृत दार्ढ्य और विपद् में वास करते और श्रीमदभावगत की प्रतिलिपि प्रस्तुत करते समय उनके मन में ऐसा परिवर्तन आया कि उसके फल-स्वरूप उनके पदों के भाव और भाषा में अनेक रूपान्तर हुआ। इसी रूपान्तर को दिखाने की चेष्टा मैंने की है।^१

स्पष्ट रूप से कथनीय बात यह है कि विद्यापति मिथिला के एक दरबारी कवि थे। उन्होंने अनेक मैथिल राज-विटपों का समाश्रय ग्रहण किया। सामन्तीय दरबारों की अपनी विशिष्ट परम्पराएँ रही हैं। उन सबके अनुकूल विद्यापति ने अपना जीवन बखूबी ढाला। प्रतिस्पर्द्धियों पर तो उनके काव्य-कौशल से निष्प्रभता छा ही गई, साथ ही दरबार के रसमन्तों को भी उसने यथेष्ट मात्रा में रसलीन किया। परम्परित काव्य उपादान के साहाय्य से फरमाइश होते ही विद्यापति ने अपनी अलंकृत कविता के चाकचिक्य से तो रसिक दरबारों चमत्कृत किया ही, उनके देसिल बयनों के माधुर्य पर भी सब आश्रयदाता लुट गये। उस विलक्षण पद-माधुरीका उन्होंने आकण्ठपान किया। संस्कृत कविता की दृष्टि से इनका शिवसिंह के दरबार में अत्यन्त आदर था। परन्तु इनकी कविता और प्रतिभा का असली क्षेत्र हिन्दी साहित्य है। उपमा और उत्प्रेक्षा की स्वच्छता में, प्रकृष्ट भावनाओं की ऊँची उड़ानों में और प्रतिभा के ऐन्द्रिय नृत्य में वह हिन्दी कवियों के सिरमौर हैं। पदावलीगत उनकी भाषा, उनका पद-विव्यास, उनकी रचना-चातुरी अपने जैसी आप हैं। उनकी कविता में सरलता, सीम्यता, धार्मिक ऐन्द्रियता सबकी सब विराजमान हैं। संस्कृत साहित्य को मथ इन्होंने उत्कृष्ट उत्प्रेक्षा और चुभती उपमाएँ इकट्ठी कर दी हैं। संस्कृत साहित्य की ऐन्द्रिय कविता को निचोड़ कर कूजे में बन्द कर दिया है। अलंकारों के मोती तो कविता के हार में ऐसे सजाये हैं कि देखते ही बनता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्यापति के गीत सौन्दर्य के सार हैं और ऐन्द्रिय प्रेम के ललित प्रसून।^१

विद्यापति की कविता के पाठक जानते हैं कि इन पदों में राधा-कृष्ण की कथा को वयः सन्धि से इन शब्दों से प्रारम्भ किया गया है—सैसव जौवन दुहु मिलि गेल, श्रवनक पथ दुहु लोचन लेल। विद्यापति ने बड़ी खूबी से सैसव और यौवन दोनों के सार को राधा की शरीरलतिका में भर दिया है। राधा की इस आश्चर्यमयी मूर्ति को देख यदि माधव अपने आप को भूल जाएँ तो आश्चर्य ही क्या है? नखसिख का प्रारम्भ इस प्रकार है—

१. मित्र मजुमदार-सम्पादित विद्यापति, भूमिका, पृष्ठ १०२

२. डा० सूर्यकान्त, हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ १३८

पीन पयोधर दूबरि गाता । मेरु उपजल कनक लता ।
मुख मनोहर अघर रंगे । फूललि मधुरी कमल संगे ।

नखसिख का वर्णन और कवियों ने भी किया है परन्तु विद्यापति ने सब का सार निचोड़ कर एक जगह रख दिया है। सौन्दर्य के इस समुद्र में स्वयं नखसिख भी डूबे जा रहे हैं। राधा का शरीर क्या है सौन्दर्य की एक वल्लरी है, जिस पर नाना प्रकार के रुविर पुष्प फूल रहे हैं। उसके प्रत्येक अंग से मंजुलता टपक रही है, प्रत्येक श्वास से सौरभ उड़ रहा है, प्रत्येक क्रिया से सौन्दर्य का रुविर नृत्य व्यक्त हो रहा है। सुधा के इस आसार में राधा रूपी कमल को खिला कर विद्यापति ने सचमुच कमल की आजीवनी खेती है।

नखसिख के पश्चात् राधा को सद्यःस्नाता के रूप में दिखाया है। उसकी भावुकता को प्रदर्शित करने के लिये—

कामिनि करए सनाने । हेरितहि हृदय हनए पंचवाने ॥
चिकुर गरए जल धारा । जनि मुख ससि डर रोअए अंधारा ॥

मुखचन्द्र के भय से केशरूपी अन्धकार को रुला कर कवि ने सचमुच मरकत पर धूप-बरसा दी है। प्रेम के प्रसंग में चोखा चमत्कार है प्रतिभा का। एक तनु गोरा कनक कटोरा, इत्यादि कविता पढ़ते ही बनती है। सारे का सारा प्रकरण प्रेम की मन्दाकिनी का प्रसन्न प्रवाह है। पाठक इस प्रकरण को पढ़ प्रेम में लीन हो जाता है और बार-बार अपनी प्रणयिनी से शीतल ओठों का मुरझाया सा चुम्बन मांगता है।

द्वितीयों की करामात के पश्चात् नोक-झोंक की चुनौतियाँ देता हुआ कवि पाठकों को सखियों की सीख का आभास देता है और उन्हें मिलन के अभिराम उपवन में ले जा कर भाँति-भाँति की रौसों पर खिलाता है। उपवन में सौकुमार्य, सुरभि तथा सौंदर्य की पराकाष्ठा है। प्रणयी अपनी प्रेमिका के स्पर्श का उपक्रम ही करता है कि वह चिल्ला उठती है—

तेहि अवसर पहु जागल कन्त, चीर संभारसि जिउ भेल अन्त ॥

नहि नहि करए नयन डर नोर, कांच कमल भमरा भिकभोर । इत्यादि

और कमल पत्र पर पड़े हुए जलबिन्दुओं की भाँति डगमगाने लगती है। मिलन के पश्चात् सखी-सम्भाषण आता है। राधा के ऊपर तानों के शीकरासार की वर्षा होती है।

‘नयन जुगल भेल काजल विधार, अघर निरस करु कओन गमार ।’ इत्यादि कहकर उसे खूब रिसाया जाता है। वह भी उचित शब्दों में उत्तर देती है। उसके इन शब्दों में ‘से सुपुरुष मोहे कएल सिंगार’—भावना की पुनीत छटा छिटक रही है। सखी सम्भाषण के पश्चात् कौतुक के दिन आते हैं। फिर मिलने की अभिलाषा ललकती है। यह अभिलाषा शनैः शनैः अभिसार में परिणत होती है। रात्रि के सूचि-भेद्य अन्धकार की कसौटी पर प्रेम का हेम खूब परखा जाता है।

प्रेम हेम परखा भोल कसौटी । भादन कुहुतिवि राति ॥

कृष्ण के यह पृष्ठने पर—‘सुमुखि पुच्छुओं तोहि सरूप कहसि मोहि, सिनेहक कतदुर ओर ।’
राधा उत्तर देती है—‘ठामहि रहिअ धुमि परस चिन्हिअ भूमि, दिगमग उपजु संदेह ।’

अर्थात् स्नेह का न ओर है न छोर । मैं तो प्रेम की इस अनन्त क्षीर-राशि में कान्दिशीक हो गयी हूँ । स्पर्श मात्र से पृथ्वी का भान हो रहा है । दृष्टि शून्य हो गई है, इन्द्रियाँ स्तब्ध हैं, और मन प्रेम के अन्तस्तल में रमा हुआ है ।

अभिसार के पश्चात् छलना, मान, मानभंग के प्रकरण आते हैं और पाठकों को भावों की ललित दोला पर भरपेट झुलाया जाता है । विदग्धविलास नाम का प्रकरण अपने जैसा आप है । यहाँ ऐन्द्रिय शृंगार की पराकाष्ठा है । कहीं कहीं कवि शृंगार में इतना अधिक लीन हो जाता है कि वह कविता के औचित्य की सीमा को लाँघ काम के नग्न नृत्य का अभिनय करने लगता है । वह स्निग्ध उन्माद तथा उद्धत सौकुमार्य के मलय समीर में झूमता हुआ औचित्य के प्रतिबन्धों और पार्थिव आचार की चुनौती को दुरा देता है । कामिनी रूपी उषा के सुवर्ण मेघ को देखते ही वह अपना पुरुषत्व उस पर न्यूँछावर कर देता है और उसकी अरुण तथा ललाम लुनाई में घुल जाना चाहता है, एक रस हो जाना चाहता है । इसमें विद्यापति का दोष नहीं, दोष है उषा के अस्फुट हास्य का, अर्द्धविकसित वन-मुकुलों का और नीला-वरण प्रकृति के रुचिर यौवन का । विद्यापति का विरह वर्णन पढ़ने योग्य है ।

विद्यापति उत्कृष्ट कवि हैं । वह अपनी प्रतिभा पर अभिमान करता है । वह धुरन्धर विद्वान् है, उसकी उत्प्रेक्षा, उपमा और अलंकार सजीव हैं । उसकी मधुर पदावली मन को मोह लेती है । उसके अलंकारों की चमक आँखों को चौंधिया देती है । दिनेशचन्द्र सेन ने लिखा है कि चण्डीदास और विद्यापति में से पहिला प्रकृति से प्रेरित हो गीत गाता है—उसका गान आत्मा की अन्तस्तली से आता है, भाषा के अलंकारों पर ध्यान नहीं, मानों कविता का एक स्रोत बह रहा है, जिसमें कालुष्य और कदम का नाम नहीं । दूसरा कवि अपने आप की पहचानता है, वह निष्णात विद्वान् है, उसकी उपमा और अलंकार कवित्व के प्रोद्भास हैं, वे कान को आत्मसात कर लेते हैं, उसके चित्रों की जाज्वल्यमानता आँखों को चौंधिया देती है । ऐन्द्रियता की भावना और वासना की कदर्यता की धार्मिकता के उत्तुंग तत्व दबा देते हैं । उसकी आरम्भिक कविता ऐन्द्रियता की वासना से परिलिप्त है, और पिछली छाया-वादिता की उड़ानों से परिस्फुरित, चण्डीदास प्रोन्नत गभस्तल का पक्षी है, जहाँ पार्थिव सौंदर्य की न्यूनता भले ही हो परन्तु जो फिर भी स्वर्ग के समीपतर है । विद्यापति भरदिन पृथ्वी के आतप-धौत कुँजों और शष्पावृत स्थलियों में परिभ्रमण करता है । वह जीवन की संध्या में ऊपर उड़ता है और अपने सहयोगी कवि को पकड़ लेता है । काम-वासना के दृश्य उसकी कविता में अवश्य आवश्यकता से अधिक हैं । धार्मिक दृश्यों की भी उसकी कविता में एकान्ततः कमी नहीं । प्लेटो के समान वह भी कभी उच्च भावों के विमान द्वारा आकाश-यात्रा करता है ।’

उसके आरम्भिक जीवन की कविताएँ कुत्सित शृंगार से सनी हुई हैं। इनमें प्रतिभा के प्रकाश और वासना-कालुष्य के अन्धकार का तान्त्रिक सम्मिलन है। काले अम्बर में बिजली दौड़ रही है। जीवन के अन्तिम दिनों की कविता में छायावाद की आभा है। विद्यापति ने जीवन के ऐन्द्रिय पहलू की पर्याप्त व्याख्या की परन्तु वह उसके आध्यात्मिक पहलू को संसार के सम्मुख न रख सका—डा० सूर्यकान्त, पृष्ठ १४५। इन पंक्तियों के लेखक की 'विद्यापति-चर्चा' रचना में अन्यत्र विद्यापति के पदों में मधुररस एवं अन्य भक्ति-सम्प्रदायों के इनसे प्रभावित होने की ओर संकेत दिया गया है। इस प्रकार विद्यापति कृत ऐन्द्रिय पहलू की व्याख्या ने मधुर रस के वर्णन में परिपाक लाभ किया, जो सर्वथा स्वाभाविक है।

सामन्तीय दरबार को रिझाने के प्रसंग में विद्यापति ने आश्रयदाता की प्रशस्ति के अतिरिक्त उचित-चमत्कार एवं शब्दों की बाजीगरी भी खूब प्रदर्शित की। अपने को रसमन्त समझने वाले इनके दृष्टकूट एवं प्रहेलिका पदों को पढ़ कर आज भी इस बात की जाँच कर सकते हैं। जहाँ चमत्कार और रिझाना ही ध्येय है वहाँ काव्य अलंकार प्रधान है, और कविता को सँवारने में कवि सचेत है, इसलिये वहाँ अलंकार-प्रयोग में सहजता नहीं। रसिक सामन्त विद्यापति—भारती की शृंगार-धारा को पा कर धन्य हो गये। उसके अन्तर्गत कामवासना और नारी-सौन्दर्य का चित्रण तत्कालीन रूढ़ साहित्यिक परम्पराओं, सामुद्रिक और तन्त्र-शास्त्रीय ढाँचों में ढल कर सामने आया। यह विद्यापति का विद्यापतित्व है कि वह वर्णन या रूप-चित्रण आज भी बासी नहीं लगता। देसिल बयनों का बाना पहिन कर इस कविता ने दरबारों को ही नहीं रिझाया, जन-साधारण का भी यह कण्ठहार बनी यह इसकी बड़ी विशेषता है। विद्यापति कृत देसिल-बयनों की स्वर-माधुरी पर आज भी लोकमुग्ध है।

विद्यापति पदावली के सामान्य विवेच्य—वस्तुतः हिन्दी में प्रथम कवि विद्यापति हैं जिनकी कविता में रीति के प्रचुरतत्त्व असंदिग्ध रूप से उपलब्ध होते हैं। ये पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इनके बहुत पहिले हिन्दी का वीरगाथा-काल प्रारम्भ हो जाता है। यों ढूँढने वाले तो चन्दबरदाई के रासों में भी रीति के उपादान खोज निकालते हैं और उदाहरणस्वरूप पद्मावती का नखशिख वर्णन उद्धृत कर दिया जाता है। परन्तु चंद रीति-परम्परा में नहीं आते। वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से उनकी कोटि पृथक् निर्धारित की जावेगी। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि नखशिख वर्णन साहित्यिक परम्परा है, रीति-परम्परा नहीं। प्रबन्ध के भीतर प्रसंगवश नखशिख वर्णन की परम्परा तो संस्कृत-काव्य में भी है, परन्तु अलग से या स्वतन्त्र रूप में नायिका के नखशिख का विस्तृत वर्णन रीतिकालीन प्रवृत्ति है।

विद्यापति की पदावली में संयोग-विप्रलम्भ-शृंगार के अतिरिक्त नख-शिख, वयः सन्धि, सद्यः स्नाता, प्रेम-प्रसंग, दूति, नोक-झोंक, सखी-शिक्षा, मिलन, सखी-सम्भाषण, कौतुक, अभिसार, छलना, मान, मानभंग, विदग्ध-विलास, वसंत, विरह, भावोल्लास, वन्दना-प्रार्थना-नचारी आदि के अनेक पद मिलेंगे। इन पदों में मुग्धा

का रूप-विन्यास जिस ढंग से किया गया है, वह किसी भी रीति कवि से कम शृंगारिक नहीं है। संयोग-शृंगार का ऐसा ऐन्द्रिय चित्रांकन रीतिकालीन कवियों को भी लजा देता है—

अधर मंगइते अम्रोध कर माथ, सहए न पार पयोधर हाथ ।

विघटल नीवी कर धर जाँति, अंकुरल मदन धरए कतें भाँति ।...इत्यादि

नायिका भेद—

यह ठीक है कि विद्यापति रीतिकालीन अधिकांश कवियों की भाँति आचार्यत्व के नाते लक्षण-ग्रन्थ लिखने नहीं बैठे थे, तथापि इनकी पदावली में रीतिबद्ध-कवियों के विवेच्य विषयों का दर्शन होता है। विद्यापति के सब अलंकृत शृंगार-चित्रों में नायिका-भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट मिलेगा। विद्यापति ने अपने पदों की रचना नायिका-भेद सम्बन्धी किसी तालिका के अनुसार नहीं की। यहाँ उन्होंने मौलिकता से काम लिया है। यद्यपि संस्कृत गीतकार जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द में राधा को क्रमशः आठों प्रकार की नायिका बना दिया और इस प्रकार नायिका-भेद पर आधारित एक सूत्र-बद्ध रति-खण्ड-काव्य उसे कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। गीत-गोविन्द के मूल में हरिस्मरण की भावना है, इसके कर्ता ने हरिस्मरण की एक ऐसी नवीत पद्धति का आविष्कार किया जिसने हिन्दी के सारे मध्ययुग के कृष्ण-काव्य को प्रभावित किया। उसने राधा को नायिका माना, कृष्ण को नायक और राधा के रूप में अष्ट नायिकाओं की अवस्था का वर्णन किया। उसका प्रयोजन मात्र लीलागान था। उनके बाद कृष्ण-कवियों ने इस नायक-नायिका-कथा में अधिकाधिक आध्यात्मिकता का पुट देने की चेष्टा की।

विद्यापति में यह चेष्टा अधिक प्रस्फुटित नहीं हुई, क्योंकि उन्होंने पूर्णतः जयदेव की शैली को नहीं स्वीकृत किया। उन्होंने स्वतन्त्र कथानक को लक्ष्य करके अपनी पदावली की रचना की। यही कारण है कि उसमें नायिकाओं के अष्ट भेद नहीं मिलते। तथापि कुछ पदों को अवश्य ही नायिका-भेद के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है, यथा—

मुग्धा— अवनत आनन कए हम रहलिहुँ, बारल लोचन-चोर ।

पिया-मुख-रुचि पिबिए घाओल, जनि से चाँद चकोर ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३८

अभिसारिका— आज पुनिम तिथि जानि मोयं अएलिहुँ, उचित तोहर अभिसार ।

देह-जोति ससि-किरन समाइति, के बिभिनावए पार ।

इत्यादि

—वही, पद १२३

खण्डिता— लोचन अरुन बुझल बड़ भेद । रयनि उजाएर गरुअ निवेद ।

ततहि जाह हरि न करह लाथ, रयनि गमओलह जन्ह के साथ । इत्यादि

—वही, पद १३३

कलहान्तरिता—आजु परल मोहि कोन अपराधे, किअ हेरिअ हरि लोचन आधे ।
आन दिन गहि गूम लाविय गेहा, बहुविधि वचन बुभावए नेहा ।

इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ४६८

विप्रलब्धा—पइरि मोयं अइलिहुं तरनि तरंग, पथ लाँघल साए सहस भुजंग ।
निसि निसाचर संचर साथ, भाग न मोहि केहु धइलिहु हाथ ।

इत्यादि

—वही, पद ३६८

प्रोषितपतिका—सब विरह-प्रबोध के पदों में राधा प्रोषित पतिका है ।

प्रवत्स्यमान पतिका—अथवा वर्तमान प्रोषितपतिका ।

उठु उठु सुन्दरि जाइछि विदेश । सपनहु रूप न हि मिलत उदेश ॥

से सुनि सन्दरि उठलि चेहाय । पहुक वचन सुनि बैसलि भूमाय । इत्यादि

—वही, पद ८७५

इन पदों को यहाँ उद्धृत करने का प्रयोजन यही है कि यह बात स्पष्ट हो जाय कि विद्यापति को नायिका भेद लिखने का आग्रह नहीं था । तथापि उनके कथानक में नायिका की जो अवस्थाएँ आ गयीं उनका ही उन्होंने अंकन किया ।

विद्यापति ने अभिसार, मान, मानभंग, विरह और मिलन विषयक बहुत पद लिखे । अभिसारगत विषमताओं के वर्णन द्वारा कवि प्रेम की गम्भीरता प्रदर्शित करना चाहता है । निजसखी के आग्रह पर अत्यन्त कठिन परिस्थिति में नायिका अभिसार के लिये निकलती है । विद्यापति ने कृष्ण और शुक्लपक्षीया अभिसारिकाओं का चित्रण किया है ।

अभिसार—अभिसार-वर्णन में विद्यापति का उद्देश्य नायिका के प्रेम की तीव्रता और गहनता प्रदर्शित करना है ।

कृष्णाभिसारिका—नव अनुरागिनी राधा, किछु नहि मानए बाधा ।

एकलि कएल पयान, पथ विपथ नहि मान ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ६४२

वर्षाभिसारिका—बारिस जामिनि कोमल कामिनि, दारुन अति अंधकार ।

पथ निसाचर सहसे संचर घन पर जलधार । इत्यादि

—वही, पद ३३२

शुक्लाभिसारिका—चल चल सुन्दरि हरि अभिसार, जामिनि उचित करहु सिंगार ।

जैसन रजनि उजोरल चन्द, ऐसन बेस भुसन करु बन्ध ।

इत्यादि ।

—वही, पद ६४१

उपयुक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विद्यापति ने नायिका को घनान्धकार से युक्त रात्रि में, वर्षा में और चाँदनी रात में अभिसार के लिए घर से निस्सृत किया

है। अपनी रसिकतावश विद्यापति ने दिवसाभिसार और पुरुष-वेश में अभिसार की भी योजना कर डाली, यथा क्रमशः—

दिवसाभिसारिका—राहु मेघ भए गरसल सूर, पथ परिचय दिवसहि भेल दूर।

नहि बरसए आसन नहि होए, पुर परिजन संचर नहि कोए।

इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ३१२

पुरुषवेशाभिसारिका—अबहु राजपथ पुरजन जागि, चाँद किरन जगमण्डल लागि।

सहए न पारए नव नव नेह, हरि हरि सुन्दरि पड़लि सन्देह।

इत्यादि

—वही, पद ६२८

वही दूती जो कुछ देर पूर्व राधा के सामने आई थी, कृष्ण के पास जा कर राधा के अभिसार का वर्णन इस प्रकार करती है—

माधव करिअ सुमुखि समधाने, तुम अभिसार कएल जत सुन्दरि।

कामिनि करए के आने। बरिस पयोधर धरनिवारि भंर रयनि

महा भय भीमा।

इत्यादि

—वही, पद ३३७

अर्थात् हे माधव तुम इस सुमुखी की मनोकामना पूर्ण करना। इस सुन्दरी ने तुम्हारे अभिसार के निमित्त जितना कष्ट उठाया, क्या उतना कोई अन्य नारी उठा सकती है? तनिक विचारो मूसलाधार वर्षा में पृथ्वी जल में समाई-सी लगती है, ऊपर से भयानक रात्रि तथापि यह तुम्हारा गुण मन में याद करके आगे बढ़ी, सचमुच यह असीम साहसिका है। जो घर की दीवार पर चित्रित सर्प को देखकर ही भयभीत हो उठती थी वही यह सुमुखी आज सर्प के सिर पर की मणि को हाथ से ढक कर स्मित-आनना हो तुम्हारे समीप आई है। वह अपने स्वामी को छोड़, विषम नदी को पार कर, श्रेष्ठ कुल के कलंक को सिर धार कर तुम्हारे अनुराग में उन्मत्ता हो किसी भी वस्तु को कुछ नहीं गिनती। रसिक कवि विद्यापति कहते हैं, काम और प्रेम जब एक साथ मिल जाते हैं तो क्या नहीं करा देते?

नायिका इस बात की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करती है कि सूर्यास्त कब हो, जिससे कि उसकी अभिसरन-बेला समीप आवे—

पुनु पुनु उठसि पछिम दिसि हेरी, कखन जायत दिन कत अछि बेरि।

कहीं अभिसरण-प्रसंग में रात्रि ही न बीत जावे इस बात की चिन्ता नायिका को कुछ रहती है, परन्तु फिर भी वह दूती की बातों में आ कर कृष्ण के पास जाती है। रात समाप्त हुआ चाहती है, परन्तु नायिका का अभिसार समाप्त नहीं हो पाता—

गगन मगन होअ तारा, तइअओ न कान्ह तेजय अभिसारा।

आपना सरवस लाथे आनक बोलि तुड़िअ दुहुहाये। इत्यादि

—वही, पद ३४६

अर्थात् तारागण आकाश में लीन हुए, तब भी कान्ह अभिसार-शय्या का परित्याग नहीं करते—भोर होने पर भी कान्ह राधा को छोड़ते नहीं। छलपूर्वक दूसरे के सर्वस्व को अपना कह कर दोनों हाथों से लुटाते हैं। गले का हार टूट गया तो नखभत-पंक्ति प्रकाशित हो गई। राधा ना, ना, ना, कहती है परन्तु उसकी क्रीड़ाओं का लाख आदर भी करती है। विद्यापति का कथन है कि नायक, नायिका और दूती इन तीनों में दूती ही चतुरा है—प्रातःकाल होते देख दूती पहले ही घर लौट जाती है।

मान—प्रायः सब कृष्ण-राधा-कवियों ने राधा-कृष्ण के मान का वर्णन किया है। उस प्रसंग में लघु और गुरु मान की कल्पना की गई है। प्रसिद्ध भक्त-रसिक कवि सूरदास ने मान का कारण दिया—राधा ने कृष्ण के हृदय में अपनी छाया देखी और उसे किसी अन्य तरुणी की मूर्ति मान कर यह समझी कि कृष्ण ने किसी अन्या रमणी को हृदय में स्थान दिया है। इस मान-योजना का आध्यात्मिक अर्थ निकल सकता है—थोड़ा-सा भी संदेह, तनिक-सा भी अहंकार भक्त और भगवान् के मिलन में बाधक हो सकता है। अतः भक्त को आत्मसमर्पण करते समय संदेह-व्यक्तित्व को छोड़ देना होगा। दार्शनिक परिभाषा में यही अहंता का त्याग कहलाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वयं सूरदास में यह आध्यात्मिक अर्थ रूपक के पीछे छिप जाता है।

विद्यापति ने मान का कारण स्थूलतर लिया है। कृष्ण सूर्योदय होने पर लौटे हैं, राधा उनके रंग-ढंग से ताड़ लेती है कि उन्होंने पर-रमणी-रमण किया है—

लोचन अरुन बुझलि बड़ भेद, रैन उजागरि गरुअ निवेद ।

ततहि जाहु हरि न करहु लाथ, रैन गमोलह जिन्ह क साथ । इत्यादि

इस प्रकार विद्यापति के मान-वर्णन से किसी आध्यात्मिक अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि विप्रलम्भ शृंगार के अंग को अपने सामने रख कर लिख रहा है। कृष्ण मानिनि-राधा से विनय करते हैं। उसके शरणापन्न हो विचित्र ढंग से शपथ खा कर कहना चाहते हैं कि मैंने किसी अन्या स्त्री का स्पर्श नहीं किया। यदि मेरी बात झूठ निकले तो शासित (दण्डित) करना। विश्वस्ता न होने पर राधा कृष्ण को सजा दे सकती है, परन्तु उस सजा का विधान बड़ा अनोखा है। कृष्ण ने निवेदन किया :—

ए धनि माननि करहु संजात,

तुम्रा कुच हेम घट हार भुजगिनि । ताक उपर धर हात ॥

तोहे छोड़ि यदि हम परसब कोय, तुम्र हार नागिनि काटब मोय ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३७

अर्थात्—हे मानवती रमणी ! क्रोध छोड़ो संयम करो, (यदि विश्वास न हो तो शपथ करा लो। सोना एवं सर्प को छू कर शपथ खाना प्रामाणिक माना जाता है)। मैं तुम्हारे कुच रूपी सोने के घड़े एवं हार रूपी सर्पिणी के ऊपर हाथ रखकर शपथ खाता हूँ। यदि तुम्हें छोड़कर किसी अन्या का स्पर्श करूँ तो तुम्हारी हार रूपी

सर्पिणी मुझे काट खाय । यदि मेरे वचन पर विश्वास न आता हो तो समझ-बूझ कर मुझ को समुचित दण्ड दो—भुजा रूपी जंजीर में बाँधकर, जाँघों के बीच में ताड़ना करके एवं स्तन रूपी भारी पत्थर को हृदय पर रखकर दिन-रात अपने हृदय रूपी कारावास में बन्द करके रखो । कवि विद्यापति कहते हैं कि यह उचित दण्ड होगा ।

अनुनय करने पर भी राधा नहीं मानती । दूतियाँ राधा को मनाती हैं उसे यौवन की अस्थिरता की ओर ध्यान दिला कर एवं कृष्ण के ऐश्वर्य और विगत लीला-विलास कर स्मरण करा के । उस मानिनी से दूती ने कहा :—

ए धनि मानिनि कठिन परानि, एतहुँ विपदे तुहुँ न कहसि बानि ।

ऐछन नह इह प्रेमक रीति, अब के मिलन होय समुचीत ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ६६२

अर्थात्—हे मानिनि तुम अति कठिन हृदया हो । इतनी विपद् सहने पर भी तुम उस से मौन धारण किये हुए हो । यह प्रेम की रीति नहीं है । अब मिलाप करना उचित है । भला, तुम्हारे विरह में जब माधव प्राण-त्याग कर देंगे तब तुम किस के ऊपर मान साधोगी ? कौन कहता है कि तुम्हारा हृदय कोमल है, तुम्हारे सहस्र कठिन हृदय तो किसी का भी नहीं । अब भी यदि तुम मान-त्याग कर माधव से नहीं मिलती हो तो विद्यापति को तुम से कुछ और नहीं कहना है । इसके बाद दूती ने विरही कृष्ण का चित्र उपस्थित किया । वह बोली, सुन अरी कठिन हृदये !

तोहरि विरह वेद ने बाउर, सुन्दर माधव मोर ।

खने अचेतन खने सचेतन, खने नाम धरु तोर ॥ इत्यादि

—वही, पद ६६३

जब दूतियाँ मानिनी को न मना पाईं तो बहुरूपिये कृष्ण ने किस अनोखे ढंग से उसके मान का भंजन किया यह जानना हो तो निम्न पद पर ध्यान दें :—

आछिलुं हाम अति मानिनि होइ, भांगल नागर नागरि होइ ।

कि कहब रे सखि आजुक रंग, कानु आओल तेहि दूतिक संग ॥ इत्यादि

—वही, पद ६६४

यहाँ नायिका ने हमें बताया कि मैं अत्यधिक मानवती थी । नागर ने नागरी बनकर मेरा मान-भंग किया । वह कहती है कि हे सखि आज के रंग की बात क्या कहूँ, कन्हाई दूती के संग आये । उन्होंने चाँचर केशों से वेणी बनाई थी, नागर शेखर नागरी का वेश धारण किया था । वक्ष पर पयोधर उगाकर—कृत्रिम पयोधर बनाकर हार पहिना था । चलने के समय पहले बाँया पैर आगे रखते थे (जो स्त्री का लक्षण है) । नागर का नागरी रूप देखकर कामदेव फूलधनु को हाथ में लेकर (शिर-निक्षेप सार्यक होना समझ कर) नाचने लगा । उनको देखकर मैंने सचकित होकर उनका आदर किया । उनको अवगत देखकर गोद में ले लिया । उस शरीर का जब सरल स्पर्श

हुआ तब मान का गर्व रसातल को चला गया। नासा स्पर्श कर (विस्मयवश) मैं संशय में पड़ गई। विद्यापति कहते हैं कि वह संशय अब दूर हो गया।

सचमुच नागर कान्ह की चातुरी का सिक्का मानवती पर खूब जमकर बैठ गया और बिना विशेष साधना के मानवती का मानभंग हो गया। वह इस बात को मान गई और बोली :—

बड़ई चतुर मोर कान, साधन बिनहि भांगल मभु मान।

योगी वेस धरि आओल आज, के इह समुझव अपरूब काज ॥ इत्यादि

—विद्यापति मित्र-मजुमदार, पद ६६५

अर्थात्—मेरा कन्हाई बड़ा चतुर है। मेरा मान उसने बिना साधन के भंग कर दिया। योगी-वेश धारण कर आज आया। यह अपूर्व कौतुक कौन समझे? सास के आदेश को पाकर मैं योगी को भिक्षा देने के लिये गई। मेरा मुख देखकर योगी गद्-गद् हो गया। फिर योगी बोला, अपना मानरत्न मुझ को भिक्षा में दो—अन्य भिक्षा नहीं ग्रहण करूँगा, तब मैंने जाना कि वह सुकपट माधव है। उस समय उसने जो कुछ कहा अब बताते लाज आती है, नागरराज को किसी ने नहीं पहचाना। विद्यापति कहते हैं कि हे राधे! उसकी वह चतुराई तुम क्या समझो?

विप्रलम्भ या विरह—

यह स्वीकृत सत्य है कि विद्यापति संयोग शृंगार के उत्कृष्ट कवि हैं, विप्रलम्भ शृंगार में वे उससे भी अधिक बढ़े-चढ़े हैं। वस्तुतः उनका विप्रलम्भ शृंगार ही वह तत्व है जो उन्हें विलासिता के दोष से बचाये हुए है। निस्सन्देह संयोग शृंगार के चित्रण अत्यन्त स्थूल है। उनमें वासना की गंध है। परन्तु वियोग शृंगार के अनेक चित्रों में कवि पार्थिवता से ऊपर उठ जाता है। उसने राधा को सामान्य केलि-विलासमयी नारी से ऊपर उठा कर अतीन्द्रिय जगत् की सृष्टि की है, जहाँ केवल तन्मयता, प्रेम-विह्वलता और प्रिय-चिन्तन के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। यहीं वे स्थल हैं जिनके कारण विद्यापति वैष्णवों को ग्राह्य हुए, नहीं तो उनके संयोग-शृंगार ने तो उन्हें लांछित कर ही डाला था।

विद्यापति के संयोग-शृंगारपरक पदों के विषय में तो यह कहा भी जायगा कि उन पर तत्कालीन राजदरबारों के विलासमय वातावरण का प्रभाव था और कहने वालों को कोई यह कहने से भी नहीं रोक सकता कि विद्यापति के उन पदों में कवि की अपनी कुसुचि प्रस्फुटित हुई है। परन्तु यहाँ तथ्य मन में बिठाने योग्य यह है कि विप्रलम्भ-शृंगार के गीत बिना गहरी प्रेमानुभूति के नहीं निकल सकते किसी हृदय से और इस प्रेमानुभूति का स्रोत लौकिक नहीं हो सकता।

कृष्ण के विदेश-गमन (मथुरा प्रस्थान) के विषय में जानकर राधा अपनी सखी से कहती है—

सखि हे बालम जाएब विदेसे।

हम कुल कामिनि कहइत अनूचित तोहूँ देहुनि उपदेसे ॥ इत्यादि

—विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ३७७

अर्थात्—हे सखि ! प्रियतम विदेश जाने वाले हैं । मैं कुलकामिनी हूँ, मेरा कथन अनुचित होगा, तुम उन्हें उपदेश दो । यह विदेश-गमन का समय नहीं है । दुर्जन मेरे दुःख की माप नहीं कर सकेंगे । तुम भली हो अतः प्रियतम के समीप जाकर कहो कि कुछ दिन निवास करें । मैंने जैसा किया है वैसा फल पाऊँगी, वे तो पर-उपहास से मेरी रक्षा करें, नहीं तो वे हत्या के भागी होंगे । क्योंकि जब वे चलने का विचार करेंगे तो उसी समय आग में कूद मरूँगी ।

सखी के अनुरोध को जब कृष्ण ने टाल दिया तब राधा स्वयं कृष्ण से विनय करती है—

माधव तोहें जनु जाह विदेस, हमरो रंग रभस लए जएबह ।

लए बह कौन संदेस ॥

इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १८८

हे माधव ! तुम विदेश मत जाओ । अपने साथ मेरे आमोद-प्रमोद को ले जाकर फिर कौन-सा उपहार लाओगे ?

विद्यापति ने राधा-कृष्ण का विदा-चित्र अत्यन्त कुशल लेखनी से अंकित किया है । दोनों के मनोभावों का चित्रण बड़ा मार्मिक है ।

कान मुख हेरइत भाविनि रमनी, फोंकरइ रोअत भर भर नयनी ।

अनुमति मांगए वर विधुवदनी, हरि हरि सबदेँ मुखि पडु धरनी ॥ इत्यादि

—मैथिल कोकिल विद्यापति, ब्रजनन्दन सहाय, पृ० ३३६

यहाँ कृष्ण को विदेशगमनोद्यत देखकर राधा फफक-फफक रौने लगती है । नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है । कृष्ण ने ज्यों ही जाने की अनुमति माँगी तो 'हरि-हरि' कहती हुई राधा मूर्छिता हो धरणी पर आ गिरी । कृष्ण व्याकुल हो अनेक प्रकार से उसे समझाते-बुझाते हैं—प्रबोध देते हैं, कह देते हैं कि चलो अब मथुरा नहीं जायेंगे । इन शब्दों के कान में पड़ते ही राधा को होश आ जाता है । राधा ने यत्न से कृष्ण के दोनों हाथ पकड़ लिये और उन पर अपना मस्तक धर दिया । कृष्ण बराबर प्रबोध दे रहे हैं कि वे मथुरा नहीं जावेंगे । यह आश्वासन पाकर राधा विश्वास छोड़ कर उठ बैठी । विद्यापति कहते हैं कि कृष्ण राधा को प्रबोध कर भी चले गये, यह कथा कहते नहीं बनती ।

विद्यापति ने राधा-कृष्ण-विरह-प्रसंग का अनेक प्रकार से वर्णन किया है । कहीं कृष्ण रात्रि में प्रसुप्ता राधा को छोड़ कर चले जाते हैं । वह अपनी सखी से कहती है—

कालि कहल पिया ए सांभहि रे, जाएब मोये मारुअ देस ।

मोय अभागलि नहि जानलि रे, संग जइतअँ जोगिन बेस ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १८९

अर्थात्—कल सायंकाल ही प्रियतम ने मुझ से कहा, "मैं मथुरा जाऊँगा" किन्तु मुझ हृत्भाग्या को इसका ज्ञान ही न हो सका, नहीं तो योगिनी का वेश धारण

कर उसके साथ अवश्य चल पड़ती। मेरा हृदय अति कठिन है जो प्रिय के बिना बिदीर्ण नहीं हो जाता। रात्रि में एक ही शैया पर मैं उसके साथ सोई थी, किन्तु पता नहीं चला कि वह किस समय मुझ को छोड़ कर चला गया और चक्रवाक-युगल बिछुड़ गया—वियोग हो गया। आज प्रियतम के बिना शून्य-शैया मेरे हृदय को पीड़ा दे रही है। हे सखि ! मैं प्रार्थना करती हूँ कि मेरे लिये अग्नि चिता तैयार कर दो। कवि विद्यापति ने गाया कि हे सुन्दरि ! तुम्हारा पति फिर आकर तुम से मिलेगा, लखिमादेवी के रसिक कन्त राजा शिवसिंह विस्मृतिशील नहीं है।

कहीं कृष्ण जाने से पूर्व राधा को जगा कर विदा लेते हैं—

उठु उठु सुन्दरि जाइछि विदेस, सपनहु रूप नहि मिलत उ देस ॥ इत्यादि
—विद्यापति, मित्र-सजुमदार, पद ८७५

विरहिणी राधा कृष्ण को सन्देश भेजना चाहती है और अपने भाग्य को दोष देती है—

माधव हमर रहल दुर देस, केआ न कहइ सखि कुसल सनेस।
युग-युग जीवथु बसथु लाख कोस, हमर अभाग हुनक नहि दोस ॥ इत्यादि
—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६७

अर्थात्—मेरे माधव दूर देश में रम गये। कोई भी उनका कुशल सन्देश नहीं कहता। वह युग-युग जीवें—दीर्घायु प्राप्त करें, भले ही लाखों कोस दूर वास करें। इसमें उनका क्या दोष है, यह तो मेरे अपने भाग्य की प्रतिकूलता है। दुर्भाग्यवश मुझसे विधाता विमुख हो गये और कृष्ण ने भी पूर्व प्रेम को त्याग दिया। अब हृदय में शराघात-सदृश पीड़ा हो रही है। दूसरे के दुःख को (किसी के दुःख को) दूसरा भला क्या सगमेगा। विद्यापति बहते हैं कि क्या किया जाय लिखित भाग्य विपरीत फल रहा है ?

इस सन्देश—प्रेषण की अभिलाषा में और विशेषकर विरह के गीतों में एक गहरी अनुभूति की अभिव्यक्ति है। बंगला-कवि चण्डीदास के गीतों में यह अनुभूति अत्यन्त सहज एवं निरलंकृत रूप से व्यक्त हुई है, परन्तु विद्यापति ने इसे काव्य-कला से पुष्ट करके और भी मार्मिक बना दिया है। वे प्रायः चण्डीदास के उच्च-धरातल पर पहुँच जाते हैं।

राधा के नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होती है। उसे इस बात का हादिक दुःख है कि कृष्ण को अपना सर्वोत्तम उपहार न भेंट कर सकी—

मोहि तेजि पिया मोर गेलाह विदेस, नयन बरिसि गेल मघ असरेस ॥ इत्यादि
—विद्यापति, व्रजनन्दनसहाय, पृ० ३२४

वह मथुरा में कृष्ण के समीप पहुँचने की तीव्र अभिलाषा रखती है—

मोहन मधुपुर वास रे, हमहुँ जाएब तनि पास रे।

भुललनि कुबजाक नेह रे, तजलनि हमरोसिनेह रे ॥ इत्यादि

—वही, पृ० ३२५

इस समस्त विरह-प्रसंग में विद्यापति ने (कुछ दृष्टकूट पदों को छोड़ कर) निरलंकृत भाषा एवं गतिमय लघु छन्दों का प्रयोग किया है, जिससे राधा की करुण दशा का चित्र सत्य प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि विद्यापति इस अवसर पर परस्पर प्राप्त काव्य-संपदा को नहीं भुला पाते।

विरहिणी राधा का आकुल हृदय चीत्कार कर उठता है। वह पूर्व-प्रणय का स्मरण करते हुए कहती है—

कत दिन घूचब एहो हहकार, कत दिन घूचब गुरु दुःख भार ।

कत दिन चांद कुमुद हब मेलि, कत दिन कमल भमर कर केलि ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ३५३

निम्न पद में देखें सखियाँ विरहिणी की परिचर्या में लगी हैं—

मलिन, चिकुर सजनी तन चीर, करतल बयन नयन भर नीर ।

सुन माधव किए बोलब तोए, तुअ गुन लुबुधि मुगुधि भेलि सोए ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ३५३

विद्यापति ने विरह प्रासंगिक मान में द्विविध मान का चित्रण किया है—एक तो वह जो प्रातःकाल होने पर टूट गया और दूसरा वह जो अधिक-काल तक बना रहा। इन मान-प्रसंगों में आध्यात्मिक सन्देश के स्पष्ट निर्देश नहीं हैं, परन्तु दोनों का अन्त में समान रूप से आकुल होना और राधा के मानोपरान्त क्षोभ को आध्यात्मिक प्रतीकों के रूप में रखा जा सकता है।

विद्यापति ने विरहिणी राधा के मनोभावों का विभिन्न रूप से चित्रण किया है। कुछ मनोभाव-चित्र देखें—

(क) अंकुर तपन-ताप जदि जारब, कि करब वारिद मेह ।

ई नव जीवन विरह गमाओब, कि करब से पिया गेह ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २०५

(ख) सजनी के कह आएब कन्हई ।

विरह पयोधि पार किए पाएब मो मन नहि पतियाई ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ३१७

(ग) हिम हिमकर कर ताप तपाएल भए गेल काल बसन्त ।

कन्त काक मुख नहि संवादह किए कर मदन दुरन्त ॥ इत्यादि

—वही, पृ० ३१७

(घ) कत दिन माधव रहब मथुरपुर, कब धूमब विहि बाम ।

दिवस लिखिए लिखि नखर खिआएल बिछुरल गोकुल नाम ॥ इत्यादि

—वही, पृ० ३३०

इन सब पदों में मानसिक भावों की सहज अभिव्यक्ति है। कुछ पद (जैसे विद्यापति, मित्र-मजुमदार संस्करण पद, संख्या १६३-२०१) ऐसे हैं जो कूट या प्रहेलिका शैली के हैं, जिनमें राधा-विरह-वर्णन विद्यापति के ग्रन्थिल पाण्डित्य का निदर्शन

करता है। सचमुच पाण्डित्य के साथ है, लेकिन जहाँ यह पाण्डित्य हृदय तत्त्व से मिल जाता है वहाँ विद्यापति सहज उत्कृष्ट काव्य-रचना में सफल हो जाते हैं। भाषा के कृष्ण-कवियों में चण्डीदास और सूरदास को छोड़ कर कोई अन्य कवि विरह-वर्णन प्रसंग में इनसे स्पर्धा नहीं कर सकता। विद्यापति का विरह-वर्णन एक साथ चण्डीदास और सूरदास के काव्य धरातल को छू लेता है। चण्डीदास के विरह-चित्रण की भाँति यह तन्मयता प्रधान है, सहज है और है सूरदास के विरह-चित्रण के समान काव्य-कला से पुष्ट एवं ब्रज की अनेक परिस्थिति-संवलित। श्रीयुवत दिनेशचन्द्र सेन ने उचित ही लिखा कि यदि विद्यापति इन अन्तिम पदों में भावों के इतने ऊँचे स्तर पर न उठते और राधा-कृष्ण कथा को बार-बार आध्यात्मिक अर्थों से आविर्भूत न करते तो विद्यापति के पद धार्मिक साहित्य की गणना में कदापि न आ पाते। विरह-प्रसंग में विद्यापति भाव पर अधिक बल देते हैं। विद्यापति ने संयोग-शृंगार वर्णन में जो कुशलता दिखाई है वह उनकी भावुकता और पाण्डित्य दोनों का फल है या कहना चाहिए कि कहीं-कहीं तो वे अलंकारशास्त्री ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। संयोग वर्णन में विद्यापति अपनी शृंगारिक प्रवृत्ति के कारण स्थूल-चित्रों में भी अपनी प्रतिभा को लीन रखते हैं और इसी कारण उनके ऊपर अश्लीलता का दोषारोपण भी विद्वानों के द्वारा किया गया है। किन्तु वियोग-वर्णन में कवि ने जिस मार्ग का अनुसरण किया है उसने उनके गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने में बड़ी सहायता दी है। वियोग-वर्णन की पद्धति में विद्यापति ने जो स्वाभाविकता और सरलता दिखाई है उसने कवि को इस दोष से भी मुक्त कर दिया कि वे एक अलंकारशास्त्री थे। हृदय के अनेक भावों को निरलंकारिक भाषा में ऐसी सरलता से चित्रण किया है कि वे भाव हृदय पर बरबस अपना अधिकार कर लेते हैं।

संयोग-शृंगार-वर्णन प्रसंग में जिस राधा को केवल विज्ञास और केलि-क्रीड़ाओं का साधन बना कर उसके अंग प्रत्यंग के चाकचिक्य पर अपने ध्यान को लगा रखा था, विप्रलम्भ-शृंगार में कवि ने उसी राधा को एक आदर्श भारतीय हिन्दू नारी के रूप में चित्रित किया है। उसकी अन्तर्वृत्तियों की उत्ताल तरंगों ने कवि को ही अपने साथ नहीं बहाया, अपितु समस्त सहृदय-समाज को निमज्जित करने की उनमें सामर्थ्य है। विरह-चित्रण में विद्यापति अनुभूति से काम लेते हैं। यहाँ उन का पाण्डित्य पिछड़ गया है। यही कारण है कि इनकी पदावली में हमें शास्त्रोक्त विरह की दसों दशाओं के अतिरिक्त विरहिणी की अन्य अनेक दशाओं के चित्रण मिल जाते हैं। विप्रलम्भ शृंगार में परिगणित स्मरण, गुण-कथन, अभिलाष, मूर्च्छा, व्याधि, उद्वेग, प्रलाप, जड़ता, उन्माद और मरण इन सब दशाओं के उदाहरण विद्यापति से दिये जा सकते हैं—

(१) स्मरण मोहन मधुपुर वासरे, हमहुँ जाएब तनि पास रे।

भल तनि कुबजा के नेह रे, तजबनि हमरो सनेह रे ॥

(२) गुणकथन पहले पिया मोर सुख मुख हेरि हेरि तिल यक छोड़ल न अंग।

अपरुब प्रेम पास तनु गांथल, अब तेजल मोर संग ॥

- (३) अभिलाष कत दिन पिय मोर पुछब बात, कबहु पयोधर देखब हाथ ।
कत दिन लेइ बैठाइब कोर, कत दिन मनोरथ पूरब मोर ॥
- (४) सूच्छा वर रामा हे ! सोकिय बिछुरन जाय ।
कर धरि माथुर अनुमति मांगलि ततहि पड़ल मुरछाय ॥
- (५) व्याधि कि कहब सुन्दरि तोहर काहिनी, कहहि न पारिअ देखलि जहिनी ।
अनिल अनल सम मलअज वीख, जे छल सीतल से भेला तीख ॥
चाँद संताबय सविताहु जीनि, नहि जीवन एक मत भेला तीनि ।
किछु उपचार न मानव आन, एही वेआधि अधिक पंचवान ॥
- (६) उद्वेग सजनी, के कह आओब मघाई, ।
विरह पयोधि पार किए पाओब, मभुमननहि पतिआई ॥
- (७) प्रलाप कहतु कह सखि बोल तु बोल तु रे, हमर पिया कौन देश रे ।
मदन सरानल इह तनु जरजर, कुसल सुनत सन्देश रे ॥
- (८) जड़ता नीकर पुरुष पिरीती, जिव दय सन्तर युवती ।
नीचल नयन चकोर, ढरिए ढरिए पलनीर ॥
पथए बहे हेरि हेरी । पियगेला अवधि बिसेरी ।
- (९) उन्माद (क) अनुखन माधव माधव सुमरइत, सुन्दरि भेलि मघाई ।
(ख) मोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानी ।
अनुखन राधे राधे रटतिहि आध-आध कहू बानी ॥
- (१०) मरण (क) माधव अब न जीउति राही ।
जतवा जनिकर लैनें छलि सुन्दरि से सभ सोपलक ताही ।
(ख) मधुपर गेल भगवान रे, हुन बिनु त्यागब प्रानरे ॥

विद्यापति ने राधा की वियोगावस्था का वर्णन तो किया ही है साथ ही कृष्ण को भी उन्होंने राधा के वियोग में व्यथित दिखाया है । कृष्ण भी राधा की दयनीय दशा के विषय में सुन कर मूर्छित हो जाते हैं । वे सखी के द्वारा राधा के समीप सन्देश भेजते हैं :—

“दुइ एक दिवस निचय हम जाओब, तुहु परबोधबि राई ।”

राधा के संयोग की स्मृति भी कृष्ण को व्याकुल करती है । वे राधा की सखी के सन्मुख अपने हादिक उद्गार प्रगट करते हैं—

सजनी कोन परि जीबए कान,

राहि रहल दुर हम मथुरा पुर एतहु सहए परान ॥

राधा के विरह वर्णन में कवि ने आदर्श भारतीय हिन्दू नारी के उज्ज्वल चारित्रिक पार्श्व पर प्रकाश डाला है :—

माधव हमर रटल दुर देश, केओ न कहइ सखि कुशल सन्देश ।

युग युग जिवयु वसयु लखकोस, हमर अभाग हुनक कौन दोस ।

यहाँ विद्यापति भाव-प्रवाह में बह कर कल्पना और कला को पीछे छोड़ आगे बढ़ आये हैं। ऐसे स्थलों पर उनका काव्य लौकिक हो जाता है। निम्न पद पर दृष्टिपात करें, अनुभूति को भला इससे अधिक सहज निरलंकारिक भाषा, भाव और छन्द का संगम कहाँ मिलेगा—

विपत अपत तरु पाओल रे पुन नव नव पात ।

विरहिनि नयन बिहल बिहिरे अविरल बरिसात ॥० इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ३८०

सचमुच वियोग की अवस्था अनोखी होती है। यहाँ प्रिय के संसर्ग में आई समस्त वस्तुएँ वियोग को और अधिक उद्दीप्त कर देने वाली होती हैं। उस वियोग में शृंगार (सज्जा) किसे रुचिकर होगा ? क्योंकि इस शृंगार का प्रशंसक ही जब वियुक्त हो गया तो इन शृंगार के साधनों को दूर कर दो :—

संखा करब चुर बसन करब दुर, तोड़ब गजमोति हार रे ।

पिया यदि तेजल, सोलह सिंगार सब यमुना सलिल अब डार रे । इत्यादि

—वही, पृ० ३७०

चन्दन और चन्द्रमा प्रियतम के वियोग में शीतलता प्रदान करने के स्थान पर राधा की हादिक वेदना को उद्दीप्त कर रहे हैं—

चनन चान तन अधिक उतापए, उपवन अलि उतरोले रे ।

समय वसंत कंत रहू दुर देस, जानल विधि प्रतिकूले रे ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २०१

विद्यापति ने विरह वर्णन में बारह-मासा भी लिखा। हिन्दी में बारह-मासा वर्णन सर्वप्रथम विद्यापति ने किया, भले ही उन्होंने भी इसे अपभ्रंश-साहित्य से अपनाया। यहाँ सब मास राधा के दुःख को उद्दीप्त करने के लिये ही आ रहे हैं।

मोर पिया सखि गेल दुर देस, जीवन दए गेल साल सनेस ।

मास अषाढ़ उन्नत नव मेव, पिया बिसलेख रहअों निरथेव ॥ इत्यादि

—वही, पद २०८

अषाढ़ के आगमन पर सर्वत्र बादल छा गये, किन्तु प्रिय-वियोगवशा राधा निराश्रया है। सावन मास में मूसलाधार वृष्टि और अधेरी रात्रि में मार्ग नहीं सूझता। चहुँ ओर बिजली की चमक है, जिससे वियोगिनियों का जीवन कठिन हो गया। भादों मास में प्रचुर वृष्टि में सर्वत्र मेंढकों की टर्र-टर्र और मयूरों के केका-रव से भयभीता संयोगिनी कामनियाँ तो प्रियतमों की गोदों में जा छिपीं, परन्तु राधा के मुँह से निकला—

सखि हे हमर दुख क नहि ओर, ई भरबादर माह मादर । सून मंदिर मोर । इत्यादि

—वही, पद १६६

विरहिणी राधा के हृदय में प्रकृति के समस्त उपकरणों की शोभा काम का संचरण करती है। समस्त कुंज और कुटीर में वसंतागमन से सर्वत्र सुषमा का राज्य छाया है।

पुष्प विकसित हैं। कोकिला अपने पंचम स्वर से वन-प्रान्तर को रसमय बना रही है। सर्वत्र आनन्द की लहर है। सुखद-दक्षिण-पवन चल रही है, परन्तु प्रियतम-विरह में वह सब सुखद-सामग्री विरहोद्दीपन ही करती है राधा का—

फुटल कुसुम नव कुंज कुटीर वन, कोकिल पंचम गावरे।

मलयानिल हिमसिखर सिधारल, पिया निज देश न आवे रे। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २०१

विद्यापति के काव्य में प्रकृति ने उद्दीपन-रूपेण ही अधिक स्थान पाया है। रस सम्प्रदाय के आचार्यों ने रस-परिचाक में विभाव को महत्वपूर्ण माना है। रसानुभूति में विभाव का बहुत भाग होता है। विभाव के दो भेद होते हैं—आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव। शृंगार-रस के आलम्बन-विभाव नायक-नायिका होते हैं, नायक-नायिकाओं की चेष्टाएँ व मुद्राएँ उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती हैं। उद्दीपन-विभावों में कुछ ऐसी अन्य बातें भी परिगणित होती हैं जो पात्रों से बहिर्गत होती हैं। बहिर्गत उद्दीपन-श्रेणी में आचार्य वर्ग ने प्रकृति की सुरम्य गोद के उन आकर्षक चित्रों को उल्लिखित किया है जो वन, उपवन, नदी, स्रोत, पर्वत, घाटियों, कुंजों, वृक्षों, लताओं एवं वन्य पशु-पक्षियों के रूप में बिखरे पड़े हैं। विद्यापति ने प्रकृति के इसी रूप को अपनाकर शृंगार-रस के स्थायी भाव रति को जागृत करने का कौशल प्रदर्शित किया है।

विरहिणी राधा कृष्ण के समीप संदेश भेजने को उत्सुक है—

के [पति] आ लए जाएत रे, मोरा पियतम पास।

हिए नहि सहए असह दुख रे, भेल सामोन मास ॥ इत्यादि

—वही, पद २०३

उसे इस बात का दुःख है कि यदि उसका प्रियतम विदेश-वास में ही रहा तो उसका यौवन व्यर्थ ही नष्ट हो जावेगा। उसने यह भी सोचा कि जागृतावस्था में कृष्ण से मिलन अब संभव नहीं, स्वप्न में ही दयित मिल जाता तो कुछ सन्तोष रहता। पर दैव को यह भी स्वीकार न था—राधा की नींद ही विधाता ने चुराली।

राधा का यौवन विरह-वेदना से प्रतिदिन झुरता जा रहा है। इस विचार से उसकी व्यथा और बढ़ती है, कैसा सत्य एवं मनोवैज्ञानिक चित्र है—

अंकुर तपन-ताप यदि जारब, कि करब वारिद मेह।

ई नव जीवन विरह गमाओब, कि करब से पिया गेह। इत्यादि

—वही, पद २०५

आशा-निराशा के भूले पर भूलती विरहिणी राधा काग को देखकर स्त्रियों की भाँति सहज भाव से शकुन विचार करती है। काग से वह कहती है कि यदि मेरा प्रियतम लौट कर आ जावेगा तो मैं तेरी चोंच को सोने से मढ़वा दूंगी—

सोने चंचु बंधाए देव वाएस जओ पिया आ ओत आज रे।

वह कहती है कि ए काक तुम अपनी भाषा बोलो—शुभ शकुन सुनाओ। यदि मेरा प्रीतम आ गया तो सोने के कटोरे में मीठी-खीर भर कर तुम्हें खाने को दूंगी—शुभ समाचार देने वालों का मुंह मीठा कराया जाता है—

काक भाख निज भाखह रे, पहु आओत मोरा ।

खीर खांड भोजन देव रे, भरि कनक कटोरा । इत्यादि ।

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६०

यह अवस्था विरहिणी के प्रेमोन्माद की प्रथम सीढ़ी है। साहित्य लव्हाओं ने विरहिणी-नायिकाओं का पक्षियों से वार्तालाप कराने में विशेष आनन्द अनुभव किया है। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने भी विरह-वर्णन में इस पद्धति को स्थान दिया है। हिन्दी में भी जायसी, तुलसीदास, सूरदास की विरहिणी नायिकाएँ एवं विरही नायक पक्षियों के द्वारा प्रियतम अथवा प्रिया के विषय में यत्किंचित् जानने को आतुर होते हैं।

विरह-वेदना ने राधा के गात्र को क्षीण बना दिया। वह मृणाल-तन्तु के सदृश हो गई। सखियाँ उसे छूने में भी भय का अनुभव करने लगी कि कहीं स्पर्श मात्र से उस विरहिणी का शरीर टूट न जाय, विरह-ताप से वह तपता है। उसकी सखियाँ उसे शीतलता प्रदान करने के लिए नील-कमल से हवा करना चाहती हैं किन्तु उन्हें इस बात का भय है कि कहीं कमल-पत्र के वायु-वेग से वह विरहिणी उड़ न जाय—

नील नलिनी लए जब कर बाए, हृदय रहए भय उड़ि जुनु जाए ।

इस प्रकार के ऊहात्मक वर्णन विद्यापति को प्राचीन-संस्कृत-कवि-परम्परा से उपलब्ध हुए। इस प्रकार के वर्णन महाकवि कालिदास में भी मिलते हैं। तुलसीदास ने भी उँगली की मुद्रा को नायिका के कंकण का स्थान दे दिया। इस प्रकार के ऊहात्मक वर्णनों को विरह वर्णन में बस इसीलिये स्थान मिला कि जिससे विरह-जनित कृशता का चित्रण सुन्दरता के साथ हो जाय। वैसे विद्यापति को पांडित्य के प्रदर्शन में भी कुछ आनन्द आता था, इसी कारण वे ऐसे स्थलों पर अतिशयोक्ति अलंकार के प्रयोग की इच्छा का संवरण नहीं कर पाये। इस प्रकार के वर्णन विद्यापति-पदावली में अधिक नहीं कुछ स्थलों पर ही हैं।

विरह-वर्णन में प्रेम की तन्मयता का एक अद्भुत दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ है। राधा प्रतिपल माधव-माधव पुकारते-पुकारते ऐसी तन्मय हो गई कि स्वयं को ही कृष्ण समझने लगी और कृष्ण या माधव को पुकारते के स्थान पर वह राधा-राधा की रट लगाने लगी। किन्तु तत्क्षण ही उसको अपनी वास्तविक दशा की स्मृति हो आई और वह पुनः विरह की तीव्र वेदना से दग्ध हो उठी (विद्यापति बेनीपुरी पद २१७)।

इस पद में विद्यापति ने प्रेम की पराकाष्ठा तथ, तन्मयता का ऐसा अद्वितीय चित्रण किया है जो संसार के भाषा-साहित्य में अपनी समता नहीं रखता। विद्यापति ने विरह की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशा को देखा। विरह की कोई ऐसी दशा नहीं जिसका वर्णन महाकवि विद्यापति ने न किया हो। कोई भी मनीभाव कवि की सूक्ष्म दृष्टि से बच नहीं सका। संक्षेप में विद्यापति की विरहिणी राधा को संयोगावस्था में जो

वस्तुएँ आनन्दप्रद थीं वे वियोगावस्था में वेदना देने लगीं। परिवेशस्था प्रकृति की समस्त वस्तुओं ने प्रिय-दयित का स्मरण दिलाया। वह प्रेम की तीव्रता में इतनी तन्मय हो जाती है कि अपने अस्तित्व को भी भूल जाती है। प्रिय-दर्शन की लालसा-वशा वह जीविता रहती है। स्वप्न में वह प्रियमिलन का प्रयास करती है किन्तु नींद खुलने से वैसा हो नहीं पाता। पक्षियों को देखकर वह प्रियतम के आने के विषय में विचार करती है। अन्त में राधा की निराशा आत्मतोष में परिणत हो जाती है और वह दयित के कल्याण-कामना के सन्मुख अपनी चिन्ता त्याग देती है।

मिलन या संयोग-शृंगार

राधा-कृष्ण के संयोग-शृंगार से सम्बद्ध विद्यापति ने अनेक पद लिखे हैं। उत्कृष्ट पदों के साथ कुछ पद ऐसे भी हैं जो आजकल की रुचि को सुपन्न एवं ग्राह्य नहीं प्रतीत होते। इन पदों के पीछे न कोई आध्यात्मिक प्रेरणा है, न आध्यात्मिक रूपक। इनमें राधा युवती और कृष्ण युवक के दैहिक विलास का वर्णन है। वस्तुतः हमारे प्राचीन साहित्य में जहाँ जीवन के अन्य अंगों को काव्य के विषय-रूप से स्वीकार किया वहाँ विलास को भी गृहीत किया। रति-वर्णन संस्कृत-काव्यों का प्रिय विषय है। जहाँ हर-पार्वती के केलि-विलास का वर्णन हो सकता है वहाँ गोपीपीनपयोधर-मर्दन चंचलकरयुगशालीललित नायक कृष्ण और उनकी प्रियतमा राधा नग्न शृंगार का विषय क्यों न बनें? जयदेव ने मार्ग प्रशस्त किया। अनेक अपभ्रंश-कवि भी समानान्तर मार्ग पर चल रहे थे। उनके पद-चिन्हों पर चल कर विद्यापति उनसे भी आगे निकल गये।

साहित्य की परम्परा का अवलोकन करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि संयोग-पक्ष में आलम्बन के रूप-विधान की ओर कवियों की दृष्टि अधिक रहती है और विप्रलम्भ में हृदय के भावों को अभिव्यक्त करने की ओर अधिक। विद्यापति की पदावली को देखने से इस बात का पुष्ट प्रमाण मिलता जाता है। संयोग-पक्ष में श्रीकृष्ण की चेष्टाओं, मुद्राओं, व्यापारों आदि का सम्यक् विधान किया गया है और विप्रलम्भ में श्रीकृष्ण तथा राधिका के हृदय की स्मृति, अभिलाष, उद्वेग आदि को ही व्यक्त करने में वे लगे रहे। संयोग में प्रिय सामने रहता है। इसलिये प्रेमी की वृत्ति बहिर्मुखी रहती है और वियोग में प्रिय के दर्शन का अभाव होने के कारण वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। साहित्य-शास्त्रियों ने इसी बात का ध्यान करके संयोग-पक्ष में आलम्बन के अलंकारों (हावों) का विधान किया है और वियोग में दस दशाओं का। विद्यापति के शृंगार-पदों में सम्यक् रूपेण विधान ही नहीं है, अपितु उस रूप-विधान में रमण कराने वाले अप्रस्तुतों की भी सच्ची योजना उल्लब्ध होती है।

विद्यापति के इन पदों में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात जो है वह यह है कि उभय पक्ष (नायिका-नायक) समरस वर्णित हैं। राधिका के रूप का जैसा लयकारी प्रभाव श्रीकृष्ण के हृदय पर पड़ता हुआ दिखाया गया है वैसा ही श्रीकृष्ण के रूप का राधिका के हृदय पर। रीति विषयक लक्षण-ग्रन्थों में उदाहरणों की पूर्ति के लिये भले ही उभय-पक्ष की समान-वृत्ति के उदाहरण दिये गये हों, पर स्वच्छन्द रचना

करने वाले संयोग-पक्ष में नायिकाओं के हावों का ही अधिक वर्णन करते हैं और वियोग-पक्ष में नायिकाओं की व्याकुलता के ही अधिकतर उदाहरण पाये जाते हैं। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में अलंकारों, चेष्टाओं का उल्लेख करते हुए सभी अलंकारों को नायिकाओं के सम्बन्ध में ही चमत्कारक कहा गया है। केवल स्वभावज दस अलंकार नायक में भी चमत्कारक माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने लिखा—पूर्वभावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि सम्भवन्ति किन्तु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एवविच्छित्तिविशेषं पुष्पन्ति। इससे यही प्रतीत होता है कि लक्षण-ग्रन्थों में नायक परक रूप-चेष्टाओं का वैसा व्यापक विधान नहीं हुआ। परन्तु विद्यापति ने नायक और नायिका (श्रीकृष्ण और राधिका) दोनों की मुद्राओं, कार्य-व्यापारों आदि का एक-सा वर्णन उपस्थित करके यह सिद्ध कर दिया है कि सर्वेऽमी नायकाश्रितापि-विच्छित्तिविशेष पुष्पन्ति—स्पष्ट है कि विद्यापति दोनों में भेद करके नहीं चले।

संयोग-शृंगार में रूप-वर्णन प्रधान हुआ करता है। इसके अन्तर्गत नख-सिख तथा मुकुमारता आदि की व्यञ्जना करने वाली रचनायें आती हैं। नखसिख-वर्णन में रीति ग्रन्थों की मर्यादा इस प्रकार रही है कि लौकिकनायक या नायिका का वर्णन शिख से आरम्भ करके नख पर समाप्त किया जाय और किसी देवता, दिव्य या दिव्यादिव्य व्यक्ति के अंगों का वर्णन नख से आरम्भ करके शिख पर समाप्त किया जाय। परन्तु सामान्य रूप से इन दोनों प्रकार के वर्णनों को नख-शिख ही कहते हैं यद्यपि शुद्धता के विचार से पहिले को शिख-नख और दूसरे को नख-शिख कहा जाना चाहिये। विद्यापति-पदावली में नख-शिख-वर्णन दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। इस वर्णन की विशेषता यह है कि आलम्बन की मुद्राओं, चेष्टाओं आदि को कवि ऐसे रूप में सामने लाया है जिससे उनका अत्यन्त लयकारी बिम्ब सामने उपस्थित हो जाता है। विद्यापति ने श्रीकृष्ण और राधिका के नख-शिख का वर्णन अनेक पदों में किया है। कहीं तो वह सामान्य वर्णन के रूप में आता है और कहीं रूपक के आवरण में लिपटा हुआ। अवसर विशेष पर विद्यापति ने रूपकातिशयोक्ति द्वारा नख-शिख-वर्णन करते हुए चमत्कार-प्रदर्शन का भी प्रयत्न किया—

माधव की कहव सुन्दरि रूपे। कतेक जतन बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे ॥

पल्लव-राज चरन-जुग सोभित, गति गजराज क भाने।

कनक कदलि पर सिंह समारल, ता पर मेरु समाने। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १२

इस पद में विद्यापति सांगरूपक द्वारा नायिका का सर्वांग-वर्णन करते हुए कहते हैं, हे माधव उस बाला के रूप का वर्णन किस प्रकार करूँ, क्योंकि स्वयं विधाता ने अपने हाथों से अनेक प्रयत्नों के फलस्वरूप उसे निर्मित किया है। मैंने उसे देखा है, यदि विश्वास न हो तो स्वयं अपने नेत्रों से देख लो। सुकोमल कमल के समान उसके दोनों चरण शोभायमान हैं और उस बाला की चाल मस्त गजराज के समान है। सुवर्ण-कदली-स्तम्भ के समान जंघा पर सिंह की-सी कटि शोभायमान है और उस पर उभरा हुआ वक्षस्थल सुमेरु के सदृश प्रतीत होता है। सुमेरु-से उन्नत वक्षस्थल

पर दो कमल-पुष्प (कुच) विकसित हैं। ये दोनों कमल-पुष्प विचित्र हैं क्योंकि ये बिना नाल (डण्ठल) के ही विकसित हो रहे हैं। कुचों पर पड़ी हुई मुक्तामाल सुमेरु पर्वत के चारों ओर लिपटी हुई गंगा की पूतधारा-सी लगती है। कदाचित् इस संजीवनी धारा के स्रोत में विकसित होने के कारण बिना नाल के होते हुए भी ये दोनों कमल मुरझाते नहीं। उसके लाल अधर बिम्बा-फल के समान हैं और दाँत अनार के दानों जैसे हैं। उसके चाँद-से मुखड़े पर बाल सूर्य-सा लाल सिन्दूर है, जिसे देखकर ऐसा लगता है कि सूर्य और चन्द्रमा समीप-समीप ही उदय हुए हैं। राहु (काले केश) उनसे बहुत दूर है—उनके समीप नहीं आता अतः उसे अपने मुख-चन्द्र के ग्रास का भय नहीं—ज्योतिष—शास्त्रानुसार यदि सूर्य और चन्द्र दोनों एक राशि में हों तो ग्रहण नहीं लगता। उस बाला के नेत्र हरिणी के सदृश हैं और बाणी कोयल के समान। उसकी भौहों का कटाक्ष कामोत्तेजक है। कमल-से प्रशस्त उसके ललाट पर अनेक भ्रमरों-सी लटें झूल रही हैं, ऐसा लगता है मानों भ्रमर मधुपान करके केलि-रत हों। कवि विद्यापति अन्त में कहते हैं कि हे श्रेष्ठ सुन्दरि ऐसा संसार में दूसरा कौन है जो तुम्हारे योग्य ठहरे? राजा शिवसिंह जो लखिमा देवी के पति हैं केवल वही तुम्हारे अनुरूप सिद्ध हो सकते हैं।

कवियों की आलोचना करते हुए प्रायः यह कहा जाता है कि उसने अमुक दृश्य का चित्र खींच दिया। इसका आशय यह नहीं हुआ करता कि किसी चित्र में जो आकार दिखाई पड़ता है उसकी सारी सामग्री कवि के शब्द-चित्र में पाई जाती है। कवि अपने शब्दों द्वारा संकेत करता है और जिस दृश्य को वह सामने लाना चाहता है उस दृश्य का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक अंग लेकर अपनी कविता में रख देता है। जैसे यदि किसी दुबले-पतले व्यक्ति का चित्र सामने लाना है तो कवि उसके एक-एक अंग का विस्तार के साथ वर्णन न करके केवल इतना ही कह देगा कि हड्डियों की एक ठठरी सामने खड़ी हो गयी। दारिद्र्य का रूप प्रत्यक्ष कराने के लिये वह कहेगा—

सोने-चाँदी का नाम न लो, पीतल-काँसे के कड़े-छड़े।

मिल जाय बहुरानी की तो समझो उनके सौभाग्य बड़े।

—सोहनलाल द्विवेदी, गावों में

ठीक इसी प्रकार विद्यापति ने बिम्ब-ग्रहण कराने के लिये शब्दों के संकेत और शुद्ध व्यापार-वर्णन से काम लिया है—

पथ-गति पेखल मो राधा, तखनुक भाव परान पए पीड़लि

रहल कुमुद-निधि साधा। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३४

अर्थात् आज मैंने राजपथ पर जाती हुई राधा को देखा। उसकी उस समय की भाव-भंगिमा ने मेरे प्राणों तक को पीड़ित कर दिया और इस कारण उस चन्द्र-मुख को पुनः देखने की साध बनी रह गई। सुन्दर कमलिनी-से अपने नेत्रों को कुछ तिरछा करके उसने मुझे देखा, थोड़ी देर तक। उसके इस प्रकार देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानों खगवर-खंजन को जंजीर में बाँध रखा हो और वह मेरी दृष्टि पड़ते ही छुप

गया हो। उस समय राधा ने हंस कर अपना आधा मुख-चन्द्र मुझको दिखाया और तब मुख-चन्द्र को अपनी भुजा से ढक लिया। उसकी इस मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था मानों आकाश में स्थित पूर्णिमा के चन्द्रमा के आधे भाग को मेघ ने ढक रखा हो और आधे को राहु ने ग्रसित कर लिया हो। उसके दोनों हाथों से ढके हुए उत्तुंग उरोजों की ओर देख कर मेरा मन चंचल हो उठा। हाथों से ढके उरोज ऐसे प्रतीत होते थे मानों लालिमा युक्त चंचल बालसूर्य लाल हथेली के नीचे दो सुवर्ण-कमल (कुच) निद्रालीन हों। कवि विद्यापति कहते हैं कि हे मथुराधिपति तुम्हारी इस रस-रीति में कौन बाधा डाल सकता है, क्योंकि तुम्हारी पारस्परिक हँसी और दर्शन की उत्कण्ठा से ही सबको ज्ञात हो गया है कि तुम्हारे हाथ रूपी मृगाल (नाल) और राधा के कुच रूपी कमल दोनों एक ही पदार्थ के दो भाग हैं—अर्थात् राधा के उन्नत उरोजों के लिये तुम्हारे हाथ ही उपयुक्त हैं। इस पद में सबसे अधिक चमत्कृत करने वाली बात यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से भाव, हाव और हेला तीनों का बड़ी सुन्दरता के साथ एक ही आलम्बन में विधान कर दिया गया है। चेष्टाओं के वर्णन में तो विद्यापति की यह भी विशेषता रही कि उन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्मतर व्यापार तक जाने की चेष्टा की है और उसे अभिव्यक्त करने के लिये अधिकतर आध और थोरा जैसे शब्दों का सहारा लिया है—

सजनी, भल कए पेखल न भेल,

मेघ-माल सयं तड़ित-लता जनि हिरदय सेल दई गेल ॥

आध आंचर खसि आधवदन हसि आधहिनयन तरंग ।

आध उरज हेरि आध आंचर भरि, तबधरि दग्धे अनंग ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २८

नायिका—नायक के स्वरूप को सामने लाने के लिये अधिकतर उसके मुख-मंडल द्वारा व्यक्त होने वाली चेष्टाओं या कार्य-व्यापारों का वर्णन करने की आवश्यकता होती है। आश्रय के हृदय पर आलम्बन के इसी अवयव का अत्यधिक प्रभाव देखा जाता है। राधिका के मुख की प्रभविष्णुता का कैसा अद्भुत वर्णन विद्यापति के इस पद में है—

चाँद-सार लए मुख घटना करु, लोचन चकित चकोरे ।

अमिय धोय आंचल धनि पोछलि, दह दिसि भेल उंजोरे ॥० इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १४

प्रायः संयोग-शृंगार के अन्तर्गत आलम्बन का रूप-विधान करने वाले कवि मुख-मण्डल के अवयवों की चेष्टाओं का और उनमें भी विशेषकर नेत्रों की चेष्टाओं का वर्णन करते हैं। महाकवि सूरदास के सूरसागर में नेत्र-चेष्टाएँ हज़ारों की संख्या में विद्यमान हैं। बिहारीलाल के दोहों में एवं अन्य रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में नेत्रों पर अधिक उक्तियाँ मिलेंगी। वस्तुतः नेत्र-व्यापार-वर्णन में कवि ऐसे दत्तचित्त हो जाते हैं कि वे आलम्बन के अन्य अंगों या उनकी चेष्टाओं पर प्रायः ध्यान नहीं रखते। परन्तु विद्यापति ने नयनोक्ति की बहुलता रखते हुए भी अन्य अंगों की चेष्टाओं

का भी उसी परिमाण में वर्णन किया है। इनकी पदावली में बाहु, कमर, चरण आदि के कार्य-व्यापार भी उसी सहृदयता के साथ वर्णित हैं जिस सहृदयता से उन्होंने नेत्रों का वर्णन किया है।

नख-शिख-वर्णन में केवल अंगों का या उनकी चेष्टाओं का ही वर्णन नहीं होता, अपितु शरीर की सज्जा करने वाले आभूषण, कंचुकी एवं अन्य प्रसाधन-साधनों का भी वर्णन रहता है। यह सब विभाव-पक्ष के आलम्बन के अन्तर्गत आता है। विद्यापति ने इन सबको अपने पदों में एकत्र किया है, भले ही ये अल्प-मात्रा में हों। उदाहरण देखें :—

(क) सजनी, अपरूप पेखल रामा,

कनक-लता अवलम्बन ऊमल, हरिन-हीन हिमधामा ॥ इत्यादि

विद्यापति, बेनीपुरी, पद १८

(ख) सहजहि आनन सुन्दर रे, भोंह सुरेखलि आंखि ।

पंकज मधु, पिबि मधुकर रे, उड़ए पसारल पांखि ॥० इत्यादि

—वही, पद ३३

विद्यापति ने नायक की चेष्टाओं का भी वैसा ही सरस वर्णन किया है जैसा कि नायिका की चेष्टाओं का। विद्यापति ने नायिका के यौवनागमन की भाँति नायक के यौवनागमन का भी वर्णन किया है। प्राप्त यौवन नायक को देखकर नायिका के हृदय में दर्शन-जन्य प्रेम आविर्भूत होता है और वह अपनी सखी से निवेदन करती है—

ए सखि पेखलि एक अपरूप, सुनइत मानबि सपन-स्वरूप ।

कमल-जुगल पर चाँद क माला, तापर उपजल तरुन तमाला ॥ इत्यादि

—वही, पद ३६

अर्थात्—हे सखि ! आज एक अपूर्व स्वरूपवान को मैंने देखा है। सुनोगी तो मेरी बात को तुम स्वप्न-सदृश मानोगी। उस मूर्ति के कमलरूपी चरणों पर चन्द्रमाओं-नखों की पंक्ति शोभा दे रही थी। उस पर तरुण-तमाल-वृक्ष (युवा-श्याम-शरीर) उत्पन्न था। उस यौवन भरी श्याम देह पर विद्युत् लता की भाँति पीताम्बर लिपटा हुआ था—ऐसा सुन्दर श्याम युवक यमुना के तट पर धीरे-धीरे जा रहा था। उस की शाखाओं (बाहुओं) के शिखरों (अंगुलियों) पर सुधाकर चन्द्रमा (नखों) की पंक्ति थी। और नवीन किसलयों की भाँति उसकी रक्तिम हथेलियाँ थीं। बिम्बफल के समान शोभायमान उसके दोनों ओष्ठ थे और तोते की चंचु के समान नासिका मुख की शोभा बढ़ा रही थी। नासिका के दोनों पाश्वर्यों में चंचल खंजन की भाँति दो नेत्र विकसित थे और सिर पर नाग के समान (कृष्ण) केशों ने मोर (मुकुट) को ढक रखा था। हे सुरसिके ! मुझको उस अपूर्व सुन्दर पुरुष का परिचय बता। मेरी तो सारी सुधि उसको देखते ही जाती रही, अब तूही उसका पता बता। कवि विद्यापति इस रस-रीति से भली-भाँति परिचित हैं, परन्तु हे सखि ! उस सुपुरुष के मर्म को तो केवल तू ही भली प्रकार जानती है।

रूप-वर्णन के अन्तर्गत नख-शिख के साथ हाव भी आते हैं। संस्कृत के प्राचीन रीति-शास्त्रों में नायक-नायिकाओं के अलंकारों के नाम से जिस शोभा और चेष्टा आदि के वर्णन की परिपाटी स्वीकृत है, उसमें केवल बाह्य सौन्दर्य का अंकन ही मुख्य नहीं है। हृदय के सौन्दर्य के साथ-साथ बाह्य सौन्दर्य-प्रदर्शित करने की रचि भी रही है। किन्तु हिन्दी साहित्यकारों ने भानुदत्त कृत रसतरंगिणी के अनुकरण पर कुछ बाह्य चेष्टाओं को ही हाव के नाम से ग्रहीत किया है। यहाँ हाव का आशय मात्र हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में मान्यता प्राप्त परिमित हावों से ही नहीं है अपितु उन अलंकारों से भी है जो संस्कृत-रीति-ग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

संस्कृत-ग्रन्थों में वर्णित अलंकारों (हावों) का रूप समझने की आवश्यकता है। युवावस्थागमन पर नायक अथवा नायिका में कुछ विशेष चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं—उन्हें अलंकार कहते हैं। यद्यपि नायक और नायिका दोनों में इसकी उद्भावना होती है, तथापि स्त्रियों में इसकी विशेष शोभा होने के कारण काव्य-ग्रन्थों में नायिकागत अलंकारों (हावों) का वर्णन किया जाता है। ये अलंकार तीन प्रकार के होते हैं—अंगज, अयत्नज और स्वभावज। अंगज अलंकार पुनः त्रिविध हैं—भाव, हाव और हेला। अयत्नज अलंकार सात होते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। स्वभावज अलंकार १८ होते हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, विव्वोक, किलकिचित्, मोट्टाइट, कुट्टमित, ललित, मद, विहृत, तपन, सौम्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इन अठारहों में से प्रथम दस को हिन्दी वाले हाव कहते हैं, किन्तु संस्कृत ग्रन्थों के अनुसार यह स्पष्ट है कि हाव अंगज अलंकार होने से इन दस स्वभावज अलंकारों से भिन्न हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में स्त्रियों के स्वभावज अलंकार केवल ये ही दस गिनाये गये हैं। इसी परम्परा के आधार पर रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने उन्हें हाव नाम से घोषित किया है। उन्होंने हाव का लक्षण स्त्रियों की शृंगार-चेष्टा माना है—“नारीणां शृंगार-चेष्टा हावः”। परन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार भाव, हाव और हेला की परिभाषा है कि जन्म से निर्विकार चित्त में जो सबसे पहले विकार हो उसे भाव कहते हैं। भौह अथवा नेत्रादि के विकार द्वारा संभोग-विलास को अल्प रूप में व्यक्त करने वाले विकार को हाव कहते हैं। मनोविकार जब स्पष्ट रूप में हो जाय तब उसे हेला कहते हैं। इसीलिये भरतमुनि ने लिखा है कि भाव-हाव तथा हेला क्रमशः एक दूसरे से होते हुए अंगज अलंकार हैं। सत्व से भाव, भाव से हाव और हाव से हेला यह इनका क्रम रहता है। विद्यापति के पदों में हावों का सच्चा विधान दृष्टिगोचर होता है। कुछ उदाहरण देखें :—

(क) अतिधिर नयन अधिर किछु भेल, उरज-उदय-थल लालिम देल ।

चंचल चरन, चित्त चंचल भान, जागल मनसिज मुदित नयान ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ५

(ख) नयनक अंचल चंचल भान, जागिल मनमथ मुदित नयान ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दन सहाय, पृ० २०७

(ग) अंगज हाव के साथ नायिका की शोभा (अयत्नज) :—

चाँद-सार लए मुख घटना कर, लोचन चकित चकोरे ।

अमिय धोय आँचर धनि पोछलि, दह दिसि भेल उँजोरे ॥ इत्यादि

—विद्यापति बेनीपुरी, पद १४

(घ) इस शोभा के साथ विव्वोक (स्वभावज) कैसा फब रहा है :—

माधव दुज्जय मानिन-मानि, विपरित चरित पेखि चकरित भेल ।

न पुछल आधहु बानि ॥ इत्यादि

—वही, पद १४५

यदि यौन-मनोविज्ञान को सामने रखकर विद्यापति के संयोग-शृंगार के पदों को पढ़ा जाय तो कवि की प्रतिभा का आश्चर्यजनक परिचय मिल सकेगा । प्रेम-विह्वलता, लालसा, अतृप्ति, सम्मिलन, सुख की तल्लीनता, और आत्मविस्मृति, विलास और लज्जा लगभग सभी दैहिक और मानसिक परिस्थितियों का वर्णन विद्यापति ने किया है । इन परिस्थितियों के साथ हमारे परिचित-रीति-रिवाजों का सम्मिश्रण इन पदों को और भी सुन्दर बना देता है, जैसे सखियाँ वधू को समझा कर पतिगृह में ले जाती हैं, उधर नायक को भी समझाती हैं कि वह संयम से काम ले । प्रायः सखियाँ वधू से रात की बात पूछती हैं और रति-चिन्हों को दिखा कर उपहास करती हैं । इस वीथिका में देखने से विद्यापति का विलास-केलि-वर्णन-प्रधान काव्य उतना दूषित नहीं जान पड़ेगा, जितना समझा जाता है । जीवन के इस अंग को प्राचीन काव्य (संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश) उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता था, विद्यापति का दोष इतना ही है कि उन्होंने कृष्ण और राधा को (हिन्दी रचना में) विलासी नायक-नायिकाओं का रूप दे दिया जिसने पर-वर्ती काव्य को भी रसिकता से भर दिया । इन पदों में विद्यापति की शृंगार-प्रियता और रसिकता इतने चटकीले रंगों के साथ ऊपर उभरती है कि उसे आध्यात्मिक रूपक, रहस्यवाद या लीलाकाव्य की हलकी ओट में छिपाया नहीं जा सकता । इसी रसिक प्रवृत्ति के कारण विद्यापति ने राधा को अल्पवयसा माना है जिससे उन्हें नायिका की केलि-भीरुता, सखियों का प्रबोध, नायिका की अनुनय-विनय और नायक की उद्दण्डता आदि रसपूर्ण विषय मिल जाँएँ । प्रथम-मिलन की लज्जा, उत्कण्ठा, भय, कातरता आदि मनोवृत्तियों से पुष्ट विद्यापति का यह काव्य भी अपूर्व है और अपने इस क्षेत्र में हमारा कवि संसार के किसी भी कवि का लोहा नहीं मानता । सच तो यह है कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण के मिलन और वियोग को एक खण्डकाव्य का रूप दिया है और जहाँ विप्रलम्भ में सूरदास को छोड़कर हिन्दी का कोई कवि इनके समकक्ष नहीं आता वहाँ संयोग-शृंगार के क्षेत्र में विद्यापति अकेले हैं । रीति-काव्य के सारे कवियों का संयोग-शृंगार-काव्य विद्यापति के सम्भोग-शृंगार-काव्य के सामने छोटा उतराता है ।^१

परन्तु जहाँ मिलने के ये स्थूल वर्णन हैं, जहाँ कवि वासना की गहराइयों, यौनलिप्सा और दैहिक एवं ऐन्द्रिय सुख की अभिव्यक्ति करता है, वहाँ अनेक ऐसे स्थल

भी हैं जिनमें वह इससे ऊपर उठ गया है। ऐसे स्थलों पर यह मिलन मानसिक मिलन का स्थान ले लेता है जो वैष्णवों का अन्तिम ध्येय है :—

आजु रजनि हम भागे पोहायलु, पेखलुं पिया मुख चन्दा ।

जीवन जौवन सफलकरि मानलुं, दसदिस भेल निरदन्दा । इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ७६६

अर्थात्—आज की रात्रि मैंने सौभाग्यपूर्वक बिताई—मैंने प्रियतम का मुख-चन्द्र देखा। जीवन सफल हो गया, दशों दिशाएँ निर्द्वन्द्व-प्रशस्त हो गईं। आज मैंने अपने घर को घर और शरीर को शरीर समझा है। आज विधाता मेरे अनुकूल हुए, सब सन्देह दूर हो गये। मुझे यन्त्रणा देने वाली कोकिल अब भले ही लाख-लाख बार कुहूक करे। लाखों चन्द्रमा उदित हों, मलय-पवन मन्द गति से बहे। जब ये सब मेरे पक्ष में (अनुकूल) होंगे तब ही मैं अपने शरीर को शरीर समझूँगी। विद्यापति कहते हैं कि हे धनि ! तुम्हारे नवीन प्रेम का भाग्य कम नहीं है।

ऐसे स्थल मानसिक मिलन के ही हैं। कहीं-कहीं विद्यापति ने स्वप्न में मिलन चित्रित किया है। मानसिक मिलन और स्वप्न के मिलन में अधिक अन्तर नहीं रह जाता। वस्तुतः स्वप्न को आध्यात्मिक मिलन के रूप में समझा जा सकता है :—

आओल गोकुले नन्दकुमार, आनन्द कोई कहइ जनि पार ।

कि कहब रे सखि रजनिक काज, स्वपनहि हेरलुं नागर-राज ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार पद, ७६२

ऐसे मिलन-उल्लास के चित्रण विद्यापति की कविता के प्राण है। चण्डीदास और सुरदास में वे कहाँ ? इन कवियों में विरह-रस की अनुभूति को ही ध्येय माना, जैसे कि भक्तों का ध्येय भक्ति होती है, परन्तु विद्यापति के लिए विरह साधन है—तप है, जिसका फल है प्रिय-मिलन की सिद्धि। जिस प्रकार विरह की अत्यन्त तीव्र अनुभूति से कवि लौकिक प्रेम की परिधि लाँघ कर अलौकिक का स्पर्श करता है, उसी प्रकार पुनर्मिलन के रसावेश में वह दैहिक मिलन से ऊपर उठकर उस भावजगत् का स्पर्श करता है, जहाँ शरीर की दुर्बलताएँ क्षार हो जाती हैं। स्पष्ट ही विद्यापति वयः संघि, स्नान, अभिसार, मान और मान-भंग जैसे प्रसंगों में मिलन के अवसर पर लौकिक और शृंगारिक हैं, तो विरह और विरहोपरान्त मानसिक मिलन में अलौकिक हैं।

विविध विषय

भक्ति—विद्यापति शैव थे, पर उन्होंने वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों के प्रति कहीं भी अनुदारता प्रदर्शित नहीं की, प्रत्युत भक्ति के जिस उन्मेष में उन्होंने शिव की स्तुति की है, उसी उन्मेष में शक्ति और विष्णु के अवतार राधा और कृष्ण की भी। उन्होंने प्रत्यक्ष देव या देवी-रूप से स्वीकृत प्राकृतिक विभूतियों की भी वैसे ही आवेश में स्तुति की जैसे सरस्वती, गंगादि की। विहार के निवासियों में धार्मिक कट्टरता वैसे

भी कम देखी जाती है। मिथिला-वासी अधिकतर शाक्त होते हैं परन्तु उनकी वृत्ति विष्णु और शिव के सम्बन्ध में उदार होती है। बिहार में ही नहीं उसके पश्चिम अवध या उत्तर प्रदेश में भी ऐसी कट्टरता नहीं दिखाई देती। वस्तुतः उत्तरापथ में पुराणों के प्रसार से इस प्रकार की कट्टरता का लोप हो गया। गोस्वामी तुलसीदास भी इसके प्रमाण में रखे जा सकते हैं। वैष्णव होते हुए भी उन्होंने शिव-महिमा रामचरित-मानस में गाई है। विद्यापति इसी प्रकार शैव होते हुए भी स्मार्त थे।

विद्यापति ने अपनी भिन्न-भिन्न रचनाओं में भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति की है और उनका प्रकार भी मिलता-जुलता है। यदि मंगलाचरणों को लेकर उन के उपास्य देवों के नामानुसार किसी सम्प्रदाय विशेष का निश्चय किया जाए, तो वे शैव सर्वस्वसार के अनुसार शैव, दुर्गाभक्तितरंगिणी के अनुसार शाक्त और पदावली के अनुसार वैष्णव जान पड़ेंगे। तथ्य यह है कि शैव होते हुए भी ये अन्य देवों के प्रति उदार थे। सूरदास की भाँति साम्प्रदायिकता इनमें न थी।

विद्यापति की रचना में शृंगारिक कविता अधिक है। इन्होंने अधिकांश समय शृंगारिक कविता-रचना में लगाया है। अपनी ढलती अवस्था में कुछ रचना भक्ति के सम्बन्ध में अवश्य की है। इन्हें देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि इन पदों में इनके हृदय का वैसा योग नहीं था जैसा शृंगारिक पदों में पाया जाता है। जिस प्रकार शृंगारिक पदों का बंधन तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतर से तीव्रतम होता हुआ चलता है वसी बात भक्ति-विषयक पदों में नहीं पाई जाती। यहाँ तक कि स्तुति का भी वह विधान नहीं है जो भक्ति-कवियों में अपने आराध्य देव की रूप-प्रतिष्ठा के लिये रखा करता है। इस पदावली में शंकर की स्तुति परक केवल एक पद है, उस में भी रूप-विधान का वैसा प्रयास नहीं है। कवि की दृष्टि जितनी वैलक्षण्य की ओर है उतनी रूप की प्रतिष्ठा पर नहीं—

जय जय संकर जय जय त्रिपुरारि, जय अध पुरुष जयति अध नारि।

आध-धवल तनु आधा गोरा, आधा सहज कुच आध कटोरा ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ४८३

यह चमत्कारमूला स्तुति खटकती नहीं, क्योंकि यह उन अर्द्धनारी-नटेश्वर की है, जिनकी बरात के कौतुक से देवताओं के वाहन सम्हाले नहीं सम्भलते थे। परम्परा-नुसार विद्यापति ने अपने आराध्य देव की लीला का वर्णन किया है। परन्तु इसमें भी उनकी वृत्ति जमी नहीं। कुल चार-छः पदों से काम निकाला है। कुछ भी हो, पर इनकी महेश वाणियों का समादर मिथिला में आज भी है। इन वाणियों को मिथिला-वासी सदाचार के विचार से अपनी कन्याओं को सिखाते हैं जिससे वे शिव-गौरी की शुद्ध भक्ति को ग्रहण करें और स्वयं गौरीवत् आचरण का अभ्यास डालें। एक महेश वाणी-पद देखें—

कतए गेला मोर बुढवा जती, पीसल भांग रहल सेइ गती।

आन दिन निकहि रहयि मोर पती। आज लगाइ देल कओन उदमती ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ४७०

भक्ति का उज्ज्वल रूप वहाँ दृष्टिगोचर होता है, जहाँ भक्त एक और तो अपने आराध्य देव के महत्त्व का और दूसरी ओर अपने लघुत्व का अनुभव करने लगता है। उस स्थिति में ही उसका आत्मशोधन होता है। जब कोई भक्त अपने आराध्य देव में अनन्त शक्ति और सामर्थ्य के दर्शन पाता है तब उसे अपनी दीनता और असमर्थता का भान होता है। तब उसके हृदय का अहं गिर जाता है। फलतः वह आत्म-समर्पण के लिए उत्सुक होता है। अपने दोषों का आराध्य देव के सन्मुख सविस्तार वर्णन करता है। आराध्य के महत्त्व एवं स्वकीय दैन्य-दोष-वर्णन में वह आनन्द का अनुभव करने लगता है। विद्यापति-पदावली में इस अवस्था के भी पद मिलते हैं—

हर जनि बिसरब मोर ममिता, हम नर अधम परम पतिता ।

तुअसन अधम उधार न दोसर । हम सन जगत नहीं पतिता ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ४७४

शिव-भक्त होते हुए भी विद्यापति अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी बड़े उदार थे। उन्होंने राधा-कृष्ण तथा दुर्गा की स्तुति पदावली के आरम्भ में ही की। इसके अतिरिक्त उन्होंने गंगा, विष्णु, ब्रह्मा, जानकी आदि का स्तवन भी बड़ी भावुकता से किया है। निम्न पद से अनेक देवों की समवेत स्तुति विषयक भक्ति के समन्वय-सिद्धान्त की झलक मिल सकती है—

भलहरि भलहर भलतुअ कला, खन पितवसन खनहि बघछला ।

खन पंचानन खन भुजचारी, खन सिव संकर खन देव मुरारी ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ४८०

वृद्धावस्था में विद्यापति का हृदय पूर्णतः विराग से भरा था इसकी सूचना भी इनकी पदावली से मिलती है—

तातल सैकत बारि बिन्दु समसुत मित रमनि समाजे ।

तोहे बिसरि मन ताहि समर्पल अब मोहि हब कअन काजे ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृ० ४९१

सब बात तो यह है कि विद्यापति उन भक्त कवियों में न थे जो वैराग्य धारण कर भगवान् के गुणगान में ही रत रहते हैं। ये वस्तुतः रसिक कवि थे और समय-समय पर भक्ति के उन्मेष में भी कुछ रचनाएँ कर दिया करते थे। वस्तुतः ये श्रृंगार की उसी अक्षण्ड परस्पर के कवि थे, जिसमें आगे चलकर बिहारीलाल, पद्माकर आदि श्रृंगारी कवि दिखाई देते हैं। यही कारण है कि विद्यापति ने किसी सम्प्रदाय विशेष का बखेड़ा न खड़ा कर थोड़ी-बहुत सब देवी-देवताओं की स्तुति की।

आश्रयदाता-प्रशस्ति

विद्यापति ने मिथिला के राजदरबारों में रहकर जीवन व्यतीत किया। दरबारी कवियों को अपने आश्रयदाता महाराज का यशपात करना ही पड़ता है। विशेषकर

उनके लिये सम्बद्ध राजाओं-रानियों की वीरता, धीरता, दानशीलता, राजदरबारी शान-शोभा आदि का वर्णन आवश्यक हो जाता है। विद्यापति उसके अपवाद नहीं कहे जा सकते। इन्होंने महाराज शिवसिंह तथा उनकी मुख्य रानी लखिमा देवी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यवन सेना से आक्रान्त महाराज शिवसिंह के शौर्य का वर्णन विद्यापति ने इस प्रकार किया—

दूर दुग्गम दमसिभंजेश्रो, गाढ़ गढ़ गूढिय गजेश्रो ।

पातसाह ससीम (सलीम) सीमा, समर दरसओ रे ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २५८

विद्यापति ने यहाँ शिवसिंह के उग्र भाव का वर्णन अवश्य किया, परन्तु इसमें उनकी वृत्ति रमी नहीं। वे वस्तुतः कोमल भावों के कवि थे। अतः जब उत्साह, क्रोध आदि को व्यक्त करने के लिए मुक्तकगीत लिखने को ये प्रवृत्त हुए तो उनमें वैसे ओज के दर्शन नहीं होते, जैसा कि उनमें होना अपेक्षित है। उपर्युक्त विद्यापति के पद में दो-चार स्थानों पर द्वित्व-अक्षरों के प्रयोग से ओजस्विता लाने का प्रयत्न लक्षित होता है। परन्तु प्रयत्न में सहजता कहाँ? शिवसिंह के युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त उन की रूप-प्रशंसा के पद भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त जिन अनेक राजाओं का संरक्षण इन्हें प्राप्त हुआ उनकी प्रशंसा में भी इन्होंने पद लिखे या लिखकर उन्हें समर्पित किये अथवा उनके परितोष के लिये उनके सम्मुख गान किया—

(क) देवसिंह नृप नागर रे, हासिनि देइ कंत ।

(ख) राय शिवसिंह रूप नारायन, लखिमा देई रमान ।

(ग) मिलु रति मदन समाजा, देवल देवि लखनदेव राजा ।

(घ) राओ भोगीसर सब गुनआगर, पद्मा देइ रमान रे ।

राजाओं के अतिरिक्त विद्यापति ने राजमंत्रियों की प्रशंसा में भी कुछ पद लिखे। इससे यह समझा जाना चाहिये कि विद्यापति ने शिष्टाचारवश ही इस प्रकार की प्रशस्तियाँ लिखीं। इनसे उनकी भट्टवृत्ति प्रमाणित नहीं की जा सकती। एक अन्य बात यहाँ ध्यान देने की यह है कि विद्यापति ने इन प्रशस्तियों में रीति-कालीन कवि केशवदास की भाँति व्यर्थ का चमत्कार-प्रदर्शन करके आश्रयदाताओं को रिझाने वाला दरबारी रंग-ढंग नहीं रखा है। इसीलिये प्रशस्तियाँ होते हुए भी विद्यापति की ये उक्तियाँ अधिकतर संयत एवं प्रभावपूर्ण बन पड़ी हैं।

दृष्टकूट, अलंकार-योजना और अप्रस्तुत-विधान

दृष्टकूट :—विद्यापति-पदावली में अनेक चमत्कार सम्बन्धी उक्तियाँ भी हैं। इसके अन्तर्गत उनके कूट-पद-प्रहेलिकाएँ आती हैं। दृष्टकूट-पद-रचना-परम्परा बहुत पहले से ही चली आ रही है। संस्कृत कवियों की भी इस कोटि की स्फुट रचनाएँ बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं। स्पष्ट ही ऐसी रचनाओं का भावोत्कर्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इनका उद्देश्य केवल कवि-कौशल एवं पांडित्य-प्रदर्शन ही है। विद्यापति पंडितों के समाज में रहते थे। ऐसे समाज में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क

का ही अधिक आदर होता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि वे क्लिष्ट रचना की ओर भी भुके। विद्यापति के कूट पदों का मुख्य विषय राधा-सौन्दर्य और प्रेम-विरह-जन्म-कार्य-व्यापार है।

✓ विद्यापति के दृष्टकूट पद प्रायः चार प्रकार के मिलते हैं। प्रथम प्रकार के वे पद हैं, जिनमें कवि उपमा अलंकार का सहारा लेकर उपमानों की स्थापना इस प्रकार से करता है कि वे उपमेय का स्थान भर सकें और एक सुन्दर नारी-चित्र की सृष्टि कर सकें, जैसे—

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे, कतेक जतन बिहि आनि समारल।

देखलि नयन सरुपे।

पल्लव राज चरण-युग शोभित; गति गज राजक भाने।

कनक-कदलि पर सिंह समारल, तापर मेह समाने ॥० इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद २५

इस पद में उपमेयों के स्थानों पर उपमानों की स्थापना करके क्रमशः नख-शिख-वर्णन तो है ही, सारंग पद के श्लेष से कूट को महाकूट (अधिक गूढ़) बनाने की चेष्टा भी स्पष्ट है। इस प्रकार इस पद में कूटपदों की दो शैलियों का मिश्रण हुआ है—एक तो उपमेय के स्थान पर केवल उपमान की स्थापना-परक और दूसरी श्लेष द्वारा गूढ़ताधान-विषयक।

दूसरी प्रकार के वे कूटपद हैं, जिनमें अर्थ-सूत्र सन्दर्भ से गृहीत होता है, और कभी-कभी तो अनेक शब्दों के सन्दर्भों को सही पकड़ पाने पर ही अर्थ-सिद्धि संभव होती है। ऐसे पदों में प्रत्येक पंक्ति का प्रथम संदर्भ-शब्द खूब गूढ़ होता है। उसका रहस्योद्घाटन होने पर क्रमशः अर्थ-परम्परा बोधगम्य हो जाती है, जैसे—

माधव जाइति देखलि पथ रामा, अबला अरुन तारा गन बेइलि।

चिकुर चामर अनुपामा ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद २४०

शब्दार्थ—(अरुन-सिन्दूर-बिन्दु, तारागन=बालों में गुंथे हुए मोती, जलनिधि-सुत=चन्द्रमा, सिखर-बीज=अनार का दाना, कनक-लता=नायिका-देह, सिरी-फल=कुच, अजेआसुतरिपु-वाहन=अजेआ-सुत=बकरा, उसका रिपु दुर्गा, दुर्गा का वाहन=सिंह; सागर=सागर=७ सागर, गरह=गरह=ग्रह-नवग्रह=७+९=१६ सोलह-शृंगार, खगपति=खग=ग्रह-ग्रहपति-चन्द्रमा का तनय-पुत्र बुद्ध का शत्रु सूर्य, सूर्य की पुत्री यमुना)

इस पद का भाव यों समझा जा सकता है—कृष्ण ने राधा को मार्ग में जाते देखा। उसके मस्तक पर सिन्दूर-बिन्दु झलक रहा था, उसे बालों में गुंथे मोतियों ने और बालों के गुच्छों ने घेरा हुआ था। चन्द्रमा-सा सुन्दर उसका मुख था, अनार के दानों-सी दाँतों की पंक्ति। वह सिंह के समान निर्भीक निःशंकगति से चली जा रही थी। वह सोलहों शृंगारों से सज कर प्रेमी से मिलने चली थी। श्रीकृष्ण नायिका की प्रतीक्षा में यमुना की गति के सहस्र धीरे-धीरे विचरण कर रहे थे। जिस तरह

गरुड़ दूर से ही देख लेता है, उसी प्रकार कृष्ण ने राधा को दूर से ही आते देख लिया ।

तीसरी प्रकार के कूटपद विरह-सम्बद्ध हैं । इनमें कुछ शैली की दृष्टि से अपूर्व हैं । केवल विद्यापति-साहित्य में ही उनका प्रयोग मिलता है । इनमें कुछ में गणित के संख्यावाचक शब्दों के ध्वनि-साम्य द्वारा अर्थ-व्यंजना हुई है, कुछ में वर्गा-क्षरों की गिनती बतलाई गई है—उन्हें क्रम से बुद्धि में बिठाने पर शब्द सामने आकर चमत्कृत करता है । कहीं-कहीं इन सबके साथ लाक्षणिक प्रयोग ने और विलक्षणता उपस्थित कर दी, जैसे—

प्रथम एकादस दई पहु गेल, से हो रे वितित मोर कत दिन भेल ।

ऋतु अवतार बयस मोर भेल, तइओ न पहु मोर दरसन देल । इत्यादि ।

—विद्यापति, मित्र मजुमदार, पद ५६०

अर्थात्, प्रभु मुझको प्रथम (क) एकादश (ट) कट=प्रतिश्रुति-वचन-अवधि दे कर गये थे । उसे बीते कितने ही दिन हो गये । अब ऋतु=६ अवतार=१० (६+१०) =१६ वर्ष की मेरी आयु हो गई । तब भी दयित प्रभु ने दर्शन नहीं दिये । सखि अब धर्म-रक्षा न हो पावेगी । दिनों-दिन सदन-वेदना दुगुनी होती जा रही है । चन्द्रमा और सूर्य दोनों ही मुझे असह्य प्रतीत होते हैं । चन्दन अरुचिकर लगता है । विद्यापति कहते हैं, हे गुणवति नारी ! धैर्य धारण कर मुरारि मिलेंगे ।

चौथी प्रकार के वे कूट पद हैं जो सर्वथा एक पहेली-बुझौल-रूप से सामने आते हैं । ऐसे पदों में कवि कूट का सहारा लेकर अश्लील एवं गोप्य बातों को प्रकट करना चाहता है, जैसे—

कुसुमित कानन कुंज बसी, नयनक काजर घोर मसी ।

नखतं लिखलि नलिनि दल पात, लीखि पठाओल आखर सात । इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ३२८

इस पद में यह तो स्पष्ट ही है कि कवि की भावना शृंगार में लीन है । उसकी नायिका अपने ऋतुमती होने का सन्देश भेजने से भी नहीं चूकती । दूसरी बात यह है कि कवि इन कूटों को बुधजन के प्रति सम्बोधित करता है । इस पद में कवि का कथन है कि वन कुसुमित हो गया । कुंज में बैठकर विरहिणी नायिका नेत्रों के काजल की स्याही बना कर प्रेमी को पत्र लिखती है । कमल-पत्र पर नख से सात अक्षर लिखती है 'कुसुमित कानन' अर्थात् मैं पुष्पवती अथवा ऋतुमती हो गई । पहले लिखा यह पहला बसंत है अर्थात् पहिली बार ऋतुमती हुई हूँ—यौवन का प्रवेश हो गया । फिर यह लिखने जा रही थी कि कामदेव बसंत का अनुज सता रहा है, परन्तु कामदेव भी लिख नहीं पाई, क्योंकि इसका पहिला शब्द ही प्राण ले डालता है । कवि विद्यापति कहते हैं कि बुधजन इसका विशेष अर्थ कह सकेंगे । निश्चय ही इस प्रकार की कविता का आनन्द वर्गविशेष का व्यक्ति ही ले सकता है ।

✓ अलंकार-योजना और अप्रस्तुत विधान—सहृदय पाठक अनुभव करेंगे कि विद्यापति की कविता में हृदय-पक्ष के साथ ही कला का सामंजस्य हुआ है । विद्यापति

न केवल एक भावुक कवि ही थे अपितु एक कलाशास्त्री और रीतिशास्त्र के ज्ञाता भी थे। भाषा को अलंकृत करने का भी उन्हें शौक था। यहाँ यह विचारणीय है कि विद्यापति ने कला पक्ष में भी कुछ मौलिकता दिखाई या प्राचीन परिपाटी का हा अनुसरण किया। विद्यापति ने संस्कृत से अपनी रचना के लिये बहुत कुछ लिया। इसलिये यह स्वाभाविक था कि उन पर संस्कृत-काव्य का प्रभाव पड़ता, किन्तु क्योंकि वे एक स्वभावसिद्ध महान् कलाकार थे अतः प्रत्येक वस्तु-वर्णन में मौलिकता-प्रदर्शन में उन्हें आनन्द आता था। उन्होंने अलंकार-योजना में परम्परासिद्ध प्राचीन उपमानों को लिया है। उनमें मौलिकता का जो समावेश है वही विद्यापति की रचना को अधिक हृदयग्राही बना देता है। जैसे संस्कृत में उरोजों की उपमा कमल से दी जाती रही, किन्तु विद्यापति ने उस कमल को बिना नाल का कह कर उक्ति में और अधिक सौन्दर्य भर दिया—मेरु ऊपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाइ।

इस प्रकार की मौलिकता पदवाली में अनेक स्थलों पर मिलेगी। विद्यापति-कृत प्रमुख अलंकारों (शब्दालंकार-अर्थालंकार) की एक सूची अन्यत्र प्रस्तुत की जा चुकी है। विद्यापति के उपमा सम्बन्धी वर्णनों को देख कर डा० दिनेशचन्द्र सेन ने इन्हें द्वितीय कालिदास कहना उचित समझा। डा० दिनेशचन्द्र सेन का कहना है कि विद्यापति की कवित्व शक्ति ईश्वर-प्रदत्त थी। विद्यापति में ईश्वरीय कृपा के साथ पांडित्य और शिक्षा का मिलन हुआ था। सौन्दर्य के उपभोग के लिये उन्होंने अलंकार-शास्त्र-ज्ञान और ईश्वर-प्रदत्त अलौकिक चक्षु दोनों का ही उपयोग किया था। एक सुन्दर चित्र देख कर उनके मन में अनेक चित्र स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते थे। यही कारण है कि विद्यापति की उपमाओं में इतना सौंदर्य है। विद्यापति ने नायिका की सुन्दर आँखों का वर्णन अनेक प्रकार की उपमाओं के द्वारा किया है—

(१) नीर-निरंजन लोचन राता, सिन्दुर मंडित जनि पंकज पाता।

पानी में स्नान करने के कारण आँखें अंजन-हीन और लाल हो गई हैं, मानों कमल के पत्ते सिन्दुर के रंग में रंगे गये हों।

(२) लोचन जनु थिक भूंग अकार, मधुक मातल उड़यन पार।

दोनों लोचन भौरे के समान हैं जो मुख-कमल का मधु पी कर उन्मत्त होने के कारण उड़ नहीं सकते।

(३) चंचल लोचन बंक नेहारनि, अंजन सोभन ताय।

जनि इन्दीवर पवने ठेलल, अली भरे उलटाय।

आँखें चंचल हैं, साथ-साथ कटाक्ष भी है, फिर अंजन से उनकी शोभा बढ़ती है। पुतली एक कोने में खिसक गई है। मालूम पड़ता है कि वायु ने भौरे को कमल के फूल से ढकेल दिया हो।

उपमा के कुछ अन्य उदाहरण—

(४) कनक लता सन सुन्दरि सजनि गे, बिहि निरमायोल आनि।

(५) गेलि कामिनि गजहु गामिनि।

(६) नील निचोल भूपबी निज देह, जनि धन भीतर दामिनि-रेह।

(७) चिकर-निकर तम-सम, पुनु आनन पुनिम-ससी।

(८) कुच-जुग चारु चकेवा ।

(९) वदन पोछन परचूरे, माजि धयल जनि कनक-मुकुरे ।

(१०) पलटि बैसाओलि कनक-कटोरा ।

जिस प्रकार साधारण तृण-पल्लव से उत्कृष्ट औषधि का आविष्कार किया जाता है उसी प्रकार विद्यापति ने भी चराचर दृश्य जगत् से सौंदर्य का आविष्कार किया था । भारतवर्ष में उपमा के यश के लिये कालिदास का एकाधिपत्य है । यदि कवि संसार को आपत्ति नहीं हो कि इसमें कालिदास के अतिरिक्त किसी दूसरे कवि को भी थोड़ा हिस्सा मिले तो इस अवसर पर विद्यापति का नाम लेना अर्थात् विद्यापति को भारतवर्ष में उसका द्वितीय सिद्ध-हस्त कवि कहना असंगत नहीं होगा—(बंग भाषा और साहित्य) ।

पदावली गत नारी सौंदर्य के उद्घाटन में विद्यापति ने जिन परम्परागत एवं नवीन उपमाओं का प्रयोग किया है उनको इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

✓(क) मुख—कनक-मुकुर, चन्द्रमा, कमल-चन्द्रमा का प्रयोग नये ढंग से हुआ है—देखें कनक मुकुर शशि कमल जिनिय मुख, अपरूप पेखलि रामा ।

✓(ख) अधर, बिम्बफल, प्रवाल, मधुरि फल बन्धुक या बांधुलि—दुपहरिया का फूल, राग, विद्रुम—पल्लव से उपमित हुए, देखें—

जिनि बिम्ब अधर प्रवाले, मुख रुचि मनोहर अधर सुरंग ।

फूल बांधुलि कमलक संग, अधर राग विद्रुम तरु पल्लव ।

(ग) दशन—दाड़िम-बिजु करक-बीज, मुक्ता, कुन्द, गजमोति-पाति, मणि से, देखें—
दसन दाड़िम बिजु, दसन मुक्ता पाति,
दसन मुक्ता जिमि कुन्द, करक बिज, पाति पइसल गजमोति रे ।

(घ) नयन—सारंग, हरिण, चकोर, कुरंगिनी, नलनि, सफरि, मधुकर, भूंगि, खंजन, जोति, भूंग, काजल साजरमदनधनु, कमल, नवजलधर, कुवलय से देखें :—
सारंग नयन । नलनि चकोर सफरि वर मधुकर, भूंगि, खंजन
जिमि ओख । एक कमल दुइ जोति रे । लोचन युगल भूंग आकार ।
काजल साजर मदन धनु । करि उपरि कुरंगिनि देखलि ।

(ङ) केश—कबरी-राहु, फणि, भूंग, शैवाल, चमरी मृग, तम, जलधर, यमुना से उपमित हुए । बन्धी बेणी की उपमा मदन-साटी (चाबुक) से दी गई, देखें—
राहु दूर बसु नियरे न आवथि, भ्रमर उपर फणि, जलधर तिमिर चासरजिमि,
कुन्तल अलक भूंग शैवाल, आइलि निकट बाटे छुअलि मदन सांटे ।

(च) सिन्दूर—सूर्य से, देखें—रवि ससि उगथिक पासे ।

(छ) वाणी—कोकिला (सारंग) से देखें—वचन पुनि सारंग ।

(ज) ललाट और ललाटस्थ कुन्तल—क्रमशः कमल (सारंग) और भ्रमर (सारंग),

जलधर, तिमिर चामर, से, देखें—

सारंग उपर उगल दुइ सारंग, जलधर तिमिर चामर जिमि कुन्तल ।

(झ) शरीर—स्वर्ण-दर्पण से, देखें—माजिल घयल जनु कनक मुकूर ।

(ञ) कटि के ऊपर का शरीर—मेरु से देखें—मेरु उपर दुइ कमल फुलायल ।

(ट) शरीर—यष्टि-कनकजता, तड़ित दण्ड, हेम मंजरी, बिजली-रेह, द्रोणलता से, देखें—अमल तड़ित दण्ड त हेम मंजरी जिम अति सुन्दर देह, कनकलता अवलम्बन ऊयल, ससन परस खसु अम्बर रे देखल घनि देह, नवजलधर करे संचर रे जनि बिजुरी रेह ।

(ठ) नासिका—कीर, तिलफुल, खगपति-चंचु से देखें—कीर उपर कुरगिनि देखल, नासा तिल फुल गरुड चंचु जिमि ।

(ड) भ्रू—लता, धनु, भ्रमर, भुजंगिनी, अर्द्धचन्द्र, कमान, मदन-चाप से, देखें—भौं लता धनु भ्रमर भुजंगिनी जिमि आध विधुवर भाले, काजल साजर मदन धनु, मदन जोड़ल काजर धनु ।

(ढ) कण्ठ—शंख (कम्बु) से, देखें—काम कम्बु भरि कनक शम्भु परि ढारत सुरसरि धारा ।

(ण) कपोल—जल बिना अरविन्द, द्वितीया के चन्द्रमा से, देखें—
एक असंभव आउर देखलि जल बिन अरविन्दा, बिबि सरोरुह उपर देखलि जइ-
सन द्वितिय चन्दा ।

(त) नेत्र-पट—मधुकर-पंख से, देखें—
सहजहि आनन सुन्दर रे भौंह सुरेखलि आंखि, पंकज मधु-पिबि मधुकर रे उड़ए
पसारल पांखि ।

(थ) काजर की रेखा—कालीसांपिन से, देखें—
सुन्दर वदन चारु अरु लोचन काजर रंजित भेला ।
कनक-कमल मांभ काल भुजंगिनि श्री युत खंजन खेला ।

(द) कटाक्ष—मदन सर से, देखें—
तिन बाण मदन तेजल तिन भुवने अवधि रहल दग्नो बाने,
विधि बड़ दारुन बधए रसिक जन सोंपल तोहर नयाने ।

(ध) भुजा और बेडित भुजाएँ—मृणाल और चम्पक दामसे, देखें—
भुज भय पंक मृणालनुकाएल,
जोरि भुज जुग मोरि बेढल ततहि बदन सुखन्द,
दाम-चम्पक काम पूजल जइसे सारद चन्द ।

(न) हथेली—किसलय से, देखें—कर-भय किसलय काँपे ।

(प) पयोधर (स्तन)—कमल, चकोर, श्रीफल, बिल्व, हेमकलस, गिरि, उलटा कनक कटोरा, कमल कोरक, घट, अनार, शम्भु, कंचनगिरि, मेरु, बदरि, नारंगी, बड़ा नीबू, बीजकपोर, कनक महेश, सुमेरु, उज्ज्वल स्वर्ण, कनक कमल, चक्रवाक, कुम्भ से उपमित हुए, देखें—मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल, जुगल सैल-सिम हिम-
कर देखल एक कमल दुइ जोति रे, कुच युग चारु चक्रेषा, काम कम्बु भरि

कनक-सम्भु परि ढारत सुरसरि धारा, कुच-भय कमल कोरक जल मुदित रह
घट परवेश हुतासे, दाड़िम सिरिफल गगन वास करु सम्भु गरल करु आसे ।

(फ) लोमलता—शैवल, कज्जल, भुजगि, यमुना से देखें—लोम लतावलि शैवल
कज्जल त्रिबलि तरंगिनि रंगा; नाभि-विवर सयं लोम लतावलि भुजगि निसास-
पियासा; सामर लोमलता कालिन्दी हारा सुरसरि धारा ।

(ब) कटि—डमरू-सिंह से, देखें—डमरू सिंह जिनि माझा ।

(भ) नितम्ब—गजकुम्भ से, देखें—नितम्ब जिनिअ गजकुम्भा ।

(म) जंघा—कनक कदलि, कदलि, करिवर-कर, विपरित कनक-कदलि से देखें—
विपरित कनक-कदलि-तर सोभित थल-पंकज के रूप रे ।

(य) गति—करिवर, राजहंस से देखें—

करिवर-राजहंस-गति गामिनि चललि संकेत गेहा ।

(र) पदतल—पल्लव राज, स्थल पंकज से देखें—नयनक नीर चरनतल गेल थलक
कमल अम्भोरुह भेल, पल्लवराज चरन जुग शोभित गति गजराजक भाने ।

(ल) पद-नख—चांदक माला, दाड़िम बिजु, इन्दु, रतन से, देखें—नख दाड़िम बिजु
इन्दु रतन जिनि ।

(व) रूप—मधु से, देखें—मधुकर पिवि पिवि मातल सिसिरे भीजल पांखि ।

(श) तन—गन्ध-परिमल से, देखें—तन-सुगन्ध-मधुर परिमल वास ।

इन उपमानों के भीतर विद्यापति की अनुपमा नायिका का जो रूप भलकता
है वह इस प्रकार है—उसका रंग सुनहरा-गौर या उज्ज्वल, शरीर पुष्ट, कटि क्षीण,
नितम्ब गुरु, पयोधर वयः क्रमानुसार उठते हुए, केश काले-लम्बे हैं । वह नील वसन
और हार धारण करती है । बिलकुल इन्हीं उपमानों के आधार पर 'ए सखि पेखलि
एक अपरूप' इत्यादि पद में विद्यापति ने नायक के अनुपम रूप की भाँकी दी है ।

✓ विद्यापति का सर्वप्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है, उपमा उसके बाद आती है ।
रूढिगत अप्रस्तुतों के साथ-साथ नवीन उद्भावनाएँ रहती हैं इसीलिये प्रयोग में ताजगी
दृष्टिगोचर होती है—कुँचों के उपमानरूप से कमल रूढ़ है, परन्तु विद्यापति के लिये
नायिका के वे कुच ऐसे कमल हैं जो बिना नाल के खिले हुए हैं, कवि ने उत्प्रेक्षा की—
नायिका के कण्ठ में जो हार सुरसरि-धार है तो मानों गंगा-जल में पड़े रहने के कारण
ही ये कमल सूख नहीं पाते—

✓ मेर ऊपर दुइ कमल फुलायल, नाल बिना रुचि पाई ।

मनि-मय हार धारबहु सुरसरि, तओ नहि कमल सुखाई ।

उपमान या अप्रस्तुत में जितना प्रतीकत्व होता है उतना ही वह काव्योचित
होता है । सादृश्य का आधार रखने वाले अप्रस्तुतों में वैसी प्रभावविष्णुता नहीं देखी
जाती । अतः वास्तविक या संभावित दृश्य उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत चाहे भले खींच लिये
जाएँ, परन्तु असंभावित दृश्य को उपमा के क्षेत्र में घसीटना समुचित नहीं, विद्या-
पति ने इस भेद का पदावली में बराबर ध्यान रखा है—

✓ (क) उरहि अंचल भाँपि चंचल, आध-पयोधर हेर ।

पौन पराभव सरद-धन जनि, बेकत कएल सुमेर ।

— विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३२

✓(ख) कर-जुग पिहित पयोधर अंचल, चंचल देखि चित भेला ।
 हेम कमल जनि अरुजित चंचल, मिहिर-तरे निन्द गेला ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३४

रस-प्रवण होने पर जब कवि की विधायिका कल्पना प्रबुद्ध हो उठती है तो वह अपने विभाव-विधान के लिये जो कुछ न कह डाले वही थोड़ा है। यही कारण है कि सूरदास जैसे कवि भी जहाँ विभाव-विधान करने लगे हैं वहाँ उसे स्पष्ट करने के लिये उन्होंने अप्रस्तुतों का ढेर लगा दिया है। फलतः पाठक का ध्यान वर्ण्य विषय से दूर हट जाता है। परन्तु विद्यापति के अप्रस्तुत विधान में यह विशेषता दृग्गत होती है कि वे प्रायः एक प्रस्तुत के लिये एक ही अप्रस्तुत लाते हैं। इनके अप्रस्तुत-व्यापार भी ऐसे नहीं हुए हैं जो प्रस्तुत-व्यापार के विरुद्ध भावना उद्दीप्त करें, प्रत्युत वे भावना को सम्यक् रूप देने में समर्थ रहे हैं।

सामान्यता यदि कवियों के अलंकार-विधान पर ध्यान दिया जाये तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि अधिकांश अलंकारों का आधार साम्य है। साम्य का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये कभी सदृश-शब्दों या कभी सदृश-वाक्यों को ही लेकर अलंकारों की योजना कर ली जाती है। पर इस प्रकार के अलंकारों का काव्य में विशेष महत्त्व नहीं है। निश्चय ही इनके द्वारा काव्य में एक चमत्कार आ जाता है जिससे चमत्कृत होकर हम कवि-कारीगरी पर थोड़ी-बहुत देर के लिये मुग्ध हो जाते हैं और हमारे हृदय तज्जन्य आनन्दानुभूति के उद्रेक से युक्त हो जाते हैं। पर वह न तो गम्भीर होता है और न स्थायी। किन्तु जो अलंकार-विधान स्वरूप तथा धर्म के साम्य को लेकर चलता है वह अवश्य बड़ा काव्योचित होता है। यहाँ यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि कविता का लक्ष्य केवल वस्तु-बोध कराना ही नहीं है वरन् भावोत्कर्ष कराना है। अतः यदि साम्य किसी वस्तु की मात्र जानकारी के लिये न होकर भावना विशेष को जगाने वाला हुआ तो उस साम्य का मूल्य काव्य में बढ़ जाता है। सारांश यह हुआ कि भावों का उत्कर्ष दिखाने वाले और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की सहायता न पहुँचती हो तो वे काव्यालंकार नहीं, बोल मात्र हैं। इस कसौटी पर कसने से विद्यापति खरे उतरते हैं। उन्होंने भावों की उत्कर्ष-व्यंजना की सहायता के लिये शुद्धापह्नुति, हेतु उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति, विभावना, रूपक, और उपमा का प्रयोग किया है। रूप का अनुभव तीव्र कराने के लिये रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति, निदर्शना की सहायता ली है। ललितोपमा, तुल्ययोगिता तथा रूपक द्वारा क्रिया का अनुभव तीव्र कराया गया है। गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिये व्यतिरेक, सन्देह और भ्रम से काम लिया गया है। परन्तु इसमें प्रधानता उत्प्रेक्षा की है। उत्प्रेक्षा का दृष्टान्त देखें :—

ससन-परस खसु अम्बर रे, देखल धनि देह ।

मव जलधर-तर संचर रे, जनि बिजुरि-रेह ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २६

विद्यापति-पदावली में विविध उत्प्रेक्षाएँ नायिका की सौन्दर्यानुभूति को तीव्रतर करने की दृष्टि से की गई हैं, मात्र क्रीड़ा उनका उद्देश्य नहीं है। ऐसी उक्तियों को नायक की स्वगतोक्ति समझा जावेगा। इन उक्तियों से नायक के प्रेम-भाव की व्यंजना तो होती है, साथ में ये उक्तियाँ उस भाव के उत्कर्ष में सहायिका भी हैं। विद्यापति कृत रूपोत्कर्ष की व्यंजना के लिए गम्योत्प्रेक्षा का दृष्टान्त देखें :—

सहजहि आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आंखि ।

पंकज-मधु पिबि मधुकर रे, उड़ए पसारल पांखि ॥० इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३३

विद्यापति-कृत निम्न रूपकातिशयोक्ति भी सूरदास कृत रूपकातिशयोक्ति की तरह भद्दी पहेली न होकर रूप के उत्कर्ष में सहायता देती है :—

माधव की कहव सुन्दरि रूपे, कतेक जतन विहि आनि समारल ।

देखल नयन सरूपे ॥ इत्यादि

—वही, पद १२

यह रूपक, उपमा, यमक, रूपकातिशयोक्ति की अद्भुत संसृष्टि सूरदास-कृत “अद्भुत एक अनूपम बाग” से अद्भुत तो है ही, साथ ही यह उससे डेढ़-सौ वर्ष पुरानी भी है। इसके अध्ययन से मात्र कुतूहल का उन्मेष नहीं होता, वरन् उस वैचित्र्य की अनुभूति उद्बुद्धा होती है जो नवीन वयस को देखकर हुआ करती है। निस्सन्देह यहाँ समस्त उपमान परम्पराभुवत हैं, पर वे निश्चय ही ऐसे हैं जो रूप, रंग और आकार-साम्य से सौन्दर्य की भावना तीव्र करते हैं। विद्यापति-कृत अपहनुति का दृष्टान्त देखें :—

कत न बेतन मोहि देसि मदना, हर नहि बला मोहि जुवति जना ।

विभुति भूषण नहि चानन क रेनू, बधछालनहि मोरा नेतक बसनू ॥ इत्यादि

—वही, पद ४२

निश्चय ही इस पद-रचना के समय “हृदि विषलता हारोनायं भुजंगम नायकः” इत्यादि गीत-गोविन्द का पद और “जटा नेयं बेणी कृतकचकलापो न गरलं, गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम् । इयं भूतिनगि प्रियविरह जन्मा धवलमा । पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर ! कि मां व्यथयसि ।” जैसी प्राचीन संस्कृत उक्तियाँ विद्यापति के सम्मुख रहीं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि कवि ने जहाँ एक ओर रसिक पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से चमत्कार मूलक अलंकार का प्रयोग किया है, वहाँ दूसरी ओर विरहिणी की भाव-व्यंजना की है। वियोग में उसे चन्दन विभूति (भस्म) के समान, नित्य धारण किये जाने वाले वस्त्र चर्मवत्, सिर के बाल जटा-जूट से, सिन्दूर-बिन्दु आग की चिंगारी के समान प्रतीत होता है। स्पष्ट ही कवि का यह अप्रस्तुत विधान भावमूलक है और विरह-वेदना-संगत है।

विद्यापति ने अधिकतर साम्य मूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। उन्होंने वर्य विषय के प्रति उत्पन्न होने वाले भाव और साम्य के लिये लाये गये अप्रस्तुत

के द्वारा जागृत होने वाले भाव के एकत्व का बराबर ध्यान रखा है। यही बात वस्तु के रूप, गुण, क्रिया आदि के उत्कर्ष के सम्बन्ध में कही जा सकती है। विद्यापति ने चमत्कार के लिए दृष्टकूट सम्बन्धी कुछ स्फुट पदों को छोड़कर और कहीं भी अलंकारों की भेदी (खटकने वाली) योजना नहीं की। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि विद्यापति में वह सच्ची कवि-कल्पना है जो भावोद्रेक द्वारा परिचालित होकर भाव में पुष्टि की आधायिका है। बिना किसी भाव में लीन हुए उसे मात्र अनोखे रूप-दर्शन का शौक नहीं है।

कुरीति-व्यंग्य

जन-समाज में प्रचलित गीतों में अनेक मार्मिक प्रसंगों की व्यंजना हुई है। अनेक गीत बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनुपयुक्त-वर आदि के कारण रोने-कलपने वाली तरुणियों के विलाप और रोदन से भरे होंगे। लोक-प्रचलित गीतों में नायिका भेदादि शास्त्रीय तत्व नहीं, वहाँ तो गार्हस्थ्य-जीवन का हास-विलास, रोदन आदि ही विशेष मिलता है। विद्यापति-कृत शिव-गौरी के विवाह सम्बन्धी पदों में वृद्ध-तरुणी के विवाह में बिचोलिये नारद बांभन की दाढ़ी खिंचवाने को उतारू है मेनका (गौरी-माता) उसे यह नाता नहीं पसन्द आया :—

हम नहि आज रहब यहि आंगन, जो बुढ़ होएत जमाई गे माई ।

एक त बइरि भेला बीध विधाता, दोसर धिया कर बाप ।

ते सरे बइरि भेल नारद बांभन, ज बुढ़ आनल जमाई, गे माई ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २३५

गार्हस्थ्य जीवन के हास-विलास एवं रोदन से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पद इनकी पदावली से उद्धृत किये जा सकते हैं। यहाँ विद्यापति-कृत बाल-विवाह सम्बन्धी एक मार्मिक पद पर ध्यान केन्द्रित करें :—

पिया मोर बालक हम तरुनि, कोन तप चुकलौह भेलौह जननी ।

पहिर लेल सखि एक दखिनक चीर, पिया के देखैत मोर दगथ सरीर ॥ इत्यादि

—वही, पद २६३

अर्थात्—हे सखि ! मेरा जीवन व्यर्थ ही समझ, क्योंकि मैं तो पूर्ण वयस्क या पूर्ण यौवना रमणी हूँ, परन्तु मेरा पति अभी अबोध बालक ही है। न जाने पिछले जन्म की तपस्या में मुझ से क्या भूल हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप यह नारी जन्म मिला। हे सखि, पहनने के लिये तो मैंने दक्षिण दिशा का बना हुआ (महीन) वस्त्र पहन लिया है किन्तु अपने अल्प वयस्क पति को देखकर मेरा शरीर दग्ध हो उठता है—मेरी सब साज-सज्जा व्यर्थ है। क्या बताऊँ, एक दिन जब मैं पति को गोद में लिये बाजार चली तो लोग पूछने लगे कि यह तुम्हारा कौन होता है ? भला मैं उन्हें क्या बताती, फिर भी कहना ही पड़ा कि यह न तो मेरा देवर है और न छोटा भाई है, भाग्य का लिखा पति है (उस समय का अपना हाल क्या बताऊँ ?)। मैंने पथ पर

जाते पथिक से कहा कि हे पथिक ! तुम मेरे भाई हो, मेरा यह संवाद नहर तक लेते जाओ। मेरे पिता से तुम कहना कि वह दूध देने वाली गाय खरीदे और दूध पिला कर अपने जंवाई को पाल पोस कर बड़ा बनावे। इस पर मानो वहाँ से रुखा उत्तर मिला—“मेरे पास न तो रुपया है और न दूध देने वाली गाय, मैं किस तरह अपने बालक जंवाई को पाल सकूँगा” विद्यापति कहते हैं कि हे ब्रजनारी, धैर्य धारण करो तुम्हें मुरारि (कन्हैया—पति रूप से) प्राप्त होंगे। ✓

रीति-कालीन कवियों के सामान्य विवेच्य

रीतिकाल की ह्रासोन्मुखता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त हो चुकी थी। इस समय हिन्दुओं और मुसलमानों का बौद्धिक ह्रास बड़ी तेजी से हो रहा था। स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव में पुरानी लीक पीटने के अतिरिक्त उनके पास कोई चारा न था। संस्कृत के शीर्षस्थानीय आचार्यों की परम्परा में पण्डितराज जगन्नाथ अन्तिम कड़ी थे। इनके बाद तो संस्कृत साहित्य भी घोर श्रृगारिकता में आकण्ठ मग्न हो गया। चंडीकुचपंचाशिका आदि इनके बाद की रचनाएँ हैं।

कोई अध्येता रीति-कालीन शृंगार-कविता को वर्ण्य-विषय की दृष्टि से विभाजित करे तो उसे उस शृंगार-सरिता में निम्न विविध अन्तर्धाराएँ उपलब्ध होती हैं—नायक-नायिका भेद, संयोग-वियोग-शृंगार, नख-शिल्प वर्णन, राधा-कृष्ण-विलास, श्रुतु वर्णन, चमत्कारप्रियता, प्रशस्ति, अलंकार, भक्ति, सूक्ति-नीति आदि।

नायक-नायिका भेद

विचार परतन्त्रता के कारण रीति-कालीन कवियों ने नायिका-भेद, रस, अलंकार की समस्त सामग्री संस्कृत के आचार्यों से ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली। इन लोगों ने कहीं पर मौलिक उद्भावनाओं का परिचय नहीं दिया। केशवदास और देवदत्त के अतिरिक्त चिन्तामणि, मतिराम, पद्माकर आदि कवियों ने नायिका भेद के लिए भानुदत्त (मैथिल) की रसमंजरी को आधार माना है। केशवदास ने रुद्रभट्ट के शृंगार तिलक से प्रचुर सामग्री ली है। केशवदास से प्रभावित होकर देवदत्त ने भी केशवदास के वर्गीकरण को आंशिक रूप में स्वीकार किया है। केशवदास और देवदत्त ने मुग्धा के चार भेद स्वीकृत किये हैं—नववधु, नवयौवना, नवलअनंगा और लज्जाप्रायरति। रुद्रभट्ट के शृंगार तिलक में मुग्धा भेद इस प्रकार वर्णित है—

मुग्धानववधूस्त्रत्र नवयौवनभूषिता।

नवानंगरहस्यापि लज्जाप्रायरतिर्यथा ॥

शृंगारतिलक काव्यमाला सिरीज १-३५

चिन्तामणि, मतिराम, पद्माकर आदि के नायिका भेद का आदर्श भानुदत्त-कृत रसमंजरी है। भिखारीदास और रसलीन ने परकीया के जो उद्बुद्धा और उद्बोधिता तथा इनके भी अवान्तर भेद किये वे वैज्ञानिक नहीं जँचते। उनकी उद्बुद्धा तो सामान्य परकीया ही है और उद्बोधिता अनूद्धा है जो कि विवाह के बाद स्वकीया

हो जाती है। देवदत्त ने अपने भवानीविलास में नायिकाओं की संख्या तीन सौ चौरासी मानी—भवानीविलास, पृ० ६८।

संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के आचार्यों ने नायिकाओं के वर्गीकरण एवं भेदोपभेद निरूपण में इतना श्रम किया है कि नायिका भेद की विस्तृत सूची को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नायक-भेद प्रायः उपेक्षित ही रहा। संस्कृत के आचार्य भरत, धनंजय, विश्वनाथ आदि के संक्षिप्त नायक-भेद का आधार हिन्दी-कवियों ने ले लिया। इन्होंने नायक के चार भेद माने—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। भानुदत्त की रसमंजरी में पति और उपपति के उपर्युक्त भेद मिलते हैं। वहाँ वैशिक नायक भी उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार का बताया गया है। केशवदास ने वैशिक का उल्लेख नहीं किया। मतिराम-कृत रसराम में वैशिक का उल्लेख तो है किन्तु उसके अवांतर भेद नहीं मिलते। पद्माकर ने भी ऐसा ही किया है।

नायक के रतिभाव को उद्दीप्त करने के कारण सखा को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत रखा गया है। भरत, धनंजय, विश्वनाथ, भानुदत्त की रचनाओं में चार प्रकार के सखाओं का उल्लेख है—पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक। अधिकांश रीतिकालीन आचार्यों ने इनका अनुवाद किया। मतिराम ने इनका उल्लेख नहीं किया। नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत और दशरूपककार धनंजय के समय में नाटक गत नायक के लिये उसके सखा की स्थिति अनिवार्य थी। धीमे-धीमे इनका महत्त्व घटता गया। रीतिकाल तक ये सर्वथा घिस गये। तत्कालीन दरबारों में अधिकांश सिर हिलाने वाले सामन्त नायक तो थे ही, आवश्यकता केवल नायिकाओं की थी। अतः कुछ कवियों ने इस ग्रंथ को छुआ भी नहीं, कुछ ने अपनी सूची पूरी करने के विचार से इन्हें भी परिगणित कर लिया।

नायिका की सहायता को ध्यान में रखते हुए सखी—दूती का विधान चलता था। भरत के नाट्यशास्त्र में स्त्रियों की प्रकृति के अनुसार शिल्पकारिका, नर्तकी, परिचारिका, संचारिका, महत्तरी, बृद्धा, आभक्तिकादि अनेक प्रकार की स्त्रियों का वर्णन मिलता है। अन्तःपुर-वासिनियों में मुंडा का भी उल्लेख है। संभवतः मुंडा धनंजय और विश्वनाथ की लिंगिनी ही है। केशवदास ने नायिका की सहायिकाओं में धाय, नाइन, परोसन, नटी, सालिन, शिल्पिन, सोनारिन, सन्यासिनी और पनहारिनादि का समावेश किया है। इनमें से कुछ सीधे भरत और रुद्रभट्ट से गृहीत हैं और कुछ तत्कालीन समाज की देन हैं। कुछ परिवर्तन के साथ देवदत्त ने भी केशवदास की सहायिकाओं को स्वीकृत किया। मतिराम और पद्माकर ने उत्तमा, मध्यमा और अधमा दूती का उल्लेख करके इस प्रसंग को चलता कर दिया। भिखारीदास ने भी इसे विशेष नहीं लिखा।

दूतियों के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का वह पृष्ठ खुल जाता है जहाँ समाज अंधःपतनोन्मुख रहा। भरत, धनंजय, रुद्रभट्ट के काल में बौद्ध-धर्म का पतन अपनी सीमा का अतिक्रमण कर चुका था। भरत की मुंडा, धनंजय और विश्वनाथ की लिंगिनी तथा रुद्रभट्ट की बाला प्रव्रजिता प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन की

सूत्रधारिकाएँ हो गई थीं। केशवदास और देवदत्त के समय में संन्यासिनी भी दूती का काम करने लग गई थी। देवदत्त ने संन्यासिनी के अतिरिक्त भिक्षुक-वधू का भी उल्लेख किया है। भरत, धनंजय, विश्वनाथ आदि के दृष्टिकोण के मूल में नाट्य-शास्त्र था, परन्तु रीतिकालीन कवियों ने जिस रसिक समाज के लिए रचनाएँ की उन्हें विटों और चेटकों की आवश्यकता न थी, इसीलिए मतिराम ने तो इनका जिक्र तक नहीं किया। परन्तु इन कुलीन रसिकों के घरों में नाइन, बरइन, मालिन, घोड़िन आदि का काम तो लगा ही रहता था। निम्न वर्ग की ये स्त्रियाँ अन्य लोगों के घरों में भी जाया करती थी। अतः इनके द्वारा प्रेम-सन्देश भेजना अधिक सुगम था। उन कुलीन घरों में ये स्त्रियाँ दौत्य-कर्म के साथ-परकीया का भी कार्य करती थीं। उस सामन्तीय ढाँचे में दूत-कर्म इनके जीवन का अंग बन गया था। मुगल घरानों में पेशेवर दूतियों की चर्चा इतिहास में भी मिलती है। इन पेशेवर दूतियों को ही कुटनी नाम से पुकारा जाता था।

अपना हिन्दी-साहित्य नायिका-भेद-काव्य के लिए विशेषतः विख्यात है। सुन्दरियों के जितने भेदोपभेद रीतिकालीन कवियों ने प्रस्तुत किए हैं उतने विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। यहाँ कवियों ने जीवन की एक-एक दशा, भाव एवं परिस्थिति को लेकर नारी के भेदों का आख्यान दो-सौ वर्षों तक किया। जिस कवि ने नायिकाभेद नहीं लिखा वह कवि ही नहीं माना गया, राजदरबारों में उस का स्वागत न हुआ। इन दरबारों में स्त्रियों के रूप-वर्णन विषयक कविता पढ़ी जाती थी। उस पर वाद-विवाद होता था। इन वाद-विवादों के फलस्वरूप नई-नई नायिकाओं को गढ़ा जाता था। उनमें कल्पित भावों और मनोवृत्तियों को थोपा जाता था। विचार-परिवर्तन मात्र से नायिकाओं में भेद उपस्थित किया जाने लगा। एक ही नायिका घण्टे भर में पचासों रंग बदलने लगी। कैसे? विचार सरणी के परिवर्तन-क्रम पर आरुढ़ होकर-वस्त्राभूषण से सुसज्जिता नायिका बैठी है, उसमें प्रियतम से मिलन की आशा के संचार के साथ ही भेद हो गया, निराशा उपस्थित होने पर अन्य भेद, भीतर कुछ झुंझलाहट आ जाने पर एक अन्य भेद और किसी अन्य नायकानु-रक्ता होने पर और भेद हो गया। इस प्रकार कवियों में नायिका के भेद-उपभेद निकाल लाने के प्रसंग में प्रतिद्वन्द्विता छिड़ गई। प्रत्येक अपने को दूसरे से बढ़कर प्रतिभावान एवं मौलिक प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता था। इस आयास विशेष के फलस्वरूप नायिका के इतने भेद सामने आये कि वह एक तमाशा-सा बनकर रह गई। नायक-नायिका के भेदों से युक्त रागी जीवन का क्षेत्र व्यापक रहा और इसमें भक्ति के देवी-देव राधा-कृष्ण भी समा गये।

संयोग-वियोग-शृंगार-धारा का अवगाहन करने पर ज्ञात होता है कि इस युग में संयोग की अपेक्षा वियोग विषयक रचनाएँ अधिक हुई। और इस वियोग का सम्बन्ध अधिकतर नायिकाओं से ही है नायकों से नहीं। नायक की चाह होती है। बेचारी के हृदय को सदा अनंग पुष्प-वर्षा से विद्ध करते हैं। नायिका की तीन विशेषताएँ ही पुनः पुनः उल्लिखित हुई हैं—वह युवती है, वह सुन्दरी है और वह अत्यधिक काम-पीड़िता है। प्रियतम के तनिक आँखों से ओझल होते ही विरहग्नि में जलने

लगी। पड़ोसियों को सख्त जाड़े की रात में भी उसके विरह-ताप के कारण गर्मी लगने लगी। वह बार-बार मूर्च्छिता होने लगी। पिता-श्वसुर व अन्य गुरुजन आदि से वह अपने भाव नहीं छिपा पाती। निर्लज्जता की दौड़ में विरहिणी नायिकाएँ होड़ लगाए हुई हैं। कोई रोती है, कोई कलपती है। कोई विक्षिप्ता हो गई, कोई घर वालों की इज्जत मिट्टी में मिला रही है, कोई प्रियतम का नाम सुनते ही मूर्च्छिता हो जाती है। समस्त रीतिकालीन साहित्य में इसी प्रकार की विरहिणी नारियों का चित्रण हुआ है जो अपनी नारी-सुलभ लज्जा को तिलांजलि दे चुकी हैं। उनका धर्म, कर्म सब कुछ प्रियतम है। वे सब अत्यन्त क्षीण-गात्रा हैं। बिहारीलाल की नायिका तो इतनी क्षीण है कि सांस के साथ ही वह कभी छः हाथ आगे बढ़ जाती है तो कभी सात हाथ पीछे। सच बात यह है कि इन रीतिकालीन नारियों को कभी भी शान्ति नहीं मिली। क्योंकि जब प्रियतम प्रवास में है तब दुःख और जब घर में है तब भी दुःख। कुछ नायिकाएँ इसलिए दुःखी हैं कि प्रियतम विमुख हैं, कुछ इसलिए दुःखी हैं कि प्रियतम अत्यधिक अनुरक्त है और वह एक दिन भी विरक्त नहीं होते। इसी लिये उन्हें प्रणय मान को प्रकाशित करने की आवश्यकता पड़ती है। मतिराम-वर्णित ऐसी नायिका का मनोरम चित्र देखें—

सपनेहुँ मनभावतो करत नहीं अपराध ।

मेरे मन में ही सखी, रही मान की साथ ॥

नायिकाओं के आँसुओं की विचित्र गति है—प्रियतम के निकट रहने पर भी भड़की लगी रहती है और दूर रहने पर भी—

बिन देखे दुःख के चलहि, देखे मुख के जाहि ।

कहौलाल इन हगन के आँसुवा क्यों ठहराहि ॥

रीतिकालीन कवियों द्वारा वर्णित नायकों की दशा बहुत दयनीय है। कोई नायिका के पैरों पड़ रहा है, कोई झिड़कियाँ सुन रहा है, कोई गाली खा रहा है। वर्षिकालीन एक मनोरम संख्या में प्रियतमा और प्रियतम प्रेमालाप कर रहे थे, इतने में नायक के मुँह से किसी अन्या-नायिका का नाम निकल गया। बस, मुसीबत आ गई, नायिका पर वज्र-पात हो गया। बेचारी रोने-बिलखने लगी (देखें, मतिराम ग्रन्थावली पृ० ५५)। भला कोमल हृदय इतनी बड़ी मुसीबत को कैसे सहन करता? आँसुओं की धारा उमड़ पड़ी। बेचारा नायक पैरों पर पड़ा, परन्तु इस झिड़की से उसका दिल दहल उठा—

“ताके पग लागो निसि जाके उर लागे लाल ।

मेरे पग लागी उर आगि न लगाइये ॥”

रीतिकालीन कविता में उल्लिखित ऐसे अनेक नायक हैं जो या तो नायिका के पैरों पड़ रहे हैं या उसके महावर लगा रहे हैं, कुछ वेणी गूँथ रहे हैं, कुछ प्रशंसा में रत हैं तो कुछ सेवा में कर-बद्ध खड़े हैं। इन नायकों में कृष्ण और नायिकाओं में राधा प्रमुख हैं।

राधा-कृष्ण विषयक अन्तर्धारा इस कविता में बहुत बलवती है। इस धारा

की चर्चा करते हुए कृष्ण व राधा के इतिहास को बखानने का समय नहीं, स्थान भी नहीं। परन्तु इतना तो सब पाठक या श्रोता जानते हैं और मानते हैं कि कृष्ण का भारतीय साहित्य में बड़ा महत्त्व रहा है। भारतवर्ष की धर्मप्राण जनता को अनुप्राणित करने वाले महापुरुषों में कृष्ण एक हैं। महाभारत में उनका राजनीतिक और गीता में त्यागी-योगी का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। राधा उन्हीं कृष्ण की प्रेरिका शक्ति है। परन्तु रीतिकाल में दरबारी कवियों ने राधा और कृष्ण की जो छीछालेदर की वह चरम सीमा को पहुँच गई। स्पष्ट भासित होता है कि राधा और कृष्ण की ओर से इन कवियों ने अपनी हार्दिक वासना एवं स्थूल ऐन्द्रियता की अभिव्यक्ति की है। मतिराम और पद्माकर रीतिकाल के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। इनकी रचनाओं से कृष्ण के एक-दो चित्र देखें, बात स्पष्ट हो जावेगी। मतिराम-चित्रित चित्र की भाँकी इस प्रकार है—“कान्हू ने राधा के साथ रात भर रति की, पर उन का मन न भरा। अतः भोर होते ही कान्हू फिर घात में बैठे थे कि राधा किसी प्रकार मिल जाय। दोपहर हुई, कृष्ण कमरे में लेटकर जाल फैलाने लगे, पर सफलता न मिली :—

केल के राति अघाने नहीं, दिन ही में लला पुनि घात लगाई ॥ इत्यादि पद्माकर-अंकित चित्र में कृष्ण और अधिक दुर्दशा-ग्रस्त हुए—

फाग के अभीरन में गहि, गोविन्द लै गई भीतर गोरी।

भाई करी मनकी पद्माकर, ऊपर नाय अबीर की भोरी ॥ इत्यादि

यहाँ बसन्त ऋतु में कृष्ण उधर जा निकले, जहाँ गोपियाँ पहले से ही उनकी घात में बैठी थीं। बस, फिर क्या कहना? कृष्ण पकड़ लिये गये। उनका पीताम्बर छीन लिया गया, अन्य वस्त्र भी न बचे। वे पकड़ कर कमरे के भीतर लाये गये, जहाँ गोपिकाओं ने अपने मन की की—किसी ने कपोलों पर गुलाल रगड़ा, किसी ने घुम्बन लिया और क्या-क्या किया यह अनुमान का विषय है।

सचमुच सामाजिकों की दृष्टि में रीतिकालीन कवियों के कृष्ण और राधा अत्यन्त कामुक, दुराचारी, चरित्रहीन, व्यभिचारी नायक-नायिका हैं। कृष्ण और राधा के स्वरूप की पवित्रता यहाँ अत्यन्त कलुषित है। उनके लेखे राधा-कन्हवाई तो सुमिरन को बहानो मात्र है।

नख-शिख-वर्णन

रीतिकालीन कवियों का यह वर्णन प्राचीन साहित्य की परम्परा का रूढ़-रूप है। संस्कृत कवियों का भी यह प्रिय विषय रहा है। कालिदास-कृत कुमारसंभव में पार्वती का नख-शिख-वर्णन प्रसिद्ध ही है। श्री हर्ष ने अपने नैषधीयचरित्र के दूसरे, सातवें और दसवें सर्ग में दमयन्ती के नख-शिख का विस्तृत वर्णन किया है। संस्कृत के परवर्ती चण्डीशतक, दुर्गाशतक आदि में इस प्रकार के रूप-वर्णन की खूब दुर्गति हुई है। हिन्दी के कवि विद्यापति, सूर, जायसी, तुलसी आदि उत्कृष्ट कवियों ने बड़े उत्साह से नख-शिख वर्णन किया है। रीतिकालीन कवियों ने अपनी नायिकाओं की

रूप-सज्जा सम्बन्धी चिर-प्रयुक्त (घिसे-पिटे) उपकरणों का उदारता से प्रयोग किया और नख-शिख-वर्णन एक स्वतन्त्र वर्ण्य-विषय हो गया। जिस प्रकार शृंगार-रस के भीतर से नायिका-भेद को चुनकर उसके अनावश्यक विस्तार पर बल दिया गया उसी प्रकार नख-शिख-वर्णन का भी सांगोसांग विवेचन महत्वपूर्ण समझा गया। केशवदास-कृत कविप्रिया में विस्तृत नख-शिख वर्णन है (देखे, कविप्रिया सरदार कवि की टीका)। बिहारीलाल के दोहों में नख-शिख-वर्णन अगोखे चटकीलेपन को लिये हुए है। देवदत्त ने नखशिख-प्रेम-दर्शन नामक अलग से ग्रन्थ ही लिख डाला। इनके अतिरिक्त कुलपति, चन्दन, चन्द्रशेखर, तोषनिधि, पजनेस, बलभद्र मिश्र, सूरति मिश्र, सेवक, रसलीन, ग्वाल आदि कवियों ने नख-शिख पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। १६वीं शती के मध्य में मुबारक अली ने तो नायिका के दस अंगों पर सौ-सौ दोहे रचे थे। अलक-शतक और तिलकशतक उन्हीं के प्रतिनिधि हैं। इस कारीगरी में केवल भारतीय शैली का ही अनुसरण नहीं किया गया, मुसलमानी काव्यशैली का भी मिश्रण हुआ। परिणामतः काव्यस्तर नीचे गिरा। सौन्दर्य-निरूपण नख-शिख के मूल में न रहा, मात्र चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ गई। इस चमत्कार-विधान के सिलसिले में दुरूह कल्पना, उक्ति वैचित्र्य और बहुज्ञता-प्रदर्शन की शरण ली गई।

देवदत्त ने बहुज्ञता-ज्ञापन तथा चमत्कार-सर्जन से विरत होकर जहाँ नख-शिख-वर्णन किया है वहाँ नायिका का सौन्दर्य निखरा हुआ है। बिहारीलाल और रसलीन के भी कुछ दोहे ऐसे अवश्य हैं जिनमें चमत्कारिता के साथ-साथ मनो-रंजकता का भी मेल है। वैसे अधिकांश नख-शिख-वर्णन चमत्कार एवं बहुज्ञता-ज्ञापन-प्रधान और बहुत कुछ अलंकार-बोझिल है और रूढ़िबद्ध है। इन अलंकारों में भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह का खूब प्रयोग हुआ है। इन सबमें औपम्यविधान प्रधान रहा है। केशव मिश्र-कृत अलंकार शेखर में उपमा-प्रसंग में प्रयोग में आने योग्य सामग्री की लम्बी सूची दी गई है (देखें, अलंकार शेखर पंचमरत्न, प्रथम मरीचि ६-७)। इस ग्रन्थ के पाँचवें रत्न में स्त्रियों के अंगों के उपमान-कथन के बाद पुरुषों के अंगों के उपमानों का उल्लेख है।

प्रकृति-वर्णन या ऋतु-वर्णन

प्रकृति-वर्णन या ऋतु-वर्णन के प्रसंग में ये कवि प्रायः लकीर के फकीर बने रहे हैं। संस्कृत के प्राचीन कवियों की नकल लगते हैं वे वर्णन। सच यह है कि चमत्कार-प्रियता और चमत्कार की अभिव्यञ्जना में, पाण्डित्य प्रदर्शन और आचार्यत्व की प्रतिद्वन्द्विता में इन कवियों को प्रकृति की ओर निहारने का अवकाश ही नहीं मिला। इनके प्रकृति-वर्णन में यत्र-तत्र अस्वाभाविकता दिखाई देती है। सेनापति-कृत कुछ प्रकृति-वर्णन को छोड़कर अन्य कवियों में अपेक्षित स्वाभाविकता नहीं मिलती। चमत्कार-भावना ही यहाँ मूलतः घातक सिद्ध हुई है। केशवदास के काव्य में भावों और भाषा की निर्जीवता मिलती है, जिसका एकमात्र कारण उनकी चमत्कार-प्रियता है। इस रोग से रीतिकाल का शायद ही कोई कवि मुक्त रहा हो।

ऋतु-वर्णन

रीतिकालीन कवियों का षट्ऋतु वर्णन गतानुगतिक एवं रुढ़ियुक्त है। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में षड्ऋतु वर्णन, सूर्य-चन्द्र के उदय अस्त का वर्णन, जलविहार, वन-विहार, प्रभात, मद्यपान, रतिक्रीड़ा, चन्दनादि लेपन, भूषण-धारण आदि का समावेश शृंगार-रस के अन्तर्गत किया है (साहित्यदर्पण ३।२१२)। राजशेखर-कृत काव्य मीमांसा में कवि समय के अन्तर्गत छहों ऋतुओं का विस्तृत उल्लेख है। केशव मिश्र के अलंकार, शेखर में भी षड्ऋतु वर्णन में उल्लेख्य पदार्थों की तालिका है (अलंकार शेखर षष्ठ रत्न द्वितीय मरीचि)।

उद्दीपन—रीतिकालीन कवियों ने एक निश्चित सीमा में बँध जाने के कारण संस्कृत कवियों की उस परम्परा को नहीं अपनाया, जिसमें प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन हुआ। शृंगार-रस के अन्तर्गत वन, उपवन, सरोवर, षट्ऋतु वर्णन आदि उद्दीपन-रूप से गृहीत हुए हैं। इन्हें रीतिकालीन कवियों ने इसी रूप में गृहीत किया। केशवदास, मतिराम, देवदत्त, भिखारीदास, रसलीन, पद्माकर आदि ने उद्दीपन का उल्लेख करके इसी बात की पुष्टि की। वैसे यदि संख्या करके देखा जाय तो रीतिकालीन कवियों के ऋतु-वर्णन में उद्दीपक छन्दों की संख्या अधिक मिलेगी। प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में सेनापति का अप्रतिम स्थान है। उनके ऋतु-वर्णन में भी उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त छन्दों की कमी नहीं है। (देखें, कवित्तरत्नाकर, तीसरी तरंग छन्द चार ४, २५, २८, ३०, ३२, ३७ आदि)।

बसन्त ऋतु में पलाश के वृक्ष को पुष्पित देखकर बिहारीलाल की विरहिणी का विरह उद्दीप्त हो उठा :—

अंत मरैगे चलजरै, चढ़ि पलास की डार।

फिर न मरै मिलिहै, अली, ये निरधूम अंगार ॥

पद्माकर की विरहिणी गोपियों ने उपवन में पुष्पविकास का जिक्र करते हुए उद्धव द्वारा संदेश दिया :—

ऊधो यह सूधो सो संदेसो कहि दीजो भलो,

हरि सों, हमारे ह्यां न फूले वनकुंज हैं।

किसुक, गुलाब, कचनार और अनारन की,

डारन पै डोलत अंगारन के पुंज हैं॥

—देखें, पद्माकर पंचामृत, पृ० १५८

संश्लिष्ट-चित्रण—प्रायः करके रीति कवियों का प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रांकन की ओर ध्यान नहीं गया। नायक-नायिकाओं के संयोग-वियोग-चित्रों में प्रकृति का उपयोग केवल उद्दीपन के रूप में किया ही जा सकता था, सो इन्होंने किया। षट्ऋतु और बारहमासा-वर्णन की जो परम्परा इन्हें विरासत में मिली उसके मूल में भी वेस्तुतः यही भाव है। प्रकृति के यथार्थ एवं संश्लिष्ट चित्रों का एकदम अभाव भी नहीं है। ग्रीष्मऋतु का प्रभाव दिखाने के लिये परस्पर विरोधी प्रकृति के जीवों के किसी एक ही स्थान पर बैठने के सम्बन्ध में बिहारीलाल ने जो चित्र अंकित किया

है वह प्रौढकालीन वातावरण को उपस्थित करने में समर्थ है—

कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ ।

जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥

बिहारीलाल कृत निम्न दोहा वसंत-श्री का कैसा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से युक्त प्रकृति का संलिष्ट चित्र उपस्थित करता है—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध ।

ठौर ठौर झूमत झूमत झौर झौर मधुग्रंध ॥

आरोप-विधान—यत्र-तत्र अलंकार की सहायता से प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोप करके रमणीय व्यंजना भी हुई। बिहारीलाल कृत पवन-पथिक की श्रान्तदशा का मार्मिक चित्र देखें—

चुवत सेद मकरंद कन, तर तर तर बिरमाय ।

आवत दक्षिण देश से थक्यो बटोही बाय ॥

ऋतुराज वसंत का रूपक बाँधते हुए सेनापति ने उसकी सेनागत मधुप-चारण, शोभा के समाज आदि का विधान किया—कविस्त रत्नाकर ३५ तरंग, १। बिहारीलाल ने भी शरद को सुखद व्यवस्था करने वाला शूर कहा है—बिहारी बो० ५७६। देवदत्त के मदन महीप के लाड़ले बालक वसंत को जगाने के लिये गुलाब का चुटकी बजाना बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

दूसरी ओर मानव पर भी प्राकृतिक दृश्यों का आरोप हुआ है। इस कला में केशवदास खूब निपुण हैं। उनकी कविप्रियागत प्रकृति-वर्णन इसी प्रकार आरोप-विधान से भरा है। इस प्रसंग में इनका-वर्णन-वर्णन दर्शनीय है—

भौहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर, भूषन जराय जोत तड़ित रिलाई है। इत्यादि

—सरदार कवि टीका, कविप्रिया, ३२ छन्द

यह ठीक है कि घनआनन्द का दृष्टिकोण इस काल के अन्य कवियों की भाँति रीतिबद्ध नहीं था, किन्तु काल के प्रभाव से बच निकलना असंभव-सा होता है। इसीलिये भाषा-गत अलंकार-आधान के प्रति सजगता तो उनमें मिलती ही है, रीति-बद्ध-दृष्टि की झलक भी यत्र-तत्र स्पष्ट हो जाती है। निम्न पद पर ध्यान दें, घन-आनन्द ने नायिका पर वसंत का आरोप किस खूबी के साथ किया है—

बैस की निकाई सोई रितु सुदखाई तामें, तरुनाई उलहत मदसे मैमंत है। इत्यादि

—घन-आनन्द, पृ० १०८

पार्श्व भूमि—प्रेम-चित्रण-प्रसंग में प्रकृति का पार्श्व भूमि के रूप में बराबर प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इसके वर्णन में वस्तु-परिगणन-प्रणाली का भी सहारा लिया गया है। पद्माकर के ऋतु वर्णन में यही प्रणाली स्वीकृत हुई। ये कवि शीष्म-हेमन्त, शिशिर के आते ही अपने आश्रयदाताओं के सुखोपभोग की सामग्री जुटाने में लीन हो जाते थे। जेठ के निकट आते ही पद्माकर खसखाने और तहखाने

की मरम्मत कराने लगते हैं और अतर, गुलाब, अरगजा आदि की खरीद होने लगती है। पद्माकर इसके अतिरिक्त 'अंगूर सौ उचौ हैं कुच' का भी आयोजन प्रस्तुत करते हैं। हेमन्त के प्रसंग में तो पद्माकर का दावा ही है कि जब गुलगुली गिलमें, गलीचा हैं, गुलीजन हैं और साथ में सुवाला भी हैं तो हेमन्त का शीत क्या कर सकता है? शिशिर-वर्णन प्रसंग में बिहारीलाल ने और अधिक स्पष्ट भाषा में कहा—

तपन तेज तापन तपन, तुल तुलाई माह।

सिसिर सीत क्योंहु न मिटे, बिन लिपटे तियनाह ॥

सामन्तीय वातावरण से प्रभावित रीति कवियों की दृष्टि देहातों की ओर नहीं गई। यदि कभी गई भी तो उन्होंने वहाँ के ईख-अरहर के खेतों को सहृदयस्थल के रूप में देखा या गदराये यौवनवाली गोरटी वधुओं के सौंदर्य में अटक कर रह गये। सेनापति कृत कवित्तरत्नाकर में जाड़े के मौसम में अलाव तापते हुए ग्रामीणों का बड़ा सजीव चित्र उपलब्ध होता है—

धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं, हिए सौं लगाइ रहैं नैक सुलगाय के।
मानो भीत जानि, महासीत तैं पसारि पानि, छतियाँ की छांह राख्यो पावक छिपाइ के ॥

—कवित्तरत्नाकर, ३५ तरंग, ४५ छन्द

निस्सन्देह जिन स्थलों पर रीति कवियों ने चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य से विमुखता धारी वहाँ उन्होंने सुन्दर अनुभावों का विधान किया, फलतः कविता बड़ी सरस और मर्मस्पर्शनी हो गई। देवदत्त कृत एक वियोगिनी की दशा देखें—

बोलि उठ्यो पपिहा कहूँ पीउ सु देखिबे को सुनिकै उठि धाई।

भोर पुकारि उठे चहुँ और ते देव घटा घिर की चहुँ धाई ॥ इत्यादि

—सुखसागर तरंग, १५७ छन्द

संयोग-वियोग शृंगार में पावस और वसन्त ऋतु उद्दीपक के रूप से ही प्रस्तुत हुई हैं। वसन्त में फाग-वर्णन और पावस में हिंडोले का चित्रांकन इस काल की कविता में परम्परा-पालन का अनुरोध ही है। प्राचीन भारत में ऋतु-सम्बन्धी उत्सव धूमधाम के साथ मनाये जाते थे। फालगुन और चैत्र मास में मदनोत्सव की चहल-पहल रहती थी। होलिकोत्सव, वसन्तोत्सव या मदनोत्सव का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप है। वसन्तोत्सव की अनेक बातें इस काल तक लुप्त हो गई थीं। केवल अवीर और गुलाल की बहार शेष रह गई थी। होली खेलने के लिये रीतिकालीन कवियों के पास राधा और कृष्ण पहिले से ही विद्यमान थे। अतः होलिका का सारा हुड़दंग राधा-कृष्ण या कृष्ण एवं अन्य गोपियों के मध्य सिमट कर रह गया। फाग-वर्णन का उपयोग रीतिकालीन कविता में प्रायः संयोग-शृंगार के उद्दीपन के रूप में हुआ है। फाग के बहुत कम छन्द ही वियोग-उद्दीपन विषयक मिलेंगे। अवीर और गुलाल डालने के बहाने परिरम्भन-आलिगन की नायक-नायिका को खुली छूट मिल जाती थी। किसी एक नायिका की आँख में गुलाल भोंक दूसरी के आलिगन का सुअवसर

नायक को आसानी से मिल जाता था। हिंडोले के समय तो प्रिया और प्रियतम के परस्पराल्लेष का और भी अच्छा अवसर होता था। स्वभाव भीरु-नायिकाएँ पैंगों के भय से धैर्य छोड़ देती और निस्संकोच हो प्रिय के शरीर से लिपट रहतीं। उस समय हवा के झोंकों से आँचल का सरक जाना तो बहुत साधारण बात है। कहीं-कहीं तो हिंडोले से गिरी नायिका को बीच में ही पकड़ कर कोई धृष्ट नायक रस लूट लेता है। हिंडोले पर झूलती हुई नायिकाओं की अंग-भंगिमा को इन कवियों ने अच्छी तरह देखा है। अलकों का उड़ कर कपोलों पर छा जाना, साड़ी का अस्तव्यस्त होना, उरोजों का खुल पड़ना—कभी उनकी दृष्टि से ओभल नहीं होता। एक-दो दृष्टान्त लें:—

(क) लोग-लोगाइन होरी लगाई, मिला-मिली-चाउ न भेटत ही बन्यो। इत्यादि

—डा० नगेन्द्र, रीति-शृंगार, पृ० ११४

(ख) अधखुली कंचुकी उरोज अध-आधेखुले, अध खुले वेस नखरेखन की भलकें।

इत्यादि

—वही, पृ० २१६

अलंकार—संस्कृत के अलंकार शास्त्रियों का प्रभाव रीतिकालीन कवियों पर खूब पड़ा। भामह और दण्डी ने अलंकार को बहुत महत्त्व दिया है। अलंकारोक्ति इति अलंकारः—जो शोभा को पूर्ण बनादे वह अलंकार है—काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्य में अलंकार-सम्बन्धी भामह की वैसी ही धारणा है जैसी कि भरतमुनि की नाटकीय रसों के सम्बन्ध में। वे अलंकार को काव्य की आत्मा मानते थे। इन्होंने रस की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी और उसे रसवदादि अलंकारों के भीतर परिगणित कर दिया। गुणों को भी इन्होंने अलंकारों के रूप में गृहीत किया। भामह ने अलंकार के मूल में वक्रोक्ति को माना—देखें काव्यालंकार ७२-८५। दण्डी ने अतिशयोक्ति को अलंकार का मूल ठहराया—देखें काव्यादर्श २१-२२०। श्री पी० वी० काणे महोदय ने साहित्यदर्पण की भूमिका पृष्ठ २२ में लिखा कि भामह की अपेक्षा दण्डी का अलंकार-विवेचन विस्तृत अवश्य है, लेकिन उसमें भामह की संक्षिप्त प्रणाली तार्किक निपुणता और विचारों की स्पष्टता का अभाव है। आगे चल कर कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवितम् में काव्य में चमत्कार के साथ सरसता का भी समर्थन किया। शनैः शनैः अलंकार की धारणा का विकास काव्य की शोभा से लेकर अतिशयता, वक्रोक्ति, चमत्कार, वैचित्र्य और शब्दार्थका उपकार करने वाली विशेषता के रूप में हुआ। विभिन्न सम्प्रदायों के विकसित होने के बाद काव्य में अलंकार का स्थान गौण हो गया और आचार्यमम्मट ने तो काव्यप्रकाश में काव्य-परिभाषा-कथन-प्रसंग में—‘तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि’ कह कर काव्य से अलंकार की अनिवार्यता को हटा ही दिया। परन्तु मम्मट की इस स्थापना का विरोध हुआ और विशेष कर जयदेव, अप्पय दीक्षित, विद्याधर आदि ने अलंकार को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान की।

भामह के निम्न कथन—

(क) सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ।

(ख) शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्ण रूपेणावस्थानम् ।

पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति और काव्यानुभूति में अभिन्न सम्बन्ध है । स्पष्ट है कि वाणी की वक्रता का सहारा लिये बिना उच्चकोटि के काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं । कालक्रमानुसार वक्रोक्ति एक अलंकार की सीमा में बद्ध हो गया, स्वभावोक्ति को भी अलंकार गिना जाने लगा । भामह और दण्डी निरे-अलंकारवादी स्वीकृत हुए ।

रीतिवादी आचार्यों में प्रथम केशवदास ने इनसे बहुत कुछ लिया । केशव ने स्पष्ट रूप से घोषणा की—भूषण बिन न विराजहि कविता, बनिता, मित । इनके अतिरिक्त उत्तमचन्द भण्डारी, महाराज जसवन्तसिंह, ग्वाल और दूलह का मन भी अलंकार-निरूपण में रमा । उत्तमचन्द भण्डारी और दूलह ने केशवदास के विचारों को ही दुहराया । मतिराम कृत ललितललाम, भूषणकृत शिवराज भूषण, पद्माकर कृत पद्माभरण, भी अलंकारों से ही सम्बद्ध ग्रन्थ हैं, किन्तु इन्होंने अपने ग्रन्थों में भामह, दण्डी आदि की परिपाटी को न स्वीकृत करके परवर्ती जयदेवकृत चन्द्रालोक, और अप्पय दीक्षित कृत कुवलयानन्द को प्रकाश-स्तम्भ माना । संक्षेप में सामान्यतः इस काल के ये अलंकार-ग्रन्थ संस्कृत के परवर्ती अलंकार-ग्रन्थों पर आधारित हैं, जैसे कि इनका नयिका-भेद भी उन्हीं से अधिक प्रभावित है । इनके अलंकार निरूपण मौलिक उद्भावनाओं तथा स्पष्ट विवेचनाओं से रिवत हैं । कुछ कवियों का मन न तो अलंकारों के स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत करने में रम सका है और न उनके सरस उदाहरण उपस्थित करने में । कुछ कवियों ने अलंकार-लक्षणों का सूक्ष्म विवेचन तो नहीं किया है पर उनके उदाहरणों में रस है । उचित में वक्रता और अनूठापन भरने के उद्देश्य से भी इस काल की कविता में अलंकारों की योजना हुई ।

उपमान और अप्रस्तुत-विधान—अभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण एवं सुन्दर बनाने के लिये प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत कवि विधान करता है । काव्य-परम्परा में यह अप्रस्तुत विधान ही उपमान कहलाता है । काव्य में अप्रस्तुत-विधान सरल नहीं । इसके लिये सूक्ष्म दृष्टि, अपार अनुभव एवं अत्यन्त कल्पना-शक्ति अपेक्षित है । कवियों ने सदैव रूप, गुण तथा धर्म की समता के आधार पर अप्रस्तुत-विधान किया है । कभी-कभी केवल रंग या नाम के आधार पर ही अप्रस्तुत-विधान देखा जा सकता है । सब से सुन्दर अप्रस्तुत-विधान रूप के साथ ही धर्म-साम्य होने पर होता है । आधुनिक कवियों ने प्रभाव-साम्य के आधार पर भी सुन्दर अप्रस्तुत-विधान किया है ।

अप्रस्तुत योजना के लिये कवि समस्त व्यक्ति-प्रकृति के रूप-विधानों तथा चेष्टाओं को साधन बनाता है । कभी-कभी कोरी कल्पना के आधार पर असंभावित मूर्त-विधानों से भी वह काम निकालना चाहता है । सामान्य मानव-जीवन के क्रिया व्यापारों से भी इस दिशा में उसे पर्याप्त सहायता मिलती है । इनके अति रक्त

परम्परागत शास्त्रीय रूप, रंग, भाव और बिम्ब भी उसे विरासत में प्राप्त होते हैं, जिनका वह स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कर सकता है।

रीतियुगीन काव्य-विषय सीमित थे, कवि-दृष्टि संकुचित थी। फलतः अभिव्यक्ति की समस्या जटिल न थी। प्रकृति-वर्णन, नायक-नायिका-भेद-कथन, रस-विवेचन, नख-शिख-चित्रण, अलंकार-निरूपण तथा अष्ट यामादि-वर्णन इन सब विषयों में कवि-प्रवृत्ति लक्षण-पक्ष की ओर न होकर उदाहरण प्रस्तुत करने में ही अधिक रमती थी। ये उदाहरण मानव-रूप एवं भोग की संकुचित सीमाओं से ही सम्बद्ध होते थे। अतएव अभिव्यक्ति के लिये मूलतः दो ही विषय थे—मानवीय सौंदर्य और विलासमय जीवन की कल्पित-अकल्पित-झाँकियाँ। रीतियुग के प्रतिनिधि कवि देवदत्त ने बड़े प्रभावशाली ढंग से इस मान्यता की पुष्टि की है—

देव सबै सुखदायक सम्पत्ति, सम्पत्ति-दम्पति, दंपति-जोरी। इत्यादि

—डा० नगेन्द्र, रीति-शृंगार, पृष्ठ ६४

बाराही का सार शृंगार तथा शृंगार का मूल, किशोर-किशोरी होने के कारण कवियों के लिये इनके रूप, गुण, स्वभाव चेष्टा आदि की चर्चा के अतिरिक्त और कोई विषय ही नहीं रह गया। उपमान-ग्रहण की आवश्यकता सबसे अधिक रूप-वर्णन-प्रसंग में प्रतीत हुई। यह उपमान प्रायः दो रूपों में ग्रहण किये—वस्तु के लिये वस्तु रूप में और बिम्ब के लिये बिम्ब रूप में। रीति-कालीन कवियों ने उपमान-ग्रहण के लिये चार प्रमुख आधार सामने रखे—कवि परम्परा में प्रचलित तथा शास्त्र मान्य, जीवन की रंगीनियों से गृहीत और मौलिक, कल्पना-मूर्त किन्तु सम्भावित, कल्पना-मूर्त किन्तु असम्भावित।

सबसे अधिक व्यापक आधार कवि परम्परा में प्रचलित उपमानों का ही लिया गया। कवि-पन्थ-पालन रीतियुग की विशेष प्रवृत्ति रही है। यहाँ तक कि पंथ-विरोधी वर्णन दोष की सीमाओं में परिगणित होता था। रूप-वर्णन की भी एक काव्य-परम्परा चल रही थी। देवताओं का रूप-वर्णन चरण से प्रारम्भ होता था और मानवों का शिर से—“वर्णन देवन चरणते, शिरते मानुष गात।” इसी प्रकार पुरुषों के कन्धे वृषभ के समान, स्वर-मेघ-तुल्य, भुजाएँ साँप या ध्वजा-सदृश, वक्षस्थल कपाट या शिला-सम माना जाता था। शेष अंगों के वर्णन में पुरुष और स्त्री दोनों के लिये एक ही प्रकार के उपमान ग्रहण किये जाते थे।

यही नहीं काव्य में विशेष रूप से गृहीत वस्तुओं के रंग भी निर्धारित थे—कीर्ति, शरन्मेघ, ज्योत्स्ना आदि अनेक वस्तुओं का वर्ण श्वेत माना जाता था। मधुप, निशा, काली कृत्या, अपयश, कलंक आदि का वर्ण श्याम माना जाता था। रसना, अधर, दृगन्त, महाबर, गेरु, सन्ध्या, नख आदि का वर्ण अरुण माना जाता था।

उपमान-ग्रहण करते समय कवि को इन रंगों की परम्परा का भी ध्यान रखना पड़ता था अन्यथा वह कवि-नियम और काव्य-परम्परा के भंग करने का दोषी होता था। नायिका के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य का मानदण्ड भी बहुत-कुछ निश्चित-सा था। केश सौन्दर्य उस की दीर्घता, सघनता, श्यामता और सचिक्कणता में सन्निहित था। दृग

“अनियारे और दीरघ” सुन्दर माने जाते थे । भौंह अपनी वक्रता में मनोहर मानी गई थी । बरौनियाँ सघन और चिकनी पसन्द की जाती थीं । अधर पतले और अरुण रमणीय लगते थे । कपोल लोल होने पर ही लावण्य युक्त समझे जाते थे । दन्त-पंक्ति, सघन और शुभ्र होने पर ही फबती थी । कुच उन्नत और कठोर होने पर ही तन्वंगी की श्री-वृद्धि करते थे । कटि की क्षीणता ही उसकी रमणीयता बन गई थी । जंघाएँ अपनी स्निग्धता और गरिमा से गौरवमयी समझी जाती थी । कवि-परम्परागत इन सौन्दर्य के सामान्य मानदण्डों का परिचय कवि-वर्ग के लिये आवश्यक था ।

“शिख” से लेकर “नख” तक विविध अंगों के सौन्दर्यांकन के लिये सामान्य उपमान भी परम्परागत थे एवं हृद् हो चले थे । कवि-परम्पराविहित उपमानों को विशेष वातावरण में उपस्थित करके कभी-कभी बिम्ब रूप में भी ग्रहण किया जाता था । रीति-कालीन हिन्दी-कवि प्रायः नायिका के अंग-वर्णन में इन्हीं का प्रयोग करते थे । वस्तु के लिये वस्तु-रूप में उपमानों का ग्रहण करते समय कवियों ने परम्परा का ही अधिक आधार लिया है । किन्तु बिम्ब के लिये बिम्ब उपस्थित करते समय उन्होंने मौलिक उद्भावनाएँ भी की । सादृश्य के आधार पर गृहीत बिहारीलाल का एक बिम्बात्मक उपमान देखें :—

सहज सेत पंच तोरिया पहिरत अति छवि होति ।

जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन-ज्योति ॥

यहाँ सहज श्वेत पंच तोरिया के बीच जगमगाती हुई तन-द्युति के लिये “जल-चादर के दीप” को उपमान के रूप में उपस्थित करके कवि ने सादृश्य के आधार पर बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में प्रस्तुत-अप्रस्तुत-उपस्थित करने का सफल प्रयास किया । निश्चय ही यह उपमान-ग्रहण सामन्त-जीवन की गहरी रंगोनियों को निकट से अनुभव करने के कारण ही सम्भव हो सका ।

वस्तु-प्रति-वस्तु-रूप में उपमान-ग्रहण करने में रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि देवदत्त ने यत्र-तत्र मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं । किसी ग्रामीण सुन्दरी अहीरिन के विषय में उन्होंने लिखा—

माखन-सो मन, दूध-सो जोवन, है दधि तै अधिकै उरईठी ।

जा छवि आगे छपाकर छाछ, समेत सुधा वसुधा सब सीठी ॥ इत्यादि

—देव और बिहारी, पृष्ठ १७४

यहाँ मन के लिये “माखन”, यौवन के लिये “दूध” और नायिका के लिये “दधि” उपमानों का प्रयोग करके कवि ने कवि-परम्परा से हटकर मौलिकता दिखाई है । वह नवनीत की कोमलता, दुग्ध की तरलता, दधि की मधुरता और अम्लता एक साथ ही नायिका के व्यक्तित्व में देखता है । मन के लिये “माखन” का प्रयोग तो “संत-हृदय नवनीत समाना” के आधार पर परम्परा-विहित कहा जा सकता है, किन्तु दूध-सी जोवन तथा “दधि-सी उर ईठी” की सार्थकता अहीरिन के साथ सराहनीय बन जाती है । देवदत्त ने बिम्ब प्रति-बिम्ब रूप में भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत-विधान बड़ी सुन्दरता पूर्वक किया है :—

सुधा को सरोवर-सो अम्बर, उदित ससि ।

मुदित मराल मनु पैरिखे को पैंठो है ॥

—देव और बिहारी, पृ० १०६

यहाँ विमल आकाश में विकसित हुआ सरस शीतल शुभ्र शशि के लिये सुधा के सरोवर में तैरते हुए हंस का बिम्बात्मक उपमान कैसा भव्य एवं वातावरण के अनुकूल बन पड़ा है ।

उपमान ग्रहण के समय कवि की कल्पना-शक्ति ही सबसे अधिक क्रियाशील रहती है। वैसे तो सब प्रकार के उपमान-ग्रहण में किसी न किसी रूप में कल्पना-शक्ति का प्रयोग रहता है, परन्तु रूढ़ एवं परम्परा-विहित वस्तु-प्रति-वस्तु रूप में उपस्थित किये जाने वाले उपमानों में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता है। किसी अंग को लेकर भटपट उसके लिए कवि-प्रसिद्ध उपमान सामने ला-रखना अभ्यास-वश अधिक संभव है, कल्पना-शक्ति के आधार पर कम। उपमा अलंकार की योजना करते समय रीतिकाल के कवि प्रायः इसी प्रकार के रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते रहे। उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि अलंकारों की योजना में उपमान-ग्रहण करते समय कवियों ने कल्पना के आधार पर मूर्त-विधान करने की चेष्टा की है। यह मूर्त-विधान कहीं संभावित हुआ है और कहीं असंभावित। संभावित मूर्त-विधान बड़ा ही प्रभावोत्पादक एवं रमणीय होता है। असंभावित होने पर यह कोरा चमत्कार बन जाता है। सेनापति ने सावन के “उनए नए जलद” के लिए “आने हैं पहार मानौ काजर के ढोई के” कह कर बड़ा भव्य और सम्भावित मूर्त-विधान प्रस्तुत किया है। बिहारीलाल-कृत भीने घूँघट-पट के बीच से चमचमाते हुए चंचल नयनों के लिए “सुर सरिता के विमल जल में उछलते हुए जुगमीन” का उपमान-विधान भी सम्भावित होने के कारण प्रभावपूर्ण है—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट भीन ।

मानहु सुर सरिता विमल जल उछरत जुगमीन ॥

निश्चय ही संभावना से परे हटके अप्रस्तुत-विधान (उपमान) अपनी रमणीयता खो देता है। रीतिकाल के चमत्कारप्रिय कवियों ने केवल नाम या रंग के साम्य के आधार पर भी उपमान-ग्रहण किया। केशवदास के अनेक उपमान केवल नाम-साम्य का आधार लेकर प्रयुक्त हुए हैं—उनके प्रकृति वर्णन में “पाण्डव की प्रतिमा सम देखी, अर्जुन, भीम महामति लेखी” इसीलिए कहा गया कि वृक्ष-विशेष और पाण्डव विशेष (अर्जुन, भीम) दोनों में नाम-साम्य था। बिहारीलाल ने भी अनेक स्थलों पर मात्र रंग की समता के आधार पर उपमानों का जाल बिछाया—

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि, केसरि-आड़ गुरु ।

इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत् ॥

बिहारीलाल का यह रूपक केवल ज्योतिष-ग्रन्थों में ग्रहों के लिए मान्य रंगों के साम्य के आधार पर रखा गया है। स्पष्ट ही यहाँ कवि की दृष्टि कोरे चमत्कार-

प्रदर्शन में रम रही थी, नारी-सौन्दर्य के चित्रण में नहीं, अन्यथा वह नायिका के सौन्दर्य प्रसाधनों-बिन्दु, केसर आदि के लिये नक्षत्रों को उपमान रूप में ग्रहण न करता।

संक्षेप में रीतिकालीन कवियों ने परम्परा-बिहित उपमानों का ही अधिकतर प्रयोग किया है। विशेषकर शिख-नख-वर्णन में यही प्रवृत्ति रही। व्यावहारिक जीवन से नवीन उपमानों के ग्रहण की प्रवृत्ति प्रायः नहीं के बराबर मिलती है। कुछ कवियों ने कल्पना के आधार पर प्रस्तुत के लिए संभावित बिम्बात्मक अप्रस्तुत विधान भी किया है। ऐसे उपमान जो मात्र नाम या रंग के साम्य के आधार पर गृहीत हुए हैं वे सम्भावना से परे होने के कारण निरे चमत्कार-विधान ही कहलावेंगे।

रीतिकाव्य वस्तुतः एक प्रकार से अलंकारों का समृद्ध कोष है, जिसमें बढ़िया से बढ़िया और घटिया से घटिया नमूने मिल सकते हैं। संयत और संतुलित रुचि के कवियों में अलंकारों का अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म-तरल प्रयोग मिलता है। वर्ण-मैत्री तथा शब्द और अर्थ के स्वारस्य के इतने सुन्दर उदाहरण अग्रन्त दुर्लभ हैं। चमत्कार-प्रिय कवियों ने अलंकारों को साधन न मानकर साध्य माना। इन्होंने एक ओर अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र आदि से खिलवाड़ किया है; दूसरी ओर रूपक, अतिशयोक्ति आदि के ढेर लगाये हैं। प्रकृति और भौतिक जीवन दोनों ही क्षेत्रों में सीमित गति होने के कारण उनके प्रतीक और उपमान प्रायः विलास से सम्बद्ध हैं। प्रकृति के क्षेत्र में रति के उद्दीपन चन्द्रमा, चाँदनी, नक्षत्र, मेघ, विद्युत्, जमुना, वासन्तीछटा, लता-गुल्म, कमल, चंपक, कुन्द, चकोर, हंस, कोकिल, चक्रवाक, मयूर, खंजन, भ्रमर आदि उनके उपमान और प्रतीक हैं। भौतिक जीवन में नागरिक विलास की वस्तुओं से आगे ये नहीं गए—मणि, मोती, कुन्दन, दीपक, चन्दन, धनसार, अंजन, आभूषण और कामदेव के धनुष-बाण आदि उनके प्रिय उपकरण रहे। बिहारीलाल ने जल चादर, किन्लनुमा, फूस, शीशमहल, ताफता जैसे नूतन उपमानों का प्रयोग करते हुए उनकी संख्या में वृद्धि की है, ये उपमान भी भले ही रीति-भुक्त न हों, नागरिक विलास के उपकरण तो हैं ही। रीतिकाल के उपमान प्रायः काम-विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही हैं। उनके प्रयोग में युग कवियों ने नूतन योजनाएँ न करते हुए परम्परा का अनुसरण ही अधिक किया है। यह सच है कि रीतिकाल के कवियों ने नवीन प्रयोगों द्वारा नवीन रुचि और नवीन सौन्दर्य-बोध को जागृत नहीं किया, समृद्ध उपमानों के प्राचुर्य से जगमाहट उत्पन्न की है। यह तथ्य है कि चमत्कारप्रियता के कारण ही रीति-काव्य में स्वाभाविकता का अभाव है। बिहारीलाल में—सांस के साथ छह-सात हाथ आगे-पीछे जाना कहाँ की स्वाभाविकता है? अन्य कवियों में भी सामान्यतः चन्द्रिका में दाह का अनुभव, शीतकालीन रात्रि में लूह का चलना (विरह-वश) आँसुओं से जमुना में जल की अधिकता, विरहदग्धा नायिका के वस्त्रों का जल-जल कर भस्म हो जाना आदि कहाँ की स्वाभाविकता है? समझने की बात है कि स्वाभाविकता की हत्या इन कवियों ने विशेषतः दो प्रसंगों में की है—पहला प्रसंग विरह-वर्णन और दूसरा सौन्दर्य-चित्रण। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति में जो कुछ सुन्दर देखा, वह नायिका के सौन्दर्य का ही प्रकाश है। नायिका के रूप-चित्रण के समय ये कवि जैसे अपने वश में ही नहीं रहते थे।

बसन हरयो पिय सुरत में तिय तन जोति समीप ।

केलि भवन में राति हू भए घोस के दीप ॥

यहाँ मतिराम बताना चाहते हैं कि रात्रि में केलि-भवन में दीपक जल रहा था। प्रिय ने सुरत-प्रसंग में प्रिया के वस्त्रों का ज्यों ही आहरण किया त्यों ही यकायक उसकी आभा मन्द पड़ गई, जैसे दिवस-काल में प्रज्वलित दीप हो।

बिहारीलाल की नायिका के समीपवासियों को पूनम का ज्ञान पत्रे-पोथे की सहायता से ही संभव था—

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास ।

नित प्रति पुन्यौ ही रहत आनन ओप उजास ॥

नायक-नायिकाओं के मुख-मण्डलों से विकिरित प्रकाश का अद्भुत प्रभाव देखना हो तो पढ़ें—

दुहूँ और मुख दुहुँनि के विधु लौं करत प्रकास ।

लाज अँधयारी दुहुँनि की कहूँ न पावति बास ॥

नेत्रों की मादकता (अनियारे दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान, वह चितवनि और कछु जिहि बस होत सुजान) के साथ जो वर्णन मिलता है उसे पढ़कर नायिकाओं के नेत्र शस्त्रागार से प्रतीत होते हैं, जहाँ कोई भी रसिक घायल हो सकता है।

अग्ने आश्रयदाता की प्रशस्ति अथवा उसके गुणकीर्तन की धारा में अवगाहन करना तो इस युग के कवि का अपरिहेय युग-धर्म था। इनकी रचनाओं में तत्कालीन शासकों और श्रीमन्तों की प्रसन्नता का विशेष ध्यान रखा गया है। यह युग सामन्त-प्रशस्तियों का ही था।

“हिन्दी साहित्य के अन्य समयों की तुलना में इस समय अश्लील साहित्य की रचना अत्यधिक हुई है। अश्लीलता क्या है और क्या नहीं है, यह एक बड़ी उलझन का प्रश्न है। इस पर मतैक्य होना कठिन है। पर जिस साहित्य को हम अपने से छोटों, बहनों और बेटियों को देने में संकोच करें, उसकी अश्लीलता में कोई सन्देह नहीं है।” यह एकान्त सत्य है कि रीतिकालीन कवियों का काव्यादर्श कबीर, नानक, दादू, तुलसी-दास आदि की भाँति बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय नहीं था। जनता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। वे बनावट, सजावट, चमत्कार और अलंकार के विशेष प्रेमी थे, वस्तुतः वे बाह्य सौन्दर्य के दास थे, आभ्यन्तरिक सौन्दर्य के नहीं, चाहे वह सौन्दर्य काव्य जगत् का हो अथवा भौतिक जगत् का। वे कला का अर्थ विलक्षणता मानते थे। स्पष्ट ही वे कविता को सार्वजनीन नहीं मानते थे। उनके विचार से जनता का सर्वसाधारण व्यक्ति काव्य के अध्ययन का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। कवि सेनापति को आप बिलकुल यही बात कहते पावेंगे—

मूढ़न को अगम सुगम एक ताको जाकी,

तीखन विमल विधि वृद्धि है अथाह की ॥ इत्यादि

—कवित्तरत्नाकर

इस प्रकार के उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि उस कविता का सम्बन्ध सबसे नहीं था। उसकी उपयोगिता विद्वानों तक ही सीमित थी। उस समय वस्तुतः काव्य समझा ही उसे जाता था जो तीक्ष्ण बुद्धि वाले की समझ में आ सके। सेनापति ने काव्य के लिए अलंकार, रस, गुण, ध्वनि, शुद्ध छन्द सबको आवश्यक माना, परन्तु वहाँ लोकरंजन या मनोरंजन की भावना का उल्लेख नहीं हुआ—

दोष सों मलीन गुनहीन कविताई है तो,
कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है ॥... इत्यादि

सेनापति की ही नहीं, इस युग के अन्य अनेक साहित्यकारों की मान्यताओं से अवगत होता है कि उनमें से अधिकांश बुद्धि-कौशल एवं शब्द चमत्कार-प्रदर्शनोन्मुख थे, लौकिक आनन्द-विलास उनका चरम लक्ष्य था। कविता सम्बन्धी तत्कालीन कुछ मान्यताओं को जान लेने पर यह बात और स्पष्ट हो जावेगी। कुलपति मिश्र ने काव्य का आदर्श लौकिक आनन्द को माना है—

जग ते अद्भुत सुख सदन, सव्वरु अर्थ कवित्त ।

यह लच्छन मैंने दियो, समुचित ग्रन्थ बहु चित्त ॥

रीतिमुक्त कवि ठाकुर भी उस व्यक्ति को वस्तुतः कवि स्वीकार करते हैं जो जनता की सभा की अपेक्षा राजसभा या अमीरों के दरबारों में बड़प्पन को पा लेता है :—

ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो, राजराज सभा बड़प्पन पावै ।

पंडित लोक प्रवीनन को, जोई चित्त हरै सो कवित्त कहावै ॥

—रीति शृंगार, पृ० १६७

घनानन्द का काव्यादर्श निम्न पद्य में स्पष्ट है—

नेही महा ब्रजभाषा-प्रवीन औ, सुन्दरतानि के भेद को जानै ।

जोग, वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद-स्वरूप को ठानै ॥

चाह के रंग में भीज्योहियो, बिछुड़ै मिलै प्रीतम सांति न मानै ।

भाषा-प्रवीन, सुछन्द सदा रहै, सो घन जी के कवित्त बखाने ॥

—रीति-शृंगार, पृ० ११७

इसमें घनानन्द ने कवि के लिये प्रेम-परिभाषा, काव्य-विवेक और सौन्दर्य की परख आदि को आवश्यक माना है।

सोमनाथ कवि का प्रयोजन कविता, यश, धन और आनन्द मानते थे। श्रीपति ने काव्य के लिये अलंकार की सर्वाधिक उपयोगिता स्वीकार की। सूरति मिश्र ने कवि-कर्म को इन शब्दों में प्रकट किया—

वरनन मनरंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ ।

निपुन कर्म कवि कौ जुतिहि, काव्य कहत सब कोइ ॥

मिखारीदास ने पाण्डित्य-मिश्रित कविताई को काव्य का आदर्श माना और उस में भी रिझाने का गुण चमत्कार पर ही केन्द्रित है—

आगे के कवि रीतिहैं तो कविताई ।

न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है ॥

कवि केशवदास का तो नाम लेते ही शब्दों, भावों और अलंकारों के साथ उनकी कलाबाजी का ध्यान आ जाता है ।

सामान्यतः रीतिकालीन सब कवियों की कविता सम्बन्धी मान्यताओं पर दृष्टिपात करने पर आप पावेंगे कि उन सबसे एक ही ध्वनि निकलती है—चमत्कार और अलंकार । उनके अनुसार ध्वनि, अलंकार, रस, शब्दचयन, प्रेम की पीर, सयोग में भी वियोग-सी बेचैनी की अभिव्यक्ति आदि कविता में अवश्य होनी चाहिये ।

भक्ति—रीतिकाल में शृंगार की प्रधानता रही, इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य भावों और रसों से सम्बन्धित रचानाएँ हुई ही नहीं । जिन कवियों को पूर्णतया शृंगारी करार दिया गया है, इनके व्यक्तिगत जीवन में भी भक्ति भाव के लिए पर्याप्त स्थान था । राज दरबारों से दूर जब ये कवि लोक जीवन की प्रकृतधारा पर उतर आते थे, या जब कभी किसी घटना विशेष की प्रतिक्रिया इनकी मनःस्थिति को झकझोर देती थी, या कृष्ण के रस, रूप के अतिरिक्त जब ये कवि दुर्गा, शिव, सूर्य, गंगा, मरेश, सरस्वती आदि देवी-देवताओं के प्रति आत्म-निवेदन करते थे तब उनके उद्गार भक्ति-भावना से ओत-प्रोत होकर निकलते थे । देवदत्त, बिहारीलाल, भिखारीदास, बेनीप्रवीन, मतिराम, पद्माकर आदि शृंगार के प्रसिद्ध और प्रमुख कवियों में भी भक्ति की भावना जीवन की पूरी सचाई के साथ देखी जा सकती है । चाहे वह परिस्थिति विशेष में मनःस्थिति विशेष की परिचायिका ही क्यों न हो ।

रीतिकालीन रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त कवियों की कविता में अभिव्यक्त भक्ति-भावना के सम्बन्ध में प्रायः तीन प्रकार के अभिमत व्यक्त हुए हैं :—

(क) कुछ विचारक रीतियुगीन नायक-नायिका-भेद के साँचे में ढली समस्त रचनाओं को राधा-कृष्ण परक भक्ति-उद्गार मानते हैं ।

(ख) कुछ अन्य विचारक, जिनमें डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं, इनके भक्ति परक उद्गारों की सचाई में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करते । डाक्टर हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—फिर भी इस विषय में दो मत नहीं कि ऐसा लिखने वाले कवि काफ़ी ईमानदार थे । वे सचमुच विचार करते थे कि—

राधा मोहनलाल को, जिन्हें न भावत नेह ।

परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह ॥^१

(ग) कुछ विचारक, जिनमें डा० नगेन्द्र प्रमुख हैं, रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं में उपलब्ध भक्ति को भक्ति का आभास मानते हैं । रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा—रीतियुग की धार्मिकता और भक्ति भी रूढ़ि-बद्ध ही थी—वास्तव में धर्म इस युग में आकर धर्माभास मात्र रह गया था । धर्म के उस स्वस्थ और नैतिक रूप का जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण

करता है अभाव हो चुका था, परन्तु विश्वास अभी ज्यों का त्यों बना ही हुआ था। ऐन्द्रिय प्रेम में आकण्ठ मग्न होकर भी ये कवि हरि-राधिका की तन-द्युति में अनुराग बनाये हुए थे—

तजि तीरथ हरि-राधिका, तन-द्युति कर अनुसागु ।

जेहि ब्रज-केलि निकुंज मग, पग पग होतु प्रयागु ॥

—बिहारी सतसई

वास्तव में यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक और सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीति-काल का कोई भी कवि भक्ति भावना से हीन नहीं है—हो ही नहीं सकता था क्योंकि भक्ति उसके लिये एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रगट करते, या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसीलिये रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिये बार बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

प्रथम अभिमत के समर्थन में प्रायः दो बातें कही जाती हैं—पहली यह कि इन कवियों ने अपने नायक-नायिका-भेद के ग्रन्थों में राधा-कृष्ण-लीला को वर्ण्य विषय के रूप में ग्रहण करने की घोषणा की। दूसरी यह कि हिन्दी-साहित्य के भक्त कवियों के शृंगार-वर्णन में कोई ऐसी बात नहीं है जो उन्हें रीति कवियों से पृथक् करती हो। कुछ ऐसी घोषणाएँ देखें—

माया देवी नायिका, नायक पूरुष आप ।

सबै दंपतिन प्रगट, देव कर तिहि जाप ॥

—सुखसागर तरंग, छन्द १

बरनि नायक नायकनि, रच्यो ग्रन्थ ग्रन्थ मतिराम ।

लीला राधा रमन की, सुन्दर जस अभिराम ॥

—रसराज, छन्द ३

इनमें देवदत्त कृत दोहा ग्रन्थ के मंगलाचरण स्वरूप लिखा गया है उसे कवि का विश्वास नहीं कहा जा सकता। मतिराम-कृत उपर्युक्त दोहा भी प्रामाणिक-कथन नहीं लगता, क्योंकि मतिराम ग्रन्थावली पृ० १ की पाद टिप्पणी में उसे प्रक्षिप्त निर्दिष्ट किया गया है। अतः इसके आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वस्तुतः इन सभी कवियों का मुख्य प्रयोजन अपने आश्रयदाता और रसिक-

वर्ग को रिझाना था। इनकी रचनाओं को राधा-कृष्ण भक्ति परक उद्गार नहीं माना जा सकता। भिखारीदास ने इस सबका प्रतिनिधित्व करते हुए स्पष्ट घोषणा की—“रीति हैं सुकवि जो तो कविताई, न तो राधिका गुविन्द मुमिरन को बहानो है”।

फिर भी इन कवियों की अन्तर्वृत्ति को न पहचान कर इनकी कविताओं को जो भक्त का उद्गार मानते हैं, यह उनकी सदाशयता ही कहलावेगी।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन कवियों की शृंगार-भावना को भक्ति के आवरण से आवृत्त माना है और इनके भक्ति सम्बन्धी उद्गारों को भी इनकी भक्ति-परक ईमानदारी का प्रमाण कहा है (देखें हिन्दी साहित्य, पृ० ३०३)। मतिराम के जिस दोहे के आधार पर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हें भक्ति के सम्बन्ध में ईमानदार बतलाया है, वह सचमुच कवि की भाव-विह्वलता से ओत-प्रोत है, तथापि इनकी यह ईमानदारी अस्थिर है। ईश्वर के प्रति स्थिर-चित्त हो वे कवि कुछ नहीं सोच पाते। यह ठीक है कि क्षण-विशेष में निस्सृत उद्गारों की उत्तररूपा कोई ऐसी मनोदशा अवश्य है, जो रह-रह कर इन कवियों को अपने प्रकृत मार्ग से विचलित करती रही।

डा० नगेन्द्र अधिक गहरे उतरे हैं। उन्होंने मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का। उनके विवेचन का आधार रीति-कविता में प्रयुक्त राधा-कृष्ण के नाम तथा कहीं-कहीं उनमें संनिविष्ट भक्तिपरक उद्गार हैं। इन रचनाओं में डा० नगेन्द्र ने भक्ति का आभास पाया। भक्ति के इस आभास के आविर्भाव के विषय में सही जानकारी हम तब ही कर पावेंगे जब तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि का भी बराबर ध्यान रखेंगे।

रीतिकालीन कवियों के सामाजिक जीवन का अध्ययन इस बात को स्पष्ट करता है कि इन कवियों के दिल में एक दुविधा बराबर बनी रही। लौकिक रससिक्त इन्द्रियोत्तेजक चमत्कारपूर्ण उक्तियों का चाव एक ओर, राधा-कृष्ण की भक्ति का मोह दूसरी ओर इन्हें आकृष्ट करता रहा। तत्कालीन सामन्तीय वातावरण में इनकी इस दुविधा के कारण स्पष्ट हैं। भक्तिकाल के व्यापक भक्ति आन्दोलन का प्रभाव रीतिकाल में सर्वथा निःशेष नहीं हुआ था। उसकी क्षीण-धारा इस काल में भी प्रवहमान थी। भक्ति का प्रभाव सामान्य जनता पर अधिक था। इस सामान्य जनता में ही मध्यवर्ग भी परिगणित होता है। रीतिकाल के अधिकांश कवि मध्यवर्गीय परिवार की सन्तान थे। अतः मध्यवर्गीय धर्म-भीरुता के संस्कारों से वे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते थे। धार्मिकता के संस्कार लिये इन मध्यवर्गीय कवियों के आसपास इनके आश्रयदाता सामन्तों का समाज था। रीतिकाल में यह वर्ग आकण्ठ विलास में लीन था। इसने नीति और धर्म की मर्यादाओं का अतिक्रमण कर विलास के उपकारक अनेक उपकरणों का संग्रह किया। यहाँ आश्रित कवि भी ऐसे ही उपकरण मात्र थे। अतः उनके लिये निज प्रभुओं का मन-सन्तोष परम अभीष्ट था। इन दो पाटों के बीच मानों रीति कवि पिस रहा था। सामन्तीय वातावरण का पाट अधिक भारी था। अतः इन आश्रित कवियों के लिये उनका साथ देना अनिवार्य था। फिर भी इनके

मध्यवर्गीय संस्कार ने इनका साथ न छोड़ा। अपनी इस दुविधा-युक्त मनोवृत्ति के कारण जीवन के अन्तिम क्षणों में इन्हें पश्चात्ताप हुआ, फलतः अवश्य ही कुछ भक्ति परक रचना हुई और ऐसी स्थिति में ये अपनी निर्बाध रूपेण शृंगारिक मनोवृत्ति का समर्थन नहीं कर सके।

वृद्धावस्था में पश्चात्तापमूला कविता के मूल में इन कवियों की यह द्विविधा मनोवृत्ति ही है। इनमें से अनेक कवियों को आश्रयदाता की खोज में दर-दर भटकना पड़ा था। सारी आयु भटककर भौतिक ऐश्वर्यों के प्रति भी इनमें विरति जाग जाती थी। कवि पद्माकर-कृत प्रबोधपचासा एवं गंगालहरी और देवदत्त कृत देवमाया-प्रपंच रचनाएँ इस मनःस्थिति की द्योतक हैं। देखें—

(क) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषैके संग,

ए रे मन मेरे हाथ-पाँय तेरे तोरतो।

...इत्यादि

देवदत्त

(ख) पेट की चोरे चपेट सही, परमारथ स्वारथ लागि बिगारे।

...इत्यादि

पद्माकर

पेट की चपेट से प्रभावित हो ये कवि विभिन्न दरबारों के द्वार खटखटाते थे। परन्तु प्रायः सूम साहबों की सेवा से खीझ कर शिकायत करते थे। 'तुमहू कान्ह मनो भये, आज कालि के दानि' कह कर बिहारीलाल ने प्रभु कृष्ण को तत्कालीन सूम नाम से सम्बोधित किया। विषम वातावरण में रहने वाले इन रीति कवियों में कुछ ने पृथक् से भक्ति परक रचनाएँ कीं और कुछ अपनी द्विधात्मिका परिस्थिति में ही पड़े रहे। जिन्होंने पृथक् से भक्तिपरक रचनाएँ प्रस्तुत कीं उन्होंने रागातिशय की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वैसा किया और भौतिक जगत् से असन्तुष्ट तथा आन्त मन को बहलाने की चेष्टा की। अतः इनके भक्तिपरक उद्गारों में भक्त कवियों की रचनाओं-सी ताजगी और उल्लास के स्थान पर एक प्रकार की क्लान्ति और अवसाद मिलता है, भगवान् के प्रति रागात्मक उन्मेष की जगह हतप्रभा मानसिक दीनता और आत्म-भर्त्सना दृष्टिगोचर होती है। रीतिकालीन कवियों में भक्ति-तत्व को दृष्टि में रखकर अध्ययन करने वाले पावेंगे कि विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षित होने पर भी रीतिबद्ध तथा रीति-मुक्त कवियों ने किसी मत विशेष के प्रति आग्रह नहीं किया, प्रत्युत उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भक्त-कवियों द्वारा निर्दिष्ट सामान्य भक्तिमार्ग का ही अनुसरण किया। बिहारीलाल ने तत्कालीन कवियों का दृष्टिकोण स्पष्ट किया—

अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोर

ज्यों त्यों सब को सेइबो एकै नंदकिशोर।

मतिराम ने राधा-कृष्ण के साथ राम और शिव की भी वन्दना की है। देवदत्त भी 'आठों जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं' कह कर राम का स्मरण करते हैं। पद्माकर ने राम, कृष्ण, शंकर, गंगा आदि की स्तुति लिख कर अपने असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। रीति मुक्त कवि आलम ने भी मित्र, मातु, पितु, बन्धु, गुरु, साहिब मेरे राम कह कर उसी सामान्य वैष्णव धर्मानुराग का परिचय दिया जिसकी प्रतिष्ठा भक्त कवियों ने पहिले ही कर रखी थी।

इन कवियों की बाह्याचार सम्बन्धी मान्यताएँ भक्त कवियों के विचार से मेल खाती हैं। इन्हें भी आन्तरिक प्रतीति में विदवास है—

- (क) जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम ।
मन कांचे नाचे वृथा सांचे रांचे राम ॥ —बिहारीलाल ।
- (ख) कथा में न कथा में, न तीरथ के पंथा में,
न पोथी में न पाथ में, न साथ की बसीति में । इत्यादि—देवदत्त
- (ग) काहे को बधंबर को ओढ़ि करौ आडम्बर,
काहे को दिगंबर हूँ दूब खाइ रहिये । इत्यादि—पद्माकर ।

भक्तों ने प्रायः अपने आपको पौराणिक आर्त्त प्राणियों और कुख्यात पापियों की श्रेणी में बिठाया है या अपने आप को उनसे भी अधिक अधम बतलाया है। रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों ने इस प्राचीन परम्परा का ही अनुवर्तन किया है। परन्तु इनके आत्मनिवेदन में उस दैन्य के दर्शन नहीं होते जिसमें भक्तों की हादिक वेदना के साथ उनकी असहायावस्था की व्यंजना होती है। भक्त कवियों की निःसहायावस्था की चरम व्यंजना में भगवच्छरणागतवत्सलता के प्रति अविचल आस्था भी प्रकट होती है। असहायता की चरमावस्था में भगवान् के प्रति अक्षय विश्वास का होना मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इस काल के कवियों में पद्माकर को छोड़कर किसी में न वैसी विह्वलता है और न भगवान् के प्रति एकान्त निष्ठा। अधर्मियों के उद्धारक प्रभु के प्रति इनके उद्गारों के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

- (क) मोह दीजै मोष, ज्यों अनेक अधमन दियो ।
जो बांधे ही तोष, तो बांधों अपने गुननि ॥—बिहारीलाल
- (ख) अधम अजामिल आदि जे हैं तिनको हौं राउ ।
मोह पर कीजै मया, कान्ह दया दरियाउ ॥ —मतिराम
- (ग) पापी अजामिल पार कियो, जेहि नाम लियो सुतहि को नरायन ।
त्यों पद्माकर लात लगे पर विप्रहू के पग चौगुने चायन ।
इत्यादि—पद्माकर

यहाँ प्रथम उदाहरण आलंकारिक चमत्कार से युक्त और द्वितीय दैन्य की विह्वलता से रिकत है। पद्माकर-कृत सबैये में अवश्य ही भक्त की असहायता और भगवान् के प्रति निष्ठा प्रकट हुई है। एक अन्य स्थल पर भी पद्माकर की रचना में हृदय का निश्छल उद्गार भगवान् के प्रति अविचल आस्था प्रकट करता है—

प्रलै के पयोनिधि लौं लहरें उठन लागीं,
लहरा लग्यो त्यों होन पौन पुरबैया को ।

पद्माकर-कृत प्रबोध पचासा में ऐसी एकान्त निष्ठा को व्यक्त करने वाले कवित्तों की संख्या अधिक नहीं है। 'गंगालहरी' में तो इनकी अलंकारप्रियता पुनः उभरी हुई प्रतीत होती है।

रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द ने भक्त होने पर अपने काव्य का ढाँचा ही बदल दिया। कवित्तों और सवैयों के स्थान पर पदों का प्रयोग इनकी परिवर्तित मनो-वृत्ति का द्योतक है। ठाकुर और बोधा ने लौकिक प्रेम में ही स्पष्टरूपेण अपना अक्षय विश्वास प्रकट किया है। अतः रीतिबद्ध कवियों की भाँति इनका मानस दुविधा-ग्रस्त नहीं था। स्वभावतः इनके भक्तिपरक विचारों के सम्बन्ध में प्रश्न ही नहीं उठता। संक्षेप में रीतिबद्ध कवि अपनी द्विधात्मिका मनःस्थिति के कारण भक्ति-परक रचनाओं में अपनी अविचल निष्ठा एवं आत्मसमर्पण की भावना को अनेकित गहराई के साथ अभिव्यक्त न कर सके। इनके भक्तिपरक उद्गार भौतिक जगत् से क्लान्त मन को बहलाने वाली शरणभूमि-मात्र हैं। इनकी भक्तिपरक रचनाओं में भक्त कवियों के उल्लास के स्थान पर मन के अवसाद और आत्मभर्त्सना की अभिव्यक्ति अधिक हुई। रीति कवियों ने सामान्यतः राधा-कृष्ण के नाम तथा उनके प्रति भक्तिपरक उद्गारों को मुख्यतः सामाजिक कवच और अपने आन्तरिक द्वन्द्व के परितोष के रूप में अपनाया।

सूक्ति-नीति-व्यंग्य—रीतिकालीन कवियों को काव्य-रीति ही नहीं सीखनी पड़ती थी। लोक जीवन का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता था। फलतः इन कवियों की रचनाओं में लोकजीवन की गहरी अनुभूतियाँ भी बिखरी मिलती हैं। कहीं सूक्ति-कथन के रूप में, कहीं नीति-वाक्यों में, कहीं व्यंग्यरूप में और कहीं अन्योक्ति का आधार लेकर जीवन की व्यावहारिक सफलता के लिये अनेक विधि-निषेधों की ओर इन कवियों ने संकेत किया है। वृंद, गिरिधर, बिहारीलाल, भिखारी-दास, भूपति, मतिराम, अब्दुर्रहीम आदि कवियों के काव्यों में ये संकेत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कहीं-कहीं तो अपने ही आश्रयदाता की किसी नीति और प्रवृत्ति से असन्तुष्ट होकर इन कवियों को अन्योक्तियों का आधार लेना पड़ा है। यहाँ विस्तार में न जाकर दृष्टान्त स्वरूपा कुछ सूक्ति-नीति-व्यंग्योक्तियों को प्रस्तुत करते हैं—

(क) विद्या बिनु न विराजहि जदपि सरूप कुलीन ।

ज्यों सोभा पावै नहीं, टेसू बास विहीन ॥

—वृन्द

(ख) ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय ।

बारे उजियारो लगै, बड़े अंधेरो होय ॥

—रहीम

(ग) मेरे पग लागि उर आगि न लगाइये ।

—मतिराम

(घ) नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोय ।

जेतो नीचै ह्वै चलै तेतो ऊँचो होइ ॥

—बिहारीलाल

(ङ) नहि पराग नहि मधुर मधु नहि विकास इहि काल ।

अली कली ही सौ बिन्ध्यो आगे कौन हवाल ॥

—बिहारीलाल

विद्यापति और रीतिकालीन कवियों का भावपद्ध

पदावली का भावपक्ष-शारीरिक-सौन्दर्य

विद्वानों ने कविता या काव्य की अनेक मीमांसाएँ प्रस्तुत की हैं। एकदम नयी-तुली और निश्चित परिभाषा दे सकना कठिन है, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भावनाओं की तरंगों को उद्वेलित करके हृदय को अवर्णनीय आनंद से भरने वाली कवि की अभिव्यक्ति काव्य है। सम्यता और धर्म नष्ट हो जाते हैं किन्तु कवि की भावनाओं के रंगों में रंगे ये चित्र हजारों वर्षों के बाद भी अपनी चमक और आकर्षण से युग-युगान्तर तक मानव-हृदय को रसाप्लावित करने वाले होते हैं। कविता का मुख्य उद्देश्य भावों को तरंगित करके आनन्द की प्राप्ति कराना है। सौन्दर्य ही आनन्द है। सौन्दर्य का चित्रण करना ही काव्य का प्रमुख उद्देश्य है और इस सौन्दर्य को जगत् के बीच से खोज निकालना कवि-कर्म है। इस प्रकार सौन्दर्य और कवि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। निस्सन्देह कवि की कृतियों पर उसके हृदय और मस्तिष्क की छाप पड़ती है, किन्तु स्थावर और जंगम जगत् भी कवि को खूब प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि कवि की रचना समान रूप से सबको आनन्द देने वाली होती है। कविता के मूलतः दो पक्ष हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष कविता की आत्मा है। भावों की कोई सीमा नहीं होती। इनकी गति अबाध और असाधारण है। कविता हृदय की वस्तु है, बुद्धि की नहीं। बुद्धि तो यहाँ सहायिका मात्र बनती है। हृदय भावों का भण्डार है। जिस प्रकार के अनुभव को यह इस जगत् में देखता है उसी प्रकार के भाव का स्वभावतः इसमें विकास हो जाता है। हृत्तन्त्री का तार भङ्कृत होते ही कवि अपने उस अनुभव को जन-मुलभ बनाने के उद्देश्य से कविता के माध्यम को अपना लेता है। भावों का कविता में वही स्थान है जो आत्मा का शरीर में।

संसार में मानव कभी हर्ष से फूला फिरता है, कभी विषादवश अश्रुधारा प्रवाहित करता है, कभी उसका हृदय प्रेम के रंगीन चित्रों से विभोर हो उठता है।

कभी वीरतावश उसकी भौंहें तन जाती हैं। यह सब भाव-जगत् की असीमता को प्रकट करता है। कवि इन्हीं विभिन्न भावों को आधार बना कर अपनी कल्पना के सहयोग से अनेक चित्र अंकित करता है। जिस प्रकार भाव कविता की आत्मा है उसी प्रकार भाषा, अलंकार, छन्द आदि कविता के शरीर हैं। यह शरीर ही कविता का कलापक्ष है।

कविता में भावों की वेश-भूषा कलापक्ष समझी जाती है। भाव और कलापक्ष दोनों का सामंजस्य कविता में चार चाँद लगा देता है। महाकवि विद्यापति में भी भाव और कला का सामंजस्य इस प्रकार हुआ है कि दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। विद्यापति की कविता एक निर्मल धारा के समान है जिसमें भावों की तरंगें उद्बलित होती हैं और पाठक व श्रोता के हृदय को लीन कर लेती हैं। उसका हृदय रस-सिक्त हो उठता है। इसका मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि विद्यापति उत्कृष्ट कोटि के गीतकार थे। किसी भी गीतकार के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी भावना इतनी घनीभूत हो कि पाठक के हृदय को विभोर कर दे। उसकी शैली इतनी संगीतमयी हो कि लोग उसकी रचना को गाकर या गाय जाता सुनकर सुधि भूल जावें। विद्यापति ने भाव-प्रधान गीत लिखे। प्रसिद्ध है कि उनके पद को गाते हुए चैतन्य महाप्रभु वेसुध हो जाते थे। सचमुच महाकवि विद्यापति भावप्रधान कवि हैं। विद्यापति की पदावली काव्य का कसीदा नहीं भाव का वैभव है, हाँ जहाँ कहीं काव्य का कसीदा बन गया है, यह कल्पना की उर्वरता के कारण ही हुआ है। कुछ कवि के परिश्रम के कारण नहीं।^१

शान्त, वीर रसादि विषयक पद भी विद्यापति की रचना में मिलते हैं परन्तु उन्होंने मुख्यतः शृंगार-रस का वर्णन किया है। शृंगार के दोनों (संयोग-विप्रलम्ब) पक्षों के वर्णन में उन्होंने अपने हृदय को उँडेल दिया। संयोग और वियोग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशाओं का और मानसिक वृत्तियों का सुन्दर चित्रण आज भी उनका गौरव-वर्द्धन कर रहा है। युवक और युवतियाँ प्रेम-विभोर होकर किन-किन हृद्य भावों से भरते हैं और कैसे हाव-भाव प्रकट करते हैं, इसका ज्ञान जितना विद्यापति को था उतना हिन्दी साहित्य में सूरदास को छोड़ कर और किसी के पास नहीं दीखता। विद्यापति ने केवल मुक्तक रचना की। विद्यापति-पदावली में विशेष क्रम इन पदों को पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए ही सम्पादकों द्वारा दिया गया है। विभिन्न सम्पादकों की अपनी पसन्द भी इनका क्रम स्थापित करने में महत्वपूर्ण रही है। मुक्तक रचना में कवि के लिये यह परमावश्यक है कि वह मानसिक दशाओं का अथवा जड़-चेतन जगत् के अनुभवों का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करे।

विद्यापति की कविता में भाव और भावाभिव्यक्ति करने वाली कला दोनों उत्कृष्ट हैं और परस्पर समन्वित हैं। एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जहाँ जितने उच्च भाव हैं वहाँ उतनी ही उपयुक्त भाषादि कला-तत्त्वों का प्रयोग है। भावों की मूर्ति स्थापित करते समय विद्यापति एक के बाद दूसरा चित्र उपस्थित करते

नहीं थकते। सौन्दर्य का मूर्त रूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने के लिये नित्य नवीन लगने वाले अलंकारों का विधान करते चलते हैं। वाग्वैदग्ध्य और उक्तिवैचित्र्य भाव-मूर्तिकरण में सहायक हुआ। सरल और सहज उक्तियों के सहारे पदों में विद्यापति ने उत्कृष्ट भाव भरे हैं—“कवि विद्यापति गाओल ना, दुःख सहि सहि सुख पाओल ना।” इत्यादि पद की “दुःख सहि सहि सुख पाओल ना” वह उक्ति प्रसंगतः कुछ अश्लीलता के आवरण में लिपटी हुई भी इतनी सटीक है कि उस आवरण में से भी एक लोक-सत्य का रूप उभर आता है। उसी के सहारे यहाँ सखियों ने नायिका का धीरज बँधाया है।

विद्यापति सौन्दर्य के कवि थे, इसीलिये वे अपनी कला के प्रति पूर्णतः सजग रहे। उन्होंने भाव और कला को बड़ी सुगमता से एक सूत्रित करके हमारे सामने रखा। पदावली के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कवि भाव और कला का सामंजस्य करने में सफल रहा। विद्यापति ने मुख्यतः शृंगार-रस का गान किया, जिसका स्थाई भाव रति है। उनका लक्ष्य प्रेम है। इसका उदय नायिका में वयः सन्धि-वेला में होता है। विद्यापति से पूर्व भी भारतीय काव्य-साहित्य-परम्परा में अनेक कवि नायिका की वयः सन्धि का वर्णन कर चुके थे। परम्परा निर्वाह करते हुए भी इस वयः सन्धि को अपने काव्य के उत्थान-बिन्दु के रूप में अपनाकर विद्यापति ने मौलिक सूझ का परिचय दिया। इनसे पूर्व जयदेव ने संस्कृत-गीत-गोविन्द में राधा को काम-कला-चतुरा चित्रित किया। किन्तु विद्यापति ने पदावली को उत्थान देने वाली नायिका (राधा) की ऐसी अवस्था का चुनाव किया, जिसमें उसे न तो बालिका ही कहा जा सकता है और न पूर्णतः युवती ही। उसमें होने वाले शैशव और यौवन के भावात्मक द्वन्द्व से आकृष्ट हो विद्यापति ने लिखा :—

सँसव जौवन दुहु मिलि गेल, श्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।

वचनक चातुरि लहु लहु हास, धरनिये चाँद कएल परगास ॥ इत्यादि

यहाँ आन्तरिक भावों के साथ बाह्य चेष्टाओं का भी सुन्दर सामंजस्य हुआ है। दर्पण लेकर शृंगार-प्रसाधन करने में कवि ने नायिका के उस श्रौत्सुक्य के दर्शन किये जो किसी युवती में यौवनागमन-वेला में स्वतः जागृत हो जाता है। इसी अवस्था में वह अपनी सखियों से काम-कला विषयक अनेक पाठों की जानकारी लेना भी शुरू कर देती है। “निरजन उरज हेरए कत बेरि” शब्दों से भाव-वर्णन में विद्यापति की मनोवैज्ञानिक पहुँच स्पष्ट होती है। “लहु-लहु” शब्दों के प्रयोग से तो हास्य का चित्र-सा उपस्थित कर दिया। “दिन-दिन” शब्द-प्रयोग भी उस नायिका में यौवनागमन की अवस्था का सूचक है। “धरनिये और चाँद कएल परगास” में कैसी स्वाभाविक उत्प्रेक्षा है? भाषा और शब्दों का प्रयोग ऐसा उपयुक्त है कि किसी भी शब्द की अदल-बदल कर देने पर भावोत्कर्ष में हीनता आ सकती है। वयः सन्धि का एक अन्य चित्र देखें :—

खने खने नयन कोन अनुसरई, खने खन वसन धुलि तनु भरई।

खने खन दसना छटा छुट हास, खने खन अधर आगे गहु बास ॥ इत्यादि

यहाँ यौवनोन्मुखा बाला के स्वाभाविक व्यवहार में जो अन्तर हो रहा है उस

का हृदयस्पर्शी चित्र अंकित किया है। क्षणभर वह एक युवती की तरह आचरण करती है, फिर दूसरे ही क्षण भोली-बालिका की-सी क्रियाएँ करने लगती है। किसी क्षण उसके नेत्र कटाक्ष-पात करते हैं तो दूसरे क्षण वह अबोध बालिका-सी धूल में लोटती नजर आती है। कभी क्षण भर में बालिका-सी भोली हँसी बिखेर देती है तो दूसरे ही क्षण वह लज्जायुक्तस्मित से ओठों के आगे आँचल रखकर उसे छिपाने का उपक्रम करती है। कभी चंचल गति से चलती है, दूसरे ही क्षण युवतीभाववशात् उस की गति मन्द हो जाती है। “मनमथ पाठ पहल अनुबन्ध” में तो अत्यन्त अनुठी भावना भरी है। गुरु से प्रथम पाठारम्भ करने वाले बालक से यहाँ नायिका की तुलना की गई है। नायिका का गुरु मनमथ है। नवीन पाठ को जिस प्रकार बालक बड़े आश्चर्य से ग्रहण करता है उसी प्रकार इस नये पाठ के अध्ययन से विद्यापति की नायिका भी चकित-सी रहती है। इसमें स्वभावोक्ति अलंकार का जमाव कवि की प्रतिभा-द्योतक है। स्पष्ट ही वयः सन्धि-प्रकरण में कवि ने अत्यन्त सहज भाव से नायिका की हृदयगत भावनाओं का चित्रण किया है। युवती-भावानुमुखी बालिका की चेष्टाओं को ज्यों का त्यों मनोवैज्ञानिक एवं मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करने की ऐसी योग्यता अन्य कवियों में कम मिलेगी। विद्यापति काव्या-लोक में श्री नरेन्द्रनाथदास ने ठीक ही लिखा है कि भुवन-मोहन-लावण्य के एक से एक सुन्दर पद विद्यापति ने लिखे हैं जिनमें उनकी सुन्दरता अक्षर-अक्षर पर निखर रही है।^१

विद्यापति की सौन्दर्य-चित्रण-पटुता से परिचय-लाभ करने के उद्देश्य से उनके आलम्बन (राधा-कृष्ण) का रूप-चित्र दर्शनीय है। कवि की पदावली का बड़ा भाग इनके सौन्दर्य को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। इनके वयः संधि, पूर्वराग और अभिसार शीर्षकों के अन्तर्गत संगृहीत पदों में युगल (राधा-कृष्ण) सौन्दर्य को ही मूर्त किया गया है। यहाँ तक कि विरहाकुला राधा में भी कवि ने सौन्दर्य निरखा। यहाँ ऐसे पद कम ही मिलेंगे जिनमें क्षीण-कलेवरा राधिका के रूप का चित्रण हुआ। सचमुच विद्यापति सौन्दर्य, माधुर्य और अपरूप के कवि हैं।

विद्यापति से प्राक्कालीन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य में या काव्य में नख-शिख लिखने की एक परिपाटी चली आती थी। इसका लक्ष्य आलम्बन (नायक नायिका) के अंगों का वर्णन करना रहता था। विद्यापति-कृत अधिकांश सौन्दर्यांकन नख-शिख के अन्तर्गत आ जाता है। विद्यापति ने अनेकविधा नख-शिख-शैली को अपनाया और एतद्विषयक प्रचलित सभी काव्य रूढ़ियों को आत्मसात् कर नायक-नायिका के सौन्दर्य को अभिनव भूमि पर प्रतिष्ठित किया। पदावली में चार प्रकार का नख-शिख-वर्णन उपलब्ध होता है—

१. समष्टि सौन्दर्योन्मुख नख-शिख।
२. व्यष्टि सौन्दर्योन्मुख नख-शिख।
३. नखोन्मुख (नख पर प्रथम दृक्पातशील) नख-शिख।

४. शिखोन्मुख (शिख या मुख मण्डल पर प्रथम दृक्पातशील) नख-शिख ।

समष्टि सौन्दर्योन्मुख नख-शिख

यहाँ कवि नायक-नायिका के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का उल्लेख करने का अवकाश नहीं पाता । वह प्रायः नख-शिख क्रम से (जैसे भक्त कवियों की रचनाओं में मिलता है) अथवा शिख-नख क्रम से (जैसे रीतबद्ध एवं रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में मिलता है) दृष्टिपथ में आने वाले अत्यन्त सुगंधकर शारीरिक अवयवों के रूप से अभिभूत हो कुछ शाब्दिक रेखाएँ अंकित करता है । वे रेखाएँ उस रूप-राशि को समष्टि रूप में पाठक या श्रोता के अन्तस् में उतार देती हैं । कृष्ण के ऐसे मोहक रूप-चित्र को देखें—

कि कहब हे सखि कानुक रूप, के पतिआएत एखन स्वरूप ।

अभिनव जलधर सुन्दर देह, पीत वसन पर दामिनि रेह ॥ इत्यादि

विद्यापति ने कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य की समवेत व्यंजना कर पुष्पशर मन्मथ के द्वारा तराशे गये रूप को मूर्त कर दिया ।

कान्हू को देखने की साध रखने वाली गोप-बालाओं की जबानी उस रूप के प्रभाव का कुछ अनुमान किया जा सकता है, जिसे देखते ही उनका मन अपहृत होता था । यमुना तट पर तरुण-कान्हू से भेंट होने पर बस उसकी एक नयन-तरंग से ही वे रूप-बारिधि-स्नाता-सी हो उठती थीं—

जमुनक तिरे तिरे सांकड़ि वाटी, उबटि न भेलिहु संग परिपाटी ।

तरु तर भेंटल तरुन कन्हाइ, नयन तरंग जनि गेलि सनाइ ॥ इत्यादि

श्रीकृष्ण के उस अपरूप को देखकर वे परवशा हो कहतीं—“तब धरि अबुधि भुगुधि हम नारि, कि कहि कि सुनि किछु बुझइ न पारि ।” निश्चय ही इस रूप में वह आकर्षण और मादकता है, जिसके सङ्गत् साक्षात् से राधिका पर सम्मोहन-सा हो जाता है । वह बरबस राधिका के हृदय को चुरा लेता है और राधिका सोचने लगती है कि कान्हू का दर्शन करना ही प्रमाद हो गया—“कान्हू के हेरइत भेल परमाद” । फिर आतुरा का मनोरथ होता—

सुरपति पाए लोचन मांगअँ गहड़ मांगअँ पाँखि ।

नन्दक नन्दन हँ देखि आवअँ मन मनोरथ राखि ॥

उस सौन्दर्य को अपने दो नेत्रों से नहीं, अपितु सुरपति के सहस्राक्ष से पान करने की लालसा उनकी तीव्र हो उठती थी ।

राधिका के समवेत शारीरिक सौन्दर्य की कुछ उभरी हुई रेखाओं ने भी श्री कृष्ण के हृदय को कचोटा और विह्वल हो उन्होंने कहा—

सजनी, भल कए पेखल न भेल ।

मेघ माल संगे तड़ित लता जनि हृदय सेल दए गेल ॥ इत्यादि

यह रूप भी बराबर उन्मादक और काम की फांसका प्रसार करने वाला है, जिसका आध-आध (अपूर्ण या अल्पकालीन) दर्शन और पिपासावर्द्धक है।

यह वह रूप है जिसका अनुमान किया जा सकता है, बुझाकर नहीं कहा जा सकता, मन और नेत्र इस पर न्योछावर हो जाते हैं—“कत रूप कहब बुझाइ, मन मोर चंचल लोचन बीकल ओ ओ अनइत जाइ”। कृष्ण और राधा दोनों का ही नख-शिख-वर्णन किया विद्यापति ने तथापि अधिक स्थान राधिका-नख-शिख सौन्दर्य वर्णन को दिया।

व्यष्टि सौन्दर्योन्मुख नख-शिख

शिखभूपाल-कृत रसार्णव सुधाकर में लिखा है कि—

अंग प्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम् ।

सुश्लिष्टः संधिभेदः स्यात् तत्सौन्दर्यमुदीर्यते ॥ १।१८२

अर्थात्-अंग-प्रत्यंग के समुचितरूपेण संश्लिष्ट रूप में सौन्दर्य है। पृथक-पृथक् भी उन शारीरिक अवयवों में आकर्षण है, तभी तो संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने पर वह रूप-चित्रण अधिक अनुकूल वेदनीय और हृद्य होता है। जब तक हृदयस्थ भाव-नाओं को उद्बुद्ध करने वाला कोई अनुकूल पदार्थ नहीं दिखाई पड़ता तब तक द्रष्टा के मन में सौन्दर्य-चेतना उत्थित नहीं होती। व्यष्टि सौन्दर्योन्मुख-नख-शिख-वर्णन में अनुकूलवेदनीय उन सभी अंगों का समावेश रहता है जिनसे सम्बद्ध होकर द्रष्टा अथवा पाठक के हृदय में सौन्दर्य-चेतना-अंगड़ाई लेने लगती है। कभी सब अंगों का उल्लेख न कर नारी और पुरुष-सौन्दर्य से भरे उन अंगों का ही उल्लेख रहता है, जो अपेक्षाकृत अधिक उत्तेजक प्रभाव को डालने वाले होते हैं। इस नख-शिख के अन्तर्गत वर्णित अवयवों में से कुछ ऐसे होते हैं जो किसी सन्दर्भ विशेष में रखे जाने पर खूब प्रेमोद्दीपक होते हैं। मनोवैज्ञानिक भाषा में इन्हें अप्रधान यौन उपादान (सेकण्डरी सेक्सुअल करेक्टर्स) कहते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान विशारद स्ट्राट्ज महोदय ने अप्रधान यौन उपादानों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की है। और हेवलाक एलिस महोदय ने इन उपादानों में स्तन और नितम्ब को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है।^१ राजशेखर (६०० ईस्वी) की कर्पूर मंजरी (३।१६) में नायक-राजा चन्द्रपाल-नायिका कुन्तल देशपुत्री कर्पूरमंजरी के यौवन को आकर्षण का प्रधान विषय कहता है—“अंगलावणपुष्पं स्सवण परिसरे लोअणा हारतारा”। शौरसेनी प्राकृत में रचित इस पद में राजशेखर ने बताया कि युवावस्था में सुन्दरियों का शरीर लावण्य से भरपूर हो जाता है, आँखें भी आकर्षक और बड़ी लगने लगती हैं। वक्ष-स्थल पर स्तन खूब उभर आते हैं, कमर पतली हो जाती है तथा उस पर त्रिबलियाँ पड़ जाती हैं। नितम्ब खूब सुडौल और गोल हो जाता है। इन पाँच (कान्ति, नेत्र,

वक्ष, कटि, नितम्ब) अंगों से ही बालाएँ कामदेव के संसार-विजय में पताका का काम करती हैं।

विद्यापति की नायिका यौवन की देहली पर खड़ी वयःसंधि के झूले पर झूल रही है। ब्रह्मा ने उसके शरीर को बनाया किन्तु कामदेव ने उसके शरीर को विकास प्रदान किया। इस संसार में दो प्रजापति हैं जो शरीर बनाने में और यौवन देने में चतुर हैं।^१ मुग्धा-मध्या, प्रौढ़ा के भेद-विभेद वाला नक्शा लेकर चलने वाले रीतिकालीन कवि जहाँ व्यष्टि सौन्दर्योन्मुख शिख-नख वर्णन में नेत्र और नेत्र-व्यापार पर मुग्ध हो आँखों की बरछियों से ही घायल पड़े कराहते रहे या दाद देते रहे, वहाँ विद्यापति ने मुख, अधर, दशन, सिंदूर, नयन, बाणी, ललाट, कुन्तल, शरीरव्यष्टि, कटि का उपरि भाग, नासिका, भू, कपोल, कण्ठ, कटाक्ष, काजर-रेखा, नेत्र-पट्ट, बाहु, स्तन, उदर, लोमलता, त्रिबली, नाभि, कटि, नितम्ब, जघन, गति, पद-तल, पद-नख और कर-नख आदि का ऐसा संयत और भावोद्रेक करने वाला उल्लेख किया है जो आलम्बन की मुद्राओं का अत्यन्त लयकारी बिम्ब पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। बिहारीलाल आदि नेत्र-व्यापार वर्णन के आगे अन्य अंगों की चेष्टाओं पर प्रायः ध्यान नहीं देते। नयनोक्तियाँ विद्यापति में भी हैं और वे तीर-कमान का खिलवाड़ न होकर वस्तुतः मर्म को स्पर्श करती हैं। नयनोक्ति की बहुलता रखते हुए भी विद्यापति ने अन्य अंगों की चेष्टाओं का भी उसी परिमाण में बखान किया।^२ तथापि नारी-सौन्दर्य के सर्व-प्रमुख अंग और यौवन के महत्त्वपूर्ण स्मारक रूप स्तन या पयोधर से विद्यापति विशेष आकृष्ट हैं। प्रेमी के हृदय में यह अंग आकुलतापूर्ण भावोद्भवन उत्पन्न करता है और प्रसंगवश उसके स्पर्श से प्रेमी अपने संवेग की तृप्ति के साथ हृद्गत भावों को सांकेतिक रूप से नायिका तक प्रेषित करता है। विद्यापति ने उसे वयः क्रमानुसार परिवर्द्धनशील चित्रित किया है—

पहिल बदरि कुच पुन नवरंग, दिन दिन बाढ़िए पिड़ए अनंग ॥ इत्यादि

विद्यापति की अपनी रसिकतावश ऐसे वर्णन परम्पराभुक्त उपमानों की भित्ति पर खड़े होकर भी जानदार लगते हैं। विद्यापति ने रूढ़ उपमानों को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने हृदय के रूप-गुण और वर्ण तीनों ही दृष्टियों से अप्रस्तुतों के निर्वाचन में अपनी सहज प्रतिभा का परिचय दिया है। साहित्यशास्त्र में जैसे शरीर के वर्णन के लिए कनकलता, विद्युलता, चन्द्रकला, शिरीषमाला, तारा, द्रोणलता, दीपशिखा आदि का प्रयोग रूढ़ है (अलंकार शेखर १३।१)। विद्यापति ने भी नायिका के शरीर के लिए इन उपमानों का प्रयोग किया। यहाँ केवल स्तन और जघन-चरण-तल-नख के विषय में कहते हैं—

स्तन—मुख मण्डल के वर्णन-प्रसंग में मुख का वर्णन करने के बाद विद्यापति अधर, चिबुक और कण्ठ की बात छोड़कर कुचों के वर्णन में लगते हैं। रसिक पाठक

१. कर्पूर मंजरी, तृतीयजवनिकान्तरम्, १७

२. वर्तमान रचना गत द्वितीय अध्याय

जानेंगे कि कुर्चों की उपमा देने में विद्यापति बेजोड़ हैं। स्त्री का वक्षोदेश प्राचीन और मध्ययुग के कवियों का विशेष रुचिकर अंग रहा है। इस अंग का ओन्नत्य, श्यामाग्रता, विस्तृति, दृढ़ता, पाण्डुता आदि गुण काव्यशास्त्रियों के वर्णनीय माने गये हैं। वराह-मिहिर ने भी वर्तुला-कृत घन, अविषम और कठिन उरस्यों को प्रशस्त कहा है (बृहत्-संहिता ७०।६)। इन गुणों के लिये कवियों में उपमान रूढ़ रहे-पूगफल (सुपारी), कमल, कमलकोरक, बिल्व (बेल), ताल, गुच्छ, गजकुम्भ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सी-बीर, जम्बीर, बीजपुर, समुद्र छोलंग आदि (अलंकार शेखर, पृ० ४६)। कुच का प्रसंग आते ही विद्यापति की उत्प्रेक्षा और उपमा की पिटारी खुल जाती है। यह उनके नख-शिख-वर्णन का सबसे आकर्षक और कुछ की दृष्टि में सबसे निर्बल पक्ष है। इस के वर्णन में विद्यापति ने दर्जनों पद रचे, जो भावोल्लास से पूर्ण हैं और साथ ही उस मिठास को बिखेरने वाले हैं जिसको बटोरने के लिए रसिक-भक्त पाठक लालायित रहता है। पयोधर के वर्णन-प्रसंग में देखें विद्यापति बेनीपुरी पद संख्या १०, ११ से ३४ तक।

जघन-चरण-तल-नख

कनक-कदली जंघाओं के लिये प्रसिद्ध रूढ़ उपमान रहा है, परन्तु विद्यापति ने उसे “विपरित कदलि” कह कर अधिक सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है। चरण-तल के लिये कमल, पल्लव, किसलय, स्थल-पद्म को उपमान के रूप में लिया। नखों की उपमा चन्द्रमा से या लालिमा की दृष्टि से प्रवाल से दी। गति के लिये गजराज और हंस, चरणों के महावर या जावक-वर्णन के लिये अग्नि-उषा की लालिमा, पलाशादि लिये जाते हैं। विद्यापति के नायक के हृदय में नायिका के चरण का महावर पावक की सी जलन पैदा करता है। (देखें, विद्यापति बेनीपुरी पद १२, १३, २५, ३२, ३६)।

नखोन्मुख-नख-शिख

नख-शिख के शब्द के नामकरण में नखोन्मुखता ही प्रधान रही है मूल में। रूप-वर्णन की इस शैली का मूल संस्कृत के स्तोत्र-ग्रन्थों में ढूँढा जा सकता है। रीतिकाल की शैली को यदि संकुचित अर्थ में कोई नाम देना चाहे तो नख-शिख-चित्रण और नायिका भेद की शैली कह सकते हैं। परवर्ती सन्त-साहित्य में ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। वैसे परवर्ती संस्कृत-साहित्य के माध-श्रीहर्ष आदि महारथियों की कृतियों में नख-शिख-वर्णन अथवा मानव-रूप-चित्रण अधिक अलंकरण-प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नख-शिख वर्णनों की अतिवादी परिणति की निन्दा करते हुए मनुष्य के सहज रूप के चित्रण की विशेषता बतलाते हुए कहा कि आकृति-चित्रण का अत्यन्त उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिये जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों में हम भेद कर सकें। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसंगबश रीतिकालीन कवियों की

शैली को निकृष्ट घोषित करते हुए लिखा कि यहाँ हम रूप-चित्रण का कोई प्रयास नहीं पाते केवल विलक्षण उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नहीं होता।^१ जो नख-शिख-वर्णन विद्यापति, सूरदास तथा उनके समसामयिक ब्रजभाषा-कवियों में मिलता है, उसमें कहीं-कहीं रूढ़ियों के प्रयोग की इयत्ता दृग्गत होती है। किन्तु विद्यापति सूरदास आदि की रचना में कवि प्रौढ़ोक्ति, रूपकातिशयोक्ति की अधिकता का क्या कारण है? इसके उत्तर में निवेदन है कि परवर्ति-संस्कृत-कविता और प्राकृत, अपभ्रंश काव्यों तथा आरम्भिक ब्रजभाषा की रचनाओं में भी नख-शिख वर्णन की अतिशयतावादी शैली का विकास दृष्टिगोचर होता है। शूलभट्ट फागु में वेश्या के रूप-वर्णन में यद्यपि शैली रूढ़ है तथापि लेखक ने उसे विलक्षणता-प्रदर्शन के हेतु नहीं गृहीत किया। उसके द्वारा उरोजों की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलों के स्तवक से देना एक प्रकार का अलंकरण ही है किन्तु यह अलंकरण रूप-चित्रण में बाधक है, बल्कि उसे और अधिक उद्भासित करने वाला है। पुष्पदन्त ने नारी-सौन्दर्य का जो चित्रण प्रस्तुत किया है वह अभूतपूर्व है। पुष्पदन्त के रूप-चित्रण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्धारित मानदण्ड के अनुरूप हैं उन्होंने ने केवल दो नारियों के रूप में अन्तर को स्पष्टतः अंकित किया, अपितु भिन्न-भिन्न प्रदेशों की नारियों के रूप, स्वभाव, एवं व्यवहारों का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया जैसा उनसे पूर्ववर्ती काव्यों में कम ही मिलता है।^२ नखशिख-वर्णन-परिपाटी मध्य-कालीन काव्य की सर्वमान्य और सर्वत्र गृहीत प्रणाली है। इसके प्रभाव से संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश और भाषा का कोई कवि नहीं बचा। यहाँ तक शम और विराग जिन कवियों का उद्देश्य रहा वे भी नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन परम्परा-निहित परिपाटी के अन्दर ही करते थे। जैन कवियों तक ने नख-शिख वर्णन को इसी ढंग से अपनाया। विद्यापति के नख-शिख वर्णनों पर कामशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र आदि का भी प्रभाव पड़ा। वैसे मोटे रूप से पूरी नख-शिख वर्णन की परिपाटी चाहे वह बौद्ध, जैन आदि किसी भी कवि द्वारा अपनाई गई हो, कामशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र और विशेष कर तन्त्र-शास्त्रीय नारी-लक्षणों से खूब प्रभावित हुई। विद्यापति में घोर शृंगारिकता का एक प्रमुख कारण तत्कालीन तान्त्रिक परम्पराओं का समावेश भी रहा।

विद्यापति जिस प्रान्त में हुए वहाँ शैव और शाक्तों का प्राधान्य विद्यापति के समय में भी था और आज भी है। विद्यापति के पूर्वज और आश्रयदाता भी शैव और शाक्त ही थे। विद्यापति के पूर्ववर्ती काल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचरण करने वाले पावेंगे कि विद्यापति के समय में तान्त्रिक परम्पराओं के अवशेष के रूप में वज्रयान और सहजयान शाखाओं की मान्यताएँ चल रही थीं। इनमें सिद्धियों का प्राधान्य था। तान्त्रिक परम्पराओं का सम्बन्ध यक्षों से था जो कि सामाजिक बन्धनों से मुक्त चिरविलासमय समाज था। सिद्ध और नाथों में शक्ति का जो अधिक

१. चिन्तामणि भाग २, पृ० ३८

२. श्री राहुल सांकृत्यायन-कृत हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ २००

महत्त्व था वह भी उस प्राचीन यक्ष समाज की देन थी। तान्त्रिक परम्परा हिमालय के प्रदेश में थी। वाममार्ग भी तन्त्रों का ही रूप था। यक्षों के समाज में स्त्री की प्रधानता थी। स्त्रियाँ मुक्त रूप से रहती थीं। स्त्री को ही सृजन का मूल कारण समझा जाता था। योनी-पूजा का महत्त्व था। पहिले योनी को ही संसार की आदि शक्ति मान कर पूजा होती थी किन्तु जब पुरुष ने अपनी सत्ता का पता लगा लिया उस समय से लिंग-पूजा का भी प्रारम्भ हुआ। अब योनी के साथ लिंग की पूजा भी प्रारम्भ हुई।^१ शिव की जो मूर्ति एक त्रिकोण-से आकार में स्थित हुई देखी जाती है वह इस बात का प्रमाण है। इस प्रकार शक्ति और शिव का समन्वय हुआ। यह मत वाममार्ग के नाम से प्रचलित था। उत्तर और दक्षिण भारत के एक विस्तृत भूखण्ड पर इस सम्प्रदाय का अधिकार था। इसी वाममार्ग की एक शाखा कौलधर्म के नाम से प्रचलित हुई। स्त्री और पुरुष के शारीरिक विलास के द्वारा ही नाना सिद्धियों की प्राप्ति करना इन सम्प्रदायों का मूल उद्देश्य था। वज्रयान की इन सिद्धियों ने समाज में गृहित और कुत्सित सम्बन्धों को जन्म दिया। समाज की नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं था। आगे चलकर सिद्ध और नाथों ने इस सामाजिक विशृंखलता के विरुद्ध आवाज उठाई। जनता के अन्दर एक विलासिता और कामुकता शताब्दियों तक रह गई, जिसकी प्रतिक्रिया हठयोग और नाथ पंथ में हुई।

शाक्त सम्प्रदाय ने भारत के समस्त सम्प्रदायों को प्रभावित किया। सभी सम्प्रदायों में शक्ति और शिव को स्थान मिला। जिस समय विद्यापति मिथिला में हुए, उस समय यह शाक्त सम्प्रदाय बंगाल और बिहार में विद्यमान था। शक्ति या दुर्गा को ही आदिशक्ति माना जाता था और अन्य देवताओं की जननी भी शक्ति ही थी। शव को शिव बनाने वाली शक्ति ही है।^२ शाक्तों का विश्वास है कि शिव मूलतः शव है। त्रिभुवन सुन्दरी के रूप में जब शक्ति उस शव से विपरीत रति करती है तब वह शव शिव बन जाता है। इस स्थूल कथन का दार्शनिक पक्ष यह है कि ब्रह्म अपने आप कुछ नहीं करता। जब वह माया अथवा शक्ति-सम्पन्न होता है तब सृष्टि रचना होती है। राधा और कृष्ण की परम्परा का मूल स्रोत जो गाथा-सप्तशती और अन्य लोक-गीतों में दक्षिण के वैष्णवधर्म के प्रचार से पूर्व मिलता है, और जो जयदेव में होकर विद्यापति में आया था, वह मूलतः शाक्त प्रभाव ही था। शाक्तों ने भी शक्ति को राधा और शिव को कृष्ण कह कर अपनी शृंगारिक अतृप्त भावनाओं की तृप्ति के लिये साहित्य में एक कोना सुरक्षित कर लिया। परन्तु इतना निश्चय है कि राधा एक शक्ति के रूप में थी और कृष्ण एक पुरुष के रूप में। इस धारणा को इस रूप में विकास पाते-पाते कितनी शताब्दियाँ व्यतीत हुई यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। गौरी-शंकर, राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि युग्म इस बात के प्रमाण हैं। शाक्त और शैवों की एकता का यही वैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है। इसी एकता को विद्यापति ने पदावली एवं अन्य रचनाओं में अनेक स्थलों पर प्रदर्शित किया है—

१. डा० रांगेय राघव-कृत संगम और संघर्ष

२. डा० रांगेय राघव-कृत गोरखनाथ

(क) विदिता देवी विदिता हो अवरिल केश सोहन्ती । इत्यादि ।

(ख) जय जय भैरवि असुर भयावनि पशुपति भामिन माया । इत्यादि ।

इत्यादि पदों में समस्त देवताओं को शक्ति का आराधक कहा है । पुरुष परीक्षा के मंगलाचरण में आदि शक्ति को शिव की पूज्या, विष्णु की ध्येया कहा है । पदावली में भी 'हरि, विरंचि महेश शेखर चुम्ब्यमान पदे' आता है । उपर्युक्त पद की अन्तिम पंक्ति से स्पष्ट है कि विद्यापति शक्ति के ही उपासक थे, तभी तो उन्होंने प्रार्थना की— 'विद्यापति कवि तुअ पद सेवक पुत्र विसरु जनु माता ।' वस्तुतः विद्यापति स्मार्त-शाक्त थे । इसी कारण शक्ति के साथ-साथ अन्य देवताओं को भी अनादर की दृष्टि से नहीं देखते थे । शाक्तों की दो धाराएँ थीं—एक वैदिक शाक्त, दूसरे अवैदिक शाक्त । वैदिक शाक्त वेद, स्मृति, पुराण शास्त्रों का आधार ले कर चले, किन्तु अवैदिक शाक्तों में वेदादि का विरोध प्रबल था । इसका यह आशय कदापि न लेना चाहिये कि ये परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित नहीं हुए । दोनों ही एक दूसरे से प्रभावित हुए । विद्यापति पर भी अवैदिक शाक्तों का प्रभाव पड़ा और उसी के फलस्वरूप उन्होंने वज्रयान की उस स्थूलता को अपनी भक्ति में स्थान दिया जो उनकी पदावली में राधा-कृष्ण के विलास और काम-क्रीड़ाओं के रूप में बिखरी पड़ी है । वैदिक शाक्त होने के प्रमाणों में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उन्होंने सब देवी-देवताओं की जिस एकरूपता का आख्यान किया है वह एकदम स्मृति के अनुरूप है । संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्यापति के आविर्भाव के पूर्व ही पंचरात्र से प्रभावित भागवत सम्प्रदायानुगत वैष्णव मत मिथिला में विद्यमान था और साथ ही वज्रयान वाममार्ग इत्यादि शाक्त-परम्पराओं के आधार पर ऐसी भूमि पर आ चुके थे जहाँ समस्त सम्प्रदाय अपने-अपने उपास्य युगलों को ले कर उसके अनुकूल होने में समर्थ हो गये थे । इन परम्पराओं में स्मार्त शाखा भी आ गई थी । विभिन्न देवता शक्ति के सहारे के समान श्रद्धा के पर्याय हो गये थे । विद्यापति में ये सब परम्पराएँ लक्षित होती हैं । शाक्तोपासना में नारी देवी का पर्याय है । नारी के समस्त रूप सामान्य हैं । विद्यापति में नारी के कामिनी और माता ये दो स्वरूप प्रधान मिलते हैं । क्रीड़ा-रता नारी शाक्तों की परम उमास्या है । विद्यापति ने उसका प्रभूत वर्णन किया है । स्थूल की यह समाराधना शाक्त मतानुसार शक्ति के बाह्य लालित्य का प्रतीक है । अतः यह समस्त शृंगारपरकता मूलतः शाक्त भक्ति है । जो भक्ति के अन्य प्रचलित स्वरूपों से तनिक भिन्न दिखाई देते हुए भी आधार रूप से भिन्न नहीं है । निश्चय ही शृंगार और भक्ति को अलग-प्रलग देखना शाक्त-परम्पराओं को समझ पाने का फल समझा जावेगा । चण्डीदास आदि में तो जातिवाद का विरोध भी मिलता है, परन्तु विद्यापति स्मृत्यन्तर्गत प्रभावों से अनुशासित रहे । वस्तुतः विद्यापति शाक्त कवि थे । और शृंगार शाक्तों की भक्ति में प्रमुख था, इसीलिये विद्यापति ने भी अपने काव्य में शृंगार की प्रधानता रखी । तत्कालीन दरबार और पूर्ववर्ती संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की शृंगार-कविता भी विद्यापति की रचना में शृंगार का अधिक आधान करने वाले कारण थे । स्पष्ट ही विद्यापति का रूप-चित्रण, सौन्दर्य-विधान, नख-शिख और शिख-नख इन सब परम्पराओं को अपने में सपेटे हुए हैं । नारी विषयक नख-शिख-वर्णन इस समय तक वस्तुतः शिख-नख-वर्णन का रूप-धारण

कर चुका था। विद्यापति में नख से प्रारम्भ होने वाला नायक-नायिका के सर्वांग (नख-शिख) का वर्णन है, लेकिन आधिक्य शिख-नख-वर्णन का ही है। उनके नख-शिख-वर्णन सम्बन्धी कुछ दृष्टान्त उनकी पदावली से देखें—

(क) ए सखि पेखलि एक अपरूप, सुनइत मानबि सपनसरूप। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३६

(ख) चरन कमल कदली विपरीत, हास कला से हरये साँचीत ॥ इत्यादि।

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दन सहाय, पृष्ठ ३४-३५

(ग) माधव कि कहब सुन्दरि रूप। इत्यादि।

—वही, पृष्ठ २१

(घ) साजनि अकथ कही नहि जाई। इत्यादि।

—वही, पृष्ठ २२-२३

यहाँ 'क' में नख से प्रारम्भ होने वाला नायक (कृष्ण) का रूप-दृश्य इस प्रकार है—नायिका ने सखी से निवेदन किया कि हे सखि, एक अपूर्व रूप मैंने देखा है। तुम सुनोगी तो उसे स्वप्न की बात मानोगी। उसके दो कमलों (चरणों) पर चन्द्रमाओं (नखों) की माला शोभा दे रही थी। उन पर तरुण तमाल वृक्ष (युवा-श्याम-शरीर) उद्भूत था। इस यौवन-भरी देह पर विद्युत-लता की भाँति पीताम्बर लिपटा हुआ था। वह तमाल वृक्ष-सा आकर्षक व्यक्ति यमुना-तट पर धीमे-धीमे जा रहा था। उसके तमाल रूपी शरीर की शाखा रूपी बाहुओं के अग्र भाग में उज्ज्वल सुधाकर (नखों) की पंक्तियाँ थीं और नवीन किसलय की भाँति उसकी रक्तिम हथेलियाँ थीं। बिम्बफल के सदृश शोभायमान उसके दोनों ओष्ठ थे और तोते की चोंच के सदृश नासिका मुख की श्री-वृद्धि कर रही थी। नासिका के आजू-बाजू चंचल खंजन की भाँति दो नेत्र विकसित थे और सिर पर नाग से केशों ने मोर-मुकुट को ढक रखा था। हे सुरसिके, मुझको उस अपूर्व सुन्दर पुरुष का परिचय बतला। मेरी तो सारी सुधि उसे देखते ही जाती रही, अतः अब तू ही उसका निशान पता आदि बतला। कवि विद्यापति इस रस-रीति से भली प्रकार परिचित हैं। हे सखि, उस सुपुरुष के मर्म को तो केवल तू ही भली प्रकार जानती है। यहाँ अनोखे ढंग से नख से प्रारम्भ करके विद्यापति ने श्रीकृष्ण के साँवले रूप की प्रतिमा दृग्गत कराई है। रूढ़-उपमानों से प्रेषणीय बनाया हुआ भी कृष्ण का यह नख-शिख दर्शकों की सुधि भुलाने में समर्थ है।

(ख) में नायिका के शारीरिक सौन्दर्य का पद से बखान करते हुए कहा कि उसके दोनों चरण कमल जैसे हैं। चरण-कमलों पर विपरीत कदली-स्तम्भ (जंघाएँ) स्थित हैं। उसका कलात्मक हास्य सहृदय एवं शान्त-चित्त व्यक्तियों के हृदयों को भी हर लेता है। इस कथन पर कौन विश्वास टिकावेगा कि वह इस घरती पर चम्पक-पुष्प से निर्मित है। उसकी शारीरिक उज्ज्वलता और सौकुमार्य को सूचित किया गया है, इस प्रकार। हे माधव, जरा पलट कर तो देखो कौंसी अपूर्व सुन्दरी है? तरंगिनी-

त्रिबलि के तट पर गम्भीर कूप (नाभि) है, चमत्कार की बात यह है कि वहाँ बिना जल के ही सेवार (रोम-राजि) उपजी हुई है। उस रूप की मनोरमता बढ़ती प्रतीत होती है, जब यह कहा जाता है कि वहीं नेत्र रूमी खंजन चहक रहे हैं। दोनों भी हैं कमान हैं। वहीं चन्द्रमुख का उदय हुआ है। मुख-चन्द्र के ऊपर केशपाश ग्रन्धकार-रूप से उस पर छाया है। चन्द्र-मुख और तिमिर (केश-कलाप) में विवाद छिड़ता है, केशपाश के छाया होने के कारण मानों वह चन्द्र पर विजय पाता है। विद्यापति के अनुसार लखिमा देवि के कन्त शिवसिंह महाराज इस रस के मर्मज्ञ हैं।

(ग) में दृष्टकूट के आवरण में नायिका का सौंदर्य लिपटा है। यहाँ पर उप-मेयों के स्थानों पर उपमानों की स्थापना करने और इस प्रकार क्रमशः नख-शिख-वर्णन करने का चमत्कार तो है ही, सारंग शब्द के श्लेष से कूट को और अधिक गूढ़ बनाने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार इस पद में कूट की दो शैलियों का मेल है— एक उपमेय के स्थान पर केवल उपमानों की स्थापना, दूसरे श्लेष द्वारा गूढ़ता लाने का प्रयास। इस प्रकार के अनेक कूट पद विद्यापति पदावली में उपलब्ध होते हैं।

(घ) में अकथनीय, शब्द-बन्धन से परे रूप-राशि को शब्दों द्वारा मूर्त किया गया है। सखि अत्यन्त आश्चर्यमयी रचना देखने में आई है। उसके अबल (कोमल) अरुण (सूर्य) के सदृश लाल पद तल हैं, वे शशि-मण्डल (नख-पंकित) के मध्य छिपे हैं। उसकी कदली (जंघाओं) पर केसरि-सी कटि, कटि के ऊपर मेरु (कुचों) को आरूढ़ देखा। और ऊपर दृष्टि उठाई तो निशाकर (मुख) दृग्गत हुआ। उस पर कीर (नासिका) सुशोभित था, उसके ऊपर चकित एवं भ्रमित हरिनी (नेत्र) देखी। कीर और कुरंगिनी के ऊपर भ्रमर (घुघराले कुन्तल) और उन पर फणी (वेणी) देखी। इन सबके साथ एक असंभव कौतुक और देखा—वह यह कि जल के बिना कमल (पयोधर) खिले हैं। दोनों कमलों (पयोधरों) पर द्वितीया के चन्द्रमा (नख-भत) के चिह्न दिखाई दिये। विद्यापति ने यह अकथ कथा कही है। इसका रस महाराज शिव-सिंह-सा कोई विरला ही जानता है।

शिखोन्मुख नख-शिख अथवा शिख-नख—यहाँ रूप-वर्णन-प्रसंग में सर्वप्रथम दृक्पात शिख या मुख-मण्डल पर होता है। कवि की रसिक अंतर्दृष्टि नायक-नायिका के मुख-मण्डल से विमुग्ध हो हार्दिक सुखानुभूति को प्रायः रूढ़ उपमानों या कवि-परम्परा में प्रचलित शब्दों का बाना पहिना कर सौन्दर्य-मूर्ति का निर्माण करती है। सौंदर्य विषयक उपमान भले ही रूढ़ होते हैं, परन्तु अपनी-अपनी विशिष्ट योजना के फलस्वरूप पुनः पुनः एक-से उपमान-समूहों के द्वारा चित्रित सौंदर्य पुराना नहीं पड़-पाता। उपमानों की वह विशिष्ट योजना विद्यापति में विमुग्धकारी है और सचमुच उनके अपरूप को सजीवता प्रदान करने वाली है—

(क) जुगल सैल-सिम हिमकर देखल, एक कमल दुइजोति रे। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३

(ख) करिवर-राजहंस-गति-गामिनि; चलली संकेत गेहा। इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दन सहाय, पृष्ठ २३-२४

(ग) कनक-लता अरविन्दा, दमना माँझि उगल जनि चन्दा । इत्यादि

—विद्यापति बेनीपुरी, पद १६

(घ) सहज प्रसन मुख दरस हृदय सुख लोचन करल तरंग । इत्यादि

—वही, पद २२

यहाँ 'क' में नायिका बाला की सुन्दरता का रूपक बाँधते हुए कहते हैं कि हमने दो पर्वतों (दो उत्तुंग कुच्चों) के सीमा-प्रदेश में चन्द्र (मुख) का दर्शन किया। वहीं एक कमल (मुख) में दो ज्योतियाँ (आँखें) भी देखने में आईं। बाला का मुख ऐसा सुन्दर और अरुणाभ है मानों मधुरी-पुष्प पर सिन्दूर लपेट दिया हो। बाला के दाँत इतने सुन्दर और श्वेत हैं मानों गज-मुक्ताओं की पंक्ति बैठी हो। अनुपम सुन्दरी बाला का जो रूप आज देखा है उसके वर्णन पर कौन विश्वास करेगा, क्योंकि विधाता की सृष्टि अनुपम तथा अपूर्व है। विपरीत-कनक-कदली (जाँघ) के नीचे स्थल-कमल (चरण) शोभायमान हैं और पैरों में पैजनियाँ होने के कारण जिस समय वह बाला चलती है तो पैजनियों की ध्वनि बड़ी मनोरम प्रतीत होती है। मानों महाराजाधिराज कामदेव के निद्रा-जागृत हो जाने के उपलक्ष में पैजनियों की उस मधुर सुर से बाजे बज रहे हो। विद्यापति के अनुसार ऐसी सुरसिका बाला का दर्शन वही व्यक्ति पा सकता है जिसने अपने पूर्व जन्म में पुण्य किये हों। इस सरस व्यवहार के मर्मज्ञ एक मात्र लखिमा देवि के कन्त महाराज शिवसिंह हैं। शिख-नख-वर्णन सम्बन्धी इस पद में दो विशिष्टताएँ हैं। प्रथम का आधार चमत्कारिक 'विपरीत' शब्द है। प्रायः कवियों ने जंघा की उपमा कदली-स्तम्भ से दी है। कदली-स्तम्भ नीचे से मोटा और ऊपर से पतला होता है, परन्तु सुन्दरी बाला की जंघाएँ नीचे से पतली और ऊपर से पुष्ट होती हैं। इन दोनों के इस पारस्परिक अन्तर को विद्यापति से पूर्व किसी ने लक्षित नहीं किया। विपरीत-कनक-कदली कह कर विद्यापति का सूक्ष्म निरीक्षण चमत्कृत कर देता है। रीतिकालीन कवि शिरोमणि बिहारी-लाल :—

“जंघ जुगल लोचन निरे, करे मनोनिधि मैन,
केलि तरुन दुख दैन ए, केलि तरुन सुख दैन ।”

कह कर केवल यमक-चमत्कार-बल से प्रसंग-निर्वाह कर गये। निश्चय ही विद्यापति जैसी सूक्ष्म दृष्टि का यहाँ अभाव है। दूसरी विशिष्टता विद्यापति के लोक-ज्ञान (व्यावहारिक पक्ष) का आभास देने वाली है। भारतीय रजवाड़ों में आज भी नृपतियों के जागने, उठने, भोजन, शयनादि दैनिक कर्मों के समय मधुर स्वरों में बाजे बजाए जाते हैं। इसमें कवि ने कामदेव को भूप के पद से विभूषित किया है। नायिका में काम-जागरण के समय मधुर स्वरों में बजने वाले बाजों की व्यवस्था कर विद्यापति ने इस लौकिक व्यवहार को भी खूब निभाया है।

(ख) पद में विद्यापति ने नारी के शिख-नख-सौन्दर्य के अभिव्यंजक सब उपमानों का आकलन किया है। ठीक है। परन्तु जिनि शब्द के सार्थक प्रयोग से यह आकलन निरा आकलन नहीं रहा। जिनि शब्द के प्रयोग से प्रत्येक सौन्दर्य के उपमान

पर राधा के शिख-नख (सर्वांग) विजय-लाभ करने वाले सूचित हुए हैं। ऐसा करने पर ही राधिका के अपरूप को मूर्त किया जा सकता था। नख-शिख और शिख-नख दोनों प्रकार के वर्णनों से विद्यापति ने इस अपरूप का ही चित्रण किया है।

(ग) में नायिका का शिख-नख-वर्णन उपस्थित करते हुए शिख या मुख-मण्डल से प्रारम्भ कर विद्यापति नख तक नहीं पहुँचते। ऐसे अनेक प्रसंगों में वे मुख-मण्डल या अधिक दृष्टा तो वक्ष-सौन्दर्य पर ही विमुग्ध हो रहते हैं। इस पद में भी विद्यापति मुख-मण्डल से आगे नहीं बढ़ पाये। नायिका-सौन्दर्य के विषय में उनका कथन है कि उसकी देह-लता में कमल (मुख) का उदय हुआ है। उसके काले बालों के बीच सुवर्णाभ मुख ऐसा प्रतीत होता है मानों द्रोणलता में होकर चन्द्रमा उदित हुआ हो। उसके केशावृत मुख की उपमा भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार से देते हैं। कोई कहता है कि बाला का मुख ऐसा है मानों स्वच्छ जल में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब सेवार घास से आच्छादित हो गया हो। परन्तु कोई कहता है कि यह उपमा नहीं जँचती। इस बाला का मुख काले बालों में इस प्रकार प्रकाशित है जैसे उज्ज्वल चन्द्रमा को काली बदली ने ढक लिया हो। इसके नेत्रों के विषय में भी इसी प्रकार विभिन्न मत मिलते हैं। किसी का विचार है कि बाला के नेत्र ऐसे चंचल हैं मानों भ्रमर मकरन्द-पान के बाद उन्मत्त हो भ्रमण कर रहा हो। अन्य दर्शकों का अभिमत है कि भ्रमर नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि मानों चकोर दाना चुग रहा हो। उसके मुख के अनुपम सौन्दर्य और नेत्रों की चंचलता से प्रत्येक दर्शक में संशय का उदय हुआ। इसलिये उस ऐसे विशिष्ट रूप का वर्णन वे ही कर पाते हैं जो युक्ति विशेष की योजना करने में चतुर हों। “केहु बोलए ताहि जुगुति विसेखी” से स्पष्ट है कि बिना इस विशेष योजना के यह सारा उपक्रम रूढ़ उपमानों का मात्र पिष्ट-पेषण होकर रह सकता है। विद्यापति ने उपमानों की विशिष्ट योजनापूर्वक जिस अपूर्व शिख-नख सौन्दर्य का चित्रण किया है वह विरले पुण्यात्माओं को उपलब्ध होता है।

नदी के स्वच्छ जल में सेवार घास से आच्छादित मुख-प्रतिबिम्ब से नायिका के केशों से ढके मुख की कल्पना बड़ी अनूठी है। नायिका-रूप-वर्णन-प्रसंग में यह कल्पना रीतिकालीन कवियों को बड़ी हृद्य प्रतीत हुई। बिहारीलाल ने इस भाव-रत्न को अपनी “सतसई” में यों खचित किया—

भीने पट में भिलमिली, भलकति ओप अपार ।

सुरतरु की मनु सिन्धु में, लसत सपल्लव डार ॥

इसी प्रकार नेत्रों की चंचलता प्रकट करने के लिये बिहारीलाल ने लिखा—

चमचमात चंचल नयन, बिच धूँघट पट भीन ।

मानहु सुर सरिता विमल, उछरत जुग मीन ॥

(घ) इस पद को यहाँ उद्धृत करने से हमारा अभिप्राय यह है कि यद्यपि विद्यापति का शिख-नख-रूढ़-उपमान-संकुल है, तथापि विद्यापति को नायिका का सहज-सौन्दर्य प्रकाशित करना अभीष्ट है और इस सहज सौन्दर्य के प्रकाशन में वे सहज ही

रहे हैं, शास्त्रियों से दंगल छेड़ते नजर नहीं आते। रूप-दर्शन के प्रभाव को सहज शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए विद्यापति कहते हैं कि बाला के सहज-प्रसन्न मुख और चंचल नेत्रों का दर्शन हादिक सुख को देने वाला है। परन्तु उस सहज सुन्दरी से मिलाप उतना ही असंभव है जितना चन्द्रमा और कमल का मिलन होता है, क्योंकि उनमें से एक आकाश में विराजता है और दूसरा धरती पर। लगता है विधाता ने इस बाला को लक्ष्मी के सहज ही निमित्त किया है और उसकी यह रचना रूप तथा गुणों में साक्षात् लक्ष्मी के तुल्य ही है। उसके उत्तुंग कुचों की शोभा को देखकर सुवर्ण-गिरि मारे लज्जा के दूर भाग गये। अचल (पर्वत-जड़) होने पर भी संचल हो वे अन्यत्र चले गये, इसका रहस्य कौन बतला सकता है और कौन युक्तिपूर्वक इसे समझ सकता है? विधाता को आशंका हुई कि शरीर के भार से कहीं इसकी क्षीण कटि टूट न जाये इसलिये नीले रेशम को सुदृढ़ समझ कर उसके रेशों द्वारा बड़े यत्न से रोम-राजि का निर्माण किया। कवि विद्यापति कहते हैं कि कामदेव की स्त्री रति के समान सुन्दर एवं सुकुमार बाला का रहस्य रसिक जन ही जान सकते हैं। लखिमा देवि के पति राजा शिवसिंह (पौरुष स्वरूप सुकृत-संचय जिनके पास है) इस रस-रीति के ज्ञाता हैं।

नायिका के क्षीण-कटित्व और उसकी सुकुमारता से आकृष्ट हो रीतिकालीन कवियों ने बड़ी रसिकता प्रदर्शित की—

लगी अनलगी सीं सुविधि, करी खरी कटि छीन ।

कियो मनो वार्हि केसरि, कुच नितम्ब अति पीन ॥ —बिहारीलाल

रीतिकालीन कवियों द्वारा वर्णित नायिकाएँ तो इतनी सुकुमार चित्रित की गई हैं कि वे मानो अपनी शोभा के भार को भी वहन करने में बोझ का अनुभव करती थीं—

भूषण भार संभारि हैं, क्यों इहि तन सुकुमार ।

सूधे पांय न भू परत, सोभा ही के भार ॥ —बिहारीलाल

संस्कृत-काव्य में नख-शिख लिखने की एक परिपाटी चली आती थी जिसका उद्देश्य नायक-नायिका के अंगों का क्रमशः वर्णन करना होता था। पदावली का सौन्दर्यांकन नख-शिख सीमा में ही रहता है। विद्यापति की कविता में शुद्ध-नख-शिख सौन्दर्य भी अंकित हुआ है तथापि अधिकतर नायक-नायिका के शिख-नख सौन्दर्य का ही उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार रीतिकालीन कविता में भी शिख-नख प्रकार के नख-शिख सौन्दर्य को ही प्रधानता मिली। हिन्दी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति हैं, जिनमें रीति-संकेत असंदिग्ध रूप में मिलते हैं। नख-शिख को शिख-नख-प्रधान बनाकर स्वतन्त्र रूप से वर्णन करने की रूढ़ि चलाने का श्रेय भी विद्यापति को मिलना चाहिये।

विद्यापति-कृत नख-शिख-वर्णन और शिख-नख-वर्णन के उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र प्रसिद्ध रूढ़ियों अथवा कवि-समयों का प्रयोग किया है। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि उन्होंने इन रूढ़ उपमानों का प्रयोग करते

समय भी एक आभिजात्य का परिचय दिया है। उन्होंने रूढ़ियों को अतिमात्रा में प्रयुक्त नहीं किया है, इसीलिये उनके वर्णनों में रीतिकालीन कवियों के से ऊहात्मक चित्रण कम ही दिखाई पड़ते हैं। राधिका के सौंदर्य-चित्रण में उन्होंने निरंतर इस बात का ध्यान रखा है कि यह चित्रण कुरुचि उत्पन्न न करे। कहीं-कहीं वर्णन की विवृति भी दिखाई पड़ती है, किन्तु ऐसे स्थलों पर नाक-भोंह सिकोड़ने के पहले विचारणीय है कि ये वर्णन १४वीं शती के एक दरबारी कवि ने प्रस्तुत किये हैं और उस काल में ऐसे चित्रण उपेक्षणीय या वर्ज्य नहीं थे। एक विशेष बात यह कहनी है कि सामान्य एवं रूढ़ उपमान-राशि से संविलित जो पार्थिव सौन्दर्य-प्रतिमा उत्थित होती है या हो सकती है विद्यापति का सौन्दर्य या अपरूप उससे ऊपर की वस्तु है। विद्यापति इस अपरूप को ही अपना ईश्वर मानते हैं, अपनी सिद्धि मानते हैं। वे इस अपरूप के सामने समर्पण नहीं कर देते, बल्कि इसे जानने की निरन्तर अतृप्त इच्छा से चालित रहते हैं। उनकी सौन्दर्य कल्पना न तो बिहारीलाल आदि की तरह थकती है और न सूरदासादि की भाँति समर्पण कर देती है। विद्यापति रूप के सजग द्रष्टा हैं। बहुत से आलोचक नख-शिख-वर्णन को हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उसमें मानव-सौन्दर्य का खण्डशः वर्णन ही प्रस्तुत हो पाता है। यह धारणा उचित नहीं। विद्यापति ने सौन्दर्य के प्रत्येक पक्ष का-स्थूल दृष्टि से कहें तो नख-शिख का वर्णन सौन्दर्य को खण्डित करके नहीं बल्कि उसके प्रत्येक हिस्से को उद्भासित करके उसकी समग्रता का बोध कराने के लिये किया है, प्रकृति के सर्वोत्तम पदार्थों से नारी के शरीर के प्रत्येक अंग की समता नहीं श्रेष्ठता दिखाकर कवि उसके पार्थिव रूप को और भी अधिक शालीन और स्वस्थ ढंग से उपस्थित करना चाहता है। विद्यापति रूप के पार्थिव बन्धन में बंधे हुए कवि नहीं हैं। यदि वे मांसल रूप के बन्धन में बंधे होते तो जन्मभर उसे देखते हुए भी अतृप्ति की बात न करते—“जनम अवधि हम रूप निहारल, तदपि न तिरपित भेल।”

वस्तुतः वे इन तमाम खण्डित रूप-तत्वों के बीच प्रवहमान अखण्ड रूप-तत्व के दर्शन की कामना लेकर चले थे (देखें डा० शिवप्रसादसिंह-कृत विद्यापति पृ० १६३)।

भाव-सौन्दर्य

शारीरिक सौन्दर्य के आख्यान में कवि की दृष्टि बहिर्मुखी रहती है। आन्तरिक सौन्दर्य-उल्लेख की मात्रा पर कवि महत्व या गौरव पाने का अधिकारी बनता है। प्रत्येक साहित्य मानव-हृदय का स्पष्टीकरण करता है। जिस साहित्य में हृदय को जितना अधिक प्रकट किया जाता है वह साहित्य उतना ही अमर हो जाता है। विद्यापति की पदावली में हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्ति को विवृति मिली है। संयोग-शृंगार का आनन्द और उल्लास, प्रिय-प्रतीक्षा-जनित औत्सुक्य तथा विरह या विप्रलम्भ-शृंगार की विविध अवस्थाओं के सुन्दर भावात्मक चित्र-अंकित हुए हैं। जीवन और काव्य के सत्य को अपनाते हुए विद्यापति ने राधा और कृष्ण के प्रेमोदय का कैसा चित्र अंकित किया है—

पथ-गति नयन मिलल राधा कान, दुहु मन मनसिज पूरल संधान ॥

दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर, समय न बूझ्य अचतुर चोर ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २७

यहाँ मार्ग में राधा और कृष्ण के नयन मिले । नयनों के मिलते ही कामदेव ने दोनों के हृदयों को अपने बाणों से विद्ध कर दिया । दोनों प्रेम-विभोर हो परस्पर ठगे-से देखते रह गये ।

अन्यत्र ऐसे ही राधा-कृष्ण के एकान्त साक्षात् से उद्भूत मानस पीड़ा का उल्लेख दर्शनीय है—

पथ-गति पेखल मो राधा, तखनुक भाव परान पए पीडलि ।

रहल कुमुद-निधि साधा ॥ इत्यादि

—वही, पद ३४

मार्ग में जाती हुई राधा की भाव-भंगिमाओं ने कृष्ण के अन्तर को प्रेम की पीड़ा से पीड़ित कर दिया । कृष्ण को उस चन्द्रमुखी को देखने की साध बनी रही । राधा ने सुन्दर कमलिनी-से नेत्रों को तिरछा करके थोड़ी देर कृष्ण को देखा । थोड़ी देर तक ठहरने वाली उसके नेत्रों की बाँकी मुद्रा (अदा) को देख कवि को ऐसा प्रतीत हुआ मानो खंजन पक्षी को जंजीर से बाँध दिया हो और वह कृष्ण की दृष्टि पड़ते ही अचानक गायब हो गया हो । प्रेम की पीड़ा के साथ-साथ कवि ने राधा की मोहक मुद्राओं का भी समावेश किया है । विद्यापति ने अपनी पदावली में आन्तरिक वृत्तियों को स्पष्ट करने के लिए हावभाव और मुद्राओं आदि बाह्य चेष्टाओं की भी साथ-साथ योजना की है । ऐसा करने से उनकी कविता बाह्य एवं आन्तरिक दोनों पक्षों से समान रूप से विभूषित है ।

विद्यापति ने संयोग-वर्णन में जो कुशलता प्रदर्शित की है वह उनकी भावुकता और पाण्डित्य दोनों का सुफल है । इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कहीं-कहीं पर तो वह एक अलंकार-शास्त्री ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं । संयोग-शृंगार-वर्णन में कवि विद्यापति अपनी प्रतिभा को शृंगारिक प्रवृत्ति के कारण स्थूल-चित्रांकन में रत रखते हैं । इस कारण अनेक विद्वानों ने उन पर अश्लीलता का दोष भी लगाया है किन्तु उनके सांस्कृतिक परिवेश में पैठने वाले विचारक इस दोष को निर्मूल पावेंगे । और फिर विप्रलम्भ-शृंगार-वर्णन में कवि ने जिस मार्ग का अनुसरण किया उसने ही उनके गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने में सहायता दी है । वियोग-वर्णन की परिपाटी में विद्यापति ने जो स्वाभाविकता और सरलता प्रदर्शित की उसने कवि को सर्वथा इस दोष से मुक्त करा दिया कि वे दंगल-प्रिय अलंकारशास्त्री थे । पदावली में हृदय के अनेक भावों को निरलंकारिक भाषा में इस सरलता से चित्रित किया गया है कि वे भाव बरबस हृदय पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं । विद्यापति के हृदय में युवक और युवती के उद्दाम प्रेम ने भावोर्मियाँ उद्बेलित की थीं । उनसे प्रभावित हो संयोग और विप्रलम्भ-शृंगार की जितनी परिस्थितियाँ हो सकती हैं और उन परिस्थितियों में प्रेम-विभोर युवक-दम्पति के हृदय में जितने प्रकार के भाव उठ

सकते हैं उन सबका विद्यापति जैसा संश्लिष्ट वर्णन हिन्दी के किसी अन्य कवि ने नहीं किया है। मुक्तक शैली में निबद्ध पदावली में विद्यापति ने बाह्य और अन्तर्जगत् की सूक्ष्मानुभूतियों को ऐसे प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है जिससे पाठक अथवा श्रोता रस-निमग्न हो जाता है। तरुण-तरुणियों के अन्तर्जगत् की सूक्ष्मताओं का मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है इन पदों में। मानस में किस प्रकार की भावोन्मि उत्थित होने से तरुण-तरुणी की बाह्य चेष्टाएँ किस प्रकार की हो जाती हैं यह विद्यापति भली प्रकार जानते थे। आन्तरिक भावों का बाह्य प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करने के लिए सूक्ष्मानुभूति की आवश्यकता होती है। इस विषय में विद्यापति हिन्दी के किसी कवि से पिछड़ते नहीं। बाह्य प्रकृति बसन्तागम पर जिस उन्मादकारी स्वरूप को धारण करती है उसका संश्लिष्ट चित्रांकन विद्यापति ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। प्रकृति के उद्दीपन-रूप की दृष्टि से पदावली में लोक गीतियों—जैसी प्रवृत्ति तो है ही। इसी कारण वहाँ प्रकृति तथा जीवन के भावों का संगुम्फन तीव्र हो उठता है। बसन्त का दृश्य स्वतः मादक होता है उसी के समानान्तर युवा भावों का आकुल चित्र देखें—

मलय पवन बह, बसंत विजय कह ।

भमर करइ रोर, परिमल नहि ओर ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १८६

मलय पवन चारों ओर बह रही है, मानों वह शीत-ऋतु पर बसन्त की विजय का डंका बजा रही है। चारों ओर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। पुष्प-धूलि का अन्त नहीं सूझता। ऋतुराज के आगमन से प्रत्येक व्यक्ति रसमय हो उठा है। सब ओर कामदेव का मंगलगान हो रहा है और रसमग्ना कामिनियाँ केलि-मग्ना हैं तरुण-तरुणियाँ मिलजुल कर समस्त रात्रि आनन्दोत्सव में व्यतीत करते हैं।

इस ऋतु के आगमन पर पशु-पक्षी, कीट-पतंग, स्त्री-पुरुष, बाल-युवा-वृद्ध सब एक ऐसे लोक में विचरण करने लगते हैं जहाँ, उन्माद, मस्ती और उल्लास के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं—

नाचहु रे तरुनी तजहु लाज, आएल बसन्त रितु बनिक राज ।

हस्तिनि चित्रिनि पदुमिनि नारि, गोरी सामरी एक बूढ़ि बारि ॥ इत्यादि

—वही, पद १७८

वयः संधि बेला में नायिका के आन्तरिक भावों के साथ बाह्य चेष्टाओं का कैसा सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है—

मुकुर लई अब करई सिंगार, सखि पूछइ कइसे सुरत-बिहार ।

निरजन उरज हेरइ कत बेरि, हसइ से अपन पयोधर हेरि ॥ इत्यादि

—वही, पद पद ४

यहाँ “सखि पूछइ कइसे सुरत-बिहार” और “निरजन उरज हेरइ कत बेरि” वाक्यों द्वारा नायिका की यौवनाद्भूत प्रलक्षित हार्दिक काम-भावना की ओर संकेत

है। यौवनागम और नायक के अनुपम रूप से प्रभावित नायिका का हृदय भला स्थिर कैसे रहता—

आज जाइत पथ देखलि रे, रूप रहल मन लागि ।

तेहि पल सयं गुन गौरव रे, धैरज गेल भागि ॥

नायक के रूपामृत का बार-बार पान करने से नायिका की वेदना बढ़ जाती है और लाचार हो वह काम को उपालम्भ देने लगती है—

पुर-बाहिर पथ करत गतागत, के नहि हेरत कान ।

तोहर कुसुम-सर कतहु न संचर, हमर हृदय पंचवान ॥

—विद्यापति, वेनीपुरी, पद ४३

संयोग—शृंगार के अन्तर्भूत होने वाले वयः संधि, नख-शिख, सद्यः-स्नाता आदि के प्रसंग रूप-वर्णन से ही अधिक सम्बद्ध रहते हैं। यहाँ नायक-नायिका का परस्पर सान्निध्य रहता है अतः उनके मन अधिक दूर तक नहीं दौड़ते। अतः संयोग पक्ष में व्यग्रता और औत्सुक्य इन दो भावों की प्रधानता रही है।

सौन्दर्य—सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत नख-शिख-वर्णन और हाव-वर्णन दोनों आ जाते हैं। नख-शिख के विषय में पहले कह चुके हैं। यहाँ हाव के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है। संस्कृत के प्राचीन रीति-शास्त्रों में नायक-नायिकाओं के अलंकारों के नाम से जिस शोभा और चेष्टा आदि के वर्णन की पद्धति को स्वीकृति मिली है उसमें केवल बाह्य सौन्दर्य का अंकन ही मुख्य नहीं है। हृदय के सौन्दर्य के साथ-साथ बाह्य सौन्दर्य को प्रदर्शित करने की रुचि भी गृहीत हुई है। किन्तु हिन्दी वालों ने भानुदत्त की रसतरंगिणी का अनुसरण करके कुछ बाह्य चेष्टाओं का ही हाव के नाम से उल्लेख किया है। यहाँ हाव से तात्पर्य हिन्दी रीतिकालीन कविता में वर्णित परिमित हावों से न होकर संस्कृत रीति-ग्रन्थों में उल्लिखित अलंकारों से भी है। संस्कृत अलंकार-ग्रन्थों के अवलोकन से अलंकार का जो विशेष स्वरूप स्पष्ट होता है वह यह है कि यौवनागम के समय नायक-नायिका में कुछ विशिष्ट चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें ही अलंकार संज्ञा दी गई है। यद्यपि नायक और नायिका दोनों में इनकी उद्भावना होती है, किन्तु स्त्रियों में इस (अलंकार-हाव) की विशेष शोभा होने के कारण काव्य-ग्रन्थों में उन्हीं का वर्णन अधिकतर हुआ। ये अलंकार त्रिविध हैं—अंगज, अयत्नज और स्वभावज। अंगज अलंकारों के तीन भेद हैं—भाव, हाव और हेला। अयत्नज अलंकार सात होते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, आदार्य, और धैर्य। स्वभावज अलंकार अठारह होते हैं—लीला, विस्वास, विच्छित्ति, विभ्रम, विव्बोक, क्लिक्चित्, मोटाइत, कुट्टमित, ललित, मद, विहृत, तपन, मोग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इन अठारह में से प्रथम दस अलंकारों को हिन्दी वाले हाव कहते हैं। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में स्त्रियों के स्वभावज अलंकार केवल ये ही दस गिनाए गये हैं। इसके अनुसरण पर भानुदत्त ने भी अपने ग्रन्थ में उन्हें हाव नाम से उद्धोषित किया और हाव का लक्षण उन्होंने नारियों की शृंगार चेष्टा (नारीणां शृंगार चेष्टा हावः) माना। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आचार्य के

अनुसार भाव, हाव और हेला (अंगज अलंकार) की परिभाषा यह है कि जन्म से निर्विकार चित्त में जो सबसे पहले विकार हो उसे भाव कहते हैं। भौंह अथवा नेत्रादि के विकार द्वारा संभोग-विलास को अल्प रूप में व्यक्त करने वाले विकार को हाव कहते हैं। मनोविकार जब स्पष्ट रूप में हो जाय तब उसे हेला कहते हैं। इसीलिये भरतमुनि ने लिखा है कि भाव, हाव तथा हेला क्रमशः एक-दूसरे से होते हुए अंगज अलंकार हैं। सत्व से भाव, भाव से हाव और हाव से हेला यही उनका क्रम है। विद्यापति ने अपनी पदावली में लक्षण-उदाहरण की आयासप्रधान शैली में इनका चित्रण नहीं किया तथापि काव्य-परम्परा-मर्मज्ञ और सौन्दर्य के उपासक होने के नाते इनके पदों में भाव, हाव, हेला का जो सहज विधान है वह बड़ा हृद्य एवं अकृत्रिम है, लगभग सबके दृष्टान्त पदावली में देखे जा सकते हैं। सौन्दर्य-विधान विषयक कुछ अपरिह्य हाव-दृश्य इस प्रकार हैं :—

लीला—नायक अपनी प्रिया के और नायिका अपने प्रिय के वस्त्राभूषण आदि को जब धारण करते हैं तब कवि लोग उनमें जिस चेष्टा का बखान करते हैं, उसे लीला हाव कहते हैं—

प्रिय तिय को तिय पीव को, धरे जु भूषन चीर।

लीला हाव बखानही, ताही को कवि धीर॥

—पद्माकर कृत जगद्विनोद

चतुर नागर कृष्ण ने नागरिका का जो मुग्धकर वेष-विन्यास किया वह सचमुच चमत्कृत करने वाला है :—

वर नागर साजइ नागरि बेसा, मुकुट उतारि सीमंत संवारल।

बेनी विरचित केसा ॥० इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६३

इस पद में विद्यापति के कृष्ण ने नागरिका के वेष-विन्यास और कुशल अभिनय द्वारा मानिनी राधा के मान-अंजन में कमाल कर दिया। सूरदास और रीतिकालीन कवियों ने भी दानलीला, जोगनलीला, मालिनी लीला आदि का बहुशः उल्लेख किया है। यहाँ मानरूपी रत्न के पुरस्कार रूप से मांगे जाने पर राधा मोहन को पहचान गई और प्रसन्नता तथा लज्जा से मुख फेर कर बैठ गई। कृष्ण ने राधा को अपनी गोद में भर लिया और इस प्रकार मान-भंग हो जाने पर रस-रीति का विकास हुआ।

विलास

नायिका के गमन, नयन, वचन आदि में जो कुछ विशेष कथनीय होता है उसका बखान विलास-हाव के रूप में कवि-जन करते आए हैं :—

गवन नयन वचनादि में होत जु कछु विशेष।

वरत ताहि विलास कहि रसमय सुकवि असेष ॥—मतिराम कृत रसरंज

नहाइ उठल तीर राइ कमल मुखि, समुख हेरल वर कान ।

गुरुजन संग लाज धनि नत-मुखि, कइसन हेरब बयान ॥० इत्यादि
—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २६

सद्यः स्नाता कमलमुखी राधा जब किनारे पर पहुँची तो उसने नर-श्रेष्ठ कान्हू को देखा । गुरुजनों का साथ होने के कारण राधा ने लज्जावश अपना मुँह नीचा कर लिया, परन्तु उसके मन में यह विचार आया कि कान्हू के सुन्दर मुख का पुनः किस प्रकार दर्शन करूँ ? चतुरा राधा ने एक युक्ति सोच निकाली । वह सब सहे-लियों और गुरुजनों को छोड़कर शीघ्रता से आगे बढ़ गई और इस प्रकार उसका अपना मुख ओट में हो गया । मुख की ओट में आते ही उसने अपना मोतियों का हार वहीं तोड़कर फेंक दिया और कहने लगी कि हार टूट गया । स्वभावतः सब परि-जन एक-एक करके उन मोतियों को चुनने लगे । इसी बीच सुन्दरी ने श्याम-दर्शन-लाभ किया । विद्यापति के अनुसार राधा के नेत्र रूपी चकोरों ने श्रीकृष्ण के मुख रूपी चन्द्रमा का अमृत-रस पान तो किया ही, दोनों ने परस्पर दर्शन-रस को फैला भी दिया ।

हार्दिक प्रेमभाव को गुरुजनों से छिपाने की कला में रमणियाँ विशेष प्रवीणा होती हैं । नायिका-भेद पर लिखने वाले रसिक आचार्यों ने पर—पुरुष विषयक उप-स्थित घटना को छिपाने की चेष्टा करने वाली नायिका को वर्तमान गुप्ता कहा है ।

करति सुरति परतच्छ, जो सब सों आरति गोई ।

वर्तमान गुप्ता सोई अति प्रवीन, तिय होई ॥

—देवदत्त-कृत रसिक विनोद

मुख-दर्शन तो मामूली बात है चतुरा नायिकाएँ तो हाल ही में किये गये राग-रंग पर भी बड़े कौशल से पर्दा डाल देती हैं—

(क) अलि हौं तो गई जमुना जल कों सु कहा कहीं वीर विपति परी ।

गहराइ कै कारी घटा उनई, इतने ही में गागरि सीस धरी ॥ इत्यादि—मंडन

(ख) जान्यौ न मैं ललिता अलि ताहि, जु सोवत माँहि गई करि हांसी ।

लाए हिए नख केहरि के सम, मेरी तऊ नहि नीन्द विनासी ॥ इत्यादि

—बेनी प्रवीन

यहाँ 'क' में भाव-गोपन-रता नायिका ने बताया कि वह गगरी क्यों फोड़ आई ।

'ख' में तो रति-रंग के चिन्हों को भी नायिका ने वाक्-कौशल के आवरण में ढक लिया ।

विच्छित्ति—अत्यल्प साज-शृंगार से ही जिस नायिका में महा-छवि के दर्शन होते हैं वहाँ कवि-जन विच्छित्ति हाव का बखान करते हैं—

तनक सिंगार में जहाँ तरुनि महा छवि देत ।

सोई विच्छित्ति हाव को, बरनत बुद्धि-निकेत ॥—पद्माकर, जगद्विनोद

चांद-सार लए मुख घटना कर, लोचन चकित चकोरे ।

अमिय धोय आंचर धनि पोछलि, दह दिसि भेल उंगोरे ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १४

यहाँ साज-शृंगार को वर्णन का विषय बनाये बिना ही विद्यापति ने नायिका के अनुपम एवं सहज सौंदर्य का उल्लेख किया है। उनके अनुसार चन्द्रमा का सार भाग लेकर विधाता ने नायिका राधा के मुख की रचना की। इस अनुपम रूप को देखने वाले नेत्र इसकी ओर चकोरवत् आकृष्ट हो जाते हैं। चकोर चन्द्रमा को अपलक देखता रहता है। उसे भी अपलक देखते रहने का अभिलाष जागता है नेत्रों में। इसने अपने मुख-चन्द्र को आंचल से पोंछ कर जो अमृत धो-बहाया वही चांदनी के रूप में दसों दिशाओं को उजागर कर रहा है। ऐसी सुन्दरी की रचना किसने की? उसका अनुपम सौन्दर्य अवर्णनीय है। यदि वर्णन के उद्देश्य से उसकी ओर दृक्पात करें तो फिर नेत्र लोभी उस ओर से लौटते ही नहीं। गुरु-नितम्बों के भार से वह चल नहीं पाती। कटि उसकी क्षीण है। उदर पर त्रिवलि की रचना भागते हुए कामदेव को उलझा कर पकड़ रखने के उद्देश्य से हुई है। विद्यापति का कथन है कि हम जो कुछ सुना रहे हैं वह अद्भुत एवं कौतुक-सा भले ही लगे पर है वैसा ही प्रत्यक्ष जैसा हमने कहा। मिथिलाधिपति शिवसिंह इस रस-रीति के जानकार हैं। इस भाव-सौन्दर्य की मूर्ति तराशने में विद्यापति ने ऊहा और अतिशयोक्ति का सहारा लिया है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, तथापि बिहारीलाल कथित—

(क) पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास,
नित प्रति पूनो ही रहत, आनन ओप उजास ॥

(ख) लिखन बैठि जाकी छबिहि गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे क्रूर ॥

इत्यादि सौन्दर्य-उल्लेखों की भाँति वह उपहास कोटि तक नहीं पहुँचता। विद्यापति में सजीवता विशेष है, इसीलिये थोड़ी-बहुत ऊहा से उनके सौन्दर्य-विधान में चटकीलापन आ गया है।

किलिचिच्त्—नायिका में जब हर्ष, गर्व, अभिलाष, श्रम, हास, रोष और भीति एक साथ ही प्रतीत हों तब किलिचिच्त् हाव की उपस्थिति होती है—

हरष, गरब, अभिलाष, श्रम, हास, रोष अरु भीति ।

होत एक ही संग है, किलिचिच्त् यह रीति ॥

—मतिराम, रसरज

थरहरि कांपलि लहु लहु भास, लाजे वचन न करए प्रकास ।

आजु धनि पेखलि बड़ विपरीत, छने अनुमति छने मानई भीत ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, व्रजनंदन सहाय, पृ० १७०

तल्प पर मिलन-प्रसंग में नायिका में हर्ष, भीति, अभिलाषा आदि का एकत्र समावेश करके कवि ने किलिचिच्त् हाव-पूर्ण का समग्रतः चित्रांकन कर दिया है

ललित—नायिका के सरस अंगों की छवि के साथ जहाँ उसकी विशिष्ट गमन और चितवन का उल्लेख होता है, कवि-जन उसे ललित हाव का वर्णन करते हैं—

जहं अंगन की छवि सरस, बरनत चलन चितौन ।

ललित हाव ताकों कहत, जे कवि कविता-भौन ॥—पद्माकर कृत जगद्विनोद देखल कमल मुखि वरनि न जाइ, मन मोर हरलक मदन जगाइ ।

तनु सुकुमार पयोधर गोरा, कनक लता जनि सिरिफल जोरा ॥ इत्यादि

—मैथिल कोकिल विद्यापति, व्रजनन्दन सहाय पृ० ३०-३१

यहाँ नायिका की गति, चितवन और अंग-छवि के मोहक और मदनोत्तेजक होने का जिक्र तो है ही, इससे बढ़कर बात यह है कि उसकी गति, चितवन और अंग-छवि के विषय में ऐसी रीति सुनाई देती है कि चतुर (रसिक) मारा जाता है और गमार (मूर्ख-अरसिक) बच जाता है ।

मोटाइत—दयित या भावते का नाम सुनने पर जहाँ भावोदय दृग्गत होता है, कविगण उसे मोटाइत हाव गिनते हैं—

सुनत भावते की कथा, भाव प्रगट जहाँ होत,

मोटाइत तासों कहें, हाव कविन के गोत ॥ —पद्माकर कृत जगद्विनोद

कि कहव माधव पुनफल तोर । तोहर मुरलि ख राइ विभोर ॥

ते पुन सुनल नाम तोहार । से सब भाव हम कहहि न पार ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, व्रजनन्दन सहाय पृष्ठ ११६

सखी रूप से विद्यापति ने यहाँ कहा कि हे माधव तुम बड़े सौभाग्यशाली हो कि तुम्हारे मुरली-ख को सुन कर राधा विभोर हो उठती है और तुम्हारा नाम-श्रवण करते ही उसके हृदय में जिन भावों का उदय होता है उन्हें हम शब्दों में नहीं बाँध सकते हैं । उसके अंग स्वाधीन नहीं रहते, कम्प और अबोधता छा जाते हैं । वह मूर्छिता-सी हो रहती है । उसकी रीति समझ से परे है । भला क्या है—इसकी प्रतीति भी उसे नहीं रहती । संभवतः वह अब कल तुम्हारे पास आवेगी । अन्त में विद्यापति ने सखी का अनुमोदन किया कि यहाँ आने से ही उसका काम सरेगा ।

विश्वोक—अभिमानवशा जब नायिका नायक का अनादर करती प्रतीत हो तो वहाँ विश्वोक हाव कहा जाता है :—

जो पिय को अभिमान तैं करै अनादर बाम ।

ताहि कहत विश्वोक हैं, जे प्रवीन गुन धाम ॥

—मतिराम-कृत रसराज

माधव, दुर्जय मानिन-मानि, विपरित चरित पेखि चकरित भेल ।

न पुछल आधु वानि ॥० इत्यादि

विद्यापति, बेनीपुरी, पद १४५

दूती ने इस पद में मानिनी राधा की परिवर्तित मनोवृत्ति का विशद चित्रांकन किया है। अनुरक्ता राधिका की परिवर्तित यह मनोवृत्ति कृष्ण के प्रति अनादर एवं अरुचि को सूचित करने वाली है भले ही इस अरुचि के अनन्तर राग में गाढ़ता की वृद्धि होती है। वस्तुतः रमणी-हृदय के लिये यह आघात सर्वथा असह्य होता है कि उसका दयित किसी अन्या का भक्त हो। मानवती नायिका के मान के कारणों में प्रधान कारण आचार्यों ने यही निदिष्ट किया है। कन्हैया के ऐसे आचरण को राधा कैसे सहन कर सकती थी, क्योंकि कृष्ण का यह चोर-कर्म राधा के लिये गुप्त न रहा था :—

लोचन अरुन बुझल बड़ भेद, रयनि उजाएर गरुअ निवेद ।

ततहि जाह हरि न करह लाथ, रयनि गमओलह जन्हके साथ ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३३

तो पर-रति विषयक बड़े अपराध के भागी कृष्ण के प्रति यदि राधा की मनोवृत्ति बदल गई हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। राधा के इस मन-मुटाव को देखकर ही दूती चकित हुई और कृष्ण से बोली कि हे माधव ! उसने दुर्जय मानिनी का रूप धारण कर रखा है। तुम्हारी वह अब आधी बात भी नहीं पूछती। क्योंकि तुम्हारा रूप श्याम है अतः वह अब श्याम शब्द को सुनना पसन्द नहीं करती। श्याम-वर्ण के व्यक्तियों से उसने बोल-चाल बन्द कर दी है, तो भला अब उसे तुम्हारे पास तक कैसे लाऊँ ? तुम्हारे रूप के अनुरूप होने के कारण ही उसने अपने सुन्दर पीले वस्त्रों, नीले रंग की चूड़ियों, तथा नीलमणि की माला को उतार फेंका है। और हाथों में हाथीदांत की चूड़ियाँ, गले में मोतियों की माला और शरीर पर लाल रंग की साड़ी को धारण कर लिया है। उस सुन्दरी राधा के वक्षस्थल पर कृष्ण-वर्ण में कुछ अक्षर (चित्र) अंकित थे उन पर चन्दन का लेप करके मिटा दिया। यही नहीं, उसने मस्तक पर लगा कस्तूरी का तिलक तथा नेत्रों के कोनों में लगे अंजन को भी धो डाला और तिलक तथा अंजन रहित अपने मुख को केशों से छिपा लिया। कालेपन में भ्रमर-शिशु को भी लज्जित करने वाला एक सुन्दर तिल उसकी चिबुक पर था उसे भी उस सुन्दरी ने तिनके की नोक से चंदन लगा कर मिटा दिया। काले मेघों को तुम्हारे रूप के अनुरूप समझ कर आकाश में मेघ छा जाने पर वह चंदोवा तनवा लेती है। काले रंग वाली सहेली को अपने पास से दूर कर दिया है। काले तमाल तरुओं को उसने चूने से पुतवा दिया है और काले (नीले) मयूरों तथा कोकिलों को अपने पास से दूर खदेड़ दिया है। काले भौंरों को भगाने के उद्देश्य से वह चम्पा के वृक्ष के नीचे जा बैठती है और उसके नेत्रों से आंसू भरने लगते हैं। दर्पण में अपने केशों की श्यामता को प्रतिबिम्बित देखकर उसे ऐसा क्रोध आया कि अपने उस शीशे को उठाकर पटक दिया और उसके सैकड़ों टुकड़े हो गये। एक दिन पंडित शुक ने तुम्हारा गुणगान करना प्रारम्भ किया, जिसे सुन कर वह क्रोधिता हुई और उसने तोते के पिंजरे को भटके के साथ उठाकर स्फटिक-शिला पर पटक दिया और उसे वहीं छोड़ अन्यत्र चली गई। राधा का मान और कोप सुमेरु-सदृश हैं, परन्तु यदि विचारा

जाय तो रेणु-तुल्य हैं क्योंकि वे दयित-दर्शनावधियावत् ही स्थिर रहते हैं। इसीलिये विद्यापति कहते हैं कि हे कान्हू राधा को मनाने के लिये आप स्वयं जावें।

विहित—दयित से भेंट होने पर भी जब नायिका लज्जावश उसके सामने अपने हृदय को खोल कर न रख सके तो कविजन उसे विहित हाव कहते हैं :—

लाजनि बोलि सकै नहीं, पियहि मिले हूँ नारि।

विहित हाव ता सों सबै, कविजन कहत विचारि॥

—पद्माकरकृत-जगद्विनोद

सात्विक भाव स्वेद, रोमांच, कम्पादि के साथ विहित हाव का विद्यापति-कृत भाव-चित्र इस प्रकार है :—

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ, बारल लोचन चोर।

पिया मुख-रुचि पिबए धाओल, जनि से चांद चकोर॥० इत्यादि

विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३८

विद्यापति की नायिका ने यहाँ सखी से निवेदन किया है कि हे सखि ! श्याम-सुन्दर से भेंट होने पर लज्जावश मुँह नीचे ही किए रही—अपने नेत्र रूपी चोरों को उधर जाने से वारित किया, लेकिन दयित-मुख-शोभा का पान करने के लिए वे उसी प्रकार दीड़ पड़े जिस प्रकार चकोर अधीर होकर चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाता है। प्रिय-मुख की ओर से अपने नेत्रों को मैंने बलात् हटाकर अपने चरणों में लगाया—नीचे की ओर देखने लगी। परन्तु जैसे मधुपान से मत्त मधुकर उड़ नहीं पाता, तो भी उड़ने की चेष्टा में पंख पसार देता है वैसे ही मेरे नेत्र पुनः पुनः दयित के मुख की ओर उठने लगे। लज्जानम्रा एवं पुनरपि दयित-मुख-छवि-पानोत्कण्ठा दृष्टि का यह कैसा मनोरम चित्र है ? नायिका ने आगे कहा कि उसी समय माधव मधुर वाणी से मुझ से बोले, परन्तु उनकी वाणी को सुनते ही लज्जावश मैंने अपने दोनों कान बन्द कर लिए। उसी समय तथा उसी स्थान पर कामदेव मेरा शत्रु हो गया और मेरे विरुद्ध अपने पुष्प-धनुष को धारण कर अपने पुष्प बाणों की मुझ पर बौछार करने लगा। कामदेव के इस आकस्मिक आक्रमण के परिणामस्वरूप मेरे समस्त शरीर से स्वेद बह निकला, जिससे ललाट पर लगा हुआ अंगराग धुल गया और मेरे शरीर में रोमांच हुआ तथा प्रेमातिशय से शरीर फूल उठा जिसके कारण मेरी कंचुकी फट गई और हाथ की चूड़ियां चटक गईं। विद्यापति कहते हैं कि श्यामसुन्दर के शरीर और चेष्टाओं को देखकर अभी तक हाथ कांप रहे हैं और उससे भली-भांति बात भी नहीं कही जाती। ध्यान करो शिवसिंह रूपनारायण का रूप भी श्यामसुन्दर जैसा ही है।

कुट्टमित—दयित के द्वारा तन-मर्दित होने पर जब नायिका कृत्रिम रोष को प्रदर्शित करे अथवा अवर, उरोज, केश आदि के गृहीत होने पर बाहर प्रकट में रुक्षता का भाव धारण करे और अन्तर में सुख पावे वहाँ सूकवि लोग कुट्टमित हाव कहते हैं :—

अधर उरज केशन गहे, जहाँ रुख रुखो होय ।
 अन्तर सुख पावे तिया, हाव कुट्टमित होय ॥
 तन मर्दत पिय के तिया, दरसावन भुठ रोष ।
 याहि कुट्टमित कहत हैं, भाव सुकवि निर्दोष ॥

—पद्माकर कृत जगद्विनोद

जतने आएलि धनि सयनकसीम, पांगुर लिखि खितिनत रहु गीम ।
 सखि हे, पिया पास बैठलि राहि, कुटिल भौहकरि हेरइछि काहि ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ७८

यहाँ सखी के शब्दों में नायिका का नायक से प्रथम-मिलन का दृश्य अंकित है । अनेक प्रयत्नों के बाद शैया के समीप नायिका पहुँची । वहाँ भी सिर झुकाए पैर की अंगुलियों से धरती को कुरेदती खड़ी रही । फिर राधा प्रिय के समीप बैठ गई लेकिन न जाने कैसी कुटिल भौंहों से देखने लगी ? कृत्रिम रोष को प्रकट करने लगी । यह नवीना रमणी की प्रियतम से प्रथम भेंट थी इसलिए अनुनय करते-करते ही आधी रात बीत गई । हाथ पकड़ कर जब उसे दयित ने गोद में ही बिठा लिया तो वह बस “नहीं नहीं” का उच्चारण करती रही । गोद में बिठाए जाने पर वह अंगों को ऐसे मोड़ती है, कहना नहीं मानती, मानो वह बाल-भुजंग हो । विद्यापति कहते हैं कि वह नारी सुचतुरा है । वह प्रत्यक्षतः प्रतिकूल प्रतीत हुई भी अन्तर में दयित के अनुकूल ही है । नायिका का स्वीकृति गर्भ निषेध राग की अभिवृद्धि करने वाला होता है । प्रियतमा की यह नाहीं बड़ी उन्मादक होती है । रीतिकालीन कवियों ने बड़ी रुचि के साथ इस “नाहीं” का चित्रांकन किया :—

(क) जदपि नाहि नाहीं, वदन लगी जक जाति ।
 तदपि भौह हांसी भरिनु, हां सीये ठहराति ॥ —बिहारीलाल

(ख) प्रियतम को मन भावती, मिलति बांह दै कंठ ।
 बाहीं छुटै न कंठ तैं नाहीं छुटै न कंठ ॥ —मतिराम

(ग) धरी जब बाहीं तब करी तुम नाहीं ।
 पांय दियो पलकाहीं नाहीं नहीं कै सुहाई हो ॥
 बोलत में नाहीं पट खोलत में नाहीं, कवि दूलह उछाही लाख भांतिन लहाई हो ।
 इत्यादि—दूलह

हेला—पर्याप्त ढिठाई के साथ दयित से जब नायिका विविध विलास क्रीड़ाओं को प्रकट करती है, तब कविजन ‘हेला’ का उल्लेख करते हैं ।

अमित ढिठाई नाह सन, प्रगटे विविध विलास
 ताहि कह्यो सुकवि मिलि हेला नाम प्रकास ॥

यहाँ हादिक भाव पूर्णतः स्पष्ट होकर प्रकाश में आ जाता है । हेला के द्वारा स्पष्ट भाव के प्रकाश से आस-पास में खड़े दर्शक भी उस प्रकाश-धारा में बह जाते हैं—

मदन मदालस स्याम विभोर, ससि मुखि हांसि-हांसि कर कोर ।

नयन दुलादुलि हास, अंग हेलहेलि गद्गद् भास ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दन सहाय पृ० ४२२

विद्यापति के मदनमदालस श्याम स्वतः भाव-विभोर हैं। उन मलामस श्याम को चन्द्रमुखी राधा गोद में ले रही है। नयन निढाल हो रहे हैं। मन्द-मन्द हास्य विराजमान हैं। शरीर में हेलहेलि (कम्पन) हो रहा है। वाणी गद्गद् है। कृष्ण रसिकवर हैं और राधिका भी रसवती है। वहाँ हृदय और बदन दोहरे हो रहे हैं—हृदय पर हृदय और मुख पर मुख पड़ा है। प्रियतम पुनः मत्त हुए और दोनों कामशर-विद्ध हुए। वे जिस रस में निमग्न हुए उसी का गायन विद्यापति ने किया है।

रसोत्पत्ति के सूचक एवं परिपोषक स्वेद, रोमांच, कम्प, स्वरभंग, अश्रु आदि अनुभावों को पदावली में बड़े सहज रूप में सजाया गया है। आत्मा में अन्तर्भूत रस को प्रकाशित करने वाला अन्तःकरण का धर्म विशेष “सत्त्व” कहलाता है। इसी सत्त्व गुण से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं। स्वेद और कम्प सात्विक भावों का विद्यापति-कृत यह चित्र दर्शनीय है :—

हमें हंसि हेरलन थोरा हे, सफल भेल सखि कौतुक मोरा रे ।

हेरतहि हरिभेल आन रे, जनि मनमय मन बेधल बान रे ॥० इत्यादि

—मै० को० विद्यापति ब्रजनन्दन सहाय, पृ० ६४

यहाँ नायिका से भेंट होने पर कृष्ण (तमाल) मानो कामदेव का जय करते-करते पसीना-पसीना हो गया। विद्यापति के हाव-भाव एवं शृंगार-चित्रण की बड़ी विशिष्टता है—उभयपक्षवादिता। ये रीतिकालीन कवियों की भाँति मात्र नायिका में हाव-भाव प्रदर्शित कर परितोष नहीं कर लेते। उनकी पदावली में तो राह-चलते राधा और कान्हू दोनों एक-दूसरे के दर्शन से भाव-विभोर हुए।

पथ गति नयन मिलल राधा कान । दुहु मन मनसिज पूरल संधान ।

दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर, समय न बूझ्य अचतुर चोर ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २७

इसलिये प्रथम-मिलन-प्रसंग में जहाँ राधिका में अश्रु और कम्प सात्विक के दर्शन होते हैं—

वामा वयन नयन वह नोर, कांप कुरंगिनि केसरि कोर ।

एक गह चिकुर दोसर गह गीम, तेसर चिबुक चउठे कुच सीम ॥ इत्यादि

—मै० को० विद्यापति ब्रजनन्दन सहाय पृ० १६७-१६८

वहाँ कृष्ण भी पुलक, कम्प, स्वेद, अश्रु और स्वरभंग सात्विक भावों से युग-पद आविष्ट हुए। सुनिए, कृष्ण की दूती कहती है—

सुन सुन ए सखि कह न होए, राहि राहि कए तन मन खोए ।

कहइत नाम पेम भए भोर, पुलक कम्प तनु धरसहि नोर ॥ इत्यादि

—विद्यापति बेनीपुरी, पद ४६

हास-परिहास—मिलन-प्रसंग में विशेष कर रहः केलि के अवसर पर परिहास-वचनों से वाणी में एक वक्रता तो आती ही है मानसिक आनन्द भी कई गुना बढ़ जाता है और साथ ही परिहास-कर्ता के किसी गूढ़ अभिप्राय को भी प्रकाश में आने का समुचित अवसर मिल जाता है। कदम्ब-वृक्ष के नीचे अथवा अन्य किसी संकेत-स्थल पर बैठकर कृष्ण मुरली टेरते थे और अनुखन प्रिया राधिका के दर्शन के अभाव में विकल रहते थे। वहाँ यमुना-तट से होकर जाने वाली प्रत्येक गोरस बेचने वाली से वे उसके विषय में पूछते थे और वहाँ (अपने समीप) उसे बुलाते थे (विद्यापति बेनी-पुरी पद १)। यहाँ ऐसे गोरस-विक्रेता कृष्ण, और कृष्ण और राधा के बीच परिहास वचनों, का निदर्शन करना अभीष्ट है—

(क) एक दिन हेरि हेरि हंसि हंसि जाय, अरु दिन नाम धए मुरलि बजाए ।

आजु अति नियरे करल परिहास, न जानिए गोकुल ककर विलास ॥ इत्यादि

(ख) सुन सुन नागर निवि बंध छोर, गांठि ले नाहि सुरत धन मोर ।

सुरतक नाम सुनल हम आज, न जानिए सुरत करए कौन काज ॥ इत्यादि

—विद्यापति बेनीपुरी, पद ४४ व ८४

यहाँ “क” में नायिका सखी से कहती है कि मोहन कभी मुझे देखकर और हँस कर चला जाता है और किसी दिन मेरा नाम लेकर मुरली बजाता है। आज उसने मेरे बहुत समीप आकर मुझ से परिहास किया, नहीं मालूम अब गोकुल में कैसा विलास होने को है? क्योंकि वह मोहन नागर-जनों के शिरोमणि हैं। उनकी नागरता को देखो, दूसरे की सम्पत्ति पर बिना मूलधन के ही ब्याज का (रति सुख का) तकाजा करते हैं। मुझे दूसरे की धरोहर जानकर भी समझने की चेष्टा नहीं करते। जानबूझकर अनजान बनने वाले उस मोहन को अपनी इस क्रिया पर न भय होता है, न लज्जा। वह तो पहले अपने शरीर की ओर और फिर मेरे शरीर की ओर देखकर आलिङ्गन करता है और विभोर हो जाता है। प्रतिक्षण अपनी अनुपम एवं विदग्धता पूर्ण कलाएँ मुझे दिखाता है। यों तो बड़ा उदार प्रतीत होता है, परन्तु परिणामतः कैसा सिद्ध होगा यह पता नहीं। विद्यापति कहते हैं कि यह भाव की चरम स्थिति है। चरमार्त्त या रस-रीति में बेसुध वह मोहन परिणाम को समझ कर भी समझने की चेष्टा नहीं करता। सखी से कथित कृष्ण और अपने बीच परिहास के प्रसंग का उल्लेख कर यहाँ नायिका ने कृष्ण के प्रेमातिशय के साथ ही अपने गर्व के भाव को सूचित किया है।

“ख” में स्त्रीजनोचित परिहास तथा विनोदप्रियता का सुन्दर चित्रण है। कृष्ण ने राधा से सुरत-याचना की। राधा जानकर भी अनजान बनती हुई कैसे भोलेपन और सफाई से कृष्ण को बनाती है और परिहास करती हुई कहती है कि हे चतुर नागर सुनो! मेरे नीवीबन्ध को तुम व्यर्थ पकड़ रहे हो उसे छोड़ दो। इसकी गांठ में सुरत-धन नहीं है। मैंने तो सुरत का नाम ही आज सुना है। मुझे यह भी ज्ञात नहीं कि सुरत क्या वस्तु है और किस काम आती है? हाँ आज से जहाँ से संभव हो सकेगा सुरत-धन की खोज करूँगी। सखी-सहेलियों से सोध लूँगी कि सुरत रूपी धन मेरे घर में है या नहीं। माधव! एक बार मेरी बात सनो, सखियों द्वारा खोज करने

पर यदि सुरत-धन प्राप्त कर सकी तो तुमको उसे अवश्य ही अर्पित करूँगी। नायिका विनयपूर्वक कामातुर कृष्ण को मना रही है और उस बाला की वाक्-चातुरी का वर्णन कविकण्ठहार विद्यापति ने किया है। यहाँ परिहास मिश्रित विनय के द्वारा ही नायिका ने आत्म-समर्पण कर दिया है कृष्ण के प्रति—

सुरत क खोज करब जहाँ पाव, घर कि अछए नाहि सखि रे सुधाव ।

बेरि एक माधव सुन मभुवानि, सखि सयं खोजि मांगि देब आनि ॥

इन शब्दों में नायिका के प्रेमजनित समर्पण सम्बन्धी गूढ़ भाव ने विनोद-प्रसंग में अभिव्यक्ति पा ली है। यद्यपि उसने प्रकट रूप से यही कहा कि मेरे पास सुरत-धन नहीं है।

प्रकृति एवं ऋतु—मध्ययुग का गीतिकाव्य पदों में सीमित है। हिन्दी पद गीतियों का आरम्भ विद्यापति से ही माना जाता है। मध्ययुग की पद-गीतियों में घटना और वस्तुस्थिति का आश्रय भर लिया गया है। पद शैली में किसी विशेष वस्तु भाव को केन्द्र में रखकर उसी का छाया-प्रकाश में चित्र अंकित किया जाता है। ऐसी स्थिति में पदों में अधिकतर भावाभिव्यक्ति ही हुई है और उनमें केन्द्रीभूत भावना व्यक्तिगत लगने लगती है। इस प्रकार इन पदों में कवि की स्वानुभूति की व्यञ्जना न होकर भी उसकी अर्धन्तरित भावना का रूप आ जाता है। परन्तु इन पदों में भावों की मानसिक चित्रमयता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना भावों की बाह्य व्यञ्जना की ओर। इस कारण इन पदों में भी प्रकृति का आधार स्थूल संकेतों में रहा है। विद्यापति की भावना ने उनके पदों में अभिव्यक्ति का एक विशेष रूप स्वीकार किया है। विद्यापति के अधिकांश पदों में राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन है। परन्तु इस प्रेम में यौवन तथा उन्माद इतना गम्भीर हो उठा है कि उसमें कवि की अर्धन्तरित भावना आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती है। ऐसा सूरदास में भी है, परन्तु विद्यापति में भक्ति का आवरण नहीं है। वे राधा-कृष्ण के प्रेम के यौवन-उन्माद से अपनी भावना का उन्मुक्त तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। इसी समय पर कवि ने मानसिक भावस्थितियों को अभिव्यक्त करने का प्रयास भी किया है। इस कारण इनके पदों में साहित्यिक गीतियों का सुन्दर रूप मिलता है। परन्तु ये गीतियाँ प्रकृतिवादिनी गीतियाँ नहीं हैं। इनमें से सौन्दर्य और यौवन, विरह और संयोग की भावना व्यक्त हो सकी है। विद्यापति के वर्णनों में मनस् परक पक्ष की व्यञ्जना इस प्रकार संनिहित हो गई है। जब सौन्दर्य और यौवन प्रेम की मानसिक स्थिति को छूकर व्यक्त होते हैं तब अनुभूति का गहरी और प्रभावशाली होना स्वाभाविक है। इस गम्भीर अनुभूति के कारण विद्यापति की अभिव्यक्ति साधकों और भक्तों की प्रेम-व्यञ्जना के समान लगती है। परन्तु विद्यापति में भी मानसिक स्थिति के संकेत अवस्था और व्यापारों में खोजे जाते हैं जो भक्तियुग के कवियों की समान विशेषता के साथ भारतीय काव्य की भी प्रवृत्ति है।

विद्यापति ने सौन्दर्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का संकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौन्दर्योपासक प्रकृतिवादी प्रकृति के दृश्यात्मक रूप में यौवन

की व्यंजना के साथ आकर्षित होता है, उसी के समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृति रूप योजना के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं—“कनकलता” में कमल पुष्पित हो रहा है उसके मध्य में चन्द्रमा उदित हुआ है। कोई कहता है कि सेवार से आच्छादित हो रहा है, किसी का कहना है नहीं, यह तो मेघों से भाँप लिया गया है। कोई कहता है कि भौरा भ्रमराता है, कोई कहता है, नहीं चकोर चकित है। सभी लोग उसे देखकर संशय में पड़े हैं। लोग विभिन्न प्रकार से उसको बतलाते हैं। विद्यापति कहते हैं कि भाग्य से ही गुणवान् पूर्णरूप को प्राप्त करता है (विद्यापति नगेन्द्र गुप्त पद १६)। इसमें अन्य सगुण भक्तों की भाँति रूपकातिशयोक्ति के द्वारा रूपात्मक सौन्दर्य की स्थापना की गई है, साथ ही यौवन की चपलता का भाव भी संनिहित है, जो प्रकृति के स्फुरणशील रूप में बद्ध है। विद्यापति ने प्रकृति के माध्यम से यौवन के सौन्दर्य को अनेक स्थलों पर अभिव्यंजित किया है—

सखि हे कि कहब किछु नहि फूरि, तड़ित लतातल जलदसमारल आंतर सुरसरिधारा ॥

इत्यादि

—विद्यापति, नगेन्द्रनाथ गुप्त, पद ५८६

हिन्दी साहित्य के सगुण भक्तों ने इसी प्रकार की अलौकिक योजना की है। विद्यापति ने इस परम्परा को उनसे पहले ग्रहण किया है। परन्तु इन्होंने इसमें सौन्दर्य के यौवन-पक्ष को चंचल रूप में व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कवि यौवन-प्रेम के उन्माद की व्यंजना भी प्रकृति के माध्यम से करता है। प्रकट में कवि प्रकृति का उल्लेख करता प्रतीत होता है, परन्तु व्यंग्यार्थ में यौवन का उद्दामप्रेम है—जाती, केतकी, कुन्द और मन्दार एवं अन्य सब सुन्दर फूल परिमल और मकरन्द से युक्त हैं। बिना अनुभव के अच्छा-बुरा नहीं जाना जाता। हे सखि ! तुम्हारा वचन अमृतमय है, भ्रमर के व्याज से मैंने अपना प्रियतम पहिचाना (विद्यापति, नगेन्द्रनाथ गुप्त पद ४९७) इसमें यौवन के छिपे हुए आकर्षण का भाव है, आगे मालती और भ्रमर के दृष्टान्त से प्रेम का संकेत है। यहाँ निश्चय ही प्रकृति प्रमुख है, इस कारण इन प्रयोगों को केवल अलंकारों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। कवि कहता है कि यौवन और सौन्दर्य अनन्त हैं, पर जिसका जिससे स्नेह हो—

कतक न जातकि केतकि कुसुम बन विकास

तइअ ओ भमर तोहि सुमर न लेअ कबहु वास । इत्यादि

—विद्यापति नगेन्द्रनाथ गुप्त, पद ६६।

इस प्रेम में उद्देगशील यौवन के प्रति आकर्षण की भावना बनी रहती है। आध्यात्मिक संकेत का यहाँ लेख भी नहीं है। यौवन का आवेग समस्त आकर्षण का केन्द्र है जिसे भ्रमर और मालती के दृष्टान्त के माध्यम से कवि ने अभिव्यक्त किया है—

मालति काहक करिअ रोष,

एक भमर बहुत कुसुम कमल बाहेरि दोष । इत्यादि

—विद्यापति नगेन्द्रनाथ गुप्त, पद ४४० ।

सिद्धान्त की दृष्टि से मनोभावों के समानान्तर या अनुरूप प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है । परन्तु इस स्थिति में उससे एक ऐसा मानसिक सम उपस्थित हो जाता है जिसके कारण उसे विशुद्ध उद्दीपन से अलग कर भावात्मक सम के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है । इस रूप में प्रकृति का सम्बन्ध घटना-स्थिति तथा भाव-स्थिति से है, जबकि विशुद्ध उद्दीपन में वह किसी आलम्बन की प्रत्यक्ष स्थिति से उत्पन्न भावों को प्रभावित करती है । विद्यापति ने प्रकृति को मानवीय भावों के सम पर या विरोध में उपस्थित किया है, परन्तु ये वर्णन अभिसार का उद्दीपक वातावरण निमित्त करते हैं । इन चित्रों में अधिकांश में विरोधी भावना लगती है जो रुकावटों के रूप में है । यहाँ प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत है । लेकिन यहाँ हृदय के उद्वेग और उसकी विह्वलता को लेकर प्रकृति-वातावरण भी उसी के सम पर चंचल है—

गगने अब धन मेह दारुण सघन दामिनि भलकइ ।

कुलिश पातन शब्द भनभन पवन खरवर बलगइ । इत्यादि

—विद्यापति नगेन्द्रनाथ गुप्त पद २६०

इस समस्त योजना में भी प्रकृति में प्रतिघटित समभाव-स्थिति में उद्दाम कामना का रूप भलक जाता है । विद्यापति की पदावली में प्रकृति भी यौवन के उल्लास के साथ ही उपस्थित होती है—

भलकइ दामिनि रहत समान । भनभन शब्द कुलिश भनभाम ।

चढब मनोरथ सारथि काम । तोरित मिलायब नागर ठाम ॥

—विद्यापति नगेन्द्रनाथ गुप्त पद, २६२ ।

विप्रलम्भ और संयोग के प्रसंगों में प्रकृति का उद्दीपन रूप उपस्थित होता है । साथ ही इनमें बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा भी मिलती है । इनका रूप अधिक स्वतन्त्र है, इनमें प्रकृति के संक्षिप्त उल्लेख के साथ भावों की अभिव्यक्ति हुई है । विद्यापति के पदों में साहित्यिक कलात्मकता के साथ प्रकृति के प्रति स्वच्छन्द सहचरण की भावना भी मिलती है । निम्न पद में वियोगिनी की भावाभिव्यक्ति प्रकृति के प्रति सहज सौहार्द के साथ हुई है—

मोराहि रे अंगना चांदन केरि गच्छिआ

ताहि चढि करुल काक रे ।

सोने चंचु बंधए देव मोरा बाअस

जओ पिआ आओत आज रे ॥

—विद्यापति, नगेन्द्रनाथ गुप्त, पद ६०२

विद्यापति ने ग्रीष्म और वर्षा की भयंकरता इसीलिये दिखाई है कि अभि-
सारिका नायिका इतनी भयानक परिस्थितियों में भी संकेत-स्थल पर पहुँचने के लिये
व्याकुलहृदया है। बारहमासे में परम्परा-निर्वाह है—वर्ष के सब मास विरहिणी के
जले पर नमक छिड़कने का काम करते हैं। कवि-वसंत-वर्णन सुन्दर एवं मौलिक है।
यहाँ कवि ने अधिकतर जीवन के सुखमय पक्ष का ही चित्र अंकित किया है। जीवन
का वह दुःखमय पक्ष, जिसमें दीनता, दरिद्रता, शोक, निराशा आदि का ही साम्राज्य
रहता है विद्यापति ने कम दिखाया है। अन्तिम काल की कुछ रचनाएँ अवश्य ही
अत्यन्त निराशा और दीन भाव से युक्त हैं, किन्तु यह तो जीवन की स्वाभाविकता
है। काम के सखा वसंत के उन्मादकारी स्वरूप से विद्यापति के हृदय का सामंजस्य
स्थापित हो गया था। इसीलिये विद्यापति ने वसन्त का प्रभाव केवल नायक-नायिका
पर ही नहीं देखा, किन्तु समस्त मानव समाज पर—

नाचहु रे तरुनी तजहु लाज, आएल वसंत ऋतु बनिक-राज।

हस्तिनि चित्रिनि पदुमिनि नारि, गोरी सामरि एक बूढि बारि॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १७८

विप्रलम्भगत भाव-सौन्दर्य—चक्रवाक दम्पति ही कामशास्त्र या स्मरागम के
पारंगत प्राणी हैं। वे ही उसके मर्मज्ञ हैं। वे रोज-रोज बिछुड़कर एक-दूसरे के लिए
नये हो जाते हैं। सतत अमृताहार से ऊब कर, जी का जायका बदलने के लिये शिव ने
विष-पान कर लिया—(देखें नैषधीय चरितम् १६।३४) श्री हर्ष के इस श्लोक में
प्रेम की एकरसता को दूर करने के लिए वियोग आवश्यक माना गया है, क्योंकि
इससे प्रेमी और प्रेमिका एक-दूसरे के लिए पुनः नये हो जाते हैं। नातिदीर्घवियोग
मान के सम्बन्ध में उसकी युक्तियुक्तता और मनोवैज्ञानिकता असंदिग्ध है, किन्तु दीर्घ
वियोग (प्रवास) में यह परिवर्तन केवल परिवर्तन न रह कर अत्यन्त गम्भीर रूप
धारण कर लेता है। प्रवास-जन्य विप्रलम्भ में ही कवि प्रेमी-प्रेमिका की अनेक मान-
सिक स्थितियों का चित्रण करते आये हैं।

प्रेम से संबन्धित यह प्रवाद कि वियोग में प्रेम क्षीण हो जाता है प्रवाद मात्र
ही है। प्रेम-वृत्ति की अभिव्यजना करने वाले कवि की सच्ची शक्ति का पना संयोग-
शृंगार-वर्णन से नहीं, विप्रलम्भ-पक्ष के वर्णन से चला करता है। जो कवि वियोग
का सच्चा एवं मार्मिक वर्णन कर सकने में समर्थ हो वही प्रेम का समर्थ कवि कहा
जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रेम के संयोग-पक्ष में व्यक्ति अपने को चारों
ओर से समेट कर एक स्थान में केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न करता है, किन्तु वियोग
में वह अपनी सिमटी हुई वृत्तियों को प्रसरित करता हुआ दिखाई देता है। यही
कारण है कि कविता के लिए वियोग-पक्ष में जितना विशद क्षेत्र उन्मुक्त रहता है,
उतना संयोग में नहीं। विद्यापति ने पदावलीगत विप्रलम्भ-वर्णन में इस बात का
ध्यान रखा है।

विरह प्रेम की कसौटी है। संयोग की अवस्था में हृदय में आशा-निराशा का
उतना द्वन्द्व नहीं मचता जितना कि विरह की दशा में। विप्रलम्भ एक ऐसी दशा है

जिसमें प्रेम तप कर सोने के समान उज्ज्वल हो जाता है। यहाँ हृदय की समस्त कलुषताएँ भस्म हो जाती हैं। प्रेमी और प्रेमिका की शारीरिक दूरी उनमें अन्तःवृत्तियों को जगा देती है। संयोग के शारीरिक सुख को विरहिणी महत्त्व नहीं देती। विरह में उसके हृदय में अपने प्रियतम की भाँकियाँ स्वतः होने लगती हैं। वासनाओं का अन्धकार प्रायः लुप्त हो जाता है और प्रेम की विशुद्ध अनुभूति में वह डूब जाती है। शास्त्रीय ग्रन्थों में विप्रलम्भ-शृंगार के चार भेद गिनाये गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। विद्यापति ने इनमें से प्रथम तीन पर खूब लिखा। करुण-विप्रलम्भ का वर्णन विद्यापति ने नहीं लिखा।

पूर्वराग—श्रवण, दर्शन पूर्वक रागारूढ़ नायक-नायिका जिस विशेष दशा को मिलन के अभाव में प्राप्त करते हैं उसे पूर्वराग कहते हैं। विद्यापति का पूर्वराग साक्षात्-दर्शन पर अवलम्बित है। रीतिकालीन कवियों में यह दर्शन चार प्रकार का कहा गया है—साक्षात्, चित्र, स्वप्न और श्रवण। साक्षात्-दर्शन-जनित पूर्वानुराग विषयक विद्यापति का निम्न पद बड़ा मनोरम है—

किए मम दीठि पड़लि ससिबयना, निमिख निबारि रहल दुहु नयना। इत्यादि।

—मै० को० विद्यापति, व्रजनन्दन सहाय, पृ० ७१-७२

यहाँ कृष्ण को अनुताप है इस बात का कि उस शशिवदना पर निगाह ही क्यों पड़ी? उसको देखने के बाद से वह परवशता का अनुभव करते हैं। मन को उसके पयोधर कचोटते हैं। भीतर ही भीतर मनोभव जागृत हो रहा है। कान उसके वचना-मृत का पान करने के लिए आतुर हैं। चरण चाहते हुए भी उसके सामीप्य को छोड़ना नहीं चाहते। उसने पल भर दोनों नेत्रों से देखा था इसी कारण आशा-पाश में फँसते ही बनता है। उसकी वह बाँकी चितवन काल बन रही है। इस प्रकार विद्यापति ने कृष्ण की प्रेम-तरंग का चित्रण किया।

यही नहीं, कृष्ण की राधिका का साक्षात् करने के बाद क्या दशा हुई इसका अनुमान दूती के इन शब्दों से लगाया जा सकता है—

डरे न हेरए इन्दु—मलयानिर बोल आगि,

तुअ गुन कहि कहि मुरझि पलए महि रयनि गमाबए जागि। इत्यादि।

—मैथिल कोकिल विद्यापति, व्रजनन्दन सहाय, पृ० ८५-८६

दयित का अल्प कालीन साक्षात् दर्शन ही नायिका के पूर्वराग का कारण बनता है—

हमें हंसि हेरलन थोरा रे, सफल भेल सखि कौतुक मोरा रे।

हेरतहि हरि भेल आन रे, जनि मन मथ मन बेधल बान रे॥ इत्यादि।

—मैथिल कोकिल विद्यापति, व्रजनन्दन सहाय, पृ० ९४

श्रीकृष्ण को थोड़ी देर देखने के परिणामस्वरूप राधिका की जो दशा हुई उसका निवेदन दूती ने माधव से इन शब्दों में किया—

किसलय शयन आगि कए मानए, सखिगन न पार बुझाये। इत्यादि

स्वप्न—दर्शन-जनित पूर्वराग भी पदावली में मिलता है। स्वप्न-दर्शन यद्यपि प्रत्यक्ष-दर्शन के पश्चात् ही संभव है, तथापि काल्पनिक जगत् में यह संभव है। स्वप्न-दर्शन अभिलाषा की प्रगाढ़ता का द्योतक है। सामाजिक बन्धनों से दबी हुई गुप्त वासनायें स्वप्न में प्रकाश पा जाती हैं और एक प्रकार से बिना सामाजिक बन्धन तोड़े ही नायक-नायिका को अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। मन भी विशेष हल्का प्रतीत होता है। विद्यापति की नायिका स्वप्न में कृष्ण के दर्शन से तृप्ति-लाभ कर रही थी कि सहसा उसकी नींद उचटा दी गई सखी के द्वारा—(मै० को० विद्यापति, पृ० ११२)। यहाँ नायिका को इस बात का बड़ा पश्चात्ताप है कि उसे सखी ने दयित से स्वप्न में भी मिलाप न करने दिया।

विप्रलम्भ-वर्णन-प्रसंग में भी विद्यापति उभयपक्ष का बराबर ध्यान रखते हैं। पूर्वराग-विप्रलम्भ श्रीकृष्ण और राधा में समान रूप से चित्रित है जो अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है—(मै० को० विद्यापति, पृष्ठ ६०)। सखी या दूती-मुख से एक-दूसरे के शील-रूप, गुणादि के विषय में जान कर और चित्र-दर्शन से विद्यापति के नायक-नायिका में पूर्वराग उपस्थित नहीं होता। विद्यापति के कृष्ण ने राधिका को और राधिका ने कृष्ण को साक्षात् देखा था और तभी वे भाव-विभोर हुए थे।

मान—मानः कोपः स तु द्विधा प्रणयेष्या समुद्भवः।—प्रणय-वश अथवा ईर्ष्यावश दयित के प्रति किए गए कोप-भाव को मान कहते हैं। पदावली में दोनों प्रकार का मान-वर्णन उपलब्ध होता है।

प्रणय-मान—यह प्रेम की असाधारण गति है। वास्तव में बात यह है कि संयोग से भी जी ऊब जाता है। वियोग में प्रेम तीव्र हो जाता है। उस तीव्रता का अनुभव करने के लिए जब वास्तविक वियोग न भी हो तो कृत्रिम वियोग उत्पन्न कर लिया जाता है। ऐसा भाव एक प्रकार का हाव ही है। मान केवल मान की बुभुक्षा-शान्त करने के लिए हो सकता है। ऐसे स्थल विद्यापति में कम ही हैं—मै० को० विद्यापति, पृष्ठ १०७।

यहाँ मन की ऊब को दूर करने के प्रयास में नायिका कृत्रिम मान को ठानने में असफल रहती है। वह सखी से स्पष्ट कहती है 'कि करवि मान जग्यों आइति होए'। वस्तुतः वह परवशा है। इसलिए कृष्ण के सम्मुख मान-प्रदर्शन हेतु मुख छिपाने पर भी हँसी पर काबू नहीं रहता इसीलिए वह कहती है कि मान करूँ तो कैसे? विद्यापति ने कहा कि यह तुम्हारा दोष नहीं बुभुक्षित मदन ने तुम्हें ऐसा रोष करने के लिए प्रेरित किया है। रीतिकालीन कवियों की नायिकाएँ निरपराध दयित से मान करने की साध रखती हैं—

सपनेहू मन भावतो, करत नहीं अपराध।

मेरे मन हूँ मैं सखी, रही मान की साध ॥ मतिराम

प्रणय-मान विद्यापति ने कृष्ण में भी प्रदर्शित किया है—

विद्यापति, बेनीपुरी पद १५५।

इस पद में राधा-माधव रत्न-जटित मन्दिर में शय्या-मुख-विलास पूर्वक निवास करते

थे कि धीमे-धीमे (रस-रस) दाहण कलह उत्पन्न हो गया। तब कान्हू रुठ कर चल पड़े। परम-रसिका राधिका रसिक शिरोमणि नागर कृष्ण के वस्त्रांचल को पकड़ विनय करने लगी। उसी समय कामदेव ने कान्हू के हृदय को पंचशर से बिद्ध कर दिया और राधा के उरोजों को देख कर उनका मन चंचल हो उठा। राधा ने सखी से कहा कि यह तो माधव का झूठा मान था। कारण कुछ भी समझ में नहीं आया कि कृष्ण ने क्यों रोष किया था पर यह सच है कि रोष को छोड़ कर उसने पुनः एकान्त-लीला का प्रसार किया। कवि विद्यापति कहते हैं कि समुचित अवसर जानकर ही राधा माधव को मनाती है। प्रणयमान अल्प स्थायी होता है। यहाँ कृष्ण ने रोष किया था पर वह कब, कैसे दूर हो गया यह पता नहीं चला और साथ ही उसके कारण को भी राधिका न जान पाई।

ईर्ष्याजनितमान—पति का अन्य नायिका के साथ विलास करना सुन, देख वा अनुमान करके पति के प्रति कोप प्रकट करने को ईर्ष्यामान कहते हैं। इसका अनुमान तीन प्रकार से हो सकता है, एक नायक में पर-स्त्री-सुरत-चिन्हों के अवलोकन से, दूसरे सहसा नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकल पड़ने से, तीसरे स्वप्न में दयित को किसी स्त्री के सम्बन्ध में प्रलाप करते हुए सुनने से। विद्यापति-पदावली में प्रथम दो प्रकार से अनुमित नायिकागत ईर्ष्याजनितमान का वर्णन खूब मिलता है। इस विषय में विद्यापति कृत 'लोचन अरुन बुझल बड़ भेद'—(विद्यापति बेनीपुरी, पद १३३) अत्यन्त प्रसिद्ध पद है। इस पद में खण्डिता नायिका का सुन्दर चित्र तो है ही, निम्न पद में नायिका के मन में अन्या-रति-चिन्ह-दर्शन और अन्या-नाम-कीर्तन से उत्थित नायक के प्रति जो ईर्ष्यामान उल्लिखित है, उसे नायिका अपना सौभाग्य कहती है और इस प्रकार नायक के आचरण पर मार्मिक व्यंग्य करती है—

आध आध मुदित भेल दुहु लोचन, वचन बोलत आध आधे।

रति-आलस सामर तनु भामर, हेरि पुरल मोर साधे ॥ इत्यादि
—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३५

रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में खण्डिताओं के विलास का बहुशः चित्रण हुआ है—

(क) मोहू सो बातनि लगे, लगी जीह जिहि नांय।

सोई ले उर लाइये, लाल लागियत पांय ॥

—बिहारीलाल

(ख) बाल के संग गोपाल कहूँ निसि सोबत सोत को नाम उठै पढ़ि।

यों सुन के पट तानि परी तिमि देव कहूँ मन मान गयो बड़ि ॥ इत्यादि। देवदत्त

(ग) मानु जनावति सबनि कौं, मन न मान को ठाट।

बाल मनावन को लखै, लाल तिहारी बाट ॥ इत्यादि

—मतिराम

रीतिकालीन आचार्य कवियों ने ईर्ष्याजनित मान को गुरु, मध्यम और लघु का कहा है। यह श्रेणी-विभाग मान के जल्दी या देर से छूटने के आधार

पर है। इसमें करुणा की मात्रा भी इसी के अनुकूल रहती है। एक ओर से मान होता है और दूसरी ओर से अनुनय-विनय होती है।

गुरुमान—मनाते-मनाते रातभर बीत जाए और मान न छूटे तो उसे गुरुमान कहते हैं। गुरुमान अधिक काल तक स्थायी होता है। इसमें अधिक अनुनय-विनय की आवश्यकता पड़ती है।

मध्यम मान—गुरुमान की अपेक्षा अल्प स्थायी होता है, किन्तु सहज में नहीं छूटता।

लघुमान—यह सहज ही छूट जाता है।

रीतिकालीन आचार्यों ने यह विभाजन काल पर दृष्टि रख कर ही नहीं पति वा नायक के अपराध की गुरुता को भी ध्यान में रख कर किया। पूर्वराग में मिलनोत्कण्ठा मात्र रहती है, वेदना का पूर्ण प्रदर्शन नहीं हो पाता। मान में भी वेदना का वह उत्कृष्ट स्वरूप सामने नहीं आता जो प्रवास में आता है। प्रिय और प्रिया के एक ही तल्प-पलंग पर रहते हुए भी वियोग कैसा? मानों वह तो वियोग का अभिनय-मात्र हो। लेकिन इतना फिर भी कहा जा सकता है कि वियोग के लिये स्थान की दूरी की उतनी अपेक्षा नहीं होती जितनी हृदय के अयोग की और वह अयोग यहाँ किसी न किसी रूप में रहता ही है। वैसे भी एक स्थान पर बैठे हुए दो व्यक्तियों में मन-मुटाव देखा जा सकता है। इसीलिये मान को विप्रलम्भ-वर्णन में विशेष स्थान प्राप्त है। विद्यापति ने मान और मान-भंग शीर्षकों के भीतर सिमट सकने योग्य बहुत से पद लिखे, जिनमें गुरु (विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३८), मध्यम-मान सम्बन्धी (विद्यापति, बेनीपुरी, पद १५३), लघुमान सम्बद्ध (विद्यापति, बेनीपुरी, पद १५६) तीनों प्रकार का मान समाविष्ट हो जाता है।

मान-मोचन—मान भंग के छः प्रसंग शास्त्र-विहित हैं—‘साम भेदाद्यदानं च नत्युपेक्षेरसान्तरम्’। रीतिकालीन कवियों ने इन सभी पर लिखा, देवदत्त ने मान-मोचन के यही छः उपाय निर्दिष्ट किये। विद्यापति ने साम, दान, भेद, उपेक्षा और रसान्तर या प्रसंग-विध्वंस में से केवल साम और नति के उपायों को अपनाया है। साम और नति या प्रणति ही ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा अपराधी होते हुए भी कृष्ण सहज भाव से मधुर शब्दों में राधा से आत्मीयता प्रकट कर सके और पुनः उसके विश्वासपात्र बन सके। पदावली में राधा और कृष्ण के मानान्तर-मिलन और प्रेम-वैचित्र्य को साम और प्रणति के उपायों द्वारा ही बल मिला है।

साम—मधुर वचनों द्वारा मानिनी का मान-मोचन कराना। मधुर वचन प्रणय में अधिक कार्य-साधक होते हैं। मृदु-उपालम्भ ही दण्ड का कार्य कर जाता है। जहाँ पर स्वाभाविक प्रेम है वहाँ पर थोड़ी-सी अनुनय-विनय ही काम दे जाती है। और फिर मधुर वचनों से मानिनी को यह सान्त्वना तो हो ही जाती है कि उसका प्रियतम उससे रुष्ट नहीं है। बड़े मधुर वचनों में मानिनी राधा से कृष्ण मनुहार करते हुए कहते हैं—

ए भनि मानिनि करह संघात। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३७

अर्थात् हे मानवती मान पर संयम करो। यदि विश्वास न हो तो शपथ करा लो। शास्त्रों में सोना और सर्प को छू कर शपथ खाना प्रामाणिक माना जाता है, तो मैं तुम्हारे कुच रूपी सोने के घड़े एवं हार रूपी सर्पिणी के ऊपर हाथ रख कर शपथ खाता हूँ कि यदि तुम्हें छोड़कर किसी अन्य का स्पर्श करूँ तो तुम्हारी हार रूपी सर्पिणी मुझे काट खाय। इस प्रकार शपथ के बहाने माधव बाला के कुचों का स्पर्श करना चाहते हैं। आगे कहा कि हे बाले यदि अब भी मेरे वचनों पर तुम्हें विश्वास नहीं है तो भली-भाँति सोच समझ कर उचित दण्ड मुझे दे दो। बाले, सबसे उत्तम दण्ड तो यह रहेगा कि तुम मुझे अपने भुज-पाश में बाँध अपने कदली-स्तम्भ-से जघनों के मध्य दबा कर मेरी खूब ताड़ना करो और इसके बाद अपने कठोर स्तन रूपी भारी पत्थर से मुझे दबा दो। इतने से भी शान्ति न मिले तो अपने हृदय रूपी कारागार में दिनरात बन्दी बना रखो। कवि विद्यापति अनुमोदन करते हैं कि हे सुन्दरी ऐसे अपराधों (जैसे श्रीकृष्ण कर चुके हैं) के लिये यह दण्ड समुचित है। यहाँ नटनागर की विलक्षण शपथ और विलक्षण दण्ड विलक्षण ही हैं। उनकी इस लीला पर कौन मानवती न लुट जावेगी ?

प्रणति—पर-रति-चिन्ह-लक्षित कृष्ण को विद्यापति ने सलाह दी कि हे माधव व्यर्थ के वाद-विवाद से क्या लाभ ? बड़े से बड़े अपराध का निवारण मौन धारण कर लेने से हो जाता है। मौन-स्वीकृति का लक्षण है। मौन स्पष्ट रूप से अर्द्ध सम्मति भी है और क्षमा की प्रार्थना भी। अतः व्यर्थ का विवाद छोड़कर मौन धारण करो। (विद्यापति, बेनीपुरी पद १३३)। फलतः कृष्ण ने मौन एवं मुखर अनुनय की। मात्र मधुर वचनों से काम चलते न देख नतिपूर्वक विनय का सहारा लिया (विद्यापति, बेनीपुरी, पद १५३)। वस्तुतः मधुर वचनों से यदि काम न चले तो नायक को नतिपूर्वक विनय का सहारा लेना पड़ता है। प्रायः स्वकीया नायिकाएँ अपने दयित को विनय करते हुए देखना नहीं चाहतीं। अतः कहीं पति को अधिक समय तक नमन करने का कष्ट न उठाना पड़े वह अपना मान-मोचन कर देती है। नमन में अपराध के लिये पश्चात्ताप और क्षमा प्रार्थना रहती है। नमन के आगे बड़े से बड़ा अपराध भी क्षम्य हो जाता है।

नागरक चातुरी—सामाजिक वातावरण में समय प्राप्त यह वह सुगुप्त कुशल और सफल उपाय है जिसकी सहायता से विद्यापति के कृष्ण अजेय मानिनी पर विजय लाभ करने में सफल हुए और मानिनी (जो उसकी कौतुक-लीला से अभीभूत हो जाती थी) अनायास ही कह उठती थी—

बड़ई चतुर मोर कान, साधन विनहि भांगल मभुमान। इत्यादि।

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६०

प्रवास—मान सम्बन्धी विरह तो नायक-नायिका के हाथ में ही रहता है, परन्तु प्रवास विप्रलम्भ प्रायः ऐसे कारणों से होता है जिन पर कि अपना बश कम चलता है। मिलन की आशा बराबर रहती है। मान विप्रलम्भ की अपेक्षा यह तीव्रतर होता है। विचार करने से प्रवास ही वियोग का प्रधान भेद ठहरता है। इसी में वियोग

की विभिन्न अवस्थाओं के निदर्शन करने का अवसर प्राप्त होता है। प्रवास विरह में प्रेमी के हृदय में दो प्रकार की बातें उठा करती हैं। एक तो प्रिय के अभाव का दुःख और दूसरे प्रिय के दुःख का अनुमान करके उत्पन्न होने वाला दुःख। विद्यापति ने पहले प्रकार की ही अभिव्यंजना अपने पदों में की है। प्रवास विप्रलम्भ के शास्त्र-सम्मत तीन कारण हैं—कार्य, शाप और भय। इनमें पदावली का प्रवास कृष्ण के कार्यवशात् मथुरागमन पर आधारित है।

विद्यापति ने विप्रलम्भ-वर्णन में भी संयोग-वर्णन की भाँति उभय पक्षों का ध्यान रखा है। जिस प्रकार राधिका कृष्ण के वियोग में विह्वल होती है, उसी प्रकार कृष्ण भी राधिका के वियोग में विह्वल होते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि विद्यापति का वियोग-वर्णन यत्र-तत्र ऊहात्मक पद्धति पर आधारित होते हुए भी बिहारीलाल के विरह-वर्णन की भाँति हास्यास्पद नहीं हुआ है। विद्यापति ने पदावलीगत विप्रलम्भ वर्णन में वेदना की कोरी हाय-हाय का प्रदर्शन नहीं किया। उसमें दृश्य की अनुभूति है, वेदना है, व्याकुलता है, और है तल्लीनता। प्राचीन कवियों ने जिस प्रकार संयोग शृंगार पक्ष में षड्भूतियों का वर्णन कविकर्म गिना उसी प्रकार वियोग शृंगार में भी। वियोग में षड्भूतियों का कभी वर्णन बारहमासे के रूप में आया करता है। विद्यापति ने बारहमासा वाली पद्धति का ग्रहण किया। वियोग के अन्तर्गत स्मृति, अभिलाष, चिन्ता, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण इन दस काम दशाओं का वर्णन आता है। इन काम दशाओं का वर्णन विद्यापति ने किया है (देखें वर्तमान रचना का विद्यापति पदावली के सामान्य विवेच्य लेख)। वहीं अनेक मार्मिक मानसिक दशाओं का, विरहिणी के इस नामरूपात्मक जगत् के प्रति अनुभवों का, अवधि-काल परिगणन का, संदेश-प्रेषण का भी उल्लेख किया गया है।

प्रायः वियोग की सारी व्यथा नायिकाओं के सिर मढ़ी जाती है। परन्तु पदावली में कृष्ण के अन्तस् में भी वैसी ही व्यथा चित्रित हुई है, जैसी राधिका के मानस में (विद्यापति, बेनीपुरी, पद २१६)। कुछ समय पूर्व मिलन-प्रसंग में रोमांच का व्यवधान भी जिसे सह्य न होता था वह अनिश्चित विरह-अवधि के पर्वत को कैसे लांघ सकेगा ? यह बात विरही हृदय ही समझ सकता है। रीतिकालीन कवि घनानन्द ने ऐसी ही विरहोक्ति कही है—सुजान का स्मरण करते हुए—‘तब हार पहार से लागत हे अब ग्रानि कै बीच पहार परे’। समग्रतः विद्यापति के विप्रलम्भ-शृंगार-वर्णन में ऊहात्मक पद्धति तथा गंभीर प्रेम की व्यंजना का समुचित योग है। रीतिकालीन कवियों-जैसी तिल को ताड़ बनाने वाली प्रवृत्ति विद्यापति में नहीं मिलती। वियोग-पक्ष में विद्यापति ने हृदय की गूढ़ दशाओं का सफल चित्रण किया है। सारी वेदना नायिका के पल्ले में ही नहीं बाँधी गई। कृष्ण का हृदय भी वेदना से कसमसाता है। असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, अनालम्ब, मन की शून्यता, तन्मयता—सर्वतः प्रियतम वा प्रियतमा को देखना, उन्माद, मूर्च्छा और मरण प्रवास की इन सब दशाओं का चित्रण पदावली में उपलब्ध होता है।

पौराणिक रूढ़ शब्द—वैष्णव कृष्ण-भक्ति का एक केन्द्र पूर्व-भारत में जयदेव

से बहुत पहिले स्थापित हो चुका था। जयदेव के पदों की शैली और उनके माधुर्य को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनके पहिले इस प्रकार के गीत अवश्य लिखे गये होंगे। सम्भवतः वे गीत लोक-भाषा में चलते हों, जयदेव ने उनका शिष्ट-संस्करण प्रस्तुत किया। जयदेव के उपरान्त पारिजात हरणनाटक के कर्ता उमापति उपाध्याय ने अपनी रचना में भाषा-गीत लिखे। उमापति उपाध्याय मिथिलाधिपति हरिसिंह देव या हरदेव (१३०५-१३२४ ईस्वी) के दरबारी कवि थे (देखें वर्तमान रचना का विषय प्रवेश)। पदावली-रचना के समय विद्यापति के सम्मुख जयदेव और उमापति की रचनाएँ थीं।

उस समय भागवत पुराण अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। हिन्दू-राजदरबारों में उसका पाठ होता था। पण्डित उसके प्रसंगों की व्याख्या करते थे। खुले दरबार में राजा उसे सुनते थे। इससे शीघ्र ही राजाश्रय-प्राप्त कवियों का उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। राजा-महाराजाओं के द्वारा भागवत् पुराण का आदर हिन्दू राज्यों में बराबर चलता रहा और इसने राधा-कृष्ण-साहित्य-निर्माण की प्रेरणा दी। संभव है कि प्रारम्भिक राधा-कृष्ण-काव्य भक्ति की प्रेरणा द्वारा न निर्मित हुआ हो, परन्तु राजाश्रय अवश्य उसका एक कारण था। जन-सामान्य में अभी राधा-कृष्ण की भक्ति नहीं पहुँची थी। इसी कारण उसमें कल्पना और काव्य-परिपाटी का प्रभाव अधिक है, अनुभूति का कम।

इसी राजाश्रय और राजाओं की भागवत्-श्रवण-प्रियता ने अन्तिम गौड़ाधिप लक्ष्मणसेन (११६८-११९९ ईस्वी) के समय में संस्कृत कवि जयदेव को गीतगोविन्द की रचना के लिये प्रेरित किया। ११९९ ईस्वी में मुसलमान आक्रान्ताओं ने बंगाल के सेन वंश के राज्य को नष्ट कर दिया, यह ठीक है तथापि राधा-कृष्ण-साहित्य गौड़ देश के हिन्दू राज्य में अंकुरित हुआ। इस समय तक मिथिला का राज्य-दरबार गौड़ नरेश का आदेश-पालन करता था। सेन राज्य के नष्ट होने पर मिथिला ब्राह्मणों, पंडितों, कवियों और कलावन्तों का केन्द्र बन गया। इस समय काशी और मिथिला दो ही पंडितों के केन्द्र थे और सोलहवीं शती तक यही परिस्थिति रही। मिथिला के हिन्दू राजाओं ने सेन वंश के शासन को आदर्श मानकर उस के-से ऐश्वर्य को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा की। उनके दरबारों में भी भागवत् पुराण का बड़ा मान रहा, यद्यपि जनता शिव की उपासिका थी। उन्हीं के अनुसरण पर मिथिला-नरेशों ने अपने आश्रित कवियों को बड़ी-बड़ी उपाधियाँ एवं जागीरें प्रदान कीं। विद्यापति ने महाराज शिवसिंह से अभिनव-जयदेव की उपाधि और विसपी-ग्राम की जागीर अधिगत की थी। १४वीं शती के पूर्वार्ध में हरिसिंह देव (१३०५-१३२४ ईस्वी) के आश्रय में रहने वाले उमापति के उपरान्त मिथिला-केन्द्र में विद्यापति के द्वारा राधा-कृष्ण-परक काव्य की रचना हुई। जयदेव की भाँति विद्यापति का काव्य कल्पना, काव्य परिपाटी, कला और व्यक्तिगत अनुभूति पर खड़ा है। इस प्रकार विद्यापति से पूर्व राधा-कृष्ण-साहित्य दो गौड़ और मिथिला केन्द्रों में बन चुका था और उसमें व्यक्तिगत दृष्टिकोण, शृंगार का पुट, काव्य-कला और कल्पना के दर्शन ही अधिक होते थे।

विद्यापति के बाद मिथिला और गौड़ में या कहिये कि पूर्वी भारत में गोविन्द-

दास, ज्ञानदास, चण्डीदास आदि अनेक कवि हुए जिन्होंने राधा-कृष्ण सम्बन्धी मैथिल गीत-परम्परा को बनाये रखा। इन सब कवियों के पदों को पूर्वराग, दौत्य, अभिसार, सम्भोग, मिलन, मथुरा (विरह प्रसंग) आदि शीर्षकों के नीचे बिठाया जा सकता है। चण्डीदास (१४वीं शती का अन्तिम चतुर्थांश) के समय तक जन-भावना ने राधा-कृष्ण को स्वीकार कर लिया था। चण्डीदास के समय तक परकीया की भावना ने वैष्णव सम्प्रदाय में प्रवेश नहीं किया था। चण्डीदास राधा-कृष्ण के उपासक नहीं थे। वे बसुली देवी के उपासक थे। उन्होंने राधा-कृष्ण का प्रयोग प्रतीक रूप में किया। बंगाल की जनता में कृष्ण-राधा का जो प्रचार हुआ उसके आधार पर मध्वाचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त स्थिर किये। कृष्ण ब्रह्म हुए, राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति। राधा-कृष्ण-कथा को अब धर्म का सहारा मिला। मध्वाचार्य के अनेक शिष्य हुए। उनमें से कुछ ने राधा-कृष्ण भक्ति का विशेष प्रचार किया। माधवेन्द्र पुरी वृन्दावन में जाकर वास करने लगे। उस समय तक वृन्दावन किसी राधा-कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय का केन्द्र नहीं था। माधवेन्द्र पुरी पहले बंगाली वैष्णव थे जिन्होंने वृन्दावन को अपना स्थान बनाया। वे मध्व-सम्प्रदाय के लक्ष्मीतीर्थ के शिष्य थे। उन्होंने वृन्दावन में एक कृष्ण-मन्दिर बनवा कर उसमें गोपालकृष्ण की मूर्ति की स्थापना की। वे बंगाल से दो पुजारी अपने साथ ले गये और उन्हें मन्दिर का काम सौंपा। कृष्ण की मूर्ति का श्रृंगार करने के लिये चन्दन और अगश्र लावे के उद्देश्य से उन्होंने पुरी तक यात्रा की। माधवेन्द्र ने ही अद्वैताचार्य को भक्ति प्रदान की। वृन्दावन में उनके पास रहकर नित्यानन्द ने वैष्णव शास्त्रों का अध्ययन किया। माधवेन्द्र ने दक्षिण भारत (श्री पर्वत आदि) की यात्रा की थी। वे दक्षिण के कृष्ण-भक्त वैष्णवों से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। माधवेन्द्र पुरी के बंगाली शिष्यों में दो प्रमुख शिष्य एक केशव भारती ईश्वरपुरी अन्य पुण्डरीक विद्यानिधि माधवमिश्र थे। केशव भारती ईश्वरपुरी चैतन्य के गुरु थे और पुण्डरीक विद्यानिधि को चैतन्य स्वयं गुरु-तुल्य समझते थे।

माधवेन्द्रपुरी द्वारा गोवर्धन पर गोपाल-कृष्ण की स्थापना के ५० वर्ष बाद चैतन्य की आज्ञा से दो बंगाली वैष्णव लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्व बंगाल छोड़कर वृन्दावन में रहने लगे। संभव है कि माधवेन्द्रपुरी के बाद उनका मन्दिर उपेक्षित हो गया हो, चैतन्य ने प्रचार कार्य को आरम्भ करने के पूर्व उसका पुनरुद्धार करना आवश्यक समझा हो। बंगाल की भक्ति रागानुगा प्रधान है। वह शास्त्रीय कम है, वैयक्तिक अधिक। इसलिए वृन्दावन में दूसरे कृष्ण-सम्प्रदायों पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। इन बंगाली भक्तों और उनके शिष्यों में चैतन्य द्वारा ग्रहण किये गये विद्यापति और चण्डीदास के राधा-कृष्ण के गीत भी प्रचलित होंगे। यद्यपि वे माधवेन्द्र-पुरी के साथ पचास वर्ष पहले ही वृन्दावन पहुँच कर जनता के समक्ष आ गये होंगे। पुराणानुप्रेरित मिथिला और गौड़ की राधा-कृष्ण वैष्णव भक्ति इन बंगाली सन्तों के द्वारा पूर्वी भारत से इधर ब्रजभूमि (वृन्दावन) में केन्द्रित हुई।

विद्यापति से पूर्व राधा-कृष्ण भावना का विकास

कृष्ण और राधा भारतीय जीवन में अति प्राचीन काल से विद्यमान हैं, किन्तु जिस प्रकार बीज से वृक्ष का विकास, वर्धन और परिवर्तन अवस्थानुकूल होता रहता है उसी प्रकार कृष्ण और राधा की भावना का भी बीज तो वेदों, ब्राह्मणों तथा उगनिषदों में विद्यमान है, पर उसका स्फुटन, विकास-वर्द्धन, परिवर्तन आगामी युगों में क्रमशः सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल होता चला आया है। हिन्दी (ब्रज) साहित्य तथा साधना के क्षेत्र में यह धारा संस्कृत-साहित्य तथा भक्ति के आचार्यों से होकर आई है, इसलिये हिन्दी के क्षेत्र में उसका स्वरूप समझने से पहले उसके पूर्व रूप से परिचित होना नितान्त आवश्यक है।

वेदों में द्यु-लोक का अधिष्ठाता देव आदित्य था। मध्य-लोक और भू-लोक का इन्द्र था। आदित्य अपने प्रकाश तथा ताप से सृष्टि को जीवन देता था। ताप से वृष्टि होती थी। वृष्टि से वनस्पति, अन्न, फल-फूल उत्पन्न होते थे, जिससे गाय, पशु, मनुष्य आदि सब प्राणी जीवित रहते थे किन्तु वृष्टि का सम्बन्ध मध्य लोक तथा भू-लोक से ही विशेष कर समझा जाता था इसलिए इन्द्र वृष्टि, वनस्पति, ब्रज भूमि और जीवन की खाद्य-सामग्री का देवता—‘राधानां पति’ हो गया। आदित्य अन्धकार को प्रकाश द्वारा दूर करता था। हेमन्त और शिशिर की ठिठुरी हुई पृथ्वी में प्रकाश के कारण वसन्त में जीवन आ जाता था। इसलिए जीवन-मरण के दुःख को दूर करने वाले देवता विष्णु का उदय हुआ जो आदित्य का भी देवता समझा जाने लगा और सूर्य लोक से भी परे गौ-लोक में उसका निवास माना जाने लगा—शतपथ ब्राह्मण १।५।३।१४। धीरे-धीरे इस विष्णु का यह महत्त्व इतना बढ़ गया कि इन्द्र को लोग भूल से गये। अब अन्य देवताओं की कथाएँ भी विष्णु से संबद्ध होने लगीं और विष्णु ही ‘त्रिविक्रम निरवस’, ‘भुवनस्य साम्रा’ और ‘राधानां पति’ हो गए। सूर्य लोक के अतिरिक्त ब्रज भूमि में भी उनकी गौ-मंडली समझी जाने लगी। वे ब्रजभूमि के गौ-पति हो गये। ऐनरेय ब्राह्मण में विष्णु सब देवताओं में श्रेष्ठ हो गये। ‘राधानां-पति’ की भावना के इस विकास के अनुकूल ही राधा का अर्थ अब अन्न-वनस्पति के स्थान पर सम्पत्ति (श्री, लक्ष्मी) लिया जाने लगा। तत्तरीय आरण्यक में विष्णु एक प्राचीन ऋषि नारायण में समाहित हो गये और पाँच रात्र-धर्म में उनकी पूजा होने लगी। बाद को ये सब भावनाएँ एक देवता वासुदेव में मिल गयीं, जिसकी पूजा पाणिनि के काल ई० पू० ५वीं शती में जनसाधारण में प्रचलित थी।^१ पतंजलि ने अपने भाष्य में विष्णु और वासुदेव कृष्ण में कोई अन्तर नहीं रखा है इसलिए पतंजलि के समय (१५० शती ई० पू०) से पहिले ही विष्णु की भावना वासुदेव कृष्ण में मिल गई होगी। पाँचरात्र-धर्म महाभारत के नारायणी खण्ड से ही गीता की भक्ति के पश्चात् विकसित हुआ। क्योंकि उसमें ऐसी बातें आ गई हैं जो गीता और अर्थशास्त्र में साधारण रूप में हैं। गीता में वासुदेव की गिनती वृष्णियों में हुई है, अर्थशास्त्र में संकर्षण का उल्लेख है, किन्तु वहाँ उसका वह महत्त्व नहीं है जो पंचरात्र में। पंचरात्र में प्रद्युम्न,

अनिरुद्ध, संकर्षण और वासुदेव चारों व्यूह माने गये हैं। गीता की रचना गौतमबुद्ध के बाद हुई और अर्थशास्त्र का समय ई० पू० ४०० माना जाता है। गौतम ईसा से पूर्व छठी शती में विद्यमान थे। अस्तु पंचरात्र-धर्म का विकास ईसा-पूर्व की ४थी शती के बाद हुआ होगा, वासुदेव की पूजा पाणिनि के समय जनसाधारण में प्रचलित थी। वासुदेव की गिनती गीता में वृष्णियों में हुई है। वृष्णि, डा० भण्डारकर के अनुसार यादव या सात्वत-वंश का नाम था और वासुदेव इसी वंश में ईसा पूर्व सौ शती में एक महान् व्यक्ति हुए, जिन्होंने ईश्वर के एकत्व का प्रचार किया। मृत्यु के बाद स्वयं वे ही भगवान् वासुदेव के रूप से पूजे जाने लगे—(इंडियन थिइज्म, पृष्ठ ३३, ७६)। भगवान् के रूप में उनकी पूजा ई० पू० ५०० और ई० पू० ६०० के बीच प्रचलित हो गई होगी। पांच सौ शती ई० पू० में भी उनकी पूजा प्रचलित हो गई थी, कदाचित् भगवान् शब्द गौतम के नाम के साथ मारविजय की उस कल्पना के कारण जोकि प्राचीन आदित्य भाग के अन्धकार और प्रकाश के बीच के युद्ध का ही प्रती-कात्मक रूपान्तर थी—तब तक जुड़ गया था और गौतम के इस गौरव-प्रदर्शक शब्द से वासुदेव धर्मावलम्बी भी अपने महान् व्यक्ति को गौरवान्वित करना चाहते थे। आदर-प्रदर्शक शब्दों का इस प्रकार से प्रयोग एक साधारण बात है किन्तु इन वासुदेव के साथ भगवान् के अतिरिक्त कृष्ण शब्द भी प्रयोग में आता था। वासुदेव से इस शब्द के संयुक्त होने के दो कारणों की सम्भावना बतलाई जाती है। एक तो यह कि कृष्ण एक वैदिक ऋषि थे, जिन्होंने ऋग्वेद के अष्टम मंडल की रचना की थी। छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में आते हैं। ऋग्वेद के समय से छान्दोग्य उपनिषद् के समय तक कोई जन-श्रुति कृष्ण सम्बन्धी चली आती होगी। इसी के आधार पर प्राचीन कृष्ण का साम्य वासुदेव से तब हुआ होगा जब वे देवत्व-के पद पर अधिष्ठित हुए होंगे। दूसरा कारण बतलाया जाता है कि जातकों की गाथा के भाष्यकार के अनुसार कृष्ण एक गोत्र (जिसका पूरा नाम कृष्णायन है) का नाम है। वासुदेव इसी गोत्र के क्षत्रिय थे, इसीलिए वे वासुदेव कृष्ण कहलाये।^१

वासुदेव कृष्ण के साथ विष्णु-नारायण की भावना तो पतंजलि के समय के पूर्व ही मिल चुकी थी, किन्तु गोपाल-कृष्ण की भावना संभवतया ईसा की पहिली और तीसरी शती के बीच में आभीरों के देवता गोपाल-कृष्ण के कारण आई। महाभारत में आभीरों का उल्लेख इधर-उधर घूमने वाले गोपालों के रूप में हुआ है। संभवतया सन् १५० ई० के पूर्व से आभीरों ने पंजाब के कई अंशों पर अधिकार कर लिया था। १६१ ई० के क्षत्रप रुद्रसिंह के लेख से पता चलता है कि उनके प्रधान सेना-पति रुद्र भूमि आभीर थे। फिर ३०० ई० के नासिक के गुफा-लेख से पता चलता है कि उन दिनों वहाँ नरपति ईश्वरसेन (जो शिवदत्त के पुत्र थे) का राज्य था। ३६० ई० के समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले स्तम्भ-लेख से पता चलता है कि आभीर एक शक्तिशाली जाति थी और उसका अधिकार समूचे राजस्थान पर हो गया था—(हिन्दी साहित्य की भूमिका पृष्ठ २४)। ये आभीर गोपाल-कृष्ण के उपासक थे और संभवतया अपने साथ

क्राइस्ट शब्द भी लाए थे। फलस्वरूप वासुदेव कृष्ण और गोपाल कृष्ण को एक कृष्ण में मिल जाने में देर न लगी।^१

दार्शनिक विकास के साथ विष्णु की भावना में अत्यधिक विकास हो चुका था। जिसके फलस्वरूप उपासना के लिये भी एक दृढ़ आधार मिल गया था। उपासना पद्धति अब अधिक कठिन न रह गई थी किन्तु अभी मनुष्य के हृदय को विश्वास से भर देने के लिए विष्णु को मानव-रूप देने की आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही अवतार की भावना का उदय हुआ। महाभारत में विष्णु अवतार धारण कर दिव्यशक्तिशाली नीतिज्ञ कृष्ण के रूप में जनसाधारण के सामने आते हैं। प्रेम-प्रवण और नीति-निपुण कृष्ण की ओर दृष्टिपात करते ही जन-समुदाय के हृदय में प्रेम और विश्वास एक साथ जागृत हो गया। कृष्ण ने जनता के हृदय के कोमल तन्तुओं का ही स्पर्श नहीं किया, उनके हृदय में उनके द्वारा सुरत्व की दृढ़ भावना भी बद्ध मूल कर दी थी। कृष्ण के प्रेम में जनता ने अर्जुन के समान ही अपने आपको सुरक्षित न समझा। ईसा के चार सौ वर्ष पहले चन्द्रगुप्त मौर्य की सभा में रहने वाले यवन राजदूत मेगस्थनीज ने जिस हिरेक्लीज हरिकृष्ण को उन शौरसेनियों का उपास्य देव बतलाया था, जिनके देश में मथुरा नगरी अवस्थित है और यमुना प्रवाहित होती है वह कृष्ण ही था। पांचरात्रों के कारण यह एकान्तिक धर्म जिसका प्रवर्तन संभवतः बदरिकाश्रम में हुआ था पांचरात्र और सात्वतों के कारण सात्वत-धर्म कहलाया। नारायण के साथ एकरूप होकर कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे, इसलिए वह वैष्णव धर्म कहलाया। इनके भगवान या भगवत कहलाने से इस धर्म की भागवत संज्ञा भी हुई। ईसा के एक सौ चालीस वर्ष पूर्व तक्षशिला के यवन राजा इण्टीआल्का इसका राजदूत डिमोस का पुत्र एलिमोडोरस जो विदिशा के राजा काशिपुत्र भगभद्र की सभा में रहता था, भागवत था। उसने देव-देव वासुदेव का गरुडवज्रस्तम्भ बनवाया था जिस पर उसने अपने आपको स्पष्टतया भागवत लिखा था। गुप्तराज-वंश जिसका समय चौथी से आठवीं शती तक है वैष्णव था। गुप्त राजा अपने आप को परम भागवत कहा करते थे। उनके सिक्के तथा बिहार, मथुरा और भिठारी के उनके शिला-लेख इस बात के साक्षी हैं।^२

दक्षिण भारत में भागवत तथा पांचरात्र-धर्म पहली शती ईस्वी में जनसाधारण के जीवन में व्याप्त था, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। तमिल कवियों की कविताओं का एक संग्रह परोपदल प्रकाशित किया हुआ है उसमें इलम पेरुवदि, कदुवन इलवेयी-नन, किरांडे न्यर और नल्लेलुनेथर आदि चार कवियों की विष्णुभक्ति की कविताएँ हैं, जिनमें पांचरात्र-पूजा-विधान तथा कृष्ण की बाल-लीलाओं का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इन कवियों का समय ईसा की प्रथम शती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति और पांचरात्र धर्म दोनों ही ईस्वी १०० से पहिले ही घुर दक्षिण मधुरा

१. डॉ० आर० जी० भण्डारकर कृत वैष्णवइज्जम, शैवइज्जम एण्ड माइनर रिलिजियस सेक्टिज्जम, पृष्ठ ३८

२. डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थवाल कृत हिन्दी काव्य में निपुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ६-१०

तक पहुँच गए थे। फिर चोरमंडल (कारामंडल) तट पर वेंगी के पल्लवों के शिला-लेखों से पता चलता है कि चौथी-पाँचवीं शती के पल्लव राजाओं में भी भागवत धर्म का सम्मान था। गुजरात के वलभियों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके छठी शती के शिला-लेख से यह बात स्पष्ट है। शंकर-दिविजय के अनुसार शंकर को पांचरात्र और भागवत दोनों से शास्त्रार्थ करना पड़ा था। फिर नवीं शती तक के आलवार-सन्त भागवत-धर्मविलम्बी थे, जिनकी कविताओं से प्रभावित रामानुज ने भागवत धर्म को दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल प्रचारित किया। इनसे उन आचार्यों की परम्परा आती है जिनके कारण भक्ति की लहर समस्त भारत में फैल गई। पाँचरात्र धर्म और भागवत धर्म के विकास के साथ भक्ति में सांसारिक प्रेम के सब गुणों का आरोप हुआ। नारद ने भक्ति सूत्र में भक्ति को प्रेम स्वरूपा बतलाया है। जब प्रेमा-भक्ति का प्राधान्य हो गया तो गोलोक के गोपाल की पूजा होने लगी और समयानुसार 'राधानां पति' के अर्थ में भी विकास हुआ—राधा का अर्थ आराधना से लिया जाने लगा और जब कृष्ण में विष्णु की भावना मिल गई तो राधा शक्ति का अवतार मानी जाने लगी। तब ब्रजभूमि तथा गोमंडली का सम्बन्ध विष्णु-पूजा से हो गया। दक्षिण के आचार्यों ने विष्णु-स्वामी और निम्बार्क से पहले विष्णु के गोपाल रूप और राधा की ओर ध्यान नहीं दिया था। विष्णु स्वामी और निम्बार्क का ध्यान इधर गया। इन्होंने गोपाल-कृष्ण और राधा को भक्ति में प्रधानता दी। पौराणिक काल की रुक्मिणी तथा लक्ष्मी से कहीं अधिक सजीव मानवी राधा की उत्पत्ति प्रेमा-भक्ति के कारण सन् ८०० ईस्वी से पहिले ही हो चुकी। इसके पश्चात् आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक (८५०) में राधा का उल्लेख मिलता है। और धारा के अमोघवर्ष के सन् ९९० ई० के शिला लेख में राधा का उल्लेख कृष्ण की प्रिया के रूप में हुआ है। ग्यारहवीं शती में लीलाशुकृत कृष्णामृत की रचना हुई। अपनी सरसता और तन्मय भावना के कारण यह ग्रंथ सारे भारतवर्ष में शीघ्र ही फैल गया।

बारहवीं शताब्दी में निम्बार्क (११५० ई०) हुए। इनका जन्म भागवत कुल में, बिलारी जिले के तैलंग ब्राह्मण वंश में हुआ। इन्होंने भेदाभेद सिद्धान्त में वैष्णवधर्म की पुष्टि की। रामानुज की श्री भू और लक्ष्मी के स्थान पर इन्होंने राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। इनके अनुसार राधा-कृष्ण परब्रह्म की अनन्य संगिनी हैं और उनके ही साथ गोलोक में निवास करती हैं। वह प्रेम स्वरूपा सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली शृंगार की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं और ब्रज में अपनी आठों प्रधान सखियों (जो कि आठों रसों की प्रतीक हैं) तथा अन्य सब गोपियों (जो कि संचारी भावों की प्रतीक हैं) के सहित कृष्ण की ही भाँति अवतरित होती हैं। ब्रज रूपक में संसार की उत्पत्ति है। यमुना जीवन की धार है और कृष्ण का वंशी-नाद ब्रह्म का प्रतीक है। राधा, उसकी सखियाँ तथा गोपिकाएँ परब्रह्म कृष्ण की ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं जो लीला के हेतु तथा जीवों में आनन्दरूपा भक्ति उत्पन्न करने के लिए कृष्ण के साथ ब्रज भूमि में अवतरित होती हैं। राधा और कृष्ण की भक्ति उनकी कृपा से प्राप्त होती है, इसलिए कृपा की कामना के लिये प्रेम-भाव से उनकी भक्ति करनी चाहिए। कृष्ण भक्ति के लिए निम्बार्क ने ब्रज-भूमि को ही उत्तम समझा इसलिए वहीं राधा कृष्ण

की भक्ति में अपना जीवन बिताया ।

महाभारत और पौराणिक काल में कृष्ण विष्णु के अवतार थे, गीता में वे एकान्त ब्रह्म के पद पर अधिष्ठित हो गए । निम्बार्क के कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं । कृष्ण की कृपा पर भक्ति के अवलम्बित होने की भावना एकान्तिक धर्म में महाभारत काल में आ गई थी । उपनिषदों में भक्ति का उपाय आत्म-चिन्तन था किन्तु महाभारत काल में वह परमात्मा सजीव और अधिक निकट कृष्ण के रूप में आ गया । इस कृष्ण की कृपा पर ही भक्ति निर्भर है । कृष्ण के दर्शन वही कर सकता है जिसे वह अपनी कृपा दें । भगवान की कृपा के बिना ज्ञान और कर्म भी जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करने में सफल न होंगे । महाभारत में कृष्ण का महत्त्व जहाँ उनकी क्रिया कुशलता और नीति के कारण है, वहाँ उनकी शक्ति विष्णु का अवतार होने के कारण है । गीता से शरणागति और प्रतिपत्ति की भावना का आरम्भ होता है । भगवान 'यदा यदा हि-धर्मस्य' इत्यादि कह कर अपने अवतार लेने का कारण बताते हैं ।

भागवत के कृष्ण में अलौकिक लीलाओं का समावेश है । राधा का उसमें नाम नहीं किन्तु गोपियों के विरह-वर्णन, चौर हरण तथा रास-लीला के द्वारा जीव और परब्रह्म की लीलाओं का आदर्श जनता के सामने रखा गया । फिर भी आध्यात्मिकता की इस पुट के कारण कृष्ण विद्वानों की सीमा से बाहर नहीं आ सके । निम्बार्क ने कृष्ण और राधा को परब्रह्म तथा उसकी शक्ति तो माना, किन्तु मधुर प्रेम की भावना की पुट देकर उसे जनसाधारण के लिये भी सुलभ कर दिया । माधुर्य की पुट आ जाने से नायक-नायिका-भेद के लिये कृष्ण-चरित्र में पर्याप्त स्थान निकल आया । राधा को प्रेम का अवतार मानने से संस्कृत-साहित्य के रस-सिद्धान्त के विकास के अनुसार उसमें रसरज-शृंगार की स्थापना हो गई । संस्कृत में रस-सिद्धान्त का विकास नाट्यशास्त्र (जिसमें नायक-नायिका-भेद का पर्याप्त विकास हो चुका था) के आधार पर हो रहा था, इसलिये नायक-नायिका-भेद का समावेश रस-रूप कृष्ण के चरित्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया । राधा की आठ प्रधान सखियाँ आठ रसों की और अन्य गोपिकाएँ संचारी भावों की प्रतीक मानी जाने लगीं । जब कृष्ण-भक्ति का यह रूप बंगाल में पहुँचा तो कृष्ण-भक्ति की माधुर्य भावनाओं को नायक-नायिका-भेद की सूक्ष्म से सूक्ष्म नालियों में बहते देर न लगी । बंगाल की सामयिक भाव-धारा के संयोग से कृष्ण-भक्ति का रूप ही बदल गया ।

बंगाल में दसवीं शती में बौद्ध-धर्म की वज्रयान-शाखा ने तांत्रिक भावनाओं से प्रभावित होकर सहजिया सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया था । भक्ति के लिये कुमारी-पूजा और युवतियों के संयक में रहना अत्यन्त आवश्यक समझा जाने लगा था । सखा-भाव और गुरु-भाव अथवा कर्त्ता-भाव की इस भक्ति में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त सखियों को अपना शरीर भी गुरु को अर्पित करना होता था । काण्ह भट्ट (दशवीं शती) जिस समय इस प्रकार के विकृत बौद्ध धर्म का प्रचार बंगाल में कर रहा था उस समय तक राधा और कृष्ण की कथाएँ लोक-गीत और उत्सवों के द्वारा जन-साधारण तक पहुँच चुकी थीं । अतः इन दोनों भाव-धाराओं ने मिलकर कृष्ण-भक्ति को नया ही रूप दे दिया ।

हिन्दी मध्यकालीन मुक्तक काव्यों में शृंगार-परक जितनी भी रचनाएँ हुई वे अधिकतर कृष्ण और राधा को लक्ष्य करके लिखी गई। राधा और कृष्ण एक प्रकार से हिन्दी-शृंगारिक रचनाओं के प्रधान नायक और नायिका हो गये। संस्कृत-साहित्य की शृंगार-परक रचनाओं में कृष्ण के साथ गोपियों की लीला का वर्णन तो आया है किन्तु राधा का नामोल्लेख नहीं हुआ। व्यास-कृत भागवत्-पुराण कृष्ण-लीलाओं का अक्षय कोष है। किन्तु उसमें भी राधा के नाम का उल्लेख नहीं, जबकि हिन्दी के शृंगारिक मुक्तकों अथवा साहित्य के लिये राधा-तत्त्व एक महती प्रेरिका शक्ति है। राधा हिन्दी-शृंगार-काव्य की अधिष्ठात्री देवी है। और साथ ही वह नारी की एक ऐसी मांसल मूर्ति है जिसके शरीर के हर अणु में कच्ची मिट्टी की गन्ध है और आत्मा के प्रत्येक चेतन-परमाणु में दिव्य प्रेम की अलौकिक छटा। छठी शती से दसवीं तक का संपूर्ण भारतीय वाङ्मय इस अनुपम नारी-रत्न की छाया-व्यतिकर-सौन्दर्य-सृष्टि से अनुप्राणित हुआ है।^१

इस काल की हिन्दी कविताओं में काव्य की समूची रूढ़ियाँ और कवि-प्रसिद्धियाँ वही नहीं थी जो प्राचीन काव्यों में मिलती हैं। हिन्दी कविता के निर्माण में संस्कृत-काव्य के विषय-वस्तु के साथ कुछ और उपादान भी काम कर रहे थे। संस्कृत काव्य की रूढ़ियाँ और कविप्रसिद्धियाँ तो कुछ मात्रा में हिन्दी-कवियों द्वारा अपना ली गईं किन्तु उनकी रचनाओं में कुछ नई रूढ़ियाँ और कवि-परम्पराओं का भी समावेश हुआ। स्त्री-रूप के उपमानों में से बहुत से भुला दिये गये थे। और पुरुष-रूप के वर्णन को अत्यन्त कम महत्त्व दिया गया। एक नई बात जो इस युग की कविता में दिखाई पड़ी वह यह कि प्रायः सभी शृंगारात्मक उत्तम पद्यों का विषय श्रीकृष्ण और गोपियों का प्रेम है, उन्हीं की केलि-कथाएँ, उन्हीं की अभिसार-लीलाएँ और उन्हीं की वंशी-प्रीति आदि।^२

पुराकाल में भी भारतीयों में देवी-देवताओं को लक्ष्य करके शृंगारिक रचनाएँ संस्कृत-साहित्य में होती रहीं, किन्तु उनमें भक्तों की तन्मयता ही अधिक दिखलाई पड़ती है, मांसलता नहीं। भारतीय स्तोत्रों के कवि भक्त गद्गद् भाव से भी जब कविता करते थे तो शिव, दुर्गा, विष्णु आदि देवी-देवताओं की शृंगार-लीला के वर्णन में कभी भी कुंठित नहीं होते थे। यह समझना गलत है कि केवल राधा-कृष्ण ही उपास्य और शृंगार-लीला के आश्रय एक ही साथ माने गये। चण्डी, लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा, शिव, विष्णु आदि सभी देवताओं के स्तोत्रों में उनकी शृंगार-चेष्टाओं का भूरिशः उल्लेख है। यह जरूर है कि श्रीकृष्ण और गोपियों की सारी कथाएँ ही शृंगार-चेष्टा की कथाएँ हैं और इसीलिये इनकी स्तुतियों में इसी की प्रधानता हो गई।^३ स्पष्ट ही देवी-देवताओं की शृंगार-चेष्टाओं का वर्णन करना अनुचित नहीं माना जाता था और यही कारण है कि राधा नामक स्त्री को चाहे वह

१. डॉ० शिवप्रसादसिंह कृत विद्यापति, पृ० ११८

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ११६

३. वही, पृ० १२०

कल्पित ही क्यों न हो देवी का रूप मिल जाने पर शृंगार की प्रधान-नायिका मान लिया गया क्योंकि उसके अन्तर्गत कुछ गुणों की कल्पना की गई थी जो शृंगार-वर्णन के लिये सर्वथा उपयुक्त थे।

भागवत-धर्म और आशीरों के धर्म के संमिश्रण से जो वैष्णव मतवाद बना वह जब तक भागवत से मिला नहीं था तब तक भीतर ही भीतर लोकभाषा को प्रभावित कर रहा था और इससे पहले भी हाल की सतसई में अहीर और अहीरिनों की प्रेम-लीला का वर्णन मिलता है, लोकभाषा में इनका प्रचार रहा होगा कि भागवत का आश्रय पा लेने के बाद यह शास्त्र-प्रभावित काव्यों में भी आने लगा। राधा और कृष्ण के परम देववत् सिद्ध हो जाने के पश्चात् किसी प्रकार की बाधा भी नहीं खड़ी हो सकती थी।

प्राकृत और अपभ्रंश में तो बहुत काल से ही गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम-वर्चा का प्रसंग आने लगा था। गाथा सप्तशती के पश्चात् पंचतन्त्र में भी विष्णु-पत्नी (लक्ष्मी-राधा) का जिक्र आता है (पंचतन्त्र, लब्ध प्रणयश्च)। किन्तु यह राधा भी गाथा सप्तशती की-सी ही है। संस्कृत के धर्म ग्रन्थों में राधा का पहिला विशद चित्र ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिलता है। यह ग्रन्थ भागवत के बाद का है। पुष्पदन्त (६५६-७२ ईस्वी) ने भी कृष्ण और गोपियों की लीला एवं उनके विलास का चित्रण किया है।^१ कृष्ण और राधा की कथा समाज में भागवत-काल से पूर्व ही प्रचलित थी ऐसा समझा जा सकता है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में राधा-कथा दो भागों का अवलम्बन करती हुई चली—लोक भाषागत राधा का परकीया-रूप और ब्रह्मवैवर्तपुराणवाला धार्मिक रूप। गाथा सप्तशती की राधा का रूप जनता में प्रचलित राधा के रूप के आधार पर है। यह राधा एक सुन्दरी नायिका है और साथ ही परकीया भी है। जनता में यह रूप कहाँ से आया? इस गुत्थी को सुलझाने के लिए समझा जा सकता है कि समाज में राधा के विषय में अवश्य कुछ लोक-गीत और लोक-कथाएँ पहिले से ही प्रचलित होंगी। मध्यकालीन भारत अनेक अर्वादि परम्पराओं को अपना चुका था। तन्त्रवाद के विकसित रूप वाममार्ग का प्रभाव भारतीय धर्म और संस्कृति पर पड़ा, उसके फलस्वरूप यहाँ विविध धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन भी हुए। वाममार्ग में स्त्री को अधिक महत्त्व दिया गया। उसको प्रत्येक साधना का आधार बनाया गया और यहाँ तक कि उसे शक्ति का रूप दे दिया गया। स्त्री के द्वारा ही मनुष्य सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। स्त्री ही समस्त उपासनाओं का केन्द्र थी। वाममार्ग की एक शाखा कौल धर्म का मूल तो स्त्री पर ही आधारित था। जिस पुरुष के बायें ओर स्त्री नहीं, जिसके दाहिने हाथ में मदिरा का पात्र नहीं वह कौल धर्म में सच्चा भक्त नहीं माना जाता था। इन धर्मों ने समाज में विलासिता और कामुकता को उत्प्रेरित किया। स्त्री (योनि) को शक्ति और पुरुष (लिंग) को शिव कहा गया और इस प्रकार कालान्तर में शिव और शक्ति का युग्म बन कर उपासना के क्षेत्र में आया। शाक्त सम्प्रदाय वाममार्ग से ही निकला था। इस कारण इसमें विलासिता

और कामान्विता को ही धार्मिकता की संज्ञा दे दी गई। और तब स्त्री को शक्ति और पुरुष को शिव कह कर जनता में धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय दिया जाने लगा।

प्रत्येक भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय शाक्त-सम्प्रदाय से प्रभावित है। सब सम्प्रदायों ने इसीलिये शिव और शक्ति के इस रूप को अपना लिया और शिव-शक्ति के युग्म के सहस्र राधा-कृष्ण और सीता-राम युग्म बने। शनैः शनैः शाक्तों की शृंगारिकता ने समाज की रूचि का रूप धारण कर लिया और इस प्रकार राधा-कृष्ण भी समाज की शृंगारिक मनोवृत्ति के परिचायक के रूप से मान्य हो गये। गाथा सप्तशती में उपलब्ध राधा का रूप धार्मिक न होकर एक परकीया का रूप ही है। चौथी और पाँचवीं शती तक शिव और पार्वती हिन्दुओं में उपास्य देव के रूप में प्रचलित हो गये थे। कुछ विद्वानों की सम्मति में इन्हीं शिव और पार्वती के अनुकरण पर संभवतः हिन्दुओं में विष्णु और श्री की पूजा आरम्भ हुई। विष्णु के साथ श्री अर्थात् लक्ष्मी जुड़ी हुई है। महाभारत के नारायणीय अध्याय में विष्णु को श्वेत द्वीप का निवासी कहा गया है। नारायण का निवास स्थान भी जल है। अतः नारायण और विष्णु एक ही हैं। नारायण के साथ ही लक्ष्मी भी रहती है। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में—‘श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च परव्यो’ कह कर रूपक द्वारा यज्ञपुरुष विष्णु की श्री और लक्ष्मी दो पत्नियाँ मानी गई हैं। कृष्ण विष्णु और नारायण के अवतार हैं। अतः लक्ष्मी का सम्बन्ध कृष्ण के साथ भी स्थापित हुआ। इसी लक्ष्मी को निम्बार्क ने वृषभानुजा राधा (जो एक सहस्र सखियों के साथ विहार करती है) कह कर कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में उपस्थित किया—तन्त्रवाद में स्त्री-पूजा इसी शक्ति का प्रतीक मानी जाती है। शाक्त मत का यह प्रभाव पूर्व तथा समस्त उत्तराखंड में फैल चुका था। सम्भवतः इसी शक्ति के अनुकरण पर राधा का निर्माण हुआ हो।^१

राधा किसी नारी का नाम नहीं है, यह नारी जीवन की सम्पूर्ण गरिमा, तेजोदीपता, समर्पण, प्रेम की अनन्यता तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य, शील और प्रज्ञा के धन-विग्रह का संविधान है। राधा भारतीय प्रेम साधना की परिणति का नाम है। इस साधना का आरम्भ वैदिक साहित्य में ही दिखाई पड़ने लगता है। जब ऋषि ने प्रकृति को आद्याशक्ति के रूप में अपनी प्रथम श्रद्धांजलि अर्पित की। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में शक्ति के पृथ्वीरूप की जो वन्दना है वह विश्वजननी पृथ्वी के प्रति मनुष्य की प्रगति का प्रथम उच्छ्वास नहीं तो क्या है।^२ वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देव-मूर्ति के साथ परवर्तीकाल की विष्णु की भू-शक्ति की योजना स्मरण की जाती है। श्रुतियों में हमें शक्ति के लक्षणीय उल्लेख मिलते हैं। केनोपनिषद् में जहाँ ब्रह्मशक्ति ही असल शक्ति है वह शक्ति जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि सभी देवताओं के अन्दर क्रियमाण है—देवताओं को यही तत्त्व दिखाने के लिये साक्षात् ब्रह्मविद्या बहुशोभमाना हैमवती उमा के रूप में आकाश में अबिभूता हुई।^३ अत्यन्त प्राचीन काल से ही मांसल-सौन्दर्य और अलसाये नेत्रों के

१. डॉ० मुन्शीराम शर्मा कृत सूरसौरभ, पृ० १८

२. डॉ० शिवप्रसादसिंह कृत विद्यापति, पृ० ११८

३. डॉ० शशिभूषणदास गुप्त कृत राधा का क्रमिक विकास, पृ० १०

वर्णन के साथ देवी को 'शंख-पात्रा और 'शुककुल पठित शृण्वती' भी कहा गया है। इस प्रकार के वर्णन मध्यकालीन काव्य में नायिका-वर्णन-प्रसंग में प्रायः रूढ़ से हो गये थे। डॉ० शशिभूषणदास गुप्त के निष्कर्ष में तथ्य-अंश अधिक दिखाई देता है। उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है कि तन्त्र पुराण आदि या शैवदर्शन में जहाँ शक्ति तत्व का विवेचन भली-भाँति प्रारम्भ हुआ है वहाँ देखते हैं कि शक्तिवाद ने वैष्णव धर्म और दर्शन में भी घुसना शुरू किया है और हमारा विश्वास है कि वैष्णव धर्म और दर्शन में यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ।^१

प्राकृत और अपभ्रंश में तो बहुत काल से गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम-चर्चा का प्रसंग आने लगा था, किन्तु संस्कृत में राधा प्रसंग की सर्वप्रथम चर्चा का उल्लेख आनन्दवर्द्धन कृत ध्वन्यालोक में उद्धृत एक उदाहरण में हुआ है।^२ राधा के विषय में भट्टनारायणकृत वेणीसंहार, त्रिविक्रम भट्ट कृत नल-चम्पू, माध कृत शिशुपालवध, सोमदेवकृत यशस्तिलक चंपू, ग्यारहवीं शती में लीलाशुक कृत कृष्णकणामृत में चर्चा मिलती है लेकिन राधा-कृष्ण का मादक एवं मृदुल वर्णन बारहवीं शती के जयदेव के गीत-गोविन्द में उल्लब्ध होता है। राधा जयदेव के गीत-गोविन्द में ही पहिली बार एक सामान्य मानवी अपने सम्पूर्ण मांसल पार्थिव शरीर-सौन्दर्य-संभार के साथ भगवान् कृष्ण की प्रियतमा के रूप में दैवीशक्ति का आधार-स्थल बन कर आई। जयदेव ने स्पष्टतः हरिस्मरण और काम-कलाकुतूहल को समन्वित कर दिया। सच तो यह है कि मध्यकालीन साहित्य में भक्त कवियों को काव्य की जो परम्परा मिली उसमें भक्ति और शृंगार का पार्थक्य नहीं था। जयदेव की राधा सांसारिक मानवी की तरह ही प्रेम-विह्वला, मानिनी, प्रेमिका, केलि और रति-सुख की विदग्धा तथा अपने प्रियतम के गले में कण्ठहार की तरह निरन्तर आलिगन में सुख मानने वाली बाला है। राधा एक सामान्य मानवी की तरह अपनी संभोगेच्छा के वेग को रोक नहीं पाती और पूर्व-सम्मिलन के क्षणों की याद करके आँसू बहाती है। उसकी यह सहज मानव-धर्मिता ही उसके चित्त की पीड़ा को गाढ़ रूप में प्रकट कर सकी है। गीत-गोविन्द की विरहिणी राधा के विषय में विचार प्रकट करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि जयदेव की विलासिनी राधा और कितव-कृष्ण की विलास-कला वस्तुतः आधी भी नहीं रहेगी अगर राधिका को एकान्त प्रेम-निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान की प्राप्ति के लिये जयदेव की राधा इतनी व्याकुल है कि वे सभी कारण जो सांसारिक रमणियों की विरक्ति के साधन हैं उन्हें प्रेम के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। क्षण भर के विलम्ब में भी जो चित्त उत्कण्ठाति के बोझ से फट पड़ता है उसकी सुदूर प्रवास के वियोग की अवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिये कहते हैं कि इस मृणाल-तन्तु को जयदेव ने ग्रीष्म के ताप में न रख कर अच्छा ही किया है।^३

१. डॉ० शशिभूषणदास गुप्त कृत राधा का क्रमिक विकास, पृ० १३

२. विश्वेश्वराचार्य कृत ध्वन्यालोक, पृ० १२९

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १५७

राधा की यह मूर्ति जो वैदिक काल के पृथ्वी-रूप में प्रस्फुटित होकर नाना पुराणों के देवी रूप, लक्ष्मी-श्री-रूप तथा तन्त्रों में वर्णित देवी-पों से पुष्ट होती हुई मध्यकालीन प्रेम-प्रधान-काव्यों में प्राण-प्रतिष्ठा प्राप्त करके जयदेव के काव्य की राधा के रूप में उपस्थित हुई और विद्यापति को उसी प्रकार प्राप्त हुई जैसे किसी परिवार के व्यक्ति को अपने पूर्वजों की सम्पत्ति अपनी समस्त गरिमा, अन्ध-विश्वास, गन्दगी, शुभ्रता के समवेत गुण-दोषों के साथ प्राप्त होती है। विद्यापति ने राधा की इस प्रतिमा को अपने ढंग से देखा, समझा और अपनी साधना और शक्ति के द्वारा इसे अभिनव रूप प्रदान किया।

विद्यापति के कृष्ण और राधा—ऐतिहासिकों का कहना है कि ईसा की प्रथम शताब्दी या उससे कुछ पूर्व आभीर नाम की एक जाति (जिसकी आरम्भिक वृत्ति गोपालन रही होगी) का गुजरात से लेकर शौरसेन देश तक राजनीतिक प्रभाव दिखाई देता है। आरम्भ में यह जाति म्लेच्छों में सम्मिलित की जाती रही। वृष्णि वंशीय स्त्रियों को द्वारिका से कुक्षेत्र लाते समय अर्जुन पर इन्हीं लोगों ने आक्रमण किया था। इस जाति में राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की अनेक कहानियाँ प्रचलित थी। कृष्ण इस जाति के उपास्य देव थे। जैसे-जैसे इस जाति का प्रभाव बढ़ता गया ब्राह्मणों ने भागवत सम्प्रदाय की ही भाँति इस असभ्य जाति को वैदिक धर्म में प्रविष्ट कर दिया। फल यह हुआ कि गीता के रचयिता वासुदेव कृष्ण और आभीरों के उपास्य देव गोपाल-कृष्ण का चौथी शताब्दी तक एकीकरण हो गया। वासुदेवक भागवत या वैष्णव अर्थ में गोपाल-कृष्ण की शृंगार लीलाओं को स्थान मिल गया। प्रथम शती ईस्वी से पूर्व के साहित्य, पुराण या किसी अन्य धार्मिक रचना में राधा का उल्लेख नहीं है। भारतीय साहित्य में प्रथम हाल द्वारा संगृहीत गाथा सप्तशती में राधा-कृष्ण का उल्लेख है किन्तु वहाँ कृष्ण और राधा सामान्य नायक-नायिका के रूप में आये हैं।

धर्म की अपेक्षा पहिले साहित्य ने कृष्ण और राधा को अपने अन्तर्गत स्थान दिया, जैसे-जैसे वासुदेव-कृष्ण और गोपाल का एकीकरण होता गया गोपाल-कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे। राधा से गोपाल-कृष्ण की शृंगार लीलाएँ भक्ति भावना के साथ साहित्य में भी स्थान पाने लगीं। चौथी शताब्दी की रचना पंचतन्त्र में राधा का नाम आया है। इसके पश्चात् धनंजय के दशरूपक, भोज के सरस्वती कण्ठाभरण, आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक तथा क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित आदि पुस्तकों में कृष्ण के अवतारत्व के प्रति भक्ति-भाव दिखाते हुए उनके राधा के प्रति प्रेम-संबन्ध को विशेषणों के रूप में दिया गया है, या लक्षण-ग्रन्थों में नायक-नायिका के स्थान पर राधा-कृष्ण का नाम रख दिया गया है। जयदेव के गीत-गोविन्द के रचनाकाल तक कृष्ण के अवतारत्व के कारण राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना का और राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के कारण उनको नायक-नायिका के रूप में स्थापित कर शृंगारी भावनाओं का पूर्ण रूप से मिश्रण हो गया। जयदेव का गीत-गोविन्द इन दोनों भावों के समीकरण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

विद्यापति के कृष्ण ने प्रेम-लीलाओं के लिये ही अवतार धारण किया। इस

विषय में कवि की मैथिली अवहट्ट में लिखित 'कीर्ति पताका' विचारणीय है, क्योंकि यहाँ शृंगार-रस-वर्णन-प्रसंग में कवि ने कहा कि रामावतार में सीता के हरण-जन्य विरह से खिन्न रामचन्द्र ने अपने दुःख को दूर करने के लिये ही कृष्णावतार में गोपियों के साथ नाना प्रकार का भोगविलास किया था। कीर्तिपताका की मूल प्रति नेपाल-दरबार-पुस्तकालय में है। इसकी एक प्रति डा० जयकान्त मिश्र के पास है। यह कवि का अवहट्ट-प्राप्य अन्तिम ग्रन्थ है। यह भी कीर्तिलता के साथ ही म० म० श्री हरप्रसाद शास्त्री द्वारा नेपाल पुस्तकालय से खोजा गया था और अभी तक अप्रकाशित है। इसका पांडुलेख कीर्तिलता से पुराना है और ४२६ ल० सं०—पन्द्रह सौ पैतालीस ईस्वी से अंकित है परन्तु बिगड़ी दशा में है। इसके आठ से उनत्तीस तक पृष्ठ नहीं मिलते। इस अवस्था में इस ग्रन्थ की उत्तमता को सही रूप में अंकित करना कठिन है। वर्तमान प्राप्य पाठ में बहुत कम पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं। शिव और गणेश सम्बन्धी आशीर्वादात्मक संस्कृत श्लोकों से यह ग्रन्थ आरम्भ होता है। महाराज शिवसिंह और उनकी रसिकता की प्रशस्ति इसका मुख्य विषय है। यहाँ कवि ने बात एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कही है जिससे कि कृष्ण और गोपियों की पारस्परिक क्रीड़ा के विषय में कवि की मीमांसा स्पष्ट होती है—रामेण रामजन्मनि सीता विरहदावानल-दग्धमानसेन तत्खेदापनोदाय कृष्णावतारेण गोपकुमारेण सानन्द अब्दरीवृन्दसहस्र साहित्यमालक्ष्य वृतकामक्रीडाभिलाषिभिश्चित्तव्रजसुन्दरीभिः कनक क्वणितभूश्च रमणीय-माधुर्य मनोहारिभिः विविध भूषण खचितनानामणिकिसरवैचित्र्यमनोहारिणीभिः परिणतशरचन्द्रमुखीभिः पीनपयोधराक्रान्तगुरुनितम्बबिम्बभारोद्बहनपरिश्रममन्दमन्थरगामिनीभिः कदाचित् स्वाधीनभर्तृकायाः कदाचिदुत्कण्ठितायाः कलहान्तरितायाः कदाचिद् विप्रलब्धायाः कदाचिद्विरहिण्याः कदाचिदभिसारिकायाः कदाचिद्वासकसज्जायाः कदाचित् (र) खण्डिता (याः ?) मण्डलानिगृहीत्वासुमहाभागः खलितः प्रेरितश्च" ॥ (कीर्तिपताका-पाण्डु लेख)।

इससे यह स्पष्ट है कि राम ने कृष्ण के रूप में पुनः अवतार ग्रहण किया, जिससे कि वह अपने पूर्व के रामायणीय जीवन में अनास्वादित वैवाहिक-प्रेम रस का आकण्ठ पान कर सके। विद्यापति की पदावली में भोग पक्ष की प्रधानता का बड़ा कारण यह मीमांसा भी है। और अपनी इस मीमांसा के बल पर ही विद्यापति ने दाम्पत्य-रति को अपना मुख्य विषय बनाया और फिर निःसंकोच दम्पति के एक-एक रहः प्रसंग को उद्धाटित कर दिया।

अवतार होते हुए भी विद्यापति के कृष्ण को किसी भक्ति सम्प्रदाय विशेष के चबूतरे पर नहीं बिठाया जा सकता। पदावली में वृन्दावन, व्रज, यमुना, गोप, गोपी, कुंज आदि का उल्लेख रहते हुए भी विद्यापति के कृष्ण की लीलाएँ वृन्दावन और गोकुल की वे लीलाएँ नहीं हैं, जिनको वैष्णव सम्प्रदायों ने अपनी भक्ति में रखा, अपितु वे नायिका के अंग-प्रत्यंग पर अपने को लुटाने वाले हैं और उसे देख कर विभोर होने की लीला करते हैं। विद्यापति ने कंस-वध, पूतना-वध, नवनीत-चौर्यादि किसी भी लीला का वर्णन नहीं किया उन्होंने कृष्ण की केवल अतृप्त वासना-जनित क्रियाओं का उल्लेख किया है। विद्यापति के कृष्ण देव नहीं, मानव हैं। इस प्रकार

कृष्ण के जिस रूप को हम विद्यापति में देखते हैं वह किसी घोर विलासी और कामुक मनुष्य को लज्जित कर सकता है। वह दुष्टों के दलन और इन्द्र-कोप से संत्रस्त गोप-जनों की रक्षा के भार से उन्मुक्त है। यहाँ तो कृष्ण सदा अपनी प्रेमिका राधा से मिलने के उपाय खोजते मिलेंगे। विद्यापति ने कृष्ण-राधा के प्रसंग को नवीन दृष्टि-कोण से देखा है, जिसके मूल में काव्य-शास्त्र परम्परा और कृष्ण-राधा में नायक-नायिका की कल्पना है। पदों को परस्पर क्रम विशेष से रखने पर राधा की वयः सन्धि से कथा-प्रसंग आरम्भ होता हुआ प्रतीत होता है। राधा शनैः-शनैः तरुणी हो जाती है। कृष्ण तरुण हैं ही। यहाँ विद्यापति ने राधा को कृष्ण से छोटा चित्रित किया है, कदाचित् इसके मूल में मिथिला में प्रचलित तत्कालीन बाल-विवाह-प्रथा को ग्रथवा कवि ने वयः सन्धि की कल्पना के लिये इसकी योजना की हो। इसी समय दूत-कर्म शुरू होता है। दूतियाँ एक ओर राधा से कृष्ण की चर्चा चलाती हैं तो दूसरी ओर कृष्ण से राधा की। दोनों का परस्पर साक्षात् होता है। इस प्रथम दर्शन से ही पूर्व राग अंकुरित होता है। इसके पश्चात् पूर्व राग-प्रसंग में कवि ने दूती द्वारा या स्वयं नायक-नायिका द्वारा उभय पक्ष के सौन्दर्य का आख्यान कराया है। विविध उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से अलंकृत कवि ने जो कृष्ण और राधा का चित्र उपस्थित किया है वह अपूर्व है, जयदेव में इसके दर्शन नहीं होते। अभिनव जयदेव विद्यापति की यह अपनी योजना है। तत्पश्चात् दूती राधा को अभिसार के लिये तैयार करती है और शिक्षिका सखी के रूप में कृष्ण को प्रबोधित करती है। यह प्रथम मिलन है। इसमें वामना और दैहिक संसर्ग की लालसा अन्तर्हित है।

लौट कर राधा सखियों से अपने प्रथम अनुभव की बात कहती है। कृष्ण ने उसके साथ कैसा व्यवहार किया, उस पर उसका क्या प्रभाव पड़ा ? उसके बाद मान की व्यवस्था की गई है। कृष्ण के शरीर पर अन्य युवती-प्रसंग के चिन्ह देख कर राधा मान करती है। यह खण्डिता का मान है। मान-प्रसंग में दूतियों-सखियों ने बड़ी चातुरी प्रदर्शित की है। इसके बाद राधा-कृष्ण का पुनर्मिलन होता है। कृष्ण राधा से अनुनय-विनय करते हैं, अभिसार भी चलता है और राधा-कृष्ण का कुन्जों में मिलाप होता है। अभिसार-प्रसंग में राधा पुर-जनों और अपने परिजनों का भय मानती है।

अचानक ही एक दिन कृष्ण राधा से निवेदन करते हैं कि वह गोकुल से मथुरा जा रहे हैं। राधा मौन ही रहती है। कृष्ण चले जाते हैं। राधा विरहिणी हो जाती है। सखियाँ उसे बहुशः धैर्य बँधाती हैं। कृष्ण के समीप मथुरा में उसका संदेश भी ले जाती हैं, जिसे सुन कर कृष्ण निवेदन करते हैं कि राधा से बिछुड़ना तो आज तक भी मैं नहीं भूला, और इस राज-संपदा के बीच वैरागी-सा जी रहा हूँ (मैं० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृष्ठ ३६०)। संदेशवाहिका दूतियाँ लौट कर राधा से कृष्ण के विरह की चर्चा करती हैं—“एक-दिवस हम मथुरा समागम कान्हू हि दर्शन भेला”—(विद्यापति, डा० रामरतन भटनागर, पृष्ठ २३)

इसके अनन्तर कृष्ण-राधा का मिलन होता है। इस मिलन को कवि ने कहीं दैहिक दिखलाया है, कहीं स्वप्न-मिलन-सा। समस्त पदों को पढ़ने पर यह मानसिक

मिलन प्रतीत होता है। सखियाँ राधा से जब इस मिलन की बात पूछती हैं तो वह मुखरा हो जाती है। तब वह न लजाती है और न मान करती है।

भागवतगत कृष्ण-राधा-कथानक की तुलना में विद्यापति का कथानक अत्यन्त एकांगी है। विद्यापति ने केवल उन्हीं प्रसंगों को लिया है, जिन्हें काव्य-शास्त्रियों ने शृंगार-रस की पुष्टि के लिये आवश्यक कहा है। अन्य प्रसंग उपेक्षित रहे हैं। कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो दूतियाँ राधा का संदेश उनके पास ले जाती हैं। यह कवि की नवीन कल्पना है। फिर कृष्ण मथुरा से लौट आते हैं और राधा का मान-मोचन होता है। इस प्रकार विरह की परिणति मिलन में होती है। भागवत की मूल कथा में इस प्रकार की कोई बात नहीं है। वहाँ तो, खैर राधा नाम भी नहीं है। वहाँ कृष्ण और गोपियों की भेंट महाभारत के बाद ही होती है। मूलकथा में भ्रमर-गीत और उद्धव का प्रसंग है। पदावली में उद्धव का उल्लेख हुआ है, परन्तु यहाँ उन्हें न ब्रज भेजा गया है और न उनके द्वारा ज्ञान-गरिष्ठ व्याख्यान कराये गये हैं—(मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृष्ठ ३७३-३७४)। जगन्नाथदास रत्नाकर कृत 'उद्धवशतक' में कृष्ण की जो विरह-कथा महा-अकथ और अथाह है वही विद्यापति के उपर्युक्त पद में उद्धव के सम्मुख कृष्ण के अभिलाष के रूप में अभिव्यक्त हुई है। कृष्ण को मथुरा जाने पर भी ब्रज, गोप, धेनु, जमुना, नीप-तरु, सखा-ग्वाल, वृषभानु किशोरी राधा, उनकी प्रिय सखी ललिता और वहाँ की कुन्ज-क्रीड़ा विस्मृत नहीं हुई थी। स्पष्ट है कि विद्यापति कृष्ण के सत्य रूप से परिचित थे। लेकिन सारे सत्य-रूप का आख्यान उनका अभीष्ट नहीं था। समस्त पदावली में कृष्ण का नायकत्व शृंगार-काव्य के परिपार्श्व में उत्थित हुआ है। विद्यापति यह भी जानते हैं कि यह शृंगार अलौकिक का है। यह सच है कि विद्यापति ने पदावली में बीच-बीच में अलौकिकता का संकेत नहीं किया है, तथापि कृष्ण-राधा-केल की अलौकिकता से वे अपरिचित नहीं थे (मै० को० विद्यापति, ब्रजनन्दनसहाय, पृष्ठ १६७-६८)। संकेतित पद में माधव के चतुर्भुज रूप का वर्णन है। कृष्ण-राधा-विलास, हमारे लोक के नायक-नायिका का-सा ही है तथापि वे अलौकिक हैं। विद्यापति के कृष्ण ने अलौकिकता में तृप्ति-लाभ न मान कर ही तो लालसा-वश लोक में भवतार धारण किया था।

पदावली में माधव, कृष्ण, कान्हू, नंदनन्दन, गोविन्द, मधुरिपु, हरि आदि (विद्यापति, मित्र-मजुमदार, भूमिका, पृष्ठ ८३) शब्द आये, किन्तु वे सब एक नायक के पर्याय ही हैं। कृष्ण का उन सबमें राधा-रमण रूप प्रधान है। राधा, गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, ब्रज, जमुना, कदम्ब, कुन्ज आदि का भी प्रयोग है। किन्तु इनके प्रयोग को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि इनके द्वारा किसी सम्प्रदाय-सम्मानिता कृष्ण की लीला चित्रित की गई है। विद्यापति ने शृंगार-रस के नायक को ही कृष्ण और उसके अन्य पर्याय शब्दों से अभिहित किया है। नायक को कृष्ण या राधा-रमण कह कर उसमें लोक संभावित समस्त विलासिता और कामुकता उँडेल दी।

विद्यापति के कृष्ण, जयदेव के कृष्ण सदृश ही धीरललित दक्षिण नायक की कोटि में आते हैं। "लोचन अरुन बुभुल बड़ भेद" आदि कुछ पदों में कृष्ण का

वामनायकत्व उभरा है, ऐसे स्थलों पर राधा का खण्डिता नायिका के रूप में चित्रण है। जयदेव के अतिरिक्त श्रीधरदास-कृत “सदुक्ति कर्णामृत” जैसे स्फुट-पद-संग्रह भी विद्यापति के सामने रहे। श्रीकृष्ण पूर्णतः रसिक शिरोमणि, विदग्ध-चतुर नायक हैं। उन्हें किसी भी तरह से काम-कला-अनभिज्ञ ग्राम्य नायक नहीं कहा जा सकता। किन्तु ‘सदुक्ति कर्णामृत’ (१२०५ ईस्वी) की एक वीची में ग्राम्य नायक संबंधी पाँच कविताएँ उद्धृत हुई हैं। उनका भावानुसरण करके विद्यापति ने कृष्ण में ग्राम्य-नायकत्व भी अंकित किया है—

हसि निहारल पलटि हेरि लाजे कि बोलब साँझ के बेरि ।

हरखे आरति हरल चौर, सून पयोधर, कांप सरीर ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ८१

फिर भी विद्यापति के कृष्ण में इस प्रकार के सीमाचारी विलास और कामुकता के रूपाधायक के रूप में क्या जयदेव का गीत-गोविन्द ही उत्तरदायी है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इसके लिए तत्कालीन सामाजिक संगठन भी बहुत अंश में उत्तरदायी है। दक्षिण के वैष्णव धर्म के उदय के पूर्व का इतिहास मुख्यतः वज्रयान और सहजयान का इतिहास है, जिसने एक लम्बे समय तक समाज को विलासिता और कामुकता में रंग दिया था। योनि-पूजा को ही महत्त्व दिया जाता था। तन्त्रवाद का प्रभाव इतना बढ़ा हुआ था कि संपूर्ण इच्छाओं और सिद्धियों की प्राप्ति का केन्द्र स्त्री को बना रखा था। जब शाक्त धर्म विकसित हुआ तो उस पर भी वज्रयान की ऐन्द्रियता का प्रभाव पड़ा। जन-समाज पूर्ण रूप से वज्रयानियों की उन अश्लीलताओं को नहीं छोड़ पाया और उन्होंने समाज में दूसरे रूप में घर कर लिया। जिस प्रकार योनि और लिंग को शक्ति-शिव का रूप मिला उसी प्रकार अन्य युग्म भी जन-समाज में प्रचलित हो गए। राधा-कृष्ण की कथा को जो ऐन्द्रियता मिली उसमें वज्रयान और सहजयान का बड़ा प्रभाव है। विद्यापति स्वयं एक स्मार्त शक्ति थे। इसलिये उन्होंने जनता में प्रचलित इन कथाओं को अपना लिया और इस प्रकार अपने विलासी एवं रसिक आश्रयदाता-शिर्वासिह के हृदय को प्रसन्न करते रहे। पदावली में कृष्ण और राधा का वही रूप उपलब्ध है जो ‘गाथासप्तशती’ की स्फुट रचनाओं में है। जनता में कृष्ण और राधा की कथाएँ शिव और शक्ति का आधार लेकर वज्रयान के उत्कर्ष काल में ही प्रचलित हो चुकी थीं। उन्हीं के आधार पर जयदेव ने अपने ‘गीत-गोविन्द’ में कृष्ण और राधा को चित्रित किया। विद्यापति को कृष्ण और राधा का यह रूप अपनी दरबारी परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल जँचा।

विद्यापति ने अपनी संस्कृत और अपभ्रंश की रचनाओं में शिव, पार्वती, दुर्गा, गंगा आदि के नाम लिए हैं, कृष्ण का नहीं। पदावली की रचना कृष्ण भक्त कवि के रूप में नहीं की गई। इसमें तो शृंगार-रूप ही प्रधान है। संस्कृत-प्राकृत अपभ्रंश की शृंगार कविता जनता में आदर पा चुकी थी। विद्यापति जयदेव की पदावली के माधुर्य को देख चुके थे। जनता ने कृष्ण और राधा की शृंगारिक क्रीड़ाओं को बड़े उत्साह के साथ सुना था। विद्यापति ने कृष्ण के जन-परम्परा में प्रचलित

रूप को अपना कर जन-भाषा में ही जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। कृष्ण-राधा की लीला का दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत करना विद्यापति का लक्ष्य नहीं था। विद्यापति ने नायक-नायिका के विलासमय जीवन के विभिन्न चित्रों को अपनी कल्पना के रंगों से रंग कर अंकित किया है। विद्यापति के कृष्ण में कामशास्त्र के समस्त चातुर्य और ज्ञान का अग्रिमित भण्डार है। पदावली में कृष्ण के वर्णन राधा के मुख से ही अधिक हुए हैं। कुछ स्थलों पर कृष्ण का रूप अत्यन्त भावुक प्रेमी का रूप है, अन्यत्र सामान्य नायक का। कृष्ण का अत्यन्त भावुक और संयत प्रेमी रूप दर्शनीय है—

नंदक नंदन कदम्बक तरुतर। धिरे-धिरे मुरलि बजाव।

समय संकेत-निकेतन बइसल, बेरि बेरि बोलि पठाव ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १

यहाँ विद्यापति ने कृष्ण के पूर्वराग का सुन्दर वर्णन किया है, जयदेव के काव्य में इसका प्रसंग ही नहीं आया। अनेक स्थलों पर विद्यापति कृष्ण को विलास करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं—

“भनहि विद्यापति सुनहु मुरारि, सुपुरुख बिलसए से बरनारि”।

दूती के मुख से नायिका-सौन्दर्य को सुन कर कृष्ण उसके समीप पहुँचने में विलम्ब नहीं करते (विद्यापति, बेनीपुरी, पद १०) और विलासोन्मुख कृष्ण को नायिका के सद्यः स्नात सौन्दर्य को देखने की भी सलाह दी (विद्यापति, बेनीपुरी, पद २५)। विद्यापति के कृष्ण राधा को पथ में, जमुना तट पर, घर में, संकेत स्थान पर मिले। पदावली में कभी कृष्ण विदग्ध, चंचल, भावुक नायक हैं, कभी मानी और विरह-कातर। इन प्रसंगों के अनन्तर मान-मोचन एवं पुनर्मिलन के अवसर पर कृष्ण के उस स्वरूप के दर्शन किये जा सकते हैं जिसकी अवतारणा सर्वप्रथम जयदेव ने की थी और विद्यापति के काव्य में जिसकी पुष्टि हुई और कृष्ण विलास-केलि-चतुर, रति-विशारद नायक मात्र रह गये, जिनका अन्यतम लक्ष्य नीवि-बन्ध-मोचन है। स्पष्ट ही यहाँ कृष्ण सौन्दर्याराधक, पार्थिव प्रेमानुरागी और शारीरिक विलास-पण्डित हैं। और राधा के निर्माण में तो कवि ने अपना सारा निजत्व, हृदय का समस्त भाव-संभार अर्पित कर दिया है। विद्यापति की राधा के रूप, चरित्र और शील में कुछ ऐसा है जो केवल विद्यापति ही प्रस्तुत कर सकते थे। राधा विद्यापति के समस्त मानस-सौन्दर्य की साकार मूर्ति है। बालिका राधा के चित्त-प्रकाशन में विद्यापति ने रुचि नहीं दिखाई। वहाँ राधिका का जीवन तब प्रारम्भ हुआ जब वह वयः संधि में प्रविष्ट हुई और तब कृष्ण ने एक ऐसी अपरूपा के दर्शन किए जो जीवन के आकस्मिक आगमन पर मुग्ध है और कुतूहलवश अपने अंगों के उभार को देख विभोर हो जाती है (विद्यापति, बेनीपुरी, पद ४)।

जब से बाल्यावस्था समाप्त होती है और युवावस्था शरीर में प्रवेश करती है, उसी समय से शृंगार-रस का आधिपत्य प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में अवस्था का विकास उत्पन्न होता जाता है उसी प्रकार रस में भी विकास उत्पन्न होता है। जिस अवस्था में शरीर का विकास अपनी चरमावस्था को

पहुँच जाता है, वहीं तक शृंगार की राज्यसीमा रहती है। उसके बाद शान्त, भक्ति या मधुर रस का प्रभुत्व आ जाता है। यह एक साधारण नियम है। इसमें कभी-कभी वैषम्य भी देख पड़ता है, किन्तु बहुत ही अल्प। विद्यापति की अधिकांश प्रकाशित पदावलियों में इन सब अवस्थाओं के सूचक पद उपलब्ध होते हैं। इस भाव-विकास-क्रम को ध्यान में रख कर विद्यापति-पदावलियों का सम्पादन हुआ है। मनुष्य के हृद्गतभावों से विद्यापति का घनिष्ठ परिचय था। उसी परिचय के आधार पर इन पदों में भावों का सन्निवेश किया गया है।

शैशव और यौवन में वाद छिड़ता है — विद्यापति बेनीपुरी, पद ७ और अन्त में शैशव को उसका शरीर छोड़ना ही पड़ता है। यौवन के प्रथम चरण-निक्षेप से बाला का चित्त एक अद्भुत भाव-भंगी से भर जाता है। बाल-सुलभ अल्हड़ चेष्टाएँ सिकुड़ कर रह गईं। हँसने, बोलने, चलने आदि सामान्य व्यवहार में भी भिन्नता आ गई (विद्यापति, बेनीपुरी, पद ६)। क्षण-क्षण में नेत्र चक्षु-कोर का अनुसरण करते हैं। क्षण-क्षण पर असंयत वस्त्र धूल में लोट कर शरीर को धूल-धूसरित कर देते हैं। क्षण-क्षण उसके मधुर हास से दाँतों की धवल-पंक्तियाँ चमक उठती हैं। क्षण-क्षण लज्जा के कारण वह होठों पर वस्त्र रख लेती है। क्षण-क्षण चौंक कर धीरे-धीरे चलने लगती है। हृदय के मुकुल को देख कर उन पर लज्जा से कमी वस्त्र ढाँकती है, कभी वैसा करना भूल जाती है। उसके शरीर में शैशव और यौवन ऐसे मिले हैं कि उनमें से कौन कम और कौन अधिक है यह निर्णय कर पाना कठिन है (विद्यापति बेनीपुरी, पद ६)।

इसके बाद क्रमिक तारुण्य-अंग प्रत्यंग पर अपना आधिपत्य पूर्ण रूप से जमा लेता है (विद्यापति, बेनीपुरी पद १२)। इस पद में कवि ने शब्दों के प्रयोग में अपनी चतुरता और साथ ही साथ भाव का भी विकास दिखाया है। इस पद को पढ़ने से मालूम होता है कि नायिका को कवि ने सर्वथा शृंगार-रस का जीवित चित्र बना लिया है। अब इसमें क्रमशः रस संचारित होगा और नाना प्रकार के हाव तथा भाव उद्बुद्ध होंगे, जिनसे शृंगार-रस की पुष्टि होती रहेगी। इन्हीं दिनों जब अपने यौवन के दुरतिक्रम बोझ को संभालने में असमर्थ राधा ब्रज की वीथियों में घूम रही थी तो उसकी दृष्टि कृष्ण पर पड़ गई। दो तरुण हृदयों के इस मिलन पर दोनों के हार्दिक मन्थन, कुतूहल, रूपासक्ति और प्रेम-विह्वलता का विद्यापति ने अत्यन्त विशद चित्रण किया है। राधा के रूप को कृष्ण स्तब्ध हो देखते ही रह गये। मेघमाला में जैसे तड़ित-लता क्षण भर के लिये झिलमिला कर छिन्न जाती है, उसी प्रकार राधा के रूप की वह झलक हृदयों को बर्छी की तरह चीरती चली गई। कृष्ण के मुँह से निकला— 'सजनि भल कए पेखलन भेल'—इत्यादि (विद्यापति, बेनीपुरी, पद २८)। अचानक ही हवा के झोंके से वस्त्र (आँचल) गिर गया। राधा की देह-यष्टि दृष्टि-पथ में आ गई। घनि का देह ऐसा लगा जैसे नील-नीरद के नीचे बिजली की रेखा चल रही हो। घनि की गति-विशेष को देखकर तो मेरे चित्त में प्रेम-रंग उद्भूत हो गया। ऐसा लगता है कि सुवर्ण-लता निरवलम्ब भाव से पृथ्वी पर विचरण कर रही है—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद २६)। विद्यापति की राधा में रूप की पराकाष्ठा है। उसका

सब कुछ मधुर है। मधुर रस की अधिष्ठातृ-देवी की भाँति भक्त-हृदयों को उद्बेलित करने वाली राधा की यह मूर्ति कृष्ण के मानस को प्रेम-वैचित्र्य के नानाभावों से मथित कर देती है। देखिये ! कृष्ण के मन में वह आड़ी सौन्दर्य-प्रतिमा ऐसी अड़ गई कि नम्रानना का मधुर हास्य से युक्त बदन अब मानस नेत्र के सामने से हटता ही नहीं—

आड़ बदन कर मधुर हास दए, सुन्दरि रहु सिर नाई ।

अग्रोंधा कमल कान्ति नहि पूरए, हेरइत जुग बहि जाई ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३१

हृदय थाम कर कृष्ण ने कहा कि जादूगर कुसुम-सायक की मायाविनी नटी की छवि भूलती नहीं, उसके चरणों में लगा जावक पावक की तरह मेरे मन और अंग-मात्र को दग्ध कर रहा है—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३२)। अनुपम सुन्दरी राधा भी कृष्ण की रूप-माधुरी से उतनी ही आकृष्ट हुई थी, जितने कि कृष्ण, राधा-रूप माधुरी से। बल्कि उसे तो वह रूप-संभार-दर्शन स्वप्नवत् प्रतीत हो रहा था। उस रूप-दर्शन के बाद उसने सखी से जो निवेदन किया उससे यही स्पष्ट होता है कि उसे स्वतः इस बात पर विश्वास नहीं हो रहा कि ऐसा अपरूप उसके दर्शन-विषयों में कहीं हो भी सकता है—

ए सखि पेखलि एक अपरूप, सुनइत मानवि सपन-सरूप । इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३६

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूरदास की बालिका राधा की सहज स्वाभाविकता और भोलेपन की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से आखीर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है, और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है।^१ विद्यापति की राधा का सारल्य हृद्गत करना हो तो पढ़ें—

की लागि कौतुक देखलौं सखि, निमिष लोचन आध ।

मोर मन-मृग मरम बेधल, विषम बान बेआध ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३७

कृष्ण के अपरूप का क्षणिक दर्शन-सुख ही उसके मन-मृग के मर्म को व्याध के विषम-शर की तरह विद्ध कर गया। कदम्ब-तरुओं से आच्छादित यमुना-तीर पर उस रूप को देखने के लिये वह व्याकुला हो उठी। किन्तु लज्जावशात् पूर्णतः देख न सकी और उलट-उलट कर देखते समय वह गिर पड़ी और मार्ग के कण्ठकों से उसके कोमल चरण क्षत-विक्षत हो गये। प्रेम की ऐसी सरल और मासूम अभिव्यञ्जना अन्यत्र कदाचित् ही मिले। इस पद में विद्यापति की राधा के सरल चित्त के जिस

भाव की अभिव्यंजना होती है, उसमें पीड़ा की स्वीकृति और अपनी विडम्बना की विवृति ने ही स्थान पाया है, किसी चातुरी विशेष ने नहीं। क्षणिक मिलन के बाद अल्हड़ राधा व्याकुल और गंभीर रहती है। अपने अल्हड़पन में ही उलट-उलट कर पीछे देखते समय उसके पैर काँटों से छिद्र गये थे, इस भाव को भी बिना संकोच वह अभिव्यक्त कर देती है। रही चातुरी की बात, वह तो सूरदास की राधा में भी कम नहीं, बल्कि सूरदास की राधिका अधिक विदग्धा प्रतीत होती है।

राधा एक ओर भारतीय गृहस्थ की कन्या की तरह पारिवारिक मर्यादा-सीमाओं में अपने को बाँधती है तो दूसरी ओर कृष्ण की मुरली की मादक एवं संकेत-सूचिका ध्वनि उसके चित्त को व्याकुल कर देती है। प्रथम-मिलन-जात राधा का अनुराग क्षणिक बिछोह को भी संभाल नहीं पाता। तभी तो यह विचित्र दुःख छोर-रहित लगता है और वेणु-नाद उसके प्राणों को विष-सिक्त की भाँति अचेत कर डालता है। रोमोद्गम से देह परिपूरित हो जाता है। गृहस्थ गुरु-जनों के मध्य चाह कर भी उसकी आँखें कृष्ण को नहीं देखतीं, उसे कहीं और देखना पड़ता है। घर में वह धीमे-धीमे चलती है और प्रभु से मनाती है कि उसकी लाज बचावें। उसका तन-मन विवश हो जाता है—

कि कहव हे सखि इह दुख ओर, बाँसि-निसास गरल तनु मोर ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ४१

कृष्ण के रूपादर्शन से उद्भूत आकर्षण राधा को निरन्तर सहवास-सुख के लिये बेचैन करने लगा। प्रिय के समीप रहने, उसकी श्रुति-मधुर बातों को सुनने तथा हर घड़ी उसके प्रत्येक आचार-व्यवहार पर दृष्टि रखने की लालसा विस्तार पाने लगी। पारिवारिक मर्यादा की चहारदीवारी के भीतर वह विवश थी। क्षणिक-विरह की ऊपरी-वेदना-ग्रस्त हो उसने मदन को उपालम्भ देते हुए कहा—

पुर-बाहिर पथ करत गतागत, के नहि हेरत कान ।

तोहर कुसुम-सर कतहु न संचर, हमर हृदय पंचवान ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ४३

अर्थात् रास्ते में आते-जाते ऐसा कौन है जो कृष्ण को देखता नहीं, परन्तु हमारा उसे एक बार आध-नयन-कोन से देखना ही इतना बड़ा अपराध हो गया कि तुम मेरे हृदय को कठोर पंचशर से घायल कर रहे हो, यह तुम्हारा कैसा न्याय है ?

और तब राधा-कृष्ण दोनों की दूतियाँ-सखियाँ विशेष क्रियाशील हो जाती हैं। कामशास्त्र में दूती को कन्या-विश्रम्भण-व्यापार में सहायिका बतलाया गया है। जयदेव और विद्यापति ने दूती को इसी रूप में ग्रहण किया है। दूतियाँ राधा और कृष्ण दोनों की पूर्वराग-जनित दारुण-दशा का वर्णन उनके पास जा-जा कर सुनाती हैं। उनके अनुसार एक ओर राधा के अभाव में माधव कालिन्दी-तट पर केलि-विलास को भूल कर धूल में विलुठित होते हैं। भुजंगिनी के दश से अचेत नन्द-किशोर तब तक होश में नहीं आ सकते जब तक दूसरे दश की लहर उस विष को दूर नहीं कर देती—

(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३६)। यहाँ विरह पीड़ा को भुजंगि-दंश-सा बताना महत्त्व-पूर्ण है। परवर्ती काल में भक्त के मानस में उठने वाली विरह की हूक की तुलना अनेक स्थलों पर नागिनी-दंश से की गई है।

दूसरी ओर, राधा, मनमोहन की याद में दिन-रात रोती रहती है। और रात-दिन जाग कर कृष्ण का नाम जपा करती है। आधी रात के समय विगलित-लज्जा राधा फूट पड़ती है। सखियाँ जितना उसे प्रबोधित करती हैं, उतना ही विरह-ताप असीम होकर उसे सन्तप्त करता है— (विद्यापति, बेनीपुरी, पद ५२)। हे माधव! उसकी पूर्व-विपरीत दशा का कैसे बखान करें, वह तो स्वप्न में भी तुम्हें नहीं भूलती। प्रीति के अथाह प्रवाह से उसका चित्त जर्जरित है। सखियों में बैठकर अपने नीरस-कमल-मुख को छिपा लेती है। नयनों में नीर का बाँव टूट जाता है। बोलना और चलना दूभर हो गया है। वह कुहू-शशि के सदृश क्षीण-तनु हो गई है— (विद्यापति, बेनीपुरी, पद ५३)।

यहाँ राधा-कृष्ण का प्रेम महाभाव की दशा को प्राप्त होने के लिये सचेष्ट है। महाभाव उस दशा का नाम है जिसमें प्रेम दृढ़ होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव के रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार इक्षु-बीज बगन के बाद क्रमशः रस, खाँड, गुड़, चीनी, सिता (मिश्री) और सिता-पला में बदलता है, उसी प्रकार रति से प्रेम, प्रेम से राग, राग से अनुराग आदि की उत्पत्ति हो कर महाभाव उत्पन्न होता है—

प्रेम क्रमे बाडि हय स्नेह मान प्रणय
राग अनुराग भाव महाभाव हय
जैछे बीज इक्षु रस गुण खाण्डसार,
सर्करा सिता किछरि शुद्ध मिसरि आर।
इहा तैछे क्रमे निर्मल क्रमे बाड़े स्वाद
रति प्रेमादि तैछे बाड़ए आस्वाद॥

—चेतन्य चरितामृत

प्रेम जब अंतिम अवस्था को प्राप्त होता है, तब उसे 'चिद्दीपदीपन' अवस्था कहते हैं, अर्थात् यह प्रेम विषयोपलब्धि का प्रकाश होता है। स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्ति के द्वारा अभिनव माधुर्य की सृष्टि करता है और स्वयं अदाक्षिण्य धारण करता है तब उसे मान कहते हैं। मान अगर विश्रम्भण या भ्रम-राहित्य को प्राप्त होता है तो उसे प्रणय कहते हैं। प्रणयोत्कर्ष के कारण अधिक दुख भी सुखवत् मालूम हो तो उसे राग कहते हैं। जो राग नित्य नूतन मालूम हो उसे अनुराग की संज्ञा मिलती है। अनुराग अगर यावदाश्रयवृत्ति होकर स्वसंवेद्य दशा को प्राप्त होकर प्रकट हो तो उसे भाव कहते हैं—

आरुह्य परमां काष्ठां प्रेम ! चिद्दीपदीपनः।

हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते ॥

स्नेहस्तूकृष्टतावाप्या माधुर्यमान यन्नवम् ।
 यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते ॥
 मानो दधानो विस्रम्भं प्रणय प्रोच्यते बुधैः ।
 दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते ॥
 यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ।
 सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनव प्रियम् ॥
 रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते ॥
 अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः ।
 यावदाश्रयवृत्तिश्चेति भाव इत्यभिधीयते ॥

— उज्ज्वल नीलमणि

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'उज्ज्वल नीलमणि-किरण' में लिखा है कि जहाँ कृष्ण से प्राप्त सुख में क्षण भर के लिये भी असहिष्णुतादि होती है वहीं रूढ़ महाभाव है। करोड़-ब्रह्माण्डगत समस्त सुख भी जिसके सुख का लेशमात्र भी नहीं होता, सारे विच्छुओं-सर्पों के दंशन भी जिस दुःख के लेशमात्र का अनुभव नहीं करा सकते, कृष्ण के मिलन-विरह का यह सुख और दुःख जिस दशा में प्राप्त होता है, उस दशा को ही अधिरूढ़ महाभाव कहते हैं। राधा का प्रेम इसी अधिरूढ़ महाभाव की दशा को प्राप्त था।^१

महाभावाधिरूढ़ा राधा कृष्ण के वियोग में धरिति-लुठित होती थी। क्षण में दीर्घ-निःश्वास, क्षण में मूर्छा और अश्रुपात-रुदन को देखकर भी उसकी इस दशा को कोई समझ नहीं पाता—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ५४)। राधा का कृष्ण के प्रति स्नेह प्रणय का रूप धारण करता है। दुःख के बाद सुख के दिन आये। राधा को यह प्रिय-मिलन-सुख अचानक ही प्राप्त नहीं हुआ। उसने चिर-साधना की थी। उसे इसके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करना पड़ा। निरन्तर अश्रु-प्रवाह से उसने अपनी आँखों का काजल धो डाला—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ७२)। राधा का प्रेम वह कुन्दन है जिसने दुसह आँच में तप कर चमकीला रूप पाया। इसीलिये कष्ट-प्राप्य इस मिलन के समय उसके हृदय का उल्लास भय-मिश्रित आशंका से पूरित है। विद्यापति ने इस उल्लास को स्पष्ट करने के लिये समुचित शब्द, छन्द और भाषा का प्रयोग किया है। राधा के चित्त में उठने वाले प्रथम-मिलन सम्बन्धी भय को विद्यापति ने कामशास्त्र पर आधारित नबोढ़ा के चित्त में उठने वाली आशंकाओं-जैसा वर्णन किया है। परिपाटी का अनुसरण अवश्य है यहाँ, तथापि विद्यापति के इन वर्णनों में सर्वत्र एक अलग मौलिकता दृग्गत होती है। विद्यापति ने मिलन की विविध अवस्थाओं का वर्णन विस्तार से किया है। निश्चय ही ऐसे स्थलों पर उनका काम-शास्त्री मुखर रहता है। प्रथम-मिलन के रूढ़ अनुभाव-वर्णनों में भी एक महत्त्व की बात है कि कृष्ण-मिलन के अनुभवों को सखियों के द्वारा पुनः पुनः पूछे जाने

पर राधा जिस शिष्टता और शालीनता के साथ उन्हें उत्तर देती है, वह प्रशंसनीय है। विद्यापति की तथाकथित विदग्ध राधा कहीं भी मुखर नहीं प्रतीत होती और न बार-बार एक ही बात पूछे जाने पर स्वाभिमानिनी की भाँति उनका तिरस्कार ही करती है। कृष्ण-समागम के अनुभव के विषय में उसका उत्तर मासूमियत भरा और मर्यादा-संकुल है जो कि उसके व्यक्तित्व के विषय में सहज आकर्षण और मृदुलता उत्पन्न करता है। (विद्यापति, बेनीपुरी, पद ६५)। यहाँ राधा स्वभाव सहज मार्दव से कहती है कि सखि वह अनुभव तुझे कैसे बताऊँ? उन्होंने हँस कर जब मेरा आलिंगन किया तो मुझे ऐसा लगा मानों मेरे हृदय में पूर्व अंकुरित प्रेम का पौधा आज कुसुमित हो गया है। और ज्यों ही उन्होंने नीबी-बन्ध शिथिल किया, तुम्हारी कसम, मुझे कुछ नहीं मालूम कि फिर क्या हुआ ?

विद्यापति के समस्त रति-वर्णनों में इस शालीनता का निर्वाह नहीं हुआ। क्योंकि ऐसे वर्णनों में अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ स्थूलता आ गई है। रति-प्रसंगों के बहुत भद्दे वर्णन भी दिखाई पड़ते हैं। किन्तु विद्यापति के वर्णनों में कुरुचि उत्पन्न करने वाले प्रसंग कम मिलेंगे, वैसे हनुमान-चालीसा का पाठ करने वालों के लिये यदि हर शृंगारिक वर्णन ही अश्लील लगे तो इसकी दवा भी क्या है।^१

प्रथम समागम-जनित विश्रम्भण या आत्मविश्वास ने राधा के चित्त में अभिसार और छद्म-मिलन की प्रेरणा जगाई। विद्यापति के सामने इन अभिसार-प्रसंगों में कौशल-विस्तार का नवीन मार्ग प्रशस्त हो गया। अभिसार के प्रसंग में भी विद्यापति ने रूढ़ियों की शरण अवश्य ली, किन्तु उनके माध्यम से उन्होंने केवल चमत्कार उत्पन्न करने का ही प्रयास नहीं किया। यहाँ उन्होंने जो अलंकार-विधान प्रस्तुत किया उसका उद्देश्य महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने मार्ग के संकटों और कष्टों का वर्णन करके प्रेम की परीक्षा ली — उसके शुद्ध होने का प्रमाण उपस्थित किया—

माधव, धनि आएलि कत भाँति,
प्रेम-हेम परखाओल कसौटी।

भादव कुहु-तिथि राति ॥ इत्यादि। —विद्यापति, बेनीपुरी, पद १०९

ऊपरले तौर पर इस पद में अलंकरण की प्रधानता दिखाई पड़ती है, किन्तु गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि कवि का उद्देश्य यहाँ अलंकरण नहीं कुछ और ही है। उपर्युक्त पद में सजल मेघ-से घने अन्धकार को कृष्ण-रूप-सादृश्य-वशात् राधा चुम्बन देती है। जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' की राधा भी 'जलधर कल्प अनल्प तिमिर' को कृष्ण समझ कर आलिंगित और चुम्बित करती है—(गीत-गोविन्द काव्यमृषष्ठ सर्ग)।

प्रेम-कौतुक, प्रणय, अभिसार के नाना व्यापारों का यह उल्लसित वातावरण विद्यापति के सजीव वर्णनों से निरन्तर विकासशील भी दृग्गत होता है। वैष्णव साहित्य में मान का बहुत महत्त्व है। मान के दो उद्देश्य रहते हैं। पहिला यह कि

मान के माध्यम से प्रेमी या भक्त के मन की अनन्यता का पता चलता है। प्रेमिका यह कभी सहन नहीं कर सकती कि उसका प्रिय किसी अन्य की ओर उन्मुख हो। इस धारणा से उसके प्रेमी की एकाग्रता का पता चलता है। दूसरी ओर मान भक्त या प्रेमी के हृदय के संकोच या स्वाभाविक क्षुब्धता का भी परिचायक है। मान के समय में नाना प्रकार के कटु-तिक्त अनुभवों को प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमी के हृदय में विशालता-उदारता का भाव उद्बुद्ध होता है। वह सोचता है कि—उसका प्रिय सैकड़ों लोगों के प्रेम का आलम्बन बन सकता है। उससे जितना प्राप्त होता है, वही बहुत है। इस भावना के कारण एक ओर जहाँ प्रेमी के चित का परिष्कार होता है, दूसरी ओर वह प्रेम के वास्तविक अर्थ को-अपार्थिव स्वरूप को भी समझने में समर्थ होता है। विद्यापति ने मान की विविध दशाओं का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। बहुवल्लभ कृष्ण के नाना नायिका-रमण विषयक चंचल स्वभाव पर व्यंग्य करते हुए राधा ने कहा—

लोचन अरुन बुझल बड़ भेद, रयनि उजाएर गरुअ निवेद ॥ इत्यादि
—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३३

अर्थात् लाल नेत्रों ने आपके मानसिक समस्त रहस्य को खोल कर रख दिया है। रात्रि-जागरण का भेद छिपा नहीं रह सका। हे हरि! अब आप वहीं जाइये जिसके साथ रात बिताई है। पर-नारी के कुचों पर लगा अंगराग तुम्हारे हृदय को अनुरागोज्ज्वल बना रहा है। किसी दूसरी के आभूषण-भूत अंगरागादि ने तुम्हारे लिये कलंक बन कर तुम्हारे मन्द-प्रसंग के बड़े भेद को हम से स्पष्ट कह दिया है। कृष्ण सफाई पेश करते हैं—

सुन सुन सुन्दरि कर अवधान, बिनु अपराध कहसि काहें आन। इत्यादि
—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १३६

परन्तु राधा को विश्वास न आया। इस प्रकार मान-मनुहार चलता रहा। एक दिन कृष्ण ने इस मान को भंग करने के उद्देश्य से विचित्र कौतुक किया। मोर-मुकुट उतार अपने घुँघराले बालों में सीमन्त बनाया, बालों को गूँथ कर वेणी बना ली। चन्दन की जगह सिन्दूर लगाया, आँखों को काजल से आँज लिया। कुण्डल की जगह कर्ण फूल धारण किया, कलाई में सोने की चूड़ियाँ पहन लीं। चरणों को जावक से लाल कर लिया। छाती पर कदम्ब के फूलों को छिपा कर ऊपर से कंचुकि पहन ली। लाल साड़ी पहनी। और तब औरतों की तरह पहले बाँयाँ पैर आगे रख त्रिया-लक्षण जतलाते हुए राधा के पास से बीणा बजाते हुए गये—

राइक निकट बजाओल सुन्दरि, सुनइत भइगेल साधा।

ए नव यौवनि नविन विदेसिनि आओ पुकारइ राधा। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी पद १६३

परिणाम यह हुआ कि वचनबद्धा राधा इस नवीन विदेसिनी की ओर से चाह कर भी मुँह न मोड़ सकी और इस प्रकार प्रिय के आलिंगन की वेगवती धारा में मान के गुरु-पाषाण बह गये (विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६३)।

कृष्ण ने भी यहाँ राधा के प्रति मान किया। उनके मान की गुस्ता राधा के हृदय को नाना स्मृतियों से दग्ध करती है। कातरा हो वह प्रिय के इस मान में अपने को ही अपराधिनी समझती है (विद्यापुरी, वेनीपुरी, पद १५८)। यहाँ वह कहती है कि क्या मैं संध्याकालीन एकाकी तारा हूँ अथवा भादों की चतुर्थी का चाँद ? इन दोनों में न जाने किसके समान मेरा मुख हो गया है, जिससे कि प्रभु इस ओर हँस कर नहीं देखते। विद्यापति ने राधा के उपेक्षित हृदय की ग्लानि को स्पष्ट करने के लिए जो प्रतीक प्रस्तुत किये हैं वे रूढ़ नहीं हैं। इनके पीछे लोक-चित्त के संस्कार छिपे हैं। इसलिए ग्लानि की यह अभिव्यञ्जना साधु प्रेषणीय और अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है।

मान-भंग के उपरान्त विद्यापति को कामकला का शेष उपदेश सुनाने का सुअवसर मिला। कामशास्त्रोक्त रति की विभिन्न अवस्थाओं, कामोत्पादक उपचार, नखक्षत, दन्तक्षत और न जाने कितनी मुद्राएँ विद्यापति ने सचित्र प्रस्तुत कर डालीं। निश्चय ही उल्लास का यह वातावरण, मांसल सौन्दर्य के उपभोग का यह इन्द्रिय-व्यापार, दैहिक स्पर्श-सुख के तरलायित प्रसंग, एक-एक अंग के स्थूल और विवृत विवरण केवल इन्द्रिय-लिप्सा के परिचायक होते, यदि इनके अन्त में विरहोत्पन्न आकस्मिक विश्लेष दुःख की इतनी बड़ी अतीन्द्रिय पीड़ा को जगाने में समर्थ न होता। विद्यापति का प्रबुद्ध पाठक उनके इन स्थूल रति-व्यापारों को कभी क्षमा न कर पाता, यदि वे साध्य बन कर आते; किन्तु यह अवस्था प्रेम के एक पक्ष का परिचय देती है, उसकी पूर्णता का नहीं। इस मिलन-सुख के अन्तराल में विरह की इतनी तीव्र व्यथा सोई है, इसे देखते हुए पाठक इन प्रसंगों की अतिवादिता को क्षम्य मान लेता है। विरह के चित्रण में विद्यापति बेजोड़ हैं। उनका विरह उन्हासास्पद नहीं हुआ है। सूर की तरह विरह की उसासों का आधिक्य भी नहीं है। इसका मूल कारण है विद्यापति द्वारा मिलन-सुख की स्थूल विवृति। यह आश्चर्य की बात नहीं है। मिलन के सुख का वे इतना गाढ़ा चित्रण इसलिये करते हैं कि वे विरह की काली रात्रि को अधिक स्पष्ट उभारना चाहते हैं। अर्थात् उनके मिलन-संयोग के चित्रों की सघनता और रंगसाजी उनके विरह के पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने में सहायक हुई है।^१

कृष्ण के गोकुल से चले जाने पर राधा का सर्वस्व ही उसके पास से चला गया। हृदय विदीर्ण हो रहा है। समस्त शोभायवती गोपियों को कृष्ण ने एक बारगी भुला दिया। स्वप्न में उसने देखा कि उसके हाथ में से पारस मणि छूट गई। वह अन्य के धन से धनवती हुई थी। जिसका धन था उसके पास चला गया। समस्त गोकुल जिस चाँद के लिए चकोरवत् देखता था उसकी चोरी हो गई। बड़ी दुविधा में जान पड़ गई है। हे सगुनिया काग ! अपनी भाषा में बोल कर यह बताओ कि प्रियतम (पहु) कब आवेंगे ? यदि तेरी वाणी सफल हुई तो मैं तुझे सुवर्ण के कटोरे में भर कर खीर-खाण्ड का भोजन दूँगी। कवि विद्यापति कहते हैं कि हे बाले ! धीरज रख, गोकुल फिर से शोभायमान होगा और मुरारि तुझ से पुनः आ मिलेंगे—

मधुपुर मोहन गेल रे, मोरा विहरत छाती । इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६०

विरह की ऐसी सहज, गंभीरतम और अनलंकृत अभिव्यंजना के लिए विद्यापति ने बड़े कौशल से लोक तत्व और लोक-गीतों की धुनों का समावेश अपने पदों में किया है। सहज और अकृत्रिम प्रतीकों के कारण ऐसे लोकगीत अधिक हृदय संवेद्य बन पड़े हैं। लोकगीतों की धुन ही इतनी करुणोत्पादक होती है कि वह विरह की सान्द्रता को बड़े प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती है—

(क) सखि मोर पिया

अबहु न आगोल कुलिस-हिया ।

इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६४

(ख) लोचन धाए फेधायल, हरि नहि आयल रे ।

सिव-सिव जिवओ न जाए, आस अरुभाएल रे ॥

इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी पद, १६३

विरह-वर्णन-प्रसंग में विद्यापति ने बारह मासा और चौमासा लिखा है। कहीं विविध संचारियों का वर्णन किया है। विप्रलम्भ शृंगारगत संचारी-भाव-वर्णन-दक्षता विषयक एक पद प्रस्तुत है—

सखि हे कतहु न देखि मघाई,

कांप शरीर धीर नहि मानस अवधि नियर भेल आई ।

इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६२

राधा कृष्ण-मिलन-जनित आंगिक सुखों का भी चिन्तन करती है—

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरै ।

जौवन बिनु तन तन बिनु जौवन, की जौवन पिय दूरै ॥

इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६१

प्रकृति में भी दुःख के बाद सुख का आगमन होता है। पत्र हीन तरु विशेष नवीन पत्र राशि को प्राप्त करते हैं, लेकिन विरहिणी के नयनों में तो अन्तहीन बरसात बास करती है (विद्यापति, बेनीपुरी, पद २०७)। कुसुमित कानन को देखकर इसी-लिए राधा नेत्र बन्द करके खड़ी हो जाती है, कोकिल की कूक सुन कर कानों को बन्द कर लेती है। उद्दीपनों के माध्यम से भी विद्यापति ने विरह-क्षीणा का चित्रांकन किया है—

कुसुमित कानन हेरि कमलमुखि, मूँदि रहए दु नयान ।

इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २१३

वयः सन्धि से लेकर राधा की साज-संभाल के साथ उसके सब हृद्गत भावों को विद्यापति तल्लीनता के साथ अभिव्यक्त करते रहे। लेकिन राधा की अद्भुत विरह-दशा उन्हें अपनी संभाल से बाहर जैची। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विरह के

आरम्भिक पद काव्य रूढ़ि-निर्वाह की दृष्टि से लिखे थे, परन्तु तभी उनके हृदय को किसी परिस्थिति (संभवतः मित्र राज शिवसिंह-वियोग) ने सहज विरह-पीड़ा से भर दिया और तब विरहिणी राधा के रूप में जिस विरह वेदना की धारा बही वह विद्यापति के हाथ से भी छूट गयी। तभी तो विद्यापति ने लिखा—

माधव कत पर बोधव राधा ।

हा हरि हा हरि कहतहि बेरि बैरि

अब जिउ करब समाधा ॥ इत्यादि ।

विद्यापति, बेनीपुरी, पद २१६

इस विरह-वेदना में अनन्त व्यापिता के साथ दयित के प्रति शुभेच्छा और आशा-वादिता के भी दर्शन होते हैं—

(क) जुग जुग जीवथु बसथु लाख कोस । हमर अभाग हुनक न हि दोस ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १९७

(ख) विद्यापति कवि गाम्गोल रे, धनि धरु पिय आस ।

आओत तोर मन भावन रे, एहि कातिक मास—विद्यापति, बेनीपुरी पद २०३

दयित-मिलन के आस-पास में प्राणों को उलझाए राधा वृन्दावन में अद्भुत तप करती हुई (विद्यापति, बेनीपुरी, पद २१०) 'भृंगी-गति' को प्राप्त हो गई—

अनुखन माधव माधव सुमरत, सुन्दरि भेलि मघाई । इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २१७

जयदेव के समान जन-परम्परा में प्रचलित कथाओं और गीतों के आधार पर निर्मित होने पर भी विद्यापति की राधा में कुछ ऐसी विशेषता है जिसके कारण वह इतनी मांसल, इतनी सरल, इतनी विदग्ध, सुन्दर, कामिनी, नारीत्वपूर्ण, विक्षोभकारी समस्त सौन्दर्य-उपकरणों की प्रतिमा, स्पष्ट हृदया, दुग्ध-सी निर्मल, पृथ्वी-गन्ध-सी पूत एवं मनोहर, विद्युत् सी चंचल, धरती-सी क्षमाशील, ग्रामीण-सी निरञ्जल, कीर्ति-सी स्पृहणीय, शुभ्र-ज्योति-सी शान्तिप्रदायिनी, विरह-पीड़िता शची-सी उन्मत्ता और शिवा-सी साधनारता है। इसीलिये मिलन, कौतुक, सखी सम्भाषण, अभिसार, छलना, मान, विदग्ध-विलास, विरह, भावोत्लासादि के प्रसंगों में राधा का जो चित्रण है, उसका शृंगार रीतिकालीन कवियों की नायिकाओं के शृंगार से अधिक उजागर प्रतीत होता है।

यहाँ कृष्ण-राधा अथवा उनके पर्याय शब्दों के अतिरिक्त वृन्दावन, मथुरा, कदम्ब, बकुल, कुंज, गोकुल, गोप, घोसिनि, गिरधारी, कालिय दमनकारी, रास-लीला, मुरली अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं जिन्होंने परवर्ती भक्त कवियों के काव्य में पारिभाषिक कोटि प्राप्त की। विद्यापति-पदावली से कुछ पद-पदांश ऐसे उद्धृत करते हैं जिनसे यह स्पष्ट होगा कि पुराण और भागवत के पण्डित होने पर भी विद्यापति ने इन शब्दों को इस रूप में प्रयुक्त किया है।

वृन्दावन—कृष्ण के मथुरा-प्रस्थान के बाद वृन्दावन अवश्य ही राधा की अद्भुत तपोभूमि बन कर रह गया। वह चन्द्रवदना नेत्रों से निःसृत अश्रुओं से नदी का निर्माण कर उसी में स्नान करती है। सरस कमल-नाल की सुमरनी बना कर

दिन-रात हरिनाम जपती है । वृन्दावन में राधा तपलीना है । हृदय-वेदिका पर मदनानल धधक रहा है । अपने प्राणों की समिधा और समर-स्मरण को आगी-अरणी बना कर वह अग्निहोत्र कर रही है । चिकुर-केश को बरहि-कुश के रूप में हाथ में संभाल कर लेती है । फलादि ग्रन्थ-शेष के रूप में उपहार पयोधरों का था । विद्यापति ने कहा कि हे मुरारि ! सुनो, तुम्हारा पथ देखने वाली उस नारी के प्रति यदि तुम दत्तावधान नहीं होते हो तो उसके वध के भागी बनोगे—

लोचन नीर तटनि निरमाने, करए कलामुखि तथिहि सनाने । इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २१०

इस अद्भुत तपो-भूमि का वास्तविक रूप देखना हो तो निम्न पद-पदांशों पर दृक्पात करें—

(क) आएल रिनुपति राज वसंत, धाओल अलिकुल माधवि-पंथ ॥

नव वृन्दावन राज बिहार, विद्यापति कह समयक सार ॥

—वही, पद १७५

(ख) नव वृन्दावन नव नव तरुगन, नव नव विकसित फूल ।

नवल वसंत नवल मलयानिल, मातल नव अलि कूल ॥

इत्यादि

—वही, पद १७६

(ग) मधुरितु मधुकर पांति । मधुर कुसुम मधुमाति ।

इत्यादि

—वही, पद १८३

चहुं ओर मधुमय वातावरण उपस्थित है, जिसे देख कर माधव-मन हुलसित हो उठता है । वृन्दावन में विकसित वसंतकाल में मुदित-मुरारि रासलीला का उपक्रम करते हैं । जयदेव की भाँति विद्यापति ने इसी रसीले रास का गायन किया है । राधा माधव के अभिनव-भाव-अभिव्यक्ति के लिये ऐसा अनुराग-रंजित अभिनव मंच ही विद्यापति ने पसंद किया, यद्यपि भागवत् में शरतकालीन रासलीला का उल्लेख है—

अभिनव कोमल सुन्दर पात । सवारे बने जनि पहिरल रात ॥

भनइ विद्यापति ई रस गाव । राधा-माधव अभिनव भाव ॥

—वही, पद १८१

जयदेव की शैली पर वैसे ही मधुर वातावरण में राधा-माधव के इस अभिनव भाव के मधुर गीत गायन करने से ही तो विद्यापति को अपने आश्रयदाता महाराज शिवसिंह से अभिनव जयदेव की उपाधि प्रदान की गई थी ।

धमुना-तट, कुंज आदि—पदावली में प्रयुक्त कालिन्दी, कदम्ब, बकुल, गोपादि शब्द रास-लीला या अभिनव-रसक्रीड़ा के लिये मधुमय वातावरण उपस्थित करते हैं । घर के सब सदस्यों के निद्रित हो जाने पर नन्द-किशोर अपनी शय्या से उठे और युवति-मोहन वेश धारण कर कालिन्दी-तटस्थ कुसुमित कानन में जा पहुँचे—

जागल घर घर नींद भेल भोर । सेज तेजल उठिनंद किशोर ।

कुसुमित कानन कालिन्दी-तीर, तहं चलि आएल गोकुल वीर ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ११८

वहाँ मदन-कुंज पर बैठकर नागर कृष्ण वृन्दा सखी आदि के द्वारा चाहते हैं कि जैसे सम्भव हो तुरन्त राधा से मिलाप करा दो—

मदन कुंज पर बइसल नागर, वृन्दा सखि मुख चाहि ।

जोड़िजुगुल कर विनति करए कत, तुरित मिलावह राहि ॥

—वही, पद १३६

गोवर्धनगिरि को बाँए हाथ में धारण कर समस्त गोकुल को पार करने वाले और अपने चरण-युगल से कालिय सर्प का दमन करने वाले नन्द-कुमार अभिनव-भावतुर हो कभी बकुल वृक्ष के नीचे बैठ आँसू बहाते हैं—

विरह व्याकुल तर तर, पेखल नन्द-कुमार रे ।

नील नीरज नयन संय सखि, ढरई नीर अपार रे ॥

—वही, पद १४१

तो कभी सहेट-स्थल-भूत कदम्ब-वृक्ष के नीचे बैठ मुरली टेरेते हैं, और व्याकुल हो प्रत्येक गोरस-बेचने जाने वाली से प्रिया के विषय में पूछते हैं—

नन्दक नन्दन कदम्बक तरतर, धिरे धिरे मुरली बजाव ।

समय संकेत निकेतन बईसल, बेरि बेरि बोलि पठाव ॥ इत्यादि ।

—वही, पद १०

राधा की दूती ने कृष्ण को ठीक ही लक्षित किया और कहा कि कालिन्दी-कूल पर धूलि में विलुठित होने वाले कान्हू को मदन-भुजंगम ने दंश किया है, तो आज चतुरासखियों को संग लेकर हे राधे ! निकुंज में रस-रंग मनाने का अवसर है—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ४८) । दूती आकर इस प्रकार अनुकूलता का समाचार देकर उत्प्रेरित करे अभिसार के लिए, इससे पूर्व ही माधव की मुरली का नाद उसके कानों के रास्ते जबरन हृदय में उतर गया और बहुत कुछ कर गया—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ४१) । फिर भी वहाँ जाने में कुछ भय-सा लगता है । तब कभी सखी होसला बढ़ाते हुए कहती है—

काहे डरसि सखि चलु हम संग, माधव नहि परसब तुअ अंग । इत्यादि ।

—वही, पद ६६१

और कुंज में उपस्थित कृष्ण उस राधिका का क्या करे ? इस विषय में वह कृष्ण की शिक्षा देती है—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ६६) कभी वह कामिनी स्वयं जब अभिनव स्नेहावेश को सहन नहीं कर पाती तो पुरुष-वेश में अभिसार करती है और इस कुंज में नागर-राज-कृष्ण से मिलती है और तब विद्यापति भी उन्हें मधुर केलि करने की प्रेरणा देते हैं—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद ११६) । वृन्दावनस्थ यमुनातटीय मधुर वातावरण, राधा-माधव की लौकिक क्रीडास्थली को कामोत्तेजक बनाने वाला है । उसी के प्रभाव में आकर कुंज-भवन के आस-पास से गुजरती नागरिकाओं से, उन्हें

रोककर, गिरिधारी छेड़कानी करते हैं—

कुंज-भवन सयं निकसलि रे, रोकल गिरिधारी । इत्यादि ।

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ५६

गोवर्धन गिरि-धारण, कालिय दमनादि चामत्कारिक कृत्यों के श्रेय को धारण करने वाले नंदकुमार यहाँ पूर्णतः नागरक-वृत्त का विस्तार करते हैं । यहाँ कृष्ण का महत्त्व योगेश्वर रूप में और विशेषतः कुरुक्षेत्र में शंख फूँकने वाले लोकरक्षक के रूप में नहीं है । यहाँ तो मधुमय वातावरण के अनुकूल मधुर मुरली और बीणा का नाद है, शंखनाद की जगह, और योगेश्वर कृष्ण ने गोकुल में गीता का पाठ न करके मनमथ-मन्त्रों का पाठ किया है—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६१) । स्पष्ट है कि विद्यापति ने कृष्ण, राधा, यमुना, कुंज, मुरली, रास आदि का जो नामोल्लेख किया है, उससे उनके पौराणिक, धार्मिक विश्वासों की अभिव्यंजना न होकर लौकिक प्रेम-व्यापारों की ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है ।

आध्यात्मिक आकर्षण एवं भावयोग—उस मधुमय वृन्दावन में मान या विरह के अनन्तर तो रस का सागर असीम हो लहराने लगता है ।—और पुनर्मिलन के अवसर पर राधा-माधव अभिनव भावोन्मियों में बह जाते हैं—

(क) दुहुक दुलह दुहु दरसन मेल, विरह जनित दुख सब दुर गेल । इत्यादि ।

—वही, पद २२५

(ख) चिर दिन से विहि भेल अनुकूल रे, दुहु मुख हेरइत दुहु से आकुल रे । इत्यादि

—वही, पद २२६

और तब गोपबाला राधा मुरली, नाद, आदि उद्दीपनों को अनावश्यक बताते हुए कृष्ण के चरण की दासी होने में ही अपने गौरव का उल्लेख करती है—

सुनु रसिया—अब न बजाऊ विपिन बंसिया

बार-बार चरनारविंद गहि—

सदा रहब बनि दसिया । इत्यादि ।

—वही, पद २२७,

विद्यापति और बिहारीलाल हिन्दी-साहित्य के उन कवियों में से हैं, लोग चाहते तो नहीं पर मानते अवश्य हैं । और ऐसा मानते हैं कि पाठ्य रूप में छात्रों के सामने उन्हें रख भी देते हैं । और ऐसा देखने में भी आता है कि प्रायः लोग विद्यापति और बिहारी को किसी न किसी रूप में पढ़ लेना उचित समझते हैं । जानकारी के लिये, कला के लिये, रस के लिये, चाहे जिस-किस के लिये, किन्तु पढ़ते उन्हें अवश्य हैं । इनमें बिहारी की गणना तो कभी भक्तों में नहीं हुई, किन्तु विद्यापति भक्त भी माने गये । नाभादास के भक्तमाल में उतका उल्लेख हुआ है । सत्तों की सूची में उनका नाम यत्र-तत्र मिलता है और चैतन्य-मंडली में तो उनके पदों का कीर्तन ही होता है । कदाचित् यही कारण है कि विद्यापति के विषय में लिखते समय प्रायः यह विचार भी उठता है, और परीक्षा से लेकर पोथियों तक इसका विचार भी होता कि वास्तव में विद्यापति श्रृंगारी थे अथवा भक्त । हमारी

समझ में इस शृंगारी और भक्त को लोग जिस दृष्टि से देखते हैं, वह दृष्टि ही ठीक नहीं। कारण यह कि शृंगारी और भक्त में विरोध नहीं। भक्त शृंगारी हो सकता है और शृंगारी भक्त भी। कान्त भाव की जो उपासना होगी वह शृंगार से दूर नहीं की जा सकती। उसको शृंगार के सहारे ही चलना होगा। यही कारण है कि कबीर जैसे सुधारक और रूखे व्यक्ति को भी—

काम मिलावे राम को, जो कोई जाने भेव ।

कबीर विचारा क्या करे, यों कह गया शुकदेव ॥

का उद्धोष करना ही पड़ा, और राधा-माधव के विलास को भी कुछ न कुछ लेना ही पड़ा। और तो और गोस्वामी तुलसीदास को भी गीतावली के अन्त में कुछ केलि का विधान करना पड़ा, और 'बरवै रामायण' तथा 'नहछू' में कुछ इसकी बानगी भी दिखानी ही पड़ी। 'विनय-पत्रिका' के अन्त में भी 'नागरि ज्यों नागर नवीन' को अथवा 'रामचरितमानस' में 'कामिहि नारि पियारि जिमि' का निर्देश कर इसके महत्व को मानना पड़ा। विद्यापति किसी भी दशा में दम्पति की उपेक्षा उचित नहीं समझते थे और शिव-शक्ति, राधा-माधव और स्त्री-पुरुष को साथ ही देखना चाहते थे। पदावली में शिव और शक्ति को पुरुष और स्त्री को, माधव और राधा में भी समरस किया गया है, राधा-माधव में से राधा किस प्रकार माधव बन जाती है और राधा भी रहती है। विद्यापति ने अद्भुत रीति से निर्दिष्ट किया है।^१ विद्यापति ने अपने पदों में राजा रूपनारायण शिवसिंह के साथ ही रानी लखिमा का भी उल्लेख किया है। यह भी विलक्षण बात है जो इस तथ्य की पोषक है कि दम्पति पर उनकी विशेष ममता थी उसको छोड़कर मानों वे रस ला ही नहीं सकते। शिवसिंह-लखिमा के अतिरिक्त अन्य दम्पतियों को भी विद्यापति ने अपनी रस-सृष्टि का साक्षी या रस-वेत्ता घोषित किया है। स्पष्ट ही विद्यापति दम्पति (पति-पत्नि) दोनों के मूल में ही रस का मूल समझते थे इसीलिए राधा-माधव की दाम्पत्य लीलाओं के विषय में उनका अभिमत था—

ई रस-रसिक विनोदक विदक,

कवि विद्यापति गावे ।

काम प्रेम दुहु एक मत भए रहु,

कखने की न करावे ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १२१

इसे और स्पष्ट समझने के लिए इनके निम्न कथन पर ध्यान दें—

मधुर नटन-गति भंग, मधुर नटनी नट संग ।

मधुर मधुर रस गान, मधुर विद्यापति भान ।

—वही, पद १२३

निश्चय ही यहाँ जिस मधुर रस का उल्लेख किया गया है वह शृंगार का विरोधी

नहीं, उसी का दिव्य रूप है। विद्यापति की रसमय वाणी को समझने के लिए काम और प्रेम के सम्बन्ध को समझना, उसके स्वरूप पर विचार करना और उनके समन्वय को जानना चाहिए। इसके बिना विद्यापति को समझना सम्भव नहीं। विद्यापति की दृष्टि में राग क्या है और रस किस प्रकार अनुभवसिद्ध है, इसे भी जान लें। उनका कथन है—

सखि, कि पुछसि अनुभव मोय ।

से हो पिरित अनुराग बखानिए तिल तिल नूतन होय ॥

जन्म अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल ।

सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल, स्मृति पथ परस न भेल ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद, २२८

इस पद में जहाँ 'लाख-लाख जुग हिय-हिय राखल, तइयो हिय जुड़ल न गेल' में नित्य-लीला का निर्देश किया गया है, वहीं 'कत विदग्ध जन रस अनुमोदई, अनुभव काहु न-पेख' में अनुभव का विधान भी है। सचमुच रस अनुमोदन की वस्तु नहीं, अनुभव की विभूति है। यही कारण है कि विद्यापति ने अपने पदों में सर्वत्र अनुभव का ही अनुमोदन किया है। पतंग को आग में पड़ते तो आप सबने देखा होगा, किन्तु उसके रहस्य को विद्यापति के मुँह से सुनें—

सजनी अपद न मोहि परबोधब, तोड़ि जोड़िअ जहाँ गांठ-

पड़ए तहाँ, तेज तम परम विरोध ॥

अनुभवि पुन अनुभवए अचेतन, पड़ए हुतास पतंग ॥

—वही, पद १५०

यहाँ 'अनुभवि पुन अनुभव अचेतन, पड़ए हुतास पतंग' में पतंग के आग में पुनः पुनः पतित होने का क्या कारण है? अचेतन होकर भी वह आग में क्यों पड़ता है? क्यों उस हुतासन में अपने आपको होम देता है? क्यों नहीं वह चाहता कि कोई उसे उस चेष्टा से विरत करे? वह या तो इसकी (हुताशन की) सच्ची अनुभूति को प्राप्त करना चाहता है, या उसकी अनुभूति ही उसे इस बात के लिए विवश करती है कि वह अपने आपको उस तेज में होम दे। जब एक कीट की यह दशा है तो भावयोगी किसी चेतन प्राणी की क्या दशा होगी? यह अनुभव सिद्ध बात है कि जिसमें जो कलंक लगा वह लग चुका, उसकी फिर वही स्थिति नहीं हो सकती है जो पहले थी। प्रेम के क्षेत्र में काम-वासना से ही सही, उतर पड़ने पर प्रबोध की बात व्यर्थ है। कोई कितना ही किसी को क्यों न ज्ञान की गुटिका दे किन्तु किसी की स्थिति लगन से पहले जैसी हो नहीं सकती। पानी जब गरम हो जाता है तब फिर वह किसी प्रकार अपनी सहज शीतल स्थिति में नहीं आता। वह तो तभी सहज शीतलता को प्राप्त कर सकता है जब धीरे-धीरे आग में तप कर सूक्ष्म रूप से परम तत्व में मिल जाय। यही दशा प्राणियों की भी है। प्रेमी प्रेम-पात्र से नाता तोड़ सकता है किन्तु अपने हृदय की कुहुक को नहीं मिटा सकता। यथासम्भव हृदय में वेदना जगने पर उसकी सच्ची अनुभूति प्राप्त करनी चाहिए। प्रेम जीवन नहीं, जीवन की उपेक्षा चाहता है—(विद्यापति, बेनीपुरी, पद १४४)। अपनी भूल से हो,

दूसरे की वंचना से हो, चाहे जैसे भी हो जब प्रेम हो गया, सो हो गया। वह सफलता को तभी प्राप्त कर सकता है जब हम अपने आप को भुला दें—खो दें। यह विस्मृति और यह त्याग ही परम की प्राप्ति का सोपान है। और जब तक इसकी सच्ची अनुभूति नहीं होती, तब तक किसी के कहने से न तो प्रेम किया जा सकता है और न किसी के समझाने से ज्ञानी बना जा सकता है। कदाचित् यही कारण है कि ज्ञानियों और भक्तों और सभी साधकों ने अनुभूति को ही मुख्य ठहराया है और अनुभव को ही महत्व दिया है। विद्यापति ने भी इसी अनुभूति को रस का मर्म बताया है।^१

रीतिकालीन कविता का भाव पक्ष

रीति-बद्ध कवियों का शारीरिक सौन्दर्य

आनन्द की भावना जीवन-विकास की मूल प्रवृत्ति है। सौन्दर्य का आनन्द से अनिवार्य सम्बन्ध है। अतएव सौन्दर्य-भावना का विकास भी जीवन-विकास के साथ होता आया है। विकास-क्रम की दृष्टि से मानव-जीवन स्वच्छन्दता एवं सरलता से चलकर दिव्यता एवं आध्यात्मिकता को स्पर्श करता हुआ मर्यादा, नैतिकता तथा व्यवस्था की गहरी रेखाओं से बँधता हुआ, क्रमशः जटिलता तथा कृत्रिमता की ओर अग्रसर हुआ है। इसी क्रम से आनन्द की भावना में भी विकास होता आया है। फलतः हमारी सौन्दर्य भावना भी प्रकृतता, सरलता एवं स्वच्छन्दता की भूमि से चल कर दिव्यता एवं आध्यात्मिकता से प्रभावित होती हुई धर्म, व्यवस्था एवं मर्यादा में बँधती हुई क्रमशः कृत्रिमता एवं अलंकारिता की ओर उन्मुख हो गई है।^२

काव्य-धारा जीवन धारा से अविच्छिन्न रही है। जीवन की आनन्दमयी भावना ही कवि-कल्पना में मूर्त होकर काव्य-सौन्दर्य का विधान करती आई है, इसीलिए कवियों की सौन्दर्यानुभूति जीवन धारा से सदैव प्रभावित हुई है। रीतिकालीन हिन्दी कवियों की सौन्दर्यानुभूति भी इसका अपवाद नहीं है। रीतिकालीन जन-जीवन में स्फूर्ति, प्रेरणा, गति एवं उत्साह का सर्वथा अभाव है। उसमें आत्म-विस्मृति एवं पराजय की भावना सन्निहित है। जीवन-दृष्टि संकुचित है। सर्वत्र मानसिक शैथिल्य के दर्शन होते हैं। इस युग में जीवन की मूल-धारा उस वर्ग विशेष से सम्बद्ध है जिसमें छोटे-छोटे सामन्त, राजा, रईस, अमीर और सरदार आते हैं। कम से कम काव्य के अन्तर्गत इसी वर्ग के जीवन की अभिव्यक्ति सर्वाधिक हुई है। इस वर्ग के क्रिया-कलाप उद्यानों एवं प्रासादों के अन्तर्गत ही सीमित थे फलतः इनके जीवन-चित्रों को व्यक्त करते समय कवियों की दृष्टि भी नागरिक जीवन की कृत्रिमता तक ही सीमित रही। इनके भाव-सौन्दर्य की सीमाएँ विलास-वैभव तथा रति को उद्दीप्त करने वाले विविध विभावों के चित्रण तक ही विस्तार पा सकी हैं। सामान्यतया रीतियुगीन कवियों के भाव-सौन्दर्य की निम्न विशेषताएँ परिलक्षित की

१. हिन्दी कवि चर्चा, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० २७

२. 'आलोचना' अंक ७, पृष्ठ १३ पर 'भारतीय सौन्दर्य—चिन्तन का क्रमिक विकास' लेख।

जा सकती हैं—शारीरिक रूप वर्णन की प्रधानता, वैभव-विलास के संकेत, नैसर्गिक सौन्दर्य का ह्रास तथा अलंकार की प्रधानता, सौन्दर्य-विधान में परम्परा-पालन की प्रवृत्ति और सामन्तीय जीवन की रंगीनियाँ ।

रीतिकालीन कवियों का प्रेम घरती के स्त्री-पुरुष का प्रेम है, जिसका आधार है रूप और यौवन । इन्होंने रूप एवं भाव के सामंजस्य पर बल न देकर केवल शारीरिक अंग-प्रत्यंगों के वर्णन में ही सौन्दर्य की अनुभूति को सीमित कर दिया । यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई थी कि कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन में भी कवि की दृष्टि आंगिक चेष्टाओं पर ही टिकी रह गई—

मोर पखा मतिराम किरीट में, कण्ठ बनी वन माल सोहाई ।

मोहन की मुसकानि मनोहर, कुंडल डोलनि में छवि छाई ॥ इत्यादि

—मतिराम

यही स्थिति राधा की भी थी । उसका सौन्दर्य भी शरीरी एवं मांसल ही चित्रित किया गया । राजशेखर की कर्पूरमंजरी का नायक नायिका के यौवन को आकर्षण का प्रधान विषय कहता है । विकसित यौवन के चिह्नों में उसने पाँच वस्तुओं का उल्लेख किया है—लावण्य, विस्फारित नयन, वक्ष, त्रिवर्ती से युक्त क्षीण कटि और नितम्ब । नायिका-भेद से सम्बद्ध ग्रंथों में नायिका के प्रायः इन्हीं अंगों का विशेष वर्णन हुआ है । इनके वयः सन्धिकाल के चित्रों में इनकी रेखाएँ अत्यन्त उभरी हुई और महत्वपूर्ण हैं । इस तालिका में मुख-मंडल और केश-वर्णन को सम्मिलित करने पर रीतिकालीन कवियों के नारी-सौन्दर्य के प्रमुख केन्द्र एवं आकर्षक स्थलों की तालिका पूरी हो सकती है । इन सब आकर्षक अंगों को लेकर अनेक भावात्मक चित्र रीतिकालीन कविता में दृष्टिगोचर होते हैं ।

नेत्र—भावोत्पादक-वर्णनाधिक्य के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ये लोग नायिका के नेत्रों पर विशेष मुग्ध थे । नेत्र-वर्णन इन कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है । नेत्र-सौन्दर्य को इन्होंने रूढ़ियों और कभी-कभी स्वतन्त्र एवं नवीन उपमानों की सहायता से प्रकट किया है । संस्कृत-आचार्यों ने नख-शिख सम्बद्ध प्रत्येक अंग के पृथक्-पृथक् उपमान निश्चित किये । केशव मिश्र कृत 'अलंकार शेखर' में मृग, मृगनेत्र, कमल, कमलपत्र, मत्स्य, खंजन, चकोर, केतक, भ्रमर, कामबाण आदि नेत्र के उपमान स्वरूप परिगणित हुए हैं (अलंकार शेखर १ । १ । ६) । केशवदास ने भी इस परम्परा का पालन किया—

लोचन चारु चकोर सम चातक मीन तुरंग ।

अंजन जुत अलि काम सर भंजन कंज कुरंग ॥

—कवि प्रिया, पृ० ३६८, सरदार कवि टीका

निश्चय ही इन उपमानों की कल्पना के मूल में आँखों के रूप, गुण और व्यापार हैं । इसे यों भी कहा जा सकता है कि कुछ उपमानों में नेत्रों का रूप-साम्य है, कुछ में धर्म-साम्य और कुछ में प्रभाव-साम्य है । आँखों के लिए केवल रूप या आकार-साम्य वाले उपमानों का प्रयोग बहुत कम हुआ है । सारूप्य मूलक उपमानों में भी

प्रायः गुणों का समावेश सर्वत्र मिलेगा। मृग की आँखें केवल दीर्घता के कारण ही सुन्दर नहीं मानी गई अपितु उनमें एक प्रकार का भोलापन और चांचल्य भी पाया जाता है। कमल-दल में आकार के साथ-साथ उसकी शीतलता का गुण भी छिपा हुआ है। प्रभाव-साम्यमूलक उपमानों में भी गुण का समावेश रहता है। आँखों की मार के लिए प्रायः काम-सर (बाण) का उपमान गृहीत हुआ है। बाणों का नुकीला-पन नयन के कोए से बहुत कुछ समता रखता है। अतः प्रेम व्यापार की प्रतिष्ठा में आँखों के रूप, गुण और क्रिया-प्रसार का सहारा लिया गया है। नेत्र-व्यापार में कटाक्ष-पात की प्राभावोत्पादकता को बहुत महत्व दिया है। यमुना तरंग, मृगावलि, विषामृत, हलाहल, सुधा आदि इसके पूर्व निर्धारित उपमान कहे जाते हैं—('कटाक्षो यमुना बीचि भृंगावलि विषामृतेः,'—अलंकार शेखर, पृष्ठ ५०)। आँखों के श्वेत, श्याम, रतनार रंगों का वर्णन भी कवि रुढ़िगत ही है। नेत्रों के रूप, गुण और व्यापार-वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने अधिकांशतः रुढ़िगत उपमान ही लिए हैं; किन्तु उनमें कुछ नवीन एवं तत्कालीन सामाजिक देन है। रीति कविता में इन उपमानों का प्रयोग मुख्यतः दो उद्देश्यों से प्रेरित होकर किया गया। उनमें पहला था चमत्कार-प्रदर्शन और दूसरा अनेक उपमानों को एकत्र ही सन्निविष्ट करना। बिहारीलाल ने पिष्ट-पेषित रुढ़ उपमानों को देखें, किस चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया—

खेलन सिखए अलि भले, चतुर अहेरी मार ।

काननचारी नैन मृग, नागर नरनि सिकार ॥

यहाँ 'मृग' आँखों के लिए रुढ़ उपमान है। परन्तु इस दोहे के संदर्भ में उसे ऐसा फिट किया गया है कि श्रोता और पाठक चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकते। साधारण बात तो यह है कि पुरुष मृगों का शिकार करते हैं किन्तु यहाँ नायिका-नैन-मृगों ने उल्टे पुरुषों का शिकार करना सीखा है। रूपक और श्लेष के सहारे कवि ने आँखों के प्रभाव को नये ढंग से अभिव्यक्त किया।

रूप-रस-पान करने-कराने वाले नेत्रों का वर्णन देवदत्त ने भी अनोखे ढंग से किया है। कवि लोग प्रायः जिन पदार्थों से नेत्रों की तुलना करते हैं उन सभी से देव ने एक ही स्थान पर तुलना प्रस्तुत करते हुए कहा—

चन्द मुखि, तेरे चख चितै चकि, चेति, चपि

चित्त चोरि चलै सुचि सोचनि, डुलन हैं । इत्यादि ।

यहाँ एक ही छन्द में नेत्रों का सौन्दर्य, विनोद-शलीनता, प्रमोद, क्रोध-स्फुरण, हास्य एवं लज्जा आदि सभी विकारों को निर्दिष्ट किया है। चन्द्रमुखी के नेत्रों का मृग के समान चौकना, चकोर की भाँति चकित दिखाई पड़ना, मछली के समान उछलना, अमर के समान छक कर स्थिर होना, काम-बाण के सदृश चल कर घाव करना, खंजन पक्षी के समान किलोल करना, कुमुद-कुसुम के समान संकलित होना एवं कमल के समान प्रफुल्लित होना यथासंख्य अलंकार द्वारा भूषित होने के कारण और भी रमणीय हो गया है।

भावाभिव्यक्ति के लिए नये उपमानों के चुनावों में भी चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति मुख्य है। बिहारीलाल के निम्न दोहे पर ध्यान दें—

सब ही तन समुहाति छिन, चलति सबनि दे पीठि।

वाही तन ठहराति यह, कबलनुमा लौं दीठि॥

यहाँ 'कबलनुमा' आँख के लिए नवीन अप्रस्तुत है। इस उपमान का प्रयोग नायिका के उस दृष्टिपात कौशल को व्यक्त करने के लिए हुआ है, जिसके द्वारा वह अपनी दृष्टि को एक क्षण सबके शरीर पर ठहरा कर अन्ततः नायक के शरीर पर ही स्थिर करती है। यहाँ इस उपमान की नवीनता के लिए दाद दी जा सकती है। रीतिकालीन कवियों में आँख के लिए 'कुही' पक्षी उपमान रूप से बहुत प्रिय रहा है। कुही—बाज-जाति का एक छोटा पक्षी है, जो चोट करने में निपुण माना जाता है। उसकी इस चोट करने की प्रवृत्ति ने ही उसे नेत्रों की अप्रस्तुत श्रेणी में स्थान दिलाया—

(क) नीची ये नीची निपट, दीठि कुही लौं दौरि।

उठि ऊँचे नीचे दियो, मन कुलंग भ्रमभोरि॥

—बिहारीलाल

(ख) बाज की बैठक लै उचकी, पुनि वेधि कड़ी वर घूषट भीनो।

उड़ि जाहि कुही सम दूरि दुरि, बहुरों गति आनि करील की लीनो॥

इत्यादि

—देवदत्त

यहाँ 'कबलनुमा', 'कुही' जैसे उपमान नये अवश्य हैं, परन्तु नयन के साथ इनका रूप-साम्य न होने से क्रिया व्यापार एवं चोट करने की शक्ति की व्यंजना का भावात्मक चित्र उपस्थित नहीं हो पाता। सच बात यह है कि इन कवियों की चमत्कार-प्रियता भावाभिव्यक्ति पर छाई हुई थी।

नेन दीर्घता (रूप)—मतिराम ने श्रीकृष्ण की शोभा-वर्णन प्रसंग में बड़ी आँखों का जिक्र करके उल्लास का अनुभव किया—“लोचन लोन विसाल विलोकनि को न विलोकि भया बस माई”। बड़ी-बड़ी आँखों को देखकर भला कौन वश में नहीं हो जाता! देवदत्त, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि सब कवि बड़ी आँखों के सौन्दर्य पर ही रीझे—

(क) “साँवरे सुन्दर रूप अनूप रसाल बड़े बड़े चंचल नेन री”।

—देवदत्त

(ख) “भलके अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छुवै”।

—घनानन्द

(ग) “छोटी नथूनी बड़े मुतियान बड़ी अंखियान बड़ी सुघरै हैं”।

—ठाकुर

निश्चय ही बड़े नेत्रों के वर्णन में इन कवियों की जो आसक्ति दृष्टिगोचर होती है, उसके मूल में आँखों की प्रभावोत्पादनी शक्ति निहित है। परन्तु ऐसे वर्णन

विरल हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि नेत्र-सौन्दर्य के अप्रत्यक्ष-प्रभाव-अंकन में इनकी चित्तवृत्ति अपेक्षाकृत कम रही है।

नेत्र-वर्ण (रंग) —

आँखों का वर्णन विविध रंगों का किया जाता रहा—कभी श्याम, कभी हरा, कभी श्वेत, कभी लाल और कभी मिश्र रंग का (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' पृष्ठ २५४)। परन्तु यहाँ नेत्रों को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रायः उनके मिश्र रंगों (श्वेत, श्याम, रतनार) का ही वर्णन अधिक हुआ है।

रसलीन कृत निम्न प्रसिद्ध दोहे में आँखों के प्रमुख वर्णों और उनके प्रभावों का बहुत चमत्कारपूर्ण चित्रण हुआ है—

अभी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार ।

जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ॥

इन तीन रंगों के सहारे लछिराम ने नायिका के नेत्रों को त्रिवेणी की छटा से युक्त बतलाया—

सादर सुरंग डोरे विशद प्रभा है गंग

जमुना तरंग पूतरी त्यों विलसत है । इत्यादि ।

बिहारीलाल ने भी इन तीन रंगों का संकेत किया है—“सायक सम नायक नयन, रंगे त्रिविध रंग गात”। श्याम और रतनार इन रंगों के पृथक्-पृथक् वर्णन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि वे नेत्रों को कितना शोभन, गुण सम्पन्न और प्रभावोत्पादक बनाते हैं। मतिराम ने उत्कण्ठता-नायिका-प्रसंग में उसकी व्यग्रता पूर्ण उत्कण्ठा की मार्मिक व्यंजना इस प्रकार की—

पीतम बिहारी की निहारिबो को बाट ऐसी,

चहुँ ओर दीर्घ हगन करि करी दौर है ।

एक ओर मीन मनो, एक ओर कंज पुंज,

एक ओर खंजन, चकोर एक ओर हैं ॥

यहाँ बाद की दो पंक्तियों में चहुँ ओर नायिका के चौँक कर देखने के क्रिया व्यापार को अत्यन्त सुन्दर ढंग से चित्रबद्ध किया गया है। कंज-पुंज में उसके नेत्रों की श्वेतता की जो व्यंजना हुई है वह नायिका की एक मनः स्थिति विशेष की सूचिका है। नवयौवना नायिका की तीखी चितवन के प्रसंग में देवदत्त ने उसके अध-खुले नेत्रों की श्यामाभा का एक प्रेमोत्पादक चित्र यों अंकित किया है—

“आधी उनमील नील सुभग सरोजनि की,

तरल तनाइतन तोरन तितै तितै”।

नेत्र-विषयक लाल रंग का वर्णन अनेक स्थलों पर उस मनोदशा विशेष का चित्र अंकित करने के उद्देश्य से किया गया है जिसमें स्वभावतः अपने प्रियतम के शरीर पर परतिध-रति-चिन्ह देख कर खंडिता नायिका के नेत्रों में ललाई छा जाती है—

बाल, काहि लाली भई, लोचन कोयन माँह ।

लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाँह ॥

—बिहारीलाल

“बाले ! तुम्हारे नेत्रोपान्त किस कारण से लाल हैं ?” जब श्रीकृष्ण ने नायिका से पूछा तो फुकी हुई खण्डिता ने वाक् कौशल द्वारा इतना ही कहना पर्याप्त समझा कि लाल ! यह तुम्हारे लाल-नेत्रों का प्रतिबिम्ब है, और कुछ नहीं ।

कटाक्ष (नेत्र-व्यापार)—

मादक प्रेम की अनुभूति के प्रकाशन हेतु नेत्र-दीर्घता की अपेक्षा उनका अपाङ्ग-वीक्षण अधिक महत्वपूर्ण है । कटाक्षोत्क्षेप, कटाक्षपात आदि शब्दों से अभिहित होने वाला नेत्रों का वह संकेत व्यापार है जिसके द्वारा प्रेमी-प्रेमिका परस्पर निज हृदयगत प्रेम-भावना की सूचना प्रेषित करते हैं । नेत्रों का यह सांकेतिक व्यापार पर्याप्त प्रभावशाली होता है । भोली एवं बड़ी-बड़ी अनलंकृत आँखें भी तो मौन रहते हुए (कटाक्षहीन रखते हुए) ही हार्दिक प्रेम को पर्याप्त गहराई तक व्यक्त करने में समर्थ होती हैं, तो फिर रीतिकालीन कवियों ने कटाक्षपात का बहुत अधिक वर्णन क्यों किया ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भोलीभाली आँखें शुभ्र और शीतल प्रेम की अभिव्यञ्जना करती हैं, यह ठीक है, किन्तु कटाक्ष-पात से प्रेम की मादकता बढ़ती है । इन दरबारी कवियों का अपने आश्रयदाताओं के सम्मुख प्रेम की मादक धारा बहाना अभीष्ट था ।

कटाक्ष-पात या कटाक्षोत्क्षेप हाव के अन्तर्गत आता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके भाव को उद्दीप्त करने के धर्म के आधार पर विभाव के अन्दर परिगणित किया है । प्रेम-व्यापार में कटाक्षोत्क्षेप का खूब महत्व है । बड़ी-बड़ी आँखों से बढ़ कर विलक्षण चितवन वाली आँखों का महत्व है । बिहारीलाल ने स्पष्ट कहा है—

अनियारे दीरघ दृगनि, कितनी न तरुनि समान ।

वह चितवनि औरै कछु, जिहि बस होत सुजान ॥

यहाँ नायिका की प्रशंसा में सखि ने निवेदन किया कि इस स्थान पर अनियारे (पैने) और बड़े-बड़े नेत्रों का गर्व करने वाली तरुनियाँ न जाने कितनी हैं—बहुत हैं, परन्तु उसकी चितवन में कुछ और बात है—कुछ ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वह सुजान (नायक) को सहज ही आकर्षित कर लेती है ।

प्रभाव की दृष्टि से कटाक्ष शर से तुलित हुआ है । शर या बाण के शरीर में धँसने से जिस प्रकार पीड़ा का अनुभव होता है, उसी प्रकार किसी कटाक्ष-दर्शन से भी हार्दिक पीड़ा पहुँचती है । कटाक्ष-शर के सम्बन्ध में इन कवियों ने उसके द्वारा पहुँची हुई या अनुभूत पीड़ा का ही अधिक वर्णन किया । असंगति अलंकार के आवरण में लपेट कर नयनबाण की विषमता को बिहारीलाल ने यों प्रकाशित किया—

दृगन लगत वेधत हियो, विकल करत अंग आन ।

ये तेरे सब से विषम, ईछन तीछन बान ॥

अर्थात् हे प्रिये ! तेरे ये नयन बाण बड़े अनोखे हैं, क्योंकि ये लगते तो हैं नेत्रों में, बेघते हैं हृदय को और व्याकुल करते हैं अन्य समूचे अंग को ।

मतिराम का कथन है कि तीक्ष्ण कटाक्षोत्क्षेप करने वाले रसीले लोचन हृदय में पीड़ा अनुभव कराते हैं—

बरुनी सघन बंक तीच्छन कटाच्छ बड़े,
लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं ।
गाढ़े हूँ गड़े हैं न निसारे निसरत मैं
थान से बिसारे न बिसरत हैं ॥

अर्थात् नैन बाण ऐसे गहरे पैठते हैं कि निकालने का प्रयत्न करने पर भी वे निकलते नहीं । पद्माकर ने कटाक्षों से कटार की भाँति घायल होने का उल्लेख किया है—

“बीर, विचारे बटोहिन पै इक काज ही तो यों चटा करती हैं,
बिज्जु छटा सी अटा पै चड़ी, सुकटाच्छन घाल कटा करती हैं ।
देवदत्त ने भी “तिरछी चितवन बरछी सी चुभी” लिखा है । इन बाँके नैन बाणों के सम्बन्ध में ठाकुर की अनुभूति विलक्षण है—

बाँके नैन बान मारि घायल कियो री मोहि,
दायल दगा के देत हाय जिन्हें गाइये । इत्यादि ।

अर्थात् हे बीर, तूने अपने नयन बाणों से मुझ को घायल कर दिया है, जिन आँखों की हम प्रशंसा करते हैं, वे ही दगा देने वाली हैं । तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई प्रीति का वैद्य (तबीब) नहीं है जिसके सामने अपना दर्द बताया जाय । मुसीबत की बात तो यह है कि यदि एक जगह ही पीड़ा हो तो, उसका कुछ उपचार भी किया जा सकता है, किन्तु जब रोम-रोम में पीड़ा उत्पन्न हो, तब कहाँ-कहाँ औषधि का सेवन संभव है ?

कटाक्ष के लिए बाण के अतिरिक्त तलवार, तेग, बरछी, छुरी, कटारी, बन्दूक, कुही, किलकिला, दरगी आदि उपमान इस काल की कविता में उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार के उपमानों का एक बड़ा ढेर रसलीन कृत “रतनहजारा” में देखा जा सकता है । वस्तुतः रसलीन, बोधा और ग्वाल जैसे कवि रीतिकाल के चरम हासोन्मुखी काल में हुए । इन पर फ़ारसी कविता का प्रभाव अच्छी तरह से पड़ चुका था । दरबारी-फ़ारसी के कवियों की शब्दावली और तर्ज भी इन लोगों ने ग्रहण की । निश्चय ही ये नये अप्रस्तुत विदेशी संगति तथा तत्कालीन सामन्तीय वातावरण के फलस्वरूप हिन्दी कविता को प्राप्त हुए । रीतिकालीन कवियों में कटाक्षोत्क्षेप सम्बन्धी उपमानों की अधिकता इनके एक विशेष दृष्टिकोण को सूचित करती है । भला, प्रेम को अधिक मादक बनाने के लिए, उसे और अधिक उद्दीप्त करने के लिये, कटाक्ष-पात से बढ़ कर उन्मादक और कौन सा नेत्र-व्यापार है ? कटाक्ष-पात नायिका की सचेत-क्रिया है । इसके वर्णन का आधिक्य इस बात का द्योतक है कि रीतिकवियों ने नायिकाओं के कटाक्ष-चित्रण द्वारा प्रेम के उन्मादक पक्ष पर ही विशेष ध्यान दिया है ।

स्तन—

पूर्व-परम्परा-स्थापित स्तन विषयक समस्त रूढ़ियाँ रीति-कालीन कवियों द्वारा गृहीत नहीं हुई। केशवमिश्र कृत 'अलंकार शेखर' के अनुसार स्तन की आकृति के लिए पूगफल, कमल, कमलकोरक, बिल्व, ताल, गुच्छ, हाथी का कुंभ, पहाड़, घड़ा शिव, चक्रवाक, सौवीर, जम्बीर, बीजपुर, समुद्रछोलंग आदि उपमान रूढ़ हो चुके थे—('अलंकार शेखर' ५।१।११) प्रकृति की दृष्टि से इसे उन्नत, विस्तृत; दृढ़, पाण्डु आदि कहा गया है।^१ केशवदास ने एतद्विषयक रूढ़ि-परिगणन के प्रसंग में चक्रवाक, कमल, शिव, गिरि, घट, मठ, गुच्छ, फल, गजकुम्भ का उल्लेख किया है—

चक्रवाक कुच बरनिए केसव कमल प्रमान ।

शिव गिरि घट मठ गुच्छ फल सुभ इभ कुम्भ समान ॥

(कविप्रिया, पृष्ठ ३७८, सरदार कवि-टीका)

रीतिकाल के कवियों ने प्रायः इन्हीं उपमानों को ग्रहण किया है, इस प्रसंग में। देवदत्त ने अधिकांश स्थलों पर स्तनों को 'कंचन कलश' या 'वसुधाधरकनक' कहा है। पद्माकर को 'गज कुम्भ' उपमान अधिक प्रिय है। बिहारीलाल ने प्रायः गिरवर-सा आंका। कुछ अन्य कवियों में परम्परित उपमान देखें—

चक्रवाक—

अरुके जुगजाल सिवारन में चकवान की चोंच मनो निसरी ।

—आलम

श्रीफल, गिरि, कलश, कुम्भ आदि—

श्रीफल शिखर सुमेर के कुम्भ कुम्भ गज वारि ।

चन्द्रमौलि सिर की घटा, तिम्र तुम्र उरज निहारि ॥

—लछिराम

शिव—

पाले हैं मनोज इन प्रेम करि आले प्यारी,

तेरे कुच शंकर ते शंकर निराले है ।

—रघुनाथ

नख-शिख-वर्णन के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी ये नारी के शोभन अवयव तथा यौवनागमन के प्रतीक स्वरूप वर्णित हुए हैं। मनोवैज्ञानिक सत्य है कि इनके अंकुरित और विकसित होने के साथ-साथ काम और प्रेम का विकार भी उत्पन्न होता है। जहाँ तक प्रेम-व्यापार में इनके योग का सम्बन्ध है, स्तन-चित्रण मुख्यतः दो रूपों में अंकित हुआ है—प्रथम प्रेमोत्तेजक व्यापार-प्रवर्तक के रूप में और द्वितीय प्रेम के अनुभावों को अभिव्यक्ति देने वाले अवयवों के रूप में। पहले रूप का सम्बन्ध नायक से है और दूसरे का नायिका से। प्रथम पक्ष का वर्णन शारीरिक-आकर्षण से सम्बन्ध होने के कारण शारीरिक भावसौन्दर्य के अन्तर्गत उल्लिखित

होगा, क्योंकि अन्य अनुभावों की भाँति स्तन से सम्बद्ध अनुभावों का संचालन किसी विशेष मनोदशा द्वारा होता है।

प्रेमोत्तेजक व्यापार के प्रवर्तक-रूप में—

कामशास्त्रीय ग्रन्थों में स्तन-नखसत और स्तन-स्पर्श के विषय में विस्तृत चर्चा है। स्तन के दर्शन-मात्र से भावकों के मन में प्रायः एक प्रकार की उत्तेजना पैदा होती है। मनोवैज्ञानिकों ने कुछ अंश में जीवन के आदिम सम्बन्धों को इस उत्तेजना का आधार माना है। वासना से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। विश्व-साहित्य में इसके दर्शन-जन्य आकर्षण एवं भावोन्मेष का वर्णन बिखरा पड़ा है। रीतिकालीन कवियों ने स्तन के औन्नत्य वर्णन में अधिक उल्लास का अनुभव किया है। वैसे, स्तन की अन्य प्रकृतियों की अपेक्षा उसका उच्चत्व होता भी अधिक मादक है। बिहारीलाल के अनुसार नायिका के उत्तुंग कुचों के प्रभाववश लोक में वेद-रीति नहीं चलने पाती, अतएव मानों जगत् इनसे त्रस्त है—

चलन न पावत निगम मग, जग उपजी अति त्रास ।

कुच उत्तुंग गिरिवर गह्यो, मैना मीन मवास ॥

शारीरिक तनाव के कारण उपस्थित स्तनों की उत्तुंगता को देखकर निम्न दोहे में बिहारीलाल का नायक लुटा जा रहा है—

अहे दहेड़ी जिन धरै, जिन तू लेहि उतार ।

नीके है छींके छुवै, ऐसैं ही रहि नार ॥

उरोज-वर्णन-प्रसंग में देवदत्त की निजी आन्तरिक प्रवृत्ति भी लिपटी-सी दिखाई पड़ती है—

(क) कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज बिदु,

बदन लिलार बड़े बार चुमड़े परत ।

(ख) आँगी कसै उकसे कुच ऊँचे हँसे हुलसै फुफदीन की फूँदें ।

यहाँ जो-जो ऐन्द्रिय उत्तेजना दृष्टिगोचर होती है वह देवदत्त की प्रधान विशेषता समझी जा सकती है। इनकी कविताओं में प्रायः आत्मव्यंजक तत्त्व संश्लिष्ट रहता है और इनकी कविताओं को अधिक रसाद्र्त्तत्व प्रदान करता है। पद्माकर ने बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट ही लिखा है कि नायिका पर नेत्र जम जाना ही जीवन का फल प्राप्त करना है। उसके शारीरिक सौंदर्यामृत-सिन्धु में हृदय उल्लसित और पुलकित हो उठता है। आनन्दातिरेकवश मन रस के नद में तैरता हुआ प्रतीत होता है और नायिका के उच्च उरोजों के दर्शन पर तो मानों इन्द्र के साम्राज्य की भी प्राप्ति हो जाती है—

जग जीवन को फल जानि परयो धनि नैनन कोठहरैयतु है। इत्यादि ।

—पद्माकर, जगद्विनोद, छन्द ५३३

भिखारीदास का उपपति नायक भी नायिका के “करेरे उरोजों” की शपथ इसलिए नहीं खाता कि स्वतः नायिका की अपेक्षा उसके “करेरे उरोज” उसे अधिक प्रिय है

अपितु इस शपथ के सहारे वह अपने मन के भावों को प्रकाशित करने के साथ ही नायिका के प्रेम को उद्दीप्त भी करना चाहता है—

दास के प्रान की पाहरू तू यह तेरे करेरे उरोजन की सौं ।

—शृंगार निर्णय, पृष्ठ ५

मतिराम ने स्तन-अन्नत्य की विशेष चर्चा नहीं की । उनके रसरज में केवल सामान्या के प्रसंग में उन्नत-स्तनों का उल्लेख है ।

संभोग शृंगार-गत मिलन के विशिष्ट प्रसंगों में स्तन-स्पर्श का उत्तेजक वर्णन हुआ है । हास्य-विनोद प्रसंग में चोली की दुर्दशा का उल्लेख मिलता है । लुका-छिपी के विनोद प्रसंग से आगे बढ़ कर स्तन-स्पर्श को नायक-नायिका के परस्पर प्रेम की अन्तिम स्वीकृति समझा जा सकता है । परिणत प्रेम की अवस्था में स्त्रीजनोचित शालीनता के कारण नायिका इसकी प्रकाश्य स्वीकृति नहीं दे पाती यह ठीक है, तथापि रीतिकालीन कवियों द्वारा वर्णित विदग्ध नायक इसके लिए अनेक बहानों और छलों से लाभ उठाने वाले हुए । देवदत्त का नायक छलपूर्वक नायिका की छाती छूने में अत्यन्त कुशल है । तथापि बिहारीलाल के नायक का बहाना देवदत्त के नायक की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक तथा चमत्कारपूर्ण है । देवदत्त ने इस स्पर्श-सुख के विषय में राधिका के उलझे हार को सुलझाने के बहाने नायक के छाती छू जाने का वर्णन किया है—

छोहरवा हरवा हरवाई दै छोरि दियो छल सों छतिया छ्वै ।

और बिहारीलाल का छैला नायक नायिका की गोद से लड़का लेने के बहाने बड़ी चतुराई से उसकी छाती छू जाता है—

लरिका लैवे के मिसनि लंगर मो ढिग आय ।

गया अचानक आंगुरी छाती छैल छुवाय ॥

स्पष्ट ही यह स्पर्श प्रेमानुभूति से प्रेरित तथा प्रेमोद्दीपन से अनुप्राणित है ।

मुखमण्डल—साक्षात्कार के प्रसंग में पहले-पहल चेहरे के सौन्दर्य का ही प्रभाव पड़ता है । स्वभावतः हमारी चित्तवृत्तियाँ अनेक आड़ी-तिरछी रेखाओं में हमारे चेहरों पर अभिव्यक्त होती हैं । स्त्री और पुरुष के मुखमण्डल की असमानता परस्पर स्वाभाविक आकर्षण उत्पन्न करती है । काव्य परिपाटी के अनुसार दोनों के मुख के लिए चन्द्रमा और कमल आदि उपमान गृहीत हुए हैं । सच पूछिये तो रीतिकालीन कवियों ने मुख-वर्णन की उपेक्षा की है ।^१ मुख का सौंदर्य स्वतः पर्याप्त प्रभावोत्पादक होता है, किन्तु हाव-भाव, हेला, सात्विक अनुभाव आदि की दृष्टि से मुख-मण्डल को महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता । भोगेच्छा सूचक प्रेम व्यापारों को व्यक्त करने के लिए प्रमुख रूप से आँखों की प्रेमोद्दीपक क्रियाओं का खूब वर्णन हुआ । इसके लिए नाक और भौहों की चेष्टाओं का भी उपयोग किया गया—

नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौह ।

काँटे लौं कसकत हिये वहै कटीली भौह ॥

—बिहारीलाल

अतः स्वाभाविक था कि मुखमण्डल का चलता वर्णन किया जाता। फिर भी मुख की मधुरता और उसके अमृतत्व की ओर कुछ कवियों का ध्यान गया। चेहरे की कोमलता में कवियों ने माधुर्य की योजना की है और संयोग शृंगारगत चुम्बन के महत्त्व को देखते हुए अधरा मृत की माधुरी का उल्लेख किया है—

(क) “वामुख मधुराई कहा कहौं, मोठी लगे अँखियान लुनाई” ।

—मतिराम

(ख) “सदन सुधा को सो वदन वसुधा को सुख
छोम्यो छवि सुधा को मदन उमग्यो परै” ॥

—देवदत्त

केश—

सौंदर्य पारखी रसिक जन नागिन-सी काली कमर पर लटकती हुई वेणियों की प्रशंसा करते रहे हैं। लेकिन अच्छी तरह से बँधी वेणियों के अतिरिक्त बिखरे बालों का सौंदर्य कहीं अधिक मादक होता है। बिहारीलाल ने इसीलिए बिखरे हुए बालों के वर्णन में ही अधिक रुचि प्रदर्शित की—

सहज सचिवकन स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार ।

गनत न मन पथ अपथ लखि, ब्रिथुरे सुथरे बार ॥

अर्थात् निसर्गतः चिकने और श्यामाभ, पवित्र, सुगन्धित और कोमल और बिखरे हुए सुथरे बालों को देखकर नायक का मन पथापथ का विवेक भूल जाता है।

खुले हुए तथा बेणीबद्ध केशों की प्रभावोत्पादकता को एक ही दोहे में बिहारी ने कैसे अमृते ढंग से अभिव्यक्त किया—

छूटे छुटावे जगत तैं, सटकारे सुकुमार ।

मन बाँधत बेनी बँधे, नील छबीले बार ॥

इन वर्णनों में प्रेमोद्दीपन की मार्मिकता भी उक्ति वैचित्र्य के भार से दबी है। रीतिकालीन कवि देवदत्त की कविता में कल्पना और भावनामयता का आनुपातिक संयोग रहने से परिपार्श्व विशेष के साथ जब बेणी का वर्णन हुआ तब अधिक शरीर एवं मोहक चित्र उपस्थित हुआ। भूले के प्रसंग में देवदत्त ने बेणी का बड़ा समस्पर्शी और प्रेमोद्दीपक चित्र अंकित किया है—

आली भुलावती झूँकन दें झुक जाति कटी भननाति झकोरे ।

चंचल अंचल बीच चलाचल बेनी बड़ी सुगड़ी चित चोरे ॥

यहाँ भूले की पेंग के कारण हिलते हुए चंचल अंचल के बीच उठती-गिरती बेणी का भावपूर्ण यह चित्र सचमुच मनोरम बन पड़ा है। चंचल बेणी के चित्रण में एक ऐसा आकर्षण भरा है जिससे उसमें प्रेमोत्पादन की सहज शक्ति है।

यौवन—

प्रेमोत्पादन में युवावस्था बहुत महत्वपूर्ण है। स्वभावतः इस अवस्था में देह विकसनशील तथा उसकी कान्ति, शोभा और दीप्ति उत्कर्षोन्मुख रहती है। मानव-जीवन में प्रेम-चिन्तन और साहित्य में प्रेम-वर्णन के लिए सर्वाधिक मनोवैज्ञानिक

तथा उपयुक्त किशोरावस्था ही है। नायिका के लिए यौवन-विभूषित होना अनिवार्य है। यौवनोचित गुणों (यौवन, रूप लावण्य, अभिरूपता, मार्दव और सौकुमार्य) में सौकुमार्य का ही इन कवियों ने अधिक मात्रा में वर्णन किया है। सौकुमार्य नायिका के रूप लावण्य की अभिवृद्धि के साथ उसके आभिजात्य का भी सूचक है। शिग भूपाल कृत 'रसार्णव सुधाकर' (त्रिवेन्द्रम्-संस्करण १। १७६) के अनुसार स्पर्श को न सहने योग्य कोमलता की सौकुमार्य है। वहाँ उसके तीन भेद निर्दिष्ट हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जिसको पुष्पादि का स्पर्श भी असह्य हो वह उत्तम सौकुमार्य है। उत्तम सौकुमार्य के चित्र इस काल की कविता में अनेकशः अंकित हुए हैं—

(क) छालै परिखे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय ।
भिभक्त हिए गुलाब के, भँवा-भँवावत पाय ॥

—बिहारीलाल

(ख) कोमल कमल के, गुलाबन के दल के ।
सुजात गढ़ि पांयन बिछौना मखमल के ॥

—पद्माकर

(ग) पनिप भारन संभारति न गात, लंक
लचि-लचि जात कच-भारन के हलकें ।

—द्विजदेव

युवावस्था में शारीरिक परिवर्तन के साथ ही मानसिक परिवर्तन भी परिलक्षित होता है। ये शारीरिक और मानसिक परिवर्तन नायिकाओं को अत्यधिक मोहक और आकर्षक बना देते हैं। ये परिवर्तन मुख्यतः कामज ही होते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने इन्हें अलंकार संज्ञा से अभिहित किया है। साहित्य दर्पणकार श्री विश्वनाथ के अनुसार ये अट्ठाइस होते हैं (साहित्य दर्पण ३।८६)। दशरूपककार श्री धनंजय ने नायिका में केवल बीस ही अलंकार माने हैं, शेष आठ अलंकारों को उन्होंने नायकगत माना है (दश रूपक २।३०)। ये अलंकार फिर तीन कोटियों में विभक्त हुए—अंगज, अयत्नज और स्वभावज। शरीर से सम्बन्ध रखने के कारण हाव, भाव और हेला अंगज अलंकार कहलाते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुरी, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य—ये सात अयत्नज अलंकार हैं। ये स्वभावतः ही नायिकाओं में समाविष्ट होते हैं। ये यत्न साध्य नहीं होते, इसीलिए अयत्नज कहलाते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्य, विक्षेप, मोट्टायित, कुट्टमित, कुतूहल, हसित, चकित और केलि—ये अठारह अलंकार स्वभावज कहलाते हैं। ये स्वभाव सिद्ध होते हुए कृति-साध्य होते हैं, अर्थात् ये वे अर्जित विशेषताएँ होती हैं नायिका की, जो कालान्तर में स्वभाव का अंग बन जाती हैं। भानुदत्त कृत “रसतरंगिणी” में अंगज और अयत्नज प्रकार का अलंकार—विभाजन नहीं मिलता। वहाँ सभी मात्रज अलंकार “हाव” के अन्तर्गत रखे गये हैं (रसतरंगिणी अं ६।५)। रीतिकाव्यों में इसी का अनुसरण हुआ। भाव-सौन्दर्य से युक्त नायिकागत ऐसे कुछ अलंकारों को प्रस्तुत करते हैं।

हाव—

नेत्र, भौंह आदि के बिलक्षण व्यापारों से संभोगेच्छा सूचक भाव “हाव” कहलाता है। यह नायिका का सचेत व्यापार है। इससे नायिका दुहरे कार्य का सम्पादन करती है—एक तो वह नायिका के प्रति अपने अनुकूलत्व की सूचना देती है। दूसरे उसके मन में प्रेमोत्पादन करती हैं। नायिका का यह भंगिमा-वैशिष्ट्य, नायक—प्रेमोद्दीपन में पर्याप्त योग देता है। रीतिकालीन कवियों में बिहारीलाल की नायिकाओं में यह क्रीड़ावृत्ति अधिक मात्रा में दृग्गत होती है। बिहारीलाल ने नायिका-भेद आदि का ढाँचा नहीं स्वीकृत किया। इसलिए हाव-योजना में उन्हें अन्य कवियों की भांति सन्दर्भ-विशेष की आवश्यकता नहीं थी और यही कारण है कि उनकी नायिकाएँ अपने नायकों को रिझाने के लिए नेत्र और भ्रू-भंगिमा का विशेष उपयोग करने के लिए अधिक स्वच्छन्द दिखाई देती हैं। नायिकाओं की यह प्रकृति सामन्तीय रुचि के सर्वथा अनुकूल थी, क्योंकि नायिकाओं का यह हाव-वर्णन पढ़ कर या सुन कर उनकी विलास-बुभुक्षा तृप्ति-लाभ करती थी। बिहारीलाल को हाव-योजना में कल्पना का जो कौशल और माधुर्य भरा है वह नायिका की प्रेममूला मनोवृत्तियों की सजीव मूर्ति तो प्रस्तुत करता ही है, साथ ही वह नायक के प्रेम को उद्दीप्त भी करता है—

(क) बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ।

सौंह करै, भौंहन हँसे, देन कहै नटि जाय ॥

(ख) त्रिबली नाभि दिखाय के सिर ढँकि सकुचि समाहि ।

अली-अली की ओट ह्वै, चली भली विधि चाहि ॥

(ग) देख्यो अनदेख्यो किया, अंग-अंग सबै दिखाय ।

बैठति सी तन में सकुचि, बैठि चितहि लजाय ॥

यहाँ प्रथम दोहे में बातचीत का रस लूटने के लालच-वश नायिका ने श्री कृष्ण अथवा नायक की मुरली छिपा दी है। मुरली माँगने पर वह शपथपूर्वक कहती है कि मैंने तो नहीं ली। फिर उसकी भौंहों में हँसी की आड़ी रेखाएँ खिंच जाती हैं और इस विचार से कि लाल या प्रिय को अधिक दिक नहीं करना चाहिए, वह कहती है यह लो, अपनी मुरली। लाल के पुनः माँगने पर वह फिर कहने लगती है कि वाह ! मैंने कहाँ ली है—यहाँ शपथ करना, भौंहों में हँसना, मुरली देने के लिए कह कर फिर नट जाना, सब एक नाटकीय व्यापार को उपस्थित करने की क्षमता रखते हैं। इस क्रीड़ा के व्याज से जहाँ नायिका एक और अपने प्रेम की सूचना देती है वहाँ नायक के मन में भी प्रेमोद्दीपन की चेष्टा करती है। द्वितीय और तृतीय दोहे में संयमहीनता के कारण मनोरमता के स्थान पर कुछ अभद्रता भी समाविष्ट है। कुल मिलाकर बिहारीलाल के दोहों में जो संश्लिष्ट चित्र अंकित हुए हैं उनमें अनेक प्रकार के भावों की चित्र-विधायिनी सशृङ्खल-योजना परिलक्षित होती है। मतिराम और देवदत्त कृत हाव-योजना बिहारीलाल कृत हाव-योजना की भांति सूक्ष्म, सादक तथा प्रभावोत्पादक नहीं हैं। पद्माकर भी बिहारी के साथ नहीं लगते। तथापि पद्माकर ने पलट कर देखने का एक मोहक चित्र अंकित किया है—

हों अलि आज बड़े तरके भरिके घट गोरस कों पग धारो ।
 त्यों कब को धौं खरयो ही हुतो 'पद्माकर' मोहित मोहनी वारो ॥ इत्यादि
 यह नायिका बड़े तड़के गोरस बेचने के लिए घर से निकली । नायक उसकी
 प्रतीक्षा में न जाने कब से खड़ा था । सकरी गली में एक छोटा-सा कंकड़ नायक ने
 नायिका पर फेंका और इसकी प्रतिक्रिया देखने के लिए तथा अपने अनुराग की सूचना
 देने के उद्देश्य से उसने पलट कर नायिका की ओर देखा । क्षण भर ही इस मुद्रा के
 देखने से नायक के रूप का प्रभाव नायिका के मन पर इतना गहरा पड़ा कि नायक उसके
 नेत्रों में बस गया । यहाँ वातावरण की सृष्टि तथा हाव की प्रभावोत्पादकता का
 प्रच्छन्न कथन हाव को उत्कृष्टता प्रदान करता है । देवदत्त ने इसी प्रकार की हाव-
 योजना करते हुए लिखा है—“जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसे हेरि हियो जु लियो हरि
 जू हरि” । मूलतः रसवादी कवि होने के कारण देवदत्त की वृत्ति हाव-वर्णन की अपेक्षा
 अनुभाव-वर्णन में अधिक रमी ।

अत्यन्तज अलंकार—इनके अन्तर्गत रीतिकालीन कविता में वर्णित नायिकाओं
 में शोभा, कान्ति और दीप्ति का उल्लेख अधिक हुआ, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य
 का प्रायः नहीं—

जुवा सुन्दरी गुनभरी तीन नायिका लेखि ।

शोभा कान्ति सुदीप्ति युत नखसिख प्रभावसेखि ॥

—भिखारीदास कृत शृंगार निर्णय, पृष्ठ ९
 शोभा, कान्ति और सुदीप्ति नायिका के शारीरगत शोभन धर्म हैं, प्रगल्भता, औदार्य
 और धैर्य मुख्यतः मानस धर्म हैं । रीतिकालीन कवियों की दृष्टि नायिका के शारी-
 रिक सौन्दर्य पर विशेष रूप से केन्द्रित रही । अतः स्वभावतः उनकी कविताओं में
 नायिका के रूप से सम्बद्ध गुणों का अधिक वर्णन मिलता है । जब नायिका के अंग
 रूप, यौवन, लालित्य तथा विलास के उपकरणों से खिल उठते हैं तब वह शोभा से
 अलंकृत होती है । देवदत्त ने शोभा धर्म से अलंकृत नायिका का बड़ा मनोरम चित्र
 अंकित किया है—

आई हुती अन्हवावन नायन, सौंघे लिए वोह सीधे सुभावनि ।

कंचुकी छोरि घरी उवटेवोकों, ईगुर से अंग की मुख दायिनि ॥ इत्यादि ।

निरसंदेह यहाँ बिना किसी शोभन उपकरण की चर्चा किए नायिका के 'भूरिशः
 सौन्दर्य' का अकृत्रिम और भाव पूर्ण सौन्दर्य अंकित हुआ है ।

शोभा के वर्णन में इस काल के कवियों की दृष्टि नायिका के सहज सौन्दर्य
 पर उतनी नहीं गई जितनी उसके आभिजात्य पर । वैभव-विलास की जगर-मगर में
 उसके सौंदर्य की छटा खो जाती है—

दास आसपास आली ढारती चंवर भावें ।

लोभी ह्वै भँवर अरविंद से बदन मैं ॥ इत्यादि ।

—भिखारीदास, शृंगार निर्णय, पृष्ठ ९
 इस वर्णन में नायिका की शोभा का कहीं पता नहीं चलता, लेकिन उसका वैभव और
 ऐश्वर्य अवश्य उभर आया है । तोषनिधि ने भी शोभा के वर्णन में यही ढंग अपनाया है—

बाग बिलोकन बाल चली मग में जरवाफके पांवड़े दे करि ।

दौरि सबै सखि आरति रंभ सी चौर घिरी जल बीजनो लै करि ॥ इत्यादि

—तोषनिधि, सुधानिधि, पृष्ठ ४

शोभा के अन्तर्गत रूप, लालित्य और विलास की गणना की जाती है। भिखारी-दास और तोषनिधि दोनों कवियों ने शोभा-वर्णन-प्रसंग में नायिका के विलास या भोग पक्ष को इतना अधिक उभार दिया है कि उसके रूप, यौवन और लालित्य के पक्ष प्रायः उपेक्षित-से हैं। सामन्तीय वातावरण में पलने वाले कवि के लिए शोभा के मुख्य उपकरण “सुन्दरता” और “साहिबी” और इनमें भी “साहिबी” का विस्तृत वर्णन करना स्वाभाविक ही कहलावेगा। “सुन्दरता अरु साहिबी सोभा कहिए सोइ”

—तोषनिधि, ‘सुधानिधि’, पृष्ठ १०४

इस काल की कविताओं में शोभा-सम्पन्ना नायिकाओं की अपेक्षा कांतिमती नायिकाओं के दर्शन अधिक होते हैं। मन्मथाप्यायित द्युति का नाम कांति है, यह स्मर विलास-वर्धिता शोभा ही है। शोभा में काम-विकार नहीं होता, लेकिन कांति में इस विकार का आविर्भाव हो जाता है। इससे शोभा में एक नवीन चमक आ जाती है। मतिराम वर्णिता नायिका में वही द्युति है—

कुन्दन कौ रंगु फीको लगे भलके अति अंगन चारु गुराई ।

आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासन सी सरसाई ॥ इत्यादि ।

इस सबैये में नायिका की आँखों का आलस्य और चितवन का मंजु विलास मनम-थोन्मेष का द्योतक है। इस प्रकार की देवदत्त और पद्माकर कृत एकाधिक रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। घनानन्द के विचार से भी नायिका, सौन्दर्य एवं आकर्षण की खानि है। उसकी भलक-मात्र से कामोद्दीपन हो जाता है—

एड़ी तें सिखा लौं है अनूठिये अगेठ आछी,

रोम-रोम नेह की निकाई में रही है सनि ।

सहज सुछवि देखैं दबि जाहि सबै वाम,

बिना ही सिंगार औरै बानिक बिराजै बनि ॥ इत्यादि ।

—सुजानहित प्रबन्ध, छन्द सं० २८

जब कान्ति अति विस्तृत होती है तो दीप्ति कहलाती है। रीति कविता में इस प्रकार के चतुर्मास-पूर्ण दृष्टान्तों की कमी नहीं है। बिहारीलाल कृत—

पत्राही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास ।

नित प्रति पुन्योही रहत आनन ओप उजास ॥

इस दोहे में नायिका की कान्ति इसी कोटि की है। बिहारीलाल की नायिका की दीप्ति विषयक यह कल्पना अपनी अस्वाभाविकता के कारण बहुत कुछ उपहासास्पद हो गई है। तोषनिधि ने बिहारीलाल के भावों का ही विस्तार करते हुए लिखा—

बारहि मास कुह-कुह पाखनि पूरि प्रकास रह्यो वसुधापै ।

होत न लेस तऊ तम को कहि तोस जऊ बरखै धन आपै ॥ इत्यादि ।

—तोषनिधि, सुधानिधि, छन्द १७

यहाँ कवि ने नायिका की दीप्तिजन्य पूर्णिमा का ऐसा वर्णन किया है कि अमावस्या की रात्रि में भी प्रकाश की यह छटा देखकर साहु नायिका का यश-गान करता है और चोर उसे शाप देता है। देवदत्त-वर्णित नायिका की दीप्ति अधिक भावपूर्ण है—

जगमगी जोतिन जराऊ मभि मोतिन की, चन्द मुख मंडल पै मंडित किनारी सी ।
बेदी बर बीर नगहीर नग हीरन की, देव भ्रमकन में भ्रमक भरि भारी सी ॥
इत्यादि ।

इस दीप्ति-वर्णन में ऐन्द्रियता और वैभव-विलास का अद्भुत संमिश्रण है ।

गात्रज-अलंकार—भानुदत्त ने अपनी 'रसतरंगिणी' में इन सब अलंकारों को 'हाव' के अन्तर्गत रखा है। उनके अनुसार लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम और ललित शारीरिक व्यापार हैं। मोट्टाइट, कुट्टमित, विव्वोक, विहृत मानस अथवा आभ्यन्तरिक। किलकिचित् को उन्होंने उभय संकीर्ण संज्ञा दी। मतिराम और देवदत्त ने तो भानुदत्त को आदर्श मानकर हावों की संख्या दस मानी। पद्माकर ने प्रारम्भ में नाम तो दस हावों का ही गिनाया है, लेकिन हेला और बोधक के दो और उदाहरण प्रस्तुत किये। भिखारीदास ने 'शृंगार-निर्णय' में हाव-भेद के अन्तर्गत भानुदत्त-निर्दिष्ट दस हावों का ही नाम लिया, परन्तु साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ—सम्मत मौगध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि के उदाहरण भी दिए हैं। नहीं मालूम भिखारीदास ने वहाँ वर्णित मद और तपन को क्यों छोड़ दिया। तोप-निधि आदि ने इन दोनों को हाव-सन्निविष्ट कर साहित्यदर्पण-सम्मत स्वभावज अलंकारों की सूची पूरी कर ली। देवदत्त ने इस विषय में अपना अभिमत यों प्रकट किया—

यहि विधि दस विधि हाव कवि बरनत मत प्राचीन ।

सरस भाव बस चेष्टा बहु विधि कहत नवीन ॥

इस प्रकार इन नवीन कवियों ने नायिका-चेष्टा के आधार पर इन शोभन-अलंकारों को बहु विधभी स्वीकार किया है। सामान्यतः रीतिकालीन कविता में शारीरिक स्वभावज अलंकारों को अधिक संख्या में देखा जा सकता है। इनमें भी विलास, विच्छित्ति और ललित को प्रमुखता मिली है। बिहारीलाल की कविता में 'विलास' और 'विच्छित्ति' का प्राधान्य है, तो देवदत्त की कविता में 'ललित' और 'विलास' का है।

प्रिय या दयित के दर्शन, स्मरण आदि से नायिका के गमन, नयन, वदन, अङ्ग आदि में जो तात्कालिक विलक्षण पाया जाता है, उसे विलास कहते हैं। प्रिय-दर्शन आदि विलास के विभाव गिने जाते हैं, और अभिलाषा और विदग्धता-प्रकाशनादि अनुभाव नेत्र और भ्रू-भंगिमाओं के प्रति विशेष अनुराग रखने वाले बिहारीलाल की कविता में विलास की प्रधानता स्वाभाविक है—

(क) हँसि ओठनि बिच कर उचै, किये निचोहै नैन ।

खरे अरे पिय के पिया, लगी बिरी मुख देन ॥

(ख) भौंह उचै आँचरु उलटि, मोरि-मोरि मुँह मोरि ।

नीठि-नीठि भीतर गई, डीठि-डीठि सों जोरि ॥

देवदत्त कृत विलास हाव का एक उत्कृष्ट चित्र इस प्रकार है—

पीछे पर बीनै-बीनै संग की सहेली आगे ।

भार डर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि ॥

चौकति चकोरनि त्यों मोरै मुख मोरनि त्यों,

भोरनि की भीर ओर हेरे मुख मोरि-मोरि । इत्यादि ।

इसमें विलास के शास्त्रीय उपकरणों का उल्लेख न करते हुए जिस नयनाभिराम वातावरण की सृष्टि की गई है, वह नायक के प्रेमोद्दीपन में अधिक सहायक है ।

मिलन के विशिष्ट प्रसंगों में बिहारीलाल ने प्रमुखतः किलकिचित्-अलंकार का सनिवेश किया है । इस अलंकार में शारीरिक और मानसिक दोनों व्यापारों का संकर रहता है—

रमन कह्यो हठि रमनि सों, रति विपरीत विलास ।

चितई करि लोचन सतर, सजल सरोष सहास ॥

ऐसे प्रसंगों में प्रायः सभी कवियों ने किलकिचित और कुटुमित-अलंकारों से नायिका को विभूषित किया है । इस काल के परवर्ती कवियों ने तो 'आलिंगन-चुम्बन' 'सीकरन' आदि में विशिष्ट रुचि प्रदर्शित की ।

संक्षेप में इन कवियों ने नायिका के भावात्मक शारीरिक सौंदर्य को अति वैभव पूर्ण, आकर्षक एवं अति रमणीय रूप से चित्रित किया और नायक में प्रेम को अंकुरित करने के उद्देश्य से तथा नायक के हृदय-प्रेम को उन्मादक, उद्दीप्त बनाने के लिए नायिकाओं को हावों से विभूषित किया ।

भाव सौन्दर्य

संयोग-शृंगारगत

संयोग एवं विप्रलम्भ-शृंगार भावों से प्रभावित नायक-नायिकाओं में परस्पर मानसिक आकर्षण अनेक प्रकार के रूपों, भंगिमाओं, चेष्टाओं, वाचिक और कायिक विकारों और मानसिक दशाओं में प्रायः प्रस्फुटित होता है । हर्ष, पुलक, आह्लाद आदि मानसिक स्थितियों तथा शारीरिक आकर्षण में जन्य-जनक सम्बन्ध है । संयोग के अवसर पर आह्लाद-जन्य शारीरिक आकर्षण जिन मानसिक विकारों की सृष्टि करता है, वे उतने अनुभूतिशील, सूक्ष्म, हृदयस्पर्शी और प्रभावोत्पादक नहीं होते, जितने विप्रलम्भ के अवसर पर प्रकट होने वाले मानसिक व्यापार । समस्त जगत में सुख के मुकाबले दुःख का व्यापार अधिक व्यापक और मर्मस्पर्शी होता है ।

संयोग-शृङ्गार-प्रसंग में रीतिकालीन कवियों ने कवि-परम्पराभुक्त एवं रूढ़ सुरति, पद-श्रुत-वर्णन, बिहार, मद्यपान, क्रीड़ा अष्टयामादि के वर्णनों के सहारे प्रेम-चित्र उभारे हैं । संयोग-शृङ्गार में बहिरिन्द्रिय का सन्निकर्ष अत्यन्त अपेक्षित है । दर्शन, श्रवण, स्पर्श और संलाप-आलाप आदि की नींव पर संयोग-शृङ्गार का प्रासाद खड़ा होता है । वियोगावस्था की भाँति संयोग दशा में चिन्तन, ध्यान, स्मरण आदि की स्थिति नहीं आ पाती । इस अवस्था में प्रिय का सामीप्य स्वतः इतना आह्लादक और उद्रेकपूर्ण होता है कि प्रेमी समग्रतः वहीं केन्द्रित हो रहता है ।

दयित अथवा नायक के साक्षात् के समय नायिका में प्रायः दो प्रकार की मानस प्रतिक्रियाएँ दृग्गत होती हैं—एक, नायिका येन केन प्रकारेण नायक को मुग्ध करने की चेष्टा करती है, दूसरी, नायिका पुलकायमाना, प्रसन्ना, लज्जिता या स्तब्धा आदि हो जाती है। प्रथम प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन बिहारी-लाल कृत “सतसई” में खूब हुआ है। वहाँ बिहारीलाल ने हाव-योजना के द्वारा बहुत वैदग्ध्यपूर्ण इसका वर्णन किया है। “हाव” का संचालन-सूत्र यह ठीक है कि मन के ही हाथ में रहता है, तथापि सचेत व्यापार होने के कारण यह स्वाभाविक रूप से उतना सम्बद्ध नहीं है जितनी की दूसरी प्रतिक्रिया। यहाँ प्रतिक्रिया का जो दूसरा रूप है वह मानसिक अवस्था का सहज व्यापार है। शास्त्रीय भाषा में यही अनुभाव कहलाता है। यदि अनुभाव संयोगात्मक उत्तेजना का स्वाभाविक परिणाम है तो रुढ़ सात्विक अनुभावों की सूची में वृद्धि की जा सकती है। उदाहरणार्थ—शालीनता को लिया जा सकता है। इसकी गणना अनुभाव के अन्तर्गत ही होनी चाहिए। वैवर्ण्य इसके अन्तर्भवत हो सकता है, लेकिन वह इसका पर्याय नहीं माना जा सकता। साक्षात् दर्शन के अतिरिक्त स्पर्श, स्मृति, श्रवणादि से भी स्वेद, रोमांच आदि सात्विक अनुभावों का प्रादुर्भाव होता है। मिलन-प्रसंग में नायक-नायिका के पारस्परिक हास-परिहास और ऋतुओं पर आधारित पर्वों से भी उनके मानसिक आकर्षण के विशिष्ट स्वरूप प्रकट होते हैं।

आइये मानस भाव-सौन्दर्य के शालीनता, स्पर्श, स्मृति, हास-परिहास और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी तन्तुओं पर दृक्पात करें।

शालीनता

शालीनता कई प्रकार की मानसिक स्थितियों का संयुक्त घोल या मिश्रण है। यह प्रेम में मधुर कल्पना का संनिवेश करती हुई उसमें जीवन का संचार करती है।^१ मनोवैज्ञानिकों ने शालीनता को आंशिक रूप में मूल प्रवृत्तिजन्य डर माना है। डर से दुराव, छिपाव की जो प्रवृत्ति पैदा होती है वह यौन प्रक्रिया के चारों ओर केन्द्रित रहती है। यौन-भावना के विकास के साथ-साथ शालीनता का रूप भी बदलता जाता है। बेल महाशय का कथन है कि नौ वर्ष की आयु तक लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक युयुत्सा-संवलित (ऐग्रेसिव) होती हैं। इसी अवस्था में वे शालीन होना आरम्भ करती हैं। शालीनता का पूर्ण विकास व्यः सन्धिकाल में होता है इसी-लिये पेरेज महाशय ने कहा कि यौन-भावना के अपने समय से पूर्व जागरित होने पर शालीनता भी उसी समय आविर्भूत हो जाती है। डा० बच्चनसिंह ने इसकी भीमांसा करते हुए लिखा है कि शालीनता से यौन-भावना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी जड़ें हमारी मूल प्रवृत्तियों में हैं। सामाजिक विधि-निषेधों के कारण इसका एक विशिष्ट सामाजिक रूप बन गया है, जिसे मर्यादा (डिकोरम) कहा जा सकता है। उत्तराधिकार सम्बन्धी आर्थिक आवश्यकताओं में शालीनता में पातिव्रत्य आदि नवीन तत्वों को प्रतिष्ठापित किया है। यह नारी का महत्वपूर्ण आवयविक तत्व

(आरगेनिक पार्ट) है। शालीनता का अत्यधिक मनोरम और आकर्षक रूप वयः संधि की अवस्था में देखा जाता है।^१

वास्तव में शालीनता का आधार एक प्रकार का शरीर-यन्त्र (बैरो मोटर मेकेनिज्म) है जिसका बाह्य प्रतिफलन लज्जा या ब्रीड़ा है। लज्जा शालीनता की स्पष्ट स्वीकृति है। लज्जा और रति का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद ने भी “कामायनी” में लज्जासर्ग में लिखा है—“चंचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती हूँ रखवाली”। रति मूलक लज्जा प्रधान रूप से स्त्रियों में उत्तम होती है। यह स्त्रियों की वयः संधि अवस्था में, विशेषतः ऋतुकाल में घनीभूता दृग्गत होती है।

रीतिकालीन कवियों की स्वकीया नायिकाओं में यह शालीनता प्रायः दृष्टि-गोचर होती है। वयः क्रमानुसार नायिका के तीन भेद किये गये हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। रीतिकाल के अधिकांश रीति कवियों ने इन्हें स्वकीयागत ही माना है। देवदत्त ने परकीया में भी ये भेद माने हैं। सामाजिक मर्यादा के अभाव के कारण परकीया नायिकाओं में वह शालीनता नहीं मिलती जो स्वकीया नायिकाओं में पाई जाती है। देवदत्त ने १२ वर्ष से १६ वर्ष की आयु की नायिकाओं को मुग्धा, १७ वर्ष से २१ वर्ष की आयु की नायिका को मध्या, और २१ वर्ष से २४ वर्ष की आयु की नायिका को प्रौढ़ा कहा है। इस प्रकार निश्चित वर्षों की सीमा में नायिकाओं का यह बन्धन पूर्णतः मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इस वर्गीकरण के मूल में क्रमशः काम-भावना का आविर्भाव, विकास और प्रौढ़ता है। यह काम-भावना शालीनता द्वारा नियन्त्रित रहती है।

सहज शालीनता—मुग्धा नायिकाओं का भोलापन और अबोधता स्वतः शालीन है। उनके शरीर में अभिनव यौवनागम उन्हें अत्यधिक लज्जाशीला बना देता है। मुख्यतः वे इसी अर्थ में शालीना हैं। उनके भोलेपन से ही उनकी मानसिक आकुलता, आँखों की चंचलता, रोम-हर्ष, प्रस्वेद आदि के माध्यम से प्रकट हो जाती है। लज्जा का व्यापक अर्थ होने पर ही मुग्धागत शालीनता समझी जा सकती है। पाटिरिज महाशय ने कम्पन, हृदय की धड़कन, उँगलियों और अँगूठों की सनसनाहट, आँखों की चंचलता, चेहरे की अनुभूतिशीलता आदि को लज्जा के सामान्य लक्षणों में गिना है।^२ किसी प्रेमी के उपस्थित होने पर मुग्धा का दुराव-छिपाव प्रेमी की निगाह में उसके आकर्षण एवं सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देता है। देखे :—

सुनि पग धुनि चितई इते, न्हात दियेई पीठि ।

चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी लजीली डीठि ॥

—बिहारीलाल

बिहारीलाल ने ही अन्यत्र सद्यः स्नाता की सहज लज्जा का उल्लेख करते हुए लिखा—

१. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ० १७७

२. साइकालोजी ऑफ सेक्स, भाग १, पृ० ७३

विहंसति सकुचति सी हिये, कुच आँचर विच बांहि ।

भीजे पट तट को चली, नहाय सरोवर माहि ॥

स्नान के बाद भीना-गीला वस्त्र उसके गात्र से चिपक जाता है। अपनी सहज प्रवृत्तिवशा वह बाहों से स्तनों को आवृत्त कर लेती है। यह कामजन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है, विशेष रूप से पुरुष के सम्मुख। यहाँ स्मरणीय बात यह है कि बिहारीलाल की नायिका सरोवर से निकल रही है। अवश्य ही इसके तट पर बिहारीलाल जैसे रसिकों का जमघट लगा रहता होगा अतः शालीन-नायिका के लिए आवश्यक था कि वह अपनी बाहों से स्तनों को ढक लेती। विद्यापति की सद्यः स्नाता नायिका के सम्मुख कोई पुरुष या नारी नहीं है। अतः कवि को उसके तन सौन्दर्य के वर्णन में शालीनताजन्य कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई।

परस्परित शालीनता—मध्यवर्गीय सामाजिक नीति-रीति के अनुसार गुरुजन वर्ग के मध्य पति-पत्नी का परस्पर दर्शन और आलाप उचित नहीं माना जाता। यह प्रथा समाज में इतनी गहरी पैठ चुकी है कि नव वधू का पति की उपस्थिति में लज्जित होना उसके स्वभाव का अंग हो गया है। देवदत्त की 'नवल-अनंगा' (जो अपनी जेठानियों में बैठी थी) में इस शालीनता के दर्शन किये जा सकते हैं—

जेठि बड़ीनु में बैठी बधून न पीठि दिये पिय दीठि सकोचनि ।

दर्पन की मुंदरी दृग दै पिय को प्रतिबिम्ब लखै दुखमोचनि ॥ इत्यादि ।

उस समय उसकी पीठ दयित की ओर है। मुंदरी में वह प्रियतम की परछाई देखती है। अपने उस प्रतिबिम्ब को दयित भी देख रहा है। यह जानकर नायिका की भौंहें कुछ टेढ़ी हो जाती हैं और उसकी आँखें लज्जावनता हो जाती हैं, जब प्रियतम अचानक ही सामने आ उपस्थित होता है—

'देव' अचान भई पहिचान चितौत ही स्याम मुजान के सोहें ।

लाज कसी उकसी न उतै हुलसी अँखियाँ विकसी कछु भौहें ॥

पद्माकर ने मायके में रह रही नायिका की लज्जा की जो योजना की है वह बड़ी मार्मिक और स्वाभाविक है—

नंद गांव तें आइयो नंदलला लखि लाइली ताहि रिभाइ रही ।

मुख घूँघट घालि सके नहीं माइके माइ के पीछे दुराइ रही ॥ इत्यादि ।

मुग्धा नायिका दयित के सम्पर्क में आकर नया परिचय लाभ करती है। परस्पर समझने में एक दूसरे को समय लगता है। अविवाहिता मुग्धा नायिका की अपेक्षा विवाहिता मुग्धा में शालीनता का भाव अधिक रहता है, क्योंकि अविवाहिता लड़कियों के सामने किसी पति की मूर्ति नहीं रहती, जबकि विवाहिता लड़की पति के साक्षात्कार या उसकी कल्पना से लज्जित हो उठती है। प्रिय की छाया-मूर्ति की उपस्थिति उसके यौन संस्थानों में गुदगुदी करती है और उसकी प्रतिरोधात्मक प्रवृत्ति लज्जा में परिणत हो जाती है। साधारणतः समाज में जनसामान्य "काम" के प्रति स्वस्थ विचार नहीं रखता। लोग काम सम्बन्धी भावनाओं को अपने संस्कारों के कारण हेय समझते हैं। अतः विवाह के नाम पर ही बालक-बालिकाओं का

संकुचित हो जाना स्वाभाविक है। पति-पत्नी का सामीप्य बढ़ने पर धीमे-धीमे उनकी लज्जा घटने लगती है और दबी हुई भावना उभरने लगती है। वहाँ एक अवस्था ऐसी भी आती है जब लज्जा और काम में संतुलन स्थापित हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त नायिका मध्या कोटि की होती है। मध्या की लज्जा का वर्णन भी मिलन-प्रसंगों में किया गया है। लज्जा और काम के पुनः असंतुलित होने पर अर्थात् लज्जा के मुकाबले काम-भावना के बढ़ने पर नायिका में प्रौढ़त्व भासित होता है।

शालीनता वह आनन्दमयी अनुभूति है जिसके होने पर बाणी मौन हो जाती है, मन संकुचित किन्तु आह्लादित प्रतीत होता है। और आँखों में इसके कारण एक अद्भुत एवं रहस्यमयी सांकेतिकता झलक उठती है। स्पष्ट ही नायिका अपनी लज्जा के प्रति स्वयं थोड़ा-बहुत सचेत रहती है। देवदत्त के निम्न पद को देखें—

सावन मास सखीन में सुन्दरि मन्दिर तैं निकसी बनि ज्यों ससि ।

देव जू देखि छके छवि छैल रह्यो न गयो हरि हारि हियो कसि ॥ इत्यादि ।
यहाँ सावन के महीने में सज कर निकली हुई नायिका को देखकर छैल से जब चुप न रह गया तो उसकी सराहना में “इसी इकार व्रज में सबसे ऊपर बनी रहो” कह ही दिया निःसंकोच होकर। इसके उत्तर में नायिका आँखें नीची करके केवल वहाँ से निकल भागी।

मध्या नायिका की शालीनता (लज्जा) स्वीकृतिगर्भ निषेध या ‘नहीं में हूँ’ से सम्बद्ध उक्तियों में बड़े कौशल के साथ अभिव्यक्त हुई है। लेकिन पाल महाशय का कथन है कि स्त्रियाँ किसी अशालीन कार्य को करने में उतनी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करतीं, जितनी कि उसे कहने में^१। जीनपाल महाशय का कथन है कि स्त्रियों को हँ कहने में जितनी लज्जा मालूम होती है उतनी और किसी बात में नहीं। नायिकाओं की निषेधात्मक स्वीकृति में विशेष माधुरी का अनुभव किया गया। बिहारीलाल, मतिराम, देवदत्त, पद्माकर आदि सभी कवियों ने “नहीं मैं हूँ” विषयक सुन्दर अभिव्यक्ति है—

(क) लहि सूने घर कर गह्यौ, दिखा दिखी की ईठि ।

गड़ी सुचित नाहीं करनि, करि ललचौही दीठि ॥

—बिहारीलाल

(ख) सोने की सी बेलि अति सुन्दर नवेली बाल,

ठाड़ी ही अकेली अलवेली द्वार महियां ॥ इत्यादि ।

—मतिराम

(ग) दे गल बांहीं जु नाहीं करी वह नाहीं गुपाल को भूलत नाहीं ।

—देवदत्त

(घ) आई जो चालि गोपाल घरें, व्रजबाल विसाल मृनाल सी बाहीं ।

त्यो पद्माकर सूरति में रति में रति छूवै न सकै पर छाहीं ॥ इत्यादि ।

—पद्माकर

और मध्या के मुकाबले प्रौढ़ा नायिका में लज्जा की कमी और मित्रन अभिलाषा की अधिकता। इसी कारण रीतिकालीन कवियों की दृष्टि में प्रौढ़ा नायिका काम-कला में अधिक प्रवीणा समझी जाती है। मनभावने दयित के साथ प्रौढ़ा नायिका के संकोच-हीन व्यवहार के सम्बन्ध में मतिराम ने लिखा है—

प्राण प्रिया मन भावत संग, अनंग तरंगनि रंग पसारे ।

सारी निसा मतिराम मनोहर, केलि के पुंज हजार उधारे ॥

दयित के सहवास से लज्जा स्वभावतः विलीन हो जाती है ।

स्पर्श—यौन-आवेशों की स्थिति स्पर्श-ज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेम सम्बन्धी सन्वेगों के संदर्भ में इसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। स्पर्श जब होता है तो नायक-नायिका की देह-यष्टि के रोमकूपों में विद्युत्-प्रवाह-सी एक अनोखी सिहरन भर देता है। स्पर्शजन्य आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति सात्विक अनुभावों द्वारा होती है। आत्मा में अन्तर्भूत रस को प्रकाशित करने वाला अन्तःकरण का धर्म विशेष “सत्त्व” कहलाता है। इस सत्त्व गुण से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं। संयोग-शृंगार में अथवा वास्तविक जीवन में प्रेमानुभूति का स्पर्श-जन्य विकार प्रायः नायक-नायिका-स्थित स्वेद, रोमांच, कम्प, वैषण्य और अश्रु-द्वारा परिलक्षित होता है। प्राणिशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से स्त्री (नायिका) शरीर का सबसे बड़ा स्पर्श-सुख-केन्द्र उसके उन्नत उरोज है। प्रायः सभी रीति-कवियों ने इनके स्पर्श-जन्य रोमांच व पुलक का सोल्लास उल्लेख किया है। बिहारीलाल वर्णित प्रथम-स्पर्श का चित्र देखें—

सेद सलिल रोमांच कुस, गहि दुलही अरु नाथ ।

हियो दियो संग हाथ के, हथ लेवा ही हाथ ॥

यहाँ विवाह प्रसंग में पाणि-ग्रहण संस्कार के अवसर पर नायिका ने नायक के हाथ का ज्यों ही स्पर्श किया त्यों ही उसे प्रस्वेद आया और शरीर रोमांचित हो उठा। जिससे यह स्पष्ट हो गया कि उसने अपने हाथ के साथ ही अपना मन भी नायक को सौंप दिया है। स्वेद और रोमांच उसके भाव-शवल हृदय को खोले बिना नहीं रहते ।

“स्वेद बढ़यो तन, कंप उरोजनि, आंखिन आँसू, कपोलन हाँसी ।”

—मतिराम

“अंवल भीन भकै भलकै पुलकै कुच कन्द कदम्ब कली सी ।”

—देवदत्त

इन दृष्टान्तों में स्पर्श केलि के अन्तर्गत हैं। अतः यह आनन्दानुभूति भावनाप्रधान न होकर वासनाप्रधान है। स्पर्श-सुख से संबद्ध कंप, स्वेद, रोमांच और अश्रु का शोभन व्यापार मतिराम की इस रचना में एकत्र ही देखा जा सकता है—

खेलन चोर मिहिचनि आजु, गई हुती पाछिले घौस की नाई ।

आली कहा कहीं एक भई मतिराम नई यह बात तहाँई ॥

एकहि भौन दुरे इकसंग ही अंग सों अंग छुवायो कन्हाई ।

कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ़यो, तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आई ॥

कौतुक वश या खेल-खेल में भी स्पर्श-जनिता जो भाव-राशि है उस पर ऐन्द्रियता का गहरा रंग है—

कौतुक एक अनूप लख्यौ सखि, आजु अचानक नाहु गयो छुवै ।

श्रीफल से कुच कामिनि के दोउ, फूलि कदम्ब के फूल गये हवै ॥

—बेनी प्रवीन

स्मृति—स्मृति के लिए आलम्बन नायक-नायिका का परस्पर पूर्व-साक्षात्कार अत्यन्त अपेक्षित है। आलम्बन की अनुपस्थिति में स्मृति के सहारे मानस पटल पर उसका चित्र खड़ा किया जाता है। कभी-कभी भावी मिलन का काल्पनिक आनन्द भी नायिका को अनुभूतिमयी बना देता है और वह रोमोद्गता हो जाती है। इस कोटि के सहज अनुभाव का मनोरम निदर्शन देवदत्त कृत यह रचना है—

गौने चार चली दुलही, गुल्लोगन भूषन भेष बनाये ।

शील सयान सखीन सिखायो, बड़े सुख सासुरे हू के सुनाये ॥ इत्यादि । यहाँ सखियों ने नवोद्गा को पतिगृह-गमन-काल में अनेक शिक्षाएँ दीं। उसे शीलवती होने का उपदेश दिया, स्वसुर-गृह के सुखों का वर्णन भी किया गया। लेकिन जब सखियों ने दुलहिन से कहा कि तुम ऐसी वाणी बोलना जो मन-भावन को भाये, तब उसके मन का अनुराग उरोजों पर रोमांच के रूप में प्रस्फुटित हुआ। अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है, अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर ही है। पर मन के साथ शरीर का ऐसा सहज संबन्ध है कि दोनों में एक साथ ही चेतना उत्पन्न हो जाती है। यहाँ शरीर मानसिक चेतना से प्रभावित मात्र होता है। अनुराग पहले मन में ही जाग्रत होता है, जिसका प्रभाव उरोजों पर लक्षित होता है। मन में अनु-राग-चेतना उद्बुद्ध होने तथा उससे उरोजों के प्रभावित होने में काल का इतना कम अन्तर है कि लगता है कि दोनों में राग-चेतना युगपत् ही उत्थित होती है। दयित या प्रिय की किसी वस्तु को पाकर आन्तरिक तन्मयता के कारण ऐसा लगा करता है कि जैसे स्वयं प्रिय ही मिल गया हो; उस वस्तु पर नायिका अपने प्रिय की भावना को प्रक्षिप्त कर लेती है और इस रागमयी चेतनावश उसका शरीर पुलकित हो उठता है। बिहारीलाल की नायिका की देह प्रिय नायक-प्रेषित-माल को धारण कर कदम्ब माला सी दिखाई देने लगी—

मैं यह तो ही में लखी, भगति अपूरब बाल ।

लहि प्रसाद माला जु भौ, तन कदम्ब की माल ॥

हास-परिहास—नायक-नायिका के परस्पर मिलने के समय हास-वचनों से उनका प्रेम घनत्व को प्राप्त होता है, उसमें एक नया आकर्षण एवं सौंदर्य भर आता है, रहः केलि का यह आवश्यक अंग है। इनसे कभी नायक-नायिका का प्रेम-जनि आत्मसमर्पण, कभी गर्व, कभी प्रेमातिशय आदि विविध हादिक भाव अभिव्यक्ति पाते हैं। इसी उद्देश्य से रीतिकालीन कवियों ने दान लीला आदि के प्रसंगों में और स्वतन्त्र रूप से भी राधा-कृष्ण, (नायक-नायिका) के परस्पर विनोद का, सखि परिहास का उल्लेख किया है। राधा-कृष्ण के परस्पर हास-परिहास का प्रेम पूर्ण और हृद्य दृश्य देवदत्त कृत निम्न पद में देखा जा सकता है—

लागि प्रेम डोरि खोरि सांकरि हूँ वै कड़ी आई ।

नेह सों निहोरि जोरि आली मनमानती ॥ इत्यादि ।

यहाँ राधिका एक दिन अपनी सखियों समेत किसी सकरी गली में चली जा रही थी । उसके आगमन की सूचना पा कर कृष्ण कहीं से दौड़ते-भागते आये और दूर से ही पुकार कर कहा, अजी सुनो तो । आप कहीं से आ रही हो ! मुझे ऐसा लगता है कि मैं आपको पहिचानता हूँ । राधिका ने मुँह फेर कर जवाब दिया—“आप चुपचाप चले जाइये । आपने सही फरमाया है कि आप मुझे पहिचानते हैं और मैं आपको पहिचानती हूँ” । कैसा मधुर एवं हृद्य परिहास है ।

कृष्ण के दधिदान की याचना करने पर पता है हास-प्रिया गोपिका ने क्या कहा था—

लाज गहो बे काजकत, घेरि रहे घर जाहि ।

गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहि ॥

अरे कुछ तो लजाओ व्यर्थ में ही हमें क्यों घेर रहे हो ? घर जाने दो । तुम तो गोरस (इन्द्रिय-रस) के इच्छुक हो, गोरस (दधि) तुम्हें नहीं चाहिये । इस प्रकार श्रीकृष्ण के परिहास में ही गोपी ने अपने मन्तव्य को भी अभिव्यक्त कर दिया ।

मतिराम कृत निम्न पद में सखियों ने भी पतिगृह जाने को उद्यता नायिका से मार्मिक परिहास किया—

गौने के द्यौस सिंगारन को ‘मतिराम’ सहेलिन को गनु आयो ।

कंचन के बिछुवा पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायो ॥ इत्यादि

गौने के लिए तैयार हो रही नायिका के शृंगार-प्रसाधन के लिये आई हुई सहेलियों में से कंचन का बिछुवा पहिनाते समय एक अति प्रिय सखी ने गूढ़ परिहास करते हुए कहा कि यह बिछुवा प्रियतम के कानों के पास सदा बजता रहे । यह सुन कर नायिका ने अपनी सखी पर कर-कमल चलाने के लिये हाथ उठाया परन्तु लज्जा के कारण वह बीच में ही रह गया ।

ऋतु—विभिन्न ऋतुगत विशेष पवों के अवसर पर मानव का प्रेमोल्लास छलछला उठता है, और इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पावस और बसंत तो अपनी प्राकृतिक विशिष्टताओं के कारण विशेष रूप से प्रेमोद्दीपक है । पावस के विषय में बिहारीलाल का कथन है कि “पावस बातन बूढ़ यह, दूढ़न हूँ रंग होय” । लेकिन मन के इस रंग की विशेष चर्चा न करके कवि-परम्परा के अनुसार नायिका-मान-भंग का ही उल्लेख अधिक किया इन्होंने । इस काल का कोई कवि इन रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त नहीं कहा जा सकता । ऋतु-वर्णन के प्रसंग में मानस भाव-सौंदर्य या मानसिक उत्सास से भरे चित्रों का अंकन सबसे अधिक पद्माकर ने किया है—

तीर पर तरनि तनूजा के तमाल तरें,

तोज बी तयारी तकि आई तकियान में ।

कहै पद्माकर सो उमंग उमंगि उठी,

मेहंदी सुरंग की तरंग नखियान में ॥ इत्यादि ।

यहाँ हरियाली तीज के अवसर पर नायिका का मानसोल्लास दर्शनीय है।

वसंत-ऋतु-वर्णन-प्रसंग में पद्याकर ने फाग खेलते हुए रागोद्विक्त और भाव-शबलित नायक-नायिका का अत्यन्त भावपूर्ण एवं हृद्यचित्र अंकित किया है—

या अनुराग की फाग लखो, जहाँ रागिनी राग किसोर किसोरी।

त्यों पदमाकर घाली घली, फिर लाल ही लाल गुलाल की भोरी ॥ इत्यादि

यहाँ स्पष्ट ही आभ्यन्तरिक राग की प्रगाढ़ता शारीरिक आकर्षण पर छा गयी है। परस्पर प्रेम-विभोर नायक-नायिका के हाथों की पिचकाटियाँ हाथों में ही रह गई। उन्हें रंग में डुबोने की आवश्यकता ही न पड़ी। प्रेम के अतिरेक में नायक का अन्तःकरण गोरी के रंग से भीग उठा और गोरी का अन्तःकरण नायक के रंग से। भाव की यह विह्वलता दोनों ओर एक साथ उत्पन्न हुई, इससे दोनों का तुल्यानुराग सूचित है और भाव की अतिशयता में ऐसे जड़त्व का आ जाना भी पूर्णतः मनो-वैज्ञानिक है।

विप्रलम्भ-शृंगार-गत—विप्रलम्भ के मूल में अभीष्ट के समागम का अभाव रहता है। पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण संज्ञक इसके चार भेद माने जाते हैं। वास्तविक मिलने के अभाव में नायक-नायिका में परस्पर गुण-श्रवण, या दर्शन (प्रत्यक्ष-चित्र-स्वप्न) के द्वारा राग का प्रादुर्भाव होता है। पूर्वराग प्रिय-प्रियतम की प्राक् संयोग स्थिति है। पूर्वराग में आलम्बन निकट भी रह सकता है, लेकिन, कुछ बाधाएँ आलम्बन और आश्रय के बीच आ उपस्थित होती हैं, जिनके कारण उनका मिलन नहीं हो पाता। शिंगभूपाल ने अपने “रसार्णव सुधाकर” में इन बाधाओं को “पारतन्त्र्य” संज्ञा से अभिहित किया है। ये बाधाएँ (पारतन्त्र्य) दो प्रकार की होती हैं—दैवी और मानुष। माता-पिता, बन्धु-बान्धवादि के अनुकूल रहने पर भी जहाँ मिलन नहीं हो पाता वहाँ दैवी बाधा समझी जाती है और सामाजिक बन्धनों के कारण जहाँ प्रिय-प्रिया का मिलन नहीं हो पाता है वहाँ मानुषबाधा कारण होती है। संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास कृत कुमारसंभवगत पार्वती का पूर्वराग दैवी बाधा से प्रभावित है। रीतिकालीन कवियों की नायिकाओं का पूर्वराग मानुष बाधाओं से प्रभावित पूर्वराग है।

पूर्वराग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत है कि जब तक पूर्वराग आगे चल कर पूर्ण रति या प्रेम के रूप में परिणत नहीं होता तब तक उसे हम चित्त की कोई उदात्त या गम्भीर वृत्ति नहीं कह सकते।^१ आचार्य शुक्ल ने पूर्वराग में केवल ‘अभिलाषा’ की स्वाभाविकता स्वीकार की है, उद्वेग-विलाप-उन्माद-व्याधि आदि को इसके अन्तर्गत स्वीकार करना उचित नहीं माना है। परन्तु प्रेमी जब अभीष्ट-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है तब शास्त्रानुमोदित इन दशाओं में से न्यूनतम मात्रा में अवश्य ही गुजरता है। अतः पूर्वराग के समय उद्वेग, उन्माद आदि स्थितियों का उत्पन्न होना उचित ही है।

प्रवास में वियोग की गम्भीरता दृग्गत होती है तो पूर्वराग में संयोगाभिलाष-

तीव्रता, क्योंकि पूर्वराग का संचालन संयोगाभिलाष की तीव्रता से होता है और प्रवास का दीर्घ अवसाद के द्वारा। पूर्वराग में सामाजिक मर्यादाएँ बाधक हो राग को और तीव्रता प्रदान करती हैं। पूर्वानुरागिनी नायिकाएँ अवस्था की दृष्टि से प्रायः मुग्धा होती हैं। देवदत्त ने अपनी 'प्रेम चन्द्रिका' में इन दशाओं के वर्णन के बाद लिखा है—“प्रेम चन्द्रिकायां मुग्धानां पूर्वानुराग दश दशा मुख्य प्रेमवर्णने द्वितीयः प्रकाशः।” देवदत्त ने अभिलाष आदि दशाओं को पूर्वराग के अन्तर्गत रखा है (भाव-विलास छन्द ४६)। मतिराम ने इन दशाओं को “नवदसा” कहा है (रसराम, छन्द ३३८, ३६६)। पद्माकर ने इन्हें “वियोग की अवस्था संज्ञा” से अभिहित किया है (जगत् विनोद, छन्द ६४५)। रीतिकालीन सभी कवियों ने वियोग की किसी भी दशा में इन अवस्थाओं को संभव माना है।

किसी के गुण-श्रवण या दर्शन से मन में एक क्रियात्मिका प्रेरणा उत्पन्न होती है। यह क्रियात्मिका प्रेरणा “अभिलाष” को जन्म देती है। इस क्रियात्मिका प्रेरणा से पहले कोई अन्तिम लक्ष्य (संभोगादि) मन के सम्मुख आता है और इसी से नायक-नायिका में क्रियात्मिका प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है। तदनन्तर सामाजिक व्यवधान उनके अन्तर में अनेक प्रकार के संवेगों को जन्म देते हैं। इन संवेगों में व्याकुलता सर्वोपरि रहती है। अभिलाष के इस स्वरूप की भाँकी देखनी हो तो निम्न पदों पर ध्यान दें—

(क) स्याम को नाम सुन्यों जब ते इन कानन आनि कहूँ ते बसाई। इत्यादि।

—देवदत्त, सुजानविनोद, पृष्ठ १६

यहाँ नायिका कृष्ण से मिलने का संकल्प करती है, लेकिन लज्जावरोध से उसकी क्रियात्मिका प्रेरणा और अधिक उद्बुद्धा हो जाती है।

(ख) मोर पखा मतिराम किरीट मनोहर, मूरति सों मनु लैगो। इत्यादि।

—मतिराम, रसराम, छन्द ४०१

यहाँ कृष्ण के रूप-सौन्दर्य से प्रभावित नायिका की आकुलता दर्शनीय है।

(ग) ऐसी मति होति अब ऐसी करों आली,

बनमाली के सिंगार में सिंगार वोई करिये।

कहै पद्माकर समाजतजि काजतजि,

लाज को जहाज तजि डारबोई करिये ॥ इत्यादि।

—पद्माकर, जगद्विनोद, छन्द ६४६

यहाँ नायिका की अभिलाषा, व्याकुलता प्रतिपद स्पष्ट कर रहा है और उसकी क्रियात्मिक प्रेरणा उसे सामाजिक मर्यादा, लज्जा, कार्यलीनता आदि का त्याग करने के लिए उकसाती है। “नैनन की आरती उतारिबोई करिये” इन शब्दों में दयित के निरन्तर दर्शन की कैसी प्रबल उत्कण्ठा है।

और उस क्रियात्मिका प्रेरणा से उत्प्रेरित नायिका को देखना हो तो बिहारी-लाल के इस दोहे पर ध्यान दें—

(घ) देखत कछु कौतुक इत, देखौ नकु निहारि,

कब की इकटक डटि रही टटिया अंगुरिन फारि ॥

यहाँ उस प्रेरणा का व्यावहारिक प्रतिफलन खूब हुआ है। टटिया की ओट लेने से सामाजिक मर्यादा की रक्षा भी हो रही है और नायिका की दयित-दर्शनोत्कण्ठा भी चरितार्थ हो रही है।

चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, मूर्च्छा प्रलय आदि में से स्मृति, गुणकथन और प्रलाप ये तीन दशाएँ ही वियोगी-जन के मानस-भाव-सौन्दर्य को प्रकट करने में समर्थ हैं। इनमें से प्रथम दो (स्मृति-गुण-कथन) में प्रेमी के चेतन और अन्तिम में अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन हुआ करता है। स्मृति दशा में प्रेमी के मानस-पटल पर वे चित्र अक्षुण्ण बने रहते हैं जो उसे अत्यधिक प्रिय और उन्मादक प्रतीत होते हैं। गुण-कथन में व्यक्ति प्रिय के सौन्दर्यादि के कथन द्वारा काल-यापन करता है। प्रिय के सौन्दर्य के जिस पक्ष की वह सराहना करता है वही उसके प्रेम सम्बन्धी मानस-भाव की सूचना भी दे देता है। प्रलाप में उत्कण्ठातिरेकवश प्रेमी मोहमयी वाणी उच्चरित करने लगता है। लेकिन उसके मोह में ही उसका अन्तरमानस पूर्णतः भासित हो जाता है। विक्षिप्त-अवस्था में कहे गये उसके “निरर्थक बैन” उसके गूढ़तम हादिक रहस्य का पता देते हैं।

मतिराम का नायक (देखें-रसरज, छन्द ४०४) नायिका की काजल वाली अलसाई हुई उन आँखों की याद करता है जो अति ललित एवं लावण्यपूर्ण हैं। विलास हाव से भरे नेत्रों का तीव्र कटाक्ष नायक के हृदय में काम-शर की भाँति गड़ जाता है जो निकालने पर भी नहीं निकलता। देवदत्त का नायक (देखें-सुजानविनोद, पृष्ठ २०, २१) गुण-कथन करता हुआ गूजरी नायिका के महावर-रंजित कमल-चरण, उसकी मादकध्वनि, आँचल में उभार लाने वाले कुच, संकोच-भार से कुछ लची हुई सुनहरी देह की याद करता है। देवदत्त कृत “प्रेमचन्द्रिका” की निम्न पंक्तियों में नायिका द्वारा नायक-गुण-कथन देखा जा सकता है :—

देव चितवनि लोल बोलनि हँसनि फँस्यो।

कुँडल कपोल मन लोभि लुभि रह्यो है॥ इत्यादि

यहाँ नायक ने नायिका के इन्द्रियोत्तेजक सौन्दर्य का कथन किया और नायिका से भावात्मक सौन्दर्य का बखान करती हुई अपनी तीव्रतर विरहानुभूति को भी अभिव्यक्त करती है। पद्माकर की नायिका (देखें जगद्विनोद, छन्द ६५२) ने अपने रसिक नायक के गुण-कथन-प्रसंग में कहा—छलिया छबीली छैल छाती छवे चलौ गयो।” अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण मतिराम का स्मृति-कथन कुछ ऐन्द्रिय, देवदत्त का गुण-कथन अनुभूति-संवलित तथा भावोद्रेकपूर्ण और पद्माकरकृत गुण कथन बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक बन पड़ा है।

प्रलाप विषयक उदाहरणों में नायक-नायिकाओं के साथ ही तत्कालीन कवियों का अवचेतन मन भी उद्घाटित हुआ है :—

(क) कवि मतिराम ये कुलिस कैसे घाय क्यों हूँ, गनत न कोकिल की कूकन के कसके।
कैसे दरकतु मेरो उर सदा सहि रह्यो, तेरे कुच निपट कठोरन के मसके॥

—मतिराम

(ख) कान्हें कान्ह कहूँ कहि कदली, कदम्बन को, भेटि परिरम्भन में छाकिबो करति है ।
सांवरो जू रावरो यों विरह विकानी बात, वन-वन बावरी लौं ताकिबो करति है ॥

—पद्माकर

यहाँ मतिराम के नायक तथा पद्माकर की नायिका की प्रलापात्मक शब्दावली एवं कदली-कदम्ब वृक्षों के परिरम्भण, दोनों में प्रगाढ़ आलिंगन की अभिलाषा उद्बेलित है । इस युग के अन्तिम चरण के कवियों ने पूर्वरागिनी नायिकाओं का जो वर्णन किया है वह उस उमय की चरम ह्लासोन्मुखी सामन्तीय मनोदशा का प्रतिफलन ही है । तोषनिधि ने पूर्वरागिनी नायिकागत इन दशाश्रों में चिन्ता, गुण-कथन और स्मृति को नायक पर लागू किया है और शेष दशाश्रों को नायिका पर । तोषनिधि का नायक घोर रसिक है :—

कैसे मिले विधि वा अबला किये कोटि कला पलिका में परे जो ।

एक सो ओछे उरोज छपावत औ कर एक सौ नीवी धरे जो ॥

हूँ, हूँ, हहा जिन नाही रहो न गयो कहिके तिय हेरि हरे जो ।

मोद महे कहि तोष यह गहे मोद गरीबी सी सीबी भरे जो ॥

—सुधानिधि, छन्द ४२६

यहाँ चिन्तातुर नायक नायिका के लिये जिस स्वरूप को अंकित करना चाहता है वह अत्यन्त अमर्यादित है ।

मान—प्रणयमान और ईर्ष्यामान संज्ञक दो भेद मान-विप्रलम्भ के शास्त्र-सम्मत हैं । प्रणयमान में वस्तुतः कोई विप्रलम्भ की मानस स्थिति नहीं उत्थित होती । क्योंकि एक तो यह होता ही निहंतुक है और दूसरे दयिय-स्मित आदि से स्वयं शान्त हो जाता है । इसलिये यह प्रणय-अभिवृद्धि में ही कुछ सहायक होता है । ईर्ष्यामान के मूल में यद्यपि ईर्ष्या ही रहती है तथापि वहाँ वस्तुतः क्लेश, अभिमान, क्रोध, घृणा, उदासीनता आदि भावनाओं का संश्लेष मिलता है ।

आचार्यों ने धीरा आदि नायिकाओं को स्वकीया के मध्या, प्रौढ़ा भेदों में रखा है तथा खण्डिता को नायिका के अवस्थानुसार भेदों में गिनाया है । क्या धीरा आदि और खण्डिता नायिकाएँ भी मानवती नायिकाएँ ही हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि धीरा आदि और खण्डिता नायिकाओं को पृथक्-पृथक् कोटियों में परिगणित करने का कोई मनोवैज्ञानिक एवं संगत आधार नहीं प्रतीत होता । मानिनी नायिकाओं के मान के कारण की भाँति धीरा आदि और खण्डिता नायिकाओं के क्रोध-क्षोभ के मूल में भी प्रिय का अपराध ही अनुस्यूत है । स्वभावतः तीनों प्रकार की नायिकाओं का दोष 'मान' ही कहा जाना चाहिए । भिखारीदास (देखें शृङ्गार निर्णय, छन्द ५७) ने खण्डिता के अन्तर्गत धीरा आदि तथा मानिनी नायिकाओं को रखा भी है ।

रीतिबद्ध कवियों ने धीरा आदि और खण्डिता नायिकाओं के वर्णन में अधिक तन्मयता प्रदर्शित की है । इनके मानसिक क्षोभ, क्रोध, ईर्ष्या, क्लेश, खीझ, भुँझ-लाहट आदि का कारण दयित का अपराध विशेष होता है । यह क्षोभ और ईर्ष्या दो

प्रकार से अभिव्यक्ति पाती है—एक नायिका के कथन रूप में और दूसरे नायक-नायिका के संवाद रूप में। नायिका-कथन के मुकाबले संवाद-रूप से अभिव्यक्त व्यंग-विधान में अधिक वक्रता पाई जाती है। नायिका-कथन तो यहाँ अवसाद-पूर्ण एवं विषादात्मक होता है, लेकिन संवाद-प्रसंग में नायक का औपचारिक प्रेम-प्रदर्शन नायिका के मर्म को कुरेद डालता है जिसे देखकर उसकी झुल्लाहट और बढ़ जाती है। अतः, वह अपने रोष को व्यंग्य के सहारे अभिव्यक्त करती है। यह नायिका व्यंग्य-विधान बिहारीलाल, मतिराम, देवदत्त, पद्माकर आदि सभी रीतिकालीन कवियों में दृग्गत होता है। स्वकीय विशिष्टताओं के कारण किसी की नायिका में विषाद का पुट गहरा है तो किसी की नायिका में रोष का। मतिराम की नायिका को देखें :—

कोऊ नहीं बरजे मतिराम, रहो तितही जितही मन भायो ।

काहे को सौहैं हजार करो, तुम तो कबहूँ अपराध न ठायो ॥ इत्यादि

—रसराज, छन्द ४१

यहाँ वह नायक से कहती है कि जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, जाओ। तुम्हें मना कोई क्यों करे ? तुम हजारों शपथ क्यों खा रहे हो, तुमने तो कभी कोई अपराध ही नहीं किया। मुझे मनाने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि मैं मानिनी नहीं हूँ जो कि मनाने से मान जाया करती है। यहाँ नायिका के उदासीनता, अमर्ष और निराशा के भाव प्रकट हो रहे हैं। इसके मुकाबले संवाद-प्रसंग की व्यंग्योक्तियाँ अधिक तीखी हैं। मान-प्रसंग आने पर कभी दयित ने प्रिया से पूछा कि आज तुम इतनी रुखाई से क्यों बोल रही हो और ये तुम्हारी आँखें आँसुओं से पूर्ण क्यों हैं ? प्रिया ने उत्तर में कहा—“कौन तिन्हें दुःख है जिनके तुम से मन भावन छैल छबीले”। इस उक्ति की वक्रता में “मनभावन” और “छैल-छबीले” इन शब्दों के प्रयोग ने और तीव्रता ला दी है। देवदत्त की रस-ग्रहिता उनकी नायिका के विषाद में अधिक गहरी उतरी है। अपनी-अपनी उदासीनता, विषाद, पारतन्त्र्य, मानापमान आदि मानसिक दशाओं को, नायिका सरल परन्तु मर्मस्पर्शी शैली से अभिव्यक्ति देती हुई कहती है—“साथ में राखिये नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहती चार चुरी ये”। अर्थात् नाथ ! उन्हें आप अपने साथ रखें हमें कोई आपत्ति नहीं। हमारे लिये तो इतना ही बहुत है कि हमारा सुहाग बना रहे। इस उक्ति में कितना दैन्य, कितनी विवशता, और कितना अवसाद भरा है ! एक अन्य स्थान पर देवदत्त का नायक नायिका से पूछता है कि प्रसन्न होने पर भी तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों दिखाई दे रहे हैं ? और यह तुम निःश्वास क्यों ले रही हो ? नायिका का सरल किन्तु व्यंग्यपूर्ण उत्तर था—“मेरी आँखों में आपका रूप भरा है जो आधिक्य के कारण वहाँ समा न सका। वही आँसू के रूप में बाहिर निकल रहा है”।

नीके में पीके हूँ आँसू भरौ कत ऊँची उसास गरो क्यों भरयो परै ।

रावरे रूप भरयो अँखियान भरयो, सुभर्यो उबरयो सुढर्यो परै ॥

पद्माकर की नायिका में व्यथा की गहनता देवदत्त जैसी नहीं है तथापि क्षोभ, और आक्रोश की तीव्रता खूब है।

तो पै इत रोवति कहा हो ? कहो कौन आगे ?

मेरे ई जु आगे किए आँसुन उमाहे को ।

को हों मैं तिहारी ? तू तो मेरी प्राणप्यारी, अजी

होती जो पियारी तब रोती कहो काहे को ॥ —जगद्विनोद, छन्द ६२

यहाँ नायक ने नायिका से पूछा, किन्तु तुम रोती क्यों हो ? नायिका बोली किसके आगे ? नायक—अभी मेरे सामने ही तुम्हारे नेत्रों में आँसू उमड़ रहे थे । नायिका—मैं तुम्हारी कौन होती हूँ जो तुम्हारे सामने अपना रोना रोऊँगी अर्थात् तुम जैसों के सामने रोना न रोना बराबर है और फिर मैं तो तुम से उपेक्षिता हूँ । तब नायक ने औपचारिकतावश कहा कि तुम तो मेरी प्राणप्रिया हो । नायिका के क्षोभ-पूर्ण हृदय से व्यंग्य ध्वनि हुई—“अजी, यदि मैं आपकी प्राणप्यारी होती तो रोती ही क्यों ? मुझे प्राणप्यारी कहकर अब हृदय को मत कचोटो ।

बिहारीलाल खण्डिता-वर्णन में बाह्य रति-चिन्हों पर ही केन्द्रित रहे हैं । उसकी मानस-दशाओं के प्रत्यक्षीकरण का प्रयास उन्होंने कम किया है । बिहारीलाल पलकों में पीक, अधरों में अंजन, भाल में महावर, अंगों में किजल, छाती में नखक्षत, अधरों पर दन्तक्षत, बाहुओं पर वेणी का चिन्ह, आँखों में ललाई और आलस्य, उँगलियों में महावर आदि के वर्णन में अधिक उलझे हुए दृग्गत होते हैं । इसीलिए उनकी खण्डिता का व्यंग्य उतना रससिक्त नहीं जितना चमत्कारपूर्ण है । खण्डिता-नायिका-सम्बन्धी इन व्यंग्य-क्षोभ के बाह्य चिन्हों का स्मरण—उल्लेख इस काल के सभी कवियों ने प्रेमपूर्वक किया है । किन्तु बिहारीलाल ने इसका जितना विस्तार किया है उतना किसी अन्य ने नहीं किया । मतिराम, देवदत्त और पद्माकर आदि ने समय-समय पर खण्डिता की मानस-निधि को भी रसिकों के लिए सुलभ किया है ।

प्रवास

किसी कार्यवश अथवा शापवश नायक के अन्य देश-गमन को “प्रवास” संज्ञा दी जाती है । प्रवासी नायक की प्रिया मलिन वस्त्र धारण करती है, आँहें भरती है, रोती कलपती है, भूपतिता होती है । मलिनता असौष्ठव, संताप, पाण्डुता, निर्बलता, अरुचि, अधैर्य, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा और मरण ये काम-दशाएँ प्रवास-प्रभावित नायक-नायिका में दृग्गत होती हैं । पूर्व-राग में उल्लिखित दशाओं का संनिवेश भी प्रवास के अन्तर्गत रहता है । पक्षी अथवा किसी पथिक के द्वारा दयित-प्रिय के समीप संदेश भेजना और चित्र-लेखन भी प्रवास-विप्रलम्भ विषयक रूढ़ियाँ हैं ।

रीतिकालीन कवियों का मन-प्रवास-विप्रलम्भ-वर्णन में नहीं रमा । उनकी भोग प्रधान सामन्तीय दृष्टि इसके अनुकूल नहीं थी । नायिका-भेद के ढाँचे के भीतर जो रूढ़ियाँ समा सकती थीं उन्हें समेट लिया गया । बिहारीलाल ने नायिका-भेद का ढाँचा नहीं ग्रहण किया था । अतः उनकी “सतसई” में प्रवास-विप्रलम्भ को काफी विस्तार मिला है । इन कवियों ने फारसी और सूफी कवियों में “मुबालगा” से प्रभावित होकर ऊहा का खूब प्रयोग किया । यह “मुबालगा” बिहारीलाल में सर्वाधिक

चटकीला है और मात्रा में भी अधिक है। मतिराम ने अपनी 'दोहावली' में बिहारी लाल से स्पर्द्धा करने का प्रयास किया है। देवदत्त भी इन रूढ़ियों से मुक्त नहीं हैं। तथापि बिहारीलाल की अपेक्षा अन्य कवियों में रससिक्तता अधिक है।

शरीर-सन्ताप, शारीरिक निर्बलता-अतिरेक, केकी, कीर, पपीहे की मर्मन्तिक पुकार की परम्परा का पालन थोड़ी-बहुत मात्रा में सब रीतिकालीन कवियों ने किया है। केवल दरबारी "वाह-वाह" के लिए लिखी गई इन उक्तियों में हार्दिक अवसाद को अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य नहीं मिलती। उनकी दूर की सूझ के लिए अवश्य दाद दी जा सकती है, पर हार्दिक-वेदना-वर्णन के सिलसिले में वे प्रशंसा के पात्र नहीं बनते। कुछ शरीर-सन्ताप विषयक चित्र देखें—

(क) आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।

साहस कै-कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति ॥

—बिहारीलाल

(ख) सखिन करत उपचार अति, परति विपति उतरोज।

भुरसत श्रोज मनोज के, परस उरोज सरोज ॥

—मतिराम

(ग) बालम विरह जिन जान्यो न जनम-भरि।

बरि-बरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफ राति ॥ इत्यादि।

—देवदत्त

यहाँ बिहारीलाल के नायिका के शरीर-सन्ताप का जो परिवेश प्रस्तुत हुआ है वह वास्तविक जीवन में अकल्पनीय है। उनकी दूर की सूझ उलझाने वाली है। पाठक नायिका की विरह-वेदना पर ध्यान न देकर उक्तिवैचित्र्य से विमुग्ध हो उठता है। मतिराम ने काम-ज्वर के उपचार के लिए जिस उपाय को अपनाया है वह फिर भी जीवन की यथार्थता के बहुत कुछ अनुकूल है। नायिका की विरह-वेदना का आभास यहाँ भी हल्का ही है तथापि वह पाठक के हृदय पर प्रभाव डालता है। देवदत्त ने ऊहा का सहारा लेते हुए जिस परिवेश को प्रस्तुत किया है, वह भी अस्वाभाविक नहीं है। यहाँ इन तीनों कवियों ने सखियों के उपचार की ओर संकेत किया है, किन्तु देवदत्त की नायिका का दुहराताप (सौत के शाप और तन-ताप मिल कर) उनके द्वारा किए गए उपचार की व्यर्थता को अधिक संगत रूप प्रदान कर देता है। विरह-वश एक पाटी से दूसरी पाटी तक करवटें बदलना तथा शैया पर जल के बाहर पड़ी मछली की भाँति छटपटाने का दृश्य इसमें सजीवता भरता है।

बिहारीलाल ने अन्तःपुर में पालित तोते को भी काव्य में स्थान दिया है—

कहै जु वचन वियोगिनी, विरह विकल बिललाय।

किये न केहि अंशुवा सहित, सुवा सु बोल सुनाय ॥

यहाँ विरहिणी के प्रलाप को सुन कर सुवा उसे दोहराने लगता है जिसे सुनकर श्रोता भी विकल हो उठते हैं। रीतिकाव्यों में केकी, शुक, सारिका, पपीहा, चक्रवाक आदि पक्षी या तो उद्दीपन के रूप में गृहीत हैं या नायक-नायिका के रूप-वर्णन-प्रसंग में

उन्हें उपमान की भूमिका में प्रस्तुत किया गया। देवदत्त की नायिका ने भी नायक-प्रेषित सुवा-दूत से अपना विरह-निवेदन किया है, परन्तु उसमें अपेक्षित गम्भीरता नहीं आ पाई। इस कविता में इस प्रकार के वर्णन वैसे विरल ही हैं।

प्रवास-प्रसंग में दूत द्वारा अथवा पत्र द्वारा प्रिया अथवा प्रिय के पास संदेश भेजना एक काव्य-रुढ़ि है—रीतिकालीन नायिका प्रायः भावावेश के कारण पत्र नहीं लिख पाती। शालीनतावश दूत से संदेश कहने में भी लजाती है। अधिकांश नायिकाओं के सम्मुख पत्र उनकी विरह-ज्वाल से दग्ध हो जाते हैं अथवा अशु-प्रवाह में भीग कर गल जाते हैं। बिहारीलाल की भावाविष्टा नायिका के दर्शन करें—

कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेश लजात ।

कहिहैं सब तेरो हियो, मेरे हिये की बात ॥

जब विरह-तापवशा वह कागज पर अपने हार्दिक भावों को अंकित न कर सकी, लज्जावश संदेश को जबानी कह भी न सकी, तब अकृत्रिम भाव से इतना ही बोली कि उनसे कहना कि मेरे हृदय की बात तुम्हारा हृदय ही कहेगा, उससे पूछ लेना ।

वसंत-आगमन पर पद्माकर की नायिका ने अपने दयित को संबोधन करके जो पत्र लिखा उसमें उसकी मानसिक और शारीरिक विरहोच्छ्वास, पाण्डुतादि दशा अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त हुई—

लागत वसंत के सुपाती लिखी पीतम को,

प्यारी परवीन है, हमारी सुधि आनिबी । इत्यादि ।

—जगद्दिनोद, छन्द १५०

उसने लिखा कि यहाँ का यह हाल है कि मैं विरह-ज्वाल में दग्धा हो रही हूँ, जो दावानल सी दाहक है। मेरी उच्छ्वासों को तुम इस ऋतु में चल रही उदास (मन्द) पवन से पहचान सकते हो। मेरे नेत्रों से अविरल बहने वाली अश्रुधारा का अनुमान इस ऋतु में निरन्तर चलने वाली रंग की पिचकारी से लगा सकते हो। और इस ऋतु के पीतवर्ण के पत्ते मेरे शरीर की पाण्डुता का सही बोध करा सकेंगे।

काय-कृशता का चित्रण बिहारीलाल ने चमत्कार प्रधान चौंका देने वाली ऊहात्मक पद्धति पर किया है। मतिराम ने भी उनका पदानुसरण किया है। शारीरिक निर्बलता का चित्रण पद्माकर आदि कुछ कवियों ने फिर भी यथार्थ जीवन के समीप रहते हुए किया है—

बालम के बिछुरे ब्रजवाल को हाल कह्यो न परै कछु हयां ही ।

चवै सी गईं दिन तीन ही में तब औधि लौं क्यों बचि है छवि छाहीं ॥

‘चवै सी गईं’ शब्दों से जो कृशता सूचित है वह सहज ही श्रोताओं के हृदयों पर छा जाती है।

परकीया और स्वकीया दोनों प्रेषित पत्रिकाओं के संताप और कार्य का चित्रण इन कवियों ने किया है। परकीया-चित्रण में स्मृति-दशा का विशेष कथन

हुआ है। स्मृति मन से संबद्ध है। काल-परिवर्तन के साथ ही चेतन मन पर पड़ी छायाएँ अवचेतन मन में विलीन हो जाती हैं। वहाँ उनका अस्तित्व मिटता नहीं, अप्रकट रूप से वे वहीं बनी रहती हैं। अवचेतन मन में स्थित उन स्मृतियों से संबद्ध अथवा उनसे मिलती-जुलती वस्तुओं के सामने आने पर पुरानी बातें पुनः ताजी-सी हो जाती हैं। पुरानी बातें (घटनाएँ) केवल ताजी-सी प्रतीत होती हैं, मूर्त रूप में लौट नहीं पातीं। अतएव पुरानी सुखद-स्मृतियाँ ताजा होकर एक विशेष कसक को पैदा कर देती हैं। मतिराम की नायिका ने ज्यों ही अपनी स्मृतियों से संबद्ध लता-कुँजों और यमुना-तट को देखा त्यों ही कृष्ण के साथ की गई सारी क्रीड़ाएँ एक-एक करके जाग्रत होने लगीं। हार्दिक विशेष वेदना के प्रभाव से उसकी अश्रुधारा मचल उठी अपनी और श्रीकृष्ण की केलि के साक्षी लता-द्रुम, यमुना-तट और कुँजों के मध्य पहुँच, उसे लगता है कि मानो कुँजों से अभी श्रीकृष्ण निकलना चाहते हैं। वह मार्मिक चित्र इस प्रकार है—

हवाँ मिले मोहन सों 'मतिराम सुकेलि करी अति आनन्दवारी ।

तेई लता द्रुम देखत दुख, चले असुवा अंखियान ते भारी ॥ इत्यादि ।

प्रवास-विप्रलम्भगत विरह-सन्ताप, कृशता, स्मृति आदि के वर्णन के मूल में काम-ज्वर-प्रकोप और अनंग-शर का विष ही है। तोषनिधि जैसे कवियों ने नायिका के द्वारा दयित के प्रवासी होने पर उसके अन्य गुणों की अपेक्षा 'गलबाँही' को अधिक याद कराया है। परवर्ती रीतिकालीन कवि भोगवृत्ति से पीछा न छूट सकने के कारण प्रवास-विप्रलम्भ की गहराई में नहीं उतर पाये ।

भक्ति-सौंदर्य (आध्यात्मिक सौंदर्य) अनन्य-आसक्ति रति—भक्ति के विभिन्न मत-मतान्तरों में ऊपर से अनेक रूपता दृग्गत होती है, परन्तु वे सब एक पूर्ण सत्ता की ओर अनन्य भाव से आकृष्ट हुए हैं और अनन्य भाव की आसक्ति या रति ही दूसरे शब्दों में भक्ति है। पुराण-ग्रन्थों में राम-भक्ति शाखा की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति शाखा का विवेचन अधिक विस्तार के साथ मिलता है। भागवत श्रीकृष्ण-भक्ति का वह जलधि है, जिसमें बाल-केलि की लघु ऊँसियाँ भी हैं और विप्रलम्भ-जन्य उद्ध-वासों की प्रबल झंझाएँ भी उत्ताल तरंगों को उद्वेलित करती प्रतीत होती हैं। रीति कालीन कविता पर हिन्दी के कृष्ण-साहित्य का खूब प्रभाव पड़ा, तथापि कृष्ण-साहित्य के आध्यात्मिक धरातल तक रीति साहित्य नहीं उठ पाया है। रीति-साहित्य सहज साहित्य होते हुए भी परम्परा-भुक्त काव्य-रूढ़ियों के साथ अनेक कृष्ण-लीला की रूढ़ियों को भी अपने चीनाँशुक में संजोये हैं।

प्राक् रीति युगीन कृष्ण-भक्ति की काव्य-धारा भागवत पुराण से बहुत प्रभावित है। कृष्ण की वृन्दावनगत जीवनचर्या (लीला) कृष्ण-भक्ति का प्राण है। नायिका-भेद के ग्रन्थों में राधा-कृष्ण तथा उनसे सम्बद्ध समस्त वातावरण रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त है। उन रूढ़ियों का प्रयोग रीति-कालीन कवियों ने अपने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भ में अपने ढंग से किया है।

भागवत पुराण में श्रीकृष्ण की किशोर-लीला (यौवन लीला) को अभिव्यक्ति

देने वाले चार प्रसंग हैं—वेणु-गीत, चीर हरण, रास और भ्रमर गीत । रीतिकालीन कवियों के मान और खण्डिता तो प्रिय विषय हैं ही । वंशी के सम्बन्ध में अनेक चमत्काराधायिनी उक्तियाँ भी उनकी रचनाओं में उपलब्ध होती हैं । प्रकारान्तर से दान-लीला तथा अन्य प्रसंगों को भी इन्होंने रुढ़ि के रूप में अपनाया ।

इस काल की कविताओं में राधा-कृष्ण के साथ-साथ प्रसंगानुसार ललिता, चन्द्र-कला विशाखा, गोपगोपी, नन्द-यशोदा, उद्धव, बलराम, अक्रूर, कंस, देवकी, वसुदेव, कूबरी आदि के नाम भी आए हैं । श्रीकृष्ण की क्रीड़ा स्थलियों में विशेष कर अभिसार-प्रसंग में यमुना-तट, वंशीवट, करीलकुंज, खरिक आदि का उल्लेख हुआ है । सूरदास आदि भक्त-रसिकों की दृष्टि में माधुर्य उपासना सर्वोपरि थी, उनके कृष्ण चिद्ब्रह्म के विग्रह थे और राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति । गोपियों ने समस्त जीवन-धारियों के प्रियतम, बन्धु, बान्धव और आत्मा की प्रतिष्ठा श्रीकृष्ण में कर ली थी—प्रेष्ठोभवास्तनुभूतां किल बन्धुरात्मा “(देखें भागवत १०।३२) ।” किन्तु रीतिकालीन कवियों के राधा-कृष्ण सामान्य नायिका-नायक के परिधान को प्राप्त कर चुके थे ।

मुरली-प्रसंग भागवत में वेणुगीत के रूप में है । मुरली-माधुरी विषयक सूरदास ने भी प्रचुर पद रचे । भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण के वेणुगीत के व्यापक और गहन प्रभाव से तन्मय हो मयूर नृत्य करने लगते हैं, मृगियाँ कृष्णसार मृगों सहित प्रणय-कटाक्षों द्वारा श्रीकृष्ण की पूजा में तन्मयीभूता हो जाती हैं, सुरांगनाओं के कबरी-पुष्प केश-च्युत और उनके नीबी-बन्ध शिथिल हो जाते हैं, गौएँ निश्चेष्ट खड़ी रहती हैं, बछड़े-बछड़ियाँ मुख के दूध को टपकाते हुए स्तब्ध हो जाते हैं । विहग शाखाओं पर निर्निमेष नेत्रों से श्रीकृष्ण को देखते रह जाते हैं । चेतन प्राणियों के अतिरिक्त जड़ नदी-प्रवाह भी श्रीकृष्ण की मुरली माधुरी से विजड़ित हो जाता है । संगीत में चित्त को द्रवित करने की जो अपूर्व क्षमता है वह श्रीकृष्ण की मुरली में पूर्णतः सन्निविष्ट है । श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष के असाधारण वेणु-वादन का मार्दव कैसा अपूर्व और कितना प्रभावशाली रहा होगा, इसका अनुमान नहीं लग पाता । बल्लभाचार्य ने भागवत की सुबोधिनी टीका में वेणु-गीत का प्रतीकात्मक अर्थ दिया है । इससे भगवान् के नामात्मक स्वरूप का बोध होता है । सूरदास ने बल्लभाचार्य के इस प्रतीकात्मक अर्थ को तो अपने अन्तर में स्थान दिया ही होगा ।

संगीत विशारद सहृदय भक्त सूरदास ने मुरली की स्वर-माधुरी का मानस साक्षात्कार भी किया होगा । यही कारण है कि सूरदास की मुरली विषयक उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक और आह्लाददायिनी हैं । सूरदास ने वेणुनाद-माहात्म्य के अतिरिक्त गोपियों को मुरली से छेड़छाड़ करते हुए सापत्य-वश असूया हाव प्रकट करते हुए ही चित्रित किया है ।

मुरली की तान सुन कर उन्मत्ताओं की भाँति ब्रजबालाओं को कुल-कानि छोड़ते हुए रीतिकालीन कविता में भी चित्रित किया गया है—

(क) किती न गोकुल कुल बहु काहिन किहि सिख दीन ।

कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन ॥

—बिहारीलाल, बि० बोधिनी दो० २२

(ख) गोधन की गति बेनु बजै कवि देव अबै सुनि के धुनि आमें ।

लाज तजी गृहकाज तजे मन मोहि रही सिगरी ब्रजवामें ॥

—देवदत्त, भाव-विलास, पृष्ठ ५

स्पष्ट ही इनमें भागवत की मुरली-माधुरी का-सा व्यापक प्रभाव और सूरदास की वेणु-ध्वनि की-सी आकर्षक लय नहीं है, जिससे जड़-चेतन युगपद ही तन्मय हो उठते हैं। रीति-कालीन कवियों की राधिका तथा अन्या गोपिकाएँ मुरली-ध्वनि को प्रायः अभिसरण-संकेत मानती हैं। और अभिसरण—स्थल के लिए भी वे प्रत्येक अवस्था में दौड़ नहीं पड़तीं और जब आतुरा हो दौड़ भी पड़ती हैं तो मुरली-माधुरी उन्हें इतना हाव-विह्वला नहीं बना पातीं कि वे जिस किसी भी व्यवधान की उपेक्षा करके दयित (प्रिय) के अनन्य सामीप्य का लाभ कर सकें। इनके यहाँ श्रीकृष्ण भी कामवश हो बाँसुरी बजाते प्रतीत होते हैं। उनके सहेट-स्थल पर न पहुँचने के कारण राधिका का शरीर संतप्त हो उठता है, मुख पीला पड़ जाता है, आँखों में आँसू उमड़ पड़ते हैं—

साँझ समै मतिराम काम बस बंसीघर ।

बंसीवट तट पै बजाई जाय बाँसुरी ॥ इत्यादि ।

—मतिराम, रसराम, छन्द ६२

मुरली-नाद सुनकर इनकी राधिका सदा कुलकानि नहीं छोड़ती, लेकिन उसे सुन कर जो मादक प्रभाव उस पर पड़ता है उसे देखने के लिए देवदत्त कृत निम्न पद पर ध्यान दिया जाय—

बाँसुरी सुनि देखन दौरि चली जमुना जल के मिस वेग तबै ।

कवि देव सखी के संकोचन सों करि ऊठसु औसर को बितवै । इत्यादि ।

—देवदत्त, भाव-विलास, ६७

भागवत पुराण और सूरदास कृत “सूरसागर” में मुरली के प्रति गोपियों के सापत्न्य का बहुशः उल्लेख हुआ है। रीतिकालीन कविता में मुरली को लुका कर रखने से हाव-विधान के द्वारा प्रिय को रिझाने और खिझाने का अनुकूल अवसर ढूँढ़ा गया और वे नायिका के हावों से नायक को रिझाने और खिझाने में कामयाब हुए, इनमें सन्देह नहीं। इस रीझ-खीझ का मूल उद्देश्य बतरस लालच था—

बतरस लालच लाल की मुरली घरी लुकाय ।

सौह करे मौहनि हँसै दैन कहे नटि जाय ॥

—बिहारीलाल

मान के प्रसंग में भी मुरली पर भी इनका ध्यान गया—

आजु की घरी तैं लै सुभूलिहू भलै ही स्याम,

ललिता को लै नाम बाँसुरी बजैवो जिन ॥

—मतिराम, जगद्विनोद, छन्द ६३३

यहाँ एकदा श्रीकृष्ण ने ललिता का नाम लेकर मुरली टेर दी। दयित के मुख से (भले ही वेणु-वादन प्रसंग में ही) अन्या अभीप्सिता का नाम सुन कर राधिका मान

धारण कर बैठों, तब श्रीकृष्ण को सीख देते हुए राधिका-सखि ने कहा कि अब इस बात का सदा ध्यान रखना कि कभी भूल कर भी ललिता के नाम को लेकर बंसी न टेरेना। इसमें भी वही बतरस लालच से वंचित होने का भय लक्षित किया जा सकता है।

रीति-काव्य में रास का वर्णन कम ही है। लेकिन जहाँ-कहीं है भी वहाँ या तो 'लहाछेह' नृत्य-चमत्कार है अथवा इसका चित्रण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत है। दानलीला—प्रसंग में तो श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से गौ-रस 'इन्द्रिय-रस' की अभिलाषा प्रकट करते हैं। गौ-दोहन-वेला में बछड़े-बछड़ी का खो जाना, फिर उनकी खोज के सहाने निकल कर राधिका-कृष्ण का परस्पर एकान्त मिलन विषयक-लौकिक प्रेम क्रीड़ा के वर्णन अधिक हैं, निश्चय ही उनमें धार्मिक विश्वासों की व्यंजना नहीं है। कुंज शब्द का प्रयोग भी रीतिकालीन कविता में खूब है। लेकिन वह कुंज भी यहाँ अन्य पुराण सम्बन्धी नामों की भाँति अपना मूल अर्थ खोकर सहेट स्थल का प्रतीक बन गया था। नायिकाएँ अभिसार के लिए कुँजों में ही जाती हैं, श्रीकृष्ण राधिका को कण्ठ से लगाकर इन कुँजों में ही छिप जाते हैं, वहीं वे रात्रि में बालबधू के संग रमण भी करते हैं। स्पष्ट ही इस कविता में गौ, गोपी, मुरली, रास, कुंज आदि को अपने ढंग से ग्रहण किया गया है, ये शब्द बहुत कुछ 'टाइप' बन चुके थे। इनके नामोल्लेख पौराणिक, धार्मिक विश्वासों की व्यंजना न हो कर लौकिक प्रेम क्रीड़ाओं की अभिव्यक्ति होती है।^१

भावयोग—अद्वैत-भावना पर उत्थित

सगुणोपासक सन्तों ने ब्रह्म के निविशेष स्वरूप को गृहीत नहीं किया। उन्होंने ब्रह्म में विशिष्ट बुद्धि का आरोप करके अपनी भक्ति-भावना के लिए सुदृढ़ आधार पा लिया। इस वैशिष्ट्य-बुद्धि के कारण ही उन्होंने अपनी रचनाओं में दार्शनिक अद्वैत-वाद को प्रसार दिया। आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं है। निर्गुणवादियों के द्वारा भी आत्मा-परमात्मा के एकत्व पर ही बल दिया गया। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति कोई मौलिक भाव नहीं है। मूलतः यह रति भाव ही है। संस्कृत शास्त्रकर्ताओं ने भक्ति को देव विषया रति कह कर अपनी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-बुद्धि का परिचय दिया है। जीव गोस्वामी ने पूर्णतत्त्व के तीन पहलुओं का निर्देश किया है—ब्रह्मन्, परमात्मन् और भगवत्। उस तत्त्व का यह वर्गीकरण उपासना की योग्यता-वैशिष्ट्य के आधार पर हुआ है। भगवत् में सम्पूर्ण वैशिष्ट्य की स्थिति स्वीकृत करके जीव गोस्वामी ने इसे भागवत् का उपास्य कहा है। भगवत् और भागवत् की एकात्मकता भक्ति योग द्वारा संभव है। प्रेमी और प्रिय के मध्य रति की आत्यन्तिक (अनन्या) स्थिति दोनों में तादात्म्य स्थापित करती है। यह तादात्म्य ही भावयोग की संज्ञा पाता है। चरम भावावेश में भक्त अपने को भगवान् (अहंब्रह्मस्मि) और प्रेमी अपने को पूर्णतः प्रिय समझ लेता है। भागवत् पुराण में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर श्रीकृष्ण की लीलाओं

का अनुकरण करती हुई गोपियाँ इतनी तल्लीन हो गईं कि उन्हें अपने में कृष्णत्व भासित होने लगा (भागवत १०।३०।३) भावयोग की यह स्थिति भक्त कवियों की रचनाओं में भी अत्यन्त विरल है, यह विरलता रीतिकालीन कविता में भी उपलब्ध होती है। भाव की यह चरम स्थिति विप्रलम्भ—प्रसंग में ही प्रकाश में आती है, क्योंकि संयोग-शृंगार में इसके लिए अपेक्षित राग-सान्द्रता नहीं जुटती। प्रिय-ध्यान-मग्ना बिहारीलाल की नायिका वही हो रही है—

पिय कै ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि।

आपु आपुहीं आरसी, लखि रीभक्ति रिभवारि॥

देवदत्त-वर्णिता राधिका भी उन्माद की अवस्था में कान्हूमयी हो जाती है—

कान्हमई वृषभानुसुता भई प्रीति नई उनई जिय जैसी इत्यादि।

रीतिमुक्त कवियों का शारीरिक और भाव सौंदर्य

शारीरिक-सौंदर्य—वस्तुतः इस काल के रीतिमुक्त या स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों को रीतिबद्ध कवियों से सर्वथा पृथक् कोटि का नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस सामन्तीय वातावरण में रीतिबद्ध कविताओं का सृजन हुआ था वह अभी बहुत-कुछ वैसा ही बना हुआ था, और अधिकांश रीतिमुक्त कवि भी रीतिबद्ध कवियों की भांति दरबारों के आश्रम में पल रहे थे। आलम औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय में रहते थे, घनश्यामसिंह मुहम्मदशाह रंगीले के मीर मुन्शी थे। बोधा पन्ना-नरेश के राजकवि थे और ठाकुर विजावर की छत्र-छाया में रहे। इनमें अधिकांश के भीतर राजसभा के गौरव की लिप्सा थी। ठाकुर की घोषणा से यह स्पष्ट है—

ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राज सभा में बड़प्पन पावै।

पंडित और प्रवीनन को जोइ चित हरै तो कवित कहवै॥

इस समय भी श्रेष्ठ कविता की कसौटी राजसभा से आदर और वहाँ उपस्थित दरबारी पंडितों और कलावन्तों का चमत्कृत होना ही था। इसलिए इनके लिए भी यह आवश्यक ही था कि ये अनुठी उक्तियाँ कहते, क्योंकि उक्ति-वैचित्र्य के अभाव में राजसभा और पंडितगण दोनों से ही प्रोत्साहन न मिलने की सम्भावना थी। सामन्तीय दरबारों में बड़प्पन पाने के ढंग में जो परिवर्तन मध्यकाल में हुआ उसके कारण राजसभा में उपस्थित सरदारों-सामन्तों के लिए नायिका-भेद, रस, अलंकार आदि का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना भी अभीष्ट न था। इस प्रकार के शास्त्रीय विवेचन की बौद्धिक क्षमता तो पहले से ही जाती रही थी। १८वीं शती के अन्तिम चरण में तो वह सर्वथा निःशेष ही हो गई। औरंगजेब की मृत्यु के बाद देश में जो अराजकता और अव्यवस्था फैली वह गम्भीर चिन्तन के लिए अनुवरा थी। भले ही इस काल के सामन्त—सरदार गम्भीर चिन्तन—मनन से कतराए, लेकिन शृंगार—कविताओं से बराबर वे अपना मनोरंजन करते रहे।

रीतिमुक्त कविता में भी धीराधीरादि, मानवती और खण्डिता नायिकाओं का स्वर प्रखर है। विलास की विविध अवस्थाओं और स्थानों के चित्र भी इनकी

कविताओं में दिखाई पड़ते हैं।^१ वैसे इन कवियों की दृष्टि रीतिबद्ध कवियों की भाँति अतिशय स्थूल एवं शारीरिक नहीं है। छन्दगत ढाँचा भी इनका रीतिबद्ध कवित्त जैसा ही है। राधाकृष्ण, गोपाल और गोपी यहाँ भी प्रेम के प्रतीक के रूप में गृहीत हुए हैं। चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति केवल रीतिबद्ध कवियों में ही नहीं पाई जाती, रीतिमुक्त कवि भी इससे सर्वथा मुक्त नहीं हैं। घनानन्द का शैलीगत चमत्कार सर्व विदित है। उनकी कविता में विरोधाभास का आधिक्य इसी तथ्य की ओर संकेत कर रहा है। ब्रजभाषा पर घनानन्द को पूर्ण अधिकार प्राप्त था। फिर भी उनकी कविता की कलागत जागरूकता से इस बात की सूचना मिलती है कि वे एक सचेत कलावन्त थे। ठाकुर की कविताओं में लोकोक्तियों की बहुलता भी इसी प्रवृत्ति की परिचायिका है। यह ठीक है कि उनकी प्रतिभागत विशेषता के कारण वे लोकोक्तियाँ उनकी कविता का अंग बन गई हैं। स्पष्ट है कि सामन्तीय दरबारों को चमत्कृत कर गौरव-लाभ करने के प्रति इनके मन में भी आकर्षण बना हुआ था।

फिर भी इन कवियों के दृष्टिकोण में कुछ ऐसी मौलिकता और नवीनता थी, जिसके कारण ये रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी से पृथक् परिगणित हुए। रीति के आवरण में लिपटे हुए भी घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि अपनी आभा विकरित करते हैं। यह उनकी विशिष्टता है। इन लोगों ने साहित्यिक परम्परा और नैतिक मूल्यों के प्रति नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। विशेष बात यह है कि न तो ये लोग सामयिक साहित्यिक परिपाटी के दलदल में नाक तक धँसे और न इन्होंने रीतिग्रस्त नैतिक मूल्यों को ही अंगीकृत किया। नई साहित्यिक परम्परा की स्थापना तथा नवीन मूल्यों के प्रतिष्ठापन द्वारा इन कवियों ने कुछ सामयिक अभिजात मान्यताओं को परिवर्तित कर डाला। इन नवीन आदर्शों के प्रवर्तन के मूल में इनका प्रेम सम्बन्धी विशिष्ट दृष्टिकोण रहा। वह रीतिबद्ध कवियों की भाँति माँसल न होकर सूक्ष्म एवं मानसिक था। इनका एकनिष्ठ, गहन और ऐकान्तिक प्रेम पूर्णतः नायिका-भेद के शास्त्रीय चोखटे में फिट नहीं हो सकता था। उन दिनों कवियों की काव्य-प्रेरणा का उत्स प्रत्यक्षतः हृदय की भावभूमि न होकर कविता-लक्षण सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थ थे। परन्तु इन कवियों की कविता रीतिकालीन मनोवृत्तियों से प्रभावित होकर भी कवि हृदय की भावाभिव्यक्ति की अनुकूलता से उत्प्रेरित थी।

इनकी कविताओं में वैयक्तिक संस्पर्शों से जो मार्मिकता और रसाद्रंता सनि-विष्ट हो गई है वह उन्हें रीतिबद्ध कवियों से अलग एक दूसरी कोटि प्रदान करती है। यहाँ पर नायक-नायिका-भेद के सँचें में ढले हुए प्रेमी-प्रेमिका के दर्शन नहीं होते। यहाँ तो कवि की अनुभूतियों ने स्वयं कविता का आकार धारण कर लिया है। रीतिबद्ध कवियों के नख-शिख-वर्णन तथा स्थूल सम्भोग व्यापारों के चित्रण बहुत कुछ फोटोग्राफी कहे जा सकते हैं। नारी की प्रत्येक बाह्याकृति उनके कमरे के फोकस

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सम्पादित घनानन्द कविता छन्द १८७, २१६, २२३, २६१, ३११, ३१५; लाला भगवानदीन सम्पादित 'आलमकेलि' पृष्ठ ५ वयः सन्धि, पृष्ठ १० अभिसार, पृष्ठ ६७-७३ खण्डिता।

में आ गई है। पर हृदय के जीवन्त स्पन्दनों को कैमरे का लेन्स कैसे पकड़ सकता है। यह कार्य रीतिमुक्त कवियों ने किया है। इस धारा के कवियों ने जीवन की अनुभूत वेदनाओं को सहज भाव से वर्णचित्रों में सजीव कर दिया है, इसीलिए इनके काव्य की संवेदनशीलता अधिक प्रेषणीय तथा मर्मस्पर्शी बन पड़ी है।^१

संयोग-शृंगारगत—इन कवियों की रचनाएँ उतनी ही मानवीय हैं, जितनी अन्य कोई रचना हो सकती है। इनके प्रेम के मूल में कोई सजीव मानवीय प्रतिमा है। उसके रूप और गुण पर ये मुग्ध थे। इन कवि-कविताओं के प्रेरणा-केन्द्र भी वे प्रेमिकाएँ हैं, जो इनके जीवन में नहीं आ सकीं। इस लौकिक व्यवधान ने ही इन्हें यह प्रेरणा दी, जिससे इनके अन्तर्-मन की अभिलाषाएँ, चिन्ताएँ आदि कविता का बाना धार कर मंच पर आ गईं। इन प्रेमिकाओं के रूप में एक जादू है, जो इन्द्रियों को वशीभूत कर लेता है और प्रेमियों के अन्तस् पर अमिट छाप छोड़ जाता है। रूप के प्रभाव का घनत्व ही इनकी प्रेमिकाओं के सौन्दर्य का मापक है। सौन्दर्य सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण रूप के प्रभाव के प्रति जितना सचेत है, उतना स्थूल अंगों के प्रति नहीं है। संयोग-वर्णन-प्रसंग में इस चेतना का अंकन मुख्यतः हुआ है। संयोग-शृंगार परक आमोद-प्रमोद के चित्र इनकी रचनाओं में कम हैं, और जो हैं, वे भी प्रायः ऋतु-सम्बद्ध पर्वों के संदर्भ में हैं।

इन कवियों में आलम अपने को रीति—परम्परा से अधिक मुक्त नहीं कर सके। बोधा को विरह-निवेदन से अवकाश नहीं मिला। ठाकुर के रूप-वर्णन में घन आनन्द की-सी प्रभावोत्पादकता नहीं है। घन आनन्द के सौन्दर्य-चित्र सर्वाधिक भंगिमा-पूर्ण रससिक्त एवं रंगीन हैं। घन आनन्द ने अपने प्रिय (सुजान वेश्या) का रूपांकन करने के उद्देश्य से रीतिबद्ध कवियों की भाँति स्थूल अप्रधान यौन-अंगों के आकार और व्यापार का वर्णन प्रस्तुत नहीं किया है। वे तो मुख्यतः सुजान के तरल सौन्दर्य पर रीके हुए हैं। इनके प्रिय की पात्रता का आधार है—रूप और गुण। घन आनन्द की सुजान में इन दोनों का मणि-कांचन योग उपलब्ध होता है। मोतियों की आभा जैसी तरलता सुजान के अंगों में प्रतिभासित होती है। घन आनन्द ने इस लावण्य को ही निरखा है विशेषकर। इसके साथ ही प्रिय की भंगिमाओं, तिरछी चितवन, प्रेम-पूर्ण वार्तालाप, सरल हास्य आदि के रेशमी ताने-बाने से भी प्रिय-सौन्दर्य-जाल बुना गया है। अत्यन्त कलात्मक ढंग से अंकित कुछ ही रेखाओं के सहारे उभरने वाले उनके प्रिय का एक प्रभावोत्पादक चित्र इस प्रकार है—

भलके अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छवै ।

हँसि बोलनि में छवि फूलन की वरषा, उर ऊपर जाति है ह्वै ॥ इत्यादि

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र संपादित 'घनआनन्द' पृ० २

वहीं पर सलज्ज चितवन, सरस वार्तालाप, हास्य और अंग-भंगिमा का मोहक ऐन्द्रिय दृश्य भी है—

लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाव भरी ।

लसति ललित लोल चल तिरछानि में ॥ इत्यादि

—वही, घनानन्द, पृ० २

वस्तुतः प्रिय की शोभा अपार है उसे उक्ति के आकार में बाँध सकना घन आनन्द को संभव प्रतीत नहीं होता—

पानिप अपार घन आनन्द उकति ओछी ।

जतन जुगति जोन्ह कौन पै नपति है ॥

—वही, छन्द १५६

सुजान के रूप के सम्बन्ध में उनका कथन है कि भला कहीं प्रयास करने पर भी कोई चन्द्रमा की चान्दनी की पैमाइश कर सकता है ?

गुण—सौन्दर्य के सिलसिले में कहा जा सकता है कि प्रिय-विहित-नृत्य-गीत और वाद्यादि प्रेमोत्पादन में बड़ा सम्मोहक सिद्ध होता है। नृत्य के अन्तर्गत भाव-भंगिमाएँ, अंगों के मादक—आवर्त (मरोड़-मटक) और भाव-पूर्ण मुद्राएँ स्वतः वशीकरण से कम नहीं हैं। प्रिय के गायन को सुनकर उठने वाली आनन्दा-नुभूति भी अनोखी होती है। बिहारीलाल जैसे कलापारखी भी “तन्त्री नाद कवित्त रस और रस राग” में डूबे थे तो भला घन आनन्द जैसे प्रेमी कवि जीव का हृदय प्रिय (सुजान) के नृत्य, वाद्य और गीत से क्यों न उद्वेलित हो पाता ? अपनी प्रेमिका के नृत्य, अभिनय या मुद्राओं पर सुग्ध घनानन्द की बुद्धि बिक गई, गति विस्मृत हो गई और सुधि-बुधि जाती रही—

रूप मतवारी घन आनन्द सुजान प्यारी, धूमरे कटाछि धूम करै कौन पै धिरै ।

नाच की चटक लसै अंगनि मटक रंग, लाडिली लटक संग लोयन लगै फिरै ॥

इत्यादि ।

प्रवीणा सुजान के वीणा-वादन पर भी घन आनन्द न्योछावर हो गए। वीणा के तार सुजान उमेठती थी परन्तु उस वीणा के तारों से प्रेमी घन आनन्द के मन के स्वर बजते थे। जिन्हें सुनकर घन आनन्द पर सौ गुना रंग छा जाता था। वीणा के तारों को वह प्रवीणा ऐसी कोमलता से खींचती है कि लाज के साहचर्य से उसकी सुधराई निखार पा जाती है—

‘जान प्रवीन के हाथ को बीन है मौंचित राग भरयौ नित राजे’ ॥ इत्यादि ।

इस प्रकार घनानन्द ने अपने प्रिय की छवि का रूप-गुण समन्वित आह्लादपूर्ण अंकन किया है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत नायक-नायिका के वाणी, वेश और चेष्टा के द्वारा संभोगेच्छा प्रकट करने से लेकर परस्पर आलिंगन-चुम्बन, सुरत, सुरतान्त के व्यापार तक सम्मिलित होते हैं। रीतिबद्ध कवियों ने संयोग-शृंगार में इन सब व्यापारों का विशेष ब्यौरेवार वर्णन उपस्थित किया है। रीति-मुक्त कवियों का मन इन प्रसंगों में विशेष नहीं रम पाया। यहाँ तो प्रिय के साक्षात् मात्र से प्रेमी का हृदय उमड़ उठता है, वाणी मौन साध लेती है और आँखें उस

रूप माधुरी से चूंधिया जाती हैं। या उसकी रूपाभा से दिग्भ्रम हो जाता है, उसके सम्मुख उन्हें और कुछ सूझता नहीं। दिग्भ्रम में डालने वाले सुजान के रूप में फँस, मानो धन आनन्द की मति शेष हो रही। उन्होंने कहा—

चेतक रूप रसीले सुजान, दई बहुतै दिन नेकु दिखाई।

क्रोध में चौध भरे चख हाय, कहा कहीं हेरनि ऐसी हिराईः। इत्यादि।

ठाकुर भी अपने 'उन' को देखकर संभ्रम में पड़ते हैं—

ठाकुर हों नसकों कहिके अब का कहिए हरि सों यह चूकन।

देखि उन्हें न दिखाई कछु ब्रज पूरि रह्यो चहुँ ओर चहूँकन॥

वियोग-प्रधान इन कवियों को वैसे तो संयोग का अवसर ही न मिलता था, जब कभी वह मिला है तो उस समय आँसुओं की झड़ी के कारण न प्रिय को जी भर के देखते बिना और न उससे कुछ सन्देश ही कहते बना। अविरल अश्रुधारा प्रिय—साक्षात् से उन्हें वंचित कर देती है। ऐसे प्रसंगों में शारीरिक मिलन की अभिलाषा विद्यमान है अवश्य, परन्तु विरहाश्रु उसमें पूर्णता नहीं आने देते—

जो कहूँ जान लखै धन आनन्द तो तन नैकु न औसर पावन।

कौन वियोग भरे अँसुवा, जु संयोग में आगेई देखन धावत॥

—धन आनन्द

रीतिमुक्त कवि संयोग-शृंगार-वर्णन में अधिक उत्साह नहीं दिखा सके, इसीलिए नायक-नायिका के परस्पर हास-परिहास-वर्णन का उन्हें विशेष अवकाश न मिला। तथापि धन आनन्द की कविता में नायक-नायिका के हास-परिहास विषयक कुछ मार्मिक स्थल हैं, यथा

चोली चुनावट चीन्है चुभै चपि होत उजागर दाग उत्तू के।

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सम्पादित, धनानन्द, छन्द २५७

यहाँ निजालिगनोत्सुक नायक से नायिका ने निषेधपूर्वक कहा कि अरे! तुम तो चतुर हो, इसके लिए इतने व्यग्र क्यों हो रहे हो? यह सयानों की रीति नहीं है। चूक मत करो। ऐसी करतूत पर क्यों तुले हो? थोड़ा धैर्य धारण करो। मुझे पाने की घात न लगाओ। बस देखकर ही जीते रहो। मुझे स्पर्श मत करो। क्या तुम देखते नहीं कि स्पर्श के दबाव से चुनावट की चोली पर बने बेल बूटों के दाग शरीर पर उभर आते हैं। 'देखिये जियो' में परिहास का बड़ा मधुर और प्रणय का स्निग्ध—चित्र प्रस्तुत हुआ है। अंग-स्पर्श-निषेध विषयक स्त्रीजनोचित कारण यहाँ प्रेम को अधिक उद्दीप्त कर देता है।

एक अन्य स्थल पर नायक नायिका के रूप-रस से तृप्त होते हुए उसे पकड़ने की घात लगा रहा है, लेकिन उसका बस नहीं चलता। बुद्धि हार मान जाती है। नायिका चौंक कर चलती है और अपने अपूर्व वेश-विन्यास से नायक को छलती जाती है। साथ ही अपने पकड़े जाने के भय से अपनी छाया तक का भी नायक से स्पर्श नहीं होने देती। धूँघट की ओट से नायक पर कटाक्षपात तो करती है, परन्तु पकड़े जाने के नाम पर अंगूठा दिखा देती है। रसिक नायक मन-भावती की इस छलना को अपने नेत्रों में अंजन की तरह आँज कर अपने को धन्य मानता है—

दाँव तकै, रस रूप छकै, तियके मतिपै अति चोपनि धावे ॥ इत्यादि

—घनानन्द

ऋतु-पर्व (होली) के प्रसंग में इन्होंने ग्वाल कवि के सहस्र काम-गुरु का ध्यान कर नायक-नायिका के विविध रूप, मानसिक उल्लास और भाव-भंगिमाओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। रीतिमुक्त कवियों में घन आनन्द का होली-चित्रण विशेष है। पद्माकर के संदर्भ में उसे भली-भाँति समझा जा सकता है। पद्माकर ने इस प्रसंग में लिखा—

ऐसे कड़े मन गोपिन के तन मानो मनोभव भोंइ से काढ़े ॥ इत्यादि ।

—पद्माकर

पद को पढ़कर घन आनन्द का निम्न पद पढ़ने वाला पावेगा कि इस होलिका-वर्णन में नायिका की शोभा और भंगिमा को खूब उभार कर प्रस्तुत किया गया है। “हाव” की सुन्दर योजना से नायिका का हृदयस्थ भाव अत्यन्त प्रभावपूर्ण हो गया है। और नाटकीयता के गहरे पुट ने इस सारे दृश्य को सजीव बना दिया है और यह सजीवता निश्चय ही प्रेमोत्पादक है और उद्दीपन का हेतु भी—

गोरी बाल थोरी बैस, लाल पै गुलाल मूटि

तानि के चपल चली आनन्द उठान सों ॥ इत्यादि ।

—घन आनन्द

सुरत और सुरतान्त के चित्र वैसे तो इन कवियों में थोड़े ही हैं। परन्तु जहाँ भी ऐसे वर्णन हैं वहाँ मानसिक उल्लास ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रसंग में घन आनन्द का निम्न पद में सुजान का ऐन्द्रिय चित्र-दर्शनीय है—

पौढ़े घन-आनन्द सुजान प्यारी परजंक,

धरे घन अंक तऊ मन रंक गति है ॥ इत्यादि ।

यहाँ प्रेमी-प्रेमिका एक ही शैया पर लेटे हैं। नायिका का समस्त शरीर नायक के अंक में है तो भी उसके मन की दशा उस दरिद्र की भाँति है जो एक बार धन प्राप्ति होने पर उसे मानो दाँतों में दबाकर रखता है। यद्यपि नायक का अंग-प्रत्यंग नायिका के अंग-प्रत्यंग का स्पर्श-सुख अनुभव कर रहा है, तब भी उसका अतृप्त मन नाना कामनाओं के जाल में फँसा है। कभी वह आनन्द-विभोर हो उठता है, कभी प्रिया को एकटक निहारता रहता है। यहाँ शारीरिक और मानसिक भावोन्मिषों का अद्भुत संगम है। पायल की झनकार, परस्पर संयोग-सुख-अनुभवलीन नायक-नायिका की ‘सी-बी-सी’ के न रहते हुए भी इस चित्र की ऐन्द्रिय प्रभावोत्पादकता रीतिबद्ध कवियों के चित्रों से किसी भी तरह कम नहीं है।

विप्रलम्भ-शृंगारगत—इन कवियों का मुख्य क्षेत्र विप्रलम्भ-शृंगार-वर्णन ही है।

वहीं इनकी अनुभूति की तीव्रता और निखरी हुई प्रतिभा दृग्गत होती है। संयोग-वर्णन की विशेष झलक इनमें नहीं रही। ये स्वयं विरहाग्नि में तपे थे। विरह-प्राण इन रीतिमुक्त कवियों ने प्रिय-विरह में तड़पते हुए हादिक व्याकुलता, निशिदिन आँसू बहाने वाले नेत्रों की विवशता, वेदना, दैन्य, कष्टपूर्ण उपालम्भ आदि की मार्मिक

अभिव्यञ्जना की। इनकी क्षोभमयी वेदना को हृदयंगम करने के लिए इनका व्यक्तिगत जीवन सहायक बनता है। इनके जीवनगत प्रेम की भयंकर निराशा ने इनके मानस में जो टीस उत्पन्न की बस वही इनकी कविताओं का मूल उद्गम है। इनकी कविताएँ इस मानसिक निराशा के उन्नयन एवं उदात्तीकरण के संदर्भ में हैं। विरह-वेदना के असह्य होने के कारण प्रायः इन्होंने विरह की अनिर्वचनीयता और उस मार्ग की दुरूहता का आख्यान किया है। घनानन्द ने जिस पथ को अपनाया वह कैसा कठिन था यह देखना हो तो पढ़ें—

“रैन दिना घुटिवो करै प्रान भरें दुखिया अखियाँ भरना सी।” इत्यादि।

यहाँ ‘परौ जिन कोऊ सनेह की फांसी’ इन शब्दों में घन आनन्द का टीस भरा अंतर मानो हमें मीराबाई के ‘जो मैं ऐसा जानती प्रीति किए दुख होय, नगर ढिठोरा पीटती प्रीति करो जिण कोय।’ इन शब्दों की याद दिलाता है। प्रेम की तड़प का यह कैसा भावपूर्ण चित्र है। ठाकुर ने भी ऐसा ही कहा—

ठाकुर जौ या कथा सुनि पावतो तो सुनि वे कहै कान न देतो।

जानतो जौ इतनी परतीत तो प्रीति की रीति को नाम न लेतो ॥

यहाँ ठाकुर ने बड़े सादे शब्दों में प्रेम-पथ की दुरूहता के विषय में कहा है। जबकि घन आनन्द के शब्दों में संगीत के साथ ही मन में एक स्थायी दर्द भरी गूँज भी भर देने की सामर्थ्य है।

इनकी दृष्टि से वियोग-जन्य वेदना इतनी तीव्र और मर्मस्पर्शनी होती है कि उसे यदि वाणी द्वारा अभिव्यक्त किया जाय तो उसकी गम्भीरता जाती रहती है। वह तो मानो अनुभूति का ही विषय बनने योग्य है—

कंत रमै उर अन्तर में सु लहे नहीं क्यों सुख रासि निरन्तर ॥ इत्यादि

अग्य विरही जन जिसके विरह के आगे दाँतों तले अंगुली दबाते हैं ऐसी विरहिणी ने यहाँ बताया कि जो कष्ट प्रिय-विरह के कारण मैं रात-दिन सहन कर रही हूँ उसके गाम्भीर्य को वे दिन-रात ही समझ सकते हैं। ‘बखाने ते जाय परै दिन-राति को अन्तर’—उस दुःख की वास्तविक अनुभूति और उसके बखान में दिन-रात का अन्तर बैठता है। सचमुच ऐसे विरहियों की हादिक दशा को सही रूप में तो वही समझ सकता है जो उस परिस्थिति में स्वयं रह चुका हो। ठाकुर ने स्पष्ट ही कहा है—

पर वीर मिले बिछुरे की विथा मिलके बिछुरे सोई जानतु है।’

—ठाकुर

घन आनन्द में जितनी बेचैनी, जितनी तड़प और विह्वलता दृग्गत होती है उतनी इस काल के अन्य कवि में नहीं पाई जाती। वेदना और पीड़ा की कसक से उसका रोम-रोम व्याप्त है। उसके प्रत्येक उच्छ्वास में और हृदय की प्रत्येक धड़कन में निराशा का हाहाकार सुनाई पड़ता है। इसीलिए तो कहा गया कि ‘समुझै कविता घन आनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी।’ विरहातिशय के कारण वह मिलन में भी विरह शंका से त्रस्त रहता है।

इनके विप्रलम्भ वर्णन में अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन आदि का शास्त्रीय माप-तोल से तुला हुआ वर्णन नहीं मिलता । पूर्व राग का वर्णन यत्र-तत्र प्रत्यक्ष दर्शन-जन्या रूपानुभूति के रूप में आया है—

नंद को नवेलो अलवेलो छैल रंग भरयो, कालिह मेरे द्वार ह्वै के गावत इतै गयी ।

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र संपादित, धनानन्द छन्द ३६२

मान का वर्णन भी कुछ ही छन्दों में हुआ है । वस्तुतः इस वियोग-वर्णन में तो इन की मानसिक विवशता, दैन्य आदि का हृदय-द्रावक चित्रण हुआ है । इसके लिए इन का विषम प्रेम उत्तरदायी है । यहाँ एक ओर आशा-आकांक्षाओं से पूर्ण प्रेम-हृदय है तो दूसरी ओर प्रिय की निर्दय उपेक्षा । तथापि प्रिय के प्रति इनकी एकनिष्ठता बड़ी प्रबल और भावनामयी है । इनके जीवन का आधार एकमात्र प्रिय दर्शनाभिलाषा है । परन्तु यह अभिलाषा भी व्यथा और छलना से संवलित है । इस परिस्थिति में होने के कारण इन कवियों ने कभी तो अपने निष्ठुरप्रिय को उपालम्भ दिया है और कभी अपनी चित्तवृत्ति और दुर्देव को कोसा है । कभी प्रिय-प्रतीक्षा-पथ में ये पलक पाँवड़े बिछाये रह गये, और कभी अपनी विवशता से छटपटा उठे । वैसे शास्त्र-संगत-वियोग दशाओं में से 'स्मृति' का वर्णन इनमें अधिक मिलता है । ये प्रिय स्मृतियाँ जीवन का सम्बल होने के साथ ही वियोग की उद्दीपक भी हैं । रीतिबद्ध कवियों ने 'स्मृति' के प्रसंग में शारीरिक व्यापारों पर ध्यान रखा है तो इन कवियों ने प्रिय के रूप प्रभाव को ही स्मृति का आलम्ब बनाया है । लेकिन वियोगजन्य कृशता आदि के वर्णन में रीतिबद्ध कवियों की भाँति इन्होंने भी अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियों का सहारा लिया है । इसमें बहुत कुछ तत्कालीन फारसी-दरबारी कविता भी उत्तरदायिनी है ।

इन कवियों के पदों में बड़ी संख्या ऐसे पदों की मिलती है, जिनका विषय प्रिय के प्रति उपालम्भ है । इनमें अनेक मनः स्थितियाँ प्रिय के निष्ठुर विश्वासघात और प्रेमी के एकाकीपन की व्यथा में लिपटी बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत हुई हैं । धन आनन्द की रचना में उपालम्भ विषयक पद काफी हैं । एक-दो दृष्टांत लें—

(क) "जीवन आधार धन आनन्द उदार महा,
कैसे अनसुनी करी चातिक पुकार तैं ।"

(ख) हाय दर्ई ! न विसासी सुनै कछु, है जग बाजति नेह की डोंडी ।

"का करिये तुम्हरे मन को जिनको अबलौ न मिटो दगा दीवो" इत्यादि शब्दों में ठाकुर ने भी प्रिय के प्रति उपालम्भ दिया है । इन उपालम्भ पदों में विषम प्रेम की बड़ी करुण अभिव्यंजना है ।

प्रिय से वियुक्तावस्था में एकाकीभाव-सम्बद्ध जो असह्य वेदना उपस्थित होती है वह धन आनन्द में दर्शनीय है :—

(क) अति ही अधीर भई पीर भीर घेरि लई,
हेली मन भावन अकेली मोहि कै चलै ॥

(ख) कान्ह ! परे बहुतायत में इकलैन की वेदन जानी कहा तुम ॥ इत्यादि यहाँ प्रथम दृष्टांत में वियोगिनी की 'पीर भीर' का विवरण मात्र नहीं, अपितु हृदयस्थ अनुभूति सजीवता पा जाती है। द्वितीय में प्रिय की उन परिस्थितियों का उल्लेख हुआ है जिनके कारण वह प्रेमी-वेदना की जाँच करने में असमर्थ रहता है। "घन आनन्द" और पपीहे जैसे शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थ के कारण एकाकीपन की वेदना और अधिक प्रभावोत्पादक बन जाती है। जल और मीन के प्राकृतिक व्यापार निर्देश पूर्वक उनकी निरवलम्बावस्था का निम्न पद में बड़ा मार्मिक चित्र अंकित हुआ है :—

मेरो जीव तोहि चाहे तू न तन को उमाहे,
मीन जल कथा है कि याहू ते बिसेखिये ॥ इत्यादि

अब भाव-सौंदर्य के नमूनों के रूप में इनके द्वारा वर्णित "स्मृति" और उन्माद विषयक चित्र प्रस्तुत करेंगे। रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि स्मृति दशा के वर्णन में प्रायः लावण्यपूर्ण नेत्रों या उनके तीक्ष्ण कटाक्ष-वीक्षणादि पर ही केन्द्रित रही है (देखें मतिराम कृत "रसराज" छन्द ४०८)। परन्तु घन आनन्द और आलम जैसे कवियों ने स्मृति प्रसंग में नायक-नायिका के मिलनस्थल रूप रम्य प्रकृति को सामने रखा जिसे देखने मात्र से कुँजों और करील-वनों के साथ लिपटी समस्त सुखद स्मृतियाँ स्मृति-पटल पर एक-एक करके उभरने लगती हैं :—

(क) वेई कुँज पुँज जिन तरे तन बाढ़त हो।

तिन छाँह आयें अब गहन सो गहिगौ ॥ इत्यादि

—घन आनन्द

(ब) जाथल कीन्है बिहार अनेकन ताथल कांकरी बैठि चुन्यो करें ॥

—आलम

यहाँ रीतिबद्ध कवियों की भाँति नायिका प्रिय के संयोग-व्यापारों के स्मरण का प्रयास नहीं करती। यहाँ तो करील वन, कुँज, यमुना-तटादि उन की सुप्त स्मृतियों को स्वतः जागृत कर देते हैं। ऊपर लिखे पद में आलम ने पूर्व कालीन सुखद घटनाओं की तुलना में आज की विषादपूर्ण स्थिति को प्रस्तुत कर नायिका की अवसादपूर्ण एवं खिन्ना मनः स्थिति का अति मार्मिक चित्र अंकित किया है। और घन आनन्द कथित "वही जमुना पै हेली ! वह पानी बहिगो" इन शब्दों में स्मृतियों की कैसी विषादमयी अभिव्यंजना है ?

उन्माद विषयक चेतन-अचेतन मन को उद्घाटित कर देने वाला घन आनन्द का निम्न पद दर्शनीय है :—

अंक भरौं चकि चौकि परौं, कबहुँक लरौं, छिन ही में मनाऊँ ॥ इत्यादि यहाँ 'अंक भरौं' शब्दों से नायिका की अचेतना अवस्था-उन्माद-क्षण सूचित हैं तो 'चकि चौकि परौं' में प्रिय की अनुपलब्धि से चौंक पड़ने से चेतन दशा को जताया गया है। यहाँ अनेक स्थितियों के समाविष्ट हो जाने से चित्र में नाटकीयता का पुट है।

विरह-ताप और कृशता-परक ऊहात्मक उक्तियाँ इन में अल्प ही हैं। आलम

की प्रसिद्ध पंक्ति “छाती सो छुवाय, दिया बाती आनि बारि ले” रीतिबद्ध कवियों जैसी ऊहा का निदर्शन कही जा सकती है या घन आनन्द के कुछ ऐसे छन्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें प्रेमी के सन्देशवाहक के कान आँवा से तप्त, और हृदय की ज्वाला का मशाल की भाँति जलने का उल्लेख है। प्रेमी जनों की निर्बलता को बड़े भावपूर्ण ढंग से घन आनन्द ने इन शब्दों में तर्क-संगत एवं न्याय्य बतलाया है—

उठि न सकत, ससकत नैन वान विधे, हते हूँ पै विषम विषाद जुर लू बरे ॥

इत्यादि

पावस और बसन्त दोनों ऋतुएँ संयोग और विप्रलम्भ—शृंगार में मानसिक दशाओं के लिए अत्यधिक उद्दीपक होती हैं। काव्य-परम्परा और काव्य-शास्त्रीय परम्परा में इन्हें यही स्थान प्राप्त है। रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों ने इन्हें उद्दीपन के रूप में ही गृहीत किया है। फिर भी भावानुभूति की सघनता घन आनन्द आदि को रीतिबद्ध, कवियों से पृथक् कर देती है। मिलान कर देखें:—

(क) कारी कूर कोकिला ! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै ॥ इत्यादि

—घन आनन्द

(ख) चातक न गाँवै, मोर शोर न मचावे,
घन घुमड़ि न छावै जो लों लाल घर आवै न ॥

—देवदत्त

(ग) पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो, काहू,
विथित विथोगिन के प्रानन को प्यासौ है ॥

—पद्माकर

निश्चय ही देवदत्त और पद्माकर के इन वर्णनों को देखते हुए लगता है कि घन आनन्द के शब्दों में अन्तःकरण की व्याकुलता मुखर हो उठी है।

संक्षेप में रीतिबद्ध कवियों की भाँति इनका प्रेम न तो काम की क्रीड़ा है और न एक तरह के परिपाटि-विहित-प्रेम का कलात्मक चित्रण ही। इनके जीवन की प्रत्येक साँस और हृदय की प्रत्येक धड़कन में प्रेम की मधुर टीस और असह्य वेदना है। प्रेम की ऐकान्तिक उपासना इनके जीवन का साध्य और साधन दोनों हैं। सहज भाव से प्रिय को आत्मसमर्पण कर देने के अतिरिक्त इनके पास कोई अन्य मार्ग नहीं है। यहाँ किसी तरह के कपट और चातुर्य को स्थान नहीं। घन आनन्द—उल्लिखित प्रेम के सरल एवं ऋजु पथ पर दृक्पात करें—

अति सूघो सनेह को मारग है जंह नेकु सयानप बाँक नहीं।

तँह साँचे चलैं तजि आपनपो भिभूके कपटी जे निसाँक नहीं ॥

सच्चे प्रेम-पथिक इस मार्ग पर बढ़ने में भिभूकते नहीं। ऐसे प्रेमोन्मत्त कवि इस बात की चिन्ता नहीं करते कि इनका प्रिय इन्हें प्रेम करे ही। उनके अनुसार सच्चे प्रेम में तो केवल प्रदान किया जाता है, आदान के लिए वहाँ अवकाश नहीं है। यह ठीक है कि लोक तथा शास्त्र दोनों दृष्टियों से इनके प्रेम का औचित्य नहीं सिद्ध हो पाता, तथापि इन बन्धनों का अतिक्रमण कर इन्होंने अपने आदर्श स्थापित किये।

- (क) चाहो अनचाही जान प्यारे पै आनन्द धन,
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है ॥

—धन आनन्द

- (ख) मन भावे सुजान, सोई करियो हमें नेह को नातो निबाहनी है ॥

—ठाकुर

- (ग) उपचार और नीच विचारने ना उर अंतर वा छवि को घर है ।
हम को वह चाहे कि चाहे नहीं हम चाहिए वाहि विथाहर है ॥

—बोध

इन कवियों का प्रेम रीतिबद्ध कवियों के प्रेम की भाँति न तो सर्वथा शारीरिक ही है और न प्लेटोनिक प्रेम की तरह निरा वायवी। दोनों के बीच में इनकी स्थिति है और उसी दृष्टि से रीतिबद्ध कवियों के मुकाबले इन्हें स्वच्छन्द वृत्ति का कहा जाना चाहिए।

भारतीय काव्य में अनुभवनिष्ठ प्रेम को इतनी आस्थापूर्ण मान्यता इन कवियों द्वारा पहली बार मिली। इन्होंने प्रेमी और प्रिय के बीच पड़ने वाले समस्त सामाजिक और धार्मिक व्यवधानों की प्रकट में अवमानना की। प्रेम के वियोग पक्ष की प्रधानता के कारण इनकी रचनाओं में अन्तरतम की वेदना के उच्छ्वास और निराशा के व्याकुल स्वर अधिक सामने आते हैं। फारसी-दरबारी कविता के प्रभाव ने इनके प्रेम की पीर को तीव्रतर बनाया है। रीतिबद्ध कवियों की भाँति रूप के मादक-पार्श्व पर इनकी दृष्टि भी गई। इनके प्रेम का मूल आधार भी रूप और यौवन ही है। परन्तु एक बार प्रिय के रूप और यौवन पर मुग्ध हो जाने के पश्चात् इन्हें अन्यत्र भटकने की आवश्यकता न पड़ी। रूप के प्रभावोत्पादक अंश पर अधिक अनु-रक्त होने के कारण रीतिबद्ध कवियों की भाँति नायिका के अप्रधान यौन अंगों का वर्णन इनकी रचनाओं में कम है। विप्रलम्भ वर्णन में नायक-नायिका के विरह-ताप-कृशतादि के ऊहात्मक चित्रण में भी इनका मन कम रमा। इसके विपरीत प्रेमी की बिबशता, दैन्य, निरवलम्बावस्थादि मानसिक दशाओं के भावपूर्ण चित्रणों द्वारा प्रिय के निष्ठुर मन में करुणा का उद्रेक करने की जो चेष्टा है वह विप्रलम्भ शृंगार की मर्मस्पर्शिता को और अधिक बढ़ाने वाली है।

विद्यापति और रीतिकालीन कवियों का कलापक्ष

पदावली का कलापक्ष (भाषा, छन्द, अलंकार, मुक्तकगीत शैली)

भाषा-छन्द—विद्यापति-पदावली की भाषा अब तक विवादग्रस्त रही है। बंगाली लोग इनको बंगला का प्रथम कवि या बंगभाषा का प्रवर्तक मानते हैं। इसी-लिए उन्होंने इनको बंगाली सिद्ध करने की चेष्टा भी की थी। किन्तु अब तो यह सब प्रकार सिद्ध हो गया कि ये मैथिल थे। मैथिलों की एक खास बोली है—मैथिली। विद्यापति भी मैथिल थे, अतः मैथिल लोग इन्हें अपनी बोली मैथिली का प्रथम कवि मानते हैं। सचमुच यही ठीक है। किन्तु यह मैथिली बोली किस भाषा की शाखा है—बंगभाषा की या हिन्दी-भाषा की? बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने मैथिली को ब्रज बोली (या हिन्दी) की एक शाखा माना है। गुप्त जी “प्राच्य-विद्या-महार्णव” कहे जाते हैं। उनका निर्णय अधिक मूल्य रखता है। हमारी राय भी उनसे मिलती है।

मिथिला बंग-देश से सटी हुई है। विद्यापति का जन्म जिला दरभंगा में हुआ था जो द्वार-बंग या बंगाल का द्वार है। इसलिए मैथिली पर बंगभाषा का प्रभाव जरूर पड़ा है। यदि हम कह सकें, तो कह सकते हैं कि मैथिली का शरीर हिन्दी का है और उसकी पोशाक बंगला की। जिस प्रकार कोई हिन्दुस्तानी अंग्रेजी पोशाक पहन कर अंग्रेज नहीं बन सकता उसी प्रकार मैथिली भी हिन्दी को छोड़ कर बंग-भाषा की नहीं हो सकती। हाँ, बंगभाषा के संसर्ग से इसमें मिठास अवश्य आ गई है।

विद्यापति ने कीर्तिलता में “अवहट्ट” भाषा का प्रयोग किया है। इसे ही उन्होंने “देसिलबयन” भी कहा है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि अवहट्ट शौरसेनी अपभ्रंश है, परन्तु शिवनन्दन ठाकुर उसे मागधी अपभ्रंश (मैथिला-भ्रंश) सिद्ध करते हैं। विद्यापति की मैथिली इसी का परवर्ती रूप है। मागधी प्राकृत के कुछ रूप “मागधी अपभ्रंश” में होकर विद्यापति की भाषा में आए हैं और ये रूप प्राचीन बंगला में भी उसी उद्गम से आये हैं। विद्यापति के काव्य में ब्रजभाषा के रूप में मिलते हैं। वास्तव में बाद में इनके पदों के अनुकरण में जो लिखा गया उसे “ब्रजबुलि” भाषा का साहित्य कहा गया है। “ब्रजबुलि” का अर्थ है ब्रज की बोली। बंग कवियों की “ब्रजबुलि” विद्यापति की भाषा का अनुकरण है। अनुमान है कि ३०० ई० से ८०० ई० तक शौरसेनी प्राकृत हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा थी। यह देश भाषा और राष्ट्रभाषा भी थी। अतः मैथिली साहित्य में इस सर्वमान्य

सार्वभौम भाषा का प्रभाव निश्चित है। 'अवहट्ट' में ही शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश का बड़ा प्रभाव दीखता है।

शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप 'अवहट्ट' पूर्वी प्रदेशों में भी साहित्य-रचना का माध्यम हो गया था। पूर्वी प्रदेशों में जो कि मागधी श्रेणी की भाषाओं का क्षेत्र है, अवहट्ट क्यों और कैसे प्रचलित हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है। मागधी प्राकृत या अपभ्रंश का कोई साहित्य प्राप्त नहीं होता। मागधी प्राकृत संस्कृत नाटकों में केवल नीच पात्रों की भाषा के रूप में व्यवहृत हुई है जिसके थोड़े बहुत अंश मिलते हैं। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, जैसा कि डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा कि या तो यह कि इस भाषा का सारा साहित्य नष्ट हो गया था या इसका कोई साहित्य था ही नहीं, या यह कि शौरसेनी अपभ्रंश को ही साहित्य की भाषा स्वीकार कर लिया गया था (देखें, ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज पृ० ८७)। मुसलमानों के आक्रमण से जितनी क्षति पूर्वी हिस्सों को हुई उतनी पश्चिमी भाग को नहीं। मध्यदेश और भारत के पूर्वी हिस्से इस ध्वंसकारी आक्रमण की चोट में सीधे आए और परिणामतः इनके सांस्कृतिक और साहित्य-पीठस्थल बिल्कुल ही ध्वस्त हो गए। सन् ११९७ ई० सम्भवतः पूर्वी प्रदेशों के लिए सर्वाधिक अनिष्टकारी वर्ष था जबकि बख्तार काबेटा मुहम्मद खिलजी बिहार को चीरता चला गया। इस भीषण नाश और अग्निकाण्ड का किंचित् परिचय सुलतान नासिरुद्दीन के प्रधान काजी मिनहाज-ए-सिराज के इतिहास ग्रंथ तबकत-ए-नासिरी से मिलता है। हत्या और अन्य घटनाओं ने पूरे प्रान्त की संस्कृति का नाश कर दिया। विद्वानों की या तो हत्या कर दी गई या वे भाग कर नेपाल की ओर चले गये। वे अपने साथ बहुत से हस्तलिखित ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ भी लेते गये। इस प्रकार एक गौरवशाली साहित्य-परम्परा का अन्त हो गया। मगध जिसे पूर्वी भारत का युद्ध-स्थल कहा गया है, अनवरत तुर्क, पठान और मुगलों के युद्धों का केन्द्र बना रहा, बंगाल भी इसी हमले से नष्ट-भ्रष्ट हो गया (देखें ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज पृ० १०१)।

संक्रान्तिकालीन व्रज भाषा (१२००-१४०० ई०) के सम्बन्ध में लिखते हुए डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है कि इस प्रकार के सांस्कृतिक विनिपात के दिनों में अवशिष्ट राज दरबारों में पश्चिमी अपभ्रंश या अवहट्ट की रचनाओं का प्रभाव निःसंदिग्ध है। जातीय युद्ध के इस काल में अवहट्ट या पिगल की वीरतापूर्ण रचनाओं ने सारे उत्तर भारत को एक जीवन शक्ति प्रदान की। विकसित मागधी अपभ्रंश के अभाव, जो कुछ था भी, उसके विनाश के बाद पश्चिमी अपभ्रंश का प्रभाव स्थापित होना स्वाभाविक ही था। पूर्वी प्रान्तों में लिखी गई रचनाओं में कवि विद्यापति की "कीर्तिलता" और कुछ फुटकर प्रशस्तियाँ तथा बंगाल-बिहार में फैले हुए सिद्धों के गान और दोहे प्राप्त होते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट में लिखा हुआ कोई और काव्य उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ट रचनाओं की भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे

आदि तो सम्मिलित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की 'कीर्तिलता' को पुरानी मैथिली और बौद्धों की रचनाओं की पुरानी बंगला कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी संकेत चिह्न 'कीर्तिलता' में प्राप्त होते हैं, किन्तु 'कीर्तिलता' की भाषा की मूलभूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण-विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के "ल" क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ट या पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। "कीर्तिलता" का कवि जब जनता के मनोभावों को समझते हुए प्रेम-शृंगार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयोजन से काव्य लिखता है तब ब्रज-भाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ट रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि वह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नीचे कीर्तिलता का एक युद्ध-प्रसंग देखिये, भाषा बिल्कुल "प्राकृत पैगलम्" के हम्मीर सम्बन्धी पदों की तरह या रासो के युद्ध प्रसंगों की भाषा की तरह मालूम होती है—

हंसि दाहिन हाथ्य समथ्य भइ, रण रत पलटिअ खग लई ॥ इत्यादि

—कीर्तिलता, चतुर्थ पल्लव

इस भाषा में पूर्वी-प्रयोगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ-करयो, हरेयो-हरओ के ब्रज-रूप भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के अ+उ का ब्रज में सीधे 'ओ' होता है बहुत से रूपों में 'यो' जैसे कह्यो, भरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ—ओ, यो के विकास की एक अवस्था "एओ" रही होगी जो "कीर्तिलता" में बहुत दिखाई पड़ती है (देखें डा० शिवप्रसाद सिंह कृत, सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य" पृ० ६२-६३)।

कीर्तिलता वैसे अपभ्रंश, जिसे कहीं-कहीं भ्रम से मिथिलापभ्रंश कहा गया है, का ग्रंथ है। फिर भी उसमें पश्चिमी भाषा तत्वों की बात लोगों को खटकती है किन्तु इसकी भाषा के वास्तविक विश्लेषण करने के इच्छुक और तथ्य के अनुसंधित्सु के लिए इस कथन से कोई आश्चर्य न होगा कि "कीर्तिलता" में बहुत से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विरल, अन्यत्र प्रायः एकदम अप्राप्य ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो पश्चिमी हिन्दी में न जाने कितने उलझे हुए रूप-तत्व (Morphology) की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हैं। डा० शिवप्रसाद सिंह ने वहीं आगे ब्रजभाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परसर्ग (सओ, कारण, कह, को, केरि), सर्वनामों के महत्त्वपूर्ण रूप (मेरहु-मेरो, ओह, ओ, एहु) और क्रियापदों के अत्यन्त विकसित और ब्रज के निकटतम प्रयोग (पाले, राखै, घरे) आदि देते हुए स्पष्ट रूप से उद्बोधित किया है कि वर्तमान कृदन्त के रूपों का सामान्य वर्तमान में प्रयोग अपभ्रंश में नहीं होता था। किन्तु 'कीर्तिलता' की भाषा इसी मानी में ब्रजभाषा की एकदम पूर्व-रूपिका है (देखें सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ६४, ६६)।

यद्यपि मैथिली तथा बंगला दोनों का जन्म मागधी प्राकृत से माना जाता है किन्तु मगध प्रान्त की भाषा पर अर्द्धमागधी प्राकृत का जिससे अवधी निकली है, बहुत प्राचीनकाल से ही प्रभाव पड़ता रहा है। भगवान बुद्ध का जन्म-स्थान कपिल-वस्तु उत्तर कोशल प्रान्त में था किन्तु उनका कार्यक्षेत्र अधिकांश मगध प्रान्त रहा है, अतएव बौद्धों की धर्म पुस्तकें अर्द्धमागधी से प्रभावित मागधी में लिखी गई हैं। जैन-धर्म-पुस्तकों की भी यही भाषा है। उनमें अर्द्धमागधी का अंश अधिक है। तात्पर्य यह है कि बिहार प्रान्त की भाषा उसकी पश्चिमी प्राकृत अर्द्धमागधी और कुछ सीमा तक शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित होती रही। इसके विपरीत बंगला का विकास शुद्ध मागधी से हुआ। इसीलिए मैथिली और बंगला दोनों की जननी मागधी होते हुए भी कालान्तर में दोनों में पर्याप्त अन्तर उपस्थित हो गया। मैथिली बंगला की बहिन होते हुए भी हिन्दी से मैत्री कर बैठी और वर्तमान मैथिली तो हिन्दी से बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित हो गई है क्योंकि आजकल मिथिला प्रान्त की साहित्यिक-भाषा हिन्दी हो गई है।

विद्यापति के समय तक पूर्वी प्रान्तों में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो चुका था। जब दो जातियाँ परस्पर सम्पर्क में आती हैं तो सर्वप्रथम शब्दों का ही आदान-प्रदान आरम्भ होता है। विद्यापति की रचनाओं में भी कतिपय अरबी-फारसी के शब्द पाए जाते हैं—

- (क) रहती ठाढ़ि 'हज़ूर'।
- (ख) भंगिया जरठ 'दरदो' नहि जान।
- (ग) पिया लेलि गोद के चललि 'बजार'।
- (घ) कोटि 'धन' बकसयि।
- (ङ) ग्यासदीन 'सुरतान'।
- (च) 'पातिसाह' ससीम सीमा समर दरसे हो रे।
- (छ) मदन 'महाउते' कएल पसाह।

तुरुक, सलाम, नीमाज, मिसमिल, रोजा, दरबार, दरसदर, दारिगह, निमाज-गह आदि शब्दों की बड़ी सूची 'कीर्तिलता' से दी जा सकती है। विद्यापति ने उन शब्दों को खराद कर एवं कहीं मरोड़ कर अपने संगीत प्रधान काव्य के अनुकूल बना कर प्रयुक्त किया।

छन्द—डा० ग्रियर्सन ने विद्यापति पदावली में जो छन्दों का अध्ययन प्रस्तुत किया है उससे पता लगता है कि विद्यापति ने पद रचना के सम्बन्ध में प्राकृत पैगल, पैगल दर्शन या छन्दोदीपिका जैसे ग्रन्थों में उल्लिखित नियमों का अनुसरण नहीं किया है। ग्रियर्सन से बहुत पूर्व रागतरंगिणीकार लोचन (१७वीं शती) ने मैथिली गीतों में प्राप्त विभिन्न छन्दों की परिभाषाएँ दीं और विद्यापति के बहुत से पदों को उद्धृत किया है। परन्तु वे परिभाषाएँ बहुत लचकदार हैं। उसके अनुसार राघवीय-बराड़ीय छन्द के प्रथमाह में २४ से ३० तक मात्राएँ होती हैं और द्वितीयाह में २७ से ३३ तक। माधवीय-बराड़ीय छन्द के प्रथमाह पद में २० से २३ तक। पादकुलक

छन्द में पद के प्रति-अर्द्ध भाग में केवल १६ मात्राएँ होनी चाहिएँ। (देखें लोचन कृत रागतरंगिणी पृ० ४१-४६)। जैसे—

(क) आज देखलि धनि जाइतेहि रे

मोहि उपजल रंग ।

इसमें २७ मात्राएँ हैं और लोचन के अनुसार 'देखलि' के ए और 'मोहि' के ओ दीर्घ हैं ।

(ख) पथ मीललि धनि दामिनि सनि ब्रजराज जानी ।

इसमें २४ मात्राएँ हैं जबकि लोचन की परिभाषा के अनुसार कम-से-कम २४ तो होनी चाहिएँ। इस प्रकार लोचन की परिभाषाएँ कहीं ठीक उतरती हैं और कहीं नहीं ।

प्रियसैन द्वारा प्रस्तुत छन्द-विश्लेषण अधिक युक्तियुक्त है। उनके अनुसार विद्यापति पदावली में अत्यन्त सामान्य रूप से प्रयुक्त छन्द तीन प्रकार के हैं। जिनमें से प्रथम प्रकार में प्रथमार्द्ध पद में १५ मात्राएँ, द्वितीय प्रकार में १६ और तृतीय प्रकार में २८ मात्राएँ रहती हैं। २८ मात्राओं वाले पदार्थ में १६ मात्राओं के बाद यति या विराम रहता है। जैसे प्रथम प्रकार—

(क) बाट भुअंगम उपर पानि ।

दुहुकुल अपजस अंगिरल आनि ॥

यहाँ 'भुअंगम' के अंग के 'अ' की दो मात्राएँ, 'अंगिरल' में आये 'अंग' की एक मात्रा और 'उपर' का 'उ' वस्तुतः 'ऊ' है ही ।

द्वितीय प्रकार—

१११ २११ २१ ११ २२
(ख) हृदय तोहर जानि नहि भेला

१११ १११ २१ १२ २२
परक रतन आनि मने देला

यहाँ उपरिलिखित अंकों से पद की मात्राएँ सूचित हैं ।

तृतीय प्रकार—

११ १११ ११ ११११ १११ ११
(ग) सेहे वदन तोर अइसन करम मोर

२१ १ ११११ २२
खारे पाए बरिसए धारे

यहाँ 'पाए का अए' की एक मात्रा और 'अए' 'प' के रूप में हैं ।

एक असावरी छन्द का नमूना लें, इसमें पद के प्रथम अर्द्ध भाग में १२ मात्राएँ और दूसरे अर्द्ध भाग में १६ मात्राएँ होती हैं—

१११ १११ ११२२
चिकुर गलए जलधारा

११११ १२ ११ २१२ १२२
मुख-ससि डरे जनि रोअए अंधारा ।

इस प्रकार विद्यापति में अ, आ, इ, उ, ए, ओ, ऐ और औ इन सब स्वरों में से प्रथम छः दीर्घ और ह्रस्व दोनों मात्राएँ बनाते हैं और ऐ और औ को अइ, अउ के रूप में लिखा जाता है। मुख्य बात इन सभी छन्दों में संगीत की लय, शब्दों की मधुरता की साधना है। उसमें ही कवि की हार्दिक अनुभूति घुलमिल गई है। विद्यापति-प्रयुक्त छन्दों-रागों के विषय में अधिक जानकारी के लिए देखें वर्तमान रचना का 'विषय-प्रवेश' के अन्तर्गत 'मिथिला प्रकाण्ड पांडित्य का देश' वाला प्रकरण।

पदावली की भाषा मैथिली हिन्दी है। उसमें विद्यापति के विभिन्न अवसरों पर रचित पदों का संग्रह है। अद्यावधि एक सहस्र के लगभग इनके पद प्रकाश में आए हैं। प्रायः सभी गेय हैं। कहा जाता है कि इस पदावली के अनेक पदों को चैतन्य महाप्रभु के समय से लेकर आज तक मिथिला, बंगाल एवं ब्रज के निवासी स्त्री-पुरुष अपने गाने की एक विशेष 'चीज' मानते आये हैं और इनके द्वारा सर्व-साधारण तक मन्त्र-मुग्ध होते आये हैं।

पदावली में संगृहीत पदों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि इनके रचयिता ने संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव की रचना 'गीत गोविन्द' को आदर्श रूप से स्वीकार किया था और उसकी रचना-शैली एवं शब्दावली तक को अपना लिया था। भाव साम्य के विचार से पदावली के अनेक पद 'गीत गोविन्द' का अनुकरण करते हुए जान पड़ते हैं।

कलापक्ष के अन्तर्गत वह शैली आती है जिसके द्वारा भावों की मूर्ति साकार होकर हमारे सामने आ जाती है। भावों को साकार करने में भाषा और शैली साज-सज्जा एवं भूषा का काम करते हैं। भावों की इस वेश-भूषा को ही कलापक्ष समझा जाता है। भाव और कलापक्ष दोनों का सामंजस्य कविता में संचमुच चार चाँद लगा देता है। यदि शास्त्रीय रूप को परखें तो कलात्मक रीति से सजीव भाषा, जिस में भावों की अभिव्यक्ति होती है, कविता है। बिना भावों के भाषा सौन्दर्यहीन है और बिना भाषा के भावों की अभिव्यञ्जना सरल नहीं। श्री श्यामसुन्दर दास के शब्दों में भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में होंगे ही, परन्तु उन भावों को भाषा का स्वरूप देना, भाषा को उचित रीतियों के अनुसार संघटित करना, उसे सजाना, उसे अलंकारों से सुशोभित करना, उसे गुणवती बनाना, दोषों को उससे दूर रखना, सारांश यह है कि भाषा कि लक्षणा, व्यञ्जना आदि शक्तियों को उद्बुद्ध और पुष्ट करके उन भावों को रसमय बना देना—यह साहित्य के कलापक्ष का काम है।..... बिना भाषा के भाव नहीं रह सकता। भाषा स्वयं ही भाव की मूर्ति है। इस तथ्य पर विचार करने से कविता के भावपक्ष और कलापक्ष में अभेद की स्थापना हो जाती है। भावों की साधना भाषा की साधना के साथ-साथ चल सकती है और चलनी चाहिए (देखें श्यामसुन्दर दास कृत 'साहित्यालोचन' 'पृ० ८१-८२)। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा—वाक्यं रसात्मकं-काव्यम्'। तथापि इसका यह आशय नहीं कि कवि कविता को सजाने में बुद्धि-चमत्कार का ही प्रदर्शन करता रहे और अलंकारों के बोझ से भावों को दब जाने दे। कविता की वास्तविक शक्ति तो भाव और वृत्तियाँ ही हैं। महाकवि एवं विश्व कवि वे ही हैं जिन्होंने भावों की

अद्भुत सृष्टि करके उसमें भाषा, अलंकार और अन्य आवश्यक उपकरणों का भी स्वाभाविक रूप से प्रयोग किया है। महाकवि कालिदास, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास आदि उसी कोटि में सम्मानित होते हैं। इनकी कविताओं में भाव और कला-सौन्दर्य दोनों का मणि-काँचन संयोग हुआ है।

उच्चकोटि के कवि में जितनी भावुकता होती है उसी मात्रा में अभिव्यञ्जना की शक्ति भी होती है। अपने हृदयस्थ सूक्ष्म से सूक्ष्म 'भावों' को कम-से-कम शब्दों में यथातथ्य पाठक के हृदय तक पहुँचा देने का गुण उसमें विद्यमान होता है। वह अपने भावों की सही अभिव्यञ्जना के लिए भाव बिम्बात्मकता, अलंकार-योजना, शब्द-शक्ति, भाषा की उपयोगिता और प्रसंगानुकूल छन्द-योजना के मर्म को समझता है। विद्यापति की पदावली में कलापक्ष की ये सब विशेषताएँ विद्यमान हैं।

भाव-बिम्बात्मकता—कवि अपनी सूक्ष्म और सजग कल्पना के द्वारा कुछ पद पदार्थों को इस ढंग से सजाता है कि अभिलषित चित्र अंकित हो जाय। वह निश्चित भाषाभिव्यञ्जक शब्दों के द्वारा अपनी अनुभूति को ऐसे ढंग में प्रकाशित करता है कि भाव विशेष का बिम्ब सामने उपस्थित हो जाता है। भाव की बिम्बात्मकता या अनुभूति की साकारता ही काव्य-शिल्प का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म है। अमूर्त रस इसी के द्वारा मूर्त बन जाता है। विद्यापति में यह बिम्बात्मकता या अनुभूति की साकारता दो रूपों में मिलती है—रूप-चित्रण और भाव-बिम्बन। रूप-चित्रण में वातावरण और स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य के चित्र आते हैं और भाव-बिम्बन में मिलन विरह-सम्बन्धी अमूर्त-भावों के चित्र रहते हैं। क्रमशः दोनों प्रकार के दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

वातावरण और नारी सौन्दर्य

(क) निसि निसिचर भम भीम भुअंगम, जलधर विजुरि उजोर ॥ इत्यादि
—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद २११

(ख) माधव करिप्र सुमुखि समधाने ॥ इत्यादि
—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ३३७

इन पदों में रात की भयंकरता का चित्र अंकित है। भयानक काली रात्रि, भीमनिशिचर और भयानक विषधर, बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की कड़क से युक्त विषम वातावरण के उपस्थित रहने पर भी अभिसारिका अपने प्रियतम से मिलने के उद्देश्य से संकेत स्थल की ओर चली जा रही है। भयानक रात्रि, तिस पर वर्षा की झड़ी लगी। भित्ति-चित्र में चित्रित सर्प को भी देखकर जो भयभीत हो उठे ऐसी स्वभाव-भीरु वह सर्पमणियों को अपने हाथ से ढकती (जिससे वह मणियों के प्रकाश में पहचान न ली जाय) आगे बढ़ी। अपने पति का परित्याग कर विषम सरिता को तैर कर महाकुल गारी (कलंक) को स्वीकार कर तुम्हारे अनुराग में उन्मत्ता हो यहाँ आ पहुँची। मार्ग की भीषणतम बाधाओं की उसने तनिक भी परवाह नहीं की। यहाँ रात्रि की भीषणता का चित्र रोमांचित कर देने वाला है। साथ ही नायिका की आसक्ति, मिलन की अडिग कामना, वासना, बिह्वलता का भी पूर्णतः पता चलता है।

(ग) मानिनि अब उचित नहि मान ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ४४२

इस पद में खूब प्रकाशित पूर्णिमा और भ्रमर-विलास का चित्र सामने आता है। इस पद के 'जुड़ियनि चकमक कर चानन' और 'रभसि रभसि अलि विलसि-विलसि करि' इन पदांशों में क्रमशः शीतल चन्द्रिका-स्नात रात्रि, रजत झिलमिलाहट और भ्रमरों का आकुल होकर पुष्पों पर मंडराने और रसपान करने का चित्र सामने आता है यहाँ सखी का नायिका के प्रति यह कथन उचित ही है कि जब ऐसा मादक, विलास-प्रेरक वातावरण मन में दबी कामभावना को उत्तेजित कर रहा हो तब मान का टिके रहना सम्भव नहीं। अतः यह तुम्हारा मान अब उचित नहीं है।

(क) अम्बर विघटु अकामिक कामिनि, करे कुच भाँपु सुछन्दा ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ३६

(ख) सामर पुरुषा मभु घर पाहुन, रंगे विभावरी गेली ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ७७

(ग) सुधामुखि को विहि निरमिल बाला ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद २२

इन पदों में नारी-सौन्दर्य का आकर्षक चित्र अंकित है। 'क' में नायिका का आंचल उसके वक्ष से सहसा खिसक जाता है। चपलता-वश अपने हाथों से ही वह अपने उरोज ढक लेती है। कनक सम्भु जैसे उरोजों पर ढके उसके हाथ दो कमलों के सदृश और नख चमकते हुए दस चन्द्रमाओं के समान प्रतीत होते हैं। इस पद में केवल उरोजों या हाथों का ही सौन्दर्य चित्र नहीं अपितु नारी के सम्भ्रम, संकोच, चपलता, लोक-लाज और अंग-दुराव की चेष्टा का मुग्धकारी चित्र भी है। 'ख' में नायिका के विरोध पर नख-क्षत का वर्णन है। गदरे उरोज कच्ची बेल (बिल्व) के समान हैं और नख-क्षत पलाश-पुष्प के सदृश। पलाश-पुष्प अर्द्ध चन्द्राकार होता है। इसका मूल काला और शेष भाग रक्तवर्ण होता है। उरोज पर लगा नख-क्षत लाल और नीला हो जाता है। चित्र की यथार्थता में सन्देह नहीं किया जा सकता। 'ग' में नारी की नाभि से उरोजों की ओर जाती हुई रोमावली का चित्रण है। नाभि रूप बाँबी से रोमावली-रूपी सर्पिणी निश्वास-रूपी पवन को पीने के लिए ऊपर की ओर जाती है, लेकिन नासिका-रूपी गरुड-चंचु को देखकर उरोज-रूपी पर्वतों के बीच में छिप जाती है। नारी के वक्ष-सौन्दर्य का यह अभूतपूर्व चित्र है। नाभि के ऊपर की ओर जाती हुई रोमावली सचमुच सर्पिणी के समान रेंगती-सी लगती है। और भयभीत हो कुछ गिरि-सन्धि में लीन हो जाना बहुत स्वाभाविक है।

भाव-बिम्बन—भाव अमूर्त होता है। अपनी प्रतिक्रिया, प्रभाव, परिणाम, और अनुभाव के द्वारा ही वह अमूर्त भाव मूर्त बनता है। आकार धारण करने पर ही उसे रस की संज्ञा प्राप्त होती है, भाव अपनी प्रतिक्रिया, परिणाम, प्रभाव को अनुभाव या आश्रय में प्रकट करते हैं। किसी भाव के उत्तेजित होने पर आश्रय के शरीर में जो विकार या परिवर्तन होते हैं, वे ही मिलकर उसका बिम्ब या आकार कहलाते हैं।

(क) कह-कह सुन्दरी न कर ब्याजे ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ६४

इस पद में कृष्णाभिसारिका के मनोभावों का मूर्त रूप प्रत्यक्ष होता है। गुरु-जनों की नजर बचा कर बार-बार पश्चिम की ओर देखना उसकी उत्कण्ठा और मिलनाकुलता को प्रकट करता है। नेत्र बन्द करके अकारण ही घर में आने-जाने से पता चलता है कि वह अन्धकार में चलने का अभ्यास कर रही है। तन पुलकित होने और सहसा मुस्करा उठने से उसके हादिक उल्लास और मिलन-सुख की अनुभूति का पता चलता है।

(ख) कुसुमित कानन हेरि कमल मुखि, मुदि रहए दुइ नयान ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद १७६

(ग) माधव सो अब सुन्दरि बाला ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ७४१

(घ) माधव ओ नवनायरि बाला ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद ७४७

इन पदों में विरह-विधुरा राधा का चित्र प्रस्तुत है। विरह-दग्धा राधा ऐसी जर्जर-तनु और निर्बल हो गई है कि घरती का सहारा लेकर बैठती है। एक बार बैठकर उठना उसके लिये कठिन हो जाता है। अश्रु-कातर नेत्रों से चारों ओर देखती है। निश्वास छोड़ती हुई डगमगा जाती है और सखी के सहारे की अपेक्षा करती है। पूर्णिमा के चन्द्रमा को लज्जित कर देने वाला उसका मुख क्षीण शशि-रेखा-सा रह गया है। कमल-कान्ति-सी देह-द्युति नष्ट हो गई है। दिन-दिन उसका शरीर क्षीण-क्षीणतर होता जा रहा है। स्पष्ट ही यहाँ कुछ पंक्तियों में विरह-विधुरा राधा का समग्र चित्र अंकित हो उठता है। राधा की क्षीणता, विवशता, कातरता, क्षण-क्षण विलीन होती हुई सुषमा और सामर्थ्य, मरण-आशंका और विरह से पूर्वकालीन यौवन-श्री ये सब यहाँ बिम्ब रूप से अंकित हैं। जो इन पद-पद्यांशों को पढ़ते ही पाठकों की पुतलियों में झूल जाते हैं।

अलंकार विधान—विद्यापति की अलंकार-योजना कहीं तो सर्वथा मौलिक है और जहाँ उन्होंने रूढ़ उपमानों का प्रयोग किया है वहाँ भी नवीनता का निर्माक चढ़ा दिया है। उनके अलंकार भाव-विधान और दृश्य चित्रण में पूर्ण सहयोग देते हैं—(देखें पदावली के सामान्य विवेच्य)।

अनुखन माधव-माधव सुमरत, सुन्दरि भेलि मघाई ।

ओनिज भाव सुभावहि विसरल, अपने गुन लुबुधई ॥ इत्यादि

—विद्यापति, मित्र-मजुमदार, पद २१७

इस पद में राधा का प्रेमातिरेक में अपनी सुधबुध भूल कर कृष्णमय हो जाना और पुनः चेतना लौट आने पर पूर्वावस्था में पहुँचकर भी विरह-दग्ध होना—यहाँ दोनों अवस्थाओं (राधामयी एवं कृष्णमयी) में राधा दोनों तरफ से जलती हुई लकड़ी के बीच में स्थित कीट से कितना सुन्दर साम्य रखती है ?

अपने भाव को पुष्ट करने के लिए व्यावहारिक जीवन से सुन्दर उपमाओं का चयन हुआ है। नायक की आँखें नायिका के पीछे-पीछे फिर रही हैं इस बात को निदर्शनालंकार की सहायता से बढ़ी मामिकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है :—

ततहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि बर नारि ।

आसा-लुबुधल न तेजए रे, कृपनक पाछुभिखारि ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३३

जतने जतेक धन पाय बटोरल, मिलि-मिलि परिजन खाय ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २५५

इन पक्तियों में उस व्यक्ति का चित्र कितनी यथार्थता के साथ सुन्दर उपमा के द्वारा हमारे सामने अंकित किया गया है, जो जीवन भर तो विषयोपभोग में लीन रहा और अन्त समय में भगवान् की शरण की अभ्यर्थना करता है।

और निम्न पद में देखें विद्यापति ने परम्परा सिद्ध उपमानों को लेते हुए यथासंख्य अलंकार-प्रयोग द्वारा उन पर किस कुशलता से नवीनता का निर्मोक चढ़ाया है—

कि आरे ! नव जीवन अभिरामा, जत देखल तत कहए न पारिअ ।

छओ अनुपम एक ठामा ॥

हरिन इन्दु अरविन्द करिनि हेम, पिक बूझल अनुमानी ।

नयन बदन परिमल गति तनरुचि, अओ अति सुललित बानी ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ११

रीतिकालीन कवियों की भाँति विद्यापति ने किसी-किसी पद में अनेक अलंकारों का संविधान किया है, किन्तु उनके अलंकार कहीं भी भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं बने —

चिकुर-निकर तम-सम, पुनु आनन पुनिम ससी ।

नयन-पंकज के पतिआओत, एक ठाम रहु बसी ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १७

इस पद में उपमा, रूपक और विरोधाभास का क्या खूब संकर बन पड़ा है।

विद्यापति ने अपने से पूर्ववर्ती शृङ्गार-कवियों के भावों को ही नहीं अलंकार-विधान को भी अपनाया है, किन्तु उसमें अपनी ओर से चमत्कार का आधान किया, जिससे बासीपन की वृ नहीं आती। किमपेति रजोभिरौर्वररवकीर्णस्य मणैर्माहाधता” (देखें-शिशुपालवधम्, सर्ग १७, श्लोक २७) माघ के इन शब्दों में निहित भाव को विद्यापति ने श्रुतिकटुत्व दोष से मुक्त करके कितनी मिठास के साथ प्रकट किया है ? घूल के स्थान पर कीचड़ (कादो) रख दिया है —

मनि कादो लपटाय रे, ते कि तकर गुन जाय रे ॥

विद्यापति ने शब्दालंकारों में अधिक रुचि नहीं दिखाई। संस्कृत के महाकवि कालिदास की भाँति अनूठी उपमाएँ देने में विद्यापति बेजोड़ हैं। एक-एक पद में अनेक उपमाओं के ढेर लगे हैं और उत्प्रेक्षाओं के तो कहने ही क्या ?

कविता में ऐसी शक्ति है जिससे वह इन्द्रिय-गोचर-सौन्दर्य, मानव जगत् के अनुभव तथा प्रकृति के नाना रूपों के आध्यात्मिक भाव को हमारे सामने उपस्थित करती है। कविता के अभाव में हम इस अनुभूति से वंचित रह जाते हैं। हम सांसारिक व्यापारों में इतने व्यग्र रहते हैं कि कविता की इस शक्ति (व्यंजक) के संपादन में असमर्थ होते हैं। सच्चा कवि वही है, जिसमें वस्तुओं के इन्द्रिय-गोचर-सौन्दर्य और उनके आध्यात्मिक भाव को समझने और अनुभव करने की पूर्ण शक्ति हो, और जो कुछ वह देखता या अनुभव करता हो, उसे इस प्रकार से व्यक्त करे जिससे हमारी कल्पनाएँ और भावनाएँ भी उत्तेजित होकर हमें उसी की भाँति देखने, समझने और अनुभव करने में समर्थ कर दें। अतएव कवि हमें कुछ काल के लिये सांसारिक व्यापारों की व्यग्रता से निवृत्त करके हमारा ध्यान जगत् की सुन्दरता और मनोहरता की ओर आकृष्ट करता है और हमारे सामने एक ऐसी निधि रख देता है जिसे हम नित्यप्रति के भ्रमों तथा सांसारिक स्वार्थ साधन के व्यवसायों में मग्न रहने के कारण आँखों के रहते भी देखने में, कानों के रहते भी सुनने में और हृदय के रहते भी अनुभव करने में असमर्थ होते हैं। कवि ईश्वरीय सृष्टि का रहस्य समझने में समर्थ होता है। किसी सुन्दर और रमणीय स्थान को हम देखते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। एक बेर नहीं अनेक बेर ऐसा होता है। पर चित्रकार की आँखें उसकी सुन्दरता को चट ग्रहण कर लेती हैं और वह उसे चित्रित कर देता है। उस चित्र को देखकर हमारा ध्यान भी उस दृश्य की ओर आकृष्ट होता है और हम उसकी सुन्दरता का अनुभव करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार कवि भी संसार की वस्तुओं की मनोहरता और सुन्दरता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उनका आध्यात्मिक भाव समझ कर हमें उनका ज्ञान अपनी मनोहारिणी और ललित भाषा में कराता है। तब हम भी उसकी सुन्दरता और मनोहरता समझने लगते हैं और उसके आध्यात्मिक भाव की ओर आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार कवि हमें केवल वस्तुओं की सुन्दरता का ही भाव प्रदान नहीं करता, बल्कि हमें इस योग्य बना देता है कि हम कवि की दिव्य-दृष्टि के सहारे जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को देख और समझ सकें तथा कवि की अलौकिक शक्ति का स्वयं अनुभव कर सकें।

विद्यापति को शब्द शक्ति का पूर्ण ज्ञान था। वे भली-भाँति जानते थे कि किस स्थान पर कौन शब्द सबसे अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता है।

कामिनी करए सनाने, हेरितहि हृदय हनए पंचबाने ॥ इत्यादि

—विद्यापति, वेनीपुरी, पद २३

इस पद में 'कामिनी' शब्द कितना उपयुक्त है? कामिनी में काम का निवास है अतएव जो कोई उसकी ओर देखता है उस पर काम के पंचबाण-वृष्टि होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार इस पद में—

तितल बसन तनु लागू, मुनिहुक मानस मनमथ जागू ॥

मनमथ (मन को मथने वाला होकर ही तो) मुनियों के हृदय को भी व्यग्र कर देता है। यदि मनमथ के स्थान पर अन्य पर्याय शब्द को रखें तो सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाय।

कत न वेदन मोहि देसि मदना, हर नहि बला मोहि जुबति जना ।

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ४२

इस पद में हर शब्द से नायिका काम को सूचित करती है कि मैं तुम्हारे प्राणों को हरने वाली हर (महादेव) नहीं हूँ बल्कि युवती (मेल करने वाली) या मिलन सार हूँ ।

अपनी भाषा की मधुरता के सम्बन्ध में तो विद्यापति ने स्वयं कहा—

बालचन्द विज्जावइ भाषा दुहर्नहि लगइ दुज्जन हासा ।

ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई निचचइ नाअर मन मोहइ ॥

यह तथ्य सर्वमान्य है कि विश्व के समस्त देशों का प्राचीन काव्य न विविधता और न अधिकता में ही संस्कृत-साहित्य की बराबरी कर सकता है। ऐसे विशाल साहित्य में सबसे मधुर वाणी जयदेव की है। विद्यापति ने जयदेव की ही शैली का अनुसरण किया किन्तु लोकभाषा के कारण विद्यापति के पदों की मधुरता जयदेव से भी आगे बढ़ गई। यह ठीक है कि 'गीतगोविन्द' की भाषा अनुप्रासबहुला है। किन्तु संस्कृत के अघोष अल्पप्राण वर्णों के स्थान पर लोकभाषा में प्रायः घोष महाप्राण या स्वरों का आगमन हो जाता है। साथ ही लोकभाषा में संयुक्ताक्षर समस्त-पदों का अभाव हो जाता है। यही कारण है कि विद्यापति के पदों में जयदेव से अधिक सरसता है।—

“हृदि विलसति हारो नायं भुजंगम नायकः ॥ इत्यादि ।

—जयदेव

गीतगोविन्द के इस भाव को विद्यापति ने यों अंकित किया—

कतन वेदन मोहि देसि मदना, हर नहि बला मोहि जुबति जना ।

—विद्यापति

यदि उपर्युक्त दोनों पदों की केवल भाषा की दृष्टि से तुलना की जाए तो स्पष्ट है कि विद्यापति जयदेव से आगे बढ़ गये हैं। सूरदास ने इस भाव को अपनाया है और निम्न पद में यों अभिव्यक्त किया है—

सबन अवघ सुन्दरि वधै जनि, मुकता माल अनंग गंग नहि ॥ इत्यादि

—सूरदास

सूरदास के पद में वह मधुरता नहीं है जो विद्यापति के पद में ! इसके दो कारण हैं। विद्यापति का पद जितना अधिक गेय है उतना सूरदास का नहीं। तत्सम शब्द भी दोनों कवियों की रचनाओं में पाए जाते हैं। तत्समता विद्यापति में सूरदास से अधिक है किन्तु उन तत्सम शब्दों को लोकभाषा का रूप (व्याकरण की दृष्टि से) देने में विद्यापति की-सी पटुता अन्य किसी हिन्दी कवि में नहीं पाई जाती।

सच बात यह है कि विद्यापति का संस्कृत, प्राकृत-अपभ्रंश तथा लोकभाषा मैथिली पर पूर्ण अधिकार था। वे इन भाषाओं की काव्य परम्पराओं से पूर्णतः परिचित थे। साथ ही वे काव्यशास्त्र की बारीकियों को भी भली-भाँति जानते थे। यही कारण है कि इनकी पदावली में साहित्यिकता चरमोत्कर्ष को पहुँची हुई है।

तथापि इससे प्रसाद गुण में कमी नहीं आने पाई है। इसीलिये बिहार तथा उत्तर प्रदेश के सुदूर-पूर्वी जिलों में विद्यापति के पदों ने लोकगीतों का स्थान प्राप्त किया है। लोकगीत साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक मधुर और प्रसाद गुणयुक्त होते हैं। निम्न पद में माधुर्य और प्रसाद गुण चरमारूढ़ हो कैसे गूढ़ व्यंजना कर रहे हैं—

करधर कर मोहे पारे, देव मैं अपरूब हारे कन्हैया ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ५८

आचार्य सम्मत कृत 'काव्यप्रकाश' में काव्य का लक्षण बतला कर काव्य के तीन भेद बताये गये हैं। वहाँ उत्तम काव्य का लक्षण यों हैं—

'इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः' अर्थात् यदि व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण हो तो वह उत्तम काव्य कहलाता है और उसी का नाम 'ध्वनि' है। पंडितराज जगन्नाथ अपने 'रसगंगाधर' में बताते हैं 'उत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी चमत्कार-जनक अर्थ को अभिव्यक्त करे, अर्थात् व्यंजना वृत्ति से समझावे—। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के अनुसार व्यंग्यार्थ की प्रधानता ही उत्तम काव्य का लक्षण है।

व्यंग्यार्थ की प्रधानता और वाच्यार्थ की अप्रधानता के उदाहरणस्वरूप विद्यापति के पदों में से उपर्युक्त पद लिखा जा सकता है, जिसमें राधा नदी के उस घाट पर पहुँचती है जहाँ पानी कम है। कोई भी सखी उसके साथ नहीं है। एकाएक माधव को देखकर वह माधव से प्रार्थना करती है कि 'मेरा हाथ पकड़ लो, नदी पार करा दो, मैं उसके बदले तुम्हें हार दूंगी, सखियाँ मुझे छोड़ कर चली गईं, मुझे मालूम नहीं कि वे किस रास्ते से गईं। मैं तुम्हारे पास नहीं जाऊँगी। मैं अवघट घाट जाऊँगी।'।

व्यंग्यार्थ—स्त्रियों के हाथ पकड़ने का अधिकार केवल पति को है। किन्तु राधा स्वयं हाथ पकड़ने के लिए प्रार्थना कर आत्मसमर्पण करती है। माधव को गले का हार देकर गले का हार बनाना चाहती है। सखियों का साथ न होना और उनका अज्ञात पथ से जाना व्यंजना वृत्ति के द्वारा सूचित करता है कि सखियों के आने की कोई संभावना नहीं है। यहाँ लोग आते-जाते हैं, यह एकान्त स्थान नहीं है, यही कारण है कि आत्मसमर्पण करने पर भी मैं तुम्हारे पास जाना नहीं चाहती हूँ। मैं अवघट जा रही हूँ, वह निर्जन स्थान है चलो, हम दोनों वहाँ एकान्त स्थान में क्रीड़ा करें।

यहाँ रति का आलम्बन विभाव नायक है, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन हैं, हाथ पकड़ना अनुभाव है, लज्जा और श्रोतसुक्य व्याभिचारी भाव हैं। इसके संयोग से रति स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है या यों कहिये कि दोनों का प्रेम प्रतीत होता है। उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य के अध्येताओं को विद्यापति के पद अवश्य पढ़ने चाहियें। ऐसे कुछ पद विद्यापति से अमरक की तुलना के प्रसंग में दिये गये हैं।

लोकोक्तियों या कहावतों से भाषा में प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता आ जाती है। किसी विषय के सम्बन्ध में सामाजिक जीवन का चिर अनुभव ही कहावत

का रूप धारण करता है। कहावत सूत्र रूप में सादृश्य मूलक अलंकार है। कहावत के दो-चार शब्द किसी भाव के ग्रहण करने में जितने समर्थ होते हैं उतनी मात्रा में कोई लम्बी-चौड़ी व्याख्या भी नहीं हो पाती। कहावतों का प्रयोग व्यावहारिक भाषा से होता है। अतः जिस कवि की रचनाओं में जितना ही कहावतों का सुचारु प्रयोग होगा उतना ही वह लोकप्रिय होगा। विद्यापति का-सा कहावतों का प्रयोग हिन्दी के किसी भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन कवि में नहीं पाया जाता।

विद्यापति-पदावली का एक बड़ा भाग उक्ति-सौन्दर्य एवं वाग्वैदग्ध्य के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। विद्यापति कविमात्र ही नहीं थे, उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का अनुभव किया था, उसके कटु सत्य को परखा था, राज्यों के उत्थान-पतन के झूले में वे झूले थे और उन्होंने समाज-चेता मनीषियों की भाँति आचार और धर्म को एक बार सुश्रुत खलित करने की चेष्टा की थी। उनका काव्य-ज्ञान भी अद्भुत था। अतः जहाँ उनके पदों में कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान है, वहाँ पांडित्य भी है, लौकिक अनुभव भी है और बुद्धि-विलास भी। उक्ति-स्थापन और वाग्विलास के रूप में वे तत्त्वद्वग्त होते हैं। उक्ति-सौन्दर्य के सिलसिले में पदावली गत लोकोक्तियों का प्रयोग एवं दूती प्रसंगगत दूती की वाक्चातुरी दर्शनीय है। लोक में जो सत्य प्रतिष्ठित हो चुका है अथवा जिसे कवि ने अनुभव द्वारा इस योग्य समझा कि यह तथ्य लोक-जीवन में प्रतिष्ठित होवे, उसे अत्यन्त संक्षेप में सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। पदों में प्रयुक्त ऐसी पंक्तियाँ मैथिली लोकोक्तियों का रूप धारण कर चुकी हैं। डा० उमेश मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'विद्यापति ठाकुर' (पृष्ठ १५८-१८४) में लगभग एक कोड़ी विद्यापति कृत अवहट्ट भाषा की लोकोक्तियों तथा १६२ मैथिली की लोकोक्तियों का संग्रह किया है। उनमें से कुछ प्रस्तुत करते हैं—

(१) दुक्खे सिज्झइ राज घर कज्ज ।

बड़े कष्ट से राजा के दरबार में कार्य-सिद्धि होती है

(२) सब्बउं केरा रिज नग्नन तरुणी हेरहि बंक ।

चोरी प्रेम पिघारिओ अपने दोष सशंक ॥

तरुणी स्त्रियाँ सभी की ऋजु दृष्टि को बाँका समझती हैं। चोरी से प्रेम करने वाली प्रेयसियाँ अपने ही दोष से शंकिता रहती हैं।

(३) कुदिना हितजन अनहित रे,

धिक जगत सोभाव ।

जगत की यह रीति है कि कुसमय में हित करने वाले भी शत्रु हो जाते हैं।

(४) चोरि पिरीत होय लाख गुन रंग ।

गुप्त-प्रेम में बहुत आनन्द आता है।

(५) जेहन विरह हो तेहन सिनेह ।

जितना अधिक विरह होगा उतना ही अधिक प्रेम भी होगा।

(६) सुजन क प्रेम हेम समतूल ।

दहइत कनक दिगुन होए मूल ।

इन लोकोक्तियों से विद्यापति के विस्तृत अनुभव का पता चलता है । इन अनुभवों को कवि ने आश्चर्यजनक रीति से शृंगार के प्रसंगों में चस्पा कर दिया है । अधिकतर दूती-वचन और मान के प्रसंग में जीवन के अनेक क्षेत्रों से प्राप्त अनुभवों को इस प्रकार शृंगारनिष्ठ कर देना अत्यन्त कौशल का काम था, जिसके कारण विद्यापति के काव्य में एक विशेष प्रकार की चमत्कारिता आई है । इन लोकोक्तियों के प्रयोग से कवि का बुद्धि-कौशल तो स्पष्ट होता ही है साथ ही उसके अन्तर्पट और स्वभाव पर भी प्रकाश पड़ता है । वह भाग्यवादी है—हाथे न मेट पखान क रेहा, अवसर बहला रह पछताव । परन्तु कर्म में विश्वास करता है और साहस को अपरिहेय मानता है—साहसे साहिअ असाधे, जे कर साहस ता हो सिधि । वह सुपुरुष और उसके स्नेह का किकर है । उसने दुःख-सुख योग्य-अयोग्य के द्वन्द्वों से भरे इस जगत को समझा है—सकल कंठे नहि कोकिल बानी, सब फूल मधु-मधुर नहि, बिनु दुख सुख करहु नहि होए । संभोग-चित्रण में तो विद्यापति ने लौकिक अनुभवों का सार समेट कर रख दिया है । काव्य में ऐसे प्रसंगों का प्रवेश गर्हित अवश्य माना जाता है, परन्तु इन स्थलों से भी कवि की विदग्धता पर प्रकाश पड़ता है । संभोग (सुरतारम्भ, रति, रत्यन्त) के चित्रण सूरदास में भी हैं, परन्तु वहाँ उन्हें इतना विस्तार नहीं दिया गया, न उनमें विद्यापति-सा सूक्ष्म चित्रण ही है ।

दृष्टकूट एवं प्रहेलिका पद तो विद्यापति ने निश्चित रूप से पांडित्य प्रदर्शन के लिए लिखे थे । चमत्कार-भावना ही उनके मूल में है, सूरदास-जैसी धर्म-साधना नहीं । वस्तुतः विद्यापति महान् पण्डित थे । संस्कृत काव्य-शास्त्र उनका अपना था । उनके काव्य में अलंकारों (विशेषतः उत्प्रेक्षा) का बहुत सून्दर और प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है । इस प्रकार विद्यापति पण्डित कवि हैं । यही कारण है कि उन्होंने एक ही प्रसंग पर अनेक प्रकार की कल्पनाओं का आरोप किया है और अपनी कवि-शक्ति एवं भाँति-भाँति की तर्क-प्रधान उक्तियों के द्वारा वाक्-वैदग्ध्य को प्रतिष्ठित किया है । जैसे सद्यःस्नाता के स्नान-प्रसंग को लेकर उन्होंने अनेक पद लिखे । प्रत्येक पद में नवीन उद्भावनाएँ की गईं । उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि कवि अनुभूति को पार्श्व में रख कर अपनी उत्प्रेक्षा-पटुता दिखाने की चेष्टा में हैं ।

नायिका स्नान करके उठी है । उसके केश-पाश से जल की बूँदें भर रही हैं । इस बात को कवि ने तीन पदों में विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं का सहारा ले बड़ी कला-विदग्धता के साथ यों प्रकट किया है—

(क) चिकुर गरए जलधारा ।

जनि मुख-ससि डर रो अए अँधारा ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २३

(ख) चिकुर गरए जलधारा, मेह बरिस जनु मोतिम हारा ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २४

(ग) केस निगारइत बह जलधारा, चमर गरए जनि मोतिम हारा ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २५

यहाँ प्रथम पद में वह इस कवि-रूढ़ि का आश्रय लेता है कि ग्रंथकार चन्द्रमा (प्रकाश) से डर कर भागता है और रोता है। द्वितीय पद में वह ऐसे मेघों की कल्पना करता है जो पानी के बदले मोती बरसाते हैं। तृतीय पद में मेघ का स्थान चमर ले लेता है, जिसमें ढके हुए मोती टूट-टूट कर गिर रहे हैं।

उदाहरण अलंकार के रूप में अथवा पद्य के विषय का निर्वाह करते हुए अन्त में विद्यापति ने जो अनेक सूक्तियाँ कही हैं वे अपूर्व हैं। इस प्रकार की सूक्तियों का साहित्य में अपना स्थान है। तुलसीदास, अब्दुर्रहीम, गिरिधरदास, वृन्द आदि कवियों के काव्य में इसी तरह की अनेक सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। वृन्द और गिरिधर जैसे नीति कवियों का तो आधार ही ऐसी सूक्तियाँ हैं। वे बात कहने के लिए ही—उक्ति घटाने के लिए ही लिखते हैं। विद्यापति में यह बात नहीं है। यहाँ सूक्ति का विषय के साथ विकास हुआ है, यद्यपि उसका अस्तित्व अलग से भी उतना ही चमत्कारपूर्ण है। मुँशी प्रेमचन्द के साहित्य को छोड़कर हिन्दी के किसी लेखक और कवि में ऐसी सुन्दर सूक्तियों का जमाव मिलना कठिन है, जिनमें जीवन, नीति, मानव-मन, समाज और शिष्टता के सम्बन्ध में इतनी सुन्दर बातें समासतः कही गई हों।

विद्यापति ने अपने शृंगार-काव्य में ऐसी अनेक सूक्तियों का प्रयोग किया, जिनका रति-भाव से दूर का ही सम्बन्ध हो सकता है और उनका पदों के विषय से खूब निर्वाह किया। ऐसी परिस्थिति और किसी के काव्य में नहीं मिलती। इस बात पर कुछ विचारक आश्चर्य कर सकते हैं और कह सकते हैं कि क्यों विद्यापति ने नीति और शृंगार का बेमेल गठ-बन्धन किया? परन्तु इस विशेष गठ-बन्धन के लिए विद्यापति का प्रयास उत्तरदायी नहीं। यह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का विशद् अनुभव ही है विद्यापति का, जो इन सूक्तियों में अनायास ही आ बैठा है। पदावली ही नहीं विद्यापति के अन्य ग्रन्थों से भी पता चलता है कि उन्होंने स्वयं अपने चारों ओर के जीवन का बड़ा विस्तृत अध्ययन किया था। वैसे संस्कृत-मुक्तकों में यत्र-तत्र नीति और शृंगार का गठ-बन्धन भी हो गया था। श्री नरेन्द्रनाथदास ने शृंगार में इस नीति के पुट को देखकर ही लिखा कि विद्यापति को समाज की नैतिक उन्नति की अभिलाषा थी। विद्यापति कविता द्वारा नैतिक शिक्षा प्रदान करने का ठीक वही उपाय काम में लाते हैं जो विश्व कवि शेक्सपियर और कालिदास ने किया है। उन्होंने अधिक प्रभावोत्पादक होने के कारण सरस नैतिक सूक्तियाँ कामिनी के मुख से कहलाई हैं (देखें, विद्यापति काव्यालोक)। समाज में नीति-व्यवहार से सम्बद्ध रचनाएँ विद्यापति ने संस्कृत में भी विभिन्न आश्रयदाताओं के अनुरोध से कीं। विद्यापति के इन लोकोक्तियों के चमत्कारपूर्ण प्रयोग में सबसे बढ़कर बात यह है कि रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियों की भाँति ये जीवन की समस्त परिस्थितियों और निष्कर्षों को शृंगार-मात्र की ओर उद्दीपन रूप से प्रवाहित कर काव्य की विडम्बना बनने से बच गए।

मुक्तक गीत-शैली—मुक्तक काव्यगत एक विशिष्ट शैली है, जिसमें कवि अपने प्रत्येक छन्द में ऐसे स्वतन्त्र भावों की सृष्टि करता है जो अपने आप में पूर्ण होते हैं। मुक्तक काव्य प्रणेता को अपने भाव व्यक्त करने के लिए अन्य सहायक छन्दों की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ कहीं भी भावों की अपूर्णता का भान हो तथा अभिप्रेत भावों को व्यक्त करने के लिए अन्य छन्दों की सहायता लेनी पड़े, समझ लीजिए कि या तो काव्यकार का काव्य-कौशल अपूर्ण है अन्यथा वह काव्य मुक्तक-काव्य नहीं है। छन्दों की परिमित सीमा में अपने आप में पूर्ण खण्ड चित्र की जैसी अनुपम अभिव्यक्ति मुक्तक काव्य के माध्यम से संभव हो सकी है, वह प्रबन्ध काव्यों के लिए सर्वदा स्पृहा की वस्तु है। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छोटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्र-मुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है, अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा (देखें रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इति-हास' संवत् १९९७ पृ० २६८-२६९)। अभिनव गुप्त आचार्य ने लिखा—“मुक्तं अन्येन नालिगितं मुक्तकम्। तस्य संज्ञायां कन्। पूर्वापर निरपेक्षेणापि हियेन रसचर्वण क्रियते तदेव मुक्तकम्। अर्थात् जिसका पूर्वापर किसी पद या कविता से कोई सम्बन्ध न हो, किन्तु फिर भी उससे रसानुभूति हो, उसे मुक्तक काव्य कहते हैं। अग्निपुराण में मुक्तक की परिभाषा के सिलसिले में लिखा है—मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कार क्षमः सताम्।

अर्नेस्ट राइस के अनुसार एक सफल मुक्तक वही है, जिसमें भाव या भावात्मक विचार का भाषा में स्वाभाविक स्पष्टीकरण हो। हीगल का कथन है कि जब विश्व-हृदय में प्रवेश करके कवि अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है, उस अभिव्यक्ति में वह अपनी चित्त-वृत्तियों के अनुसार एक कविता का सृजन करके उसमें काव्योचित माध्यम और कोमलता का समावेश करता है, उसे ही गीति कहते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा के अनुसार सच्चा और सफल गीत वह है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। अनुभूति को तीव्र बनाये रखने तथा उसको दूसरे तक पहुँचाने के लिए भाव की अभिव्यक्ति पर थोड़ा संयम भी आवश्यक हो जाता है। जल बंधी हुई नाली में ही गति के साथ वह सकता है। यह नियन्त्रण और संयम बाहर से नहीं बरन् स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। मुक्तक या प्रगीत काव्य में व्यक्तिगत अनुभूति

की प्रधानता रहती है। अतः गीतिकाव्य की रचना उसी समय होती है जिस समय भाव धनीभूत होकर आवेश के साथ काव्योचित भाषा में अभिव्यक्त किए जाते हैं। इन परिभाषाओं के अनुसार गेय मुक्तकों में निम्न विशेषताओं का पाया जाना आवश्यक है—

- (क) स्वतन्त्र पद-रचना होती है।
- (ख) व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति जिसमें मानव हृदय की समस्त वृत्तियों का चित्रण हो सकता है।
- (ग) संगीतात्मकता और उसी के उपयुक्त कोमल-कान्त-पदावली और सरल एवं श्रुति-मधुर शब्दों का प्रयोग।
- (घ) भावों का एकीकरण और संक्षिप्तता।
- (ङ) अपरिचित शब्दों का प्रयोग और दार्शनिक समस्याओं के विवेचन को अवकाश नहीं।
- (च) भावों की तीव्रता के साथ ही भाषा की स्पष्टता।

तीव्रतम भावावेश को चुने हुए शब्दों में संगीत के सहारे अभिव्यक्त करना ही गीतिकाव्य है। काव्य के तीन तत्व—बुद्धितत्त्व, कल्पना तत्व और भावतत्त्व में से गीतिकाव्य भाव और कल्पना प्रधान होता है। स्वरों के आरोह-अवरोह के साथ कवि हृदय की मार्मिक अनुभूतियाँ पाठकों और श्रोताओं के अन्तरतम में प्रविष्ट हो उन्हें रस-मग्न कर देती हैं। गीतिकाव्य वैसे प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार का हो सकता है किन्तु प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य में भी प्रबन्ध-शैथिल्य रहता है। उसमें पूर्व-वर्ती और परवर्ती छन्दों को उस सूची के साथ परस्पर नहीं बाँधा जा सकता जैसा कि प्रबन्ध काव्यों में रहता है, कालिदास कृत 'मेघदूत' तथा जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

रसानुकूल शब्द-चयन और संगीतमय-छन्द प्रयोग गीतिकाव्य को सरस बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। संस्कृत गीतिकाव्य में अधिकतर शृंगार-रस को अभिव्यक्ति मिली है। उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि कोमलकान्त पदावली तथा भावोद्दीपन के लिए अलंकारों का सुरुचिपूर्ण प्रयोग भी गीतिकाव्य के लिए अपेक्षित है। गीतिकाव्य की पदावली परिचित, सरस और प्रसादगुण युक्त होती है। तभी तो गीतिकाव्य हमें भावमग्न करने में सक्षम होता है।

गीतिकाव्य की परम्परा अति प्राचीन है। वैदिक साहित्य-निधि सामवेद की ऋचाएँ गीत ही हैं। वैदिककालीन साहित्य के उपरान्त बौद्ध साहित्य में भी गीतों को प्रमुख स्थान मिला। बौद्धों की थेर गाथाएँ गीत हैं। जिनमें वैराग्य के प्रति हृदय की भावुकता और उत्साह दर्शनीय है। गीतिकाव्य की सर्वप्रथम रचनाएँ कालिदास कृत 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' मानी जाती हैं। 'ऋतुसंहार' संयोग तथा विप्र-लम्भ-शृंगार और 'मेघदूत' वियोग-शृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसके अनन्तर प्राकृत में हालकृत 'गाथा सप्तशती', संस्कृत में भर्तृहरि के 'शतकत्रय', 'अमरुक शतक', विल्हण की 'चोर पंचाशिका' धोयीकृत 'पवनदूत', गोवर्द्धनाचार्यकृत

‘आर्यासप्तशती’ गीतकाव्य के परमोज्ज्वल रत्न हैं। इनमें भर्तृहरि के ‘नीतिशतक’ और ‘वैराग्यशतक’ को छोड़कर सब में शृंगार की अजस्रधारा प्रवाहित होती है। धोयी और गोवर्द्धनाचार्य के समसामयिक गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव १२वीं शती के आरम्भ में हुए। गीतकाव्य में ‘गीतगोविन्द’ का रचना कौशल सर्वथा नवीन है। उसमें राधा-कृष्ण की शृंगार-लीलाओं को नाटकीय ढंग पर संगीतमय, अनुप्रासात्मक कोमल-कान्त पदावली द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। संस्कृत साहित्य में कुछ सुभाषित संग्रह भी गीतकाव्य के ही अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, यद्यपि ये संग्रह गाये जाने के उद्देश्य से नहीं बनाए गए।

विद्यापति ने संस्कृत के सभी गीतकाव्यकारों के भावों को अपनाया है किन्तु उन पर सबसे अधिक प्रभाव जयदेव का पड़ा। जयदेव की शैली ही नहीं भावों तथा अलंकारों तक को भी विद्यापति ने ज्यों-का-त्यों ले लिया है। यह ठीक है कि उनकी लोकभाषा में जयदेव की-सी अनुप्रासात्मिकता नहीं है परन्तु समासान्त पदावली और संयुक्ताक्षरों का अभाव है, जिससे पद-माधुर्य की वृद्धि हुई है। उनके राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद गोविन्ददास, ज्ञानदास, बलरामदास, चण्डीदास आदि मैथिली एवं बंगाली कवियों के लिए भाव और शैली की दृष्टि से आदर्श बने। उनका प्रभाव पश्चिमी प्रान्तों पर भी पड़ा, और उन्हीं की शैली पर हिन्दी गीत-काव्य के उत्कृष्ट कवि सूरदास ने सूरसागर की रचना की। सूरदास के पश्चात् तो गीतकाव्य रचयिताओं की परम्परा बंध गई। मीरा, नन्ददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने गीतकाव्य से हिन्दी साहित्य-भंडार को समृद्ध किया। यह सब विद्यापति की ही देन है। सूरदास के पदों में काव्य-चमत्कार, भाव-गाम्भीर्य चाहे अधिक हो किन्तु जो उल्लास, मस्ती, माधुर्य, विद्यापति की पदावली में है, वह सूर में अप्राप्य है। विद्यापति की पदावली में यौवन की वेगवती तरंगिणी असंख्य धाराओं में अठखेलियाँ करती हुई बह रही है। बालक यौवन प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है और वृद्ध उसे खो देने पर, उसकी ओर हसरत भरी दृष्टि से देखता है। मानव-जीवन के ऐसे सुन्दर समय का पूर्ण चित्र विद्यापति की ही पदावली में मिलता है (देखें, विद्यापति का ‘अमर-काव्य’ पृ० ६५)।

जयदेव के भाव और भाषा को सामने रखकर ही विद्यापति ने लेखनी उठाई। जयदेव के मुक्तक काव्य की सरलता और माधुर्य से ही वे इसकी ओर आकृष्ट हुए। और वैसे ही कोमलकान्त पदावली को अपनाकर विद्यापति ने अपने पदों में ऐसा रस प्रवाहित किया कि समस्त उत्तर भारत उस रस में निमज्जित हो गया। सच-मुच, मुक्तक काव्य के समस्त गुणों का अपने पदों में समावेश करके वे गीतकाव्य की परम्परा के प्रतिनिधि कवि बन गए। अपने से पूर्व तक की मुक्तक गीत कविता को लोकभाषा का परिधान पहिनाकर विद्यापति ने उसके रूप को जयदेव आदि से भी अधिक मधुर, कोमल और हृद्य बना दिया। संस्कृत पण्डितों के अखाड़े में निवास करते हुए भी विद्यापति ‘देसिल बयनों’ के मिठास पर लुट गए। माधुर्य और कोमलता विद्यापति के पदों की आत्मा है। इनकी रचना में अनुप्रास-प्रयोग इसी दृष्टि से हुआ है कि इसके प्रयोग से माधुर्य में वृद्धि होती है। विद्यापति ने अधिकतर

प्रेम-गीत लिखे हैं। शृङ्गार-रस ही मुख्य वर्ण्य-विषय है। शृङ्गार-रस के उभय पक्ष की सब अवस्थाओं को लेकर ही विद्यापति ने अपनी कविता की मधुर स्रोतस्विनी से हिन्दी साहित्य को आप्लावित किया।

सफल गीतकार की सब विशेषताएँ विद्यापति के पदों में उपलब्ध होती हैं। मुक्तक रचना की प्रमुखतम विशेषता होती है कि उसका प्रत्येक पद परस्पर स्वतन्त्र एवं अपने में पूर्ण होता है। विद्यापति-पदावली के समस्त पद पूर्वपर निरपेक्ष हैं और अपने में किसी रमणीय खण्डदृश्य को सहसा सामने लाकर पाठक या श्रोता को मन्त्र-मुग्ध करने में समर्थ हैं। विद्यापति-पदावली का प्रत्येक पद एक चित्र है। सब चित्र विभिन्न दृश्यों को प्रस्तुत करते हैं। कहीं-कहीं तो किसी पद की एक ही पंक्ति में अनेक चित्र जड़ दिये गये हैं। प्रेम-प्रसंग विषयक निम्न दो पदों पर दृक्पात करने से यह स्पष्ट हो जावेगा कि इन पदों में सामीप्य होते हुए भी किस प्रकार भाव-स्वा-तन्त्र्य विद्यमान है—

(क) पथ-गति नयन मिलल राधा कान, दुहु मन मनसिज पूरल संधान ॥ इत्यादि
—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २७

(ख) सजनी, भल कए पेखल न भेल । इत्यादि

— “ ” पद २८

इन दोनों पदों के भाव में कोई तारतम्य नहीं है। दोनों का अपना स्वतन्त्र स्थान है। प्रथम पद में राधा-कृष्ण के राज-पथ में मिलने का दृश्य उपस्थित किया गया है। किन्तु दूसरे पद में कृष्ण के हृदय में राधा के रूप और सौन्दर्य को देखकर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन है। एक पद के भाव का दूसरे पद के भाव से कोई सम्बन्ध नहीं। यही मुक्तक काव्य के पदों की स्वतन्त्रता का रूप है। यह स्वतन्त्रता ही मुक्तक की सबसे बड़ी विशेषता है। निश्चय ही विद्यापति एक सफल मुक्तककार हैं। उन्होंने अपने समस्त पदों में यह भाव-स्वातन्त्र्य रखा है।

गीतिकाव्य का द्वितीय प्रमुख गुण है व्यक्तिगत भावनाओं की प्रमुखता। समस्त पदावली के भाव एक व्यक्ति के ही भाव हैं। राधा और कृष्ण दोनों ही अपने व्यक्तिगत प्रेम-मिलन एवं विरह के भूले में भूलते हैं। मिलन-प्रसंग में उनके हृदय आनन्द स्रोत से आन्दोलित हो उठते हैं। इस आनन्दातिरेक में उनके भावों में सुख और हर्ष के विविध रूपों का साक्षात् होता है। कभी राधा-कृष्ण विरह-वेदना भी व्यक्त करते हैं नाना रूपों में। राधा की वेदना उसकी अपनी वेदना है। संसार के लोगों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। राधा अपने व्यक्तिगत भावों को कभी सखी से, कभी दूती से प्रकट करती है। पदावली में व्यक्तिगत भावनाओं के ताने-बाने को बड़ी कुशलता से बुना गया है। विद्यापति की नायिका कभी अपने दयित की स्मृति में रुदन करती है, कभी उसकी प्रतीक्षा में चकोर बन रहती है। वियोगावस्था में तो विरहिणी की हृत्तन्त्री झनझना उठती है। सुख और दुःख के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का चित्रण विद्यापति ने बड़ी मार्मिक प्रणाली से किया है। एक सच्चे प्रेमी की उत्सुकता का इससे बढ़कर और क्या चित्र होगा—

नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर, धिरे-धिरे मुरलि बजाव ।

समय संकेत निकेतन बइसल, बेरि-बेरि बोलि पठाव ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १

संकेत स्थल पर बैठकर मुरली डेरते हुए कृष्ण की उत्सुकता यद्यपि व्यक्तिगत उत्सुकता है किन्तु कवि ने उसको प्रत्येक प्रेमी हृदय की उत्सुकता बना दिया है ।

इसी प्रकार वयः सन्धि के भूले पर भूलती हुई नायिका की जो भाँकी प्रस्तुत की है उससे प्रत्येक नव-युवती की मनोदशा प्रकाश में आ जाती है—

खने खन नयन कोन अनुसरई, खने खन वसन धूलि तनु भरई ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ६

विद्यापति ने नायिका की भावनाओं का कैसा सुन्दर चित्रण किया है । प्रत्येक नव-युवती के व्यक्तिगत भाव और हाव ऐसे ही होते हैं ।

विद्यापति का नायक ऐसी नवयौवना नायिका को देखकर विमृग्ध हो जाता है और उसके मुखारविन्द से अनायास ही जिस भाव का प्रस्फुटन होता है वह अत्यन्त स्वाभाविक है । प्रत्येक युवक की दशा इसी प्रकार की होती है । कवि अपनी अभिव्यञ्जना शक्ति के द्वारा उस युवक के हार्दिक भाव को हमारे सामने इस रूप में प्रस्तुत करता है कि मानो वे संसार के प्रत्येक युवा-हृदय के भाव हों—

कि आरे ! नव जीवन अभिरामा, जत देखल तत कहए न पारिअ ।

छओ अनुपम एक ठामा ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ११

विमृग्धकरी नवयौवना का अनुपम सौन्दर्य किसी भी सहृदय युवा के लिए ऐसा ही अनिर्वचनीय होता है ।

संक्षिप्तता और संगीतात्मकता विद्यापति के इन मुक्तक पदों की मुख्य विशेषता है । निश्चय ही विद्यापति एक कुशल संगीत विशारद थे, और कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति का प्रस्फुटन भी इन पदों में खूब हुआ है । विद्यापति के सभी पद रागबद्ध हैं । (देखें डा० सुभद्र भा संपादित 'विद्यापति गीत-संग्रह', डा० जयकान्त मिश्र कृत 'हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर' भाग १) । संक्षिप्तता तो उनके कलेवर से ही स्पष्ट है । अत्यन्त कोमल शब्दों को चुनकर पदावली में सजाया गया है । कर्कश एवं कर्ण-कटु शब्दों से विद्यापति की मंत्री नहीं है । श्रुति-मधुर शब्दचयन एवं अनुप्रास प्रयोग के कारण जिन पदों में बिना प्रयास संगीत की 'लय' आ बैठती है उनमें से कुछ देखें—

(क) नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर, धिरे-धिरे मुरलि बजाव । इत्यादि

(ख) खने खन नयन कोन अनुसरई, खने खन वसन धूलि तनु भरई ॥ इत्यादि

(ग) नव वृन्दावन नव-नव तरुगन, नव-नव विकसित फूल ।

नवल बसंत नवल मलयानिल, मातल नव अलि कूल ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी पद १, ६, १७६

इनके अतिरिक्त आरा नगरी प्रचारिणी सभा, आरा से प्रकाशित 'मैथिल कोकिल-विद्यापति' ग्रन्थ में ऐसे अनेक पद संगृहीत हैं जो मिथिला में एवं अन्यत्र लोकगीत रूप से प्रचलित हैं। इनकी लय और कोमल पदावली निश्चय ही जादू भरी है। इन पदों पर वहाँ तारक का चिन्ह बना हुआ है। इन पदों में अभिव्यक्त प्रेमानुभूति से विभोर हुए बिना नहीं रहा जा सकता। यही मुक्तक गीतकार विद्यापति का साफल्य है।

विप्रलम्भ सम्बन्धी उन पदों में विशेष भाव सौन्दर्य है जो लोकगीतों की धुनों से सधे हैं—

(क) लोचन धाए फेधायल, हरि नहि आयल रे।

सिव-सिव जिवओ न जाए, आस अरु भाएल रे॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६३

(ख) सखि मोर पिया।

अबहुँ न आओल कुलिस हिया ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६४

इन पदों में विरह-जनित वेदना को अत्यन्त सरल और स्वाभाविक रीति से अभिव्यक्त किया गया है। 'सिव-सिव' जैसे शब्दों की पुनरावृत्ति द्वारा नायिका की वेदना में चमत्कार आ गया है। एक-एक शब्द नायिका के अन्तर्पट को सहज रूप से प्रकाशित करने में समर्थ है। इनकी मधुर लय और कोमल पदावली के सुरों में पर-वर्ती वैष्णव भक्त और कवि भूम उठे। विद्यापति के पदों के अनुसरण पर हिन्दी में मुक्तक गीत परम्परा चल निकली। वैष्णव भक्तों ने जो बंगाल से आकर ब्रज भूमि में इन पदों को गाया करते थे, वल्लभ सम्प्रदाय के अन्य भक्तों को भी प्रभावित किया। सूरदास ने अपने पदों की रचना विद्यापति के अनुकरण पर ही की। सूरदास के पदों के भावों का कहीं-कहीं विद्यापति के पदों के भावों से इतना साम्य है कि प्रतीत होता है सूरदास ने विद्यापति के अनुसरण पर ही मुक्तक गीत रचे। इन मुक्तक गीतों में हृदय की वृत्तियों का जितना सुन्दर चित्रण विद्यापति ने किया उतना सूरदास और मीराबाई को छोड़ कर हिन्दी के अन्य कवियों में नहीं मिलता। इस दृष्टि से विद्यापति को हिन्दी मुक्तक गीतकाव्य का जनक कहा जा सकता है।

मध्यकालीन कवि के लिए संगीतज्ञ होना आवश्यक भी था, इसीलिए भक्ति-काल के हिन्दी कवियों ने भी अपनी कविताओं के राग-ताल आदि निश्चित कर दिए हैं। लेकिन विद्यापति के बहुत से गीत ऐसे भी हैं जो स्पष्टतया संगीत के तत्वों से बद्ध न होकर अपनी आत्मा की संगीतमयता के कारण हमें प्रभावित करते हैं। ऐसे गीत मन में अभिप्रेत भाव के अनुकूल ही लय का निश्चित रूप लेकर अवतरित हुए हैं। इन गीतों में जैसे मानव की मानस परम्परा, संस्कार और सुख-दुःख के हजारों क्षणों में प्राप्त अनुभूतियों की लहर है। ये गीत मानव-मन में अभिरसित भाव के साथ इतना शीघ्र तारतम्य स्थापित कर लेते हैं कि जैसे ये हमारे मन की ही उपज हों। अतः ये पद संगीत की बाह्य परिपाटी से अनुचालित न हो कर मानव

के मन में अवस्थित शाश्वत संगीत से होते हैं। इन पदों में शब्द और अर्थ की गुरुता नहीं होती, इनके शब्द अत्यन्त सहज और बहुप्रचलित शब्द होते हैं और सांकेतिक ढंग से भावाभिव्यक्ति कर देते हैं, जैसे—

कूँज भवन सयँ निकललि रे, रोकल गिरधारी ।

एकहि नगर बस माधव हे, जनि कर बटमारी ॥ इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ५६

यहाँ शब्द कैसे निर्वर्ण्य एवं सहज हैं। अलंकरण का कहीं नाम नहीं। समस्त पद में एक विशिष्ट उल्लास भरा आग्रह, लय की पुनः-पुनः उठती-गिरती मनुहार और सबसे बढ़कर हमारे बीच में बहुप्रचलित अपने ही शब्दों का प्रयोग इस गीत को प्राणवान् बना देता है। इसकी सहजता के भीतर भी अर्थ की कमी नहीं है—सखी का निर्जन में होना भयप्रद विद्युत् की चमक, रात्रि का अन्धकार, गोपी के प्रेमोच्छ्वास ये सब संकेतित हैं। इस संकेत को समझ कर हमारा मन अनायास ही इनके साथ हो लेता है।

रीतिकालीन कविता—कलापक्ष

भक्ति काल के कवियों ने विशेषतः ब्रज तथा अवधी भाषा का प्रयोग भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में किया है। कबीर आदि सन्तों की भाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रण है। प्रेममार्गी कवियों ने अवधी को तथा कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया। तुलसीदास का ब्रज तथा अवधी दोनों पर समान अधिकार था। रीतिकाल में विशेष रूप से ब्रजभाषा का ही प्रयोग हुआ। ब्रजभाषा कोमल कान्त पदावली के लिए पहिले से ही उपयुक्त थी। निरन्तर प्रयोग-क्रम से जहाँ यह भाषा परिष्कृत हुई वहाँ रीतिकाल में आकर अलंकार-बाहुल्य से बोझिल भी हो गई। एक ओर यमक और श्लेष के मोह से कवियों ने ब्रजभाषा को क्लिष्ट बना दिया तो दूसरी ओर अनुप्रास आदि शब्द-चमत्कारों के बोझ से कहीं-कहीं भट्टी हो गई। हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों का मिश्रण काव्य भाषा में होता रहा। विशेषकर बुन्देली और पूर्वी के रूप ब्रज में प्रवेश पाते ही गये। भाषा शास्त्र की दृष्टि से किसी भाषा को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है। रीतिग्रन्थों का विकास अधिकतर अवध में हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी आधार पर अपना मत प्रकट किया है कि इस काल में काव्य की ब्रजभाषा में अवधी के प्रयोग अधिक मिले। भिखारी-दास ने “काव्य निर्णय” में काव्य भाषा का विवेचन करते हुए लिखा—

ब्रज भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ ।

मिलै संस्कृत पारस्यो पै अति प्रगट जु होइ ॥

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि ।

सहज पारसी हू मिलै, षटविधि कहत बखानि ॥

रीतिकालीन भाषा के विषय में डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा कि रीतिकाल में भाषा भी रीतिग्रस्त हो गई थी। कोमलकान्त पदावली को चुन-चुन कर कर्कशता का सप्रयास बहिष्कार कर कितने ही अप्रयुक्त शब्दों को अपना कर जिस भाषा परिपाटी

की प्रतिष्ठा की गई, वही समस्त रीतिकाल में चलती रही, और आज भी ब्रज भाषा के कवि उसका निर्वाह उसी प्रकार करते चले जाते हैं (देखें श्यामसुन्दरदासकृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य') । इस युग की काव्य भाषा पर स्थानीय बोलियों का प्रभाव भी है । इसीलिए इन कवियों की भाषा में स्थानीय बोलियों के प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलते हैं, जैसे बिहारीलाल की कविता में कीन, दीन, आदि पूरबी तथा रीभबी, देखबी, चिलक, चाँटत आदि बुन्देलखण्डी शब्दों की अधिकता है । बोलीगत शब्दों के साथ-साथ इन कवियों ने अरबी, फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी किया है, बिहारीलाल में ही जैसे इजाफा, ताफता, दाग, गुनी आदि शब्द मिलते हैं । मुस्लिम साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रांति का शंख फूँकने वाले भूषण भी अपनी कविता को इस काल में खलक, ऐन, दिलगीर, जमात, गरक आदि अरबी-फ़ारसी के शब्दों से मुक्त न रख सके ।

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल उन कवि आचार्यों से सुशोभित रहा जो कविता-कामिनी को भावों की अपेक्षा अलंकारों से सजाने के शौकीन थे । भाषा का सजाव-शृंगार ही अलंकारिकता है । डा० भगीरथ मिश्र इस प्रक्रिया को रीतिकाल की प्रवृत्ति मानते हैं । प्रत्येक कवि भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यधिक सजग है । वर्णमैत्री, अनुप्रासमयता, ध्वन्यात्मकता, शब्द गति, शब्दशोधन, अनेकार्थकता इस युग के काव्य की विशेषताएँ हैं । रीतिकाल के कवियों ने भाषा में प्रसाद, माधुर्य, सूकुमारता, अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य आदि गुणों को लाने की सफल चेष्टा की । बिहारीलाल आदि कवियों ने भाषा को समर्थ बनाने के लिए 'लहलहात', 'भलमलात', 'जगमगात' आदि सजीव शब्द दिये । घन आनन्द ने भी 'हहरि', चमोय, धूँवर, लहा-छहे, चांप, चुहल, मखमूर, आदि नवीन शब्दावली देकर भाषा को समर्थ बनाया ।

सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछापी कवियों ने जिस ब्रजभाषा के जिस चलते रूप को काव्य में प्रयुक्त किया उसे रीतिकालीन बिहारीलाल, देवदत्त, मतिराम, पद्माकर, सेनापति, भिखारीदास, भूषण, सूदन आदि कवियों ने कठोर साधना के फलस्वरूप सुष्ठु एवं परिमार्जित किया और रीतियुग के रीतिमुक्त (तथापि रीति-प्रभावित) कवि घन आनन्द ने उसको इतना विशुद्ध, सरस, शक्तिशाली तथा प्रौढ़ बना डाला कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को लिखना पड़ा कि भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ लेते थे ।

वस्तुतः भाषा-शैली भावाभिव्यक्ति की वह प्रणाली है जिसमें कवि शब्दों, विशेषणों, लोकोक्तियों, मुहावरों, अलंकार एवं अप्रस्तुत-विधान की ऐसी विशेष योजना प्रस्तुत करता है कि वह अपेक्षित प्रभाव पाठक और श्रोता पर छोड़ सके । कवितागत चित्र-योजना में शब्द, विशेषणादि के चुनाव का महत्त्व तो रहता ही है साथ ही वे व्यक्तिगत रुचि और सामाजिक परिवेश से भी प्रभावित होते हैं । इस स्थान पर हम इन कवियों द्वारा प्रस्तुत शब्द-चयन, शब्दों की नाद-योजना या शब्द-ध्वनि, इनके विशेषण लोकोक्तियाँ और मुहावरे, चित्र-योजना और अलंकार आदि

का विवेचन कर यह देखेंगे कि इनका प्रयोग किन भावों की एकतानता लाने के लिए हुआ ?

रीति कविता से पूर्व भक्ति कवियों की राम और कृष्ण-लीला को केन्द्र में रखकर धार्मिक संदर्भ में प्रयुक्त कविता में इहलौकिक शृंगार-शब्दावली को भी पवित्र भाव से भरा समझा जाता है। परन्तु रीतिकालीन कवियों के भक्ति-परक पदों के विषय में आज हृदय शंकित हो उठता है। ऐसा होने में दो बातें कारण हो सकती हैं—एक तो उन कवियों का विभिन्न एवं विशिष्ट व्यक्तित्व और दूसरे सामाजिक परिवेश में शब्दों की परिवर्तनशील अर्थवत्ता। रीतियुग में भक्ति कविता के बहुत से शब्द नये सामाजिक जीवन के सम्पर्क में आ नये सम्बन्धों को सूचित करने लगे। कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों की अर्थवत्ता (परिवर्तित) तथा उनका चयन निश्चय ही सामाजिक जीवन में उनके परिचलन पर निर्भर करता है। जैसे कृष्ण और राधा आराध्य देव-देवी के सम्बन्धों से हट कर जब नायक-नायिका के प्रेम-सम्बन्धों से जुड़े तो उनकी अर्थवत्ता बदल गई और उसका उत्तरदायित्व सामाजिक परिवेश पर है। भक्त कवियों के आराध्य देव-देवी कृष्ण और राधा रीति कविता में सामान्य नायक-नायिका के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे कृष्ण और राधा में यह नवीन अर्थवत्ता लोक-जीवन से संचरित हुई। रीतियुग के अन्तिम चरण तक आते-आते 'सांवलिया' और 'कन्हैया' जैसे शब्द मात्र रसिक नायक का द्योतन करने वाले हो गए, क्योंकि जीवन में भी लोगों को कन्हैया का नाटक प्रिय लगता था। 'लाल' शब्द सामान्यतः पुत्र के अर्थ में चलता रहा है यथा—दशरथलाल, नन्दलाल। यशोदा के 'लाल' में वात्सल्य भाव निहित है परन्तु वहीं गोपियों के 'लाल' में प्रिय का भाव है—

“आछे मेरे लाल हो ऐसो आरि न कीजै”

—देखें सूरदासकृत 'सूरसागर', सभा संस्करण, पद ८०८

रीतिकाल में 'लाल' सामान्य नायक का बोध कराने लगा। भक्तिकाल की कविता में लाल शब्द प्रायः कृष्ण के लिए आता रहा। लेकिन जिस प्रकार कृष्ण शब्द स्वयं रीतिकालीन कविता में नायक का बोधक हो गया उसी प्रकार उनके पर्यायवाची शब्द भी वही अर्थ देने लगे। 'लाल', का प्रयोग तुलसीदास ने बालक के अर्थ में किया है—'रामलला नहछूँ', 'बलि जाऊँ लला' आदि। शूरसेन प्रदेश में आज भी बच्चे को दुलार में लला-लली कहा जाता है। रीतिकाल में 'लला' भी नायक का वाचक बन गया। अब लला के लिलार पर महावर को देखा जाने लगा, होली आदि के हड़दंग-प्रसंग में उसे पुनः पुनः निमन्त्रित किया जाने लगा। ऐसे ही शक्तिशाली, साहसी, पति, पुत्र आदि अर्थ रखने वाला 'बीर' शब्द 'बीरे' भाई का वाचक तो बना ही रीतिकालीन वातावरण में यह 'सखी' का अर्थ भी देने लगा। निश्चय ही रीतिकालीन नायिका के लिए साहसपूर्वक प्रिय-मिलन में सहायिका 'सखी' को 'बीर' शब्द ने अधिक सार्थकता प्रदान की।

क्या कविता और क्या गद्य-साहित्य सर्वत्र ध्वन्यात्मक शब्दों के द्वारा पाठकों या श्रोताओं में उत्तेजनात्मक प्रतिध्वनि उत्पन्न करने का बड़ा महत्त्व है। यह प्रति-

ध्वनि काव्य से जब उद्भूत होती है तो सहृदय के संवेगों पर आघात करती है और गद्य साहित्य में बाह्य यथार्थता का भान कराती है। इसीलिए कविता में शब्दों की गूँज का महत्त्व है तो गद्य साहित्य में उनकी चित्रात्मक शक्ति का। रीतिकालीन कवियों ने मिलन-प्रसंग में प्रेमोत्तेजक-परिवेश की निर्मात्री शब्द ध्वनियों का सहारा लिया है। प्रेमोत्तेजक-परिवेश निर्माण के प्रसंग में उन्होंने प्रायः तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है—रणनात्मक, अनुकरणात्मक और लक्षणा-प्राण या लक्षक।

रणनात्मक शब्द—सुरत-प्रसंग में ध्वनि के आधार पर नाम या जाने वाले श्रुति-मधुर रणनात्मक शब्दों का प्रयोग कामक्रीड़ा का सूचक तो है ही साथ में वह ऐसे परिवेश का निर्माण करने में भी समर्थ है जो बहुत उन्मादक एवं उत्तेजक प्रतीत होता है—

(क) झिल्लिन लों भहनाइ के किकिनि बोलें सुकी सुक को सुख दैनी ।

यों बिछियान बजावत बाल मराल के बालनि ज्यों मृग नैनी ॥

—तोषनिधि

(ख) भांझरियां झनकेगी खरी खनकैगी चुरी तनको तन तोरे ॥

—भिखारीदास

देवदत्त ने रणनात्मक शब्दों की सहायता से एक अति उद्दीपक चित्र यों अंकित किया है :—

‘घन घेरि घटान को सोरु पर्यो सु अटा पर मोर पुकारनि सौ’ ॥ इत्यादि यहाँ अनुराग आतुरा नायिका उन्नत मेघ-घटा और मयूरों की केका को सुन कर अटारी पर चढ़ने लगी। हड़बड़ाहट के कारण उसके नूपुर, किकिणी आदि आभूषण स्वतः बज उठे। आभूषणों की प्रतिध्वनि से मणि-खचित महल झनझना उठा। आभूषणों की गूँज से रंग-भवन का झंकृत होना झंकार विशेष का मूर्त रूप प्रस्तुत करने में समर्थ तो है ही, वह पाठकों की राग भावनाओं को उद्दीप्त भी करता है।

अनुकरणात्मक शब्द—अनुकरणात्मक शब्द यहाँ प्रायः नायक-नायिका के वस्त्रों के हवा में लहराने का आधार लिए हुए हैं। यथा—

(क) फहर फहर होत पीतम को पीतपट लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया ।

—देवदत्त

(ख) फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झवा के झहरै ॥

—बेनी प्रवीन

इन वर्णनों में प्रियतम के पीत-पट और प्रियतमा की चुनरी अथवा धोती आदि का भीतापन—पारदर्शिता और लहर का उल्लेख करके संयोग शृंगार सम्बन्धी उल्लास भरा वातावरण प्रस्तुत हुआ है।

लक्षणा-प्राण या लक्षक शब्द—इन शब्दों में नाद तत्त्व के साथ पूर्ण सौन्दर्य लक्षणा के द्वारा प्रकाश में आता है। बिहारीलाल की तारुण्य विषयक ‘लहलहाति तन तरुनई’ उक्ति में ‘लहलहाति’ ऐसा ही शब्द है। लोक में शस्य-श्यामला धरनी पर हवा और धूप में स्वच्छन्द रूप से झूमती और चमकती हुई खेती को देखकर प्रयोग किया जाता है कि बाह क्या खूब खेत लहलहा रहे हैं ? यहाँ तरुनाई के

मुख्यार्थ (अवस्था विशेष) का बोध हो जाने पर लक्षणा के सहारे प्रसन्न-स्वस्थ, भूमते मादक यौवन की प्रतीति होती है, इस शब्द से। ऐसे ही देवदत्त ने लिखा—“उमङ्गो परत रूप’। उमङ्गे में जो रूपातिशय था उसे भी मानो देवदत्त ने लक्ष्यार्थ के सहारे इन्द्रिय-ग्राह्य बना दिया। इन कवियों की शब्द-योजना पर गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उनकी इस योजना के दो लक्ष्य रहते थे—ऐन्द्रिय उल्लास-मय वातावरण उपस्थित करना अथवा रूप के ऐन्द्रिय चित्र चित्रित करना। इस काल की कविता में ऐन्द्रिय पक्ष की विवृति तत्कालीन कवियों के प्रेम में उपभोग के पक्ष के प्राधान्य की घोषणा करती है।

विशेषण शब्द—काव्योचित विशेषण शब्द इन्द्रियगोचर मूर्तरूप की सृष्टि में क्योंकि अधिक समर्थ सिद्ध होते हैं, अतः भावोद्दीपन के उपयोगी विशेषण शब्दों का चयन काव्य-शिल्प की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये शब्द विशेष्य की क्रिया अभिप्राय और रुचि और व्यापार द्योतन तो करते ही हैं, ध्यान रखने की बात यह है कि इनके मूल में प्रयोक्ता का अपना दृष्टिकोण भी निहित होता है। रीतिकालीन कवियों में विशेषण-शब्दों के चयन में किस दृष्टिकोण का परिचय दिया है या उनके प्रयोग से कैसे चित्र उभरते हैं, यह बात उनकी कविताओं में प्रयुक्त कुछ प्रधान विशेषण शब्दों पर दृक्पात करने से स्पष्ट हो सकती है। कुछ विशेषण-शब्द निम्न प्रकार से निर्दिष्ट हैं —

नेत्र-विषयक विशेषण शब्द—बिहारीलाल-प्रयुक्त-अनियारे नयन, अहेरी नैन, वंक विलोकनि, ललचोही चखनि, लगे हैं नैन, अलसौं हैं नैन, तिरोछी दीठि, हँसो हैं नैन, सकुचोही दीठि, निगोड़े नैन, कंटीली भौंह आदि।

देवदत्त-प्रयुक्त—तरल तीखे अनसीले नैन, बड़रे दृग, बड़ी-बड़ी आँखें, तीखी चितौनि, बड़े-बड़े कजरारे नैन, करेरे-कटाक्ष, मोह मही उमड़ी बड़ी आँखिन, लाज कसी आँखियाँ, विसाल अनूप रसाल बड़े-बड़े नैन री आदि—

मतिराम-प्रयुक्त—नचो हैं नैन, सतरोंही भौंहनि, अनखभरी आँखियानि, दोस-भरी आँखियानि आदि।

पद्माकर-प्रयुक्त—सुन्दर सुरंग नैन, रसभीने बड़े दृग, चंचल चितौनि आदि।

ठाकुर-प्रयुक्त—कजरारे कटाक्ष, बाँके नैन आदि।

कुच या उरोज विषयक विशेषण शब्द

बिहारीलाल-प्रयुक्त—उतंग, खरे उरोजनि आदि।

देवदत्त-प्रयुक्त—ग्रीछे उरोजनि, करेरे कुच, ठाढ़े उरोजन, ऊँचोहे उठे कुच, उठत उरोजन आदि।

मतिराम-प्रयुक्त—निपट कठोर उरजन आदि।

पद्माकर-प्रयुक्त—उच्च कुच, उचके कुच कोरन, उचो हैं कुच आदि।

आलम-प्रयुक्त—उरज अछूत, उरजउतंग आदि।

शारीरिक वस्त्र और रूपादि विषयक अन्य विशेषण शब्द

बिहारीलाल-प्रयुक्त—नाजुक बाल, हँसोहँ मुख, सुरंग कुसुंभी चूनरी आदि ।

देवदत्त-प्रयुक्त—चूनरि लालखरी, सघन जघन, निविड़ नितंब, थोरी-थोरी बैस, चटकीली चूनरी, जगमगे जोवन, टटकी लगन, गदगदे गोलन कपोलन आदि ।

मतिराम-प्रयुक्त—मुखर मंजीर आदि ।

पद्माकर-प्रयुक्त—उलही छवि आदि ।

निश्चय ही ऐसे विशेषण शब्दों से काव्य—सौन्दर्य और शिल्प—विधान दोनों में निखार आता है । बिहारीलाल ने नेत्रों के लिए प्रायः एक से ही विशेषण शब्दों का प्रयोग किया है । दो कारणों से ऐसा सम्भव प्रतीत होता है, एक तो बिहारीलाल सजग शिल्पी थे । वे जानबूझ कर ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे और दूसरे दोहे के सीमित कलेवर में विभिन्न और बड़े-बड़े विशेषण शब्द समा भी नहीं सकते थे । बिहारीलाल ने अपने विशेष्य (नायिका) के स्वभाव या क्रिया को स्पष्ट करने के लिए विशेषण शब्दों का अधिकतर प्रयोग किया है । उनके द्वारा प्रयुक्त ललचोहँ, लगोहँ, अलसोहँ आदि विशेषण शब्द उस व्यापार के बोधक हैं जो पाठकों और श्रोताओं के हृदय में विशिष्ट उत्तेजनामूलक अनुभूति को अंगड़ाई लेने को मजबूर करते हैं । देवदत्त-प्रयुक्त “तरल तीखे अनसीले नैन” (देखें, सुखसागर तरंग छन्द ३०७) में तरलता से नेत्रों की सहज चंचलता, तीखे से उनके प्रभाव और अनसीले से उनके सारल्य का एक दृश्य-चित्र उपस्थित हो जाता है । तरल के व्यवहार से इसमें रस की तरलता भी है । इसी प्रकार पद्माकर-प्रयुक्त ‘रसभीने बड़े दृग’ (जगद्विनोद छन्द ३४) में ‘बड़े’ नेत्रों के आकार का द्योतक है, ‘रसभीने’ नायिका की अवस्था और मनःस्थिति का प्रकाशक । ये विशेषण शब्द भी पाठकों और श्रोताओं के मन में विशेष संदर्भ में प्रयुक्त होकर एक उत्तेजना पूर्ण ऐन्द्रिय भावना उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ।

कुचों के लिए ओछे, उच्च, पीन आदि उनके आकार एवं ‘कठोर करेरे’ आदि उनके गुणों के द्योतक हैं । ठाड़े, उचोहँ, उठे, उचके आदि विशेषण पदों से कुचों का वह व्यापार भनित होता है, जिससे ऐन्द्रियोत्तेजन में तीव्र विह्वलता आ मिलती है । ‘अछूत’ आदि विशेषण शब्दों से उरोजों की वे सब विशेषताएँ एकत्रित कथित होती हैं, जिनके प्रति रसिक कवि का हृदय ललक से भरा रहता है ।

चूनरी के लिए लाल, कुसुम्भी और चटकीली ये तीन रागोद्दीप्त विशेषण शब्द प्रयुक्त हुए हैं । प्रायः चूनरी और साड़ी के लिए लाल शब्द विशेषण के रूप में आया है । लाल रंग अन्य रंगों की अपेक्षा अधिक उत्तेजनामूलक होता है । देवदत्त ने इस रंग को और अधिक उत्तेजनाप्रद और प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से ही चुनी ‘चूनरि’ लाल के साथ ‘खरी’ एक अन्य विशेषण शब्द और जोड़ दिया ।

परम्पराओं को स्वीकृत करते हुए भी घन आनन्द के द्वारा प्रयुक्त विशेषण शब्द रीतिबद्ध कवियों से भिन्न हैं । उनके वृषित चखनि, अँखियाँ निपेटनि, प्रीतपगी अँखियानि, अँखियाँ दुखदाई आदि विशेषण शब्द एक विशिष्ट दृष्टिकोण की ओर

संकेत करते हैं। इनमें विषयीनिष्ठता है। बिहारीलाल, मतिराम; देवदत्त, पद्माकर आदि कवियों ने अधिकांशतः आलम्बन नायिका गत विशेषणों का प्रयोग किया है, जबकि घन आनन्द ने अधिकतर आश्रय नायक स्वयं गत विशेषण लिए हैं। बिहारीलाल आदि रीतिबद्ध कवियों ने प्रेमोत्तेजक ऐन्द्रिय विलास के मादक चित्रों की सृष्टि की है और घन आनन्द जैसे ने व्यथा और दैन्य को उद्दीप्त करने वाले विशेषण शब्दों का संयोजन प्रस्तुत किया है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे

लोकोक्तियाँ और मुहावरे लक्षणा-परिधि में आते हैं। प्रयोग-प्रचलन के कारण इनका अर्थ किसी-न-किसी निश्चित अर्थ में रूढ़ पाया जाता है। प्रयोग के आरम्भिक दिनों में ये अवश्य ही प्रयोजनवती लक्षणा के रूप में होंगे, रूढ़ि लक्षणा की कोटि में ये अपने प्रयोग के द्वारा आये। यहाँ भी मुख्यार्थ-बाध रहता है और मुहावरे या लोकोक्ति में प्रयुक्त शब्दों से किसी विशेष अभिप्रेत अर्थ को गृहीत करते हैं।

सामाजिक विधि-निषेधों का ध्यान रखते हुए जब कभी सांकेतिक शैली में हार्दिक भावों को थोड़े में प्रखरतर ढंग से व्यक्त करना चाहता है तो मुहावरे उसकी सहायता करते हैं। इस प्रसंग में यदि कवि मुहावरा-लोकोक्ति-कोष के पन्ने पलटता दृग्गत होता है तो उसके काव्य में भावोत्कर्ष का स्थान चमत्कार-प्रियता ले लेती है। स्पष्ट ही इनका प्रयोग कविता की प्रवृत्ति और कवि की मनोवृत्ति का प्रकाशक है।

लोकोक्ति मुहावरे की अपेक्षा कम व्याप्ति वाली होती है। इसका कारण लोकोक्ति पूर्णवाक्य रूप से प्रयुक्त होती है और इस रूप में सदा (मुहावरे की अपेक्षा) अपरिवर्तित रहती है। परन्तु मुहावरा वाक्यांश होता है, जो काल, पुरुष, लिंग और वचनादि के अनुसार नवीन रूप ग्रहण करता रहता है। इस व्याप्ति-आधिक्य के कारण ही मुहावरे लोकोक्तियों की अपेक्षा काव्य-भाषा तथा बोली में भी अधिक प्रयोग में आते हैं। मुहावरे की व्याप्ति इस रूप में भी समझी जा सकती है कि जहाँ कविता में लोकोक्ति प्रयुक्त होती है, वहाँ केवल लोकोक्ति अलंकार होता है। जबकि मुहावरा स्वभावोक्ति प्रयुक्त, रूढ़ोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोधाभासादि अनेक अलंकारों को अपना विषय बना सकता है। अलंकारों के साथ जुड़ कर मुहावरे दुहरा काम साधते हैं—एक तो भावों को तीव्रता प्रदान करना, दूसरे अलंकारों में चमत्कार-वृद्धि करना।

रीतिकालीन कविता (रीतिबद्ध + रीतिमुक्त) में नेत्र, मन और हृदय-चित्त-दिल विषयक मुहावरों का प्रयोग खूब हुआ। इनसे सम्बद्ध मुहावरों का नीचे निर्देश करते हैं—

नेत्र विषयक मुहावरे

बिहारीलाल-प्रयुक्त—लोचन लेत लगाय, दीठि जुरि दीठि सों, नैनन ही सों बात, दृगति लगनियाँ लाय, नैन मिलत, लोचनि बड़ी बलाय, नैना लागत, कहूँ दीठि

लगी कै काहू की दीठि, लगालगी लोयन करै, आँखिन आँख लगे खरी, कहाँ लडैते हग करै आदि ।

देवदत्त-प्रयुक्त—बंक विलोकनि ही पै बिकान्यो, मिले हग चारों, नैन भरि नैसुक निहार्यो, योगिनी अँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ आदि ।

मतिराम-प्रयुक्त—अँखियाँ भरि आई, भौंहं चढ़ाय, हग जोरै, नैनन को फल पायो, नैन जोरि आदि ।

पद्माकर-प्रयुक्त—हग दें रहति, हग फेरे रहें, उनकी उनसे जो लगी अँखियाँ, अँखियाँ ते न कढ्यो आदि ।

मन विषयक मुहावरे

बिहारीलाल-प्रयुक्त—भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लोन, लगालगी लोयन करहि, नाहक मन बँधि जाहि, जात कठिन ह्वै अति मृदुल तरुनी-मन-नवनीत आदि ।

देवदत्त-प्रयुक्त—मानिक-सो मन, मोहि मिल्यो जब मैं मन-सीत, उठी मदनागि पधिलाव्यो मन मोम-सो, भाखन-सो मन, काम-धाम-धी-ज्यों पधिलात घनश्याम-मन आदि ।

मतिराम-प्रयुक्त—गनत न मन पथ कुपथ, मन बांधत बेनी बँधे; मन लागे, नैनन लगे, मन भायो न किये, मन हाथ न लीनों आदि ।

पद्माकर-प्रयुक्त—गुन औगुन गनै नहीं, मन घरिआयो है, एकन को मन लैचलै, मन की मन ही में रही अभिलाषै आदि ।

हृदय-चित्त-दिल विषयक मुहावरे

बिहारीलाल-प्रयुक्त—छप्पो नेह कागद-हिये, जासों है लग्यो हियो-ताही के हिय लागि, लिये जात चित चौरटी, चोरि चित आदि ।

देवदत्त-प्रयुक्त—मूरति चित चढ़ी है, चित लाल चूमि रह्यो आदि ।

मतिराम-प्रयुक्त—हिय हजारन के हरै, उर आगि न लगाइये, चित चोरि आदि ।

पद्माकर-प्रयुक्त—चित्त देवो करै, ज्यान जी कौ, दिल ही की दिल में आदि ।

रीतिमुक्त कवियों में से घन आनन्द की कविता में प्रयुक्त कुछ मुहावरे ये हैं—एक विलास की टेक गहे, जग बाजत नेह डौंडी, अँखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगै कौन घरी सुलगी, जानि न परत जान कैसे प्रान ऊबरे, कुछ न बसाति, नेह निधान सुजान समीप तौ सींचति ही हियरा सियराई, जियरा उड्यो सो डोलै हियरा घड़क्योई करे, तुम कौन घौं पाटी पढ़े हो, रूई दिये रहोगे कान आदि ।

यह ठीक है कि घन आनन्द के मुहावरे व्यक्तिगत विशेषता, टीस, खीभ, उपालम्भ और विरह से भरे हैं। आँखों की 'लाग' को 'अनोखियै' विशेषण से

संयुक्त किया है जो आँखों के अनोखेपन के साथ-साथ रीतिबद्ध-कवियों के मुकाबले उनके अनोखेपन को भी बताने वाला है ।

सामान्यतः रीतिकालीन कवितागत नेत्र, मन और चित्त विषयक अधिकांश मुहावरों की प्रवृत्ति को आँख लड़ना, मन फँसना और चित्त का चुराया जाना इन तीन मुहावरों में ही सीमित किया जा सकता है । इनका अध्ययन इस परिणाम पर पहुँचाता है कि इनके प्रेम में रूपासक्ति का प्राधान्य और विषय-जन्य सुख की प्रमुखता थी । क्योंकि आँख लड़ने के मूल में रूप और यौवन का आकर्षण है । और आँख लड़ने के साथ ही मन बँधने और चित्त के चोरी होने की क्रिया कब सम्पन्न हो जाती है, इसका पता नहीं चलता ।

मुहावरों के प्रयोग से कवितागत अलंकारों के कथन में वक्रता और एक विशेष चमक आ जाती है जिससे भावों की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि होती है । रीतिकालीन कविता में मुहावरों का मणि-काँचन योग हुआ है । बिहारीलाल और मतिराम की रचनाओं से मुहावरों के प्रयोग द्वारा चमत्कार वर्द्धन के दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

(क) लगालगी लोयन करै नाहक मन बँधि जाय ।

—बिहारीलाल

(ख) हग उरभूत, टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥

—बिहारीलाल

(ग) मेरे पग लागि उर आगि न लगाइए ।

—मतिराम

घन आनन्द के विरोधाभास अलंकार के दृष्टान्तों में भी मुहावरे जिस चमत्कार को भरते हैं वह दर्शनीय है—

(क) अखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगै, कौन घरी सुलगी ।

(ख) कल न परति कहूँ कल जो परति होय,
परनि परी हौँ जानि परो न परति है ।

रीतिकाजीन कवितागत इन मुहावरों में रूपासक्ति-प्राधान्य और विषय जन्य सुख की अतिशयता तो है ही, साथ में इनका सम्बन्ध घरेलू वातावरण से भी है । कान्हू के बोल पै कान न दीन्हों, चलत घरेलू, ठँग गनोगी, जी का ज्ञान आदि मुहावरों गृहस्थ में नित्य चलते रहते हैं । 'जी का ज्ञान' और 'ठँग गनोगी' तो गृहस्थ नारी जीवन में प्रायः व्यवहृत होते हैं ।

इस प्रसंग में ठाकुर-प्रयुक्त भावोत्कर्ष विधायिनी कुछ लोकोक्तियों का निदर्शन भी अभीष्ट है । देखें—

(क) देखति हौँ व्रज की लुगाइन भयो धौ कहा,

खेति की कहैं तैं खरिमान की समझति ।

(ख) जो बिष खाय सो प्राण तजै, गुड़ खाय सो काहे न कान छेदावै ।

- (ग) राजा हूँ के तजो न्याउ संगी हूँ कै करे घाऊ,
बारी खेत खाय तो उपाय कहा कीजिए।
(घ) मूसर चोट की भीति कहा बदि कै जब मूड़ दियो ओखरि।
(ङ) बिन आपने पाँव बिवाई गये कोऊ पीर पराई न जानत हैं।
(च) चलि दूर भटूहों वृथा भटकी लगै दूर के ढोल सुहावने री।

स्पष्ट ही ये लोकोक्तियाँ लोक जीवन से गृहीत हैं, अतएव इनकी मर्मस्पर्शिता और अधिक बढ़ जाती है। खेत, खलियान, गुड़, मूसर, ओखली, ढोल आदि से यह भी सूचित है कि ठाकुर लोक (नगरेतर-ग्राम्य) जीवन से भी झुले-मिले थे। वस्तुतः रीतिकवितागत लोकोक्ति और मुहावरों के अन्तर में जो प्रेमधारा प्रवाह माना है वह क्रीड़ात्मक है और है उसमें रूप के प्रति आसक्ति। गोरटी नारी का चित्त चुरा ले जाना, साल का चित्त में चुभना आदि मुहावरे रूप के प्रति मानसिक आसक्ति के द्योतक हैं और नेत्रों का लड़ना-लड़ाना मन का पथ-कुपथ न गिनना आदि मुहावरे प्रेम विषयक क्रीड़ा-प्रवृत्ति को द्योतित करते हैं। घन आनन्द आदि के मुहावरों और लोकोक्तियों में व्यक्तिगत प्रेम-विवशता, खीझ और उपालम्भ हैं। रीतिकालीन कवियों के लोकोक्ति और मुहावरे के तन्तुओं से काढ़े गये प्रेम-चित्र चाहे आसक्ति मूलक हों या वेदना मूलक वे लोक के गृहस्थ जीवन से दूर नहीं हैं।

चित्र-विधान

निश्चय ही कविता का क्षेत्र भाव और अनुभूतियों का क्षेत्र है। इन भावानु-भूतियों को श्रोताओं अथवा पाठकों तक प्रेषणीय बनाने के लिये चित्र को माध्यम बनाया जाता है। अपने विशिष्ट लय, छन्द और संगीत आदि के कारण काव्य-चित्र भावोत्तेजक, मनोरम और रससिक्त होते हैं। सामान्यतया काव्य चित्रों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—लक्षित चित्र (Direct imagery) और उप-लक्षित चित्र (Figurative imagery)। लक्षित-चित्र प्रधानतया बाह्य रेखाओं पर आधारित होते हैं, अतः उन्हें रेखा चित्र भी कहा जा सकता है। इन रेखा चित्रों में आलम्बन के रूप-सौन्दर्य और चेष्टाओं का अंकन रहता है। कविता के क्षेत्र में आपेक्षिक रूप से उपलक्षित चित्रों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यहाँ कवि अपने घनीभूत भावों को अप्रस्तुतों के सादृश्य-विधान की सहायता से बड़ी मार्मिक एवं सरस अभिव्यक्ति प्रदान करता है। उपलक्षित-चित्रों का मूल आधार उपमा और रूपक का सादृश्य-विधान होता है। लक्षित-चित्रों (रेखा चित्रों) में कवियों के चेतन मन और उपलक्षित चित्रों में उनके अवचेतन उद्घाटित होते हैं।

लक्षित-चित्र

रीतिकाल के अधिकांश कवि नायिका भेद और नख-शिख-वर्णन की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सके। उनकी कविताओं में घूम-फिर कर नायक-नायिकाओं के विविध छवि-चित्र ही अंकित हुए हैं। नख-शिख वर्णन के चित्र तो अत्यधिक धिसे-पिटे-से प्रतीत होने लगते हैं। तथापि अनेक चित्र (नायक-नायिका-छवि के) नयना-भिराम हैं, इसमें दो अभिमत नहीं हो सकते।

प्रेम के उत्पादन का प्रधान कारण रूप है। हाव उसी का प्रधान उत्तेजक उपकरण है। हाव प्रेम-प्रदर्शन तथा आकर्षण सम्बन्धी किया गया सचेष्ट व्यापार कहलाता है। केवल रूप वर्णन से न तो इस काल के कवि स्वयं तृप्ति-लाभ करते थे और न उनके आश्रयदाता रसिक सामन्त ही। हाव आदि के वर्णन से एक ओर तो भोगवृत्ति को पोषण मिलता है और दूसरी ओर प्रेम का उद्दीपन भी होता है। इस उद्देश्य से रूप और हाव आदि को चित्रों में बाँधने वाली रेखाओं का बहुत महत्त्व होता है। और निश्चय ही इनके द्वारा रूपायिता रीतिकविता के चित्र गतिशून्य न हो कर क्रिया विधायक (Functional) हैं।

बिहारीलाल की कविता में ऐसे चित्र खूब हैं। दोहों में प्रस्तुत इनके लघु चित्रों में अद्भुत प्रभावोत्पादन-क्षमता है। जिस प्रकार बिहारीलाल-कृत प्रेम-वर्णन में नेत्र और भौंहों का विशेष महत्त्व है, उसी प्रकार इनके काव्य-चित्रों में नेत्र और भौंह के व्यापार की महत्ता है। इनके रेखा-चित्रों में नेत्रों और भौंहों की अनेक भंगिमाएँ आड़ी-तिरछी रेखाओं के रूप में सामने आती हैं :—

नासा मोरि नचाय दग, करी कका की सौंह।

कांटे सी कसकति हिये, वहै कँटीली भौंह ॥

यहाँ नाक मोड़ना, आँख नचाना और काका की शपथ-ग्रहण-सम्बन्धी छोटे-छोटे तीन चित्र हैं। विशेष संदर्भ में बिठा कर बिहारीलाल ने इन्हें पूर्णता प्रदान की है। इस चित्र में भाव-घनत्व तो है परन्तु अपेक्षित भावोद्रेकत्व नहीं है। उसकी दृष्टि से निम्न चित्र दर्शनीय है—

बतरस लालच लालकी, मुरली घरी लुकाय।

सौंह करै, भौंहिन हँसै, दैन कहै, नटि जाय ॥

इस दोहे में प्रथम पंक्ति चित्र की पृष्ठ भूमि होकर आई है और दूसरी पंक्ति पाठकों के सम्मुख एक सजीव नाटकीय दृश्य उपस्थित करती है। इस छोटी पंक्ति के कलेवर में ही बिहारीलाल ने छोटे-छोटे चार चित्रों को ऐसी खूबी के साथ टांका है कि वे समन्वित होकर नायिका की विशेष भाव-भंगिमा को निरूपित करते हुए सहृदयों में भावात्मक काव्यानुभूति का उद्रेक करने में समर्थ हैं।

नायक की अस्तव्यस्तता का एक मोहक चित्र इस प्रकार है—

कहा लड़ैते दग करे, परे लाल बेहाल।

कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहुँ बैजन्ती माल ॥

प्रेम-विह्वल होने पर कोई भी कृष्ण-की-सी अस्तव्यस्त दशा में पहुँच सकता है।

उपर्युक्त दोहों में से प्रथम में नायक स्मृति के सहारे नायिका का विशिष्ट चित्र उपस्थित करता है, परन्तु क्योंकि नायिका वहाँ साक्षात् रूप से विद्यमान नहीं है अतः इसमें वह प्रभावोत्पादकता नहीं आ पाई जो द्वितीय दोहे में आलम्बन और आश्रय दोनों के उपस्थित रहने पर आई है। उस दोहे की दूसरी पंक्ति में नायिका की प्रेमातिशयता ने प्रगल्भता का रूप धारण कर लिया है। साथ ही बड़े कौशल से नायक का बेचारापन भी व्यञ्जित है। इस प्रकार प्रथम चित्र में नायक की मानसिक

स्थिति का कथन है, द्वितीय में प्रेमोद्दीपन की कीड़ा का चित्रण और तृतीय में नायक की अस्तव्यस्तता दिखा कर हाव-जनित प्रेम के प्रभाव का उल्लेख है। बिहारीलाल की हाव-योजना कहीं-कहीं ग्राम्यत्व-कोटि पर भी उतर आई है, जैसे—

भौंह ऊँचे आँचर उलटि, मोर मोरि मुँह मोरि ।

नीठि नीठि भीतर गई, डीठि डीठि सौँ जोरि ॥

बिहारीलाल के शिल्प के मूल में शब्द-चयन कुशलता है। शब्द संग्रह और त्याग की दक्षता भी उनमें खूब है। उनके रेखा-चित्रों में रूप-सौंदर्य का सांगोपांग और स्थूल अंकन कम ही हुआ है। उन्होंने तो प्रायः छोटी-छोटी रेखाओं के सहारे ही नायिका की हृद्य चेष्टाओं को बड़े कलात्मक ढंग से चित्रित किया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि वे आलम्बन के उद्दीपनत्व पर विशेष बल देते थे। इनके चेतन मन पर नायिका की उद्दीपनात्मक भंगिमाओं का जो स्पष्ट प्रभाव दृग्गत होता है वह प्रेम के उन्मादक पक्ष का सूचक है। सचमुच, वे प्रेम को उद्दीपक रूप देने में ही सचेष्ट रहते थे।

मतिराम, देवदत्त, पद्माकर आदि ने बिहारीलाल की अपेक्षा अधिक रीति-बद्धता प्रदर्शित की है। इसलिए इनमें नायिकाओं की विशेष अवस्थाओं (मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि) के चित्र अधिक मिलते हैं। मतिराम-कृत मुग्धा-खण्डिता का एक हृद्य चित्र देखें—

लिखे कर के नख सों पग को नख, सीस नवाय के नीचे ही जोवै ।

बाल नवेली न रूसनों जानति, भीतर भोन मसूसनि रोवै ॥

इस चित्र में नायिका के मुग्धत्व और क्षोभ का सुन्दर अंकन हुआ है। यहाँ हाथ के नखों से पैर के नखों को कुरेदना, सिर झुका कर नीचे देखना, मसोस कर रुदन करना, ये छोटी-छोटी रेखाएँ हैं जिनके सहारे चित्र-संयोजन सम्पन्न हुआ है। विशेष बात यहाँ यह है कि बिहारीलाल के चित्रों का निर्माण हावों के द्वारा हुआ था, परन्तु मतिराम आदि के चित्रों का निर्माण अनुभावों के द्वारा हुआ। हाव चेष्टाएँ प्रयास जन्य होने के कारण अकृत्रिम नहीं होतीं, लेकिन अनुभाव मन पर पड़े हुए बाह्य प्रभावों से प्रेरित होने के कारण मानस को अभिव्यक्ति देते हैं। मतिराम के उक्त चित्र में प्रिय के अनुचित आचरण के प्रति नायिका का मूक-विरोध-प्रदर्शन बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।

अनुभाव-चित्र-योजना में देवदत्त अद्वितीय हैं। नायिका की उत्कण्ठा, चकपका-हट, ग्लानि, आश्चर्यादि को रूप देने में देवदत्त ने सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है, अनुभाव का सम्बन्ध मन से होने के कारण इसके सहारे उठने वाले चित्रों में मानसिक विविध दशाएँ स्वतः अंकित हो जाती हैं। देवदत्त की कविता में अनुभाव-चित्रों का आधिक्य है। रागोद्रेक करने में समर्थ एक चित्र देखें—

सुखई बुलाइ तन सूनी दुख दूनी दियो,

एक बार उससे सरोस साँस सरकनि ॥ इत्यादि

—देवदत्त

यहाँ नायिका का ऊर्ध्व-निःस्वास छोड़ना, चकिता हो चतुर्दिक् देखना, और उसकी कजरारी आँखों से अश्रु-स्ताव वियोग-वेदना के द्योतक हैं। “मुकुतहरानि थहरानि कुचथरकनि” में देवदत्त ने कुच-प्रकम्प से मुक्ताहार के कम्पित होने का जो दृश्य चित्रित किया है वह चित्र की प्रभावोत्पादकता, मार्मिकता और शोभा को द्विगुणित कर देता है। अनुभाव-प्रभावित जिस सहज-व्यापार पर कवि की दृष्टि केन्द्रित हुई है वह पाठकों के हृदय में न चाहने पर भी रागोद्रेक करने में समर्थ है। नायिका की सहज लालिमा से नए क्रोध की लाली मिलकर उसके लावण्य को अधिक हृद्य बना देती है।

मनोहर प्राकृतिक पृष्ठभूमि के साथ नायिका के विविध-क्रिया-कलापों का आकर्षक चित्र देवदत्त ने यों अंकित किया है—

खरी दुपहरी हरी भरी फरी कुंज मंजु,
गुंज अलि पुंजन की देव हियो हरि जाति। इत्यादि

—देवदत्त

यहाँ प्रथम दो पंक्तियों में तीन दृश्य हैं—खरी दुपहरी, हरे-भरे-पुष्पित कुंज, और अलियों की गुंजन। ‘खरी’ इस छोटे से विशेषण में दोपहर की चिलचिलाती धूप को प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य है। अगली दो पंक्तियों में चार दृश्य हैं—नदियों का शीतल जल, तरुओं की गहन-शीतल छाँह, सुप्त पथिक और कोकिल की कूक। इन चित्रों में ‘सीरे’ ‘गहरी’ विशेषण पद ताजगी और गम्भीरता भरने वाले हैं। जेठ की दुपहरी तेज प्रकाश में छाया की गहनता हरे-भरे-कुंज ये दो प्रकाश-छाया विरोधी रंग इस चित्र की प्रभावोत्पादकता को और अधिक बढ़ाते हैं। ऐसे सन्नाटे में उत्कण्ठता नायिका ऊँचे भवन की ऊपरी छत से सूर्य-ताप का निवारण करती हुई श्याम की बाट जोहती है और फिर नीचे उतर आती है।

मतिराम और देवदत्त के द्वारा चित्रित भावोन्मेष-युक्त चित्रों में भी मुख्यता तो बाह्य रेखाओं की ही है, लेकिन इनमें मानसिक व्यथा, खीझ, उत्कण्ठा आदि दशाएँ इस प्रकार से अनुस्यूत हैं कि लगता है कि इनमें शब्द, रूप, स्पर्श, रस और गंधादि का समावेश भी है। निश्चय ही इनकी नायिकाओं के बाह्य क्रिया-कलाप-सचेष्ट व्यापार ही न हो कर मानसिक दशाओं के द्योतक हैं। इसीलिए ये हृद्य हैं। तथापि इनके रूप-चित्रण ऐन्द्रिय-उत्तेजना की भूलक लिए हुए हैं।

पद्माकर ने संश्लिष्ट-चित्र प्रस्तुत करने में पटुता प्रदर्शित की—

आई खेलि होरी घरै नवल किशोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगंधनि भकौरे है। इत्यादि

होली से सम्बद्ध पद्माकर-अंकित यह चित्र अत्यन्त शोभन और ऐन्द्रिय है। अकेले में चूनर निचोड़ती हुई नायिका की सहज भंगिमाएँ अति आकर्षक हैं और पाठकों के मन में भावोत्तेजना अथवा भावात्मक अनुकूलत्व (इमोशनल रेस्पॉस) जगाने में समर्थ हैं।

उपलक्षित-चित्र

कवि उपमान या अप्रस्तुत के प्रयोग द्वारा एक ऐसा भव्य चित्र प्रस्तुत करता है जो उपमेय (प्रस्तुत) का साक्षात् कराने में पूर्ण समर्थ होता है। अधिकांश अलंकारों का आधार उपमान या सादृश्य होता है। इसीलिए अप्पय दीक्षित ने लिखा है कि काव्य के रंगमंच पर विविध-नृत्यादि से सहृदयों का मनोरंजन करने वाली केवल उपमा ही विशिष्टा अभिनेत्री है (देखें—अप्पय दीक्षित कृत 'चित्र मीमांसा' निर्णय सागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ ५)। पाश्चात्य विचारकों में अरस्तू आदि रूपक को कविता की कसौटी मानते हैं।

उपमा और रूपक के द्वारा किए जाने वाले उपमान-विधान का मुख्य प्रयोजन क्या है? क्या इन्हें केवल स्वरूप-बोध के उद्देश्य से रखा जाता है। यदि वही उद्देश्य हो तो इनका महत्व केवल चाक्षुष-चित्र (विजुअल इमेज) तक ही सीमित हो कर रह जाएगा। चाक्षुष-चित्र का सृजन भी प्रयोजन हो सकता है पर आपेक्षिक रूप से वह गौण प्रयोजन है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि उपमानों की सृष्टि मुख्य रूप से भावों को तीव्र करने के लिए तथा एक वातावरण उत्पन्न करने के लिए की जाती है। इनके द्वारा भावपूर्ण चित्र और अभिलषित वातावरण दोनों का अंकन होता है। मूलतः वातावरण का प्रयोजन भी भावोद्दीपन ही होता है।

इन उपमानों के चुनाव के आधार पर यह भी भली-भाँति समझा जा सकता है कि कवि व्यक्तिगत रूप से किस वस्तु को किस रूप में ग्रहण करता है। परम्परागत उपमानों के अतिरिक्त कवि ऐसे उपमान भी प्रयोग में लाता है जिससे उसकी रुचि वातावरण, देश-काल आदि का मान होता है। एक विषय पर काव्य-रचना करने वाले दो कवियों की चित्र योजना कुछ अंशों में समान होने पर भी अनेक अंशों में भिन्न होती है। उपमान प्रयोग के अध्ययन के आधार पर दो कवियों का रुचि-भेद प्रकाश में आ सकता है।

रीतिकालीन कवियों ने नायिका के स्थूल अंगों के चित्रण के प्रसंग में रूढ़ उपमानों के अतिरिक्त तत्कालीन वातावरण, शास्त्र-ज्ञान, प्रकृति, पशु-पक्षी और गृहस्थ जीवन के क्षेत्रों से भी अप्रस्तुतों का जो चुनाव किया उसका निदर्शन करते हैं। कमशः बिहारीलाल और देवदत्त की रचनाओं में प्रयुक्त इन क्षेत्रों के अप्रस्तुत इस प्रकार हैं—

बिहारीलाल-प्रयुक्त

तत्कालीन वातावरण-सम्बद्ध-अप्रस्तुत—किबलनुमा, सुभट, दलाल (प्राँख के लिए), फानूस के भीतर का दीपक, ठग (रूप के लिए), रण (सुरति के लिए), शासक (यौवन के लिए), मेहराब का भराव (दूती के लिए) सुन्दर देश (नायिका देह के लिए) आदि।

शास्त्रज्ञान-सम्बद्ध-अप्रस्तुत (विशेषतः ज्योतिष विषयक)—सूर्य (किशोरावस्था के लिए), संक्रान्ति (वयः सन्धि के लिए), शनि (काजल के लिए), मंगल (बिन्दी के लिए), शशि (मुख के लिए), सुदिन (स्नेह के लिए) आदि।

प्रकृति सम्बद्ध-अप्रस्तुत—सरिता (प्रेम के लिये), पेड़ (प्रेम के लिए), आदि ।

पशु-पक्षी-सम्बद्ध-अप्रस्तुत—तुरंग (चित्त और आँख के लिए), मृग (मन के लिए), नागिन (नायिका के लिए), गौरा पक्षी (मन के लिए) आदि ।

गृहस्थ-जीवन-सम्बद्ध-अप्रस्तुत—हिंडोल (हृदय के लिए), गुड़ की डलिया (अंगद्युति के लिए) आदि ।

देवदत्त-प्रयुक्त

तत्कालीन वातावरण-सम्बद्ध-अप्रस्तुत—चतुरंग चमू (वयः सन्धि के लिए), दलाल (आँख के लिए) आदि ।

प्रकृति-सम्बद्ध-अप्रस्तुत—सावन-भादों (आँसुओं के लिये), मंजरी (नायिका के लिये) आदि ।

पशु-पक्षी-सम्बद्ध-अप्रस्तुत—तीखा तुरंग, मतवारा मतंग (आँख के लिए), मधुमक्खी (आँख के लिये), जालगत मीन (मन के लिये), सोन चिरी (नायिका के लिये) आदि ।

गृहस्थ-जीवन-सम्बद्ध-अप्रस्तुत—मधु-दधि-दूध-ऊख (वयः सन्धि के लिये), भोम-माखन-धी (मन के लिये), दूध (यौवन के लिये), फिरकी (नायिका के लिए) ।

स्पष्ट ही स्मृति-यन्त्र के सहारे इन दोनों कवियों ने स्वकीय मनोवृत्ति के अनुकूल दृश्यों और वस्तुओं का चयन अपने काव्यात्मक चित्र-निर्माण-प्रसंग में किया है । बिहारीलाल के अधिकांश अप्रस्तुत दरबारी वातावरण तथा शास्त्र-ग्रन्थों से संगृहीत हैं । देवदत्त ने मुख्यतः पशु-पक्षी जगत् तथा गृहस्थ-सम्बद्ध-अप्रस्तुतों को चुना है ।

मन के लिये मृग अप्रस्तुत रखने से उनका आशय है कि यह मृग की भाँति भोला भाला है जो सहज में ही बिंध जाता है । तुरंग से उसकी चंचलता, मस्त हाथी से मनमानापन और गौरा पक्षी से 'कुही' द्वारा मार्मिक पीड़ा पाना सूचित होती है । रूप से सहज ही में बिंध जाना तथा किसी की सुन्दर आँखों से गहरी चोट खा जाना सामन्तीय मन की विशेषताएँ हैं । अनियन्त्रित ढंग से मनमानापन करना स्वच्छन्द सामन्तों का नित्य का व्यापार है । इसमें प्रेम की नहीं बल्कि वासना और मुक्त बिहार के अतिरेक की गन्ध आती है । देवदत्त का मन जालगत मीन है, इसमें प्रेम-जन्य विह्वलता है । बिहारीलाल की नायिका नागिन-सी है तो देवदत्त की पिंजरा की चिरी है ।

बिहारीलाल के ज्योतिषशास्त्र-सम्बद्ध अप्रस्तुत नया चमत्कार उपस्थित करते हैं । देवदत्त का मन इस प्रकार के अप्रस्तुतों को जुटाने में नहीं रमा । मतिराम और पद्माकर में भी ऐसे चित्र अल्प ही हैं । मतिराम कृत दोहों में अवश्य ही बिहारीलाल के से अप्रस्तुतों की पुनर्योजना दृग्गत होती है ।

यद्यपि घन आनन्द भी 'नैन सुभट' और 'प्रेम-रण-क्षेत्र' से अपरिचित नहीं है फिर भी इन अप्रस्तुतों का प्रयोग इनकी कविता में कम ही है। पक्षी-जगत् से सम्बद्ध 'चातक' और 'चकोर' को उन्होंने बार-बार याद किया है। ये उनकी विरह-वेदना की तीव्र अनुभूति और प्रेम के एकनिष्ठ एवं ऐकान्तिक स्वरूप के द्योतक हैं।

वर्ण-चित्र

वर्ण-चित्र-योजना में कवि का अभिप्रेत केवल वर्ण-योजन ही नहीं होता, बल्कि इसके द्वारा अभीप्सित भावों की अभिव्यक्ति करना भी होता है। रीतिकालीन कवियों ने वर्णों (रंगों) का चुनाव प्रायः तीन क्षेत्रों से किया—प्रकृति से, वस्त्राभूषणों से, पावक और दीपशिखा से। प्रकृति-क्षेत्र से उपलब्ध उपकरणों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—एक आकाश स्थानीय उपकरण, जैसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बादल, विद्युत् आदि, दूसरी भूस्थानीय उपकरण, जैसे लता, पुष्प (मालती, मल्लिका, कंज, गुलाल, सोनजुही, बन्धूक, जपा, गुललाला, कुन्दकली आदि) और पल्लव (नवकिसलय कमलपत्र आदि)। वस्त्राभूषणों में रंगीन कामदार साड़ियाँ, अँगिया, चूनरी तथा मणि, माणिक्य, विद्रुम, मुक्ता आदि विविध आभूषण परिगणित हैं। पावक और दीपशिखा की लौ अंग-द्युति द्योतित करने के उद्देश्य से लाई जाती है। इन समस्त उपादानों का उपयोग चित्र को आकर्षक और भावोद्दीपक बनाने के लिए किया गया है। उनका महत्त्व अपने आप में न हो कर रंग के प्रभाव को मादक बनाने में है। डा० बच्चनसिंह के अनुसार रीति काव्यों में वर्ण-योजना के प्रायः ५ प्रकार मिलते हैं—

- (१) नायिका का आंगिक वर्ण।
- (२) अनुरूप वर्ण योजना (मैचिंग कलर)।
- (३) वर्णों का मिश्रण (कॉम्बिनेशन ऑफ कलर)।
- (४) प्रतिरूप वर्ण योजना (कॉन्ट्रास्टिंग कलर)।
- (५) वर्ण परिवर्तन (चेंज ऑफ कलर)।

नायिका का आंगिक वर्ण

रीतिकालीन कुछ कवियों ने वस्तुतः जड़ रंगों में प्राण प्रतिष्ठा कर दी है। और ऐसा करके उन्होंने नायिका के लावण्य को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने में कोई कसर नहीं रखी। द्विजदेव कृत 'सुन्दरी तिलक' की दो पंक्तियों से बहुत कुछ स्पष्ट हो सकता है—

(क) पाँव धरै अलि ठौर जहाँ तेहि ओर ते रंग की धार सी धावति।

(देखें, सुन्दरी तिलक, छन्द ५)

(ख) भीतर भीन ते बाहिर लौं द्विजदेव जुन्हाई की धार सी धावति।

(देखें, सुन्दरी तिलक, छन्द ११)

यहाँ पाँव की सहज लालिमा के लिये रंग की लाली और शरीर की द्युति के लिये ज्योत्स्ना की सरलता के रूप में लाल और श्वेत दो रंगों को चित्रण का विषय

बनाया गया है। नायिका जहाँ पैर रखती है वहीं से रंग की धारा-सी दौड़ पड़ती है। दौड़ती हुई रंग की धारा पाठकों के सम्मुख जो चित्र उपस्थित करती है उसमें पैरों की सुकुमारता, कोमलता और लालिमा का जो भावात्मक ऐन्द्रिय बोध होता है उससे नायिका के समग्र सौंदर्य की भी कल्पित परन्तु हृद्य भाँकी समीप आ जाती है।

द्वितीय चित्र पहले के मुकाबले अधिक सौन्दर्य बोधात्मक और ऐन्द्रिय है। यहाँ 'जुनहाई की धार' ही वह पद-समूह है जो पाठकों के सम्मुख शुभ्रा, तन्वंगी, ज्योति-तरंगों पर तैरती-सी कोमलांगी किसी सुन्दरी का भावोद्रेक पूर्ण चित्र उभार देता है।

अनुरूप वर्ण योजना

सौन्दर्य में नवीन आकर्षण भरने के उद्देश्य से इन कवियों ने मिलते-जुलते रंगों के उल्लेख द्वारा अनुकूल वेश-विन्यास का जिक्र करते हुए नायिका की रूपानु-भूति का भावात्मक चित्रण किया है—

(क) सहज सेत पचतोरिया, पहिरे अति छवि होति ।

जल चादर के दीपलों, जगमगाति तन जोति ॥

—बिहारीलाल

(ख) अंगन में चन्दन चढ़ाय घनसार संग ।

सारी छीर फेन की सी आभा उफनाति है ॥

—मतिराम

इन दोनों चित्रों में श्वेत रंग की साड़ी और गौर-वर्ण शरीर में रंग की एक-रूपता प्रदर्शित कर नायिका की अंग-द्युति को एक नवीन ज्योति से जगमग किया है।

वर्णों का मिश्रण

वर्णों के मिश्रण से चित्र तैयार करते समय कवि को उपयुक्त रंगों का चुनाव और उनके आनुपातिक मिश्रण पर विशेष ध्यान देना होता है। बिहारीलाल में ऐसे चित्रों के निर्माण में समर्थ अद्भुत प्रतिभा थी। उनका एतद्विषयक ज्ञान और रंगों के मिश्रण की क्षमता 'सतसई' में अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष की जा सकती है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरी सोय ।

जा तन की भाँई परत श्याम हरित दुति होय ॥

'सतसई' के प्रथम दोहे में स्पष्ट है कि राधिका के पीत वर्ण की छाया में श्रीकृष्ण का श्याम वर्ण हरा हो जाता है। यहाँ राधिका-अंगद्युति की अलौकिकता को उभार कर सामने रखना कवि का अभीष्ट है।

अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति ।

हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष छवि होति ॥

हरे बांस से बनी बाँसुरी पर कृष्ण की आँखों के श्वेत-कृष्ण रंग, ओठ के लाल रंग और पीताम्बर के पीले रंग की छाया पड़ती है। इनके मिश्रण से बाँसुरी इन्द्र धनुषीय कान्ति को धारण करने लगती है। रंगों की तरंगों से ही यहाँ कृष्ण की एक मोहक मुद्रा की भी व्यञ्जना होती है।

छुटी न सिसुता की भलक, भलकयो जोवन अंग।

दीपति देह दुहन मिलि, दिपत ताफता रंग ॥

नायिका की वयःसन्धि अवस्था को बिहारीलाल ने धूप-छाँह (ताफता) के रंगों में देखा। उनके ये धूप-छाँह के संकेत वयःसन्धि की रेशमी शोभा को अत्यन्त भावपूर्ण शैली में अभिव्यक्त करते हैं।

कृष्ण-श्वेत-लाल इन तीन रंगों के मिश्रण से पद्माकर ने बड़ा नयनाभिराम चित्र अंकित किया है—

जाहिरै जागुति सी जमुना जब बूड़ बहै उमड़ै वह बेनी।

त्यो पद्माकर हीरके हारनि गंग तरंगन को सुखदेनी ॥

पाँयन के रंग सों रंगि जाति सी भाँति ही भाँति सरस्वति सेनी।

पैरै जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिबेनी ॥

यहाँ 'बूड़ बहै', 'उमड़ै' शब्दों से गतिशील यमुना लक्षित होती है। हीरे के हार के स्पर्श से गंगा की तरंगों की भाँति ताल का जल भी शुभ्र निर्मल प्रतीत होता है। पाँवों का लाल रंग जल को सरस्वती के रंग वाला बना देता है। नायिका-सौन्दर्य यहाँ इन रंगों में बाँधा गया है। यहाँ कवि विविध रंगों के मिश्रण से नायिका-सौन्दर्य का मोहक चित्र चित्रित करने में सफल रहा है। विभिन्न रंगों के मिश्रण से नायक-नायिका के रूप चित्रण के मूल में रीतिकवि का दृष्टिकोण उसे मोहक बनाने का ही है। विभिन्न रंगों के मिश्रण द्वारा प्रसंगतः नायिका का वैभव और रूप-श्री-सम्पन्न होना भी सूचित होता है।

प्रतिरूप-वर्ण-योजना

विरोधी रंगों के प्रयोग द्वारा नायिका की जगमगाती छवि का अंकन आकर्षक सिद्ध होता है। इस कला में बिहारीलाल सबसे अधिक कुशल हैं। विरोधी वर्ण-योजना विषयक उनके दो चित्र निम्न प्रकार से मिलते हैं—

(क) सोन जुही सी जगमगै, अंग-अंग जोवन जोति।

सुरंग कसुंभी चूनरी, दुरंग देह दुति होत ॥

(ख) छप्यो छबिलो मुख लसै, नीले आँचर चीर।

मनौ कलानिधि भलमलै, कालिदी के नीर ॥

यहाँ प्रथम चित्र में पीले और लाल रंग परस्पर विरोधी कान्ति के हैं, तो द्वितीय चित्र में नीला और श्वेत रंग। पहले में पूर्णापमा अलंकार के द्वारा और दूसरे में विषया वस्तुत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा विशेष निखार आ गया है। पहले चित्र में समस्त अंग कान्ति ही रूपाधायिका है जबकि दूसरे में रूपाधान कर्ता नायिका का मुख है। विरोधी विविध वर्ण चित्रों में अंग-ज्योति के सदृश ही जगमगाते हैं।

वर्ण-परिवर्तन सम्बन्धी चित्र

वर्ण-परिवर्तन मानसिक दशाओं का एक प्रकाशक व्यापार है। स्वभावतः इसे सात्विक भावों या अनुभावों के अन्तर्गत गिना जाना चाहिए। वैसे तो प्रायः सभी रीति-कालीन कवि परम्परित अनुभावों के लक्षण-उदाहरण जुटाने में ही लगे रहे, परन्तु कुछ कवियों की रचनाओं में वर्ण-परिवर्तन सम्बन्धी सुन्दर चित्र मिलते हैं : देखें—

पहिरत ही गोरे गरें, यों दौरि दुति लाल ।

मनौ परसि पुलकति भई, मौलसिरी की माल ॥

—बिहारीलाल

यहाँ दूती के द्वारा नायक-प्रेषिता मौलसिरी की माला को गले में धारण कर नायिका की क्या दशा हुई इसका उल्लेख है। इस माला के स्पर्श से उसे ऐसा लगा मानो नायक का स्पर्श प्राप्त हुआ, अतएव उसकी देह पुलकित हो उठी। माला गले में पड़ते ही उसके अंग में विशेष ललाई के दर्शन हुए। उसके गौर वर्ण का यकायक परिवर्तित होकर कुछ लाल पड़ जाना नायक के प्रति उसके राग को प्रकट करता है। नायिका के इस राग का चित्र अंकित कर नायक के मन की ललक को बढ़ाना ही यहाँ दूती का अभीष्ट है।

ज्यों-ज्यों परसत लाल तन, त्यों-त्यों राखे गोय ।

नवल वधू डर लाज तें, इन्द्र वधू सी होय ॥

—मतिराम

यहाँ मतिराम-वर्णित नवोढ़ा लज्जा से लाल हो रही है। प्रिय के स्पर्श-मात्र से संकुचित होती जा रही उसका रंग इन्द्रवधूटी के सदृश हो जाता है। 'इन्द्रवधू' शब्द के वर्ण सम्बन्धी परिवर्तन को ही स्पष्ट नहीं कर रहा, अपितु अपने में सिमटती सुकुमार स्पर्श वाली वधू का साक्षात् भी करा देता है। मतिराम का नायिका को विशेष परिस्थिति में डालकर उसे छुई-मुई हुई सी दिखाने का अभिप्राय उसके प्रति नायक के आकर्षण को तीव्रतर बना देना ही है। निश्चय ही सब वर्ण-योजनाओं के द्वारा मुख्य-रूप से नायिका के सौन्दर्य को आकर्षक और उन्मादक बनाने का प्रयास हुआ है। सामन्तीय वातावरण में इसी तरह के रूपलावण्य और वैभव-समन्विता नायिकाओं के वर्णन की आवश्यकता थी।

संक्षेप में अधिकांश रीति कवियों का अप्रस्तुत-चयन और वर्ण-योजना मुख्य रूप से प्रेम के बाह्य पक्ष को प्रस्तुत करने वाले हैं। उनके द्वारा प्रेम के आन्तरिक पक्ष का चित्रण प्रायः उपेक्षित रह गया है। इस तरह के कवियों का बिहारीलाल को निश्चित रूप से प्रतिनिधि कहा जा सकता है। सामन्तीय वातावरण से सम्बद्ध बिहारीलाल के अप्रस्तुत नायिका के जिस रूप का चित्रण प्रस्तुत करते हैं, उसके मूल में भोगमूलक दृष्टिकोण है। ज्योतिष-शास्त्रीय अप्रस्तुत चमत्कार के उद्देश्य से लाये गए हैं। देवदत्त इन कवियों में परगणित होते हुए भी कुछ भिन्न हैं। इनके अप्रस्तुत अधिकतर गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध हैं और मन की द्रवणशीलता के परिचायक हैं।

पशु पक्षी जगत् से गृहीत अप्रस्तुत भी इस बात का द्योतन करते हैं कि देवदत्त की वृत्ति प्रेम के मानसिक पक्ष के उद्घाटन में रमी थी। मतिराम और पद्माकर आदि कवियों की भी मुख्य प्रवृत्ति रूप को प्रेमोन्मादक बनाने में लगी रही। इनकी अलंकार योजना या अप्रस्तुत-विधान के विषय में इस रचना के द्वितीय अध्याय में भी लिखा गया है।

रीतिकालीन कवियों के अलंकार-विधान का अध्येता पावेगा कि यद्यपि इनके अधिकांश अप्रस्तुत परम्परा से गृहीत हैं, तथापि स्थान-स्थान पर इनके द्वारा रूप-चेतना की जो सृष्टि हुई है वह भावोन्मेष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अनेक कवि ऐसे हैं जिन्होंने अलंकार-प्रयोग द्वारा भाव और रूप-चेतना को तीव्रतर नहीं बनाया। वे अधिकतर चमत्कार-योजना में संलग्न रहे। बिहारीलाल ऐसे कवियों के अग्रणी हैं। मतिराम ने यद्यपि अपनी 'सतसई' में बिहारीलाल की चमत्कार-प्रियता से स्पर्धा की तथापि उनके 'रसरज' में अलंकार का प्रयोग प्रेमानुभूति को तीव्रतर बनाने के लिए हुआ। देवदत्त ने मूलतः रसवादी होने के कारण प्रायः ऐसे ही अप्रस्तुतों का चयन किया है जो पर्याप्त मात्रा में रूप के उद्दीपक हैं और प्रेम को उद्रेकपूर्ण बना सकते हैं। पद्माकर कृत 'जगद्विनोद' में अलंकार-योजना कम ही हुई है। फिर भी जो अलंकार-विधान वहाँ है वह रूप चित्र अंकित करने में समर्थ है। रीतिमुक्त कवियों के शिरोमणि घन आनन्द के अलंकार प्रेम के मानसिक पहलू को प्रकाश में लाकर भावानुभूति को तीव्रता प्रदान करने वाले हैं।

परवर्ती साहित्य पर विद्यापति की छाप (१४००-१६०० ई०)

इस काल का मैथिली साहित्य दो प्रकार से सुरक्षित रहा है—एक गीतों के प्राचीन संग्रह और दूसरे राग-रागनियों के प्राचीन संग्रह। काल के गर्त में अनेक कवि लुप्त हो चुके हैं, आधुनिक खोजों के आधार पर कुछ का पता चल रहा है।

१. गीतों के प्राचीन संग्रह—ये दो प्रकार के हैं—१. जो कि 'विद्यापति पदावली' के भाग हैं, २. जो अपने आप में स्वतन्त्र रचनाएँ हैं।

(क) प्रथम प्रकार में नगेन्द्रनाथ गुप्त की खोज व 'तरोनी का ताड़ वृक्ष' पाण्डु लेख दर्शनीय हैं, इस विषय के साहित्य सम्बन्धी इस काल की सर्व प्रथम प्रामाणिक प्राचीन पुस्तक [जर्नल बि० उ० रि० सो० २८ भाग, पृ० ४१६ में इसके विषय में लिखा है, "ए ब्राह्मण आफ देवगढ़ (संथाल परगना) बिलौंगिंग दु विद्यापतिस् कैमिली प्रेजेण्टेड दिस मैन्यु टु—द लेट विपिन बिहारी घोष एण्ड—मोहिनी मोहन दत्त, ए मुन्सिफ, दैन स्टेशनड एट समस्तिपुर, बीरोड इट फ्राम—द लेट पूरनचन्द घोष एण्ड हैण्डेड इट ओवर टु द लेट जस्टिस शारदाचरण मित्र हू अगेन लैण्ट इट टु नगेन्द्रनाथ गुप्त"]। नगेन्द्रनाथ गुप्त ने एक परम्परा का उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि यह पाण्डु लेख विद्यापति के पड़पोते द्वारा लिखित है। यह भी बताया गया है कि यह पाण्डु लेख विद्यापति के निज के कर-कमलों द्वारा लिखित 'श्रीमद्भागवत' की प्रतिलिपि वाले पाण्डु लेख के साथ मिला था। कुछ भी हो, पाण्डु लेख ३०० वर्ष पुराना था और इसे पर्याप्त प्रामाणिक स्रोत समझा जा सकता है। पाण्डु लेख के अपूर्ण होने के कारण इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। दुर्भाग्य से वह पाण्डु लेख कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुस्तकालय द्वारा गुम कर दिया गया है। इसका जो भी अंश हमें अब प्राप्त है वह नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा प्रकाशित विद्यापति के पद हैं। यह प्रतीत होता है कि इस पाण्डु लेख में विद्यापति के अतिरिक्त अन्य कवियों के भी १०० से अधिक पद थे।

(ख) म० म० हरप्रसाद शास्त्री को नैपाल से 'विद्यापति पदावली' का एक पाण्डु लेख प्राप्त हुआ, जिसके सम्बन्ध में विश्वास है कि उसको १८वीं शती के प्रारम्भ में लिपिबद्ध किया गया है, तथापि इसकी लिपि १४७७ ई० में नकल किये गये महाभारत के 'कर्णपर्वम्' से सर्वथा मिलती-जुलती है। विद्यापति के अतिरिक्त इसमें १३ अन्य कवियों की कविताएँ हैं। इसकी दो प्रतिलिपियाँ (फोटोग्राफिक) पटना यूनि-लाइब्रेरी और पटना कालिज लाइब्रेरी में प्राप्य हैं।

(ग) शिवनन्दन ठाकुर ने रामभद्रपुर के ताड़ वृक्ष-पत्र का पाण्डु लेख प्राप्त किया, यह आधुनिकतर खोज है। शिवनन्दन ठाकुर ने इसे विष्णुलाल शास्त्री से

प्राप्त किया। पाण्डु लेख पर किसी के हस्ताक्षर नहीं हैं, लेखक के रूप में, न ही कोई तिथि दी है, परन्तु यह लगभग ३०० वर्ष पुराना लगता है। मैथिली साहित्य परिषद्, दरभंगा द्वारा यह प्रकाशित किया गया है। इसमें दो कविताएँ तो निश्चित रूप से 'अमृतकर' की हैं, परन्तु भण्डिता शून्य २४ पद या तो विद्यापति के ही हैं या फिर अन्य कवियों के। वर्तमान पाण्डु लेख सम्पूर्ण रचना के २६ फीसदी पृष्ठ ऐसे हैं जो गीतकाव्य की अपेक्षा रागों के प्राचीन संग्रह हैं। बिहार रिसर्च सोसाइटी में यह पाण्डु लेख रखा हुआ है (विस्तार के लिए देखें—बी० बी० मजुमदार का लेख—JBORS XXX, V. pts. 182, p. 28-32)

(घ) अन्त में पण्डित रमानाथ झा को दरबार-लाइब्रेरी, दरभंगा से पाण्डु लेख मिला क्षीण काय। जर्नल आफ गं० झा० रि० इं० में इसका समालोचनात्मक सम्पादन हुआ है। इसमें एक गीत लखिमीनाथ का है और एक अज्ञात एवं अधूरा है।

२. (क)—दूसरी प्रकाश की रचनाओं में म० म० हरप्रसाद शास्त्री और डा० पी० सी० बागची द्वारा उपलब्ध 'भाषा-गीत-पाण्डुलेख' सर्व प्रमुख है। नेपाल दरबार-पुस्तकालय में यह एक दर्शनीय मैथिली गीतों का संग्रह है। सम्भवतः इसका संग्रह भूपतिचन्द्रमल्ल (१६६५-१७२२ ई०) ने किया था। डा० बागची का कथन है कि इसमें केवल ८१ कविताएँ हैं। डा० जयकान्त को राजगुरु हेमराज शर्मा, नेपाल पुस्तकालय से दूसरी एक अन्य प्रति उपलब्ध हुई, जिसमें १७३ कविताएँ हैं। यह दूसरा पाण्डु लेख देखने में ताजा लगता है। इसमें ६६ कविताएँ एक हाथ की लिखी हुई, ७४ कविताएँ दूसरे के हाथ की लिखी हुई लगती हैं। इसमें ८ कवियों को पहिचाना जा सकता है। कुछ अज्ञात कवि भी हैं इसमें।

(ख) दूसरा सं० डा० जयकान्त मिश्र द्वारा उपलब्ध 'कंसनारायण-पदावली' का है। इसमें १४६ कविताएँ हैं और विद्यापति समेत २४ कवि हैं। यह राजगुरु हेमराज शर्मा, नेपाल के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। पाण्डु लेख में किसी लिपिकार का नाम व तिथि अंकित नहीं है। पाण्डु लेख सुन्दर तिरहुती में है और लगभग २०० वर्ष पुराना लगता है।

(ग)—चेतनाथ झा की उपलब्धि (उमापति रचित 'पारिजात हरण' की भूमिका) से हमें दो कवियों का पता चलता है।

प्राचीनराग संग्रह—ये तीन हैं। इनमें सर्व प्रमुख लोचन की राग तरंगिणी (राजदरबार लाइब्रेरी, दरभंगा, १६८१ ई०) है। अन्य रचनाओं में—लोचन कृत राजसंगीत संग्रह (जो अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हो सका है), रागतरंग पृष्ठ ३६ पर उल्लेख है इसका। और जगज्ज्योतिर्मल्ल कृत 'संगीतचन्द्र' (नेपाल, कैटलाग, पृष्ठ २६०-६२) जिसमें कुछ भाषा-गीत उद्धृत हुए हैं।

विद्यापति के सम-सामयिक (१४००-१५२७ ई०)

विद्यापति के समकालीन लेखकों में कुछ केवल नाटककार हैं, उनको यहाँ नहीं लिया गया है। जिन कवियों ने नाटकों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से कविता-

रचना भी की उनको यहाँ लिया गया है। कालक्रम का विशेष ध्यान नहीं किया गया। वर्णमाला के क्रम से उनके नाम-परिचय आदि को लिखा है।

१. अमृतकर

भनई अमियकर सुनु मधुरापति रामचरित अपारे।

राजा शिव सहि रूप नराएनलखिमा देइ कंठहारे ॥

—रा० त०, पृ० ८५

१४१२-१६ ई० में महाराज शिवसिंह के मंत्री चन्द्रकर कायस्थ का यह सुप्रसिद्ध पुत्र था, श्रीधरदास (१०९७ ईस्वी) का वंशज था। उसके पदों की भणितानों से सूचना मिलती है कि वह विद्यापति, शिवसिंह और भैरवसिंह (१४४६-१४८२ ईस्वी) का समकालीन था। कहा जाता है कि विद्यापति ने अमृतकर की बुद्धि व हृदय की प्रशंसा यों की थी—

नीति निपुण गुण नाह अंक में अतिशय आगर।

कोष-काव्य-व्याकरण अधिक अधिकारक सागर ॥ इत्यादि।

—नरेन्द्रनाथ दास-विद्यापति काव्यालोक, भूमिका पृ० ज

चन्दा भा ('पुरुष परीक्षा' के मैथिली संस्करण में) ने वर्णन किया है कि उसने शिवसिंह परिवार के लिए आवश्यकता होने पर क्या-क्या सेवाएँ की थीं। वह पटना गया और तिरहुत के राजा को पद्मा परगना के 'वचउर' स्थान पर पुनः समर्थ बनाने में शाही शासक को प्रभावित करके सफल हुआ। लगता है, वह महाराज भैरवसिंह के दिनों में भी जीवित रहा। संभव है, वह एक प्रसिद्ध कवि रहा है—जैसा डा० बी० बी० मजुमदार ने स्वीकार किया है—(JBORS XXVIII, pt. IV, p. 410) तथापि ऐसा लगता है कि यह व्यवसाय प्रेमी रहा है, गंभीर विद्वान नहीं। उसकी उपलब्ध कविताएँ प्रेम सम्बन्धी हैं, जो कि विद्यापति के अनुसरण पर दरबार को प्रसन्न करने के लिए लिखी गई होंगी।

२. चन्द्रकला—रा० त० पृष्ठ ३३-३४

लोचन अपनी 'राजतरंगिणी' में इसके एक पद को उद्धृत कर बाद में लिखता है : 'इति विद्यापतिपुत्रवच्चाः'। पंजी अभिलेखों से पता चलता है कि विद्यापति के हरपति, नरपति और वाचस्पति ये तीन बेटे थे। चन्द्रकला हरपति की पत्नी थी। संस्कृत की वह अच्छी विदुषी थी। उसकी कविता संस्कृत मिश्रित मैथिली में है। मिथिला में इस प्रकार द्विभाषी मैथिली संस्कृत कविताएँ होती थीं (देखें, विद्यापति का गंगा विषयक पद खगेन्द्रनाथ मित्र की विद्यापति पदावली सं० ९७८)।

३. हरपति

हरपति संभवतः विद्यापति का ज्येष्ठ पुत्र था और शायद 'ज्योतिष शास्त्र', 'व्यवहार प्रदीपिका' का रचयिता था। उसमें वह अपने आपको 'मुद्राहस्तक' कहता है और कठिन पक्तियों की समानार्थक मैथिली पद देकर व्याख्या करता है।

४. भानुकवि (नगेन्द्र गुप्त पद २२४ 'चन्द्रसिंह नरेश जीवओ भानु जंपए रे पद सं० ३२२)

यह कवि संस्कृत साहित्य समालोचक और संस्कृत-कविता-लेखक के रूप में परिचित है। प्रत्यक्षतः वह चन्द्रसिंह (महाराज भैरवसिंह १४४६-१४८२ ईस्वी सौतेला भाई) का समकालीन था। भैरवसिंह निःसन्तान मरा। चन्द्रसिंह की रानी ने मिसरू मिश्र के एक स्मृति ग्रन्थ 'विवादचन्द्र' को संरक्षण प्रदान किया। विद्यापति ने भी (दुर्गाभक्ति-तरंगिणी पद ३ में) चन्द्रसिंह का उल्लेख किया है।

इस प्रकार इस कवि का काल सर्वथा निश्चित है। परन्तु इस नाम के दो मैथिल कवि 'भानु मिश्र' होने से पहचान में दिक्कत-संदेह हो जाता है। संस्कृत की प्राचीन कविता में यह 'भानु' या भानुकर कवि' के रूप में प्रसिद्ध है। इसका काल १३५०-१४५० ईस्वी के लगभग ठहरता है जो चन्द्रसिंह के काल से भी मेल खाता है। भानु अलंकार शास्त्री और कवि दोनों था।

(५) गजसिंह (रा० त० पृ० ५७-५९, ६८, ७२)

लगता है कि गजसिंह असमति देवी के पति शासक पुरुषोत्तमदेव का समकालीन था। लोचन से पूर्व दो पुरुषोत्तमदेव मिलते हैं। (१) पुरुषोत्तम उर्फ गछड़नारायण (सुपुत्र महाराजा भैरवसिंह १४४६, १४८२ ई० और रानी जया)—देखें (पटना यूनिवर्सिटी जरनल सं० २, पृ० १५-१७) जिसकी वाचस्पति मिश्र ने प्रशंसा की है और निःसन्तान मरा था। (२) महाराज पुरुषोत्तम ठाकुर (१६१७-१६२६ ई०)। परिस्थिति से ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि गजसिंह प्रथम पुरुषोत्तमदेव के अघि-रक्षकत्व में जीवित रहा। (इण्डीड द पोयम विद गजसिंह इन द भनिता फ्राम तरीनी पाम लीफ मेन्युस्क्रिप्ट आल्सो रेफर्स टु वन गजसिंह देव हसबैण्ड आफ हासिनिदेवी विद हूम विद्यापति बाज एक्वेण्टेड, इफ द लेटर पोयम कोरेकटली कोटेड बाइ नगेन्द्र-नाथ गुप्त, देन देयर इज ए ग्रेट पोसिबिलिटी आफ विद्यापति बीइंग ए क्लोज कण्टेम्परेरी आफ पोयट गजसिंह (देखें हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर, पृ० २०३)। गजसिंह देव की कुछ पंक्तियों में गुण और प्रवाह, विरह की प्रस्थापना दर्शनीय है—

विसरल ओ रे तैसन सिनेहा पिय मोरे।

की परदेश भय रहल पिआ परबस ॥

—रागतरंगिणी, पृ० ५८-५९

(६) रुद्रधर (मिथिला मैनुस्क्रिप्ट केटलाग २ भाग, पृ० २४)

रुद्रधर उपाध्याय पुष्पमाला, श्राद्धविवेक, वर्षकृत्य, व्रतपद्धति, शुद्धिविवेक आदि के रचयिता के रूप में जाने जाते हैं लक्ष्मीधर इनके पिता और हलधर इनके बड़े भाई थे। उसकी कविता 'विद्यापति पदावली' के नेपाल वाले पाण्डुलेख में संख्या २७० है। उसकी भणिता यों हैं—'कवि रुद्रधर एहु भाने।'।

(७) कविराज (भिखारी-मिश्र)

कविराज कवियों की सामान्य उपाधि थी। यह किसके लिए वस्तुतः प्रयुक्त

हुई थी इसको ठीक से पहचानना कठिन है। तथापि कविराज ने एक कविता में असमति देवी के पति को अपना अभिभावक बतलाया है। भैरवसिंह के पुत्र गरुड-नारायण पुरुषोत्तमदेव की पत्नी असमति देवी थी। परन्तु कविराज ने एक दूसरी कविता में सुन्दर-देव का अपने अभिभावक के रूप में उल्लेख किया है। यदि यह संकेत ठीक है तो संभवतः महाराज पुरुषोत्तम ठाकुर (१६१७-१६२७ ई०) और महाराज सुन्दर ठाकुर (१६४१-१६६८ ई०) उसके अभिभावक थे। डा० जयकान्त मिश्र ने 'कंसनारायण की पदावली' का संपादन करते हुए लिखा है कि एक भिखारी मिश्र अपनी भाषा-कविता की भणितार्थों में कविराज नाम लिखा करते थे—'भिखारी मिश्र कविराजस्य '....' कंसनारायण पदावली' पद ८५।

(८) दशावधान (ठाकुर) (रा० तं०, पृ० ८६)

नगेन्द्रनाथ गुप्त ने 'दशावधान' को विद्यापति की उपाधि बताया है। निःसंदेह यह किसी अन्य कवि की ओर संकेत करता है। डा० जयकान्त मिश्र द्वारा उपलब्ध कंसनारायण पदावली-पाण्डुलेख में 'दशावधान', 'दशावधान ठाकुर' के रूप में मिलता है—(दशावधान ठाकुरस्य कं० नां० पदा० १००)।

दशावधान नाम से दो व्यक्तियों ने कविता की। उनमें से एक तो विद्यापति के समकालीन नरपति, दूसरे म० म० महाराज महेश ठाकुर के समकालीन रत्नाकर ठाकुर। इनमें से प्रथम (नरपति) ही मैथिल कवि लगता है। इस दशावधान ने आलमशाह (आलमशाह सैयद १४४४-१४५१ ई०), दामोदर राय (महेश ठाकुर का भाई), चान्दराय का उल्लेख किया है। डा० जयकान्त मिश्र के अनुसार विद्यापति और आलमशाह (१४४४-१४५१ ई०) का समसामयिक नरपति ही दशावधान ठाकुर के नाम से प्रसिद्ध था। ध्यान रहे कि विद्यापति के पुत्रों में से एक नाम नरपति ठाकुर था। उस कविता का नमूना विद्यापति की नकल पर ही देखें—

उपरे पयोधर नखरेख सुन्दर मृगमद पंके लेपला ।

जनि सुमेरु ससिखण्ड उदित भेल जलधर जालें भाँपला ॥ इत्यादि

—(रा० तं० पृ० ८६)

(९) विष्णुपुरी

'भक्ति-रत्नावली' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध। १५वीं शती के मध्य में हुए। कर्महा तरौनी परिवार में जन्मे। इनके बाबा श्रीधर, पिता रतिधर थे। वह रमापति या रामपति नाम से प्रसिद्ध थे, संन्यास लेने से पूर्व।

(१०) यशोधर जसोधर 'नवकवि शेखर'—एक कविता

—(रा० तं०, पृ० ६७)

और

(११) कविशेखर (रा० तं० पृ० ६७)

भनइ जसोधर नव कविशेखर पुहुमीसेसर काँहां ।

साह हुसैन भूंग सम नागर, मालति सेनिक ताँहां ॥

—रा० तं०, पृ० ६७

रागतरंगिणी में यशोधर अपने को 'नवकविशेखर' कहता है। यह 'नव' विशेषण एक कवि शेखर की अन्य कविता में नहीं मिलता। कविशेखर की कविता किसी नसरतशाह का संकेत करती है और नवकविशेखर की भणिता में हुसेनशाह का संकेत है। ये दोनों (नसरतशाह और हुसेनशाह) अभिभावक या तो जौनपुर के शासक नसिरुद्दीन महमूद (१४२२-१४५४ ई०) और हुसेनशाह (१४५७-१४६१ ई०) हैं, और या बंगाल के शासक हुसेनशाह (१४६३-१५१६ ई०) और नसरतशाह (१५१६-१५३१ ई०) हैं।

(द टू बंगाल रूलर्स आर नोन टू हैव बिन ग्रेट पैटर्न्स ऑफ लर्निंग ईवन बाबर द फर्स्ट मुगल ऐम्परायर ऑफ इण्डिया, टेस्टिफाइंग टू नसरतशाहस पेट्रानेज, देयर इज सम डिफिकल्टी इन आइडेण्टिफाइंग द पेट्रन ऑफ कवि शेखर विद नसीरुद्दीन ऑफ जौनपुर, हिज नेम इज मच डिफरेंट फ्रॉम ह्याट ऐपीयर्स इन ए पोयम—'नसरतशाह' इट इज देयरफोर पासिबल, दैट कविशेखर फ्लरिशड अण्डर द पेट्रानेज ऑफ द टू बंगाल रूलर्स, यशोधर इज लाइकली टु बी द सेम एज यशोधरोपाध्याय कोटेड बाइ नरसिंह ठाकुर (१६१२ ई०) इन हिज नरसिंह मनीषा—काव्यप्रकाश-टीका, ही इज देयर रेफर्ड टू एज एन ओल्ड कमेण्टेटर आन काव्यप्रकाश, दिस ऐग्रीज विद द डेट ऑफ नवकविशेखर 'हिस्ट्री ऑफ मैथिलीलिटरेचर, पृ० २१०)।

यह निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि यशोधर नवकविशेखर लगभग (१४६३-१५३१ ई०) के हुआ और वह अपने आपको कभी कविशेखर या नवकवि शेखर कहता है (न्यू, परहैप्स बिकाज ही रिमेम्बर्स द ओल्ड कविशेखर, कवि शेखराचार्य—ज्योतिरीश्वर—हि० मै० लिट, पृ० २१०, पाद टिप्पणी ४७)। औसत स्तर से उसकी कविता ऊँची है। नमूना देखें—

तोंह हमें पेम जते दुरे उपजल, सुमरबि से परिपाटी ॥ इत्यादि

—रा० त० पृ० ६७

(१२) राजपंडित

विशेष परिचय ज्ञात नहीं है।

(१३) चतुर चतुर्भुज (कंसनारायण पदावली मैनु० में १२ कविताएँ चतुर चतुर्भुज)

तीन चतुर्भुज ज्ञात हैं। एक संस्कृत काव्य हरिचरित का लेखक है नैषध की शैली पर। दूसरा चतुर्भुज राय है। तीसरा वाचस्पति-कृत 'शुद्धि निर्णय' का लिपिकार है, (ल० सं० ५११—१६३० ए० डी०) प्रथम का कृष्ण विषयक कविता से अनुराग है अतः लगता है कि वही वस्तुतः भाषा कवि चतुर चतुर्भुज है।

(१४) मधुसूदन

अनेक मधुसूदन हैं—निश्चय से नहीं कह सकते हैं कि इनमें से कौन मैथिल कवि मधुसूदन है। मैथिली मैनुस्क्रिप्ट कैंटेलाग के अनुसार इसका काल १४४६ ई० से १५२६-१६१० ई० के बीच समझना चाहिए।

(१५) जीवनाथ

दान कलपतरु मेदिनि अवतरु नृप हिन्दू-सुलताने ।
मेघादेइ पति रूपनारायन प्रणवि जीवनाथ भाने हे ॥

—रा० त०, पृ० ११२

अपनी कविता में इसने मेघादेवी के पति रूपनारायण का संकेत किया है। निम्न में से कोई एक रूपनारायण हो सकता है।

(१६) भीष्म कवि

इस समूह में भीष्म कवि सर्व प्रमुख हैं। उसने जगनारायण का संकेत किया है। इसकी पंक्तियों में लय देखें—

ससधर सहस सार बटूराव, तैअओ न वदन पटान्तर पाव ॥ इत्यादि

—रा० त०, पृ० ४२-४३

(१७) लखिमिनाथ

लखिमिनाथ कह धानिसार, सब तह भल रस सिंगार ।
'कृष्णनराज्जेन' गुणक गेह, देवजना तेविनव सिनेह ॥

—राज लाइब्रेरी मैन्यु० नं० १

(१८) श्यामसुन्दर (रा० त० पृ० ११५)

रसमय श्यामसुन्दर कविगाव, सकल अधिक भेल मन्मथभाव ।
कृष्णनारायण ई रस, जान, कमलावति पति गुनक निधान ॥

—रा० त०, पृ० ७७

(१९) कंसनारायण (१४९६-१५२७ ई०)

कंसनारायण कौतुक गावे ।

—रा० त०, पृ० ९७

नासिरा भूपति सोरमपति कंसनराएनभाने ॥

—रा० त०, पृ० ९०

(ही वाज द ग्रेटेस्ट पेट्रन ऑफ मैथिली सोंग आफ्टर द ग्रेट शिर्वांसिंह, ही पेट्रनाइज्ड सेवरल पोयट्स एण्ड वाज हिमसेल्फ ए पोयट, डा० जयकान्त मिश्र हैड फाउण्ड ए होल पदावली आफ्टर हिज नेम-कण्टेनिंग मोस्ट आफ द फेवरिट पोयम्स आफ हिज कोर्ट, इन वन आफ हिज सोंग्स ही रेफर्स टू ए नसीरशाह हू मे बी आई-डेण्टिकल विद नसरतशाह आफ बंगाल (१५१८-१५३१ ई०) सन आफ हुसैनशाह, कौकरर आफ मिथिला हू प्रिंक्टकली ब्राट ओइनिवार डायनेस्टी टू ए क्लोज (देखें श्यामनारायण सिंह कृत 'हिस्ट्री आफ तिरहुत' पृ० ८०) ।

मैथिल गीत का यह यशस्वी युग रहा। इसमें (२०) गोविन्द (रा० त० पृ०, १०२), (२१) काशीनाथ (कंसनारायण पदा० पद ५०), (२२) रामनाथ (कंसनारायण पदा० पद ६८), (२३) श्रीधर (तगेन्द्रनाथ पद १४६) हुए।

गोविन्द कंसनारायण के समीप रहा जैसे शिवसिंह के साथ विद्यापति सम्बद्ध रहा। मिथिला में अनेक गोविन्द हुए।

विद्यापति के परवर्ती कवि (१५२७-१७०० ई०)

(१) हरिदास (रा० त० पृ०, ६१-६२)

डा० सुकुमारसेन के हिस्ट्री आफ ब्रजबुली लिटरेचर में हरिदास नाम बहुत सामान्यतः आया है। परन्तु यह हरिदास संभवतः प्रसिद्ध कवि गोविन्ददास (१६४३-१६७०) का भाई है। उसकी एकमात्र उपलब्ध कविता एक नचारी है। (रा० त०, पृ० ६१-६२)

(२) महेश ठाकुर (१५५६-१५६६ ई०)

१५५७ ई० के लगभग मिथिला में नए राज्यवंश की स्थापना के साथ एक बार विद्या, काव्य को पुनः स्थायी संरक्षण प्राप्त हुआ। इस नवीन राज्यवंश के संस्थापक महाराज महेश ठाकुर तत्कालीन विद्वानों से विशेषतया स्वयं अपनी मातृ-भाषा के प्रति रुचि रखते थे। अपना अन्तिम समय इसने गंगा के किनारे व्यतीत किया काशी में। गंगा और तारा पर इसकी प्रसिद्ध रचना सीधी-सरल अभिव्यक्ति के लिए ध्यान देने योग्य है। (ए स्कालर आफ द फर्स्ट रैंक, एंग्रेज्ड इन द स्टडी मोस्ट ऐम्ब्रुवट आफ आल सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी, व्हेन ही हैड टू से समर्थिंग इन हिज मदर टंग टु गिव वेन्ट टु सम आफ हिज हाइएस्ट फीलिंग ही कुड नाट हेल्प हिम सेल्फ—ही ब्रेक्स द सोफिस्टिकेटेड एण्ड ओवर-रोट फ्रेजियोलोजी आफ विद्यापतिस् ट्रेडीशन—डा० जे० के० मिश्र)।

उधारिय अधम जन जानि। (ध्रुवम्)

हम बनिजार पाप बटवार, सुकृत बेसाहल सुरसरिधार॥ इत्यादि

(३) भगीरथ कवि (क० १४६)

कंसनारायण पदावली—पद संख्या १४६ में—

कवि भगीरथ हेन भाने सकलजा-

चकानी। नृप मानसिंह पती, आदि।

मानसिंह प्रथमतः अकबर का काबुल सीमाप्रान्त में नियुक्त प्रसिद्ध जनरल था बाद में यह बिहार में नियुक्त था (प्रियर्सन ने मानसिंह के विषय में लिखा है कि वह विद्या का बड़ा संरक्षक था और कवियों को एक-एक पद्य के बदले लाख रुपये दिया करता था (देखें वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिन्दूस्तान)। मानसिंह की तिथि भगीरथ ठाकुर (महेश ठाकुर का भाई) से मिलती है जो कि १६वीं शती का द्वितीयाद्ध में है।

(४) महिनाथ ठाकुर (१५५६-७१—१६६०-६३ ई०)

(५) लोचन (रा० त० मे ४१, ४३, ४५, ४६, ४८, ५०, ८४, १००)

पृष्ठों पर आठ गीत)

प्रमुख भणिताएँ—लोचन रुकिमनि पति जान (पृ० ४४), लोचन मधुमति

पति महिनाथ महीपति (पृ० ४५, ४६, ८४) उरवसि मनरंजक नृप नरपति रसजान,
पृ० ४८, ५० ।

कंसनारायण के बाद लोचन नये युग के अग्रदूत रहे मिथिला में । महाराज महिनाथ ठाकुर स्वयं भाषा-कविता में रचि रखते थे, जैसा कि उनकी १६०१ ई० में रची हुई काली-प्रशंसात्मक कविता से पता चलता है ।

वस्तुतः महिनाथ ठाकुर व उसके भाई नरपति ठाकुर के दरबार में मैथिली-गीत एक बार फिर से उज्ज्वल हो उठा । नरपति ठाकुर स्वयं एक कुशल संगीत विशारद था और 'धुनी' (ध्वनि) गीतों को पसन्द करता था ।

संगीत के विद्यार्थियों ने इधर-उधर लोचन के महत्त्व को पाया और उसे मध्य-युगीन, भारतीय संगीत का अधिकारी प्रमुख विद्वान् माना । भातखण्डे भी एक ऐसी ही प्रतिभा थे । लोचन के जीवन आदि पर कोई प्रकाश तब तक न पड़ा था जब तक कि नगेन्द्रनाथ गुप्त ने उसकी रचना 'रागतारंगिणी' को विद्यापति के गीतों का एक उत्स—रूप में प्राप्त किया (१९१० ई०) ।

१९१८ ई० में पूना से पंडित दत्तात्रेय केशव जोशी ने इलाहाबाद से प्राप्त एक पाण्डुलेख के आधार पर रागतारंगिणी का प्रकाशन कराया । भाबलचन्द्र, सीताराम सुकशंकर ने भी इसका कोई संस्करण प्रकाशित कराया परन्तु सर्वप्रथम पूर्ण रूप से पंडित बलदेव मिश्र ने इसका राजप्रेस दरभंगा से सम्पादन कर प्रकाशन करवाया ।

कुछ समय तक लोचन बंगाली समझे जाते रहे । आचार्य क्षितिमोहन सेन (विश्वभारती, १९४३-४४ ई०) ने उसे बंगाली प्रतिपादित किया ।

बलदेव मिश्र को उपलब्ध पाण्डुलिपि में कई पद हैं जिनमें मिथिला-नरेशों (महेश ठाकुर से लेकर महिनाथ ठाकुर तक) की प्रशंसा है, जिनके अधिरक्षकत्व में लोचन ने राजा के भाई नरपति ठाकुर (१६७३-१६९० ई०) को प्रसन्न करने के हेतु 'रागतारंगिणी' की रचना की । रागतारंगिणी का भारतीय संगीत-साहित्य में महत्त्व-पूर्ण स्थान है । लगभग ४० कवि लिए हैं, ४५ गीत विद्यापति के और ९ लोचन के स्वयं के हैं इसमें । इस ग्रन्थ से लोचन का संगीत शास्त्र-पाण्डित्य भी प्रमाणित होता है, मैथिली गीतों के छन्दों के रागों की परिभाषा और वर्णन देने वाले लोचन प्रथम व्यक्ति है । विद्यापति के गीतों के समान ही लोचन अपने मैथिली पदों को भी महत्त्व-पूर्ण समझते थे, तभी तो उन्होंने प्रायः विद्यापति के पदों के उद्धरण के बाद अपने ही पद 'इति विद्यापते', 'मम तु' कह कर उद्धृत किये हैं । लोचन के पद सामान्य स्तर की शृंगार-रस की रचना हैं । उदाहरण देखें—

(क) अभिसारिका—आनन्द कन्दा पुनिमक चन्दा

सुमुखि तह मन्दा । इत्यादि ।

—रा० त०, पृष्ठ ४१-४२

(ख) शक्ति पूजा—जय जय जय नत सतत

सिवंकरि परिहित नरसिरमाले । इत्यादि ।

—रा० त०, पृष्ठ ६९-१००

६. गोविन्ददास—यह विद्यापति का सबसे बड़ा उत्तराधिकारी था, यह उन कवियों में से है जिसे बंगालियों ने अपना लिया—दावा किया। सर्व प्रथम बाबू नगेन्द्र नाथ गुप्त ने संकेत किया कि गोविन्द दास मैथिल था, बंगाली नहीं। चेतनाथ झा और चन्दा झा ने इस तथ्य का पोषण किया। मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित करा दिया। डाक्टर अमरनाथ झा ने भी गोविन्ददास की कविताओं का सम्पादन किया, चन्दा झा के संग्रह के आधार पर। इनकी कवितादि के विषय में देखें वर्तमान रचना का प्रथम अध्याय।

वह महाराज सुन्दरदास ठाकुर (१६४३-४४, १६७०-७१ ईसवी) का सामयिक था और वह स्वर्गीय महाराज रामेश्वरसिंह बहादुर (१८९८-१९२९ ईसवी) की माता के परिवार से सम्बद्ध था।

परम्परा से ऐसा प्रसिद्ध है कि गोविन्द दास ने 'कृष्ण-लीला' नामक कोई ग्रन्थ लिखा। सम्भवतः यह नाम इनके पदों में राधा-कृष्ण की लीला को देख कर ही दिया गया हो। विद्यापति के अनुकरण में रहती हुई भी गोविन्ददास की कविता उस से कुछ विभिन्नता भी रखती है। जब विद्यापति बड़े शिष्ट नागरिक-रीति से उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा का ढेर लगाते हैं, दरबारी वातावरण प्रस्तुत करते हैं, सीधी शृंगारिक भाषा में मानवीय सुख-दुःख का वर्णन कर हृदय में प्रवेश करते हैं, तब गोविन्द दास शब्दों के अर्थ और ध्वनि से अधिक क्रीड़ा-रत रहते हैं। उनके शृंगार-भक्ति के भी पद घोर शृंगारिकता को लिये कलाकार-कवि का हृदय हमारे सामने उन्मुक्त करते हैं। अनुप्रास के द्वारा इन्होंने पदों में अद्भुत संगीत भर दिया है। डा० सुकुमारसेन का कथन है कि ग, द, न, र, त, थ, ज, ह, भ, व, च आदि के अति-अनुप्रासों से कुछ पदों का सौंदर्य फीका पड़ गया है, अनुप्रास-हीन पद उत्कृष्टतर हैं। इनके पदों का संगीत तत्सम और अर्द्ध-तत्सम शब्दों से भरा है, जिसके पीछे इनकी सब कमियाँ ओझल हो जाती हैं। विद्यापति (जिसे इन्होंने अपना गुरु माना है) के अनुकरण पर गीत-रचना की है और राधा-कृष्ण-प्रेम के मान, नायिका, बहुवल्लभ नायक, विरह, रासलीला, अक्षक्रीड़ा, होली, वसंत लीला, कृष्ण-वर्णन, राधा वर्णन, अभिसार, मिलन आदि विषयों को लिया है। विद्यापति के मुकाबिले विलास के पद कम हैं। कुछ अन्य गौण कवि हैं जिन्होंने महाकवि विद्यापति के अनुसरण में पद-रचना की।

नेपाल में—

१. सिद्ध तरसिंह कंसना० प० सं० १९, २०, २१, २२, २३, २४, ५०, ११८, ११९, १२०, १२१, २० त० पृष्ठ ७४—सिंह भूपतिसिंह २० त०, पृष्ठ ७५।

बा० नगेन्द्र गुप्त ने 'भूपतिसिंह भूपति, को गलत समझ कर उन्हें शिवसिंह और विद्यापति बना दिया (भूपतिसिंह-शिवसिंह, और भक्तिताओं में विद्यापति नाम जोड़ दिया, भूपति वस्तुतः अन्य कवि का नाम है। हो सकता है यह भूपति नेपाली दरबार का प्रसिद्ध राजकवि भूपतीन्द्र हो या सिंह भूपति, जिसने शृंगारदेवकृत—'संगीत रत्नाकर' और 'रसान्व सुधाकर' की टीका की। संभवतः सिंह भूपति कर्णट वंशीय

मैथिल राजा भूपालसिंह था (देखें, के० पी० जायसवाल—राजनीति रत्नाकर, भूमिका, पृष्ठ २४, इंडियन एण्टिक्वेरी ६, पृष्ठ १८८)।

सिद्धि नरसिंह-सिंह नृपति (रा० त०, पृष्ठ ७४, कंस ना०, पद ११८, ११९, १२०, १२१) जो नेपाल का प्रसिद्ध सम्राट् सिद्धि नरसिंह है जिसने लगभग (१६२०-१६५७ ईसवी) तक राज्य किया, उसकी अपनी पदावली-कविताओं में भी नृपसिंह, नरसिंह, सिद्धि नरसिंह नाम की भनिताएँ मिलती हैं। यह नाटककार भी था। संत, जीवनमुक्त ललित पुर दरबार को बढ़ाने वाला, विश्वनाथ उपाध्याय का शिष्य, कृष्ण-राधा का प्रेमी। (देखें, हि० मै० लिट०, पृष्ठ २४३)।

२. राजा श्री निवास मल्ल—(रा० त०, पृ० ४८) सिद्धि नरसिंह का उत्तराधिकारी—(१६५७-१७०१ ईसवी) शासनकर्ता अपने पिता द्वारा संस्थापित कार्तिक नृत्योत्सव को इसने २५ दिन तक का कर दिया, १५ दिन से बढ़ा कर। लगता है कि यह संगीत और नृत्य का बड़ा संरक्षक हुआ था।

३. नृपमल्लदेव—(नेपाल मैन्सु०, सं० १७०, कंस ना० पद संख्या ११४) निश्चित रूप से नहीं पहिचाना जा सका है।

४. भूपतीन्द्र—(भाषा गीत मैन्सु०, संख्या १, २, ७, ६३—भनिता-भूपतीन्द्र या श्री भूपतीन्द्र), १६६५-१७७२ ईसवी तक नेपाल का शासन किया। भूपतीन्द्र नेपालस्थ मैथिली गीतकारों में सर्वप्रमुख था, इनकी पदावली के १० पदों की खोज सर्वप्रथम डा० पी० सी० बागची ने की थी, पदों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। शिव, गौरी, हरि, शक्ति के भक्ति विषयक पद हैं। इसमें शिव को संगीत-नृत्यनाथ कहा गया है। इनके मातृशक्ति-सामान्य देवियों के बाद शृंगार-पद भी हैं—

कि माधव न तेजह न अवलाउ पानि । धु० इत्यादि ।

—भाषा गीत, मैन्सु० बी० नं० ३७

५. जगन्मोतिर्मल्ल (भाषा गीत, मैन्सुस्क्रिप्ट, ६६, ११५, १७०-७१-७२, ७३, ७५) १६१३-१६३३ ईसवी, नेपाल का शासक संगीत का बड़ा संरक्षक-कवि-अनेक मैथिलों को अपने दरबार में काम दिया।

६. जगत्प्रकाशमल्ल या चन्द्रशेखरसिंह (भाषा गीत, मैन्सुस्क्रिप्ट-११२, १२०, १२१, १२६, ११४, १२४, चन्द्रशेखर आदि) १६५५-१६७६ ईसवी तक नेपाल सम्राट् अनेक गीत-जो तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—ईश्वरीय दस अवतारों विषयक, विष्णु सम्बन्धी, सदाशिव सम्बन्धी।

७. जितामृत—(भाषा गीत, मैन्सुस्क्रिप्ट-१११, १६५) १६८०-१६९० ईसवी, नेपाल-शासक, केवल एक ही भक्ति परक गीत।

८. रणजितमल्ल—(भाषा गीत-मैन्सु० १०७, १०८)-१७२१-१७७२ ईसवी तक नेपाल शासन शक्ति सम्बन्धी गीत—उनमें से कुछ पूर्णतया संस्कृत में हैं।

विद्यापति के गीतों की परम्परा गोविन्ददास और जितामृत तक ही नहीं समाप्त हुई, उसने तत्कालीन मैथिली-नेपाल के नाटकों में भी स्थान पाया। संस्कृत

नाटकों में सभी कवियों ने गीतों को स्थान दिया और कीर्तनियात्रों के नाटक केवल गीतात्मक ही होने लगे। नाटकों के अतिरिक्त भी यह परम्परा पर्याप्त अर्वाचीन काल तक बनी रही, जैसा कि ग्रियर्सन महोदय ने 'इक्कीस वैष्णवों के गीत' में प्रदर्शित किया है। स्पष्ट है कि विद्यापति और उनके समसामयिकों ने परवर्ती लेखकों को खूब प्रेरित किया।

विद्यापति का प्रभाव-मिथिला में

यह कथन सत्य नहीं कि विद्यापति अपने प्रान्त में उपेक्षित-से रहे अथवा तब तक प्रशंसित नहीं हुए जब तक कि अन्य प्रान्तीय विद्वानों ने उस ओर ध्यान आकर्षित न किया। वस्तुतः यह बात फिर भी सत्य है कि आधुनिक समालोचनात्मक शैली को दृष्टि में रखते हुए विद्यापति विषयक अनुसंधान मिथिला में बहुत देर से प्रारम्भ हुआ। इसका कारण स्वाभाविक था क्योंकि वहाँ 'इंगलिश एजुकेशन' बहुत बाद में पहुँची।

अपने जीवन काल में ही विद्यापति को अपने सौभाग्य से संबद्ध दरबार में अत्यन्त समुत्सुक एवं अनुकूल व उत्तरदायी श्रोतागण उपलब्ध रहे। उसके अभिभावक उसके प्रति बहुत सहानुभूति पूर्ण थे।

कीर्तिसिंह के लिए वह 'खेलन कवि' महाराज शिवसिंह और लखिमा के लिए 'अभिनव जयदेव' और अपने समसामयिकों के लिये सुकवि, सरस कवि, सुकविकण्ठ-हार और जन-सामान्य के लिये व्यावहारिक एवं भक्तिगीतों का उत्कृष्ट गायक था।

इसीलिये लोचन ने अपनी 'रागतरंगिणी' में विद्यापति का संगीतज्ञ के रूप में उल्लेख किया है। ऐसा लगता है कि तब तक गायकों का एक विशेष दल स्थापित हो चुका था। महाराज शिवसिंह ने जयट को विद्यापति के गीतों को समुचित सुरों-लयों में गाने के लिए नियुक्त किया था। उसके बेटे वितृष्ण, पोते हरिहर मल्लिक, और पड़पोते घनश्याम मल्लिक ने उस परम्परा को जीवित रखा। लोचन के समय में घनश्याम मल्लिक के तीन पुत्र विद्यापति-संगीत के व्याख्याता थे। लोचन स्वयं भी विद्यापति के एक बड़े प्रशंसक थे।

वर्तमान शती के प्रारम्भ तक उनके अनुसरताओं की एक पंक्ति चली आई है। विद्यापति-परम्परा के इन कवियों में ध्यान देने योग्य बात एक यह है कि इन सबके नामों के अन्त में 'पति' आता है, जैसे—उमापति, नन्दीपति, रमापति, कृष्णपति, कुलपति, श्रीपति, हरपति, महीपति और लक्ष्मीपति। इनमें से प्रत्येक ने विद्यापति की कल्पना, टेकनीक (कवि-कर्म-सम्बन्धी कौशल) और छन्द शास्त्र के सिद्धान्तों का अनुसरण किया। 'भनिता' में ये कवि अपने उस अभिभावक के नाम का उल्लेख करते हैं जिसकी प्रशंसा में अथवा जिसकी आज्ञास्वरूप वे उस रचना को करते थे। इन सब कवियों में से केवल गोविन्ददास ने ही विद्यापति का अपने गुरु रूप से स्पष्ट उल्लेख किया है—(देखें गोविन्द गीतावली' पृ० ३, पुस्तक भण्डार लहेरिया'

सराय से प्रकाशित और श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त विद्यापति-पदावली, वसुमति संस्करण, पृ० १) ।

आस-पास के प्रान्तों में

१. बंगाल में—आस-पास के प्रान्तों में भी विद्यापति का यश पर्याप्त फैला । अपने प्रान्त में वह एक शृंगार कवि और शिवभक्त के रूप में प्रसिद्ध हुआ ।

बंगाल, उड़ीसा और आसाम के प्रान्तों में वह एक बड़े वैष्णव के रूप में विख्यात था । वह पूर्वी भारत का सर्व प्रथम ऐसा गायक था जिसने भाषा को साहित्यिक माध्यम-स्तर तक उठाया । उसकी कविताएँ उस भूमि में रची गईं जो सदा संस्कृत-विद्या और हिन्दू-संस्कृति की उन्नायिका रही, जहाँ देश के विभिन्न भागों से लोग पांडित्य एवं योग्यता सम्पादन करने आते थे । विशेष रूप से पुराणों द्वारा प्रतिष्ठित और संस्कृत कवि जयदेव द्वारा विकसित कृष्ण-राधा-आराधना की लोकप्रियता में भी विद्यापति के गीत उत्प्रेरक बन गए । इसके साथ ही परम्परागत लोक गीतों के माधुर्य और मधुरता ने विद्यापति की असाधारण शैली को समीपस्थ अन्य प्रान्तों में भी लोकप्रिय बना दिया (हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर पृष्ठ १६६-१६७) ।

विद्यापति के गीतों के महत्व में तब और अधिक अभिवृद्धि हुई जब चण्डीदास और विद्यापति के नाम संयुक्त करके समझे जाने लगे—(विस्तार के लिए देखें—‘विद्यापति काव्यालोक’, पृष्ठ ६४) । रमेशचन्द्र दत्त का कथन है कि इस बात की सम्भावना न के बराबर है कि ये दोनों कवि कभी परस्पर मिले हों, चण्डीदास की कविता बाद की है और विद्यापति से प्रेरित है, विशेषकर कृष्ण कीर्तन-प्रसंग में (बंगाली लिटरेचर पृष्ठ १५) ।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात एक और हुई । उसके गीत बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक चैतन्य के प्रिय बन गए और उसके द्वारा वे विद्यापति के गीत बंगला-गृहस्थों वैसे स्थान पा गए जैसा कि बाइबिल ने अंग्रेजों के घरों में । ग्रियर्सन का कथन है कि—एन्ड नाउ ए क्यूरियस सरकमस्टेंस अरोज, अनपैरलट्ड आई बिलीव इन द हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर (हिज सौंस) वर ट्विस्टेड एन्ड कन्टोरेटेड, लेंग्थेण्ड एण्ड कट हंड, इन द प्रोक्रस्टिअन बेड ऑफ द बैंगाली लैंग्वेज एण्ड मीटर इण्डु ए काइंड ऑफ बस्टर्ड लैंग्वेज नीदर बैंगाली नीर मैथिली, बट दिस वाज नाॅट आल ए होस्ट ऑफ इमिटेटर्स स्प्रंग अप, नोटेब्ली वन वसन्तराय आव जेसोर, हू रोट अण्डर द नेम ऑफ विद्यापति इन दिस बस्टर्ड लैंग्वेज, सौंस ह्विच इन देयर फॉर्म बोर ए कम्सीड-रेबल रिजैम्बलेन्स टु द मैटर ऑफ अवर पोयट, बट ह्विच आलमोस्ट इण्टायली वाण्टेड द पोलिश एण्ड फैलिसिटी आव एक्सप्रेसन आव द ओल्ड मास्टर-सिंगर—दीज इमिटेसन सौंस नोन एज ‘ब्रजबुली’ सौंस बिकेम प्रेजुअली मोर पोपुलर अमांस्ट द बैंगाली पीपल दैन द रीयल सौंस आव विद्यापति (मैथिली क्रैसटोमैथी, पृ ३४) ।

डा० सुकुमार सेन ने अपने हिस्ट्री आफ ब्रजबुली लिटरेचर में ऐसे ‘ब्रजबुली-कवियों’ का पूर्ण विवरण दिया है । इस प्रकार की प्रचलित कविताएँ निम्न संग्रहों में उपलब्ध होती हैं—क्षणदागीत चिन्तामणि (१७०० ईसवी), पदामृत समुद्र (१७२५

ईसवी) पद—कल्पतरु (१७५० ईसवी), संकीर्तनामृत (१७७१ ईसवी), पद रस सार (१८२५ ईसवी), पदरत्नाकर (१८५३ ईसवी), अभिलेख पदकल्पलतिका (१८३६ ईसवी), गंगापद तरंगिणी (१९०३ ईसवी) अप्रकाशित पदरत्नावली (पद कल्पतरु की पूरक पुस्तक), बंग साहित्य परिषद् पत्रिका और 'रसकल्पवल्ली' 'रसमंजरी' 'भक्ति रत्नाकार' और 'नायिका रत्न माला' जैसे वैष्णव कविता-ग्रन्थों में अनेक बिखरे पद मिलते हैं।

डा० सुभद्र भा ने इन गीतों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया है :

१. वे गीत जिनकी भाषा शुद्ध मैथिली है।
२. वे गीत जो मैथिली में होते हुए बंगला-मिश्रित हैं।
३. वे गीत जो शुद्ध बंगला में हैं।
४. वे गीत जो बंगला में होते हुए हिन्दी (ब्रज भाषा) के शब्दों से पूर्ण हैं।

ज्ञानदास, गोविन्ददास, बलरामदास, नरोत्तमदास आदि ब्रजबुली के लगभग ३०० कवियों का परिचय डा० सुकुमार सेन ने अपने ग्रन्थ में दिया है। गोविन्ददास उनमें प्रमुखतम हैं। वह विद्यापति को अपना गुरु मानता है और ब्रजबुलि कवियों में गोविन्ददास और विद्यापति का अन्ध-अनुसरण मिलता है।

ब्रजबुलि में लिखने की परम्परा आधुनिक युग तक भी देखी जा सकती है। जनमेजय मित्र (राजेन्द्रलाल मित्र के पिता), बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३८-१८९४ ईसवी) राजकृष्णराय (१८५५-१८९३ ईसवी) और इन सबसे बढ़कर रवीन्द्र नाथ ठाकुर (१८५१-१९४१ ईसवी) ये ऐसे नाम हैं जिन्हें हम निकटभूत के ब्रजबुली लेखकों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। रवीन्द्र ठाकुर को देखें—उन्होंने 'विद्यापति काव्यालोक' के लेखक श्री नरेन्द्रनाथ दास विद्यालंकार को पत्र में लिखा, सन् १९३७ में, कि विद्यापति की कविताएँ और गीत मेरे जीवन के उन आदिम उच्च आनन्दों में से थे जिन्होंने मेरी युवा-कल्पना को झकझोर कर जगा दिया, उनमें से कुछ को मैं अब भी वीणा पर स्वर देता हूँ। २० दिसम्बर, १९३१ ई० को रविवारासीय 'इंडियन नेशनल' पत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विषय में लिखा गया कि मैथिली कवियों के अध्ययन से उन्होंने मैथिली पर आश्चर्यजनक प्रभुत्व स्थापित कर लिया, जब वे २० वर्ष की आयु से नीचे ही थे तो उन्होंने 'भानुसिंह' उपनाम से मैथिली में पद-रचना भी की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रथम व्यक्ति हैं जो विद्यापति और गोविन्द दास का ऋण स्वीकार करते हैं, जिनके प्रकाश से उनकी प्रतिभा जगत् को प्रकाशित करने में समर्थ हो सकी ('हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर' पृष्ठ १७३)।

बंगला में विद्यापति का यश दो रूप में स्थिर समझा जाता है—१-संभवतः वह एक प्राचीन 'बंगला क्लासिक' था और २. वह एक महान् 'वैष्णव गायक' था। बंकिम और टैगोर ने उसका 'बंगला क्लासिक' के रूप में आदर किया, चैतन्य और उनके अनुयायी वैष्णवों ने वैष्णव गायक के रूप में।

२. आसाम—आसाम प्रान्त में विद्यापति मुख्य रूप से एक वैष्णव गायक के रूप में प्रसिद्ध हुए। १४४९-१५६८ ईसवी में आसाम के महासुधारक वैष्णव शंकरदेव

ने अपने यात्रा प्रसंग से यह जाना कि ब्रजबुली या मैथिली भाषा वैष्णव धर्म के प्रचार में बड़ा साधन रही है तो इसे उन्होंने आसाम में भी बढ़ावा दिया। यह पूर्णतया सच नहीं कि आसाम गत ब्रजबुलि साहित्य बंगाली-ब्रजबुलि-साहित्य से सर्वथा अविभाज्य है। इन दोनों के मध्य मेधी महाशय ने अनेक भेद दर्शाए हैं (देखें—जर्नल ऑफ काम-रूप ६, पृष्ठ ७१-७२)। पहली बात आसामीय ब्रजबुली साहित्य में राधा का कोई स्थान नहीं, दूसरे आसामीय ब्रजबुली के गीतकार दास्य भाव से विचार करते हैं जब कि बंगाल में सख्य भाव से—पति-पत्नी भाव से ऐहिक प्रेमपूर्वक भी, यहाँ तक कि आसामी लेखकों ने मैथिली में नाटक भी लिखे हैं जबकि बंगाल में ऐसे नाटकों का सर्वथा अभाव है।

आसाम में ब्रजबुली साहित्य के उदय का कारण कामरूप के लोगों का विदेह-वासियों से सम्पर्क है। इज ड्यू टु द कनेक्शन—ऑफ द पीपल ऑफ कामरूप विद दोज ऑफ विदेह (मिथिला)—एज आल्सो टु द डाइरेक्ट काण्टेक्ट आव शंकर देव विद द स्पीकर्स आव मैथिली.....इंक्ल्यूडिंग द लर्नेड मैन ड्यूरिंग हिज फर्स्ट पिल-ग्रिमेज इन फिफ्टीन्थ सेन्चुरी ए० डी० दिस ग्रेट रिलिजियस रिफार्मर एण्ड हिज फालोअर्स हैव प्रोड्यूस्ड ए वास्ट ब्रजबुली लिटरेचर इन आसाम, ओन्ली एन इन सिग्निफिकेंट पाटे ऑफ व्हिच हैज जस्ट बिन पब्लिश्ड (जर्नल कामरूप ८, पृष्ठ १०४)।

आसामीय इतिहास में ब्रजबुली का महत्त्वपूर्ण स्थान है और यह इसके साहित्य की आधारशिला स्थापित करने में समर्थ रही।

विद्यापति से प्रेरित आसामीय ब्रजबुली के गीत दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—वर गीत और अंकेर गीत (अंकिया नट)। विद्यापति के मैथिली गीतों की भाँति इनमें रागों का संकेत रहता है, इससे स्पष्ट है कि ये भी गाये जाने के लिए रचे जाते थे, भनिता 'ध्रुपद' कृष्ण सम्बन्धी कथा-तत्त्व। यहाँ के कवियों पर ब्रज का अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा अपेक्षाकृत बंगाल के कवियों (ब्रजबुली) के।

३. उड़ीसा—१६ शती के प्रथम ४० वर्षों में उड़ीसा में मैथिली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पूजा प्रदीप और काव्यप्रदीप के प्रणेता महामहोपाध्याय गोविन्द ठाकुर ने उड़ीसा के दर्शन किए थे, परन्तु मुख्य रूप से बंगालियों के द्वारा ही उड़ीसा में मैथिली प्रभाव पहुँचा। सर्वप्रथम ब्रजबुली की कविता यहाँ उड़ीसा-नरेश प्रताप रुद्रदेव (१५०४-१५३२ ई०) को समर्पित की गई है। इसका लेखक उड़ीसा का प्रसिद्ध कवि नाटककार रामानन्द राय था। डा० सुकुमार सेन ने चैतन्य के साथ इसकी भेंट को बड़ी सजीवता से चित्रित किया है। जब चैतन्य देव भारत की प्राय-द्वीपीय यात्रा पर निकले तो तत्कालीन बंगाल के विख्यात विद्वान् वासुदेव सार्वभौम ने उनसे प्रार्थना की कि आप विद्यानगर में रामानन्द से अवश्य भेंट करें। रामानन्द उस समय एक उच्चकोटि के विद्वान एवं रहस्य कवि के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके थे। गोदावरी के किनारे वे दोनों मिले और परस्पर आकृष्ट हुए। भेंट के दौरान जो रुचि-कर वार्तालाप हुआ उसका विवरण कृष्ण दास कविराज ने अपने 'चैतन्य चरितामृत' ग्रन्थ

में दिया है। चैतन्यदेव ने रामानन्द से पूछा कि वैष्णव धर्म और दर्शन का चरम ध्येय क्या है। रामानन्द ने स्पष्ट उत्तर दिया, परन्तु चैतन्य सन्तुष्ट नहीं हुए। चैतन्य की प्रश्न चातुरी के आगे जब रामानन्द का वश न चला और वेदशास्त्रादि के उद्धरण-टुटान्तादि से भी उन्हें सन्तुष्ट न कर सके, तब उन्होंने स्व-रचित-कविता के द्वारा अपने हार्दिक भाव प्रकट करने की अनुमति माँगी उस रचना की मुश्किल से दो ही पंक्तियाँ पढ़ी गई होंगी कि उन्हें सुन कर चैतन्य विभोर हो गए और उन्हें कविता पाठ से रोक दिया। समसामयिक प्रमाणों से यह रचना आसामगत ब्रजबुली साहित्य की आदिम रचनाओं में गिनी जाती है (हिस्ट्री ऑफ ब्रजबुली लिटरेचर पृष्ठ २८)।

विद्यानगर में यह घटना गोदावरी के किनारे १५११ या १५१२ ईस्वी में हुई थी। कविता जो रामानन्द राय ने पढ़ी थी निम्न है—

पहिलहि राग नयन भाँग मेल, अनुदिन बाढल अवधि ना गेल।

न सो रमण न हाम रमणी, दुहुं मन मनोभव पेसल जनि॥ इत्यादि

—(हि० ऑफ ब्रजबुलि लि०)

प्रियरंजन सेन ने हाल में ही राय रामानन्द की ब्रजबुलि की कविताओं का संग्रह (२४ बागमरी रोड, कलकत्ता से १९५२ ई०) प्रकाशित किया है। इसमें १०० से अधिक कृष्ण-भक्ति विषयक पदों का संग्रह है, जो कि आसत ब्रजबुली-कवियों की कविताओं से श्रेष्ठ है। इसकी मैथिली, भाषा ब्रजभाषा, उड़िया और बंगला से मिश्रित है।

यथा—सभ सखागणे कृष्ण बोलएवचन, स्नाहान बढ़ाआ मोरे मिलब अखन॥ इत्यादि

—प्रियरंजन सेन—पृष्ठ १३

इन गीतों में भक्ति का प्रकाशन विशेष अभिरुचि से हुआ है और कृष्ण की लीला का चित्रण दिनके विभिन्न प्रहरों के हिसाब से हुआ है।

—हि० मै० लिट० (पृष्ठ १८०)

१६वीं शती के दूसरे ब्रजबुली के प्रमुख कवि चम्पतिराय महाराज प्रतापरुद्र देव का एक महापात्र और प्रतापरुद्र देव स्वयं हैं। माधवीदासी एक महिला, कन्हूदास और मुरारी ब्रजबुली के गौण कवि हैं। ये भी 'पद कल्पतरु' और 'क्षणदा गीत चिन्तामणि' में उल्लिखित हैं।

१७वीं शती में उड़िया-ब्रजबुली साहित्य-रचना में रायदामोदरदास, चन्दकवि और यदुपतिदास इन तीन महा कवियों ने योग दिया। इनमें से प्रथम दो रामचन्द्रदेव १ के दरबार में हुए और अन्तिम उड़िया-नरेश नरसिंह देव के दरबार में। इन सब कवियों ने विद्यापति के अनुकरण में कविता रचना की, यद्यपि इनकी भाषा चण्डी-दास की भाषा से अधिक मिलती है (हि० मै० लिट० पृष्ठ १८१)।

४. नेपाल—नेपाल को भी विद्यापति ने बहुत प्रभावित किया। मैथिलों के वहाँ प्रवेश से उनकी बोली भी नेपाल में पहुँच गई और उसने उनसे परम्परित नाटकों के बीच में स्थान प्राप्त कर लिया। वे परम्परित नाटक उत्सवों पर अभिनीत होते थे। बीमे-बीमे यह मैथिली नेपाल की राज-भाषा बन गई।

नेपाल के मल्ल नरेशों ने स्वयं विद्यापति के अनुकरण पर लिखा और अनेक कवियों और संगीतकारों को अपने यहाँ आकृष्ट किया। जबकि प्राच्य देश पूर्वी-भारत में विद्यापति का इतना प्रभाव था, मध्य देश (हिन्दुस्तान वा मिडलैंड) में उनका प्रभाव नहीं पड़ा। देखें—(हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर पृष्ठ १८२)।

५. मध्य देश में—डा० जयकान्त मिश्र का अभी तक यही अभिमत है कि महाकवि विद्यापति की प्रतिभा से मिथिला, बंगाल, उड़ीसा, आसाम और नेपाल प्रदेश ही प्रभावित हैं। उनका कथन है कि यह ध्यान देने की बात है कि जब प्राच्य-प्रदेश (पूर्वी भारत) में विद्यापति बहुशः प्रशंसित और समाहत हुए तब मध्य-प्रदेश (हिन्दुस्तान या मिडलैंड) में ऐसा कुछ नहीं हुआ—“ह्लाइल देयर वाज सो मच ऐप्रि-सिएशन ऐण्ड अण्डर स्टैंडिंग आफ विद्यापति थ्रू आउट द प्राच्य देश (ईस्टर्न इण्डिया) इट मेबी नोटेड दैट देयर वाज नो नोटिस टेकन आफ हिम इन द मध्य देश (हिन्दु-स्तान और द मिडलैंड) देखें—‘डा० जयकान्त मिश्र कृत’ हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर’ भाग १, पृष्ठ १८२। इन पंक्तियों के लेखक के साथ हुए एतद्विषयक पत्र-व्यवहार में उन्होंने बताया कि विद्यापति ऐक्सरसाइज्ड नो इम्प्लुएन्स औन द लिटरे-चर आफ ब्रजभूमि (मध्यदेश आर हिन्दी भाषी प्रदेश) ऐट दैट टाइम। आई ऐम आफ डैफिनिट ओपिनियन दैट दैयर इज ऐज नो पोजिटिव प्रूफ ठु शो दैट विद्यापति वाज ईवन नोन ठु हिन्दी राइटर्स टिल १८८० ए० डी० आर० सो ‘आई डू नाट नोइफ देयर इज ए सिंगल पोयट हू ईवन हर्ड हिज नेम बिफोर दिस डेट। आई ऐम आल्सो-श्योर दैट द रीजन इज आब्वियस, मैथिली वाज नेवर ऐलाइड ठु हिन्दी ईवन ए नैबेरिंग लैंग्वेज, इफ ऐट आल, इट वाज ऐलाइड ठु बंगाली, उड़िया, असमी-द प्राच्य ग्रुप आफ इण्डो आर्यन लैंग्वेजेज’। उनका स्पष्ट मत है कि इस समय से पूर्व मिथिला और मध्य देश का साहित्यिक सम्बन्ध नहीं रहा। परन्तु इस समय से पूर्व से मिथिला प्रदेश के अलंकार और रसशास्त्रियों की रचनाओं से और यहाँ के गीतकारों और रसिक भक्त-सन्तों की सरस कृतियों से मध्यदेश भी परिचित था। समस्त लौकिक-संस्कृत-साहित्यगत और इतर तदुद्भूत शृंगार-परक-साहित्य के मेरु-दण्ड-रूप वात्स्यायन कृत ‘कामसूत्र’ की रचना मिथिला में हुई (देखें—अवन्तिका मई १९५३ ईसवी) और मूलतः कामसूत्रों से उद्भूत तन्तुओं से ही बंगाल से लेकर पंजाब तक समस्त उत्तर-भारत (जिसमें मध्य देश है ही) में लोक-साहित्य-प्रणेता सब ही रसिक कवियों एवं भक्त-सन्तों ने अधिकांशतः तत्कालीन काव्य-रीतियों का अनुसरण करते हुए अपने मधुर गीतों या पदों का ताना-बाना बुना है। वात्स्यायन के काम-सूत्रों से प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः प्रभावित अनेक रसिक-भक्त-सन्त जनों ने मध्य-देश की भूमि को अपने जन्म से समलंकृत किया है। काम-सूत्रों के भीतर घुसों तो पता चलेगा कि इस शास्त्र में मध्यदेश, मालवा, सिन्ध, पंजाब, गुजरात, केरल, मद्रास, बंगाल, उत्कल, कौशल आदि की नारियों की प्रवृत्ति और उनके कामाचरण के विषय में भी विचार किया गया है। कन्या-विस्रम्भण प्रकरण के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य की प्रशंसा, प्रणयोपचार आदि की विधियाँ बताई गई हैं। बाला, नवौढा, मुग्धा, प्रौढा आदि के प्रणयोपचार के अन्तर स्पष्ट किए गए हैं। ईसा की तृतीय शती

के आस-पास वात्स्यायन ने काम-सूत्र का निर्माण किया। उसके बाद अन्य अनेक आचार्यों ने इस शास्त्र का पल्लवन एवं विकास किया। संस्कृत कवि राजशेखर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यमीमांसा के आठवें अध्याय में कवि के लिए पठनीय शास्त्रों का विवरण देते हुए कामशास्त्र का भी उल्लेख किया है। वहाँ कामशास्त्र, नाट्य-शास्त्र और अर्थशास्त्र को एकत्र रखा है। इसे उन्होंने राजसिद्धान्तत्रयी कहा है। देखें—राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' अष्टम अध्याय, पृष्ठ ८५। कामशास्त्र का मूल उद्देश्य बतलाते हुए वात्स्यायन ने लिखा कि काम, अर्थ और धर्म दोनों का साधन है—'फलभूतश्च धर्मार्थयोः'। वात्स्यायन मुनि ने विवाह को आवश्यक बताया था और इस शास्त्र को उन्होंने वर्णाश्रम की मर्यादा में घेर कर रखा था—

कामश्चतुर्षु वर्णेषु सर्वर्णतः शास्त्रतश्चानन्य पूर्वायां ।

प्रयुज्यमानः पुत्रीयो यशस्वी लौकिकश्च भवति ॥

बाद में इस शास्त्र की मर्यादा की गुड़ड़ी नीचे उतर आई और इसका मूल-प्रयोजन इन्द्रिय-सुख और 'पर-परिगृहीता' के प्रति आसक्ति और व्यभिचार हो गया। इस प्रकार के कामशास्त्रों और सामुद्रिक शास्त्रों में वर्णित नारी-सौन्दर्य और अंग-प्रत्यंगों के लक्षणादि इतने लोकप्रिय हुए कि कवियों ने ज्यों का त्यों इन्हें काव्य विषयक उपकरण के रूप में गृहीत कर लिया। सौन्दर्य-चित्रण में तथा नख-शिख-वर्णन में काम-शास्त्र के लक्षणों को ज्यों का त्यों अपना लिया गया। इसका प्रभाव इतना व्याप्त हुआ कि धार्मिक कवि, स्तुति या स्तोत्र लेखक भी इससे बच न सके। दुर्गा, सरस्वती, राधा, गौरी, लक्ष्मी आदि देवियों की स्तुति में उनके सौन्दर्य का चित्रण इन्हीं लक्षणों पर आधारित किया गया। नवोद्गा और तरुणी के सौन्दर्य-चित्रण में परिगृहीत उपमान देवियों के सौन्दर्य में भी प्रयुक्त होने लगे। बाद में मधुरा-भक्ति के मानने वाले वैष्णव कवियों ने इसे और भी अधिक महत्त्व दिया। संस्कृत कवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' में सर्व प्रथम काम-कला और हरि-स्मरण को एकत्र कर दिया गया।

विद्यापति पर इस धारा का घोर प्रभाव पड़ा। उन्होंने जयदेव की तरह माधव और राधा के चरणों की वन्दना के साथ ही काम शास्त्र की शिक्षा को भी अपना उद्देश्य मान लिया। तत्कालीन कवि वस्तुतः कामशास्त्री की भूमि का अदा करना भी कवि का ही कर्तव्य समझने लगा था। राधा के रूप-चित्रण में विद्यापति ने सामुद्रिक और कामशास्त्र की रूढ़ उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं की राशि एकत्र कर दी। प्रेम के चित्रण के बाद वे यह लिखना नहीं भूलते थे कि यह रस कोई-कोई ही जानता है। अरे मूर्ख ! राजाशिवसिंह इस रस को जानते हैं, उनसे कुछ डर नहीं अथवा लखिमा इस रस को जानती हैं। इतना ही नहीं कुछ पदों में उन्होंने कामकला-शिक्षक का बाना भी धारण कर लिया है और स्पष्ट शब्दों में लिखा है —

विद्यापति कह इह रस ठाठ ।

भए गुह काम सिखाओब पाठ ॥

अथवा

सुनुसुनु ए सखि वचन विसेस ।

अजु हम देव तोहि उपदेस ॥

और जब विद्यापति अपना 'उपदेश' देने लगते तो वात्स्यायन और उनकी सारी शिष्य-परम्परा दौत तले उंगली दबा कर खड़ी हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं (देखें—शिवप्रसादसिंह कृत 'विद्यापति' पृष्ठ, ३१)। इस प्रकार स्पष्ट ही संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश से उद्भूत भारतीय-हिन्दी-साहित्य ने कामशास्त्री विद्यापति की पाठ-शाला में वात्स्यायन प्रणीत और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अधीत कामशास्त्र का अध्ययन किया। कहना चाहिए कि अपने शृंगार-पदों के द्वारा विद्यापति ने काव्यगत शृंगार-तत्त्वों का सार हिन्दी साहित्य को धरोहर के रूप में सौंप दिया। मध्य देश में विद्यापति की वह बहुमूल्य थाती बंगाली वैष्णवों और गोस्वामियों के कंधों पर आई। और वहाँ तब इसने वल्लभ सम्प्रदाय, राधावल्लभ-सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय के अनेक रसिक-भक्त-शृंगारी कवियों को चमत्कृत किया और उन्हें सहज में ही काव्य-उपादान सुलभ हो गए।

विद्यापति के बाद भी मैथिल अलंकार रस-शास्त्रियों के ग्रन्थ मध्य देश में होने वाले रसिक-भक्त-कवियों के प्रेरणा-स्रोत रहे, इस बात की पुष्टि के लिए वल्लभा-नुयायी अष्टछाप के प्रसिद्ध रसिक-भक्त-नन्ददास की 'रसमंजरी' को प्रस्तुत किया जा सकता है। उसमें भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी' का अनुकरण है। देखें—डा० उमा-शंकर कृत 'नन्ददास', पृष्ठ ६३।

प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० जयकान्त मिश्र से असहमति रखते हुए मुझे यहाँ कहना है कि विद्यापति जैसे अत्यन्त लोकप्रिय एवं विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने न केवल मिथिला, बंगाल, आसाम, उड़ीसा और नेपाल को ही प्रभावित किया अपितु उनकी सरस पदावली से तो समस्त उत्तर-भारत रस-सिंचित हुआ।

संस्कृत-प्राकृत अपभ्रंश साहित्यों में वस्तु, भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से जो शृंगार-सम्पदा थी उसका तत्कालीन समाज से हार्दिक सामंजस्य स्थापित करके उदार वितरण करने वाले सर्वप्रथम हिन्दी कवि विद्यापति हुए अपने लिए सदा उन्मुक्त रहने वाले प्राचीन साहित्य-कोष की रूढ़-सामग्री को उनके अपने तथा लोक-हृदय के साथ सामंजस्य बिठाने की प्रक्रिया में नूतन एवं आकर्षक रूप मिल गया। जयदेव एवं संस्कृत-प्राकृत अपभ्रंश की अन्य स्फुट कविता से प्रेरित विद्यापति के काव्य ने यथा समय अपने गुणानुरूप अपने आश्रयदाताओं के दरबारों में एवं अन्यत्र लोक-मानस में स्थान पा लिया। परन्तु अभी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार उन्हें उचित आसन नहीं दे सके। प्रवृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले साहित्य के अध्येता पावेंगे कि विद्यापति मध्ययुगीन हिन्दी-मुक्तक-शृंगार-कविता की दृष्टि से चिर-अविस्मरणीय हैं।

विद्यापति की पदावली द्वारा उनकी बहुमुखी प्रतिभा एवं काव्य-कौशल का पूरा परिचय मिलता है। इसमें संगृहीत पदों से इस बात का पता चल जाता है कि वह कवि एक धुरन्धर पण्डित होता हुआ भी, अपनी कल्पना को किस प्रकार स्वच्छन्द रूप से दोड़ने के लिए छोड़ सकता था तथा, दरबारी होता हुआ भी जन-समाज की बातों से पूर्ण परिचित रहा करता था किस प्रकार कवि-परम्परा द्वारा गढ़ी गई रूढ़ियों में भी एक नवीन सौन्दर्य की आभा प्रकट कर सकता था। विद्यापति

प्रधानतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं और इनकी रचनाओं में हमें इनकी कल्पना की ऊँची उड़ान के साथ-साथ सूक्ष्म निरीक्षण के भी उदाहरण मिलते हैं और इस सब में स्वाभाविकता और रूढ़ि-परायणता का अद्भुत सम्मिश्रण है।

मध्ययुगीन कवियों के विषय में एक तथ्य की बात यह है कि कविगण अपनी कृतियों की रचना सदा स्वाभाविक ढंग से किया करते और काव्यशास्त्र के आचार्य उनमें प्रदर्शित बातों के आधार पर ही सिद्धान्तों एवं नियमों की कल्पना करते और अपनी ओर से किन्हीं मनमाने आदर्शों की सृष्टि करने में व्यर्थ का समय न लगाते। किन्तु जैसे-जैसे शास्त्रीयता का महत्त्व बढ़ता गया और कवियों का ध्यान अपनी वास्तविक अनुभूति के अनुसार काव्य निर्माण करने की अपेक्षा उनके अनुसरण मात्र की ही ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया उसका प्रकृत क्रम उलट गया और बहुत-सी कृतियाँ केवल टकसाली बन कर ही रह गईं। फिर भी जहाँ तक परिस्थिति एवं वातावरण का सम्बन्ध है, उनका कुछ न कुछ प्रभाव बराबर पड़ता चला गया और इस बात के अनेक उदाहरण हमें मध्यकालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं में भी मिल सकते हैं। इस युग के सिंह द्वार पर खड़े विद्यापति से लेकर इसके अन्तिम दिनों तक की प्रवृत्तियों के कुशल चित्रकार ग्वाल कवि की रचनाओं को एक बार सरसरी ढंग से देखने पर भी इस बात के स्पष्ट होते देख नहीं लगती। चाहे नायिका भेद का प्रश्न हो, चाहे नख-शिख वर्णन हो अथवा प्रकृति का ही चित्रण हो शृंगारिक प्रवृत्तियों का रंग सदा एवं सर्वत्र एक समान ही नहीं दीख पड़ता। कुछ परिवर्तन तो इस बात पर निर्भर है कि सभी ऐसे कवियों की मनोवृत्ति एक ही प्रकार की नहीं है। उदाहरण के लिए विद्यापति, रहीम, बिहारी एवं पद्माकर जैसे कवियों का ध्यान यदि अपने काव्य सौष्ठव की ही ओर अधिक है वहाँ केशवदास, मतिराम, देव एवं ग्वाल जैसे कवि दोनों बातें संभालने की ओर प्रत्यक्ष रूप में प्रयत्नशील जान पड़ते हैं और कृपाराम, बलभद्र, दास एवं रसलीन अपने आचार्यत्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं इसी प्रकार सूरदास, जायसी, तुलसीदास एवं नन्ददास को शृंगारिक रचनाओं को प्रस्तुत करते समय सदा अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के अनुसार ही चलना पड़ता है। (देखें—परशुराम चतुर्वेदी कृत 'मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ' पृ० ३८-३९)।

विद्यापति एक सुयोग्य पण्डित और विद्वान् थे और काव्यकला से भी पूर्ण परिचित थे। किन्तु उनकी रचना शैली में केवल नियमानुसरण अथवा रूढ़िपालन के ही प्रयत्न नहीं। वे स्वयं अनुभव करते हैं, सोचते हैं और अपनी निजी कल्पना से काम लेते हैं और पुरानी बातों को भी ऐसे ढंग से प्रस्तुत करना जानते हैं जिससे नवीनता आ जाती है। उनकी रचनाओं पर काव्य-शास्त्र एवं कामशास्त्र दोनों का ही प्रभाव प्रचुर मात्रा में दृग्गत होता है किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, हम वहाँ ठेठ अश्लीलता का अनुभव नहीं कर पाते। उनका विषय प्रधानतः सात्विकारों के भाव जगत् की ही वस्तु है और उनके नायक श्री कृष्ण एवं नायिका राधा की विविध चेष्टाओं में अभी तक उस वातावरण का ही रंग परिलक्षित होता है जिसका निर्माण पौराणिक पद्धति एवं 'गीतगोविन्द' के आदर्श पर हुआ था। 'गीतगोविन्द' का उस काल के समाज में बहुत आदर हुआ और यह रचना शृंगार-भक्ति-काव्य का एक आदर्श

बन गई। मैथिल कवि विद्यापति ने उसकी रचना-शैली-अनुसरण में जो अपनी पदावली रची वह भी लगभग वंशी ही सफल कृति सिद्ध हुई। उसका प्रभाव मिथिला, बंगला एवं हिन्दी के परवर्ती भक्त-शृंगार कवियों पर विशेष रूप से पड़ा।

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन इतिहास को कालान्तर से शृंगार-रस के उत्थान एवं पतन का भी इतिहास कह सकते हैं। इसका प्रारम्भिक रूप अपभ्रंश की रचनाओं में लक्षित होता है और वह पहले अधिकतर लोक-प्रचलित परम्पराओं का ही आश्रय ग्रहण करता प्रतीत होता है किन्तु यह उस काल तक रची गई संस्कृत काव्य-कृतियों द्वारा ही प्रभावित रहता है और इसकी अभिव्यक्ति में आभिजात्य का भी अंश कम नहीं रहता। फिर भी तत्कालीन धार्मिक साहित्य से भी प्रेरणा-प्राप्त कर अपना एक आमुष्मिक रूप प्रदर्शित करने लग जाता है जिसका ठीक स्पष्टीकरण मैथिल कवि विद्यापति के समय तक नहीं हो पाता और वह इसी कारण इसके लिए संक्रान्ति काल कहा जा सकता है। अन्त में फारसी-साहित्य के नवीन आदर्श तथा विभिन्न भक्ति-ग्रन्थों के प्रसाद स्वरूप जो समर्थन हिन्दी साहित्य को मिलता है उसके कारण यह बिखरने लग जाता है। सूफियों एवं विशेष कर सन्तों की रचनाओं में तो यह विशुद्ध आध्यात्मिक वेश ही धारण करने के प्रयत्न में रहता है किन्तु सगुणवादी भक्तों का भी प्रश्रय पा लेने पर उसे फिर एक बार अपने ऐहिक क्षेत्र में लौट आने का प्रलोभन मिलता है जिसका संवरण इसके लिए असम्भव-सा सिद्ध होता है। वैभव-सम्पन्न-मुगल-साम्राज्य के अधःपतन के साथ जैसे-जैसे विलासिता को बल मिलता जाता है इसकी निर्मलता क्रमशः नष्ट होती चली जाती है। जिस प्रकार धरातल के विभिन्न जलाशयों में संचित जल सूर्य की किरणों द्वारा क्रमशः खिंचता हुआ आकाश की ओर जाता है और वहाँ समुज्ज्वल बन बादलों का रूप धारण कर लेता है तथा जिस प्रकार वहाँ से नीचे आकर वह मटमैला बन जाता है उसी प्रकार लौकिक साहित्य का शृंगार-रस भी अवसर पा कर उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँच गया तथा एक बार अधिक विशुद्ध भी बन गया। किन्तु फिर अन्त में लौट कर उसे मलिन एवं पंकिल तक हो जाना पड़ा और उसमें आ फंस जाने के कारण औतारी राधा-कृष्ण एवं सीता-राम तक की मिट्टी पलीत हो गई।

फर्कूहार का कथन है कि राधा की उपासना भागवत पुराण के आधार पर वृन्दावन में ईसवी सन् ११०० के आस-पास प्रारम्भ हो गई होगी और वहाँ से बंगाल तथा अन्यान्य स्थानों में पहुँची होगी। विद्यापति से राधा-कृष्ण-विषयक साहित्य की परम्परा गृहीत हुई और उसका पूर्ण विकास हुआ। इसी परम्परा के आधार पर हिन्दी के मध्यकाल भक्तिकाल में स्वर्ण साहित्य का सृजन हुआ। रीतिकाल में पहुँच कर उसमें लौकिक शृंगार का प्राधान्य हो गया और उसका स्वरूप तनिक विकृत हो गया (डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी कृत 'रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन', पृष्ठ १८०)।

कृष्ण-भक्ति-परम्परा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेम तत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई, उनके लोक पक्ष का समावेश उसमें नहीं है।

इन कृष्ण-भक्तों के कृष्ण प्रेमान्त गोपियों से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े बड़े भूपालों के बीच लोक-व्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुररूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालम्बन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेम-लोक में फूला-फूला फिरता है। अतः इन कृष्ण-भक्त कवियों के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदासजी के समान लोक-संग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह वे नहीं करते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय-वासना पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी-काव्य को भर दिया।

कृष्ण चरित के गान में गीत-काव्य की जो धारा पूरव में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया। आगे चल कर अलंकारकाल के कवियों ने अपनी शृंगारमयी मुक्तक कविता के लिये राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया। इस प्रकार कृष्ण-सम्बन्धिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र में ही हुआ, प्रबन्ध के क्षेत्र में नहीं। कृष्ण-भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्र का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिये पर्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो एक अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक है। कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा अपने इष्ट देव की केवल बाल लीला और यौवन लीला लेकर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिये ही उपयुक्त थी। मुक्तक के क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों तथा अलंकारिक कवियों ने शृंगार और वात्सल्यरसों को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

सूरदास कृत 'सूरसागर', में कृष्ण जन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त विस्तार से फुटकर पदों में गाई गई है। सूरसागर इसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है। किसी देश की काव्य धारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें निराल काल से चले आते हुए इन्हीं गीतों में मिल सकता है। घर-घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतों में शृंगार और कृष्ण दोनों का स्वाभाविक विकास मिलेगा। स्त्रियों के बीच चले आते हुए बहुत पुराने गीतों को ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि उनमें स्वकीया के ही प्रेम की सरल गंभीर-व्यंजना है। परकीया-प्रेम के जो गीत हैं वे कृष्ण और गोपिकाओं की प्रेम-लीला को ही लेकर चले हैं, इससे उन पर भक्ति या वर्म का भी कुछ रंग चढ़ा रहता है। इस प्रकार के मौखिक गीत देश के प्रायः सब भागों में गाये जाते थे। मैथिल कवि विद्यापति (१४१५वीं शताब्दी) की पदावली में

हमें उनका साहित्यिक रूप मिलता है। सूर के शृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदों के तो भाव भी बिल्कुल मिलते हैं, जैसे—
अनुखन माधव माधव सुमरत, सुन्दरि भेलि मधार्ई । इत्यादि ।

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २१७

सुनो श्याम ! यह बात और कोउ क्यों समभाय कहै ।

दुहु दिसि की रति विरह विरहिनी कैसे कै जो सहै ॥ इत्यादि ।

—सूरदास, सूरसागर, बैकटेश्वर प्रेस, पृ० ५६४

राधा रूप चित्र—

माधव की कहत सुन्दरि रूपे । इत्यादि ।

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १२

अद्भुत एक अनुपम बाग ।

जुगल कमल पर गजवर क्रीडति तापर सिंह करत अनुराग । इत्यादि

सूरदास, सूरसागर

यहाँ दोनों ही कवि राधा के रूप का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। किन्तु सूरदास के चित्र में विद्यापति के चित्र के समक्ष भाव और कला दोनों की न्यूनता है। जिस भाव को सूरदास ने 'जुगल-कमल से कहा है, उसे विद्यापति ने 'पल्लवराज' लिख कर ही अभिव्यंजित कर दिया है। सूरदास 'गजवर क्रीडति' से राधा की जाँघ की उपमा देते हैं, किन्तु विद्यापति 'कबक-कदली' की उपमा देकर सर की उपमा को फीका कर देते हैं। सूरदास ने 'निस्विर फुले-कंज पराग' का प्रयोग राधा के उरोजों के लिए किया है और वह सुन्दर है किन्तु महाकवि विद्यापति ने उसे और अधिक सुन्दरता से चित्रित किया है। उन्होंने, मेह ऊपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई' कह कर ऐसे कमलों का चित्रण किया है जो बिना नाल के ही अपनी शोभा से खिल रहे हैं। सूरदास के 'फूले कंज पराग' को भय है कि कहीं सूख न जाएँ किन्तु विद्यापति ने अपने कल्पना-प्रसूत बिना नाल के कमल को 'मनिमय हार धार बहु सुरसरि' कह कर सदा प्रफुल्लित रहने का प्रबन्ध कर दिया है। विद्यापति और सूरदास दोनों ही उच्चकोटि के कलाकार हैं, किन्तु जहाँ तक भावों की उच्चता का प्रश्न है वहाँ तक तो कोई भी एक-दूसरे से पीछे नहीं रहता किन्तु जहाँ अलंकारों और अनुप्रासों के प्रयोग को देखते हैं तो विद्यापति निश्चय ही एक कला पारखी और महान् पण्डित हैं। उत्प्रेक्षा और उपमा का प्रयोग करने में विद्यापति अपनी समता नहीं रखते, किन्तु रूपक का प्रयोग करने में सूर का भी जोड़ नहीं।

प्रथम-दर्शन-जनित रूप-लोभ

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ, बारल लोचन-चोर । इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद ३८

हरि मुख निरखत नैन भुलाने ।

वे मधुकर रुचि-पंकज लोभी ताहीते न उड़ाने ॥ इत्यादि

—सूरदास, 'सूरसागर'

यहाँ विद्यापति के नेत्र-भ्रमर कृष्ण की सुन्दरता के रस में लिप्त हैं। वे उड़ने का प्रयत्न करने पर भी नहीं उड़ पाते। उधर सूरदास की राधा के नेत्र-भ्रमर 'रुचि पंकज-लोभी' होने के कारण उड़ने में असमर्थ हैं। यहाँ दोनों के भाव में बिल्कुल समानता है। सूर की राधा की 'नैननि गति निरखत, खंजन मीन लजाने' की उक्ति अत्यन्त सुन्दर है तो उधर विद्यापति की राधा के नेत्रों के लिए 'चोर' और 'चकोर' की उपमा भी अपनी मार्मिकता में कम नहीं। यद्यपि दोनों कवियों ने एक ही विषय से अपने काव्य को सजीव बनाया है तथापि विद्यापति के वर्णन में आन्तरिक भावों का सुन्दरता से चित्रण हुआ है। सूरदास के पद में नेत्रों के बाह्य वर्णन को ही अधिक महत्त्व दिया है। विद्यापति की राधा अपने कृष्ण के दर्शनों में अधिक उल्लसित एवं विभोर है। विद्यापति की राधा अपने मुख को एक कुलकामिनी के समान नीचे किए हुए हैं। क्योंकि उसको भय है कि यदि उसने अपने नेत्रों को कृष्ण के मुख से दूर न किया तो यह चोर की तरह उसके रूप को चुराने में लग जायेंगे और गुरु जनों के द्वारा पकड़े जायेंगे। सूरदास ने इस प्रकार की कोई कल्पना नहीं की। विद्यापति की राधा के नेत्र 'मधुप मातल उडए न पारए, तइअओ पसारए पाखि' 'कवि की कल्पना शक्ति का कैसा सुन्दर निदर्शन है !

विरह-वेदना

लोचन धाए फेघायल, हरि नहि आयल रे। इत्यादि

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६३

हरि को मारग दिन प्रति जोवति। चितवत रहति चकोर चन्द्र ज्यों,
सुमरि सुमरि गुण रोवति। इत्यादि

—सूरदास-सूरसागर

राधा की विरह-वेदना की अभिव्यंजना में दोनों कवियों ने कोई कसर नहीं उठा रखी। विरह-विधुरा नायिका का विद्यापति-कृत चित्र बड़ा मार्मिक है। 'जिवओ न जाए' कितना कष्टोत्पादक है। साथ ही निराशा भी अभिव्यक्त होती है। 'आस अरुभाएल रे, में राधा की आशा उसे पुनः जीवन में उलझाए रहती है। गीत में 'सिव सिव' शब्द-आवृत्ति ने सहज-वेदना को और भी उबार दिया है। 'सिव-सिव' सार्थक भी है—विरहिणी की इस दशा में उसका बड़ा शत्रु कामदेव है। उसकी आँखों से वह नींद भी ले गया मानो। अतः उस विरहिणी के संरक्षण में शिव से बढ़ कर कौन सहायक हो सकता है ?

सूर के पद में भी 'चकोर' और 'चन्द्र' का प्रयोग भाव-प्रवणता के उत्कर्ष की दृष्टि से उच्चकोटि का है। विरहिणी की उत्कण्ठा के चित्र को चकोर-चन्द्र के दृष्टान्त से प्रस्तुत किया है। 'सुमरि सुमरि गुण रोवति' में विरहिणी के प्रेम की उच्चता का चित्र उपस्थित करने की क्षमता है। किसी भाव को सूर ने अधिक कुशलता से चित्रित किया है तो किसी भाव को विद्यापति ने अपने कला-पांडित्य से सूर से भी सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

विरह प्रसंग के ही विद्यापति कृत अनुसूक्त माधव माधव सुमरत सुन्दरि भलि-

मघाई, इत्यादि पद और सूरदास कृत 'सुनो श्याम । यह और कोउ क्यों समझाव कहै' आदि पद में भी खूब भावसाम्य है। सूर-सागर में जगह-जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। 'सारंग' शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का कूट देखें—

सारंग नयन बयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने ।

सारंगऊपर उगल दस सारंग, केलिकरथि मधुपाने ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १२

सूर ने विद्यापति के भाव-साम्य पर ही अपनी पद रचना की। विद्यापति से विभिन्नता के लिए वातावरण, सम्प्रदाय-दीक्षा उत्तरदायी हैं। विद्यापति के भावों को लेकर भी सूर उनमें वैसी नवीनता नहीं ला सके जिस प्रकार विद्यापति संस्कृत-प्राकृत अप्रभ्रंश रचनाओं के भावों को लेकर भी उनमें अपनी कला-पटुता की उत्कृष्टता दिखाने में नहीं चूके। भ्रम न फैले, इसलिए हम कहते हैं कि दोनों महान्-कलाकार हैं। विद्यापति मैथिली-हिन्दी के प्रतिनिधि एवं महाकवि हैं तो सूरदास ब्रज की हिन्दी के सर्व-श्रेष्ठ कलाकार हैं। सूरदास के ही नहीं भक्ति-आन्दोलनों से प्रभावित रागानुगा-भक्ति-प्राण भक्तों के शृंगार-पद विद्यापति के पदों से प्रभावित हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षित इस प्रकार के अनेक भक्तों के शृंगार-पदों का वर्तमान रचना के 'भक्तों की कविताओं में शृंगार' रस शीर्षक के अन्तर्गत उल्लेख हुआ है। वहाँ क्रमशः गोविन्ददास, ज्ञानदास, नन्ददास, तुलसीदास, हितहरिवंश, के ऐसे पदों का जिक्र है जो शिख-नख, नख-शिख रूप और नायिका-भेद शृंगार के भाव और शैली तत्त्वों से सम्बद्ध हैं।

रीतिकालीन कविता स्वतः उदित भक्ति काल की प्रति क्रिया स्वरूप स्वतन्त्र धारा थी जो तत्कालीन जीवन की स्वाभाविक एवं अनिवार्य अभिव्यक्ति होते हुए भी पूर्व-प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं का सहज विकसित रूप थी। इस विषय में यह कथनीय है कि किसी भी युग के साहित्य का सृजन उस युग की भूमि पर होता है। कवि युग में रहता है। उसकी मुक्त-दृष्टि उस काल की ठोस परिस्थितियों के चक्र में हो कर ही ऊपर उठती है। रीतिकाल के कवियों का हिन्दी साहित्य में एक विशेष स्थान है। वीरगाथा काल के कवियों ने वीर-पुरुषों की प्रशस्तियाँ प्रस्तुत कीं। उनका उस समय यह धर्म था कि राजा और राजनीति की दृष्टि से उस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करें। वे वीर-पूजा के भाव से उद्बलित थे, ऐसा कहा जा सकता है। सन्त-कवियों, सूफी-प्रेमगाथाकारों तथा कृष्ण और राम के भक्त कवियों ने जो रचनाएँ रचीं उनका उद्देश्य स्पष्ट है। वे सृष्टि के मर्म और जीवन को समझ कर उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्देश करना चाहते थे, जीवन के लिए एक आदर्श देना चाहते थे। ऐसे जीवन-सन्देश देने वाले महान् युग के पश्चात् यह रीतिकाल। इसका क्या उद्देश्य था ?

यह 'काल' रीतिकाल कहा जायेगा, ऐसा ज्ञान इस युग के रचयिता कवियों को नहीं था। रीतिकाल से पूर्व के काव्य-आदर्शों को प्रस्तुत करने का जैसे एक विधिवत्

व्यवस्थापित आन्दोलन था, इस काल के कवियों के लिए वैसा कोई आन्दोलन भी किसी महापुरुष ने—किसी महात्मा या अवतार (जैसे आचार्य वल्लभ अग्नि के अवतार हैं) ने नहीं किया था। जैसे अपने आप ही कोई पौधा उग आता है, उसी प्रकार उस काल की भूमि में से यह रीतिकाल उदय हुआ और एक दीर्घकाल तक पोषित और पल्लवित हुआ, क्यों हुआ ? वह भूमि कैसी थी ? यह हमें अध्ययन करने की आवश्यकता है। बिना किसी आन्दोलन के, बिना किसी नेता के आदेश और निर्देश के स्वयमेव जो वस्तु उदय हो जाय, उसकी जड़ें गहरी ही होनी चाहिएँ। आज के समालोचक इस कार्य पर एक अनोखी ही दृष्टि से विचार करते हैं। वे कहते हैं कि यह काव्य कृत्रिम-अभिजात्य काव्य है, स्वाभाविक नहीं, अतः सूर और तुलसी तो युग की भावनाओं को प्रकट और अभिव्यक्त करने वाले—उस युग की आकांक्षाओं को रूप देने वाले प्रगतिवादी कवि हैं, बिहारी और देव जैसे कवि नहीं। रीतिकालीन कवियों ने प्रगतिगामी काव्य और समाज को तथा जन को पतन की ओर प्रवृत्त किया। इस दृष्टि का पोषण सर्वत्र ही हुआ है। हमें इस दृष्टि के मर्म को भी समझने की जरूरत है। क्योंकि 'सूर' और 'तुलसी' तथा 'कबीर' जो सामयिक आन्दोलन के प्रभाव और दबाव में लिख रहे थे, स्वाभाविक और प्रगतिवादी काव्य के रचयिता हुए और क्यों सहज रूप से, बिना किसी आन्दोलन और दबाव के जो रचनाएँ की गईं वे अस्वाभाविक और अप्रगतिगामी हुईं। इसके लिये इतिहास को, काव्य की पृष्ठ भूमि को समझने की आवश्यकता है। इतिहास यह बात बतलाता है कि जन-जीवन के इतिहास के युगों में जो परम्परा मिलती है वह एक की दूसरे की प्रतिक्रिया के रूप में होती है। वैदिक-कर्मकाण्ड के विरुद्ध बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ और अहिंसा का युग प्रतिष्ठित हुआ। इस बौद्ध युग की प्रतिक्रिया ब्राह्मण युग में हुई। इसी प्रकार सर्वत्र। फलतः 'रीतिकाल' भक्तिकाल की प्रतिक्रिया कहा जाना चाहिये—और यह है भी। भक्तिकाल में प्रेम को जन-जीवन के व्यावहारिक धर्म से अलग कर दिया, उसे अपने से इतर पुरुष-निर्गुण अथवा सगुण के समर्पित कर दिया, उसकी अपनी भावना का अपने हाड़मांस के लिए कोई भी स्थान और प्रयोग नहीं रहा। इसीलिये तो भक्तिकाल में लौकिक शृंगार प्रधानता को न पा सका।

भक्ति एक भावावेश की चरमावस्था है। वह हृदय के भावों में उत्तालगति चाहती है। ऐसी भावाविष्ट-दशा सदा नहीं बनी रह सकती, न सदा रुचिकर ही हो सकती है। रीति-काव्य में उसी प्रेम तत्त्व को दिव्य धरातल से उतार कर शरीर-हाड़-मांस में अनुरक्त कर दिया, यह एक प्रतिक्रिया थी। ईश्वर में से उन्होंने ईश्वरत्व निकाल कर अपने जैसा नग्न मानव नायक अथवा नायिका का रूप दे दिया।

आन्दोलन में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की ओर विशेष आकर्षण होता है, प्रत्येक आन्दोलन पूर्ण-मानव के लिए नहीं उठ सकता, वह उसके किसी अंश को सन्तुष्ट करने के लिए प्रवृत्त होता है। फलतः मूल-मानव कभी इन आन्दोलनों का विषय नहीं बनता। शाश्वत और कुछ नहीं, मूल मानव ही है। यही युग-युग में समान रहता है। आन्दोलन केवल युग-धर्म को, एक विचार को अथवा एक हानि को प्रस्तुत करता है। वह जब सफल अथवा विफल हो जाता है तो शाश्वत तत्वों की

और पुनः दृष्टि जाती है और मानव कुछ विराम की ओर आकृष्ट होता है। इसी मनोदशा में रीति-कालीन-साहित्य की प्रेरणा निहित है। प्रत्येक साहित्यिक अभिव्यक्ति अपने लिये कोई-न-कोई रूप चाहती है। भक्तिकाल ने बहुधा प्रबन्धात्मकता को प्रश्रय दिया-वह सर्गबद्ध रही हो, जैसे 'रामचरित मानस' में अथवा खण्ड-खण्ड रही हो, जैसे 'सूरसागर' में। भक्तिकाव्य ने वस्तु को प्राधान्य दिया। शैली को गौण स्थान मिला। रीतिकाल ने इस स्थिति की प्रतिक्रिया में शैली और रूप को सुनिश्चित व्यवस्था देने का यत्न किया। ये कुछ अत्यन्त स्थूल और स्पष्ट बातें हैं, जो यह प्रकट करती हैं कि रीतिकाल में भक्तिकाल की प्रतिक्रिया हुई।

रीतिकाल भक्तिकाल के ह्रास का विकृत रूप नहीं था। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए हम यों तुलना कर सकते हैं—

- | | |
|---|---|
| १. भक्तिकाल 'कृष्ण भगवान' को नायक मानता है। | १. रीतिकाल नायक को कृष्ण मानता है। |
| २. भक्तिकाल नायक को भगवान-ब्रह्म मानता है। | २. रीतिकाल नायक को मनुष्य मानता है। |
| ३. भक्तिकाल सम्प्रदाय और आन्दोलन का परिणाम है। | ३. रीतिकाल असम्प्रदायिक तथा स्वाभाविक है। |
| ४. भक्तिकाल प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप देता है। | ४. रीतिकाल प्रेम को रति-स्त्री-पुरुष की साधारण स्वाभाविक ऐन्द्रिय रति के रूप में ग्रहण करता है। |
| ५. भक्तिकाल प्रेम को अभोग्य, ब्रह्मसमर्पणीय मानता है। | ५. रीतिकाल प्रेम को भोग्य और ऐन्द्रिय विषय मानता है। |
| ६. भक्तिकाल सिद्धान्त और दर्शन के आधार पर खड़ा होता है। | ६. रीतिकाल जीवन को ऐसे किसी माध्यम से नहीं देखना चाहता। |
| ७. भक्तिकाल विषय और वस्तु को महत्त्व देता है। | ७. रीतिकाल शैली और रूप को महत्त्व देता है। |
| ८. भक्तिकाल उपयोगितावादी है। | ८. रीतिकाल कलावादी है। |
| ९. भक्तिकाल प्रबन्धात्मकता की ओर आकृष्ट है। | ९. रीतिकाल सर्वथा मुक्तक है। |

इस प्रकार और भी तुलना के विषय मिल सकते हैं, जो एक-दूसरे के विरुद्ध स्थिति को अभिव्यक्त कर सकते हैं। अतः रीतिकाल भक्तिकाल की प्रतिक्रिया तो है ही हमें उसकी अन्य ऐतिहासिक स्थिति को भी समझ लेना है।

अस्तु, इस काल की ऐतिहासिक प्रवृत्ति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल का आरम्भ मुगल-साम्राज्य के वैभव—सम्पन्न होने के युग में हुआ था। यों तो इस रीतिकाल का बीजारोपण करने के लिए महाकवि 'केशवदास' 'अकबर' के समय में हुए। ब्रज-भाषा रीतिकाल की नौव संस्कृत के सुदृढ़ रीतिग्रन्थों के आधार

पर केशव के बहुत पहले पड़ चुकी थी। अब तक की खोज से प्राप्त प्राचीन रीति विषयक ग्रन्थ कृपाराम की 'हिततरंगिणी' (१५४२ वि० सं०) का उल्लेख किया जाता है। यह ग्रन्थ भरतमुनि के प्रसिद्ध नाट्यशास्त्र के आधार पर बना। जैसे 'कृपाराम यों कहते हैं 'भरत-ग्रन्थ अनुमान'। इसके बाद उदाहरण और लक्षण के ग्रन्थों में ब्रजभाषा-साहित्य के सूर्य श्री सूरदास की 'साहित्य-लहरी' (संवत् १६०७ या सं० १६१७) का नाम लिया जाता है। श्री सूर का यह लक्षण ग्रन्थ न होकर उदाहरण ग्रन्थ है। 'स्वकीया, परकीया, स्वकीया के अन्तर्गत मुग्धा, मुग्धा के दो भेद ज्ञात-यौवना और अज्ञात यौवना, फिर मध्या और प्रौढ़ा, तदनन्तर धीरा, ज्येष्ठा-कनिष्ठा; परकीया के ऊढ़ा-अनूढ़ा भेद के बाद 'सुरति गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, मुदिता अनुशयाना के बाद ग्रन्थ सुरति-दुखिता, गविता, मानवती प्रोषित भर्तृका, खण्डिता, उत्कण्ठिता, वासक-सज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, पतिगमनी, आगत पतिका और कलहान्तरिता आदि नायिकाओं के उदाहरण लिखे हैं। श्री सूर के बाद 'पोहकर' कवि का 'रसरत्नाकर' (सम्बत् १६१३), लक्ष्मीचन्द और मोहनलाल कवि के 'शृंगार सागर' (सम्बत् १६१६), महाकवि नन्द दास अष्टछाप की 'रस मंजरी' (सम्बत् १६२०), कवीन्द्र की 'कल्पलतावृत्ति' (सम्बत् १६२२), निवाजी और किसी अज्ञात कवि रचित 'विक्रमविलास' तथा 'रस मंजरी' (सम्बत् १६४०), गोपाल कवि का, 'रसविलास' सम्बत् १६४४, अबुर्हीम (रहीम) खानखाना का 'बरबैनायिका भेद' तथा 'नगर-शोभा वर्णन' (सम्बत् १६४५), वृन्दकवि की 'भावपंचाशिका' (सम्बत् १६४६), और निधान कवि का 'जसवन्त विलास' तथा किन्हीं अज्ञात नरेश कवि का 'नायिका-भेद' (सं० १६४७) बन चुके थे। ठीक उस काल में जब भक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी और सूर-तुलसी जैसे महान् कवि अपनी रचना से काव्य को वह स्थान प्रदान कर रहे थे, जो किसी भी साहित्य को कठिनाई से ही मिला करता है। तुलसी और सूर स्वतन्त्र कवि थे, केशव राजदरबार के कवि थे। अकबर का समय धार्मिक और साहित्यिक पुनराहरण का युग कहा जा सकता है। इस पुनराहरण में संस्कृत भाषा के पुराण और धार्मिक ग्रन्थों का ही अध्ययन और अनुवाद नहीं हुआ, काव्य-ग्रन्थों की ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। केशवदास ने 'अलंकारवादी' संस्कृत आचार्यों का अनुकरण किया। अब उनकी शास्त्रीय रचना के प्रधान आधार दण्डी का 'काव्यादर्श', अमर की 'काव्य कल्पलता वृत्ति' और केशव मिश्र का 'अलंकार-शेखर' है। आगे रीतिवादी आचार्यों ने भी संस्कृत-आचार्यों से प्रेरणा और सामग्री ली। यह पुनराहरण भी इस बात का द्योतक है कि ऐतिहासिक स्थिति, व्यवस्था और शान्ति के अनुकूल होती जा रही थी। आगे दो-तीन पीढ़ियों तक यह व्यवस्था और शान्ति बनी ही रही यह स्वाभाविक ही था कि पूर्वकालीन आन्दोलन का वेग आगे चल कर मन्द पड़ जाता, यही हुआ भी। इसी कारण कवियों का ध्यान दूसरी ओर गया। राज्य की व्यवस्था ठीक हो जाने पर राजा में पुनः श्रद्धा लौटी, उनके दरबारों में फिर ऐश्वर्य की भीड़ होने लगी। ऐतिहासिक जीवन में जो परिवार जनता के हाथ में चली गई प्रतीत होती थी, वह पुनः राजाओं के हाथ में आ गई। भक्ति-आन्दोलन जीवन की वैषम्य-पूर्ण दशा का द्योतक था, रीतिकाल में जीवन में सौम्य-दशा लौटी

तो काव्य और साहित्य की भूमि भी बदल गई। अब साहित्य माध्यम नहीं रहा, अब वह साध्य हो गया। उसका विषय हो गया जीवन की माँसल छवि या सौंदर्य का निरूपण। इसके लिए उसे वैसे ही अलंकार-रस जैसे काव्य-साधन और उक्तियों का आश्रय लेना पड़ गया।

कोई भी साहित्य बिना आवश्यकता के नहीं पनप सकता, कम-से-कम उसका युग दीर्घ नहीं हो सकता। रीतिकाल दीर्घकाल है। इस काल में अनेक कवि हुए। इनमें से अधिकांश राज्याश्रय में रहे, किन्तु इनका काव्य सर्वत्र फैला और समादृत हुआ। बिहारी को 'सतसई' पर इतनी टीकाओं का निर्माण यह सिद्ध करता है कि इस रीतियुगीन-साहित्य को गम्भीर दृष्टि से अध्ययन का विषय बनाने का एक महत्-उद्योग होता रहा। फिर भी प्रश्न यह है कि यह ऐसा अग्रतिवादी साहित्य क्यों इतना अनिवार्य रहा ?

साधारण-जन के जीवन में प्रत्येक भाव-धारा अपना एक विशेष स्थान रखती है। वह केवल न भक्त हो सकता है, न केवल वीर। ये उसके जीवन में अपना स्थान रखते हैं। पर इनकी सीमाएँ भी हैं। इस जीवन में उसे मनोरंजन, भक्ति, चमत्कार और ऐन्द्रिय-सौंदर्य-विषय की भी आवश्यकता है। इस रीति साहित्य ने उसकी इसी आवश्यकता को पूर्ण किया। यह रचना बिना काव्य-शिक्षा के नहीं हो सकती थी। यह केवल आत्मानुभूति का उद्गार नहीं थी कि जिस रूप में भी प्रकट हो जायगी उसी में ग्राह्य हो सकेगी, इसकी सहायता के लिए संगीत भी नहीं आ सकता था। इसे तो अपने रूप की व्यवस्था स्वयं करनी थी। इस आवश्यकता ने साहित्य-शास्त्र की रीति को आवश्यक बना दिया। ये दोनों बातें युग-धर्म बन गईं। यही कारण है कि इस काल में दोनों प्रकार के कवि मिलते हैं, एक वे जो आचार्य भी हैं, दूसरे वे जो केवल कवि ही हैं। इनकी कविताएँ भी दो प्रकार की हुईं। एक रीति-युक्त और दूसरी रीति-मुक्त।

हिन्दी साहित्य स्वतन्त्र रूप से फूटा हुआ कोई सर्वथा नवीन स्रोत नहीं है। वह संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की प्रवहमान काव्यधारा का एक रूपान्तर मात्र है। वह रूपान्तर सर्वप्रथम विद्यापति में परिलक्षित होता है। हिन्दी में वास्तव में सबसे पहिले कवि विद्यापति हैं, जिनमें रीति-संकेत असंदिग्ध रूप में मिलते हैं। रीति-काव्य की ऐन्द्रिय शृंगारिकता का तो विद्यापति में अपार वैभव ही है। उसकी रीतियों का भी उनको अत्यन्त मोह था। विद्यापति के शृंगार-चित्र सभी अलंकृत हैं और प्रायः उन सभी के पीछे नायिका-भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट है। रीति-कविता कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी—जिसके अन्तर्गत प्राकृत-संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के भक्ति-काव्य में धीरे-धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विकसित होते रहे थे। यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक-कविता की जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त 'काव्य-वस्तुओं' को छोड़ नित्य प्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे-छोटे चित्रों को आँक रही थी।

संस्कृत-साहित्य के शृंगार-मुक्तकों के समानान्तर ही भक्ति-परक मुक्तकों की भी एक परिपाटी चल पड़ी थी। जिसके अन्तर्गत दुर्गा-सप्तशती, चण्डीशतक, वक्रोक्ति पंचाशिका, शिव-पार्वती-वन्दना और कृष्ण-जीवन से सम्बद्ध 'कृष्ण लीलामृत' आदि अनेक स्तोत्र-ग्रन्थ आते हैं। इन स्तोत्रों की आत्मा में भक्ति की प्रेरणा होती हुए भी बाह्य रूप में प्रायः शृंगार की प्रधानता मिलती है—इनमें शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृंगार-काव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार में जो राधा-कृष्ण की भक्ति के छन्द रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यों से ओत-प्रोत हैं—विद्यापति के गीत इन्हीं का तो हिन्दी-संस्करण हैं।

व्यक्तिगत रुचि, वातावरण और विशिष्ट सम्प्रदाय-दीक्षा के आधार पर मानव की आदिम-प्रवृत्ति-रति का साहित्य में परिवर्तन हुआ। मध्यकाल की हिन्दी-रचनाओं में हमें शृंगार-प्रवृत्तियों का विवेचन और वर्णन सदा एक ही प्रकार का नहीं दिखाई पड़ता और वह बहुत कुछ विभिन्न कवियों की अभिरुचि पर ही निर्भर जान पड़ता है। ऐसे कवियों की मनोवृत्ति उनकी शिक्षा पर, संस्कार, वातावरण आदि अनेक विशेषताओं के आधार पर निर्मित रहा करती थी, जिनके परिणाम का लक्षित हो जाना अनिवार्य था। वे अपनी कविताओं में उनका प्रदर्शन स्वभावतः कर जाते थे और उनके वर्ग वाले कवियों में से कदाचित् ही कोई इस विषय के विरुद्ध जा पाता था। फलतः विद्यापति से लेकर ग्वाल तक की रचनाओं में इस बात के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

विद्यापति, केशवदास एवं ग्वाल तीनों ही शृंगारी कवि थे और तीनों का ही किसी-न-किसी दरबार से सम्बन्ध अवश्य रहा। किन्तु इन तीनों के आविर्भाव कालों में एक-दूसरे से अन्तर था। विद्यापति विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के एक मैथिल राजदरबार के कवि थे। और इनके समय तक वहाँ मुस्लिम प्रभाव भी अधिक नहीं था। इस कारण इनकी रचनाओं में हमें पौराणिक संस्कृति का परिचय कुछ विशेष मात्रा में मिलता है। इसके विपरीत केशवदास उसी सम्बन्ध की सत्रहवीं शताब्दी के मुगलकालीन बुन्देलखण्ड के दरबारी कवि थे जिनके समय तक वैभव-विलास में बहुत परिवर्तन हो चुका था। इसलिए इनकी रचनाओं में हमें विद्यापति कालीन विशेषताओं का वैसी मात्रा में ढूँढ़ना उचित नहीं।

विक्रम की उन्नीसवीं शती के रामपुर वाले नवाब के दरबारी कवि ग्वाल के समय तक तो उक्त परिवर्तन में और भी अधिक विकास हो गया था। विद्यापति के समय शृंगारिक नग्नता केवल इस कारण ही चित्रित की जा सकती थी कि उस काल के कवि अपनी साहित्यिक परम्परा का पालन करते थे। किन्तु ग्वाल के समय तक वह दैनिक जीवन में भी उतर चुकी थी। शृंगार-प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक मोड़ देने का साहित्यिक प्रयास भक्तिकाल में अवश्य किया गया, किन्तु उसमें पूरी स्थायी सफलता नहीं मिल सकी। सूफी एवं सगुणवादी कवियों के क्षेत्र ऐसे थे जिनसे होकर चलते समय अपने को आस-पास के वातावरण से अछूता बचा ले जाना सरल नहीं था और इस बात के उदाहरण हमें यदा-कदा उन रचनाओं में मिल ही जाते हैं

जो कृष्ण भक्तों एवं प्रेमगाथाओं के सूफी कवियों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। केवल रामभक्त तुलसीदास एवं निर्गुणी सन्त ही ऐसे थे जिन्होंने या तो मर्यादा का आश्रय ग्रहण किया अथवा इस ओर अधिक प्रयत्न ही नहीं किया।

अभी ऊपर भक्तिकाल और रीतिकाल की तुलना के प्रसंग में कुछ तथ्यों का उल्लेख हुआ। उनमें रीतिकाल के सम्बन्ध में कहा गया कि रीतिकाल नायक-नायिका को कृष्ण-राधा मानता है। साथ ही इन्हें मानव-मानवी भी समझता है। रीतिकाल असाम्प्रदायिक तथा स्वाभाविक है। रीतिकाल प्रेम को रति-स्त्री-पुरुष की साधारण स्वाभाविक ऐन्द्रिय रीति के रूप में ग्रहण करता है। रीतिकाल प्रेम को भोग्य और ऐन्द्रिय विषय मानता है। रीतिकाल जीवन को भक्ति और दर्शन के माध्यम से नहीं देखना चाहता। रीतिकाल शैली और रूप को महत्त्व देता है। रीतिकाल कलावादी, रीतिकाल सर्वथा मुक्तक है। रूढ़ि-प्रियता और परम्परा-पालन में दक्ष है। शृंगार को ही एक मात्र एवं रसराज मानकर रचना की है। बीच में समय का पर्याप्त व्यवधान रहते हुए भी विद्यापति-पदावली की शृंगार धारा के अन्तर में ये सब तथ्य असंदिग्ध रूप से वर्तमान हैं। समय का अत्यधिक व्यवधान रहने पर भी रीतिकविता पर विद्यापति का परम्परित प्रभाव अवश्य है। कुछ समय पूर्व भी हिन्दी-मुक्तक-शृंगार की धारा रीतिकाल के समान ही वेगवती हो सकती थी, यदि कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियाँ और दिन-प्रतिदिन वेग धारण करने वाले भक्ति आन्दोलन और महाकवि तुलसीदास का मर्यादावाद उसे न प्रभावित करता। अनुकूल, परिस्थिति पाकर संस्कृत-प्राकृत अपभ्रंश की मुक्तक-शृंगार-सम्पदा जिसके हिन्दी में सर्वप्रथम रूपान्तरकार विद्यापति ही हैं रीतिकाल में पुनः पल्लवित और पुष्पित हुई और उसकी भीनी सुगन्ध में रसिक-वर्ग एक बार फिर झूम उठा।

भक्तिकालीन और रीतिकालीन कवियों के शृंगार-रस के विषय में लिखते समय अधिकांशतः ऐसे ही पदों का उल्लेख हुआ है जिनसे शृंगार के अंग-उपांग का विवेचन स्पष्ट हो।

भाव और शैली या उन पदों के आन्तरिक एवं बाह्य गठन के पीछे आपको एक-सा वातावरण, एक-सी कवि-रुचि, एक-सी शृंगार-परम्परा और एक-सा बनाव-शृंगार दिखाई देगा। अपवाद भी हैं इसके जैसे भक्त-कवियों का शृंगार दरबारों की रचना नहीं, कुछ शृंगार के विप्रलम्भ-पक्ष से इतने प्रभावित हैं कि वे नवीन कोटि के भक्त गिने जाते हैं। स्पष्ट ही है कि भक्तिकाल में भी शृंगार-रचना-धारा अवरोध न हुई थी। वीरागथा-काल में भी 'कविता के केन्द्र में शृंगार-प्रसंग ही हैं। विद्यापति का सबसे अधिक महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने अपने साहित्य के द्वारा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के शृंगार-साहित्य की थाती को हमें समर्पित किया।

विद्यापति का प्रभाव परवर्ती काल पर कई रूपों में पड़ा। अपनी मानवी अनुभूति और देश-काल-निरपेक्ष कलाकारिता के बल पर उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया जिसने भक्तों को वैष्णव भक्ति का सुमधुर गान दिया, रसिकों को

कलापूर्ण प्रणय की भाव-भंगिमा, असंख्य विरही-जनों के कान्ता-विश्लेष-दुःख से पीड़ित मन को संभालने की ताकत, युवकों को नारी का मादक मांसल सौंदर्य तथा वृद्धों को अपने जीवन के अन्तिम काल में आत्मभ्रान्ति-पूर्ण मन से ईश-वन्दना के लिए स्तुतियाँ प्रदान कीं। डा० सुभद्र भा ने उचित ही लिखा है कि विद्यापति का प्रभाव तुलसीदास से भी अधिक व्यापक है क्योंकि उनके पाठक केवल हिन्दी-क्षेत्र के ही लोग नहीं हैं अपितु असम, बंगाल और उड़ीसा के लोग भी हैं (देखें, डा० सुभद्र भा कृत 'सौम्य आफ विद्यापति' भूमिका पृ० १)।

तुलसीदास का प्रभाव धर्म के नियमों की तरह बुद्धि-गम्य है, संसार के दुःखों से आकुलजन के लिए तुलसीदास शास्त्रज्ञ किन्तु सहृदय धर्मगुरु हैं। विद्यापति भिन्न हैं, उनकी कविता हृदय को चेतावनी नहीं प्यार देती है। विद्यापति के गीतों की शैली निराली है, विद्यापति की कविता ने असम, बंगाल के ब्रजबुली कवियों को न केवल प्रभावित किया बल्कि वह इस प्रकार के काव्य लिखने का आदर्श और प्रेरणा भी बनी रही। इसने पिछले खेवे के ब्रजभाषा-कवियों को प्रभावित नहीं किया, ऐसा कुछेक विद्वान मानते हैं। किन्तु ब्रजभाषा कविता के विकास में बंगाली गोस्वामियों का प्रभाव कम न था। चैतन्य के वृन्दावन आगमन के समय न केवल रागानुगाभक्ति की अनन्त व्यापिनी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, साथ ही गीतगोविन्द के श्लोक और विद्यापति के पद जो महाप्रभु को बहुत प्रिय थे, वृन्दावन आए। उसके पहले भी विद्यापति से प्रभावित कितने सन्त वृन्दावन आ चुके थे। रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, शंकरदेवादि सन्त विद्यापति से अपरिचित न थे।

विद्यापति-पदान्तरी ने परवर्ती, मैथिली, बंगला, ब्रजबुली, अवधी और ब्रज आदि हिन्दी-भाषा साहित्य को यह दिया—

- (क) भागवत के अवतारी कृष्ण-राधा का रस-राजशृंगार के अभिनेता सामान्य मानव-मानवी के रूप में विशद चित्रण।
- (ख) शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ उभयपक्ष का निर्वहण।
- (ग) कामशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, तन्त्रशास्त्रगत संयोग और वियोग की काम-क्रीड़ाओं और काम-पीड़ाओं का ललित एवं मधुर हिन्दी संस्करण।
- (घ) लौकिक प्रेम और सौन्दर्य की अनुभूति की काव्यशास्त्रीय पीठिका पर हृद्यतम अभिव्यजना, जिसमें भावपक्ष और कलापक्ष का अद्भुत सामं-जस्य है। फिर भी कलात्मकता जिसकी अधिक मुखकारी है।
- (ङ) प्रबन्ध-रचना की योग्यता रखते हुए भी अपनी इस अभिव्यक्ति के लिए गेय मुक्तक पदों और दोहों को माध्यम के रूप में अपनाना, जो अपने सुरों और खण्ड एवं पूर्ण चित्रों में रसिक-जन को विभोर करने में आज भी समर्थ हैं। परवर्ती पद, कवित्त, सबैये आदि इन्हीं के विकास क्रम में हैं।

- (च) रूप-सौन्दर्य वर्णन प्रसंग में “नख-शिख” की स्वतन्त्र रूप से वर्णन करने की पद्धति-प्रचलन का श्रेय विद्यापति को दिया जाना चाहिए और स्तोत्रों के ‘नख-शिख’ को ‘शिख-नख’ का रूप भी यहीं मिला। आगे चलकर ‘नख-शिख’ नाम के अन्तर्गत यही ‘शिख-नख’ पद्धति अधिकांशतः गृहीत हुई।
- (छ) विद्यापति-पदावली में नागरिकता तथा जन-जीवन की अनोखी गंगा जमुनी उनकी अपनी विशिष्टता है। परवर्ती रीति-कविता में सीमित नागरिकता का आख्यान अधिक है।
- (ज) राजदरबारों में उपस्थित संस्कारी पण्डित, बुधजन, और शिष्टवर्ग का वशीकरण बुद्धि-प्रयोग या उसके चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन से संभव है। शृंगार-रस के अलंकरण प्रधान एवं दृष्टकूट और प्रहेलिका पदों का जादू विद्यापति के आश्रयदाताओं के सिर चढ़ा था। परिणामतः लौकिक वैभव और सम्मान विद्यापति के चरण चूमते थे। ऐसी ही रचनाओं (जो आश्रयदाता की प्रसन्नता और बुधजन-चमत्कृति का ध्यान रखती थीं) के बल पर रीतिकालीन कवियों ने लौकिक वैभव और सम्मान का संग्रह किया।
- (झ) विद्यापति दरबारी कवि होते हुए भी जन-कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में इन दोनों भाव धाराओं का समन्वय कर दिया है। जबकि रीतिकालीन कवि दरबार से बाहिर नहीं निकल पाये। आप विद्यापति को हिन्दी-रीतिकालीन कविता का जन्मदाता भी कह सकते हैं, नख-शिख-वर्णन में विद्यापति की उक्तियाँ अनमोल हैं। परवर्ती रीतिकाल के कवियों के वर्णन इनके सामने पिष्टपेषण लगे तो आश्चर्य नहीं।
- (ञ) विद्यापति को दूसरी ओर भक्तिकाल का कवि भी कह सकते हैं क्योंकि उनकी कविता में जन-मानस का प्रतिफलन है—वह जन-मानस जो उस युग में भगवान की सगुण और निर्गुण विभूतियों के सामने अपने हृदय का अनन्य प्रेम नाना रूपों में निवेदित कर रहा था।

विद्यापति के प्रति ग्रियर्सन महाशय की यह श्रद्धांजलि अत्यन्त समीचीन है—हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो सकता है, वह समय भी आ सकता है जब कृष्ण से विश्वास और श्रद्धा जाती रहे, कृष्ण-प्रेम की स्तुतियों के प्रति जो हमारे लिए इस भवसागर के रोग की दवा हैं आस्था घट जावे तब भी विद्यापति-कृत-राधा-कृष्ण-प्रेम विषयक गीतों के प्रति ललक कम न होगी (देखें, ग्रियर्सन कृत “विद्यापति एण्ड हिज कन्टेम्पोरेरीज” पृ० ३१)।

विद्यापति-वैशिष्ट्य

सामन्तवादी संस्कृति इतनी क्षयिष्णु थी कि उसमें नवजीवन का संचार असंभव हो गया था। स्थापत्य, चित्रकला, साहित्य और संगीत के अन्दर जीवन क्षिति

का स्थान चमत्करिता और कुतूहलवर्धक कलाकारिता ने ले लिया था। साहित्यकार का दर्जा जीवन के द्रष्टा का नहीं रासायनिक का हो गया था, जो प्राणहीन सामन्तों के मन में कामेच्छा उत्पन्न करने के लिए दोहे और गाथाओं की गोलियाँ देते थे।

विदेशी आक्रमण ने इन अड़्डों को सदा के लिए उखाड़ कर फेंक दिया। धुन लगे मन के ये जर्जर जीव स्वयं नष्ट हो जाते, इसमें शक नहीं किन्तु विदेशी आक्रमण ने इस विनाश की गति को थोड़ा और तीव्र कर दिया। दर्शन और धर्म के स्थान पर तन्त्र-मन्त्र, टोना-टटका और गृह्य साधनों की प्रधानता हो गई थी। इन भयोत्पादक चमत्कारों के प्रति जनता की श्रद्धा समाप्त होने लगी थी, भक्ति आन्दोलन ने इस गुहा-गह्वर के चमत्कारिकों को एकदम उखाड़ फेंका।

अपभ्रंश साहित्य के अध्येता के लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि जहाँ इस प्रकार की कुंठा-ग्रस्त प्रवृत्ति का आधिपत्य था, साहित्यकार मुट्ठी भर दरबारियों के मनोरंजन को कविकर्म की इयत्ता समझ रहे थे, चित्रकार कामकला और विविध आसन-मुद्राओं के चित्र खींचने में ही मस्त थे, वहाँ अपभ्रंश में एका-एक इस तरह का जीवन्त, नवीन प्राणवान् भावनाओं से स्फुरित और मानव मन की सरल सस्मित अनुभूतियों से अनुरंजित साहित्य कैसे लिखा जाने लगा? इस सत्य को समझने के लिए हमें इस काल के जन जागरण को देखना होगा जो सामन्ती-संस्कृति से आक्रान्त होकर सम्यता से वंचित-उपेक्षित जीवन बिता रहा था, जो संक्रमण-कालीन परिस्थितियों में अपनी स्थिति के प्रति पुनः जागृत हुआ और एक नये वातावरण की सृष्टि करने में सफल हुआ।

भक्ति-आन्दोलन इस नवीन पुनर्जागरण का परिणाम था। मुगल आक्रान्ताओं ने इसके उद्भव में उत्प्रेरक का काम किया। इसे मुट्ठीभर सामन्तों का नहीं, विशाल जन-समूह का संरक्षण प्राप्त था। विद्यापति इस नवीन जन-जागरण के चारण हैं। वैसे तो १४वीं शताब्दी से १६वीं तक का साहित्य अनेक प्रभादीप्त व्यक्तियों के समवेत आविर्भाव से गौरवान्वित हुआ है—बंगाल में चण्डीदास, असम में शंकरदेव, मध्यदेश में कबीर, तुलसी, सूर, राजस्थान में मीरा, गुजरात में नरसी मेहता इस जागरण के सन्देशवाहक हैं किन्तु विद्यापति का व्यक्तित्व कुछ निराला है। जहाँ तक व्यक्तित्व का सवाल है, मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि विद्यापति की तरह स्वच्छन्द, गत्वर, रोमेण्टिक व्यक्तित्व किसी और का नहीं (देखें, डा० शिवप्रसाद सिंह कृत 'विद्यापति' पृ० २)।

व्यक्तित्व व्यक्ति की आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विशेषताओं-जिनमें अच्छी-बुरी सारी बातें शामिल हैं, का मिश्रित रूप है। इसमें व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, धार्मिक, व्यक्तिगत जीवन का हर पहलू सम्मिलित है। उसके जीवन के प्रेरणा स्रोत, उसकी रुचियाँ, संस्कार, संसर्ग, प्रवृत्ति, आभोग-प्रमोद, प्रेम, आचार, विचार, व्यवहार, यहाँ तक कि उसका खान-पान, रीति-रिवाज सब कुछ ज्ञातव्य है, क्योंकि इन सब से मिलकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

कवि के परिवार, परिस्थितियाँ और उस युग की विचारधारा एवं विस्वासों पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की

परस्पर विरोधी विचारधाराओं का स्तवक है। इस व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर विरोध संभवतः उस युग का परिणाम है जिसमें विभिन्न प्रकार की देशी-विदेशी सांस्कृतिक विचारधाराएँ संघर्ष-रत थीं। विद्यापति वस्तुतः संक्रमणकाल के प्रतिनिधि कवि हैं, वे दरबारी होते हुए भी जन-कवि हैं। शृङ्गारिक होते हुए भी भक्त हैं, शैव या शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म-निरपेक्ष हैं, संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी विवेक-संरक्षत्र या मर्यादावादी नहीं हैं। इस प्रकार विद्यापति का व्यक्तित्व अत्यन्त गुम्फित और उलझा हुआ है—यह नाना प्रकार के फूलों की वनस्थली है, एक फूल का गमला नहीं। विद्यापति का व्यक्तित्व मिथिला की उस पृथ्वी की उपज है जिसमें धान की यौवनपूर्ण गन्ध और आमों के बौर की महक है। वह मिथिला जिसके स्वर्णगर्भित अंचलों में बागमती, कमला, गंडक और कोसकी की धाराएँ निरन्तर प्रवाहित हैं, जहाँ की नील मेघों से आच्छादित इयामल अमराइयाँ शरच्चन्द्रिका-स्नात रहती हैं, वह मिथिला जो तर्क-कर्कश पंडितों के न्याय-शास्त्रीय वाद-विवादों और युवतियों के प्रेम-गीतों को एक साथ अपने हृदय में सुलाये रहती है।

मिथिला के एक ऐसे सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में विद्यापति का आविर्भाव हुआ जो विद्यानुराग के लिए ख्याति-प्राप्त था। कर्मादित्य, देवादित्य जैसे इनके पूर्व-पुरुष न केवल विद्वान् थे अपितु अपने समय के उच्च शासनाधिकारी भी थे। विद्यापति संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होकर भी तुलसीदास की तरह विवेक संरक्षत्र और मर्यादा-भारा क्रान्त नहीं थे। डा० सुभद्र भा ने लिखा है कि विद्वानों के ऐसे यशस्वी परिवार में विद्यापति का जन्म हुआ जो अपने परम्परागत विद्या-ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था। कवि की रचनाओं में इस परम्परा का पूर्ण प्रतिफलन दिखाई पड़ता है। (देखें डा० सुभद्र भा कृत 'द सौंप्स ऑफ विद्यापति'; पृ० २०)।

धर्म, दर्शन, न्याय, भूगोल आदि के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ ही विद्यापति ग्रन्थिल दण्डनीति में भी पारंगत थे। शिवसिंह के 'आदेश से निर्मित 'पुरुष परीक्षा' में ऐसा उल्लेख है—

यो गोडेश्वर गज्जनेश्वर रणक्षोणीषु लब्धवा यशो ।

दिक् कान्ताचय-कुन्तलेषु नयते कुन्दस्रजामापदम् ॥

तस्य श्री शिवसिंह देव नृपतेर्विज्ञप्रियस्याज्ञया ।

ग्रन्थं ग्रन्थिलदण्डनीतिविषयेविद्यापति व्यातनोत् ॥

संस्कृत पर उनका अद्भुत अधिकार था। विद्या, ज्ञान, ब्राह्मण-परम्परा सब कुछ उन्हें दायरूप में उपलब्ध था, किन्तु इस प्रकाण्ड ज्ञान ने उनके हृदय के भाव-स्रोत को सुखाया नहीं, उन्हें भव-विमुख नहीं किया और न उन्हें यह जगत् अनित्य, मिथ्या और बुद्बुद् की भाँति प्रतीत हुआ। कभी-कभी उनका ब्राह्मण जोश में भी आता था, विशेषकर मुसलमानों के आक्रमण के समय विजेताओं की संस्कार-हीन प्रवृत्तियाँ और क्रूरचिपूर्ण रीति-रिवाज उन्हें धुब्ब कर देते थे। कीर्तिलता में मुसलमानों के ऐसे व्यवहार की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की है —

अति गह सुमर षोदाए षाए ले भांग के गुण्डा ।

बिनु कारणहि कोहाए बएन तातल तमु कुण्डा ॥

तुरक तोषारहि चलत हाट भमि हेडा मगइ ।

आडी डीठि निहारि दबलि दाढी थुकवाहइ ॥

—कीर्तिलता, द्वितीय पल्लव

कपूर-से शुद्ध-पवित्र भोजन के मुकाबले प्याज-लहसुन को पसन्द करने वाले तुर्कों के कार्यों से विद्यापति को घृणा थी । क्योंकि वे ऐसे नीच कर्म करते भी न लजाते थे कि ब्राह्मण बटुक को जबरन बेगार में पकड़ लाते और उसके माथे पर गो-मस-गाय का शोरवा-चेडुआ तक रख देते थे—

कतहु तुरक वरकइ, बाँट जायते बेगार घर ।

घरि आनए बांभन बटुआ, मंथा चढावए गाइक चुडुआ ।

फोट चाट जनउ तोड, उपर चढावए चाह घोर ॥

—कीर्तिलता, द्वितीय पल्लव ।

विद्यापति को अपनी प्रतिभा पर विश्वास था । इसीलिए उन्हें अपनी कवित्व शक्ति एवं विद्या-बुद्धि पर अभिमान था । कवि का ऐसा अभिमान (अहं) जो दूसरे का अहित न करने वाला हो तो भूषण समझा जाता है । कबीरदास की अभिमान पूर्ण उक्तियों से त्रस्त हो लोग उन्हें गर्वीला कहते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा कि कबीर अपने श्रोताओं पर अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी-कभी कहते थे (देखें—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९७) । यह अभिमान कभी-कभी प्रतिक्रिया से भी उत्पन्न होता है । सामान्यतया यह अहं कवि के मानसिक आत्मविश्वास का ही द्योतक है । कबीरदास का आत्मविश्वास उस समाज की प्रतिक्रिया थी जो तथाकथित उच्च जातियों से आक्रान्त था । कबीर के मन में हीनता की ग्रन्थि न थी । इसीलिए यह विश्वास उनमें इतनी अधिक मात्रा में था कि कभी-कभी पण्डितों को इसमें गर्वोक्ति की गन्ध आती है । उनमें युग-प्रवर्तक का विश्वास था और लोकनायक की हमदर्दी (देखें डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६६) । परन्तु विद्यापति का आत्म-विश्वास भिन्न प्रकार का था । वे हीनता-ग्रन्थि का शिकार होने की आशंका भी नहीं कर सकते थे इसीलिए कबीरदास की तरह अतिरिक्त आत्म-विश्वास या गर्वोक्ति भी उनमें नहीं मिलती । उनका आत्म-विश्वास तो स्वतः चालित था । राजदरबारों में रहने वाले कवियों में ईर्ष्या-द्वेष एवं होड़ की भावना रहती है । निश्चय ही युवक विद्यापति का चातुकारिक प्रतिभा के साथ तत्कालीन दरबारी मंच पर आगमन ईर्ष्या का विषय रहा होगा । किन्तु ईर्ष्या-द्वेष एवं सन्देहाभाव-पीड़ित इन दुर्जनों से विद्यापति तनिक भी शंकित न हुए ।

बाल चन्द बिज्जावइ भासा, दुहु नहि लगगइ दुज्जन हासा ।

ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ई णिच्चइ ताम्र मन मोहइ ॥

—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव

वस्तुतः विद्यापति मध्यकालीन संस्कृत-कवि श्री हर्ष की तरह एक ओर न्याय के ग्रन्थिल पथ पर विचरण करते थे तो दूसरी ओर प्रेम की सुमन-सज्जित वीथियों

में। उनके लिए दोनों में कोई अन्तर न था। उन्होंने सुकुमार साहित्य भी लिखा और साथ ही वे हृद-न्याय-ग्रह-ग्रन्थिल पथ पर भी चले। विद्यापति की भारती माधुर्य रस की प्रसव-स्थली है। उसके प्रकाश में गूढ़-तत्त्वों का अवलोकन होता है, साथ ही वह विलास-विदग्ध-जनों के लिए विश्रान्तिदायिका भी है—

माधुर्य प्रसवस्थली गुरु यशोविस्तार शिक्षासखी,
यावद्विश्वमिदंच खेलनकवेविद्यापतभरती ॥

—कीर्तिलता, चतुर्थ पल्लव

निस्संदेह विद्यापति दरबारी कवि थे। और दरबारी कवि होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती। मध्ययुगीन दरबारी कवियों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का प्रायः अभाव पाया जाता है क्योंकि हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के कवियों ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटा कर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। उन्होंने काव्य के महत् उद्देश्य के साथ व्यभिचार किया। किन्तु विद्यापति इनसे भिन्न थे। दरबारों के चाक-चिक्क, भोग-वैभव और दमघोट वातावरण में उनकी आत्मा मरी नहीं। दरबारों से उन्होंने जीवन का रस ग्रहण किया। उस वातावरण से उन्होंने विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त किये जिनसे उनके जीवन में एक विशिष्ट प्रकार का अभिजात-संस्कार पैदा हुआ। उन्होंने कभी भी अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए अत्युक्ति की शरण न ली। यह ठीक है कि अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त के समान वे यह न कह सके कि—

वक्कलनिवसणु कंदर मन्दिर वण हल मोयन वर ते सुन्दर ।

वर वालिह् सरीरह् दण्डन, णहि पुरिसह् अभिमान विहंडणु ॥

अर्थात् बल्कल धारण कर गिरिकन्दराओं में निवास करते हुए वन्य फल-फूल का आहार कर दारिद्र्य से कष्टमय जीवन बिता देना किसी पुरुष-राजा के सामने नत-मस्तक होने से श्रेयस्कर है। वैसे उन दिनों कवियों के लिए राजा-सामन्तों के सिवाय दूसरा आश्रय था भी नहीं। किन्तु दरबारों में रहते हुए भी विद्यापति ने इस अभिमान को कभी बेचा नहीं। कीर्तिसिंह को बार-बार स्वाभिमान सम्बन्धी चेतावनी देते हुए विद्यापति ने अपने मानसिक गौरव का ही भान कराया है —

मान विहूना भौअना सत्तुक दे जल राज ।

सरण पइठे जीअना तीनू काअर काज ॥

जो अपमाने दुक्ख न मानइ, दान खग को मम्म न जानइ ।

पर उअ आरे घम्म न जोअइ, सो घण्णो निच्चिन्ते सोअइ ॥

—कीर्तिलता, द्वितीय पल्लव

विपन्न एवं संकटग्रस्त होने पर अपने आश्रयदाता राजा को उन्होंने आश्वासन दिया। इब्राहिम शाह से सहायता मांगने वाले राजा के आश्रित कवि होकर भी उन्होंने मुसलमानी अत्याचार को शिरसा स्वीकार नहीं किया, इसीलिए तो अपनी 'कीर्तिलता' में तत्कालीन बादशाह के शासन की दुरवस्था का नग्न एवं वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करने में वे हिम्मत नहीं।

दरबार में विद्यापति का सम्मान भी कम न था। कीर्तिसिंह के वे केवल

आश्रित कवि ही नहीं मित्र भी थे। और शिवसिंह के शासनकाल में तो कवि को जो प्रतिष्ठा मिली वह अभूतपूर्व थी। विद्यापति लगभग दो दर्जन राजाओं-सामन्तों के आश्रय में रहे। अपने जीवनकाल में उन्होंने अनेक राज्यों को बनते-बिगड़ते देखा था। समस्त जीवन राजदरबारों में बिता देने वाले विद्यापति ने अपने कृतित्व को कभी भी दरबारी छाया से कलंकित नहीं किया। उनके गीतों में दरबारी संस्कृति की नहीं, जनता के मानस की आवाज है। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम में सामान्य जनता के सुख-दुख, मिलन-विरह को अंकित किया है। वे एकाधिक रानियों, राज-कुमारियों के सम्पर्क में आये। दरबार के क्रिया-कलाप को समीप से देखा। असली सौन्दर्य वहाँ उपेक्षित था, बाह्य रूप की पूजा होती थी, विद्यापति ने उस सौन्दर्य को देखा था जो दरबारों में एकत्र किया जाता है। उन्होंने उस सौन्दर्य को उसकी असली पृष्ठभूमि प्रदान की, उसे घरती पर उतार कर रखा, उसे चहार दीवारी के घेरे से निकाल कर नदी-तट, अमराइयों और खेतों में प्रतिष्ठित किया। 'कीर्ति-लता' में दरबार के वर्णन बड़ी बारीकी से चित्रित हैं, नगर के वर्णन, वेश्याओं के वर्णन, उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। किन्तु विद्यापति का मन जैसे इस वातावरण में सन्तुष्ट नहीं है, वह कुछ और खोजता रहता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि विद्यापति दरबारी कवि होते हुए भी जन-कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में इन दोनों भाव-धाराओं का समन्वय कर दिया है। आप विद्यापति को हिन्दी रीतिकालीन कविता का जन्मदाता भी कह सकते हैं, नख-शिख वर्णन में विद्यापति की उक्तियाँ अनमोल हैं, परवर्ती रीतिकाल के कवियों के वर्णन इनके सामने पिष्टपेषण लगे तो आश्चर्य नहीं। विद्यापति को दूसरी ओर भक्तिकाल का पहला कवि भी कह सकते हैं। क्योंकि उनकी कविता में जन-मानस का प्रतिफल न है—वह जन-मानस जो उस युग में भगवान् की सगुण और निर्गुण विभूतियों के सामने अपने हृदय का अनन्य प्रेम नाना रूपों में निवेदित कर रहा था (डा० शिवप्रसाद सिंह कृत 'विद्यापति' पृष्ठ १०)।

मुख्य रूप से विद्यापति की १४ रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें ११ संस्कृत में हैं, २ अवहट्ठ में और एक मैथिल पदों में। भूपरिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, शैवसर्वस्वसार, शैवसर्वस्वसार प्रमाण भूत पुराण संग्रह, गंगावाक्यावली, विभागसार, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्ति तरंगिणी, गयापत्तलक, और वर्षकृत्य ये संस्कृत की रचनाएँ हैं। शिवनन्दन ठाकुर ने 'मणिमंजरी' नामक नाटिका का भी विद्यापति की रचनाओं में उल्लेख किया है। इन सब रचनाओं में कविपाण्डित्य और लौकिक अनुभव पर प्रकाश पड़ता है। शैवसर्वस्वसार, शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, गंगा-वाक्यावली और दुर्गाभक्ति तरंगिणी एक प्रकार से धर्म-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इनमें क्रमशः शिव, गंगा, और दुर्गा की आराधना-विधियों का प्रमाण सहित शास्त्रीय विधान दिया गया है। यद्यपि ये सभी पुस्तकें किसी न किसी आश्रयदाता की आज्ञानुसार लिखी गई हैं, तथापि यह बात स्पष्ट है कि कवि विद्यापति अपने पूर्व पुरुषों की भाँति मध्ययुग की संस्कृति में हिन्दुत्व को स्थायित्व प्रदान कर रहे थे। मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् देश भर में प्राचीन आचार-विचारों की हड़ता पूर्वक पुनः स्थापना और धर्म-कृत्यों को विधि-विधानों में बाँधने की जो प्रवृत्ति

प्रचलित हुई थी उसमें यथाशक्ति विद्यापति ने भी योग दिया। इन ग्रंथों के अतिरिक्त दानवाक्यावली और वर्ष-कृत्य भी इसी प्रवृत्ति के पोषक हैं। गयापत्तलक में गया में किए जाने वाले श्राद्ध-कृत्यों का विधान है। विभागसार स्मृति-ग्रन्थ है जिसमें जाय-दाद का बँटवारा किस प्रकार हो इस विषय का विस्तृत निरूपण है। 'लिखनावली' में पत्र-प्रार्थना-पत्रों के नमूने हैं। भूपरिक्रमा और पुरुष परीक्षा में विद्यापति के कथा-कार रूप का परिचय मिलता है। इनमें वर्णित कथाओं की मूल भावना नीतिपरकता है। जान पड़ता है कि विद्यापति ने पदों में जिस सुपुरुष का बार-बार उल्लेख किया उसकी मूलभावना यहीं से उत्थित हुई थी। पुरुष का इतना वैज्ञानिक और सुन्दर वर्गीकरण किसी अन्य भाषा-साहित्य में कदाचित् ही मिले। संस्कृत की रचनाओं में विद्यापति धर्म-संस्थापक, स्मृतिकार, नीतिज्ञ, लोकविद् पण्डित के रूप में विद्यमान हैं।

अवहट्ट रचना 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में विद्यापति का दूसरा रूप सामने आता है। ये दोनों वीर रस के ऐतिहासिक काव्यों की कोटि में गिने जा सकते हैं। इनमें क्रमशः कीर्तिसिंह और शिवसिंह के पराक्रम का वर्णन है। इन दोनों रचनाओं का साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्य है। विद्यापति की अन्य रचनाओं में ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जिनसे मध्ययुग की संस्कृति और सभ्यता पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। कारण इसका स्पष्ट है कि विद्यापति का लोक-ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था और वे हिन्दू संस्कृति में ओत-प्रोत थे।

विद्यापति की कीर्ति का अक्षय स्तम्भ पदावली है। इसमें मैथिली-हिन्दी के छोटे-बड़े गेय पद हैं। इसमें भी विद्यापति एक साथ शृंगार-कवि, भक्त, नीतिज्ञ और काव्य-पण्डित के रूप में उपस्थित होते हैं। वस्तुतः विद्यापति का व्यक्तित्व कुछ ऐसा है कि साधारण बुद्धि की पकड़ में नहीं आता। इसका कारण यह है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उन्होंने अपने समय की सारी प्रवृत्तियों का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व किया। वह प्रधानतया रसिक और पण्डित थे, परन्तु इन दो प्रवृत्तियों में से कौन-सी प्रधान थी, यह कहना कठिन है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ उनकी प्रथम उपलब्ध रचना में भी दृग्गत होती हैं (देखें 'कीर्तिलता' द्वितीय पल्लव)। यहाँ तरुण कवि ने जौनपुर की वेश्याओं का आँखों देखा हाल लिखा है। अपनी इस प्रारम्भिक रचना में भी विद्यापति काव्य-शास्त्र के पण्डित, कलाकार और रसिक कवि के रूप में प्रकट हुए हैं। विद्यापति का यह रूप अन्तिम रचनाओं में सुरक्षित है। भक्ति-पदों में भी उन्होंने रसिकता, कला-प्रदर्शन और पाण्डित्य का पीछा नहीं छोड़ा। उनके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू जीवन के सुख-दुःख के गम्भीर निरीक्षण से सम्बद्ध है। वे उस संक्रान्ति युग में हिन्दू संस्कृति की नदी को नियमित गति देकर चिरंजीवी बनाना चाहते हैं। भागवत की प्रतिलिपि करने की बात (देखें, मित्र-मञ्जुमदार सम्पादित 'विद्यापति' भूमिका, पृष्ठ १०२) से यह स्पष्ट है कि उन पर वैष्णव धार्मिक आन्दोलन का प्रभाव पड़ चुका था, परन्तु उस समय तक यह आन्दोलन अत्यन्त प्रारम्भिक रूप में था और विद्यापति शिव-भक्तों के बीच रह रहे थे। अतः वैष्णवों के कृष्ण के सच्चे रूप से परिचित होते हुए तथा उनके प्रति श्रद्धा रखते हुए विद्यापति शृंगार-शास्त्र के आचार

पर कृष्ण-कथा का एक विचित्र महल उठा सके। ऐसा करते समय उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने युग की प्रवृत्ति को समझ लिया था भले ही पदावली की रचना करते समय विद्यापति में वैसी धर्म-भावना न रही हो जैसी बाद के वैष्णवों ने उनके पदों में पाई। परन्तु यह स्वीकार किए बिना नहीं रहा जा सकता कि उनमें इतनी भावुकता, तन्मयता और अतीन्द्रिय आनन्द उत्पन्न करने की शक्ति थी कि वैष्णव-भक्त और साधक उन्हें आध्यात्मिक संकेत के रूप में ग्रहण कर सके। पाण्डित्य के साथ इतनी गहरी भावुकता और विषय में डूबकर तन्मयता के साथ लेखनी चलाने की योग्यता विरले ही कवियों को प्राप्त होती है और यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व पंडितों एवं रसिकों को एक साथ मुग्ध कर लेता है।

पदावली पर ही केन्द्रित रहा जाय तो कहते बनता है कि विद्यापति यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियों के गायक थे। रतिभाव को पदावली में मूर्तिमान किया गया है। रति (काम) मानव की आदिम प्रवृत्तियों में से है और उतनी ही पुरातन है जितना कि वह स्वयं है। मेकडूगल महाशय ने मानव की मूल प्रवृत्तियों की संख्या चौदह बताई है। इन चौदहों में से तेरह मूल प्रवृत्तियाँ दूसरे प्राणियों में भी होती हैं। चौदहवीं मूल प्रवृत्ति (हँसना) मनुष्य में ही होती है। अपने से सम्बद्ध संवेगों के साथ वे चौदह मूल प्रवृत्तियाँ ये हैं—भोजन ढूँढना (भूख), भागना (भय), लड़ना (क्रोध), उत्सुकता (आश्चर्य), रचना (रचनात्मक आनन्द), संग्रह (संग्रहभाव), विकर्षण (घृणा), शरणागत होना (कृपा), काम प्रवृत्ति (कामुकता), शिशुरक्षा (स्नेहवात्सल्य), दूसरों की चाह (अकेलापन), आत्मप्रकाशन (उत्साह), विनीतता (आत्महीनता), हँसना (प्रसन्नता)।

मेकडूगल महाशय के इस सिद्धान्त के प्रतिकूल फ्रायड, युंग तथा उनके अन्य अनुसर्ताओं का सिद्धान्त है। इनके कथनानुसार प्राणी की सभी प्रकार की शक्तियों का उद्गम स्थान एक ही शक्ति है। इस शक्ति को फ्रायड ने कामशक्ति (सेक्स) कहा है। युंग ने उसे जीवन शक्ति (लिबिडो) कहा है। इनसे पूर्व शोपनहावर महाशय ने इसे जीने की इच्छा (बिल टु लिव) कहा है और बर्गलन महाशय ने प्राण-शक्ति (इलान वाइटल) कहा है। प्राणी की अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ उसकी एक ही प्रवृत्ति के प्रकाशनमात्र हैं इस प्रवृत्ति को चाहे जिस नाम से पुकारा जाय। यह जीवन-शक्ति अथवा जीने की इच्छा अनेक रूप से प्राणी के जीवन में प्रकाशित होती है। यह इच्छा प्राणी की भोगेच्छा है। संसार के पदार्थों में रुचि इसी इच्छा के कारण होती है। मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियों में से काम-प्रवृत्ति एक प्रबल प्रवृत्ति है। अनेक मनोविज्ञान-तत्त्व-विशारदों ने भोजन और काम-वासना की तृप्ति को ही जीवन के अनेक व्यवहारों का कारण बतलाया है। शोपनहावर के अनुसार यह प्रवृत्ति लड़ाइयों का कारण, शान्ति नाश का हेतु, गम्भीरता का आधार, मजाक का लक्ष्य, प्रत्युत्पन्न-मति का अक्षय स्रोत और सब रहस्यों का मर्म है (देखें—सेलेक्टेड ऐसेज ऑफ शोपनहावर में 'मेटाफिजिक्स ऑफ द लव ऑफ द सेक्सेज')। इस प्रवृत्ति के कारण विपरीत लिंग के व्यक्ति की ओर प्रत्येक व्यक्ति आकर्षित होता है और अनेक प्रकार की चेष्टाओं से उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। साधारणतया लोगों की धारणा है

कि यह प्रवृत्ति प्रौढ़ावस्था में ही सक्रिय होती है। यदि किसी व्यक्ति में इसके पूर्व काम-प्रवृत्ति की चेष्टाएँ देखी जाती हैं तो उसे अस्वाभाविक समझा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने उपर्युक्त धारणा को भ्रमात्मक सिद्ध किया है। मनोविश्लेषण-विद्या के पारंगतों का मत है कि मानव में ये चेष्टाएँ शैशवावस्था से ही देखी जाती हैं। प्रत्येक प्रेम-प्रदर्शन की क्रिया का स्रोत काम-प्रवृत्ति ही होती है। इस काम-प्रवृत्ति के विकास की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं। अर्नेस्ट जोन्स के अनुसार शैशव में बालक अपने आप को तथा लिंग-भेद के अनुसार माता या पिता को प्यार करता है। बाल्यावस्था में उसका प्यार सर्वांगीय साथी की ओर प्रवाहित होता है। किशोरावस्था में वह विपरीत लिंग के बालक की चाह करने लगता है। प्रौढ़ावस्था में वह अपना प्रेम एक व्यक्ति को दे देता है और उसके साथ जीवन व्यतीत करने का इच्छुक रहता है। शैशवावस्था और बाल्यावस्था के प्रेम-प्रदर्शन में प्रायः हम काम-प्रवृत्ति (रति) को पहचान नहीं पाते। वास्तव में जब तक हम बालक की काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी विशेष इन्द्रियों को उत्तेजित होते नहीं देखते तब तक बालक की किसी भी चेष्टा को काम-चेष्टा नहीं कहते। किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार यह एक भूल है। काम-प्रवृत्ति की बाह्य-चेष्टा के अभाव में उसके आन्तरिक भावों को नहीं पहचानना मनोवैज्ञानिक अज्ञान को सिद्ध करना है। काम-प्रवृत्ति की बाह्य क्रिया आन्तरिक मनोभाव का प्रदर्शन मात्र होती है, जो भाव की परिपक्व अवस्था में स्वतः होती है। परन्तु उसकी अपरिपक्व अवस्था में आन्तरिक भाव को अनुपस्थित मानना समीचीन नहीं। काम-प्रवृत्ति का वास्तविक बाह्य रूप किशोरावस्था में देखा जाता है। कृष्ण-राधा पदावली के रंगमंच पर किशोर-किशोरी के रूप में ही उपस्थित हुए हैं।

रति (आसक्ति) मानव जीवन की सहज प्रवृत्ति है। जीवन की आदिम वृत्ति की क्रीड़ा विद्यापति की वाणी में दिखाई पड़ती है। साहित्य में रति के तीन स्वरूप उपलब्ध होते हैं—वात्सल्य-रति, दाम्पत्य-रति और देव-रति। इनमें वात्सल्य-रति को विद्यापति ने नहीं अपनाया। देव-रति विषयक पद-रचना भी कम ही है और जिन पदों में देवरति विषय है उनमें अपेक्षाकृत कम पूज्य-बुद्धि होने के कारण सूरदास जैसा पुष्टि-अनुग्रह और तुलसीदास जैसी अनन्यता नहीं मिलती। रुचि एवं वातावरण के अनुरूप उन्होंने प्रौढ़-उन्मुख दाम्पत्य-रति का ही विशेष आख्यान किया है। रति-या आसक्ति को हेय दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। प्राचीनतम काव्य (चाहे वह वैदिक कोटि का हो या लौकिक) के मूल में भी यह आसक्ति है। वैदिक कोटि के काव्य में यह देव-रति नाम से अभिहित होती है, क्योंकि वहाँ अग्नि, इन्द्र, रुद्र, मरुत्, सूर्य, वरुण आदि देवों के प्रति पूज्य-बुद्धिपूर्वक आसक्ति-प्रदर्शन मिलता है। लौकिक काव्य के मूल में तो दाम्पत्य-रति स्पष्ट रूप से विद्यमान है। आदिकवि वाल्मीकि के कण्ठ से—

मा विषाद प्रतिष्ठां त्वामगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधौः काममोहितम् ॥

के रूप में प्रस्फुटित वाणी यही घोषित कर रही है। लेकिन समय-समय पर इस रति-आराधना का स्वरूप बदलता रहा है।

पदावली का मुख्य वर्ण्य-विषय दाम्पत्य-रति या शुद्ध शृंगार है। रति के ही

बहिरंग एवं अन्तरंग चित्रणों से पदावली का कलेवर पुष्ट हुआ है रस-राज के सिंहासन पर आरूढ़ शृंगार की इसमें अर्चना है। गीतगोविन्द में भीनी-सी धर्म की चादर ओढ़कर लीला-विलास करने वाले राधा-माधव उस अर्चना के नटी-सूत्रधार बने हैं। और सामान्य नायिका-नायक की भाँति शृंगार-सरिता में उन्होंने जो केलि-विलास किया वह अपूर्व है।

भक्त और सन्तों के मंच पर विद्यापति को स्थान दिया जा सथता है अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि भक्त या सन्त की मूल विशिष्टता आराध्य की अनन्य उपासना से विद्यापति लगभग अधिकांश जीवन में दूर ही रहे। तुलसीदास का सा लोक-संग्रह एवं लोक-कल्याण इनकी भक्ति का अंग नहीं दीखता। भक्ति-भाव की प्रेरणा से अनेक देवी-देव-स्तुति परक जो वचन निकले वे भी परिणत वयस में जाकर उठे (देखें, विद्यापति बेनीपुरी पद २५४, २५५)। इनमें लघुता की प्रतीति नहीं मिलती। अपने अवगुणों को ये उठा-उठा कर नहीं दिखाते। विद्यापति में कुशलता का गर्व है। वहाँ गर्व-प्रेरित आत्मश्लाघा है। आदर्श भक्त में प्रणति रहती है, अहं या गर्व ऊपर आ नहीं सकता। भक्त-जन आराध्य देवी-देव की प्रीत्यर्थ ही अपना हृदय खोलते हैं, सांसारिक प्राणी के प्रति नहीं। स्पष्ट है कि विद्यापति में आदर्श भक्तों की प्रवृत्तियाँ नहीं मिलती। जो थोड़े से पद इनके भक्ति-परक हैं वे उन्हें सूर-तुलसी की श्रेणी नहीं दिला पाते। शिव, गंगा, देवी (दुर्गा) जानकी की स्तुति परक रचनाओं के आधार पर वे इनमें से किसी के भी अनन्य भक्त सिद्ध नहीं नहीं किये जा सकते। यदि यत्किंचित् भक्ति-परक रचना के आधार पर किसी को भक्त मानने की प्रणाली को अपना लिया जाय तो 'विज्ञान गीता' के सहारे केशव-दास और कुछ स्फुट दोहों के सहारे बिहारीलाल भी भक्त कवियों में जा बैठेंगे। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला वर्णन के आधार पर क्या उन्हें वैष्णव माना जाय ? इसके सम्बन्ध में यह कहना है कि इनके पदों में शिव और गंगा के प्रति अधिक पूज्य बुद्धि अभिव्यक्त हुई है। राधा-कृष्ण के प्रति उनमें वैष्णवों जैसी अनन्य निष्ठा एवं अनन्य अनुराग नहीं मिलता। इनका नख-शिख भी भक्तों का-सा नहीं है। भक्त-चरणों से चलकर शिख तक पहुँचता है और अपनी पूज्य-बुद्धि-वश इस प्रकार वह 'नख-शिख' शब्द को सार्थक कर दिखाता है। परन्तु विद्यापति की आँखें पहले मुख पर पड़ती हैं और वक्षस्थल पर जाकर गड़-सी जाती हैं। यह रुचि या प्रवृत्ति शृंगारी कवियों की है, भक्त-सन्तों की नहीं। शिव की कृष्ण से एकता स्थापित करते हुए कृष्ण की अपेक्षा शिव की ही प्रधानता स्थापित की गई है। कुछ पदों में ही राधा-कृष्ण के प्रति पूज्य-भाव है लेकिन उनके आधार पर विद्यापति को अनन्य वैष्णव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

विद्यापति बाह्य (दृश्य) सौन्दर्य के उद्घाटक हैं। उनका रहस्यवाद से सम्बन्ध जोड़ना अन्याय है। मधुर रस की उपासना के लिए वे आये थे ऐसा नहीं मानते बनता। श्री प्रियसंन, आनन्दकुमार स्वामी, प्रो० जनादेन मिश्र रूपक मानते हैं, इनके पदों को। परन्तु सभी पदों में रूपक नहीं बैठता। इनके वयः संधि एवं नख-शिख के पदों में खींचतान करने पर भी रूपक नहीं बैठता।

सन्तों-भक्तों ने विरह-वर्णन अवश्य किया, किन्तु नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग का वर्णन या अंगोद्घाटनादि का वर्णन नहीं किया। वे सौन्दर्य के स्थूल रूप के उपासक ही नहीं थे। वे तो सूक्ष्म सौन्दर्य या कहिये कि सौन्दर्य की भावोपासना लिए थे। उनका शृंगार वास्तविक शृंगार है ही नहीं। यदि विद्यापति रहस्यवादी होते तो उन्हें दरबार नहीं रुचता और इन पदों में राजा-रानियों के नाम ही न आते किसी वैष्णव भक्त कवि ने प्राकृत-जन को रिझाने का प्रयत्न किया अपनी वाणी से ? रहस्य लिखने वालों की उक्ति प्रश्न, आश्चर्य और विस्मय से भरी होती है। विद्यापति में यह रहस्य है ही नहीं। और फिर रहस्य एक विशेष चित्तवृत्ति में लिखा जाता है। दरबार के विलासी वातावरण में रहस्य-साधना हो नहीं सकती थी। यदि ऐसी बात होती तो स्थान-स्थान पर जयदेव की भाँति संकेत मिलता। यदि मूलतः इस भाव से विद्यापति रचना करते तो अन्त में पश्चात्ताप एवं आत्मग्लानि प्रकट करने की स्थिति न आती। किसी रहस्यदर्शी की परिणति निराशा में नहीं हुई। अतः शृंगारी पदों में किसी को भक्ति दीखे तो उसे देखने वाले की भावुकता समझें, इनका गुण नहीं। डा० विनयकुमार सरकार ने 'लव इंन हिन्दू लिटरेचर' ग्रन्थ में ठीक ही लिखा है कि विद्यापति के शृंगारी पदों को भक्ति का मानना उसे हीनता देना है।

तथापि विद्यापति में भक्ति या धर्म भावना थी अवश्य। बहुत से लोग उनके स्तुति-परक गीतों में आत्मग्लानि के शब्दों को देख कर यह आरोप करते हैं कि विद्यापति जीवन की अन्तिम अवस्था में निराशावादी हो गए थे। यह सत्य है कि इन पदों में विद्यापति के मन की घोर कातरता दृग्गत होती है यथा—

तातल सैकत वारि-विन्दु सम, सुत-मित रमनि समाज।

तोहे विसारि मनताहे समरपिनु, अब मझुहब कौन काज॥

माधव, हम परिनाम निराशा, तुँहूँ जगतारन दीन दयामय।

अतय तोहर बिसवासा, आध जनम हम नींद गमायनु॥

जरा सिसु कत दिन गेला, निधुवन रमनि-रभस रंग मातनु।

तोह भजब कौन बेला॥

—विद्यापति, वेनीपुरी, पद २५४।

ऐसे पदों से दो बातें स्पष्ट होती हैं—प्रथम कवि का आत्म-निवेदन जो उस काल के भक्त-कवियों की परिपाटी थी। अपने को अत्यन्त गिरा हुआ, पतित-नीच कदर्थ बता कर भगवान् की दया के लिए याचना करना एक प्रकार से भक्त कवियों के लिए प्रौढोक्ति है, कवि-परिपाटी है। सुर, तुलसी आदि सभी कवियों में इस प्रकार की आत्म-ग्लानि भरी पड़ी है। 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास ने मानव-जीवन की शिशु-काल से जरा-काल तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कदर्थना-भरा चित्रण प्रस्तुत किया है और अन्त में कहा है कि भगवान् इस प्रकार के कृतघ्न नीच-पतित जीव का तुम्हीं उद्धार कर सकते हो। सूरदास कृत विनय के पदों की 'विधियाहट' पर महाप्रभु वल्लभाचार्य की ताड़ना विदित ही है। इस प्रकार की स्तुति-परक कवि-ताएँ चाहे वे गंगा की वन्दना में हों या देवी की, गणेश की, शंकर की, जानकी की, राधा की या दुर्गा की सब में यही कातरता दृग्गत होती है। यह कातरता जीवन की

वास्तविक निराशा का परिणाम नहीं है बल्कि देवता की महिमा और भक्त की असहायता की रूढ़ अभिव्यक्ति मात्र है। इसे कवि के जीवन के यथार्थ से सम्बन्धित करने का प्रयत्न अनुचित है। क्योंकि सौन्दर्य और प्रेम का वास्तविक कवि कभी निराशावादी नहीं हो सकता। वाणी से भगवान के सामने दीनता-भरी स्तुति करता हुआ, दुनियादारी का तकाजा पूरा करता हुआ वह निरन्तर सौन्दर्य और प्रेम की प्रेरणा से अनुचालित रहता है।

सम्प्रदाय या वर्गगत धर्म का विद्यापति के सम्मुख विशेष महत्त्व न था। विद्यापति शैव थे या वैष्णव इस प्रश्न को सुलझाने की दृष्टि से विचारकों ने बड़े-बड़े तर्क उपस्थित किए हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों के श्रमभार में यह ढूँढ़ना तो मुश्किल ही हो गया कि विद्यापति क्या थे, जो बात स्पष्ट थी वह भी इस तर्क-जाल में उलझ गई। विद्यापति ने प्रेम के बहुत ऊँचे गीत लिखे हैं, उनके लिए मनुष्य से बड़ा और कोई पदार्थ नहीं है, शारीरिक सौन्दर्य से बड़ी और कोई निधि नहीं है। आलोचक विद्यापति की इन रचनाओं को इन्हीं के आधार पर समझना नहीं चाहते। वे यह जानने के लिए उत्सुक हैं कि वे शैव हैं या वैष्णव क्योंकि इन आलोचकों की यह मान्यता है कि यदि विद्यापति शैव थे तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत निश्चित ही श्रृंगारिक हैं क्योंकि कोई शैव भला वैष्णव देवताओं के बारे में भक्तिपूर्ण पद क्यों लिखेगा? कवि या लेखक की रचनाओं में धर्म का तत्त्व दो प्रकार से प्रतिफलित होता है। या तो वे रचनाएँ निश्चय ही धर्म के विषय में हों अर्थात् किसी विशेष प्रकार के धर्म के प्रचार-प्रसार के निमित्त लिखी गई हों, जैसे प्राकृत-अपभ्रंश में लिखे हुए अनेक जैन-काव्य या संस्कृत में लिखे हुए हिन्दू धर्म-ग्रन्थादि। इन रचनाओं में धर्म केन्द्रीय शक्ति है, अन्य वस्तुएँ उसी का अनुगमन करती हैं। कविताएँ धर्म का विषय एक अन्य तरीके से भी बनती हैं। धर्म उन कविताओं में मुख्य नहीं होता। उनमें मनुष्य के बहुत ऊपर उठे हुए मानसिक धरातल का चित्रण होता है। मनुष्य के मन का उच्चतम धरातल जब कवि के काव्य में अभिव्यक्ति पाता है तो उसे आलोचक मधुमती भूमिका की संज्ञा देते हैं। इस मधुमती भूमिका को प्राप्त कवि की रचनाओं में विश्वजनीन मानव धर्म अभिव्यक्ति पाता है। यह एक स्थिति है जिसमें कवि धर्मों के संकुचित घेरे तोड़ कर देश-काल निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि करता है। इस साहित्य में किसी भी धर्म की मूल बातें अर्थात् मानवीय जीवन के अभ्युदय और निःश्रेयस की बातें दिखाई पड़ सकती हैं। विद्यापति की सभी कविताओं में तो नहीं किन्तु अधिकांश में इसी धर्म की छाया है—यानी मानव-धर्म की। राधा और कृष्ण किसी एक जाति या देश के नहीं हैं और न प्रेम किसी स्थूल सीमा में आवद्ध हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि फिर इन कविताओं पर वैष्णव भक्ति का बिल्ला लगाना कहाँ तक उचित है? विद्यापति ने यह बिल्ला नहीं लगाया, उन्होंने ये कविता को वैष्णव भक्ति का काव्य नहीं कहा। चूँकि उनकी कविता में व्यक्त मानव-हृदय वैष्णव-भक्त के हृदय से ज्यादा साम्य रखता है, इसलिए परवर्ती काल में यह कविताएँ वैष्णव भक्तों द्वारा स्वीकृत होकर कीर्तन का विषय बन गईं। रागानुगा भक्ति और सांसारिक प्रेम में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता, केवल उद्देश्य का अन्तर है। जड़ोन्मुख

होकरजो भावना-प्रेम की संज्ञा पाती है वही चिदुन्मुख होकर भक्ति कही जाती है (देखें, डा० शिवप्रसादसिंह कृत 'विद्यापति' पृष्ठ २३-२४)। विद्यापति के प्रेम-गीतों में यदि किसी शैव या शाक्त या सूफी साधक को अपनी पद्धति का कुछ साम्य नजर आए तो उसमें विद्यापति को या उन्हें शृंगारिक मानने वाले आलोचक को क्या आपत्ति हो सकती है? वैसे वैष्णव रागानुगा भक्ति से इसका ज्यादा साम्य है।

दाम्पत्य-रति को विद्यापति ने प्रधानता दी। पदावली में यौवन की उद्दाम-वृत्तियों का अद्भुत विलास है। सूरदास की भाँति बालक किस प्रकार प्रेमी-प्रेमिका का रूप ले लेते हैं, विद्यापति ने यह नहीं कहा। उनके राधा-कृष्ण तो यौवन के द्वार पर खड़े मिलते हैं। वयःसन्धि-शैशव का यौवन में बदलना जीवन का मधुरतम परिवर्तन है, विद्यापति ने इसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। संयोग और विप्रलम्भ शृंगार के इन दोनों पक्षों में कवि की दृष्टि प्रत्यक्ष जगत् पर ही अधिक रही है। प्रेम-कीड़ाओं के विस्तृत क्षेत्रों को यहाँ वर्ण्य-विषय के रूप में नहीं 'अपितु पृष्ठभूमि के रूप में अपनाया गया है। संयोग-पक्ष में जो विलास-मुद्राएँ हाव-भाव आदि चित्रित हैं उनमें नायक-नायिका का सम-आकर्षण अनुस्यूत है। दाम्पत्य-रति का रहस्य दम्पति ही समझ सकते हैं इत्यादि प्रकार की कवि की भाव-प्रेषणीयता अत्यन्त सफल है। नारी-सौन्दर्य-वर्णन प्रसंग में वक्षःस्थल से विशेष आसक्ति प्रकट होती है। इन पदों में अनेक स्थलों पर भक्ति-भावना भी कलासौन्दर्य से जुड़ी चलती है, जैसे—(देखें 'कतन वेदन मोहि देसि मदना' इत्यादि पद, ४२ विद्यापति, बेनीपुरी)। संयोग-पक्ष में नायक-नायिका की आपसी छेड़-छाड़, हास-परिहास, एवं चातुर्यपूर्ण वार्तालाप का विशेष महत्त्व है। इससे यहाँ प्रेम की सजीवता टपकती है। विद्यापति ने प्रणय-पथ की छेड़-छाड़ और वाक्-पटुता के बड़े आकर्षक चित्र प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार मानव के बहिर्जगत् पर उनकी दृष्टि खूब जमी है। वियोग की अपेक्षा संयोग को प्रधानता कैसे मिल गई है। इस विषय में दो कारण दृष्टिगत होते हैं। प्रथम तो उनकी अपनी रुचि-विशेष। विद्यापति स्वभावतः रूप-सौन्दर्य के उपासक थे। द्वितीय, उनकी सामाजिक स्थिति। वे एक दरबारी कवि थे। इसीलिए वे भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा रूप सौन्दर्य की ओर अधिक लपके।

पदावली की कुछ सामान्य विशेषताएँ अंकित करते हैं—

- क. रसराज शृंगार के अद्भुत अभिनेता-युगल राधा-कृष्ण की क्रीड़ा-भूमि रंगमहल जैसी नहीं कुँज, नदी तट आदि की सामान्य भूमि है।
- ख. वे सामान्य नायक-नायिका के रूप में प्रकट किए गए, बड़ों की सन्तान नहीं।
- ग. इनका सौन्दर्य भी साधारण जनो का-सा है। सहज है विशिष्टों का-सा कृत्रिम नहीं। अतः सबके लिए आकर्षक है।
- घ. उभय-पक्ष में रूपाकर्षण समान है। तुल्यानुराग है और लीन करने वाला प्रभाव भी समान है।
- ङ. नायक-नायिका की मुद्राओं, अलंकारों, कार्य-व्यापारों का एक-सा वर्णन किया गया है।

- च. नख-शिख को सार्थक करने की चेष्टा भी की है कुछ पदों में। वैसे इनका 'नख-शिख' प्रधानतः 'शिख-नख' शैली का है।
- छ. वक्षःस्थल को विशेषता प्रदान की गई है। ऐसे वर्णनों में कई स्थलों पर शिव-भक्ति भी मिश्रित है। परवर्ती (विशेषकर रीतिकालीन) कवियों ने मुखमण्डल को, उसमें भी नेत्रों को विशेषता दी। विद्यापति ने वक्षःस्थल के अतिरिक्त अन्य अंगों के विषय में भी सहृदयता से कहा। नख-शिख में मात्र अंगों का ही वर्णन नहीं होता, आभूषण, कंचुकी एवं प्रसाधन-साधनों का भी वर्णन रहता है। विद्यापति ने इनको कई पदों में एकत्र भी कर दिया है।
- ज. शृंगार-रस के विकास की हर दशा की ओर इनकी दृष्टि गई। वयःसंधि का विद्यापति ने सर्वाधिक सहृदयता से वर्णन किया। शैशव-यौवन का ऐसा मानवीकरण-चेतनीकरण अन्यत्र नहीं मिलता। यहाँ कवि ने अतनु को सतनु बनाया है। काम-जागरण का ऐसा दृश्य दुर्लभ है।
- झ. हिन्दी मुक्तक पदों में वर्णित अनुराग-सूचक मुद्राओं का अध्येता बरबस कहेगा कि प्रेम-क्रीड़ा-व्यापार की संकुलता पहले-पहल विद्यापति में ही मिलती है।
- ञ. अप्रस्तुत-योजना भावोत्तेजक एवं आलम्बन और उद्दीपन की सम्यक् योजना मिलती है।
- ट. विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण ये चार भेद किए जाते हैं। इनमें पूर्व-राग सम्बन्धी कुछ ही पद मिलते हैं। करुण-विप्रलम्भ विद्यापति ने नहीं लिखा। मान और प्रवास को प्रमुखता दी है। प्रणय, मान और 'ईर्ष्या' मान के विविध चित्र पदावली में हैं। प्रवास-विप्रलम्भ भी दो प्रकार का होता है—प्रथम में प्रिय के अभाव का दुःख और द्वितीय में प्रिय दुःखानुभव से दुःख जगता है। इनमें से प्रथम प्रकार का प्रवास-विप्रलम्भ ही विद्यापति ने लिखा।
- ठ. विरह-वेदना दोनों पक्षों में दिखाई है। विप्रलम्भ-वर्णन-प्रसंग में सब काम-दशाओं को अपनाया गया है। भले ही विस्तार नहीं किया।
- ड. ऊहा का आश्रय लिया है तथापि गाम्भीर्य है। यह गम्भीरता कई स्थानों पर सूर में एवं रीतिकालीन कवियों में नहीं रही।
- ढ. विरह-वर्णन-प्रसंग में शृंगार के पोषक व्यापार ही आए हैं और यह शुद्ध भारतीय पद्धति का है।
- ण. नायक-नायिका की ओर से परस्पर मिलन सम्बन्धी प्रयत्न-विस्तार नहीं मिलता।
- त. भोली ग्रामीण वाला है विद्यापति की विरहिणी। सरलता एवं नैसर्गिकता का पुट इसमें विशेष है।
- थ. विद्यापति के प्रकृति-वर्णन दो श्रेणियों में रखे जा सकते हैं—प्रथम, वर्ण-वस्तु के रूप में और द्वितीय उद्दीपन के रूप में। पदावलीगत वसन्त-

वर्णन में अभिव्यक्त उल्लास की शक्ति को देखते हुए इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कवि के मन में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और अकृत्रिम रुझान अवश्य था ।

- द. बसन्त के साथ अन्य ऋतुओं का भी स्वतन्त्र वर्णन हुआ है । जैसे अभिसार-प्रसंगों में कवि ने काली पावस की रातों का प्रायः भयंकर वर्णन किया है । ऐसे वर्णनों (देखें, विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६६) में कवि की सूक्ष्मदर्शिता का पता चलता है ।
- ध. तथापि प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन विद्यापति के काव्य में गौण है । प्रमुखता उसके उद्दीपन के रूप-चित्रण को मिली है । उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त रूढ़-कवि-व्यापार है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इस परिपाटी को मानने वाले कवि के लिए उसमें नूतन आकर्षण पैदा करना बहुत कठिन होता है । विद्यापति ने इस प्रकार के वर्णनों में अपनी निरन्तर जागरूकता, सूक्ष्मदर्शिता और संवेदनशीलता का बहुत अच्छा परिचय दिया है । ऊपर संकेतित हैं 'सखि हे हमर दुखक नहि ओर' (विद्यापति, बेनीपुरी, पद १६६) इत्यादि पद में समस्त प्रकृति को व्यक्ति के दुःख में लथ कर दिया गया है । उद्दीपन के रूप, प्रकृति के उपकरणों के प्रयोग, मानवीय दुःख की इतनी तीव्र व्यंजना शायद ही कोई कवि कर सका हो । इस पद में कवि ने जैसे अपने हृदय की सारी घनीभूत पीड़ा को बिखेर दिया हो । यह पद किसी आश्रयदाता को समर्पित नहीं है, कवि ही इस दुःख का एक मात्र साक्षी है । इस कविता में ध्वन्यात्मक वस्तु-व्यापार, उनका मानवीय हृदय की अवस्थाओं से समानान्तर निर्वाह अद्भुत है । बादलों से गगन आच्छादित है, और मेरा घर सूना है । वर्षा का उद्दाम रूप, साक्षात् आँखों के सामने खड़ा है, चमक, छाया-अन्धकार का नर्तन, मयूरों और दादुरों की आवाज नेत्र-पथ को घोर कालिमा से भर देने वाली रात-विरहिणी अपने दयित की आने की बाट देख कर मन को किसी प्रकार फुसला भी तो नहीं सकती । ऊपर से चंचल चपला का नर्तन ये सब विद्यापति के हृदय के अश्रुओं में स्नात होकर यथार्थ की अनुपम आभा धारण किये हुए हैं ।
- न. विरह-वर्णन के लिए कवि ने बारह-मासा की पद्धति का भी प्रयोग किया है । हिन्दी मुक्तक-पद-रचनाओं में कवि परिपाटी होते हुए भी 'बारह मासा' शैली का प्रथम प्रयोग विद्यापति में ही मिलता है ।
- प. संस्कृत और अवहट्ट की रचनाएँ तो स्पष्ट ही आश्रयदाताओं के अनुरोध से लिखी गईं । पदों में भी बड़ी संख्या ऐसे पदों की है जिनमें आश्रयदाताओं के मनुहार का विशेष ध्यान रखा गया । उनके मन-भावन को ध्यान में रखते हुए अनेक पद विशिष्ट आश्रयदाताओं को उत्सर्ग किये से जान पड़ते हैं ।

फ. आश्रयदाता-प्रशस्ति के साथ ही लगभग सब पदों में विद्यापति ने अपने नाम की छाप छोड़ी है। दरबारी कवि के लिए अपनी रचना में 'ग्रह' की छाप छोड़ना आवश्यक था। विद्यापति ने यह पाठ सम्भवतः अपने से पूर्ववर्ती हरिसिंह देव (सन् १३०५ से १३२४ ईसवी) के दरबारी कवि उमापति उपाध्याय से सीखा (देखें, वर्तमान रचना का 'संस्कृत कवि और विद्यापति' प्रकरण)।

ब. भक्त-कवि-रूढ़ि में आत्मग्लानि और असहायावस्था का चित्रण भी कुछ पदों में है। परन्तु विद्यापति के पदों में प्रस्फुटित आत्म-परिताप एवं विरहकातरता की पृष्ठभूमि में शिवसिंह-विद्यापति-विद्योह भी महत्वपूर्ण है। उस दुर्घटना के फलस्वरूप कवि के मानस में स्वाभाविक परिवर्तन आया।

भ. विद्यापति में तुलसीदास जैसी लोक-संग्रह की वृत्ति तो नहीं मिलती तथापि विद्यापति जैसे दरबारी-कवि ने जन-जीवन के साथ अपने आप को सम्बद्ध करने का जो कुछ भी प्रयास किया और उसमें जितना भी वे सफल हो सके, वह कम नहीं है। १४वीं शती के कवि के लिए भाषा-काव्य लिखना ही एक असम्भव व्यापार था। तीन सौ वर्ष बाद भी केशवदास ने 'भाखा' में काव्य लिखते समय जिस ग्लानि का अनुभव किया तथा तुलसीदास जैसे जनमंगल की भावना से ओतप्रोत कवि ने 'भाखभनिति' के लिए जितनी शालीन सफाई पेश की—वह सब कुछ सम्भव न हुआ होता यदि विद्यापति जैसे दरबारी कवि ने कविता को देववाणी की चहारदीवारी से बाहर न निकाला होता। यह सही है कि उन्होंने संस्कृत को कबीरदास की तरह कूप जल कह कर तिरस्कृत नहीं किया, किन्तु इतना तो वे भी मानते थे कि संस्कृत अब केवल बुध-जन तक ही सीमित हो गई है—

सकय वाणी बुहअन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ।

देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जम्पअों अवहट्ठा ॥

—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव

डा० शिवप्रसाद सिंह ने उचित ही लिखा है कि उन्होंने अपने राजकवि होने की मजबूरी को संस्कृत-प्रशस्ति-काव्य लिखकर निभाया। तत्कालीन परम्परा के अनुसार राजा के युद्ध और प्रणय का विवरण पिंगल या अवहट्ठ में उपस्थित किया किन्तु हृदय का तकाजा, जनता के प्रति उत्तरदायित्व 'देसिल बयना' के माध्यम से ही व्यक्त हुआ। विद्यापति के गीतों का पाठक इनकी जीवन्त प्रवाहमयी भाषा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लोक गीतों की सुमधुर और सहज पद्धति पर लिखे गये गीत तत्कालीन जन-मासस के अकृत्रिम दर्पण हैं। इस प्रकार की चेतना को सामाजिक यथार्थ के प्रति श्रद्धा की भावना के बिना कौन कवि ग्रहण कर सका है? इतना ही नहीं विद्यापति ने बाल-विवाह, घनकुटनी नारी की दीनता, मुसलमानों के आक्रमण

से उत्पन्न सामाजिक अवस्था आदि विषयों पर भी बड़ी ईमानदारी के साथ विचार किया है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में बाल-विवाह आदि समस्याओं पर विचार करने वाले लोगों को हम 'रिनेसा' (पुनर्जागरण) के अग्रदूत कहते हैं, किन्तु कल्पना कीजिए १४वीं शताब्दी के उस युग की जब विदेशी आक्रमण से संतप्त हिन्दू जाति अपने बचाव के लिए नाना प्रकार की किलेबन्दी कर रही थी, बाल-विवाह भी उसी युग की देन है, इसमें शक नहीं। विद्यापति ने उस कुरीति को जो तत्कालीन विकट परिस्थितियों का परिणाम थी, क्षम्य नहीं माना और उस पर अपने मार्मिक किन्तु क्षोभ-हीन ढंग से प्रहार किया।

पदावली में लोक-चेतना के प्रति आदर एक अन्य रूप में भी अभिव्यक्त होता है। वह है लोकतत्त्व का परिग्रहण। लोकतत्त्वों का प्रयोग शैली और वस्तु दोनों ही दृष्टियों से काव्य को उन्नयनशील, कृत्रिमताहीन तथा जन-मानस के साथ सम्बद्ध बनाने में सक्षम होता है। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अन्य अलंकारों के प्रयोग में लोकतत्त्व से प्रभावित उपमान ग्रहण किए जा सकते हैं। यही नहीं, कभी-कभी लोक-तत्त्वों का परिग्रहण साहित्य की रूढ़ प्रवृत्तियों से प्रभावित विचार-सरणि को भी बदलने में सहायक होता है। विद्यापति ने लोक-तत्त्वों के ग्रहण में काफी पटुता और कुशलता का परिचय दिया है। उन्होंने गीतों के छन्द, ध्रुन, स्वर तथा शब्द-विन्यास आदि लोक जीवन से लिए, साथ ही विरह और संयोग के वर्णनों में भी लोक जीवन की मान्यताओं का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए, बालक-जन्म के अवसर पर होने वाले टोने-टोटके तथा अन्य लौकिक संस्कारों का वर्णन विद्यापति ने वसन्त को बालक मान कर उसके जन्म के अवसर पर प्रस्तुत किया (देखें, विद्यापति, बेनीपुरी, पद १७४)। पूजा, व्रत आदि के अवसरों पर गाये जाने वाले स्तुति-गानों में भी लोक-गीतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

संयोग और वियोग के अनेक गीतों में भी विद्यापति ने अभिजात संस्कारों को नीरस समझ कर एकदम हटा दिया है। उनके स्थान पर उन्होंने सामान्य-प्रेमी-प्रेमिका के लोक-जीवन से सम्पृक्त प्रेम-व्यापार का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है—

के पतिआ लए जाएत रे, मोरा पियतम पास ।
हिए नहि सहए असह दुख रे, मेल साओन मास ॥
एकसरि भवन पिया बिनु रे, मोरा रहलो न जाय ।
सखि अनकर दुख दारुन रे, जग के पति आय ॥
मोर मन हरि हरि लय गेल रे, अपनो मन गेल ।
गोकुल तजि मधुपुर बस रे, कत अपजस लेल ॥
विद्यापति कवि गाओल रे, धनि धरु पिय-आस ॥
आओत तोर मनभावन रे, एहि कातिक मास ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद २०३

इसी भाव को धारण करने वाले अनेक गीत भोजपुरी, अवधी तथा अन्य लोक भाषाओं में आज भी प्रचलित हैं। विद्यापति के इन गीतों में दर्द की इतनी तीव्र

व्यंजना इसीलिए संभव हो सकी है कि कवि ने विरहिणी के मुख से निकलने वाले शब्दों को खूब पहचाना है। विरहिणी नायिका छाती फटने की व्यंजना विभिन्न प्रकार से कर सकती है, परन्तु—

मधुपुर मोहन गेल रे, मोरा विहरत छाती ।
गोपी सकल विसरलनि रे, जत छलअहि बाती ॥
सूतलि छलहुँ अपन गृह रे, निन्दइ गेलउं सपनाई ।
करसों छुटल परसमनि रे, कौन गेल अपनाई ॥

—विद्यापति, बेनीपुरी, पद १९०

इस पद में 'विहरत' शब्द का जोड़ मिलना कठिन है। यह ऐसा शब्द है जो दर्द की अन्तः सलिला में न जाने कितने समय तक बहते-टकराते घिस-घिस कर चिकने पत्थर की तरह पारदर्शी-सा हो गया है। इस शब्द में अभिधार्थ से कहीं ज्यादा भाव संचित हो गया है। विद्यापति का हृदय इन गीतों में ही अभिव्यक्त हुआ है।

विद्यापति के इन मुक्तक गीतों में एक क्षण को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न है। एक ऐसा क्षण जो अपनी लघु स्थिति में जीवन की समग्रता का पूरा आभास तो नहीं दे सकता किन्तु जो जीवन के किसी एक हिस्से को सदा के लिए उद्भासित करने के लिए समर्थ होता है। प्रबन्धकार कवि जीवन का पूरा चित्रण इसी क्षण की अनुभूति को प्रस्तुत करने के लिए किया करता है, जबकि विद्यापति उस क्षण में ही जीवन देखने के अभ्यासी हैं। उनके गीत शबनम की बूंदों की तरह दिव्य और पारदर्शी हैं किन्तु उन्हीं की तरह उनका अस्तित्व भी केवल रुचि-सम्पन्न हृदयों में ही हो सकता है (देखें, डा० शिवप्रसादसिंह कृत 'विद्यापति' पृष्ठ ३६)। हिन्दी में मुक्तक गीत-शैली के जनक होने का गौरव विद्यापति को प्राप्त है। विद्यापति पूर्णतः गीतात्मक व्यक्तित्व के पुरुष थे। संगीतमयता और अपने व्यक्तित्व को गीतों में लय करने की तन्मयता विद्यापति के नैसर्गिक गुण समझे जाते हैं।

परिशिष्ट (अ)

संदर्भ-ग्रन्थ "प्राकृत"

ग्रन्थ	लेखक
१. प्राकृत-साहित्य	डा० हरदेव बाहरी
२. प्राकृतपैगलम्	सम्पादक चन्द्रमोहन घोष
३. कुमारपालचरितम्	हेमचन्द्र
४. गाथासप्तशती	हाल
५. दीघनिकाय	सम्पादक एन० के० भागवत
६. दीघनिकाय	राहुल सांकृत्यायन-जगदीश कश्यप
७. प्रबन्ध चिन्तामणि	मेस्तुंगाचार्य

संस्कृत

१. अथर्व वेद	
२. ऋग्वेद	
३. वर्ण रत्नाकर	ज्योतिरीश्वर ठाकुर
४. अमरकशतक	अमरक
५. नैषधीयचरितम्	श्रीहर्ष
६. कालिदास-ग्रन्थावली	सम्पादक सीताराम चतुर्वेदी
७. सद्रुक्तिकर्णामृत	श्रीधरदास संकलित
८. गीतगोविन्द	जयदेव
९. उज्ज्वलनीलमणि	रूप गोस्वामी

अपभ्रंश

१. कीर्तिलता	विद्यापति
२. हिन्दी काव्य धारा	राहुल सांकृत्यायन

हिन्दी

१. हिन्दी विद्व कोष	नगेन्द्रनाथ वसु संकलित
२. बिहार का ऐतिहासिक दिग्दर्शन	जयचन्द्र विद्यालंकार-पृथ्वीसिंह मेहता
३. रागतरंगिणी	लोचन
४. अपभ्रंश साहित्य	डा० हरिवंश कोछड़
५. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	डा० नामवरसिंह
६. विद्यापति	मित्र-मजुमदार

ग्रन्थ	लेखक
७. हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
८. हिन्दी साहित्य की भूमिका	"
९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
११. विद्यापति	डा० शिवप्रसादसिंह
१२. विद्यापति	सम्पादक : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१३. सूर पूर्व ब्रज भाषा और उसका साहित्य	डा० शिवप्रसादसिंह
१४. विद्यापति की पदावली	रामवृक्ष बेनीपुरी
१५. विद्यापति	कुमुद विद्यालंकार
१६. महाकवि विद्यापति	शिवनन्दन ठाकुर
१७. रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन	डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
१८. रीति साहित्य	डा० भगीरथ मिश्र
१९. रीतिकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र
२०. ब्रजभाषा-नायिका भेद	प्रभुदयाल मीतल
२१. विद्यापति	डा० रामरतन भटनागर
२२. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा
२३. नन्ददास	डा० उमाशंकर शुक्ल
२४. विद्यापति	डा० जनार्दन मिश्र
२५. मध्यकालीन प्रेम साधना	परशुराम चतुर्वेदी
२६. संतकाव्य संग्रह	"
२७. हिन्दी-काव्य-विमर्श	डा० गुलाबराय
२८. हिन्दी-साहित्य का सुशोभ इतिहास	डा० गुलाबराय
२९. सूर-सौरभ	डा० मुन्शीराम शर्मा सोम
३०. अमरगीत-सार	रामचन्द्र शुक्ल
३१. सूर-सागर	नागरी-प्रचारिणी सभा
३२. सूर-सागर	वैकटेश्वर प्रेस
३३- सटीक तुलसी कृत रामायणम्	वैकटेश्वर प्रेस
३४. गीतावली	तुलसीदास
३५. बरवैरामायण	तुलसीदास
३६. श्रीकृष्ण गीतावली	तुलसीदास
३७. पार्वती मंगल	तुलसीदास
३८. कवितावली	तुलसीदास

ग्रन्थ

लेखक

३६. राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त-

और साहित्य

४०. गोविन्द गीतावली

४१. पद्माकर पंचामृत

४२. बिहारी की वाग्विभूति

४३. बिहारी रत्नाकर

४४. मध्यकालीन भारत

४५. राधा का क्रमिक विकास

४६. रीति-शृङ्गार

४७. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक

४८. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-

व्यंजना

४९. बिहारी

५०. मतिराम ग्रन्थावली

५१. घनानन्द ग्रन्थावली

५२. देव और बिहारी

५३. भाव-विलास

५४. रस-विलास

५५. प्रेमचन्द्रिका

डा० विजयेन्द्र स्नातक

मथुरा प्रसाद दीक्षित संकलित

पद्माकर

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

जगन्नाथदास रत्नाकर

अवधबिहारी पाण्डेय

डा० शशिभूषणदास गुप्ता

डा० नगेन्द्र सम्पादित

डा० त्रिभुवन सिंह

डा० बच्चन सिंह

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र संपादित

”

कृष्ण बिहारी मिश्र

देवदत्त

देवदत्त

देवदत्त

बंगला

१. वैष्णव पदलहरी

२. विद्यापति

३. विद्यापति

४. श्रीपद कल्पतरु

५. अप्रकाशित पद रत्नावली

दुर्गादास लाहिड़ी सम्पादित

नगेन्द्रनाथ गुप्त

खगेन्द्रनाथ मिश्र और विमानबिहारी

मजुमदार

सतीशचन्द्र राय सम्पादित

सतीशचन्द्र राय सम्पादित

अंग्रेजी

१. हिस्ट्रीऑफ मिथिला

२. मिथिला तत्त्व विमर्श

३. हिस्ट्री ऑफ तिरहुत

४. मिथिला दर्पण

५. ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर
भाग १

६. लिक्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया

डा० उपेन्द्र ठाकुर

परमेश्वर भा

श्यामनारायण सिंह

आर० एल० दास

डा० जयकान्त मिश्र

डा० प्रियर्सन

ग्रन्थ

लेखक

- | | |
|--|-------------------------------------|
| ७. ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलाग ऑफ संस्कृत मैथिली मैनुस्क्रिप्ट्स | डा० काशीप्रसाद जायसवाल |
| ८. हिस्ट्री ऑफ दि ब्रजबुलि लिटरेचर | डा० सुकुमारसेन |
| ९. ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया | डा० ईश्वरीप्रसाद |
| १०. आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट सन् १९०३-१९०४ ई० | |
| ११. चर्या गीत बौद्धगान और दोहा | डा० पी० सी० बागची और बबुआ मिश्र |
| १२. हिस्ट्री ऑफ बंगला भाग २ | सम्पादक यदुनाथ सरकार |
| १३. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग १ | डा० एम० विण्टरनिट्ज |
| १४. ऐन इण्ट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलोलोजी | डा० पी० डी० गुणे |
| १५. ओरिजिन एण्ड डैवलपमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज | डा० एस० के० चटर्जी |
| १६. ट्रीटमैंट ऑफ लव इन संस्कृत लिटरेचर | डा० एस० के० डे |
| १७. इण्डो आर्थन एण्ड हिन्दी | डा० एस० के० चटर्जी |
| १८. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर | डा० मैक्डौनल |
| १९. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर | डा० एस० के० डे और एस० एन० दास गुप्त |
| २०. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर | डा० कीथ |
| २१. साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस | डा० राकेश गुप्त |
| २२. साइंस ऑफ इमौशन्स | डा० भगवानदास |
| २३. साइकोलौजी | आर० एस० वुडवर्थ |
| २४. ऐलिमेंट्स ऑफ साइकोलौजी | मेल्लों और डुमोड |
| २५. ऐन आउटलाइन ऑफ साइकोलौजी | विलसन और मैक्डुगल |
| २६. वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजियस सिस्टम्स | डा० आर० जी० भण्डारकर |
| २७. हिस्ट्री ऑफ ऐन्शिऐण्ट इण्डिया | डा० रामशंकर त्रिपाठी |
| २८. मैथिली क्रैस्टोमैथी | डा० प्रियर्सन |
| २९. सौंस ऑफ विद्यापति | डा० सुभद्र भा |
| ३०. पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट | मनीन्द्र मोहन बोस |

ग्रन्थ

लेखक

३१. इन्प्लुएन्स ऑफ इस्लाम आन डा० ताराचन्द्र
इण्डियन कल्चर
३२. ए हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर डा० रामबाबू सक्सेना

पत्र-पत्रिकाएँ

१. दरभंगा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ।
२. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया ।
३. जर्नल ऑफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना ।
४. जर्नल ऑफ रीयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल ।
५. गंगा पुरातत्वांक, भागलपुर ।
६. साहित्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।
७. अवन्तिका, अशोक प्रेस, पटना ।
८. पटना यूनिवर्सिटी जर्नल, पटना ।
९. मुजफ्फरपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ।
१०. त्रिपथगा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ ।
११. माधुरी, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ।
१२. नई धारा, अशोक प्रेस, पटना ।
१३. जर्नल ऑफ द लेटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी ।
१४. मैथिल बन्धु विभूति-अंक, अजमेर ।
१५. सरस्वती, सरस्वती प्रेस, प्रयाग ।

परिशिष्ट (आ)

विद्यापति-सम्बद्ध अधोलिखित प्रसंगों के लिए लेखक की 'विद्यापति-चर्चा' रचना देखें—

- कृष्ण काव्य-परम्परा और विद्यापति ।
- विद्यापति के मन व उनकी कला का क्रमिक विकास ।
- विद्यापति शृङ्गारी अथवा भक्त-गत्वर व्यक्तित्व ।
- मुक्तक काव्य और विद्यापति ।
- विद्यापति में सामन्तीय शृङ्गार ।
- विद्यापति के पदों में मधुर रस ।
- विद्यापति की भाषा ।
- विद्यापति की ध्वनिवादिता ।
- विद्यापति के दृष्टकूट ।
- विद्यापति की लोक चेतना ।

वरानुक्रमशिका

नोट :—यहाँ मुद्रित अंक पृष्ठ संख्या सूचित करते हैं और संख्या के आगे लिखित 'टि' से वहाँ की 'पाद टिप्पणी' अभिप्रेत है।

अ

अकबर (१५५६ ई०) दिल्ली-सम्राट्
२१७-२२२ ।
अगहन (शरद ऋतु) मास २५६ ।
अचल मिश्र मैथिली लेखक २२५ ।
अतनु (कामदेव) २६२ ।
अथर्ववेद ८०-८२, १५७, ३५० ।
अनंग (कामदेव-कामभाव) २३५, २३७,
२६२, ३६४ ।
अनंग चाप (कामधनु) भौह-उपमान
२३६ ।
अन्तर्वेद एक प्रदेश ३६ ।
अपभ्रंश (६ठी शती ई०) जीवित भाषा
रूप ४७-४८ ।
अपभ्रंश (१०वीं शती ई०) अनेकविध
बोली रूप ४८ ।
अपभ्रंश कवि और विद्यापति ११३-
११५ ।
अपभ्रंश साहित्य शृंगार-प्रसंग ११३-
११५ ।
अप्रकाशित पदरत्नावली ब्रजबुली काव्य-
संग्रह १६६, १७०, १७१, ४७५ ।
अवध (आगरा व अवध) एक प्रदेश उत्तर
प्रदेश का २७, २६, ३०, ३२ ।
अब्दुर्रहीम (रहीम) ३०१ ।
अभिनव पल्लव नए आकर्षक पीठ-आसन
का उपमान २३६ ।
अभिनव जयदेव (विद्यापति) ४४, १०६ ।

अभिलेख पद कल्प लतिका ब्रजबुली
कविता-संग्रह ४७५ ।
अमरसिंह मिथिला शासक २२८ ।
अमरुक २६५ ।
अमरुक और विद्यापति ६५-६६ ।
अमी (अमृत) नेत्र-रस-उपमान ३७७ ।
अमृतकर ४६४ ।
अयोध्या एक नगर ३६ ।
अरविन्द (कमल) मुख-उपमान २४०,
४२६ ।
अरिमल्ल देव (१३वीं शती ई०) कर्णाट
गोत्रीय नेपाल-राजा २६, ३० ।
अरुन असोग (अरुण अशोक) रक्ताशोक
एक वृक्ष दीपक-उपमान २३६ ।
अर्जुनराय मिथिला शासक २२८, २३८ ।
अर्नेस्ट जोन्स ५०२ ।
अर्नेस्ट राइस ४३६ ।
अर्सलान (१३७१-७२ ई०) मिथिलाधिप
३६ ।
अलाउद्दीन जनी ३० ।
अलाउद्दीन मसूद शाह (१२४४ ई०)
दिल्ली सम्राट् ३१ ।
अलाहाबाद एक नगर ३४ ।
अलि (अमर) ३७४, ३७५ ।
अलिमर्दान खिलजी २८, २९ ।
अवहट्ट ४२०, ४२१ ।
अषाढ़ वर्ष का एक मास २५६ ।
अहेरी (शिकारी) नेत्र-उपमान ३७५ ।

आ

आंखी भा मैथिली लेखक २२६ ।
 आनन्द कुमार स्वामी डॉ० १४६
 ५०३ ।
 आनन्दवर्धन ध्वन्यालोककर्ता १०१, ३४६,
 ३५१, ३५२ ।
 आलम ३८०, ४०६, ४११, ४१७, ४४६ ।
 आलम्बन १२६, १६३, २५७, २६० ।
 आलमशाह (१४४४-१४५१ ई०) सैयद-
 सम्राट् ४६६ ।
 आसनी गढ़ (मनइछ) पूर्वी भारत का
 हिन्दू-दुर्ग ३८ ।
 आसिन (आश्विन) वर्ष का एक मास
 २५६ ।

इ

इस्तिथार उद्दीन मुहम्मद मु० बस्तिथार
 खिलजी का पुत्र २८, २९ ।
 इन्दु (चन्द्रमा) कान्ति नख-उपमान
 २३७ ।
 इन्दु (चन्द्रमा) मुख-उपमान २३६,
 ४२६ ।
 इन्द्रपति ११ ।
 इब्राहीमशाह शर्की ३६, ४०, ४२ ।
 इयूँलो (१४०६ ई०) चीन-सम्राट् २२६ ।
 इलियासशाह हाजी (१३४६ ई०) बिहार-
 बंग-शासक ३४, ३६ ।
 इलतुतमिश (शम्सुद्दीन) १२२५ ई०
 दिल्ली सम्राट् २९, ३० ।
 इलियास रहमनी २८ टि० ।
 इक्ष्वाकु सूर्यवंशी राजा २ ।

ई

ईश्वरी प्रसाद डॉ० ३९ टि०, ४० टि०,
 २१५ टि०-२१७ टि०, २२० ।

उ

उच्चिती मैथिली गीत-भेद २० ।

उज्ज्वलनील मणि २६२ ।

उत्तर पुराण १५२ ।

उदयन ६, १० ।

उद्दीपन १२८, १७७, १७८, २५७, २८५ ।

उद्दालक आरुणि ६ ।

उद्योतकर ६ ।

उपमान २७३-२७५, २८६, २९३ ।

उपेन्द्र ठाकुर डॉ० १ टि०, ५, २६ टि०, ३०

टि०, ३५ टि०, ४१ टि०, ४५ टि० ।

उभय भारती (मण्डन मिश्र-पत्नी) १० ।

उमापति उपाध्याय (१३२४ ई०) मैथिली

लेखक ८, १७, २२, १०६, १०७, २२४,

३४१, ४६३ ।

उमापति उपाध्याय और विद्यापति १०६,

१०७ ।

उमाशंकर शुक्ल डॉ० १७३ ।

उमेश मिश्र डॉ० ४५ टि०, २४०, २४१,

४३३ ।

ऋ

ऋग्वेद ७८, ८१, ८२, १५७, ३४४ ।

ऋतु १४२, १४४, १६७, १७६, १९४, २४२,

२४६, २४७, २८४, २८५, २८६, ३३१,

४०४, ४१८ ।

ऋतुपति (बसन्त) ऋतुराज २३७ ।

ओ

ओइनवार वंश (१३५३-१६वीं शती ई०)

ठाकुर ब्राह्मण वंश-कामेश्वर वंश, सुगौना-

राजवंश १२, २६, ४२, ४६, २२४ ।

औ

औदण्डपुर (औदण्ड बिहार) ११६६ ई०

बिहार का प्रसिद्ध बौद्धमठ २७, २९ ।

औदण्ड बिहार (औदण्डपुर बिहार) बिहार

की राजधानी ११६६ ई० बौद्धमठ २७,

२९ ।

श्रीरंगजेब यवन शासक ४०६ ।

क

कंकन (कंगन) हाथ का आभूषण २४६ ।

कज्जल (काजल) कृष्णत्व शरीर-रोम-उपमान २३७ ।

कंचन-कलश कुच-उपमान ३८० ।

कंज (कमल) नेत्र-उपमान ३७७ ।

कटारी नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७६ ।

कटोरा (बर्तन) कुच-उपमान २६७ ।

कटोरि (कटोरा) बर्तन कुच-उपमान २३७ ।

कणाद ६ ।

कथावस्तु जातक बौद्ध साहित्य १५८ ।

कदलि (कदली) एक वृक्ष जंघा-उपमान २३७ ।

कदम्ब एक वृक्ष, पुष्प ३५६, ३६६, ३६५ ।

कनक कटोरा (स्वर्ण कटोरा) कुच-उपमान २६२ ।

कनक-कदली (सुवर्ण केला-वृक्ष) कल्पित जंघा-उपमान २३५, २६० ।

कनक मुकुर (सुवर्ण दर्पण) मुख-उपमान २३७ ।

कनकलता (स्वर्णलता) कल्पित बेल देह-उपमान २६३ ।

कतक सम्भु (सुवर्ण शिव मूर्ति) शिवालिंग कुच-उपमान २६३ ।

कन्त (प्रिय) कृष्ण २५३, २५६ ।

कन्तीज (१३८६ ई०) एक नगर उत्तर प्रदेश ३८ ।

कंस (कृष्ण-मानुल) एक राजा १५४ ।

कंसनारायण ४६८ ।

कन्हाई (कृष्ण) २५३ ।

कपिल (मुनि) सांख्यदर्शन व्याख्याता ६, ६ ।

कबीर ३७१ ।

कम्बु (शंख) श्रीवा-उपमान २३७ ।

कमल (कमल कोरक-कुड्मल) पुष्प कुच-उपमान २३५, २६०, २६१ ।

कमल मुख-उपमान २३७, २३६, २५३, ३८२ ।

कमलनि (पुष्प) मृदुलता हृदय-साम्य २५३ ।

कमलनि (पुष्प) २५३ ।

करग बीज (करक-बीज—दाडिम बीज)

अनार दाना दन्त उपमान २३७ ।

करतोया एक नदी २६, २८ ।

करिनि (हथिनी) गति-उपमान ४२६ ।

करिवर (हाथी श्रेष्ठ) गति-उपमान २३७ ।

करिवर-कर (हाथी की सूँड) जंघा-उपमान २३७ ।

करि-रद-चुरि हाथी के दाँत की चूड़ी हाथ का आभूषण २६५ ।

करील (वृक्ष झाड़ी) ३७६ ।

करश (चम्पारन) वर्तमान जिला चम्पारन बिहार ३५, ३६ ।

कर्णाट वंश (सिमराँव वंश) नान्यदेव संस्थापित १०६७-६८ ई० २६, ३१, ३३, ४५ ।

कल्पतरु (कल्पतरु) देव-वृक्ष २३७ ।

कलश (घट) कुच-उपमान ३८० ।

कवि शेखर ४६६, ४६७ ।

क्षणदागीत चिन्तामणि ब्रजबुली-कविता-संग्रह ४७४, ४७७ ।

क्षेमेन्द्र दशावतार चरितकर्ता ३५२ ।

काक (कौवा) पक्षी २५३, २५८ ।

काच बदरि (बेर का फल) कच्चा बेर कुच-उपमान २४५ ।

काजर (काजल) मलिन देह-कान्ति-उपमान २३६ ।

काजर-धनू (काम धनुष) भौह-उपमान २४२ ।

काठमाण्डू (नेपालगत) एक नगर ३४ ।

कातिक वर्ष का एक मास २५६ ।

कान (कान्ह-कृष्ण-कानु) २४६, २४६-

५१ ।
 कान्ह (कान्ह-कृष्ण) २३६, २४२, २४७,
 २५२, ४०६ ।
 कान्हु (कान्ह-कृष्ण) ७४ ।
 काम (शृंगार देवता) २३६ ।
 कामरूप आसाम का एक प्रान्त २६, ३० ।
 कामसूत्र वात्स्यायन कृत ४७८, ४७९ ।
 कामेश्वर ठाकुर (१३५४ ई०) तिरहुत-
 सामन्त नृपति ११, ३३, ३६, ४६, २२८ ।
 कामेश्वर वंश (ओइनवार वंश) मिथिला
 का एक राजवंश ७, ११, २२८ ।
 कारा (कारागार) हृदयरूपी कारा २४८ ।
 कालिदास ६३, १३७, २३१, ४३७ ।
 कालिन्दी (यमुना) एक नदी २६३ ।
 काशी प्रसाद जायसवाल डॉ० १४ टि,
 १६ टि०, २२ टि०, ३५ टि०, २२७
 टि०, ४७२ ।
 किवलनुमा (दिशा सूचक यन्त्र) नेत्र-
 उपमान ३७६ ।
 किलकिला नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७९ ।
 किसलय (पत्ता) हथेली-उपमान २४० ।
 कीथ डॉ० ८६, ११६ टि० ।
 कीर (तोता) नासिका-उपमान २६३ ।
 कीर्तिपताका ४२, ५२, १२१, १३६,
 ३५३, ५०० ।
 कीर्तिलता ८, ३६, ३७, ३९, ४२, ५२,
 ५५, ५७, ६४, १०६, १२१, २१३,
 २३३, ४२०-२३, ४६६-४६८, ५०० ।
 कीर्तिसिंह (१४०२ ई०) मिथिलाधिप
 ३६, ४०-४३, २३३, ४७३ ।
 कुंज (कुंजवन) वृक्ष-लता युक्त विश्रान्ति
 स्थल २४६, ३६८ ।
 कुण्डल कर्णभूषण ३७४, ३६६ ।
 कुतुबुद्दीन ऐबक २७, २८ ।
 कुंद (श्वेत पुष्प) माघ में खिलने वाला
 २३५, २३७ ।
 कुब्जा (कुब्जा) मथुरास्थ कृष्ण की दासी

२५२, २५८ ।
 कुमकुम (केसर-सुगन्धित पदार्थ) कुंकुम
 २३७, २४५ ।
 कुमुद (रात्रि-कमल) २५३ ।
 कुमुद निधि (चन्द्रमा) २६१ ।
 कुमारपाल प्रतिबोध सोमप्रभाचार्यकृत
 ११४ ।
 कुमारिल (भट्ट) ६, ९ ।
 कुमार स्वामी आनन्द डॉ० १४६, ५०३ ।
 कुम्भ (गजकुम्भ) कुच-उपमान ३८० ।
 कुशी एक प्रदेश ३६ ।
 कुही पक्षी नेत्र-उपमान ३७६ ।
 कुही पक्षी नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७९ ।
 कुहु तिथि राति अमावस्या की रात
 २४२ ।
 कूटनि (कुट्टिनी) दूती सूचना देने वाली
 चतुरा स्त्री २३४ ।
 कृति जनक वंश का अन्तिम राजा ५ ।
 कृष्ण (पुरुष) ३११ ।
 कृष्ण (गोविन्द) १५०, १५१, १५८,
 २६६, ४०६ ।
 कृष्णदत्तोपाध्याय मैथिली लेखक २२५ ।
 केचुआँ (कंचुकी) स्त्री-उपरि-वस्त्र २५६ ।
 केतकि धूल (केतकी फूल का पराग)
 रेशमी वस्त्र-मांगलिक सूत्र साम्य
 २३६ ।
 केनोपनिषद् ३५० ।
 के० पी० जायसवाल ४७२ ।
 के० एम० मुन्शी ३४३ टि० ।
 के० आर० कानूनगो २७, २९ ।
 केली (केलि) क्रीड़ा-छेड़छाड़ २३५, २३७,
 २४५, २४७, ३६४ ।
 केसु (पलाश पुष्प) नखक्षत-उपमान २३७ ।
 केसु अग्नि-उपमान २३७ ।
 केसु कुसुम (पलाश पुष्प) सिन्दूर-सम
 २३६ ।
 केशवदास १२६, १४१, २७६, २८४,

३७४, ४६१ ।
 केशव मिश्र १३, १६ ।
 कोइली (कोकिल) पक्षी २३६ ।
 कोकिल (कोयल) पक्षी कण्ठध्वनि-उपमान
 २३५, २३६, २३६, २५६, ३६६,
 ४१८ ।
 कौशिक (मुनि) ६ ।
 कौशिकी (कोसी) एक नदी ३, ४, २७ ।

ख

खगवर (खंजन) पक्षी श्रेष्ठ नेत्र-उपमान
 २६१ ।
 खंजन पक्षी नेत्र उपमान २३७, २४०,
 २६३, ३७७ ।
 ख्वाजा जहाँ सरवर मलिक उस शर्क
 शर्की वंश प्रतिष्ठाता ३८, ३९, ४१ ।

ग

गजकुम्भ कुच-उपमान ३८० ।
 गजकुम्भा (गजकुम्भ) गज मस्तक औन्नत्य-
 विस्तृति नितम्ब-उपमान २३७ ।
 गजमुकुताहार (गजमोतीहार) गले का
 आभूषण २६३, २६७ ।
 गजमोतिहार (गजमुक्ताहार) गले का
 आभूषण २५६, २६३ ।
 गजराज गति-उपमान २३४, २६० ।
 गजसिंह ४६५ ।
 गढ़ बिसपी (बिसपी) विद्यापति का ग्राम
 ४४, २२७ ।
 गणेश (गणेश्वर) १३७१-७२ ई० मिथिला
 शासक ३६, ३७, ४०, ४४, २२७ ।
 गणेश्वर (१४वीं शती ई०) ११, १३ ।
 गणेश्वर (अपर) मैथिली लेखक २२४ ।
 गण्डक (गण्डकी) बूढ़ी गण्डक एक नदी
 ३, ४, २७, ३४ ।
 गण्डकी (सदानीरा) गण्डक-एक नदी १,
 ३, ५, ६, २७ ।

गदाधर भा ११ ।
 गयासुद्दीन तुगलक (१३२० ई०) ११,
 १२, ३०, ३३, ३४, ३८, २२६ ।
 गरुड चंचु नासिका-उपमान २३७ ।
 ग्यासदीन महलम जुगपति (गियासुद्दीन
 आजमशाह १३८६-१४०६ ई० बंगाल-
 शासक २२६, २३२, २३५ ।
 ग्रहेश्वर मिश्र ८ ।
 ग्वाल १२६, १३७, १४१, ३७६, ४६१ ।
 गंग (गंगा नदी) नेत्र-प्रभा-उपमान ३७७ ।
 गंगा एक नदी १, ४, ५, २७-२९, २६६,
 २६८, ३४८ ।
 गंगापद तरंगिणी ब्रजबुली-कविता-संग्रह
 ४७५ ।
 गंगानाथ भा सर २१, २२ ।
 गंगावाक्यावली विद्यापति-ग्रन्थ २२८,
 २३३ ।
 गंगेश (उपाध्याय) ८, १० ।
 गाथा सप्तशती ३४९, ३५६ ।
 गार्गी (विदुषी) ६ ।
 गाहा सतसई और विद्यापति १०८-११२ ।
 गिधनि (गृध्र-पत्नी) श्रवण-उपमान २३७ ।
 गियासुद्दीन उवज खिलजी (१२११-१२२६
 ई०) २७, २९, ३० ।
 गिरि (पर्वत) कुच-उपमान २३७, ३८० ।
 गिरिधर (कृष्ण) २५३ ।
 गिरिवर (पहाड़) हिमालय कुच-उपमान
 २६३ ।
 ग्रियर्सन जार्ज डॉ० ३५ टि०, ६२, १०७
 टि०, १४६, २२६, ४२३, ४२४, ४७४,
 ५०३ ।
 गीत गोविन्द जयदेव कृत १८, १०२,
 ११७, १५७, २७७, ३६३, ४७६,
 ४८१ ।
 गुलाब ३८४ ।
 गुलाम हुसेन सलीम मुसलमान लेखक २८,
 ३१ ।

गोकुल ब्रज प्रदेश का एक ग्राम (ब्रज)

१४६, २५३, २५७, ४०६ ।

गोकुल-नायक (कृष्ण) २६३ ।

गोनू भा (दरभंगा) मैथिली हास्य लेखक
२२५ ।

गोपाल (कृष्ण) १५३, ३६३ ।

गोपाल नायक एक संगीतज्ञ कवि १५६ ।

गोपी (ब्रजनारी) २५८, २६३ ।

गोरखपुर वर्तमान एक जिला उत्तर प्रदेश
३४, ३५, ३६, ४५ ।

गोरस (इन्द्रिय-सुख) ३६६ ।

गोरस (दधि) ३६६ ।

गोरा (पार्वती) शिव-पत्नी २६७ ।

गोवर्धनाचार्य ८, १०, ६६ ।

गोवर्धनाचार्य और विद्यापति ६६, १०० ।

गोविन्द (कृष्ण) १४६ ।

गोविन्द गीतावली गोविन्ददास कृत १६२,
१६७ ।

गोविन्ददास (भा) १३, १५०, १६१-
१६६, २२४, ४३८, ४७१, ४७३,
४७५ ।

गोविन्द ठाकुर १३, ४७३ ।

गोविन्द मिश्र मैथिली लेखक २२५ ।

गोसाउनिक गीत मैथिली गीत-भेद २०,
२१ ।

गौआलरी मैथिली गीत-भेद १६ ।

गौतम (अक्षपाद) न्याय-वैशेषिक, जनक
के पुरोहित २, ६, ६ ।

गौतम रङ्गण ६ ।

गौतम शतानन्द ६ ।

गौर (शिव-पत्नी) २६७ ।

घ

घन आनन्द (घनानन्द) २८६, २६५,
३७६, ३८७, ४१०-४१८, ४५० ।

च

चक्रवा (चक्रवाक) पक्षी २५६ ।

चक्रवाक दम्पति ३३४ ।

चकेवा (चक्रवाक) उत्फुल्ल रहने वाला
पक्षी कुच-उपमान २४२, ३८० ।

चकेवा जोर (चक्रवाक दम्पति) आदर्श
प्रेमी-प्रेमिका २५१ ।

चकोर चन्द्रानुरागी एक पक्षी लोचन-
उपमान २३७, २३८, २४५, २६२,
३७४, ३७७ ।

चंगेज खाँ (१२४४ ई०) ३१ ।

चण्डीदास १५४, १६८, २२६, २४३,
३४२, ४३८ ।

चण्डेश्वर ठाकुर मैथिल विद्वान् राजनीति
रत्नाकरकर्ता ८, ११, ३३, ४३ ।

चतुर चतुर्भुज ४६७ ।

चतुर्वेदी परशुराम १२४ टि०, १३०,
१५६ टि०, १५७ टि०, ४८१ ।

चतुर्वेदी राजेश्वर प्रसाद डॉ० ४८२ ।

चनन (चन्दन) शीतलताशायक वाण्ट
२५६ ।

चन्दन एक वृक्ष २५३ ।

चन्द (चन्द्रमा) चन्द्र २४६, २५१ ।

चन्द चन्द्रमा मुख-उपमान २४०, ३७५,
३८२ ।

चन्द (चन्दवरदाई) पृथ्विराजरासो-कर्ता
२४४ ।

चन्द कवि ब्रजबुली-कवि ४७७ ।

चन्द्रकला विद्यापति पुत्र-वधु १४, ४६४ ।

चन्द्रगुप्त मौर्य ३४५ ।

चन्द्रसिंह नरसिंह-पुत्र मिथिला-शासक
२२८ ।

चन्दनकर गाछे (चन्दन वृक्ष) सुगन्धित
पेड़ २३४ ।

चन्दा भा २२७ टि०, ४६४, ४७१ ।

चमरि (एक मृग) उसकी पूँछ, केश-पाश-
उपमान २३६ ।

चम्पारन (चम्पारण्य-कहश) एक जिला
२-५, ३१, ३४, ३५, ४५ ।

चम्पतिराय ब्रजबुली कवि ४७७ ।
 चर्यपद (चर्या) १४, १८, २४, ११७,
 ११६ ।
 चातक ३७४, ४१८ ।
 चान (चाँद) २५६, २६७ ।
 चानन (चन्दन) शीतलतादायक काष्ठ-लेप
 २३६, २६७ ।
 चाँद (चन्द्रमा) मुख-उपमान २३८, २४५,
 २५३ ।
 चाँदक माला (चन्द्रपङ्क्ति) नख-उपमान
 २६३ ।
 चाँदकरेख (तिरछा चाँद) अर्ध वर्तुल
 चन्द्ररेखा वक्र भौह-उपमान २४५ ।
 चाँद-सार मुख-घटक २६२, २६५ ।
 चाप (धनुष) युद्ध-साधन २६६ ।
 चामर शिरः केश-उपमान २६७ ।
 चिन्तामणि (मणि) अभीष्टदाता बहुमूल्य
 पत्थर—हीरे का एक भेद २५३ ।
 चितामणि २७६ ।
 चित्रधरोपाध्याय मैथिली लेखक २२५ ।
 चेतनाथ झा ४६३, ४७१ ।
 चैत (चैत्र) वर्ष का एक मास २५६ ।
 चैत या चैतावर मैथिली गीत-भेद २० ।
 चैतन्य (महाप्रभु) १४८५ ई०, १५८,
 २०६, ३४२, ४७४, ४७६, ४७७,
 ४६३ ।
 चैतन्य चरितामृत ३६१ ।
 चोर (तस्कर) निभृतकार्य, गुप्त-गतिविधि
 लोचन-नेत्र-उपमान २४५ ।
 चौदसि चाँद (कृष्णपक्ष चतुर्दशी चन्द्रमा)
 अत्यन्त क्षीण विरहिणी देह-उपमान
 २३६ ।

छ

छान्दोग्य उपनिषद् १५७, ३४४ ।
 छुरी नेत्र कटाक्ष-उपमान ३७६ ।

ज

जगज्ज्योतिर्मल्ल (१६१३-१६३३ ई०)
 नेपाल शासक ४६३, ४७२ ।
 जगन्नाथ पण्डितराज २७६, ४३२ ।
 जगन्नाथदास रत्नाकर ३५५ ।
 जगत्प्रकाशमल्ल या चन्द्रशेखरसिंह
 (१६५५-१६७६ ई०) नेपाल सम्राट्
 ४७२ ।
 जनक (विदेह) ६, ७, ६ ।
 जनक (मिथि-निमि-पुत्र; वैदेह-मिथिल)
 मिथिलाधिपति २ ।
 जनक वंश मिथिला का प्रसिद्ध राजवंश
 २, ५ ।
 जनार्दन (कृष्ण) १४वीं शती ई० एक
 देवता १५४ ।
 जनार्दन मिश्र डॉ० १४६, ५०३ ।
 जफर शाहजादा (१३२१ ई०) गयासुद्दीन
 तुगलक का बेटा ३८ ।
 जफराबाद (मनइछ) (१३२१ ई०) पूर्वी
 भारत का हिन्दू-दुर्ग ३८ ।
 जमुना एक नदी २५२, ३७७, ४०७ ।
 जयकान्त मिश्र डॉ० १७, २४ टि०, ४७ टि०,
 ३५३, ४४०, ४६३, ४६६, ४६६, ४७८ ।
 जयचन्द्र विद्यालंकार ५, ४४ टि०, ४६ टि० ।
 जयट शिवसिंह-नियुक्त विद्यापति-पदो-
 द्गायक ४७३ ।
 जयदेव गीतगोविन्दकार (११२० ई०)
 १४, १८, ६६, १००, ३४१, ४३१,
 ४७६ ।
 जयदेव (पक्षधर मिश्र) १२ ।
 जयदेव और विद्यापति १००-१०६ ।
 जयस्थिति (मल्ल) १३८२ ई० हरिसिंह-
 देव के वंशधर नेपाल-राजा ४५ ।
 जयादित्य ११ ।
 जलधर (मेघ) शिरः केश-उपमान २३७ ।
 जलधर (मेघ) २३८ ।

ज्ञानदास १६८, १७२, ३४२, ४३८,
४७५ ।

ज्योतिरीश्वर (ठाकुर) ८, ११, १४, ३३,
५२, ५३ ।

जाजनगर (उड़ीसा प्रान्त) एक नगर ३०,
३८ ।

जानकी २६८ ।

जानकी वल्लभ शास्त्री १०४ ।

जायसवाल के० पी० डॉ० १६ टि०,
४७२ ।

जितामृत (१६८०-१६९० ई०) नेपाल
शासक ४७२ ।

जीन पॉल ३६३ ।

जीवनाथ ४६८ ।

जूनापुर (जोनपुर) एक नगर ३८ ।

जेठ (ज्येष्ठ) वर्ष का एक मास २५६ ।

जैमिनी (मीमांसाकार) ६ ।

जोग मैथिली गीत-भेद २० ।

जोनपुर (यवनपुर) जूनापुर १३५६ ई०
एक नगर उत्तर प्रदेश ८, ३६-४२,
२२६ ।

जोनपुर (१४०८ ई०) पूर्वी भारत का
प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र ३६, ४० ।

जोनपुर (पूर्वी भारत का प्रसिद्ध कला-
केन्द्र) ४० ।

ठ

ठाकुर २६५, ३७६, ३७६, ४०६-४११,
४१३, ४१५, ४१६, ४५० ।

ड

डमरु (डामरु) शिव-वाद्य मध्य में क्षीण
कमर-उपमान २३७, २७८ ।

ढ

ढोल युद्धवाद्य २६६ ।

त

तड़ित (विद्युत्) देह-कागति-उपमान २३७ ।

तड़ितलता (बिजली की रेखा) देह-उप-
मान २६२ ।

तमाल (तमाला) एक वृक्ष २६३, ३६६ ।

तरवारि (तलवार) युद्ध-साधन २६६ ।

तरुन तमाला (पुष्ट तमाल वृक्ष कृष्ण वर्ण
का) देह-उपमान २६३, ३६६ ।

तरंगिनि (तरंगिणी) लहरों वाली नदी
त्रिबलि-उपमान २३७ ।

तलवार नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७६ ।

तक्षशिला एक नगर ३४५ ।

ताजपुर एक प्रदेश ३० ।

ताजुद्दीन अर्सलान खाँ १२६५ ई० बिहार-
लखनौती-शासक ३२ ।

तातार खाँ (१३वीं शती ई०) बिहार-
शासक ३२ ।

तारा (नक्षत्र) २४७, २५० ।

ताराचन्द डॉ० २०६ टि०, २१० टि०,
२१३ टि० ।

ताल (ताड़फल) कुच-उपमान २३७ ।

तिमिर (अन्धकार) २३८ ।

तिमिर (अन्धकार) शिर-केश उपमान
२४५ ।

तिरहुत (मिथिला) ३५, ३६ ।

तिरहुति सर्वप्रमुख मैथिली-गीत-भेद १६ ।

तिलफूल तिल का फूल नासिका-उपमान
२३७ ।

तीरभुक्ति, तिरहुत दरभंगा ८वीं शती
ई०; तुगलकपुर बिहार २-४, २७, २६,
३१-३५, ४१, ४३ ।

तुगलकपुर (तिरहुत) दरभंगा बिहार
३३, ३६ ।

तुघरल खाँ (तुघरल तुघान) ३१ ।

तुघरल तुघान (तुघरल खाँ १२३६-
१२४२ ई०) इल्तुतमिश का सामन्त
नृपति बिहार का ३१ ।

तुरय (तुरंग) घोड़ा युद्ध-साधन २६६ ।
तुर्क (मध्य एशिया की एक जाति १३७० ई०) ४० ।
तुलसीदास १२६, १३२, १८२-१८६, ४३५, ४६३ ।
तेज नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७६ ।
तैमूर (१३६८ ई०) तुर्क-नेता, दिल्ली-आक्रान्ता ४०, ४१ ।
तोषनिधि ३८७, ४००, ४४५ ।

द

दण्ड इक्ष्वाकु-पुत्र २ ।
दण्डी २८८ ।
दम्पति (पति-पत्नी) २४६ ।
दरगी नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७६ ।
दरभंगा (दर-बंग) तुगलकपुर वर्तमान एक जिला तिरहुत-प्रदेश २, ५, २७, ३३ ।
दर्पनारायण हरिसिंह-पुत्र मिथिला शासक २२८ ।
दशावधान ठाकुर (नरपति) ४६६ ।
दाड़िमबिजु (अनार के दाने) दशन (दाँत) उपमान २३५, २३७ ।
दाड़िम बीज (अनारदाना) कान्ति नख-उपमान २३७ ।
दादुल (दादुर) मेंढक एक जीव २५६ ।
दान वाक्यावली विद्यापति-ग्रन्थ २२८ ।
दामोदर मैथिली लेखक ११ ।
दामोदर राय मिथिला शासक २३२ ।
दामोदर शर्मा (१२वीं शती ई०) युक्ति-व्यक्तिप्रकरणकर्ता ५३ ।
दाम्पत्य रति विद्यापति का मुख्य विषय ३५३, ३७१-३७३, ५०२, ५०६ ।
दालिब (दाड़िम बीज) अनारदाना दशन-उपमान २३६ ।
दिनेशचन्द्र सेन डॉ० २४३, २५४, २७२ ।
द्विजदेव ३८४, ४५७ ।

दीघवारा (दीर्घद्वार) विशाल देश का एक प्रदेश २ ।
दीन दयालु गुप्त डा० १७३ ।
दीनबन्धु भा ७ ।
दीर्घद्वार (दीघवारा) विशाल देश का एक प्रदेश २ ।
दुरजन (दुर्जन) अरसिक-कुष्ट-अभिन्न २५० ।
दुर्गा (शक्ति) देवता २६७ ।
दुर्गा भक्ति तरंगिणी विद्यापति-ग्रन्थ २२८ ।
दूती नायक-नायिका की संदेशवाहिका (दूति) २४६, २४७, २४६, २८० ।
दृष्टकूट (प्रहेलिका पद) कूटपद-कूट २३५, २४४, २५३, २६६, ३१४ ।
दूलह ३२८ ।
देवदत्त १२६, २७६, २६०-२६१, २६६, २६६, ३००, ३२३, ३३७, ३७५-३७७, ३८०-८३, ३८५, ३८६, ३८८, ३८६, ३६१-६५, ३६८, ३६६, ४०३, ४०७, ४१८, ४४५-४७, ४४६, ४५३, ४५४, ४५६ ।

देवनाथ मैथिली लेखक २२४ ।
देवल देवि मिथिला-शासिका २६६ ।
देवसिंह (१४१० ई०) कीर्तिसिंह के चचा मिथिलाधिप ४३, २२८, २३२, २३५, २६६ ।

ध

धनु (कामधनु) झूलता-भौंह-उपमान २३७ ।
धनपति उपाध्याय ११ ।
धनंजय दशरूपककार ३५२, ३८४ ।
धर्मव्याघ्र ६ ।
धवल कमल फूल (कोकनद-श्वेत कमल) मंगल-कलश-उपमान २३६ ।
धीरमती नरसिंह दर्पनारायण-पत्नी

मिथिला शासिका २२८ ।

धीरसिंह (हृदय नारायण) मिथिला शासक
४६ ।

धीरसिंह नरसिंह पुत्र मिथिला शासक

२२८, २२९ ।

धीरेन्द्र वर्मा डॉ० ४८, १५१ ।

न

नख-शिख (शिख-नख) १३७, १४१,

१५९, १७०, १८६, २०३, २४१,

२६०, २८३, ३०५-३१८ ।

नगेन्द्र (डा०, आचार्य) ८६ टि०, २८८,

२९०, २९५, २९६, २९७ टि०, २९८ ।

नगेन्द्रनाथ गुप्त ३३२, ३३३, ४२०,

४६२, ४७० ।

नगेन्द्रनाथ वसु सम्पादक हिन्दी विश्व
कोष १, ८६ ।

नचारी मैथिली गीत-भेद २०, २१ ।

नथूनी नासिका-आभूषण ३७६ ।

नदिया (नवद्वीप १३वीं शती ई०) बंगाल
का प्रसिद्ध नगर २७ ।

नन्दकिसोर (कृष्ण) २५६ ।

नन्ददास १२९, १३४, १७२-१८२ ।

नन्ददास पदावली १७६ ।

नन्दीपति मैथिली गीतकार १९ ।

नयनन्दी अपभ्रंश कवि ११३, ११४ ।

नरपति (दशवधान ठाकुर-विद्यापति-पुत्र
छोटा) ४६६ ।

नरपति झा (तरौनी दरभंगा) मैथिली
लेखक, राघवसिंह सभारतन २२५ ।

नरपति ठाकुर (१६७३-१६९० ई०)
मिथिला शासक ४७० ।

नरसिंह (१५वीं शती ई०) दर्पनारायण
मिथिला शासक ४६, २२८, २२९ ।

नरसिंह देव उड़ीसा नरेश ४७७ ।

नरसिंह देव (१२१३-१२२७ ई०) मिथिला
शासक २९, ३१ ।

नरहरि उपाध्याय मैथिली लेखक २२४ ।

नरेन्द्रनाथदास ३०३ टि०, ३०५, ४३५,
४६४ ।

नरोत्तमदास ४७५ ।

नलनि (कमलिनी-कुमुदनी) एक पुष्प नेत्र-
उपमान २३७, २५३, २६१ ।

नवद्वीप (नदिया) १३वीं शती बंगाल का
प्रसिद्ध नगर २७ ।

नसरत खाँ (१३९४ ई०) दिल्ली का
यवन शासक ४०, ४१ ।

नसीबुद्दीन (१३२० ई०) दिल्ली सम्राट्
इल्तुतमिश का बेटा ३०-३१ ।

न्यासदत्त १० ।

नागर (रसिक) शिवसिंह लखिमादेईवर,
रसिकवर २५१, ३७५ ।

नागर (नाम्र-नाह-कृष्ण) रति-विशारद
सहृदय नागरिक-रसवन्त २४५, २४६,

२५१, २५६, ४३१ ।

नागर-राज (कृष्ण) नागर-कृष्ण २४७,
२४९, २५०, २६६, ३६९ ।

नागरि (नागरी) सहृदय-रसिका, रस-
वन्ती-राधा २४६, २४९, २५६ ।

नागिनि (सर्पिणी) हार-उपमान २४८ ।

नाभादास भक्तमालकर्ता ३७० ।

नाममाला नन्ददास कृत १७६ ।

नामवर सिंह डॉ० ७१, ७३ टि० ।

नारद २७९ ।

नारायण (विष्णु) १४वीं शती ई०—एक
देवता १५४ ।

नायक १२६, १३३, १३६, १३९, १७७,
१९३, २०३, २३४, २५९, २६४, २७९,

२९४, २९७, ३५५ ।

नायिका १२६, १३३, १३६, १३९, १७७,
१८१, २०३, २३४, २५९, २६२,

२६४, २७९, २९४, २९७, ३५५ ।

नायिका भेद १२६, १३४, १३६ १५७,
१५९, १६७, १६८, १७३, १८०, २३४,

२४५-५८, २७६, २६७, ३५६ ।
 नाल (मृणाल) कमल डण्डी हाथ-उपमान
 २६१ ।
 नासिरुद्दीन बघरा खाँ (१२८६ ई०) बल-
 बन-पुत्र दिल्ली सम्राट् ३२ ।
 नान्यदेव (१०८६-११३३ ई०) क्षत्रिय
 कर्णाट वंश संस्थापक ५, १४, २६ ।
 निमि (मिथिलाधिपति जनक के आदि
 पुरुष) इक्ष्वाकु-पुत्र-निमिष, जनक
 (मिथि) के पिता २ ।
 निमिष (निमि) मिथि-जनक के पिता २ ।
 निम्बार्क (११५० ई०) २०६, ३४६,
 ३५० ।
 निसाचर (निशाचर) दुष्टजन-राक्षस
 २४६ ।
 निसान युद्ध-वाद्य २६६ ।
 निसिग्रर (निशिचर) दुष्टजन-राक्षस
 २३८, ४२६ ।
 नूतुरे (नूपुर) बिछुआ-पैर की अंगुलियों
 का आभूषण २४६ ।
 नृप मल्लदेव ४७२ ।
 नेपाल एक प्रान्त ४५, ४७ ।
 नेमिनाथ चउपड विनयचन्द्र सूरी कृत
 १४२ ।

प

पंकज (कमल) फूल नेत्र-उपमान २३८,
 २६३, ४२६ ।
 पंकज (स्थल कमल) हाथ-पैर-उपमान
 फूल २३७ ।
 पंचबाने (पंचबाण-कामदेव-पंचवान)
 शृंगार देवता २३५, २३७, २४०,
 २४२, २४५, २५६ ।
 पंचसर (पंचशर) कामदेव २३८ ।
 पंचतन्त्र ३५२ ।
 पंचम कोकिल-स्वर २५६, २५७ ।

पंचमरागे (पंचम स्वर) कोकिल का मधुर
 स्वर २३६ ।
 पंजाब एक प्रान्त ३२ ।
 पतंजलि ८७ ।
 पदकल्पतरु बंगला-ब्रजबुली-कविता-संग्रह
 १६१-१६४, १६८, १७१, १७२,
 ४७५ ।
 पदरत्नाकर ब्रजबुली-कविता-संग्रह
 ४७५ ।
 पदरससार ब्रजबुली-कविता-संग्रह ४७५ ।
 पदादि (पदाति) पैदल सैनिक युद्ध-साधन
 २६६ ।
 पदामृत समुद्र बंगला-ब्रजबुली-कविता-
 संग्रह १६२, १६८, ४७४ ।
 पद्म कुमार (कृष्ण) २३४ ।
 पद्मनाभ ११ ।
 पद्मनाभ मिश्र १७वीं शती मैथिली लेखक
 २२५ ।
 पद्मसिंह शिवसिंह के भाई, मिथिला शासक
 ४६, २२८, २२९, २३३ ।
 पद्मा एक नदी २८ ।
 पद्माकर १२६, १४०, २६८, २७६,
 २८३, २६६, २६९, ३००, ३२२,
 ३२३, ३२५, ३२७, ३२८,
 ३७६-८१, ३८४, ३८५, ३६२, ३६३,
 ३६६-६८, ४००-०२, ४०४, ४१४,
 ४१८, ४४६, ४४७, ४४६, ४५४,
 ४५६, ४८१ ।
 पद्मादेइ भोगीश्वर-पत्नी मिथिला शासिका
 २६६ ।
 पपिहरा (पपीहा) एक पक्षी २५६, ४१८ ।
 पयोधर (मेघ) २४७ ।
 पयोधर (नारी-स्तन) कुच २४८, २५३ ।
 परमेश्वर भ्रा ३ टि०, ४ टि०, ५, ४५ ।
 परकीया (नायिका भेद) १५७, १५८,
 १७४, १७५, ३४२, ३४६, ४०४ ।

परशुराम चतुर्वेदी १२४ टि०, १३०, १५६ टि०, १५७ टि०, ४८१ ।

परसमनि (पारस पत्थर) बहुमूल्य पदार्थ २५८ ।

परिमल (पुष्प-गन्ध) २३७ ।

रत्नवराज (कमल) चरण उपमान २३५, २६० ।

पवारे (प्रवाल) मूंगा अधर-उपमान २३७ ।

पहु (प्रभु) कन्त-कृष्ण २४२, २५०, २५८ ।

पहु (प्रभु कृष्ण) पौराणिक रूढ़ शब्द २३४ ।

पक्षधर मिश्र (जयदेव) १२ ।

प्रकृति १७६, २५७ ।

प्रताप मल्लदेव नेपाल-नरेश २२४ ।

प्रताप रुद्रदेव (१५०४-१५३२ ई०) उड़ीसा नरेश ४७६, ४७७ ।

प्रतापसिंह मिथिला शासक २२५ ।

पी० सी० बागची डॉ० ४६३, ४७२ ।

प्रबन्ध चिन्तामणि मेरुतुंगाचार्यकृत १५३ ।

प्रभु (कृष्ण-पहु) १५२, २३४ ।

प्रवाल (पवारे) अधर-उपमान २३७ ।

प्रहेलिका पद (दृष्ट-कूट) २३५, २४४, २५३, २६६, ३१४ ।

पी० डी० गुणे डॉ० ६८, २०६ ।

पी० वी० काणे डॉ० २८८ ।

पाणिनि ७, ८३ ।

पाथर (पत्थर) काठिन्त कुच रूप पाथर २४८ ।

पार्थ सारथि मिश्र ११ ।

प्राकृत (६ठी शती ई०) मृत भाषा-रूप ४७ ।

प्राकृत कवि और विद्यापति १०८-११२ ।

प्राकृत पैगलम् २२, १५३-१५४, १५५, ४२२ ।

प्राकृत-साहित्य शृङ्गार-प्रसंग १०८-११२ ।

प्राचीन ब्रजभाषा १५८ ।

पिक (कोकिल) पक्षी २५६, ४२६ ।

पिकु (पिक) कोकिल वाणी-उपमान २३७ ।

पिय (प्रियतम कृष्ण) २५१, २५३ ।

पिया (बालक पति) २७८ ।

पिया (प्रियतम-कृष्ण) २५१, २५३, २५६, २५७ ।

पीताम्बरदत्त बड़थवाल डॉ० ३४५ ।

पुनिम तिथि पूर्णिमा की रात २४५ ।

पुरादित्य (१४१६ ई०) सप्तरी (नेपाल) शासक विद्यापति के शरणदाता ४५ ।

पुरुष परीक्षा विद्यापति ग्रन्थ ६, ४४, १२०, १२१, २१३, २२७, २२८, २३३ ।

पुरुषोत्तमदेव (१२वीं शती) ३ ।

पुष्पदन्त अपभ्रंश कवि १५२, ३४६, ४६८ ।

पुनिया वर्तमान एक जिला बिहार ५, ३० ।

पूस (पौष) वर्ष का एक मास २५६ ।

पृथ्वीधर आचार्य ११ ।

पृथ्वीसिंह मेहता ५, ४४, ४६ ।

प्रमनिधि ठाकुर मैथिली लेखक २२५ ।

पौतिकमाल (नील मणि माला) गले का आभूषण २६५ ।

पौराणिक रूढ़ शब्द २३४, ३४० ।

फ

फनिमनि (सर्प मणि) २४७ ।

फर्कुहार ४८२ ।

फागुन (बसन्त ऋतु) वर्ष या एक मास २५६ ।

फायड ५०१ ।

फीरोज तुगलक (१३५१-८१ ई०) दिल्ली सम्राट् ३५, ३६, ३७ ।

फलबन्धु (पुष्पधन्वा) कामदेव २४६ ।

फेरबि (श्रृगाली) गीदड़ी २६६।

ब

बख्तियार मुहम्मद खिलजी (११६६ ई०)

२७, ४२१।

बंग (सोनार गाँव) बंगाल प्रान्त २८, २९,
३०, ३३।

बचत्तसिंह डॉ० ३८२ टि०, ३९०, ३९१,
४०८ टि०, ४११ टि०, ४५७।

बटगमनी मैथिली गीत-भेद १६।

बड़वानल (समुद्राग्नि) विरहाग्नि-साम्य
२५३।

बदरीनाथोपाध्याय मैथिली लेखक खोखा
ग्राम पूर्णिया जिला २२५।

बदायूँ एक जिला उत्तर प्रदेश ३१, ४२।

बनमारि (वनमाली-कृष्ण) ७४, ३९८।

बन्दूक नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७६।

बन्धु (बन्धुक पुष्प) मधुरी, दुपहरिया
फूल, अघर-उपमान २३६, २४२।

बरछी एक शस्त्र नेत्र-कटाक्ष-उपमान
३७६।

बरद (बैल) नन्दी शिव-वाहन २७८।

बरिसात (वर्षा ऋतु) विरहिणी-नेत्र-साम्य
२५६।

बर्गसन ५०१।

बलबन (१२५६ ई०) दिल्ली सम्राट्
३१, ३२।

बलरामदास ४३८, ४७५।

बल्लरि (वल्लरी) लता-बेल शिरःकेश-
पाश-उपमान २३७।

बलाहक (मेघ) २६१।

बसाढ़ (वैशाली) जिला मुजफ्फरपुर
बिहार पुरातत्व-प्रचुरस्थान ४।

बहराइच एक नगर ३४।

बहलोल लोदी (१४४८ ई०) दिल्ली-पति
४२, ४३।

ब्रजनन्दन (कृष्ण) २५३।

ब्रजनन्दन सहाय २५०, २५३, २५६,
२६४, २६७, २६८, ३१३, ३१४, ३२४,
३२५, ३२६, ३३५, ३३६, ३५४,
३५५।

ब्रजनारि कृष्णरागिनी-नारी सामान्य
२४६, २७८।

ब्रजबुली (ब्रजबुलि) एक काव्य-भाषा
१६०, १६१, ४२०।

ब्रजबुली कविता संग्रह ४७४, ४७५।

ब्रह्मपुत्र एक नदी २८।

ब्रह्म वैवर्तपुराण ३४६।

ब्रह्मा देवता २६८।

बागची पी० सी० डॉ० ४६३, ४७२।

बागड़ी प्रदेश २८।

बाज पक्षी ३७६।

बान (बाण) नेत्र-कटाक्ष-उपमान ३७८।

बान (बाण) तीव्रता हादिक वेदना-उपमान
२५२।

बाबूराम सक्सेना डॉ० ३७ टि०, ३९ टि०।

बारहदरी (बिहार) पुरातत्व-वस्तुस्थान
३२।

बारहमासा (ऋतु वर्णन) २०, ११३,
१४२, २५६।

बारिस जामिनि (वर्षा यामिनि) २४६।

बारेन्द्र (लखेनौती-प्रमुखनगरी) नेपाल
घाटी राज्यगत २८।

बालम (प्रियतम पति) २५१।

बिज्जावइ (विद्यापति) ४३१।

बिजुरी (बिजली) विद्युत् २३८।

बिजुरीरेह बिजली की कौध २५६।

बिजुरीलता पीत-वस्त्र-उपमान २६३।

बिज्जु छटा देह-कान्ति-उपमान ३७६।

बिधु (चन्द्रमा) विधु मुख-उपमान २५१।

बिम्ब (पका कन्दूरी फल) बिम्ब फल
अघर-उपमान २३५, २३७, २६१,
२६३।

बिसपी दरभंगा में एक गाँव, शिवसिंह से

उपहारस्वरूप प्राप्त विद्यापति का ग्राम
४४, २२७, २३१ ।

बिहार एक प्रान्त ३२ ।

बिहारी (मैथिली) ६३ ।

बिहारीलाल १२६, १४०, १४३-४५,
२६२, २६८, २८५, २६२, २६६,
२६६, ३००, ३०१, ३१५, ३१७,
३२८, ३३७, ३७०, ३७५, ३७६,
३७८, ३८१-३८५, ३८७, ३८८, ३९१,
३९३, ३९४, ३९५, ३९८, ४०३, ४०४,
४०६, ४०७, ४०९, ४४५-४५०,
४५२, ४५३, ४५५, ४५८, ४५९,
४६०, ४८१ ।

बेगूसराय वर्तमान एक जिला बिहार ३४ ।

बेनीप्रवीन ३६५, ४४५ ।

बेल (बिल्व-फल) कुच-उपमान २३७ ।

बैजूबावरा एक संगीतज्ञ कवि १५६ ।

बैसाख (वैशाख) वर्ष का एक मास २५६ ।

बोधा ३७६, ३७९, ४०९-४११ ।

बौद्धधर्म ३४७ ।

बौद्ध साहित्य-शृङ्गार प्रसंग ८६, ८७ ।

भ

भगीरथ कवि ४६६ ।

भगीरथ मिश्र डॉ० २१४ टि०, २१७ टि०,
४४३ ।

भमर (भ्रमर-भ्रमरा-भमरा-भौरा) एक
कीट २३५, २३७, २३८, २४२, २५३ ।

भमिरिह (भ्रमरी-भौरा नाइन-न्योता देने
वाली स्त्री-साम्य २३६ ।

भरतमुनि १२६, २६४, २८८ ।

भवदत्त ११ ।

भवदेवसिंह देवसिंह शिवसिंह-पिता
मिथिला-शासक २२८ ।

भवशर्मा ११ ।

भवसिंह देवसिंह-पिता मिथिला-शासक
२२८ ।

भवानी मिश्र (सचल मिश्र) मैथिली लेखक
२२५ ।

भविष्य पुराण २ ।

भवेश मिथिला-शासक २२८ ।

भ्रमर (भौरा) मधु लोभी कीट शिरःकेश-
उपमान २३७ ।

भ्रमरा (भ्रमर, भौरा-भमरा) एक कीट
२३७, २५६ ।

भागलपुर वर्तमान एक जिला बिहार ४,
५, २७ ।

भागवत (एक धर्म) एक उपाधि ३४५,
३४८ ।

भागवतपुराण १५१, १५२, १५७, २४१,
३४१, ३४८, ४०६, ४०९, ४६२ ।

भागीरथी (हिमालयस्था गंगा की एक
सहायिका नदी) अभिप्रेत गंगा १ ।

भाद्र (वर्षा-मास) भादों वर्ष का एक
मास २४२, २५६ ।

भानु कवि ४६५ ।

भानुदत्त या भानुमिश्र मैथिल रसमंजरी
कर्ता ८, ११, १६, १७४, २६४,
२७९, २८४, ४८० ।

भामह २८८, २८९ ।

भाविनि भावुक नारी सुरसिका २४६,
२५१ ।

भाषा-कवि (रीति-कवि) २१३, २२६ ।

भास संस्कृत नाटककार १५१ ।

भांग (बूटी) मादक वनस्पति २६७ ।

भिखारीदास २७९, २६५, २६६, ३०१,
३८६, ४४५ ।

भिखारी मिश्र कविराज ४६५ ।

भीष्म कवि ४६८ ।

भुजंग (भुजंगम, सर्प) एक कीट २३८,
४२६ ।

भुजंगपति (सर्पराज) साँप एक कीट
२४७ ।

भुजंग (भुजंगम) सर्प २४६ ।

भुजंगिनि (सर्पिणी) शिरःकेश-उपमान
२४८ ।

भुक्ति (प्रदेशवाची) १२वीं शती सेन वंशी
मुद्रा से ३ ।

भुसन आभूषण २४६ ।

भूपतिसिंह (सिंह भूपति) ४७१ ।

भूपतीन्द्र (१६६५-१७७२ ई०) नेपाल
शासक ४७२ ।

भूपरिक्रमा विद्यापति-ग्रन्थ २२८, २३३ ।

भूपालसिंह मिथिला शासक ४७२ ।

भृंग (भ्रमर) शिरःकेश-उपमान २३७ ।

भृंग (भ्रमर) नेत्र-उपमान २४२ ।

भेरि (भेरी) युद्ध-वाद्य २६६ ।

भैरवसिंह नरसिंह-पुत्र, मिथिला शासक
२२८, २२९ ।

भैरवेन्द्र (रूपनारायण या हरिनारायण)
मिथिला शासक ४६ ।

भोगपति एक प्रदेश का अधिपति (गवर्नर)
३ ।

भोगीसर (भोगीश्वर) मिथिला-शासक
२६६ ।

भोगीशराय (भोगीश्वर) १३५४ ई०
गणेश्वर का पिता मिथिला शासक
२२८ ।

भोगीश्वर (भोगीशराय) १३५४ ई० तिर-
हुत सामन्त-नृपति ३६, २२८, २६६ ।

भोज सरस्वती कण्ठाभरणकर्ता ३५२ ।

म

मकरन्द (पुष्परस) गंगा-जल-सदृश २३६,
२३७ ।

मघ असरेस (मघा-अश्लेषा नक्षत्र की वर्षा)
सावन की झड़ी अश्रुधारा-साम्य २५२ ।

मघीसुद्दीन (सुघरल) १२५६ ई० अवध-
लखनौती-बिहार-शासक ३१, ३२ ।

मघ ठाकुर मैथिली लेखक २२४ ।

मज्झिम निकाय (बौद्ध साहित्य) १५८ ।

मतिराम १२६, १३६, २७६, २८२,
२९४, २९६, ३००, ३०१, ३२२, ३२४,
३२५, ३२८, ३३६, ३३७, ३७४, ३७६,
३७७, ३७९, ३८३, ३८७, ३९३, ३९४,
३९६, ३९८, ३९९, ४०१, ४०३,
४०५, ४०७, ४४६, ४४७, ४४९,
४५०, ४५३, ४५८, ४६० ।

मथुरपुर (मथुरा) एक नगर २५३ ।

मथुरा एक नगर २५१ ।

मथुराप्रसाद दीक्षित ४७१ ।

मदन (कामदेव) २३८, २४५, २५३,
२५६ ।

मदनोपाध्याय मैथिली लेखक २२५ ।

मदन मिश्र मैथिली लेखक २२५ ।

मधुकर (भ्रमर) कृष्णत्व नेत्र-उपमान
२३७, २३९, २६३ ।

मधुप (भ्रमर) रागी, नेत्र-उपमान २४५ ।

मधुपुर (मथुरा) एक नगर २५१, २५२,
२५७, २५८ ।

मधुपुर एक नगर १ ।

मधुरपति (कृष्ण) २६१ ।

मधुर रस (दाम्पत्यरति) ३७१ ।

मधरी (बंधुक पुष्प) दुपहरिया फूल, अघर
उपमान २४२ ।

मनइछ (जफराबाद) आसनीगढ़ १३२१
ई० पूर्वी भारत का हिन्दू-दुर्ग ३८ ।

मनबोध दरभंगावासी मैथिली लेखक २२४ ।

मनमथ कामदेव शृंगार-देवता २४०,
२४२, २४६ ।

मनिमयहार सुरसरि-गंगा-उपमान २३५ ।

मधुसूदन (कृष्ण) १५२ ।

मधुसूदन ४६७ ।

मध्यदेश ६७ ।

मध्ययुगीन दरबार (संवत् १५००-१६००
वि०) हिन्दु-मुसलिम २१४-२२६ ।

मध्ययुगीन दरबारी कवि २१३-२१६,
२१९-२२६ ।

मध्ययुगीन श्रृङ्गार-साधना १२२, १४६ ।
 मध्वाचार्य १२५७ ई० २०६, ३४२ ।
 मम्मट २८८, ४३२ ।
 मलआनिल (मलय-अनिल-दक्षिणपवन)
 मलय पर्वत-दक्षिणात्य चन्दन वनों से
 आने वाली सुगन्धित हवा २३६ ।
 मल्लवंश ३० ।
 मलयज (चन्दन) २६५ ।
 मलय पवन (मलयानिल) सुगन्धित दक्षिण
 पवन २३७ ।
 मलय समीर सुगन्धित पवन-दक्षिण पवन
 २४० ।
 मलार (ऋतु-गीत) मैथिली गीत-भेद
 २० ।
 मलिक बहारदिन यवन शासक २२६ ।
 मलिक शिहबुद्दीन मलिक बहादुर १२७६
 ई० अवध शासक ३२ ।
 मल्ली (मल्लिका) एक लता २३७ ।
 महमूद गजनवी २६ ।
 महमूदशाह १४४०-१४५७ ई० इब्राहीम-
 शाह शर्की का पुत्र जौनपुर शासक
 ४२ ।
 एम० विण्टरनिट्ज ६८ टि० ।
 महानन्दा एक नदी ५, २८ ।
 महापुराण पुष्पदन्त कृत १५२ ।
 महाभारत ६, ३४५ ।
 महिनाथ ठाकुर मिथिलाशासक २२४ ।
 महिनाथ ठाकुर मैथिली कवि ४६६ ।
 महेश (शिव) देवता २६७ ।
 महेशबानी मैथिली गीत-भेद २०, २१ ।
 महेशवाणी (नचारी) २६७ ।
 महेश ठाकुर (१५२७ ई०) अकबर-
 नियुक्त मिथिलाधिप १६वीं शती
 उत्तरार्द्ध ६, १६, ४७, २२४, ४६६ ।
 महेश ठाकुर (१६वीं शती) मैथिली लेखक
 २२४ ।
 मंजिर (मंजीर) पायल-पायजेब पैर का

आभूषण २४६ ।
 मंगोल विदेशी आक्रान्ता ३२ ।
 मण्डन मिश्र १० ।
 माघ संस्कृत-कवि १५१ ।
 माघ (हेमन्त) वर्ष का एक मास २५६ ।
 माघव (कृष्ण) २३४, २३५, २३८, २४५,
 २४६, २४७, २४६-२५३, २५६, ४२८ ।
 माघव मास (बसन्त) ऋतु २३४, २५३ ।
 माघवर्षिह मिथिला शासक २२५ ।
 माघवि एक लता ३६८ ।
 माघवेन्द्रपुरी ३४२ ।
 माधोराव नारायण पेशवा पूना मध्यप्रान्त-
 शासक २२५ ।
 मानमंजरी नन्ददास कृत १७६-७६ ।
 मारुग्र देस (मथुरा) एक नगर २५१ ।
 मात्रिक छन्द २५ ।
 मिथि (निमि-पुत्र) मिथिला-संस्थापक
 जनक २, ६ ।
 मिथिला प्राचीन जनपद १ ।
 मिथिला (तिरहुति) मिथि-जनक-स्थापित
 एक पुरी २, ३, ४ ।
 मिथिला वर्तमान उत्तर-पश्चिम बिहार
 प्रान्त का भाग ५ ।
 मिथिला भौगोलिक परिवेश २, ४, ५ ।
 मिथिला प्राचीन कला-केन्द्र (संगीत-नृत्य)
 १३, १४, २४, २५, ४६२-४७१ ।
 मिथिला प्राचीन विद्या-केन्द्र ६-१२, १५-
 १७ ।
 मिथिला (मिथिला विदेह) प्रकाण्ड पाण्डित्य
 का देश १, ६, ७, ८, २८, ३३, ३६,
 ४०, ४२, ४३, ६६, २२४ ।
 मिथिला राजनीतिक गतिविधि (१०६७-
 १३५० ई०) २६-३५ ।
 मिथिला राजनीतिक गतिविधि (१३२४-
 १५५७ ई०) ३५-४७ ।
 मिथिला साहित्यिक गतिविधि १७-२६,
 ४६२-४७१ ।

मिथिला के हिन्दू शासक (१५वीं शती-
१७वीं शती ई०) ४६, २२४, २२८,
२६६, ४६६-४७२ ।

मिन्हज (मिन्हाज) मुसलमान लेखक ३१,
४२१ ।

मित्र-मजुमदार (खगेन्द्रनाथ मित्र-विमान
बिहारी मजुमदार सम्पादित-विद्यापति)
४३ टि०, ४४ टि०, ४५ टि०, १०३ टि०,
१०४ टि०, १०७ टि०, १०८-१११,
११४ टि०, ११५, ११८ टि०, १४६,
१५०, १५५, २२८, २२६ टि०, २३२,
२३४, २४६, २४७, २५०, २५२,
२५३, २६६, २७०, २७१, ३५६,
४२६, ४२७ ।

मीन (मछली) नेत्र-उपमान ३७७ ।

मुअज्जम औरंगजेब का बेटा ४०६ ।

मुकुता (मुक्ता) स्वच्छ मोती दन्त-उपमान
२३७ ।

मुकुता पाँति (मुक्ता पंक्ति) दशन-उपमान
२६२ ।

मुक्तेश्वर भा मैथिली लेखक २२५ ।

मुँगेर वर्तमान एक जिला (बिहार) ४, ५,
३२ ।

मुजफ्फरपुर वर्तमान एक जिला (बिहार)
२, ४, ५ ।

मुदरि (मुँदरी-मुद्रा) अंगूठी आभूषण
२४६, ३६२ ।

मुँज डोरा (मुँज की रस्सी) कमर में पेटि
की तरह २६७ ।

मुबारक अली २८४ ।

मुरलि (मुरली) बाँसुरी एक वाद्य ३५७,
३६५, ४०७ ।

मुरारि (कृष्ण) १५२, २३४, २४५,
२४६, २५१, २५३, २७८ ।

मुरारि मिश्र ११ ।

मुन्शीराम शर्मा डॉ० ३५० टि० ।

मुहम्मद बख्तियार खिलजी (११६६-

१२०६ ई०) २७, २८ ।

मुहम्मद बिन तुगलक (जूना खाँ) १३५७
ई० दिल्ली सम्राट् ३४, ३६, ३८ ।

मुहम्मदशाह रंगीला यवन शासक ४०६ ।

मृगमद (कस्तूरी) २६५ ।

मृगि (हरिणी-मृगी) नेत्र, नेत्र-उपमान
२३७ ।

मृणाल (मृनाल-नाल) कमलडण्डी बाहु-
उपमान २३७, ३६३ ।

मेगस्थनीज (मेगस्थनीज) यवन राजदूत
३४५ ।

मेघ ठाकुर मैथिली लेखक २२४ ।

मेघी ४७६ ।

मेरु (सुवर्ण पर्वत-सुमेरु) कुच-उपमान
२३५, २४२ ।

मेरुतुंगाचार्य अपभ्रंश लेखक १५३ ।

मैकडूगल ५०१ ।

मैथिली (बिहारी-भाषा) ६३, ६८, ७१,
७४, १६०, ४२०, ४२३ ।

मैथिली गीत (गीति) १६, २०, २१ ।

मैथिली गीत-संग्रह ४६२, ४६३ ।

मैथिली लेखक (मध्ययुगीन) २२४, २२५,
४६४-४७१ ।

मैन (मदन) कामदेव ३७६ ।

मैत्रेयी ६ ।

मोतिहार (मुक्ताहार) आभूषण, अश्रुधार-
उपमान २४० ।

मोतिहारा (मुक्ताहार) गले का आभूषण
२४२ ।

मोर एक पक्षी २५६ ।

मोर (मयूर पिच्छ) मोर पंख-मुकुट सिर
का आभूषण २६३ ।

मोरपंखा (मोर पंख) ३७४, ३६८ ।

मोहन (कृष्ण) २५२, २५८ ।

मोहन मिश्र सचल मिश्र के भाई मैथिली
लेखक २२५ ।

य

यजुर्वेद ८१, ३५० ।
 यदुनाथ सरकार २६ टि०, २७ टि०, २२६ ।
 यदुपतिदास ब्रजबुली-कवि ४७७ ।
 यमुना एक नदी २५६ ।
 यमुना-तट ३६८ ।
 यशोधर (जसोधर) ४६६ ।
 याज्ञवल्क्य ६ ।
 याज्ञवल्क्य स्मृति ६ ।
 युएनच्चांग चीनी यात्री २ ।
 युक्तिव्यक्तिप्रकरण दामोदर शर्मा कृत
 १२०० ई० ५२, ५३ ।
 युंग ५०१ ।

र

रघुदेव मिश्र शाहजहाँ के द्वार-पण्डित
 मैथिली लेखक २२५ ।
 रघुनाथ ३८० ।
 रघुनाथ शिरोमणि १२ ।
 रणजित मल्ल १७२१-१७७२ ई० नेपाल-
 शासक ४७२ ।
 रतन (मोती) कान्ति नख-उपमान २३७ ।
 रति (काम-पत्नी) २४६ ।
 रतिपति (कामदेव) शृंगार देवता
 २४६ ।
 रत्नपति भा मैथिली लेखक, रुद्रसिंह के
 द्वार-पण्डित २२६ ।
 रत्नेश्वर मिश्र ११ ।
 रमानाथ भा पण्डित ४६३ ।
 रमापति मैथिली लेखक २२४ ।
 रमेशचन्द्र दत्त ४७४ ।
 रवि (सूर्य) प्रातःकालीन सिन्दूर-बिन्दु-
 उपमान २३५ ।
 रवीन्द्रनाथ ठाकुर (भानुसिंह) ४७५ ।
 रस ८५ ।
 रस तरंगिणी १४वीं शती ई० १६ ।
 रस मंजरी नन्ददास कृत १७३, १७४,
 १७५ ।

रस मंजरी भानुदत्त मिश्र मैथिल कृत
 १७४, २७६, ४८० ।
 रसलीन २७६, ३७७, ३७६ ।
 रसवन्त (नागर) सहृदय-रसिक २४६ ।
 रहीम (अब्दुर्रहीम) ३०१, ४३५, ४८१ ।
 राकेश गुप्त डॉ० ८६ ।
 आर० एल० दास ५ ।
 राग तरंगिणी लोचन कृत २३, ४७०,
 ४७३ ।
 रांगेय राघव डॉ० ३११ टि० ।
 राघव सिंह मिथिला शासक २२५,
 २२८ ।
 राज पण्डित ४६७ ।
 राज बनौली एक नगर २४१ ।
 राजहंस पक्षी गति-उपमान २३७ ।
 राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी डॉ० ४८२ ।
 राढ़ प्रदेश २८ ।
 राधा (एक शक्ति-शक्ति अवतार-राधिका-
 नायिका-रमणी सामान्य) १५०, १५८,
 २५२, २६०, २६१, २६६, २८२,
 ३४३, ३४६, ३४८, ३५२, ३५५, ३६६,
 ४०६ ।
 राधा (एक शक्ति) ३११, ३४८ ।
 राधाकृष्ण चौधरी प्रोफेसर ५, ८, ४२ ।
 रामकुमार वर्मा डॉ० १४६, १८२ टि०,
 १८८ टि०, १६४ टि०, २०८ टि०, २१२
 टि०, २१६ टि०, ३४४ टि० ।
 रामचन्द्र सूर्यवंशी इक्ष्वाकु के वंशज २ ।
 रामचन्द्र देव उड़ीसा-नरेश ४७७ ।
 रामचन्द्र शुक्ल ६१ टि०, ११८, ११६ टि०,
 १४७, १५१ टि०, १५५, १७२ टि०, १८४
 टि०, २०५ टि०, २०७ टि०, २१५ टि०,
 २१६ टि०, ३०६, ३१०, ३६७, ४३६ ।
 आर० जी० भण्डारकर डॉ० ३४४, ३४५
 टि० ।
 रामदत्त ठाकुर ८, ११ ।
 रामदास भा मैथिली लेखक गोविन्ददास

का भाई २२४।
 रामानन्द (१४वीं शती ई०) २०६।
 रामानन्द राय ब्रजबुली-कवि ४७६,
 ४७७।
 रामानुजाचार्य (१०१७ ई०) २०६।
 रामप्रसाद त्रिपाठी डॉ० २१८ टि०।
 रामबाबू सक्सेना डॉ० २११ टि०।
 रामभद्रदेव मिथिला शासक ४६।
 रामरतन (रामरत्न) भटनगर डॉ० २६५
 टि०, ३४२ टि०, ३५४।
 रामवृक्ष बेनीपुरी (संपादित विद्यापति
 पदावली) १००, १०७, ११०, ११४,
 २४५, २४८, २५१, २५२, २५३,
 २५६-२५८, २६०-२६५, २६६, २७५-
 २७८, ३०६, ३१५, ३२०, ३२१,
 ३२३, ३२५-३३०, ३३४, ३३६,
 ३३७, ३५७-३६१, ३६७, ३६८, ४२६-
 ४३१, ४८४-४८६।
 रामसिंह देव (१३वीं शती ई०) मिथिला
 शासक ३१।
 राय दामोदर दास ब्रजबुली-कवि ४७७।
 राहु (राहू) नक्षत्र, शिरः केश-उपमान
 २३५, २६१।
 राहु नक्षत्र-ग्रह २४७।
 राहुल सांकृत्यायन ४६, ५१-५३, ५८,
 ८७ टि०, १२६ टि०, ३१० टि०, ३४६
 टि०।
 रीति (काव्य रीति) शृंगार-कविता-
 परम्परित-कविता ८४, २३६, २४४।
 रीति-कवि (भाषा-कवि) प्रादुर्भाव २१३,
 २१४, २१५, २१६।
 रीति-कवि (दरबारी कवि) भाषा-कवि
 २१७-२२६।
 रीति-कवि अलंकार-उपमान २८८-२९६,
 ३७४-३७६।
 रीति-कवि-उपमान ४५५, ४५६।
 रीति-कवि ऋतु-प्रकृति ३६६, ३६७।

रीति-कवि ऋतु-वर्णन २८४-२८८।
 रीति-कवि चित्र-विधान ४५१-४६१।
 रीति-कवि नख-शिख २८३, २८४,
 २६१।
 रीति-कवि नायक-नायिका-भेद २७६-
 २८३।
 रीति-कवि नीति व्यंग्य ३०१।
 रीति-कवि भक्ति २६६-३०१।
 रीति-कवि भक्ति-सौन्दर्य ४०५-४०६।
 रीति-कवि भाषा (ब्रजभाषा) ४४२-
 ४४८।
 रीति-कवि लोकोक्तियाँ ४४८-४५१।
 रीति-कवि वर्ण-योजना ४५७-४६१।
 रीति-कवि वियोग शृंगार ३६७-४०५।
 रीति-कवि संयोग शृंगार ३८६-३८६।
 रीति-कविता अन्तर्धाराएँ २७६-३०१।
 रीतिमुक्त कवि वियोग शृंगार ४१४-
 ४१६।
 रीतिमुक्त कवि संयोग शृंगार ४०६-
 ४१४।
 रितुराज (ऋतुराज) बसन्त ऋतु २३५।
 रुक्नुद्दीन कैकौस कैकवद फिरोज एतिगिन
 (१२६१-१३०१ ई०) दिल्ली-सामन्त
 नृपति, बिहार-शासक ३२।
 रुचिपति उपाध्याय मैथिली लेखक
 २२४।
 रुण्डमाल (हड़माल) शिव-ग्रीवा-आभूषण
 २७८।
 रुद्रधर ४६५।
 रुद्रसिंह मिथिला शासक २२६, २२८।
 रूपगोस्वामी १२७, १३६, १५८ टि०,
 ४६३।
 रूपमंजरी नन्ददास कृत १७५।

ल

लखन देव मिथिला शासक २६६।
 लखनौती नेपाल-घाटीगत राज्य १३वीं

शती, वारेन्द्र प्रदेश की राजधानी २७, २८, २९, ३१-३३, ३८ ।
 लखिमा ठकुराइन शिवसिंह की पटरानी मिथिला शासिका १३, १४, ४५, ३१७ ।
 लखिमि नाथ ४६८ ।
 लगनि मैथिली गीत-भेद २० ।
 लछिराम, ३७७, ३८० ।
 लतावलि (लतागुच्छ) शरीर-रोम-उपमान २३७ ।
 लक्ष्मण सेन (११६८-११९९ ई०) ३४१ ।
 लक्ष्मीधरोपाध्याय मैथिली लेखक २२५ ।
 लक्ष्मीनाथ देव (कंसनारायण) मिथिला शासक ४६ ।
 लक्ष्मीनारायण (रिपुकंस नारायण) १३ ।
 लक्ष्मीपति उपाध्याय ११, १३ ।
 लालकवि मंगरीनी (दरभंगा) मैथिली लेखक २२५ ।
 लिखनावली विद्यापति-ग्रन्थ २४१ ।
 लोचन (१७वीं शती ई०) मैथिली लेखक २२, २३, २२४, ४२३, ४२४, ४६३-४७१, ४७३ ।
 व
 वज्रयान बौद्ध धर्म शाखा ४९, ३१०, ३११, ३४७, ३५६ ।
 वररुचि १० ।
 वसन्न (ऋतु) ऋतुराज २३६, २३७ ।
 वर्णरत्नाकर ज्योतिरीश्वर कृत १४, ५२ ।
 वर्धमान ८ ।
 बल्लभाचार्य (१४७९-१५३० ई०) २०९ ।
 ब्रजभाषा ४२१, ४२२ ।
 वंशमणि शर्मा मैथिली लेखक २२४, २२५ ।
 बाएस (बायस) कौआ पक्षी २५७ ।
 वामणि गायक शिरोमणि मैथिली लेखक २२५ ।
 वाचस्पति मिश्र १० ।

वात्स्यायन कामसूत्र-कर्ता ९, ८९, ४७८, ४७९ ।
 वामन ४ ।
 वाम मार्ग (शाक्त सम्प्रदाय) ३११, ३४९ ।
 वायुपुराण १४५ ।
 वाणिज्य छन्द २५ ।
 वाल्मीकि ५०२ ।
 वास (सुगन्ध) क्षीण-तनु विरहिणी-उपमान २४० ।
 वासुदेव सार्वभौम १२ ।
 विक्रुक्षी सूर्यवंशी प्रथम सम्राट् इक्ष्वाकु-पुत्र २ ।
 विक्रमशिला (भागलपुर डिविजन) १२वीं शती प्रसिद्ध बौद्ध मठ (बिहार-मदरसा) २७ ।
 विजयेन्द्र स्नातक डॉ० १९९ टि०, २०१ टि०, २०४ टि० ।
 विद्यापति ठाकुर (विद्यापति) ८, १२, १३, १८, २२, ३५, ३९, ४२, ५९, ६५, ६६, ६८, ७७, ९२, ९३, ९५, ९९, १००, ११९, १२९, १३०, १६१, २२६, २३०, ३०३, ४८१, ४९१ ।
 विद्यापति-वंशलता २२६, २२७, २२८ ।
 विद्यापति किंवदन्ती २३०, २३१ ।
 विद्यापति एक दरबारी कवि २२६-२४०, २४१-२६६, २६८, २६९ ।
 विद्यापति के आश्रयदाता २२६-२४१ ।
 विद्यापति आश्रयदाता-प्रशस्ति २६८, २६९ ।
 विद्यापति सांस्कृतिक प्रेरणा ६६, ६७, ३१०-३१३ ।
 विद्यापति और संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-काव्य ७७-१२१ ।
 विद्यापति पूर्वं साहित्य परम्परा (वैदिक संस्कृत साहित्य) ७७-८५ ।
 विद्यापति पूर्वं साहित्य परम्परा श्रेष्ठ या

क्लासिकल संस्कृत साहित्य ८७-९३ ।
 विद्यापति और संस्कृत कवि ९३-१०७ ।
 विद्यापति और अमरक ९५-९९ ।
 विद्यापति और कालिदास ९३-९५ ।
 विद्यापति और गोवर्धनाचार्य ९९, १०० ।
 विद्यापति और जयदेव १००-१०६ ।
 विद्यापति और उमापति १०६, १०७ ।
 विद्यापति पूर्व साहित्य परम्परा बौद्ध
 साहित्य ८६-८७ ।
 विद्यापति और प्राकृत कवि १०८-११२ ।
 विद्यापति और अपभ्रंश कवि ११३-
 ११५ ।
 विद्यापति और हिन्दी पद-काव्य ११६-
 १२० ।
 विद्यापति ग्रन्थ २२८, २३३, २४१,
 ४९९, ५०० ।
 विद्यापति-पदावली-भाषा मैथिली हिन्दी
 ४९, ५०, ६१, ६२, ६३, ६८-७७,
 ४२०-४२३ ।
 विद्यापति मुक्तक गीत शैली ४३६-४४२ ।
 विद्यापति पदावली छन्द २३, ४२३-
 ४२६ ।
 विद्यापति पदावली राग-निर्देश २३,
 २४ ।
 विद्यापति पौराणिक रूढ़ शब्द ३४०-
 ३७० ।
 विद्यापति से पूर्व राधा-कृष्ण ३४३-३५२ ।
 विद्यापति के कृष्ण और राधा ३५२-
 ३६७ ।
 विद्यापति प्रधान विषय दाम्पत्य रति
 ३५३, ३७१, ३७२, ३७३ ।
 विद्यापति कृष्ण-गोपी-क्रीड़ा-मीमांसा
 (दाम्पत्य रति) ३५३ ।
 विद्यापति भक्त, २३३, २६६, २६७,
 २६८, ४७९, ५०३ ।
 विद्यापति कवि-कौशल २६९-२७८ ।
 विद्यापति-उपमान २३५-२४५, २४८,

२५२, २६०-२६३, २६७, २७०-२७८ ।
 विद्यापति पदावली अलंकार-विधान
 ४२८-४३२ ।
 विद्यापति नायक-नायिका भेद २४५-
 २५८ ।
 विद्यापति भाव-बिम्बात्मकता ४२६-
 ४२८ ।
 विद्यापति नख-शिख ३०५-३१८ ।
 विद्यापति संयोग शृंगार २५९-२६६ ।
 विद्यापति विप्रलम्भ शृंगार २५०-२५९ ।
 विद्यापति विरह-दशा-विरहिणी-चित्र
 २५४-२५९ ।
 विद्यापति हाव-वर्णन २६४, २६५ ।
 विद्यापति हास-परिहास ३३० ।
 विद्यापति ऋतु २३६, २३७, २४६,
 २५६, ३२० ।
 विद्यापति पदावली लोकोक्तियाँ ४३२-
 ४३५ ।
 विद्यापति व्यंग्यकार २७८, २७९ ।
 विद्यापति-पदावली-देन ४९३, ४९४ ।
 विद्यापति युद्ध-सामान २६९ ।
 विद्यापति युद्ध-वाद्य २६९ ।
 विद्यापति के सम सामयिक कवि (१४००-
 १५२७ ई०) ४६३-४६९ ।
 विद्यापति के परवर्ती कवि (१५२७-१७००
 ई०) ४६९-४८० ।
 विद्यापति-वैशिष्ट्य ४९४-५११ ।
 विधुवर (चन्द्रमा) भाल मस्तक-उपमान
 २३७ ।
 विनय कुमार सरकार (विनयकुमार बी०
 के० सरकार डा०) १४६, ५०४ ।
 विनयचन्द्र सूरी १२०० ई० अपभ्रंश
 लेखक ११३, १४२ ।
 विभागसार विद्यापति-ग्रन्थ २२८ ।
 विमान बिहारी मजुमदार (बी० बी०
 मजुमदार डा०) २३५, २४०, ४६३,
 ४६४ ।

विरह मंजरी नन्ददासकृत १७६ ।
 विशाल एक जनपद १, २ ।
 विश्वनाथ साहित्यदर्पणकार ३२१, ३८४ ।
 विश्वनाथ चक्रवर्ती उज्ज्वल नीलमणि-
 किरण कर्ता ३६२ ।
 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (आचार्य) पंडित
 ६१ टि०, २२४ टि०, ४१० टि० ।
 विश्वास देवी पद्मसिंह-पत्नी मिथिला-
 शासिका २२८, २२९, २३३ ।
 विश्वेश्वर मिश्र शाहजहाँ के द्वार-पण्डित
 मैथिली लेखक २२४, २२५ ।
 विष्णु देवता २६६, २६८ ।
 विष्णु (हरि-कृष्ण) एक देवता १४९,
 १५०, ३४३, ३४८ ।
 विष्णुदत्त भा सिमरागाँववासी मैथिली
 लेखक प्रताप सिंह का द्वार-पण्डित
 २२५ ।
 विष्णुपद मैथिली गीत-भेद २० ।
 विष्णु पुराण १४९ ।
 विष्णु पुराण (बृहद्) ४ ।
 विष्णुपुरी ४६६ ।
 विष्णुस्वामी ३४६ ।
 वीरसिंह (१४०२ ई०) कीर्तिसिंह का भाई
 मिथिला-राजपुत्र ४०-४२ ।
 वृजित या मिथारि एक प्रदेश २ ।
 वृन्द ३०१ ।
 वृन्दावन ३४२, ३६७ ।
 वेणीदत्त भा मैथिली लेखक मिथिलेश
 माधवसिंह के भातुल २२५ ।
 वेतिया एक नदी १ ।
 बेनी प्रवीन (बेनी प्रवीन) २९६, ३२३ ।
 वैदिक शृङ्गार-प्रसंग ७८, ७९, ८०, ८१,
 ८२ ।
 वैद्यनाथ मिश्र मैथिली लेखक २२५ ।
 वैवस्वत मनु २ ।
 वैशाली या विशाला (६ठी शती ई०
 पू०) नगरी १, ६ ।

वैष्णव विष्णु-भक्त सम्प्रदाय २६६,
 २६७ ।
 वैष्णव पदलहरी बंगला-काव्य-संग्रह
 १६१, १६९, १७०, १७२ ।
 श
 शक्ति देवता २६६ ।
 शक्ति (दुर्गा) देवता १५० ।
 शक्ति संगम तन्त्र २, ३ ।
 शक्तिविह भ्रासनीगढ़-सम्राट् ३८ ।
 शम्सुद्दीनपुर (समस्तिपुर) १३४६ ई० एक
 नगर ३४ ।
 शम्सुद्दीन फिरोज १३०७ ई० बिहार-
 लखनौती-बंग शासक ३२, ३३ ।
 शर्की वंश ३९, ४०, ४२ ।
 शशिभूषणदास गुप्ता डॉ० १५४ टि०,
 ३५० टि०, ३५१ टि० ।
 शंकर देव ४७५, ४९३ ।
 शंकर मिश्र १२ ।
 शंकराचार्य ९, १० ।
 शंखधर १६ ।
 शृङ्गार-रस (शृङ्गार-मुक्तक) १२६, १२८,
 १८७, १९८, २००, २०२, २५०,
 २५७, २५९, २६०, २६५, २७९,
 ३२१, ३३५-३३९, ३५५, ४८१, ४९१ ।
 शृङ्गार-भक्ति १५१, १५४, १५७, १५८,
 १५९ ।
 श्यामनारायणसिंह ५ टि०, १४ टि०,
 ४६८ ।
 श्यामसुन्दर मैथिली कवि ४६८ ।
 श्यामसुन्दरदास डॉ० ७०, ४२५, ४४२,
 ४४३ ।
 श्रीकर आचार्य ११ ।
 श्रीकृष्ण २६०, २६३, ३४३, ३४८,
 ३५२, ३५३, ३५६ ।
 श्रीदत्त उपाध्याय ११ ।
 श्रीधरदास (१२०५ ई०) सद्भक्तिकर्णामृत
 कर्ता ३५६ ।

श्रीनिवास मल्ल १६५७-७१ ई० नेपाल-
सम्राट् ४७२ ।

श्रीपति ११ ।

श्रीफल (बेल) बिल्वफल कुच-उपमान
३८० ।

शाकल्य ६ ।

शाक्त (भक्त सम्प्रदाय) २६६, २६७,
३१०, ३११ ।

शालमपुर (सेलम) एक नगर १ ।

शालिकनाथ मैथिल विद्वान् ११ ।

शाह आलम दिल्ली सम्राट् (१४४४-
१४५१ ई०) ४२, २२५ ।

शाहजहाँ दिल्ली-सम्राट् २१६, २२३,
२२५ ।

शिव (शंकर) एक देवता १४६, १५०,
१५३, २६७, ३४८ ।

शिव (शिव लिंग) कुच-उपमान ३८० ।

शिव-गौरी (शिव-पार्वती) २६७ ।

शिवनन्दन ठाकुर ६८, १४८, १४९ टि०,
२३१ टि०, ४२०, ४६२, ४६६ ।

शिवपूजन सहाय ५ ।

शिवप्रसाद सिंह डॉ० ७० टि०, ७१ टि०,
१४६ टि०, १४८ टि०, १५१, १५७ टि०,
१५८ टि०, ३१८, ३४८ टि०, ३५०
टि०, ३६२ टि०, ३६३ टि०, ३६५
टि०, ४२१, ४२२, ४८० ४६५,
४६६, ५०६ ।

शिवसिंह (१४१० ई०) मिथिलाधीश
१२, ४३-४५, १२०, २२८, २३०,
२३३, २३५, ३१७, ४७३ ।

शिशुपालवध (शिशुपालवधम्) माघकृत
१५१, ४२६ ।

शुकदेव ६ ।

शैव (भक्त सम्प्रदाय) २६६, २६७, ३१० ।
शैवसर्वस्वसार विद्यापति-ग्रन्थ २२८,
२३३ ।

शोपनहावर ५०१ ।

शौरसेनी प्राकृत ४२० ।

स

सउदामिनि (सौदामिनी) विद्युत् देह-उप-
मान २३६ ।

सचलमिश्र (भवानी मिश्र) मैथिली लेखक,
प्रतापसिंह-माधवसिंह-पेशवा माधोराव
नारायण (पूना) के द्वार-पण्डित २२५ ।
सदानीरा (गंडकी) नदी ६ ।

सदुक्तिकर्णामृत (१२०५ ई०) श्रीधरदास-
कृत ३५६ ।

सनातन गोम्बामी ४६३ ।

सपुन सुधानिधि (सम्पूर्ण चन्द्रमा) दधि-सम
२३६ ।

सफरि (शफरी) मछली नेत्र-उपमान
२३७ ।

समदाउनि (संवाद वाणी) मैथिली गीत-
भेद २० ।

समस्तिपुर (शम्सुद्दीनपुर) १३४६ ई०
एक नगर ३४ ।

सरदक ससवर (शरच्चन्द्रमा) मुख-रुचि-
उपमान २३६ ।

सरवर ख्वाजा जहाँ मलिक उस शर्क
(१३८६ ई०) शर्कीवंश-प्रतिष्ठाता,
सामन्त नृपति (कन्नौज से बिहार तक)
३८, ३९ ।

सरस्वती देवता २६६ ।

सरोरुह दल (कमल समूह) गन्ध-प्राचुर्य,
नाभि-उपमान २३७ ।

सरोवर नाभि-उपमान २३७ ।

ससधर (शशि-चन्द्रमा) नख क्षत-उपमान
२३७ ।

ससि (चन्द्रमा) मुख-उपमान २३५, २३७,
४२६ ।

ससि (चन्द्रमा) मुख-रूप २३८, २४०,
२६१ ।

ससि-किरण (चन्द्रिका) देह-ज्योति-उपमान
२४५ ।

सहजयान ३१०, ३११, ३५६ ।
 सहजिया एक धर्म सम्प्रदाय ३४७ ।
 सार (सर-शर) बाण युद्ध-साधन २६६ ।
 सारन वर्तमान एक जिला (बिहार) २ ।
 एस० के० चटर्जी डॉ० २४, ६८, ६९
 टि०, ७० टि०, ४२०, ४२१ ।
 एस० के० डे डॉ० ७६, ८१ टि०, ८७
 टि०, ११७ टि० ।
 एस० एन० दासगुप्त ११७ टि० ।
 स्वयंभू अपभ्रंश कवि १२६ ।
 संकर (शंकर-शिव-लिंग) कुच-उपमान,
 देवता २६३, २६८ ।
 संकर (शिव-हर) देवता २६७, २६८ ।
 संकीर्तनामृत ब्रजबुली-कविता-संग्रह ४७५ ।
 संख (शंख) रण-वाद्य २६६ ।
 संखा शंख की चूड़ी हाथ का आभूषण
 २५६ ।
 संस्कृत कवि और विद्यापति ६२-१०७ ।
 संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश काव्य और विद्या-
 पति ७७-१२१ ।
 संस्कृत-साहित्य-शृंगार-प्रसंग ८७, ९०-
 ९५, ९६ ।
 साओन (श्रावण) सावन वर्ष का एक
 मास २५६, २५७ ।
 सारि (साड़ी) अधोवस्त्र २६५ ।
 सारंग (कमल) मुख-उपमान २३५ ।
 सारंग (कामदेव) शृंगार-देवता २३५ ।
 सारंग (कोकिल) कण्ठ ध्वनि-उपमान
 २३५ ।
 सारंग (धनुष) भौंह-उपमान २३५ ।
 सारंग (भ्रमर) घुंघराले केश-उपमान
 २३५ ।
 सारंग (हरिण) नयन-उपमान २३५ ।
 साँपिनि केश-वेणी-उपमान २५३, २६३ ।
 साहर (सहकार-आम्र) एक वृक्ष २३६ ।
 स्ट्रॉट्ज डॉ० ३०७ ।
 सिद्ध और नाथ ३१० ।

सिद्धि नरसिंह-सिंह नरपति नेपाल-सम्राट्
 ४७२ ।
 सिमराँव गढ़ (नेपालगत चम्पारन के
 समीप) एक नगर, हरिसिंह के उत्तरा-
 धिकारियों का शासन-पीठ ३४, ३६ ।
 सिमराँव वंश (कर्णट वंश) २६ ।
 सिलवान लेवी ३० ।
 सिध (सिंह) वनराज श्रेष्ठ पराक्रमी जीव
 २६६ ।
 सिन्दुर (बिन्दी) सुभाग-बिन्दी माथे का
 शृंगार २५६, २६७ ।
 सिंह (शेर) कटि-कमर-उपमान २३५,
 २३७, २६० ।
 सिंह भूपाल ८, १२, १४ ।
 सुकुमार सेन डॉ० १६, १६०, १६१,
 ४७१, ४७४, ४७५, ४७६ ।
 सुगौना दरभंगा (बिहार) में एक नगर
 कामेश्वर का शासन-पीठ ३४ ।
 सुगौना राजवंश (ओइनवार वंश)
 कामेश्वर वंश, २६ ।
 सुचरित मिश्र मैथिली लेखक २२५ ।
 सुजान (सुपुरुष) सहृदय नागरिक ३७८ ।
 सुदंसणचरित नयनन्दीकृत ११३, ११४ ।
 सुनीतिकुमार चटर्जी (एस० के० चटर्जी)
 डॉ० २४, ६८, ६९ टि०, ७० टि०,
 ४२०, ४२१ ।
 सुन्दर ठाकुर मिथिला शासक १६१,
 २२४, ४७१ ।
 सुपुरुष सहृदय नागरिक २५२ ।
 सुभद्र भा डॉ० १४६ टि०, ४४०, ४७५,
 ४६३, ४६६ ।
 सुमेरु (मेरु-सुवर्ण पर्वत) पयोधर-कुच-
 उपमान २३७, २६०, २६१ ।
 सुरत (भोग) २३५, २४६ ।
 सुरतरु (कल्प वृक्ष) २५३ ।
 सुलपानी (शिव) त्रिशूलधारी २६८ ।
 सूर (सूर्य) २४७ ।

सूरदास १२६, १३२, २६२, २६५,
२७७, ४३१, ४३४, ४८३, ४८४,
४८५, ४८६ ।

सूर-पूर्व ब्रजभाषा ४२२ ।

सूर्यकान्त डॉ० २४१, २४४ ।

सेन वंश ३४१ ।

सेनापति १४३, १४४, २६४, २६५ ।

सैवल (शैवाल) शरीर-रोम-उपमान
२३७ ।

सैवाल (शैवाल) जलीय घास शिरः-केश-
उपमान २३७ ।

सोन एक नदी २६ ।

सोनार गाँव (बंग-बंगाल) ३३ ।

सोमनाथ २६५ ।

सोमप्रभाचार्य अपभ्रंश लेखक ११४ ।

सोहर मैथिली गीत-भेद २०

ह

हजारीप्रसाद द्विवेदी (आचार्य डॉ०) ५१,
५३ टि०, ५६ टि०, ११८ टि०, १४७
टि०, १४६ टि०, १५५ टि०, १५८ टि०,
१८५ टि०, १९८ टि०, २०६ टि०,
२०६ टि०, २१० टि०, २११ टि०,
२६६ टि०, २६८, ३५१ टि०, ३५६,
३७७, ४६७ ।

हड़माल (मुण्डमाला) रुण्डमाल शिव-
श्रीवा-आभूषण २६७ ।

एच० डी० वेलकर डॉ० २२, २३ ।

हर (शिव) एक देवता १५५, २६८ ।

हरपति विद्यापति-पुत्र ४६४ ।

हरप्रसाद शास्त्री म० म० पण्डित ३, ५१,
५२, ५६, १०६, ३५३, ४६२,
४६३ ।

हरि (विष्णु) एक देवता १५५ ।

हरि (कृष्ण) १५२, १५५, १५७, २४५,
२४७, २५३, २५७ ।

हरिगोविन्द भा बिहार के अन्तिम वजीरे

आजम मिथिला शासक, मैथिली लेखक
२२५ ।

हरिदास ४६६ ।

हरिन (मृग) लोचन-लीला-उपमान २३६,
४२६ ।

हरिनाथ उपाध्याय सतधरा दरभंगावासी
मैथिली लेखक ८, ११, २२४ ।

हरिलाल मैथिली लेखक २२४ ।

हरिवंश पुराण १५१, १५२ ।

हरिसिंह भवेश-पुत्र मिथिला-शासक
२२८ ।

हरिसिंह देव (१२६६-१३२४ ई०)
मिथिला शासक १४, ३३, ३५ ।

हरिसिंह देव (हरिदेव) (१३०५-१३२४
ई०) ११, २३५ ।

हरिवंश कोछड़ डॉ० १२० टि० ।

हलायुध मैथिल विद्वान् ११ ।

हलाहल (विष) नेत्र-रस-उपमान ३७७ ।

हाजी इलियास शाह १३४६ ई० बिहार-
वग-शासक ३४ ।

हाजीपुर १३४६ ई० एक नगर गंगा-गंडक-
संगमस्थ ३४ ।

हाति (हाथी) युद्ध-साधन २६६ ।

हाल (प्राकृत-लेखक-गाहा सतसई) और
विद्यापति १०८-११२ ।

हाव (शृंगार चेष्टा) २६४, ३२१-३३०,
३८५ ।

हितहरिवंश १६६-२०४ ।

हिन्दी (खड़ी बोली हिन्दी) षवीं शती के
बाद की ४७, ४८, ५०, ७१, ७४,
७७ ।

हिन्दी-उपभाषाएँ ४८, ४६, ६१, ६२,
६३, ६८, ६९ ।

हिन्दी पद-काव्य और विद्यापति ११६-
१२० ।

हिमकर (चन्द्रमा) २५३ ।

हिमधामा (चन्द्रमा) हरिनीहीन-निष्कलंक

मुख-उपमान २६३ ।
 हुगली एक नदी २८ ।
 हुसेन शाह शर्की १४८३ ई० जौनपुर-
 शासक ४३ ।
 हेम कमल (स्वर्ण कमल) कल्पित पुष्प
 कुच-उपमान २६१ ।
 हेम कलस (स्वर्ण घट) कुच-उपमान

२३७ ।
 हेम घट (सुवर्ण घट) कुच-उपमान २४८ ।
 हेमचन्द्र (१२वीं शती ई०) अपभ्रंश लेखक
 १५२ ।
 हेम मंजरि (हेम-सुवर्ण बौर) देह-उपमान
 २३७, ४२६ ।

